भारतीय दर्शन का इतिहास

(Bhartiya Darshan Ka Itihas)

भाग–२

लेखक

डॉ० एस० एन० दासगुप्त

अनुवादक

श्री एम० पी० व्यास



राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर–४

शिक्षा तथा समाज-कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रन्थ निर्माण योजना के अन्तर्गत राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी द्वारा प्रकाशित।

प्रथम संस्करण–१९७८

मूल्य–२०.००

प्रकाशक
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी,
ए–२६/२, विद्यालय मार्ग, तिलक नगर,
जयपुर–४

मुद्रक
शर्मा ब्रदर्स इलैक्ट्रोमैटिक प्रेस, अलवर

प्रस्तावना

भारत की स्वतन्त्रता के बाद इसकी राष्ट्रभाषा को विश्वविद्यालय शिक्षा के माध्यम के रूप मे प्रतिष्ठित करने का प्रश्न राष्ट्र के सम्मुख था। किन्तु हिन्दी मे इस प्रयोजन के लिए अपेक्षित उपयुक्त पाठ्य पुस्तकें उपलब्ध नही होने से यह माध्यम-परिवर्तन नही किया जा सकता था। परिणामत भारत सरकार ने इस न्यूनता के निवारण के लिए 'वैज्ञानिक तथा पारिभाषिक शब्दावली आयोग' की स्थापना की थी। इसी योजना के अन्तर्गत १९६९ मे पाच हिन्दी भाषी प्रदेशो मे ग्रन्थ अकादमियो की स्थापना की गयी।

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी हिन्दी मे विश्वविद्यालय स्तर के उत्कृष्ट ग्रन्थ निर्माण म राजस्थान के प्रतिष्ठित विद्वानो तथा अध्यापको का सहयोग प्राप्त कर रही है और मानविकी तथा विज्ञान के प्राय सभी क्षेत्रो मे उत्कृष्ट पाठ्य ग्रन्थो का निर्माण करवा रही है। अकादमी चतुर्थ पचवर्षीय योजना के अन्त तक तीन सौ से अधिक ग्रन्थ प्रकाशित कर सकेगी, ऐसी हम आशा करते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक इसी क्रम म तैयार करवायी गयी है। हमे आशा है कि यह अपने विषय मे उत्कृष्ट योगदान करेगी। इस पुस्तक की परिवीक्षा के लिए अकादमी डॉ नारायण शास्त्री द्रविड़ अध्यक्ष दर्शन विभाग नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर के प्रति आभारी है।

चदनमल बद
अध्यक्ष

गौरीशकर सत्येन्द्र
निदेशक

शिक्षा तथा समाज कल्याण मन्त्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रन्थ निर्माण योजना के अन्तर्गत राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी द्वारा प्रकाशित।

प्रथम संस्करण–१९७३

मूल्य–२० ००

प्रकाशक
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी,
ए–२६/२, विद्यालय मार्ग, तिलक नगर,
जयपुर–४

मुद्रक
शर्मा ब्रदर्स इलैक्ट्रोमैटिक प्रेस, अलवर

प्रस्तावना

भारत की स्वतन्त्रता के बाद इसकी राष्ट्रभाषा को विश्वविद्यालय शिक्षा के माध्यम के रूप मे प्रतिष्ठित करने का प्रश्न राष्ट्र के सम्मुख था। किन्तु हिन्दी मे इस प्रयोजन के लिए अपेक्षित उपयुक्त पाठय पुस्तकें उपलब्ध नही होने से यह माध्यम परिवर्तन नही किया जा सकता था। परिणामत भारत सरकार ने इस न्यूनता के निवारण के लिए वैज्ञानिक तथा पारिभाषिक शब्दावली आयोग' की स्थापना की थी। इसी योजना के अन्तर्गत १९६९ मे पाच हिन्दी भाषी प्रदेशो मे ग्रन्थ अकादमियो की स्थापना की गयी।

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी हिन्दी मे विश्वविद्यालय स्तर के उत्कृष्ट ग्रन्थ निर्माण मे राजस्थान के प्रतिष्ठित विद्वानो तथा अध्यापको का सहयोग प्राप्त कर रही है और मानविकी तथा विज्ञान के प्राय सभी क्षेत्रो मे उत्कृष्ट पाठय ग्रन्थो का निर्माण करवा रही है। अकादमी चतुर्थ पचवर्षीय योजना के अन्त तक तीन सौ से अधिक ग्रन्थ प्रकाशित कर सकेगी, ऐसी हम आशा करते है।

प्रस्तुत पुस्तक इसी क्रम मे तैयार करवायी गयी है। हमे आशा है कि यह अपने विषय मे उत्कृष्ट योगदान करेगी। इस पुस्तक की परिवीक्षा के लिए अकादमी डॉ नारायण शास्त्री द्रविड़ अध्यक्ष दर्शन विभाग नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर के प्रति आभारी है।

चन्दनमल बद
अध्यक्ष

गौरीशकर सत्येन्द्र
निदेशक

विषय-सूची

अध्याय-१

शांकर वेदान्त सम्प्रदाय (क्रमशः)

अध्याय–२

योग वाशिष्ठ दर्शन

अध्याय–३

चिकित्सा शाखाओ का विवेचन

अध्याय—५
भगवद्गीता दर्शन

अध्याय २

शाकर वेदान्त सम्प्रदाय (क्रमश)

शाकर वेदान्त के सम्प्रदाय का वर्णन पूर्वाध्याय मे साधारण हेतुओं के लिए पर्याप्त माना जा सकता है। परन्तु इस मत की प्रतिष्ठा होने तथा अत्यधिक लोगो की इसमे रुचि होने के कारण मुझे बताया गया कि इसका कुछ अधिक विस्तृत अध्ययन अभीष्ट होगा। ऐसे सुझाव के लिए अतिरिक्त औचित्य इस शोचनीय तथ्य मे मिलता है कि यद्यपि इस देश एव यूरोप मे कई मौलिक एव अपकृष्टतर ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं फिर भी यूरोप अथवा एशिया की किसी भी आधुनिक भाषा मे इस दर्शन का कोई व्यवस्थित अध्ययन नही मिलता जो इस मत के महान् विचारको द्वारा प्रणीत ग्रन्थो पर आधारित है और जिसने शकर का अनुसरण करते हुए विद्वत्तापूर्वक अपने मत का विकास किया। भारतीय दर्शन के इतिहास के इस अध्याय के अपेक्षाकृत छोटे क्षेत्र मे इस प्रकार की माग को पर्याप्त मात्रा मे पूर्ण करने की आशा नही की जा सकती, परन्तु फिर भी कुछ विस्तृत अध्ययन सामग्री क्षम्य होगी यद्यपि इससे ग्रन्थ की सामान्य रूपरेखा मे किंचिन्मात्र विघ्न पडेगा।

जगत्-प्रतीति

उपनिषदो मे, अर्थात् वेदान्त मे ईश्वरवाद सर्वेश्वरवाद, आत्मा की परम सत्ता, सृष्टि रचना आदि के सबध मे विभिन्न विचारधाराओ का समावेश है। जिन टीकाकारो ने शकर के पूर्ववर्ती उपनिषद् भाष्य लिखे एव उनमे एकरूप व्यवस्थित रुढिवादी दर्शन के अस्तित्व मे विश्वास के आधार पर उनका भाष्य करने का प्रयत्न किया उनके वे ग्रन्थ आजकल लुप्तप्राय हैं और उनके विषय मे जो कुछ भी हम जान पाते हैं वह उपलब्ध अल्प उल्लेखो से ही प्राप्त है। उदाहरणार्थ, भर्तृ प्रपच को लें, जिन्होने ब्रह्म से जगत् एव जीवात्माओ की वास्तविक उत्पत्ति मानकर बृहदारण्यक उपनिषद् की यथार्थवादी व्याख्या करने का प्रयत्न किया है।[1]

---

[1] प्रा० हिरियन्ना ने शकर एव उनके टीकाकार आनन्दज्ञान तथा सुरेश्वर रचित वार्तिक के लेखो मे से भर्तृ प्रपच के अश १९२४ मे मद्रास मे तृतीय प्राच्य परिषद् मे पठित एक लेख के अतर्गत एकत्रित किए थे, जो १९२५ मे मद्रास मे छपे।

शंकर ने अपने चिंतकों से इस मत को उत्तराधिकार में प्राप्त किया था कि उपनिषद् हमें एक संगत तथा व्यवस्थित दर्शन का उपदेश देते हैं परन्तु गौड़पाद के प्रभाव में होने के कारण उनका इस दर्शन के स्वरूप के बारे में इन लोगों से मतैक्य नहीं था। इस दर्शन का उन्होंने उपनिषद् एवं ब्रह्मसूत्रों पर अपने सम्पूर्ण भाष्यों में विस्तृत रूप से प्रतिपादन किया है।

जैसाकि पूर्वाध्याय में कहा जा चुका है कि शंकर का मुख्य प्रतिपादित विषय यह है कि केवल ब्रह्म ही एक परम सत्ता है एवं अन्य सब मिथ्या है। वह इस बात को सिद्ध करना चाहते थे कि इस दर्शन की शिक्षा उपनिषदों में दी गई है परन्तु उपनिषदों में कई ऐसे स्थल हैं जिनका मुख्य विषय स्पष्टतया द्वैतात्मक एवं ईश्वरवादी है, एवं किसी भी भाषा चातुर्य द्वारा विश्वासप्रद रूप से यह नहीं सिद्ध किया जा सकता कि इनके अर्थ शंकर के शास्त्रीय मत की पुष्टि करते हैं। अतः शंकर व्यावहारिक दृष्टि एवं पारमार्थिक दृष्टि में भेद प्रस्तुत करते हैं एवं उपनिषदों की व्याख्या इस कल्पना पर करते हैं कि उनमें कई अंश ऐसे हैं जो शुद्ध दार्शनिक दृष्टि से ही वस्तुओं का वर्णन करते हैं जबकि अन्य कई ऐसे अंश भी हैं जो वस्तुओं का वास्तविक जगत्, वास्तविक जीवात्मा एवं वास्तविक सृष्टिकर्त्ता के रूप में ईश्वर का केवल व्यावहारिक द्वैतात्मक दृष्टि से ही उल्लेख करते हैं। व्याख्या की यह पद्धति शंकर ने न केवल उपनिषदों पर लिखे अपने भाष्य में अपितु ब्रह्मसूत्र के अपने भाष्य में भी अपनाई है। केवल सूत्रों की परीक्षा करने पर मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्मसूत्र भी शंकर के दार्शनिक सिद्धान्त की पुष्टि नहीं करते हैं अपितु कुछ सूत्र ऐसे भी हैं जिनकी व्याख्या स्वयं शंकर ने द्वैतात्मक ढंग से की है। उन्हें कभी भी वस्तुगत व्याख्या में फँस जाने का डर नहीं था क्योंकि उनके लिए इस कठिनाई से यह कहकर बाहर निकलना अत्यंत सुगम था कि सूत्रों अथवा उपनिषद् स्थलों में उपलब्ध वस्तुगत विचार वस्तु-जगत् का व्यावहारिक दृष्टि में अनुमान मात्र है। यद्यपि स्वयं शंकर के कथनों के आधार पर एवं उनके उत्तर टीकाकारों तथा उनके अन्य मतानुयायियों के आधार पर शांकर दर्शन के अर्थ तथा प्रभाव के बारे में कोई संशय नहीं हो सकता फिर भी कम से कम एक भारतीय लेखक ने शांकर दर्शन को यथार्थवादी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।[1] कट्टर बौद्ध विज्ञानवादियों अथवा तथाकथित शून्यवादियों की आलोचना करते समय स्वयं उनकी स्वीकृति से यह सिद्ध होता है कि उनके दर्शन में कुछ वस्तुवाद की मात्रा है। सामान्य रूप से मैं इस बात की पहले ही विवेचना कर चुका हूँ कि शंकर के परवर्ती अनुयायियों द्वारा व्याख्यात शांकर-वेदान्त की दृष्टि से वेदान्त के अनुसार

---

[1] कलकत्ता विश्वविद्यालय प्रेस द्वारा १९२४ में मुद्रित क० विद्यारत्न द्वारा लिखित अद्वैत-दर्शन।

किस अर्थ मे जगत् माया है। परन्तु वर्तमान विभाग म मैं स्वय शकर के एव उनके कुछेक महत्वपूर्ण अनुयायियो के माया के स्वरूप के विषय मे विवेचन करना चाहता हूँ। यह शाकर दर्शन का अत्यत महत्वपूर्ण विषय है और इसकी विस्तृत विवेचना करने की आवश्यकता है।

परन्तु उपरोक्त विषय की विवेचना करने के पूर्व मेरा ध्यान स्वभावत बौद्ध विज्ञानवाद एव तथाकथित बौद्ध शून्यवाद के मत की ओर जाता है एव यह उचित प्रतीत होता है कि शकर के माया सिद्धान्त का विवेचन उनके पूर्व के बौद्ध दर्शन के भ्रांति के सिद्धान्त के सदर्भ म किया जाए। यदि नागार्जुन और चन्द्रकीर्ति के शून्यवाद को लें तो हमे ज्ञात होगा कि उन्होने भी सवृति सत्य और परम सत्य मे विभेद किया है। इस प्रकार नागार्जुन माध्यमिक सूत्रो मे कहते हैं कि बौद्ध अपने दर्शन की शिक्षा दो प्रकार के सत्य अर्थात् सवृति सत्य (अविद्या से आच्छन्न और सर्व साधारण की पूर्व कल्पनाओ एव निर्णयो पर आधारित सत्य) एव परमार्थ सत्य (निर्विकल्प और परमसत्य) के आधार पर देते हैं।[1] 'सवृति' शब्द का शाब्दिक अर्थ 'सीमित' है। चन्द्रकीर्ति सवृति का अर्थ 'सब ओर से बद' बताकर कहते है कि यहाँ 'सवृति' शब्द का अर्थ अज्ञान ही है क्योंकि वह सम्पूर्ण वस्तुओ के सत्य को ढक लेता है।[2] इस अर्थ म कार्य कारणात्मक हमारे अनुभवो का सम्पूर्ण जगत् जिसका हम प्रत्यक्षीकरण करते है एव जिसके बारे मे हम बोलते हैं वह अज्ञान द्वारा आच्छादित प्रतीति को हमारे समक्ष उपस्थित करता है। इस जगत् का लौकिक अनुभव म बाध नही होता परन्तु चूंकि इस जगत् की प्रत्येक सत्ता अन्य वस्तुओ अथवा सत्ताओ से उत्पन्न होती है एव वे पुन किन्ही अन्य सत्ताओ द्वारा उत्पन्न होती हैं तथा चूकि उनमे से प्रत्येक की प्रकृति को उन्हे उत्पन्न करने वाली अथवा जिनसे वे उद्भूत हुई हैं उन अन्य सत्ताओ के बिना और इन सत्ताओ के अन्य कारणो को जाने बिना निर्धारित नही कर सकते अत वर्तमान रूप म स्थित किसी वस्तु के स्वभाव के बारे मे निश्चित तौर पर कुछ भी कहना सम्भव नही है। वस्तुएँ हमे कई सत्ताओ के मिश्रण के फल

---

[1] द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धाना धर्मदेशना। लोक सवृति सत्य च, सत्य च परमार्थत।
—माध्यमिक सूत्र २४ ८ पन ४९२ बी० बी० सस्करण।

[2] अज्ञान हि समन्तात् सर्व पदार्थ तत्वावच्छादनात् सवृतिरित्युच्यते। वही पर चन्द्रकीर्ति 'सवृति' शब्द के दो अन्य अर्थ बताते हैं जो उसकी व्युत्पत्ति से सबधित प्रतीत नही होते। सवृति का प्रथम अर्थ प्रतीत्य समुत्पाद है तथा द्वितीय अर्थ लौकिक जगत् से है जो वाणी एव भाषा द्वारा सबोधित होता है तथा जिसमे ज्ञाता एव ज्ञेय के भेद निहित हैं—सवृति सकेतो लोकव्यवहार, स च अभिधानाभिधेय-ज्ञान ज्ञेयादिलक्षण।

के रूप मे अथवा संयुक्त फल के रूप मे नाश होती हैं। कोई भी वस्तु स्वत उत्पन्न नही होती अत फल कदापि स्वत विद्यमान नही होते अपितु उनका अस्तित्व विभिन्न सत्ताओ के आपस मे मिलने के कारण है। जिस वस्तु का स्वयं का कोई स्वभाव होता है वह अपने उद्भव के लिए किन्ही अन्य इकाइयो पर आश्रित नही हो सकती अत हमारे सासारिक अनुभव के क्षेत्र मे ऐसी कोई वस्तु नही है जिसका स्वयं अपना स्वभाव हो। अत जगत् की भासित सत्ता पर अज्ञान का रहस्यमय आवरण पडा हुआ है एव लोक संवृत के प्रसग म इसी अज्ञानावरण का उल्लेख है। इसे तथ्य संवृति भी कहा जाता है जो वस्तुत जादू मृगतृष्णा जनित प्रतिबिम्बो आदि के सामान्य भ्रम एव विभ्रम के रूप म प्रयुक्त मिथ्या संवृति से भिन्न हैं।[1] इन्द्रिय दोष अथवा अन्य कारणो से उत्पन्न होने के कारण अनुभव मे बाधित होने वाली कई प्रतीतियो को मिथ्यासंवृत कहते है क्योंकि उनका मिथ्यात्व अनुभव मे प्रकट होता है। तथापि जगत् प्रतीतियो के मिथ्यात्व का अनुभव उसी समय होता है जब सहेतुक संयुक्तो के सारहीन सन्तान के परमार्थ रूप को उचित प्रकार से समझ लिया जाता है। जगत् सत्तावान् और अबाध रहता है तथा व्यावहारिक अनुभव मे जगत् मे सत् का भास होता रहता है किन्तु जब इस बात का ज्ञान हो जाता है कि इन पदार्थों का कोई निजी स्वभाव नही है केवल तभी उनको मिथ्या माना जाता है। दर्शन की समस्त शिक्षाएं आत्मगत एव वस्तुगत जगत् प्रतीतियो को स्वीकार करती हैं एव उनके तर्कसगत विश्लेषण तथा मूल्यांकन करने का प्रयत्न करती हैं तथा केवल इस जगत् के पदार्थों के अनुभव एव उनकी युक्तियुक्त समझ द्वारा ही साररहित कार्य कारण प्रवाह के रूप मे उनके सत्य का अनुभव करती है। अत भासमान जगत् के केवल सीमित अर्थ म ही सत् होने के कारण सत् के रूप म जगत् प्रतीति केवल एक सीमित अर्थ मे ही सत्य है एव इस प्रकार जगत् के सत्य को केवल लोक संवृत की संज्ञा देकर यह बात स्पष्ट की जाती है। यह जगत् प्रतीति प्रत्यक्षीकरण के सामान्य भ्रम की तुलना मे आपेक्षिक रूप से सत्य ही है (उदाहरणार्थ जब रज्जु मे सर्प का भान होता है अथवा किसी को मरुस्थल मे मृगतृष्णा भासित होती है)।

परन्तु प्रश्न यह उठता है कि यदि जगत् प्रतीति का कोई निजी स्वरूप नही है तो इसकी (स्वरूप) प्रतीति कैसे होती है अथवा जगत् के पदार्थो की प्रतीति होती ही क्यो है? इस प्रश्न का उत्तर नागार्जुन इस प्रकार देते है कि जगत् स्वप्न आदि के समान है जो स्वयं अपना कोई सत् स्वरूप धारण न करते हुए भी सत् की वस्तुगत प्रतीति को प्रस्तुत करते है।[2] अविद्यमान आकाश कुसुम अथवा शशशृंग के समान

---

[1] बोधिचर्यावतार पंजिका, पृ० ३५३ 'बिब्लीथेका इंडिका सिरीज पृ० १९०२।
[2] माध्यमिक सूत्र २३ ८।

जगत् शून्यमात्र नही है। इस प्रकार परमार्थ के साथ साथ सापेक्ष लोक सवृति सत्य भी है। इसके अतिरिक्त सवेदनात्मक भ्रम, विभ्रम आदि भी होते है जिनका सामान्य अनुभवो मे बाध (अलोक सवत अथवा मिथ्या सवत) होता है तथा जो शश शृग की तरह विद्यमान मात्र हैं। जगत् प्रतीति मे अन्तर्भूत विपर्यास चार प्रकार के माने जाते हैं, यथा, क्षणिक को स्थाई समझना दु खद को सुखद समझना, अपवित्र को पवित्र समझना तथा आत्मरहित को सात्म समझना।[1] यह विपर्यास अविद्या के कारण होता है। चन्द्रकीर्ति के द्वारा आर्य दृढाशय परिपृच्छा से उद्धृत अश म यह कहा है कि जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने को स्वप्न म राजा की वधू के साथ रात्रि व्यतीत करता हुआ देखता है एव एकाएक यह अनुभव करके कि लोगो ने उसको देख लिया है, अपनी जान की रक्षा हेतु दौडता है (इस प्रकार किसी स्त्री की अनुपस्थिति म भी उसका प्रत्यक्षीकरण करना) उसी प्रकार हम भी किसी जगत् प्रतीति के न होते हुए भी उसके नानारूपो के प्रत्यक्ष होने की घोषणा करने के विपर्यास म सदा गिरते चले जा रहे है।[2]

विपर्यास की ऐसी उपमाए स्वभावत इस कल्पना को जन्म देती हैं कि कोई ऐसा सत अवश्य होना चाहिए जिसे किसी अन्य वस्तु के रूप मे ग्रहण करने की भूल होती है, परन्तु जसाकि पहले कहा जा चुका है बौद्धो ने इस तथ्य पर बल दिया है कि स्वप्न मे भ्रमात्मक प्रतीतियाँ हमारे द्वारा पूर्वानुभूत वस्तुगत दशा के रूप म निस्सन्देह वस्तुगतरूप से ज्ञात थी, ये ऐसे अनुभव है जिनकी हमे प्रतीति होती है यद्यपि वस्तुत कोई ऐसा सत् नही होता जिस पर उन प्रतीतियो का अध्यास अथवा आरोपण हो। इस बात पर ही शकर का उनसे मतभेद था। इस प्रकार ब्रह्मसूत्र पर लिखे गए अपने भाष्य की प्रस्तावना मे वह कहते हैं कि सम्पूर्ण भ्रान्त प्रत्यक्ष का सार यह है कि एक विषय के स्थान पर दूसरे विषय को ग्रहण करने की इसमे भूल होती है एव एक विषय के गुण, लक्षण और विशेषताएँ दूसरे विषय के गुण, लक्षण और विशेषताएँ समझे जाते हैं। स्मृत बिम्ब के सदृश किसी वस्तु की किसी विषय मे मिथ्या प्रतीति के रूप में भ्रम की परिभाषा की गई है। कुछ लोगो ने इसे 'एक वस्तु के सबध म दूसरे वस्तु के लक्षणो की मिथ्या स्वीकृति कहकर समझाया है। अन्य लोग (स्मरण के लोप के

---

[1] इह चत्वारो विपर्यासा उच्यन्ते, तद्यथा प्रतिक्षणविनाशिनि स्कन्धपचके यो नित्य इति ग्राह स विपर्यास दुखात्मकेस्कन्धपचके य सुख इति विपरीता ग्राह सोऽपरो विपर्यास, शरीर अशुचि स्वभाव तत्र यो शुचित्वेन ग्राह स विपर्यास पच स्कन्ध निरात्मक तस्मिन् य आत्मग्राह अनात्मनि आत्माभिनिवेश स विपर्यास। उसी स्थान पर चन्द्रकीर्ति की टीका २३ १३ इसकी तुलना योग सूत्र २ ५।

[2] माध्यमिक-सूत्र २३ १३ पर चन्द्रकीर्ति की टीका।

कारण) दो विषयो के (प्रत्यक्ष ज्ञान एवं पूर्वकाल मे प्रत्यक्ष हुए विषय की स्मृति) विवेकाग्रह (अर्थात् भेद के ज्ञान के अभाव) को अध्यास कहते है। दूसरे लोगो के विचार मे जब एक विषय मे दूसरे विषय का मिथ्या बोध होता है तो प्रथम वस्तु के विजातीय धर्मों से युक्त होने (विपरीतधर्मता) की कल्पना ही भ्रम है। परन्तु विश्लेषण के इन सब विभिन्न प्रकारो मे भ्रम मूलत एक विषय को अन्य विषयो के लक्षणो से युक्त मिथ्या प्रतीति के अतिरिक्त कुछ नही है। इसी प्रकार शुक्ति मे रजत का भान होता है अथवा एक चन्द्रमा मे दो चन्द्रमा दिखाई देते है।[1] आगे चलकर शंकर कहते हैं कि हमारी 'अहं' वृत्ति के कारण प्रत्यगात्मा का अनुभव होता है एवं वह अपरोक्षानुभूति है अत उसकी अनुभूति पूर्णत अविषयानुभव नही है जिसके फलस्वरूप संभवत अनात्मा एवं उसके लक्षणो का प्रत्यगात्मा पर भ्रमात्मक रूप से अध्यास होता है। प्रत्यात्मा पर अनात्मा एवं उसके लक्षणो के इस भ्रमात्मक अध्यास को अविद्या कहते है।

गौडपाद कारिका १ १७ के अपने भाष्य मे शंकर कहते है कि जब रज्जु मे सर्प का भ्रम हो जाता है तो वह सत्ता नही बल्कि मिथ्या अध्यास अथवा आभास मात्र है। रज्जु मे सर्प की कल्पना से सर्प विद्यमान नही हो जाता जो बाद मे विवेक की प्राप्ति से अविद्यमान हो जाता है।[2] गौडपाद कारिका पर लिखे हुए अपने भाष्य मे शंकर गौडपाद के मत को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि व्यावहारिक जगत् स्वप्नवत् भ्रमात्मक है। स्वप्न मिथ्या होते हैं क्योकि स्वप्न मे मनुष्य को दूरस्थ स्थानो पर जाने का अनुभव भले ही हो परन्तु जाग्रत होने पर वह देखता है कि केवल कुछ क्षणो के लिए ही वह सोया था तथा वह अपने बिस्तर से एक कदम भी आगे नही चला है। अत स्वप्नानुभव मिथ्या होते है क्योकि जाग्रदानुभव द्वारा उनका बाध होता है। परन्तु जाग्रदानुभव भी स्वप्नानुभव के सदृश होने के कारण मिथ्या है। दोनो प्रकार के अनुभवो मे ज्ञाता एवं ज्ञेय का द्वैत विद्यमान होने के कारण दोनो मौलिक रूप से एक ही हैं, अत दोनो मे से यदि एक मिथ्या है तो अन्य भी मिथ्या होगा। सासारिक अनुभव भ्रम के अन्य सुविख्यात उदाहरणो—जैसे मृगतृष्णा के समान हैं। न आदि मे इसकी विद्यमानता थी और न अन्त मे इसकी विद्यमानता होगी अत मध्य मे भी इसकी विद्यमानता नही हो सकती। यह आक्षेप अग्राह्य है कि हमारे जाग्रत अवस्था के अनुभव व्यावहारिक हेतुओ की पूर्ति करते है अत स्वप्नानुभव मे अनुपलब्ध सत्य की

---

[1] ब्रह्मसूत्र पर शंकर का अध्यास भाष्य निर्णयसागर प्रेस बम्बई १९०४।

[2] रज्ज्वा सर्पेण कल्पितत्वात् न तु स विद्यते न हि रज्ज्वा भ्रान्तिबुद्धया कल्पित सर्पो विद्यमान सन् विवेकतो निवृत्त तद्वत्—प्रपचास्य मायामात्र। गौडपादकारिका १ १७ आनन्दाश्रम सिरीज।

व्यवहारवादी कसौटी उनसे सबद्ध है क्योंकि जाग्रदानुभव की व्यवहारवादी कसौटियों का स्वप्नानुभव द्वारा बाध हो सकता है, जैसे कोई मनुष्य अत्युत्तम दावत के बाद भी यह स्वप्न देख सकता है कि वह कई दिनों से क्षुधातुर है। इस प्रकार हमारे मनस का अन्तजगत् एव उसके अनुभव तथा बाह्य वास्तविक जगत् मिथ्या सृष्टि है।[१] परन्तु गौडपाद एव शकर का शून्यवादी बौद्धों से इस बात में मतभेद है कि उनके विचार में मिथ्या सृष्टि का भी सत्य में कुछ आधार होता है। यदि रज्जु में सर्प का भान होता है तो सर्प की मिथ्या सृष्टि का रज्जु की सत्यता में कुछ आधार होता है। मिथ्या सृष्टि एव मिथ्या भान (जैसे रज्जु में सर्प का भान एव शुक्ति में रजत का भान अथवा मृगतृष्णा) की उपलब्धि निरास्पद नहीं होती।[२] स्मरणीय है कि अन्योन्याश्रय होने के कारण एव स्वय का कोई स्वभाव नहीं होने के कारण नागार्जुन ने समस्त प्रतीतियों के मिथ्यात्व को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। तर्क विद्या के समस्त प्रतीतियों पर लागू होने के कारण कोई भी ऐसा विषय शेष नहीं रहता जो सापेक्ष और परस्पर आश्रित न हो अथवा जो स्वभावत स्वत प्रमाण हो तथा जो किसी अन्य विषय की अपेक्षा किए बिना स्वत ही बुद्धिगम्य हो। समस्त प्रतीतियों की इस सापेक्षता एव पारस्परिक आश्रितता को ही नागार्जुन ने 'शून्यता' की सज्ञा दी है। अन्य किसी विषय के प्रसग के बिना स्वतन्त्र रूप से किसी विषय का स्वीकार नहीं किया जा सकता, अत किसी स्वयसारभूत विषय की कल्पना नहीं की जा सकती। अत समस्त प्रतीतियाँ केवल परस्पर आश्रित काल्पनिक सृष्टि ही हैं एव यही पारस्परिक आश्रितता ही उनके स्वभाव की सारहीनता को सिद्ध करती है। सत्य का कहीं भी कोई आधार नहीं है। प्रत्येक विषय सारहीन है। परन्तु न तो शकर एव न गौडपाद ने ही यह बताने का प्रयत्न किया है कि विचार, सवेग, ऐन्द्रिक क्रियाओं तथा बाह्य वस्तु जगत् को भ्रमात्मक प्रतीति क्यों माना जाय? उनकी मुख्य बात उनकी इस दृढोक्ति में निहित है कि स्वप्नानुभव की तरह समस्त प्रतीतियाँ अथवा अनुभव मिथ्या है। जाग्रदानुभव के अपूर्ण सादृश्य का तर्क दिया गया है एव सम्पूर्ण विविध प्रतीतियों को मिथ्या बताया गया है। परन्तु इसके साथ ही इस बात को भी दृढतापूर्वक कहा गया है कि इस मिथ्या सृष्टि का कोई सत्य आधार होना चाहिए। विकारशील प्रतीतियों का कोई अविकारी आधार होना चाहिए जिस पर उनका अध्यास हो और यह आधार आत्मा अथवा ब्रह्म है जो एकमात्र नित्य अविकारी एव सत् है। यह आत्मा विशुद्ध विज्ञप्ति मात्र सत्ताढ्य रूप से स्थित है।[३] जिस प्रकार सर्प की मिथ्या सृष्टि

---

[१] गौडपादकारिका २ १–१२ पर शकर भाष्य।

[२] नहि निरास्पदा रज्जु सर्प मृगतृष्णादय क्वचित् उपलभ्यन्ते।
उसी स्थान पर १–६।

[३] गौडपादकारिका २ १७।

रज्जु के अथ म प्रतीत होती है, उसी प्रकार सम्पूण ऐसे निणय 'मैं सुखी हूँ' 'मैं दुखी हूँ', 'मैं अज्ञानी हूँ', 'मैं जन्म लेता हूँ', 'मैं वृद्ध हू', 'मैं शरीर धारी हू', 'मैं प्रत्यक्षीकरण करता हू' आदि आत्मा से सबधित मिथ्या विशेषण हैं, वे सब मिथ्या विकारशील एव भ्रमात्मक विशेषण हैं एव केवल आत्मा ही उपरोक्त सब प्रकार के निणयो म शाश्वत रहता है। ऐसे विशेषणा से आत्मा पूणतया भिन्न है वह स्वयप्रकाश एव स्वयज्योति है जो स्वय स्वय स्वत त्र रूप से प्रकाशित होता है।

प्रतीत्यसमुत्पाद अर्थात् वस्तुग्रा की परस्पर निभरता की युक्ति का सहारा लेते हुए नागाजु न ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि जगत् म ऐसी कोई भी वस्तु नही है जिसे अपनी वतमान अवस्था म किसी वस्तु का सार कहा जा सके, परन्तु वह मिथ्या काल्पनिक वस्तुओ की सृष्टि की प्रतीति के स्रोत की व्याख्या नही कर सके। सार रहित परस्पर आश्रित घटनाओ की जगत् प्रतीति किस प्रकार प्रकट हुई ? शकर ने तीक्ष्ण तक द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न नही किया कि जगत् प्रतीति मिथ्या है। चूकि उपनिषदा ने ब्रह्म का परम तत्त्व घोषित किया है अत उन्होने जगत् के मिथ्यात्व को सहजभाव से स्वीकार कर लिया। परन्तु प्रतीत्यात्मक जगत् किस प्रकार स्वय को प्रकट करता है ? ऐसा लगता है कि शकर ने इस प्रश्न पर गम्भीरतापूवक विचार नही किया एव केवल यही कहकर वे आगे बढ गए कि जगत् प्रतीति अविद्या के कारण है। इसे न तो सत् और न असत् ही कहा जा सकता है, वह तो शुक्ति रजत की तरह भ्रम है। परन्तु ब्रह्म सूत्रो के प्रथम चार सूत्रा पर लिखे गए शाकर भाष्य पर पचपादिका नामक टीका के लेखक पद्मपाद कहते है कि ब्रह्मसूत्रा पर लिखी गई अपनी टीका की भूमिका मे शकर कहते है कि मिथ्या ज्ञान का ठीक अथ यह है कि जगत् मे एक जडात्मिका अविद्या शक्ति है एव वही शक्ति जगत् प्रतीति के उपादान मे रूपान्तरित हो जाती है।[1] इस सदभ म यह ज्ञात य है कि शाकर दशन के अनुसार प्रतीत्यात्मक जगत् न कवल वस्तु जगत् से ही अपितु आत्मा से सबद्ध होने योग्य सभी अनुभूतिया एव विशेषणा से निर्मित है। इस प्रकार जब कोई कहता है 'अहम्' तब इस अहभाव का विश्लेषण दो भागा से निर्मित अथ मे किया जाता है—एक तो शुद्ध चैतन्य एव द्वितीय अस्मत्त प्रत्यय जो उस शुद्ध चैतन्य द्वारा प्रकाशित होता है एव जिसके साथ उसका मिथ्या सबध होता है। अस्मत् प्रत्यय का अथ यहाँ जडात्मिका अविद्या शक्ति से है जो शुद्ध चैतन्य की शक्ति के कारण प्रकट होती है एव जिसके कारण मनुष्य कहता है अहमस्मि अथवा 'मनुष्योऽहं'।[2] यह अविद्या शक्ति शुद्ध

---

[1] पचपादिका पृ० ४ विजयनगरम् सस्कृत सिरीज १८९१।

[2] अस्मत्प्रत्यये यो निदमशश्चिदेकरस तस्मिस्तद्बलनिर्भासिततया लक्षणता युष्मदर्थस्य मनुष्याभिमानस्य सभेदेनैवावभास स एव अध्यास —पचपादिका पृ० ३।

आत्मन् मे आश्रित है एव एक ओर तो उसके (आत्मन के) यथार्थ ब्रह्म स्वरूप अवभासित होने (प्रदर्शन) मे बाधक होती है तथा दूसरी ओर हमारे सामान्य अनुभव के मनोवैज्ञानिक व आत्मा से सबधित विविध प्रत्ययो मे अपने आपको रूपान्तरित करती है।[1] चिन्तन, अनुभूति इच्छा इत्यादि मनोवैज्ञानिक गुणो का सबध प्रत्यक्-चिति के साथ होने के कारण भ्रम होता है। ये मनोवैज्ञानिक निर्धारणाए परस्पर एक दूसरे से सबधित हैं। इस प्रकार सुखो के उपभोग के लिए प्रथमत कर्म विशेष अभिप्रेत है, क्रिया के लिए आसक्ति द्वेष एव इच्छाएँ आवश्यक है तथा सुख दुःख का अनुभव कर लेने के बाद ही उनमे आसक्ति एव इच्छाएँ उत्पन्न होती है—अत यह मनोवैज्ञानिक निर्धारणाऐं अनादि चक्र के रूप मे स्वभावत स्वय प्रकाश्य प्रत्यक् चिति से सबधित हैं।[2]

पद्मपाद अथवा प्रकाशात्मन् की व्याख्या के अनुसार उपरोक्त विचार से स्पष्ट है कि अज्ञान अपरिमाप्य है जिसमे परिवर्तन होने के कारण आत्मगत मनोवैज्ञानिक अनुभव एव नानाविषयात्मक जगत् का आविर्भाव हुआ है। यह अज्ञान बौद्धो का अज्ञान अर्थात् मिथ्या बुद्धि नही है एव न यह अध्यास नागार्जुन का विपर्यय ही है क्योंकि यहाँ यह एक भावात्मिका शक्ति है। इस प्रकार प्रकाशात्मन् के अनुसार समस्त कार्यों के पीछे कोई कारण अवश्य होते हैं जो उनके उपादान होते हैं। जगत्प्रतीति भी एक कार्य है अत इसका भी कोई उपादान अवश्य होगा जिससे इसका विकास अथवा निर्माण हुआ। उस प्रत्यक् चिति मे भिन्न शक्ति के रूप मे निहित अज्ञान का एक उपादान कारण है।[3] प्रत्यक् चिति म इस अविद्या शक्ति का स्वरूप भावरूप है। यह भावरूप अज्ञान कई क्षणिक प्रत्यक्षो मे अपरोक्ष रूप से गोचर होता है, जैसे मैं अपने आपको अथवा दूसरो को नही जानता एव उपलक्ष्य मे भी इसका अनुमान अथवा बोध होता है।[4] अविद्या अथवा अज्ञान का प्रत्यक् चिति मे अन्तर्निहित शक्ति मानने का तात्पर्य यह है कि वह (अविद्या) उस पर आश्रित है। अविद्या कोई शक्ति नही है बल्कि एक द्रव्य अथवा इकाई सत्ता है जिसमे कई शक्तियाँ

---

[1] अत सा प्रत्यक् चिति ब्रह्मस्वरूपावभासं प्रतिबध्नाति अहकाराद्यतद्रूप प्रतिभास निमित्ता च भवति। —पचपादिका पृ० ५।

[2] प्रकाशात्मन् द्वारा लिखित पचपादिका विवरण पृ० १० विजयनगरम् सस्कृत सिरीज १८९२।

[3] सर्व च कार्य सोपादान भावकार्यत्वात् घटादिवदित्यनुमानात् तस्मान् मिथ्यार्थ तज्ज्ञाना त्मक मिथ्या भूत अध्यासमुपादानकारणसापेक्षमिथ्याज्ञानमेवाध्यासोपादानम्।
—पचपादिका विवरण, पृ० ११–१२।

[4] पचपादिका विवरण पृ० १३।

निहित हैं जिनके द्वारा वह नाना विषयात्मक जगत् की अस्मद् एवं युष्मद् की प्रतीतियों में अपना रूपांतर करती है, फिर भी इसे प्रत्यक्चिति पर आश्रित होने के कारण शक्ति कहा गया है। एवं अविद्या तथा उसके रूपान्तरों के आत्मा पर इस पूर्ण आश्रितत्व के हेतु ही आत्मा को बाह्य जगत् एवं मनस के विश्वजनीन प्रतीति रूप समस्त कार्यों का कारण माना गया है।[1] अतः आत्मा में अज्ञान केवल परतन्त्रता का ही कार्य नहीं करता बल्कि स्वप्रकाश होते हुए भी विचित्र शक्तिमावरूप अविद्या द्वारा प्रयुक्त होने के कारण इसका आवरण भी होता है एवं वही इस अज्ञानरूपात्मक नाना विषयक जगत् का आधार है।[2]

अप्पय दीक्षित अपने सिद्धान्त लेश नामक ग्रन्थ में पदार्थ तत्व के लेखक के मत को निम्न प्रकार से संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करते हैं।[3] ब्रह्म एवं माया दोनों उपादान कारण हैं (उभयमुपादानम्) अतः जगत् प्रपंच में दो विभिन्न लक्षण हैं ब्रह्म से सत्ता एवं माया से जड़ता। माया के अविकारी अधिष्ठान के रूप में ब्रह्मन् कारण है किन्तु माया उस उपादान के रूप में कारण है जो वस्तुतः परिवर्तित होता है। वाचस्पति मिश्र भी अविद्या सहित ब्रह्म को जगत का उपादान कारण मानते हैं (अविद्यासहितब्रह्मोपादानम्)।[4] अपने ग्रन्थ भामती के प्रारम्भ में मंगलाचरण में उन्होंने सम्पूर्ण विषयात्मक जगत के अविकारी कारण, अनिर्वाच्य अविद्या को ब्रह्म के सचिव के रूप में माना है।[5] सर्वज्ञात्म मुनि नाना विषयात्मक जगत् की रचना में माया को ब्रह्म के समान सहायक नहीं मानते एवं ब्रह्म को माया की नैमित्तिकता द्वारा जगत का यथार्थ उपादान कारण मानते हैं क्योंकि ब्रह्म निरपेक्ष अविकारी होने के कारण उसे अपने आपमें कारण नहीं माना जा सकता, जब ब्रह्म को कारण कहा

---

[1] शक्तिरित्यात्मपरतन्त्रतया आत्मनः सर्वकार्योपादानस्य निर्वोढृत्वम्। पंचपादिका विवरण, पृ० १३। आत्मकारणत्वनिर्बोधत्वादात्मपरतन्त्रत्वाच्च शक्तिमत्यामपि शक्ति शब्द उपचरित। अखण्डानन्द मुनि द्वारा लिखित 'तत्व दीपन' पृ० ६५, चौखंबा संस्कृत बुक डिपो बनारस।

[2] अतः स्वप्रकाशेऽपि आत्मनि विचित्रशक्तिमावरूपाविद्याप्रयुक्तमावरणं दुरपह्नवम्। रामानन्द सरस्वती द्वारा लिखित विवरणोपन्यास, पृ० १–६ चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो, बनारस, १९०१।

[3] सिद्धान्तलेश, पृ० १२ वी० एस० सिरीज, १८९०।

[4] शांकर भाष्य पर भामती, १–१–२ निर्णय सागर प्रेस १९०४।

[5] अनिर्वाच्याविद्याद्वितय सचिवस्य प्रभवतो विवर्तायस्यते वियद्निल तेजोऽबवनय।
—शांकर भाष्य पर भामती पृ०, १।

जाय तब ऐसा माया की नैमित्तिकता द्वारा उपलक्षणार्थ मे ही होगा।[1] अप्पय दीक्षित ने 'सिद्धान्त मुक्तावली' के लेखक का उल्लेख करते हुए लिखा है कि उनके मतानुसार केवल माया ही जगत् प्रतीति का उपादान कारण है, ब्रह्म किसी भी प्रकार से जगत का उपादान कारण नही है परन्तु वह (ब्रह्म) केवल माया का आश्रय मात्र है एव इसी दृष्टि से इसे उपादान कारण कहा गया है।[2]

यह स्पष्ट है कि नाना विषयात्मक जगत् की रचना के सबध मे माया एव आत्मा अथवा ब्रह्म के सबध के स्वरूप के बारे मे उपरोक्त मतभेद केवल शब्द अथवा वाग्जाल मात्र है जिसका दार्शनिक महत्व कुछ भी नही है। जैसाकि कहा जा चुका है उपरोक्त प्रश्न शकर के मस्तिष्क मे उत्पन्न हुए प्रतीत नही होते। उन्होने अविद्या एव ब्रह्म के सबध तथा जगत् के उपादान कारण के रूप मे इस सबध के योगदान की कोई निश्चित व्याख्या करना उपयुक्त नही समझा। जगत भ्रम है एव ब्रह्म उस सत्य का आधार है जिस पर भ्रम की प्रतीति होती है, क्योकि नानात्व अर्थात भ्रम को भी किसी अधिष्ठान की आवश्यकता रहती ही है। उन्होने कभी भी अपने सिद्धान्त से स्वाभाविक रूप से सबधित कठिनाइयो का पूर्ण रूप से सामना नही किया अत इस भ्रमपूर्ण जगत की रचना के विषय मे माया एव ब्रह्म के निश्चित सबध की व्याख्या करना आवश्यक नही समझा। इस प्रकार के मतो के विरुद्ध स्वाभाविक आपत्ति यह है कि अविद्या (जो निषेधात्मक उपसर्ग 'अ' एव विद्या के समास से बना है) का अर्थ या तो विद्या का अभाव हो सकता है या मिथ्या ज्ञान हो सकता है। उपरोक्त दोनो ही अर्थों मे यह किसी वस्तु का उपादान कारण अथवा द्रव्यभूत नही हो सकता क्योकि मिथ्या ज्ञान किसी भी प्रकार का द्रव्य नही हो सकता जिसमे से अन्य वस्तुओ का आविर्भाव हो सकता हो।[3] ऐसी आपत्ति का समाधान कराते हुए आनन्द भट्टारक कहते हैं कि यह अविद्या मनोवैज्ञानिक अज्ञान नही है अपितु यह एक विशिष्ट पारिभाषिक वस्तु है जो अनादि एव अनिर्वाच्य है (अनाद्यनिर्वाच्याविद्याश्रयणात)। ऐसी वस्तु को स्वीकार करना एक ऐसी परिकल्पना है जिसको सत्य मानना उचित है क्योकि यह तथ्यो की व्याख्या करती है। कार्यो का कारण होना आवश्यक है एव केवल निमित्त कारण मात्र के अधिष्ठान की उत्पत्ति की व्याख्या नही कर सकता, पुन अन्यथा कार्यों का उपादान कारण न तो यथार्थ हो सकता है एव न निरपेक्षरूप

---

[1] सक्षेप शारीरिक, १ ३३३,३३४ भाऊ शास्त्री का सस्करण।

[2] सिद्धान्त लेश, पृ० १०, वी० एस० सिरीज़ १८९०।

[3] अविद्या हि विद्याभावो मिथ्या ज्ञान वा न चोभयम् कस्यचित समवायिकारण अद्रव्यत्वात। आनन्दबोध कृत न्याय मकरंद पृ० १२२, चौखभा सस्कृत बुक डिपो बनारस १९०१।

से असत ही उनका उपादान कारण हो सकता है। अत चूंकि जगत का उपादान कारण न तो सत हो सकता है और न निरपेक्षरूप से असत ही हो सकता है अत वेदान्तियों के लिए यह परिकल्पना करना आवश्यक हो जाता है कि इस मिथ्या जगत प्रतीति का उपादान कारण एक ऐसी इकाई है जो न तो सत है एव न असत ही है।[1] आनन्दबोध अपनी 'प्रमाणमाला' म वाचस्पति की 'ब्रह्म-तत्व समीक्षा' से उद्धरण देते हुए लिखते हैं कि अविद्या को अविद्या इसीलिए कहा गया है कि यह न तो सत् है और न असत ही। अत अनिवचनीय है, अविद्या के अविद्यात्व का बोध इसी पद से होता है।[2] आनन्दबोध के मत म अविद्या को स्वीकार करना प्रतीत्यात्मक जगत के सभावित कारण को बताने का तार्किक परिणाम मात्र है—अर्थात जगत् प्रतीति के यथागत स्वरूप को दृष्टि मे रखें तो उसका कारण कोई ऐसी प्रतीत होगी जो न तो सत और न असत हो हो सकती है परन्तु ऐसी वस्तु प्रत्यय से हम क्या अभिप्राय लेते हैं यह नही सकते। स्पष्टतया यह अगम्य है ऐसे प्रत्यय की तार्किक आवश्यकता केवल यही सकेत करती है कि जो इस मिथ्या जगत् का उपादान कारण है उसे न तो सत अथवा न असत ही माना जा सकता है, परन्तु इस प्रकार के निरूपण से यह प्रत्यय सगत एव बोधगम्य नहीं हो जाता।[3] अत अविद्या का प्रत्यय स्पष्टरूप से अबाध एव असगत है।

बौद्ध दर्शन एव वेदान्त मे विचार तथा उसका विषय

वेदान्त के अनुसार दो प्रकार से वस्तुओ पर विचार किया जा सकता है, प्रथम एव द्वितीय दृष्टिकोण क्रमश परम तत्व तथा भ्रमात्मक जगत् के प्रसग म हैं। यह परम तत्व विशुद्ध चित्स्वरूप है जिसका विशुद्ध आनन्द एव सत स्वरूप के साथ तादात्म्य है। अविकारी होने के कारण इसे परम तत्व कहा जाता है। विशुद्ध चितस्वरूपता से वेदान्त का तात्पय साधारण ज्ञानात्मक अवस्थाओ से नही है क्योकि उनमे उनसे भिन्न वस्तुगत एव आत्मगत सामग्री है। उस विशुद्ध चैतन्य का अनुभव तत्क्षण होता है जो हमारी सपूर्ण चैत अवस्थाओ मे अनुस्यूत दधी प्रकाशन के अनुरूप है। हमारे विषय बोध कुछ अर्थों मे ऐसी घटना है जिसमे अस्यस्व आत्मत्व और युष्मत्व। वस्तुत्व

---

[1] आनन्दबोध कृत न्यायमकरन्द पृ० १२२–१२४।

[2] सदसद्सदुभयानुभयादि प्रकार अनिवचनीयत्वमेव हि अविद्याना अविद्यात्वम्। ब्रह्मतत्व समीक्षा जसाकि प्रमाण माला मे उद्धृत है। पृ० १० चौखबा सस्कृत बुक डिपो बनारस, १९०७।

[3] वलक्षण्य वाचो युक्तिर्हि प्रतियोगि निरूपणाद् यौक्तिकत्व प्रकटनफला न तु एव-रूपतया सामजस्य सपादनाय इत्यवोचाम। —प्रमाण माला, पृ० १०।

दोनों का समावेश है, परन्तु प्रत्येक अवस्था में उसका विशिष्ट लक्षण प्रकाशित, अन्तर्मुखता अथवा तात्क्षणिकता है जो अविकारी तथा कालातीत है। हमारे देखने, श्रवण करने, अनुभव करने, स्पर्श करने, विचार करने एवं स्मरण करने के तथ्य यह बताते हैं कि जगत् में विविध ज्ञान है। परन्तु इस ज्ञान का स्वरूप क्या है ? यह कोई क्रिया है अथवा तथ्य है ? जब मैं नील वर्ण देखता हूँ उस अवस्था मे एक नील विषय विद्यमान होता है, नीले रूप में प्रतीति का एक विशिष्ट प्रकाशन विद्यमान होता है एवं द्रष्टा के रूप मे 'अहं' का प्रकाशन होता है। यह एक ऐसा प्रकाशन है जिसमें 'नीलवर्ण' के रूप में लक्षण विशेष और नीली वस्तु के रूप मे उस वस्तु विशेष दोनों का ही प्रकाशन होता है। प्रत्यक्षीकरण में जो अभिव्यक्ति होती है वह एक होती है और वह विषय एवं उसकी प्रतीति को लक्षणविशेष में एक प्रकार से नीलवर्ण के रूप मे अभिव्यक्त करती है। यह अभिव्यक्ति लक्षण प्रतीति एवं विषय के बीच रहने वाले किसी संबंध की उत्पत्ति मात्र नहीं है। क्योंकि नील के रूप में लक्षण प्रतीति एवं विषय दोनों प्रकाशन में विद्यमान हैं। अनुभूति स्वयंसिद्ध है एवं अद्वितीय है। मेरे देखने मे, श्रवण में, अनुभव करने में, तथा परिवर्तन में यह सत्य है कि एक प्रकार का चैतन्य शाश्वत रूप से रहता है जिसमे किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। चैतन्य स्वयं ही सदा वर्तमान रहता है एवं उसकी सामग्री के सदृश उसमें कोई विकार नहीं होता। मुझे स्मरण है कि मैंने पाँच मिनट पूर्व एक नील विषय देखा था परन्तु ऐसा करने में मुझे अभिव्यक्त अथवा उत्पन्न होने वाले देश कालिक संबंधविशेष से युक्त नील विषय के बिम्ब का ही प्रत्यक्ष होता है परन्तु स्वयं अभिव्यक्ति की पुनः अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। मैं चेतन हो सकता हूँ परन्तु चैतन्य का चेतन नहीं हो सकता क्योंकि चैतन्य के तत्क्षण उपस्थित रहने पर भी वह स्वतः किसी अन्य चैतन्य का विषय नहीं बन सकती। बोध का बोध अथवा ज्ञान के ज्ञान का ज्ञान जैसी कोई वस्तु नहीं हो सकती यद्यपि हम अपनी इच्छानुसार भाषा मे ऐसे शब्द समुदायों को बढ़ा सकते हैं। जब मुझे स्मरण होता है कि आज प्रातः मैं ट्रिनिटी कालेज हो आया हूँ तो उसका अर्थ केवल यही है कि चर्च स्टीट एवं ट्रिनिटी स्ट्रीट मे आने वाले कामन्स' के रास्ते की कल्पना मेरे मस्तिष्क में है उनसे होकर मेरा जाना कालिक रूप से पीछे धकेल दिया गया है। परन्तु यह सब वर्तमान समय में बिम्ब रूप में अभिव्यक्ति है, भूत की अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति नहीं। मैं यह नहीं कह सकता कि यह वर्तमान बिम्ब वर्तमान प्रकाशन के विषय के रूप मे उस बिम्ब विशेष का किसी भी प्रकार से प्रकाशन करता है। परन्तु पूर्ववर्ती प्रकाशन वर्तमान प्रकाशन से भिन्न नहीं समझा जा सकता क्योंकि भेद सदैव सामग्री पर आधारित रहता है प्रकाशन पर नहीं। अभिव्यक्ति स्वतः एकरूपा होती है एवं ऐसा होने के कारण एक अभिव्यक्ति दूसरी का विषय नहीं हो सकती। ऐसा कहना अशुद्ध है कि अ अ है का तात्पर्य यह है कि एक ■ पुनः स्वयं 'अ' होता है। व्याकरण संबंधी शब्दावली की सीमा

मे बद्ध होने के कारण एकरूपता का वर्णन इस प्रकार किया जाता है। इस प्रकार एकरूपता का अर्थ सबध के अर्थ म किए गए एकरूपता के अर्थ से भिन्न है। एकरूपता को सबध के रूप मे समझने का अर्थ उसमे भेद अथवा अन्यत्व समझना है एव इस प्रकार वह स्वय मे परिपूर्ण नही होती। स्वय मे परिपूर्ण नही होने के कारण ही इस सबध कहा जा सकता है। जब यह कहा जाता है कि 'अ अ क अनुरूप है तो इसका अर्थ यह है कि विभिन्न अवसरो एव अर्थों म जहा कही भी अ प्रकट हुआ वहा उसका एक ही वस्तु से अर्थ है उसकी वही आकृति है अथवा वह हिन्दी की वर्णमाला का वही प्रथम अक्षर है। इस अर्थ मे एकरूपता विचार का एक कार्य है जिसका अस्तित्व विरोध अथवा अन्यत्व के अर्थ से सबद्ध है न कि उसका कोई स्वतत्र अस्तित्व है। परन्तु अभिव्यक्ति म कोई अन्यत्व नहीं होता, वह निरपेक्ष रूप से एक ही प्रकार सर्वव्यापी होती है। परन्तु जिस एकरूपता की अभिव्यक्ति का हम वर्णन कर रहे हैं उसका अर्थ यह नही है कि अभिव्यक्ति विभिन्न उपादानो के बीच एक ही वस्तु व्यक्त करे। यह तो केवल सारूप्य स अपने स्वय म एकरूप है जो सख्या सूचक अथवा अन्य प्रकार के भेद स रहित है। यह पूर्ण रूप से 'अब' एव 'तब' 'यहा' एव 'वहा' 'ऐसा अथवा ऐसा नही और 'यह एव वह' स मुक्त है। स्वय ज्योति आत्मा का चैतन्य इस अर्थ मे विषय प्रपच से सबद्ध नही माना जा सकता बल्कि यह आत्मा की अभिव्यक्ति अथवा सत्ता का तथ्य है। यदि हम अभिव्यक्ति को इस दृष्टि से ग्रहण करें तो अभिव्यक्ति का वर्तमानकाल की अभिव्यक्ति अथवा भूतकाल की अभिव्यक्ति के रूप मे भेद करना भूल है। क्योकि जैसे विषयो की अभिव्यक्ति होती है वसे ही काल की भी अभिव्यक्ति होती ह वे अभिव्यक्ति का निर्माण नही करते अथवा उसका कोई भाग नही हैं। यह अभिव्यक्ति स्वय ज्योति आत्मा से एकरूप है जिसक साथ अन्य सब वस्तुओ का सबध स्थापित करना आवश्यक ह ताकि उनके बारे म ज्ञान प्राप्त किया जा सके।

"बोध एक प्रकार की क्रिया है अथवा यथार्थता ?" इसका उत्तर देन के पूर्व बोध के अर्थ का स्पष्ट करना आवश्यक होगा। यदि हम अभिव्यक्ति क रूप की ओर ध्यान न दें एव काल अथवा गुण सबधी लाक्षणिक परिवर्तन की दृष्टि से ध्यान दिए जाने वाले मानसिक अवस्थाओ की बात करें तो हम उन्हे कोई कृति अथवा घटना समझना चाहिए। यदि हम किसी मानसिक अवस्था को कुछ लक्षणो से युक्त एव अपने विषयो से सबधित समझें तो हम उन रूपो का बताना पडेगा। परन्तु यदि हम बोध का अर्थ उसके परम सत्य एव सत्ता की दृष्टि स अभिव्यक्ति के रूप मे लें तो हम उसे न तो कृति और न यथार्थता ही कह सकते हैं, क्योकि अभिव्यक्ति होने के कारण यह स्वय म अद्वितीय एव अविकार्य है। उसम सपूर्ण लक्षणो एव सबधो का प्रकाशन होता है—यह स्वयसिद्ध है एव वह एक ही क्षण म उन सबमे है तथा उनसे परे

भी है। हमारी स्वप्नावस्था अथवा जाग्रतावस्था म, भ्रम अथवा सत्य के अनुभव की अवस्था म, अभिव्यक्ति सदव विद्यमान रहती है। जब हम अपनी मानसिक अवस्थाओं की ओर ध्यान देते हैं तो हम उन्ह सदैव परिवतनशील अवस्था मे देखते हैं परन्तु यह तो सामग्री के सबध मे ही ठीक है। इसके अतिरिक्त हमारे चैतन्य जीवन मे एक अविच्छिन्नता है। इस अविच्छिन्नता से वेदान्त का तात्पय अनुभूति की नित्यता से है, विचारो की सबद्धता से नही। यह पूछा जा सकता है कि मानसिक अवस्थाओं के निकल जाने पर अनुभूति मे क्या अवशिष्ट रहता है? यह प्रश्न अग्राह्य है, क्योंकि मानसिक अवस्थाए अनुभूति का भाग नहीं हैं अनुभूति से सबद्ध होने के बाद ही उनम चतन्य का प्रादुर्भाव होता है। यह पद परम तत्व है। यहाँ आत्मा अथवा अह साधारण अथ मे प्रयुक्त नही हुआ है। क्योंकि साधारण अथ मे जिसे 'अह' समझा जाता है वह विषयगत सामग्री के समान ही तत्क्षण के प्रत्यक्षीकरण की सामग्री है। किसी विशिष्ट विषयगत सामग्री का किसी विशिष्ट समय मे उसके अनुरूप 'मैं प्रत्यक्षीकरण करता हूँ' ऐसे अनुभव मे स्पष्टतया उसी समय व्यक्त हुए बिना अभिव्यक्त होना असभव नहीं है। 'अह' का प्रत्यय किसी नित्य स्थाई स्वतन्त्र आत्मा अथवा पुरुष से सबद्ध नही है, क्योंकि किसी अन्य विषयगत सामग्री के समान यह भी परिवतनशील है। विद्यमान सत्ता से सबद्ध रूप म 'अह' की कोई निश्चित यथाथ सामग्री नही है परन्तु यह मस्तिष्क की एक विशिष्ट अवस्था है जो मस्तिष्क की अन्य विकारशील सामग्रियो के साथ आपेक्षिक रूप से स्थाई सामग्री के रूप म प्राय सबधित रहती है। इस प्रकार किसी भी अन्य विषय की तरह यह भी परिवतनशील है। 'मैं यह जानता हूँ' का तात्पय केवल यही है कि यह एक प्रकार की अभिव्यक्ति है जो युगपत् भाव से 'मैं' एव 'यह' को व्यक्त करती है। 'यह' एव 'मैं' का अभिव्यक्त करने की अवस्था म अभिव्यक्ति अन्य एक स ही चैत य केन्द्रो से भिन्न विशिष्ट चैत यकेन्द्र की आत्मगत मानसिक अवस्था मे प्रकट होती है। वस्तुत अभिव्यक्ति को अलग अलग नही किया जा सकता अत 'मैं अथवा मेरा', तुम' अथवा 'तुम्हारा' के सबध म कही गई बात उसके क्षेत्र के बाहर की बात है। वे सब ऐसी सामग्रियाँ हैं जिनका अपना स्वय का अनिश्चित अस्तित्व है तथा जो अभिव्यक्ति के इस सिद्धान्त द्वारा कुछ अवस्थाओ मे अभिव्यक्त होती हैं। किसी अन्य विषय के अस्तित्व को निर्दिष्ट करने के लिए प्रयुक्त अथ से एक बिल्कुल भिन्न अथ म ही इस अभिव्यक्ति के सिद्धान्त की यथाथता है। सपूण अन्य विषय अपने प्रकाशन के लिए अभिव्यक्ति के इस सिद्धान्त पर आधारित हैं एव उनके स्वरूप अथवा तत्व का इसके साथ सबध के कारण न तो परिभाषा दी जा सकती है और न उनका वणन ही किया जा सकता है। वे स्वयसिद्ध नही है परन्तु इस मूलभूत तत्व के साथ किसी प्रकार का सबध स्थापित होने पर ही उन्हे व्यक्त किया जा सकता है। यह हम जान ही चुके हैं कि यह तत्व आत्मगत अथवा वस्तुगत नही हो सकता। क्योंकि विषय एव विषयिन् के सपूण विचार इस क्षेत्र के बाहर की

जाते हैं और किसी भी प्रकार से उसके विशेषण नहीं हैं अपितु वे उसके द्वारा अभिव्यक्त होते हैं। इस प्रकार दो तत्व हैं अभिव्यक्ति का तत्व एवं उसके द्वारा अभिव्यक्त वस्तु का तत्व। अभिव्यक्ति का तत्व एक है क्योंकि उसके सदृश कोई तत्व नहीं है केवल यही परम एवं यथार्थतम अर्थ में सत्य है। यह निरपेक्ष इस अर्थ में ही है कि यह अजर, अमर और अविकारी तथा स्वयं के पूर्ण होने के कारण 'परम' है। यह अनन्त इस अर्थ में है कि समस्त सीमित वस्तुओं के इसके द्वारा अभिव्यक्त होने पर भी वे इसका अवयव नहीं बन सकती। यह विभु इस अर्थ में है कि काल अथवा दिक् की सीमाएं इसके द्वारा अभिव्यक्त होने पर भी इसमें विकार पैदा नहीं कर सकती। यह न तो मेरे मस्तिष्क में है न मेरे शरीर में है और न मेरे समक्ष दिक् में है, परन्तु फिर भी ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ यह न हो। इसको कभी कभी 'आत्मन्' कहकर सर्वोपरि सत्ता सर्वातीत सबोधित किया जाता है परन्तु ऐसा केवल उस परम तत्व ब्रह्मन् के वास्तविक स्वरूप को बताने के लिए ही किया गया है।

इस अभिव्यक्ति के तत्व के अतिरिक्त अन्य सब कुछ माया सज्ञक द्रव्यरहित अनिर्वचनीय उपादान से बना हुआ है। शाकर वेदान्त की कतिपय शाखाओं की मान्यता है कि जगत् केवल मिथ्या है एवं जब तक हम विषयों का प्रत्यक्ष करते हैं तब तक ही उनका अस्तित्व है तथा ज्योंही हमें उनका प्रत्यक्ष होना बद हो जाता है त्योंही वे शून्य में चली जाती हैं। इस मत को 'दृष्टि सृष्टि' मत कहा गया है। इस मत की सक्षिप्त व्याख्या इस ग्रथ के दशम अध्याय में की गई है।[1] इस मत का अत्यत महत्वपूर्ण ग्रथ प्रकाशानद द्वारा लिखित 'सिद्धान्त मुक्तावली'।[2] ऐसा प्रतीत

---

[1] भारतीय दर्शन का इतिहास भाग १ पृ० ४७७ ४७८ ले० एस० एन० दास गुप्ता कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस द्वारा मुद्रित १९२२।

[2] प्रकाशानन्द प्रकाशात्मन् (१२०० ई० प०) की पचपादिका विवरण एवं सर्वज्ञात्म मुनि (९०० ई० प०) के सक्षेप शारीरिक के तर्कों का प्रमाण देते हुए 'नैष्कर्म्य सिद्धि' के लेखक सुरेश्वर का अनुमोदन करते हैं। अप्पय दीक्षित (१६२० ई० प०) अपने सिद्धान्त लेश (पृ० १३ ७२) में प्रकाशानद का उल्लेख करते हैं। प्रकाशानन्द के मतानुगामी सिद्धान्त दीपिका के लेखक नाना दीक्षित ने सिद्धान्त मुक्तावली पर टीका करते हुए वेदान्त के आचार्यों की सूची दी है। इस सूची में प्रकाशानुभवानद नृसिंह एवं राघवेन्द्र यति के नाम भी लिखे गए हैं। वेनिस के मत में (देखिए पंडित १८९० पृ० ४८७ ४९०) प्रकाशानुभव एवं प्रकाशात्मन् तथा नृसिंह एवं नृसिंहाश्रम मुनि में कोई अन्तर नहीं है जिन्होंने अप्पय दीक्षित को शाकर वेदान्त में परिवर्तित किया था। उनके मत में प्रकाशानद नृसिंह एवं अप्पय दीक्षित के बीच में सोलहवीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश में रहे। यद्यपि उनका

होता है कि प्रकाशानद का प्रेरणा स्रोत 'योगवासिष्ठ' था और उन्होने विषयो के अप्रत्यक्ष होने की अवस्था म उनकी सत्ता (अज्ञातसत्वानभ्युपगम) को अस्वीकार किया है। उन्होने यह प्रदर्शित करने का यत्न किया है कि बाह्य विषयो के प्रत्यक्ष न होने पर भी उनकी सत्ता को अथवा बाह्य विषयो की प्रत्यक्ष निरपेक्ष सत्ता को मानने का कोई कारण नही है। प्रत्यक्ष और उसके विषय के बीच के इस विभेद को स्थापित करने के प्रत्यक्ष के सामर्थ्य की परीक्षा करते हुए उन्होने युक्ति दी है कि ज्ञान एव ज्ञान के विषय का भेद ज्ञान का गुण मात्र होने के कारण स्वय इस विषयगत धम को ग्रहण करने मे समथ नही है क्योकि यह ज्ञान एव ज्ञेय के भेद म निहित सश्लिष्ट का एक उपादान है। इसके विपरीत अथ को प्रस्तुत करने का अथ है आत्माश्रयत्व दोष। यदि अनुभूत भेद मिश्रित हो यथा 'प्रतीति एव उसके विषय म भेद एव यदि इस मिश्रण विषय मे विद्यमान कोई अनुभूत धम हो तो यह मानना पडेगा कि प्रतीति के स्वरूप को समझने एव प्रमाणित करने के लिए 'प्रतीति एव उसके विषय मे भेद मिश्रण के अग के रूप मे यह प्रतीति तत्क्षण तथा अपरोक्ष रूप से स्वय पर ही आधारित होनी चाहिए। इसका अथ यही हुआ कि प्रतीति को अपनी प्रतीति स्वय की प्रतीति कर लेने पर होती है, ऐसा असम्भव है तथा इसे आत्माश्रयत्व का दोष कहते हैं।[1] यदि यह कहा जाय कि मिश्रित धम (प्रतीति का विषय से भेद) अपरोक्ष रूप से इन्द्रियो द्वारा विषयो म प्रत्यक्ष होता है तो यह मानना पडेगा कि विषय मे उपरोक्त मिश्रण धम की सत्ता प्रतीति के उत्पन्न होने के पूव भी थी। इस अथ मे यह असम्भव कल्पना होगी कि प्रतीति जिस मिश्रण धम का अग है वह धम इस प्रकार की प्रतीति के अस्तित्व मे आने के पूव भी विद्यमान था। यदि प्रत्यक्षीकरण अथवा अपरोक्ष ज्ञान द्वारा प्रतीति एव उसके विषय के भेद को सिद्ध नही किया जा सकता तो कोई भी अनुमान उसे प्रमाणित नही कर सकता। क्योकि इस प्रकार के अनुमान का निम्न आकार होगा— विषय स्वय अपनी प्रतीति से भिन्न है क्योकि वह पूण रूप से विरुद्ध लक्षणो एव धर्मों से सबद्ध है।'[2] परन्तु यह किस प्रकार विदित हुआ कि

काल निश्चित रूप से ठीक ठीक तय करना कठिन होगा फिर भी यह मानना अनुचित नही होगा कि वह सोलहवी शताब्दी के उत्तराद्ध मे रहे। प्रकाशानद का दृष्टि सृष्टि का मत पूववर्ती वेदान्त ग्रथो को अज्ञात है एव सोलहवी शताब्दी के प्रारभिक वाच्यग्रथ वेदान्त परिभाषा' को भी वह अज्ञात है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनका पूवतम नाम सोलहवी एव सतरहवी शताब्दियो मे रहने वाले केवल अप्पय ने लिया। अत प्रकाशानद का जीवन काल सोलहवी शताब्दी का उत्तराद्ध माना जा सकता है।

[1] सिद्धात मुक्तावली, १८८९ पृ० २४७ २४९।

[2] विमतो विषय स्वविषयज्ञानादभिद्यते तद्विरुद्धधर्माश्रयत्वात्।

—सिद्धात मुक्तावली, पृ० २५२।

विषय के धर्म का स्वरूप प्रतीति के धर्म से पूर्णतया भिन्न है क्योंकि प्रतीति एवं उसके विषय के भेद विवादास्पद हैं एवं प्रत्यक्षीकरण अथवा किन्ही अन्य साधना द्वारा उन्हें प्रमाणित नहीं किया गया। आगे चलकर प्रकाशानन्द कहते हैं कि अर्थापत्ति का यह तर्क असंगत है कि प्रतीति में प्रतीति से भिन्न शक्ति की स्वीकृति (जिसके द्वारा प्रतीति की स्थापना होती है) अन्तर्निहित है क्योंकि अनुरूप विषय के बिना किसी भी प्रकार की प्रतीति नहीं हो सकती। 'ज्ञान अनिवार्यतः विषय को अर्थापतित करता है' इस धारणा की अयुक्तता दिखाने के लिए प्रकाशानन्द यह प्रश्न उठाते हैं कि विषय द्वारा ज्ञान के निर्धारण सम्बन्धी अर्थापत्ति ज्ञान की उत्पत्ति की ओर संकेत करती है या उसकी स्थिति की ओर निर्देश करती है या कि उसकी गौण सत्ता (सेकण्ड्री कोग्नीशन) का अभिधान करती है ? प्रथम विकल्प के संबंध में प्रकाशानन्द कहते हैं कि वेदान्त के अनुसार चैतन्य नित्यसत्तारूप है उसकी कदापि उत्पत्ति नहीं होती एवं यदि उसकी उत्पत्ति को मान भी लिया जाय तो स्वयं ज्ञान की प्रक्रिया को उसकी उत्पत्ति के लिए पर्याप्त हेतु माना जा सकता है। सम्पूर्ण अवस्थाओं में ज्ञान की उत्पत्ति के लिए बाह्य विषय का आवश्यक कदापि नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यद्यपि यह तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि प्रत्यक्षीकरण में विषय की उपस्थिति आवश्यक है तो भी अनुमान द्वारा प्राप्त ज्ञान की उत्पत्ति के लिए कोई भी व्यक्ति बाह्य विषय को आवश्यक नहीं मानेगा—यही तथ्य इस बात को सिद्ध करता है कि ज्ञान की उत्पत्ति के लिए बाह्य विषय की उपस्थिति अनिवार्य नहीं है। ज्ञान की स्थिति के संबंध में यों कहा जाता है कि अपने आश्रय के लिए ज्ञान का कोई विषय ऐसा नहीं होता कि ज्ञान के अतिरिक्त विषय की अनुपस्थिति ज्ञान की स्थिति को असंभव बना दे, और यदि ज्ञान की स्थिति को किसी में स्थित मान लिया जाय तो ऐसी स्थिति में वह एक ज्ञात विषय न होकर स्वयं ज्ञाता ही होगा—जैसा कि न्याय दर्शन में दृष्टिगोचर होता है, जहाँ ज्ञान को आत्मा का गुण माना गया है एवं आत्मा को ज्ञान का आश्रय माना गया है। पुनः ज्ञान एवं उसके विषय के एक ही काल एवं दिक् में विद्यमान नहीं होने के कारण (यह हमारे भूत अथवा भविष्य के विषय ज्ञान की संभावना से सिद्ध है) दोनों में ऐसा समवाय नहीं हो सकता कि आत्मगत ज्ञान अथवा बोध के कारण विषय के बाह्य अस्तित्व के बारे में किसी व्यक्ति द्वारा अनुमान करना सही होगा। अतः वह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि ज्ञान एवं ज्ञात विषय को भिन्न समझने का कोई प्रमाण नहीं है।

प्रकाशानंद के मत के उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि वह अपने इस प्रतिपाद्य विषय की पुष्टि में कोई प्रबल प्रमाण देने का प्रयत्न नहीं करते कि जगत् प्रपंच एवं उसमें निहित संपूर्ण अप्रत्यक्षीकृत विषयों की कोई सत्ता नहीं है अथवा समस्त विषयों का सत् उनके प्रत्यक्षीकरण में है। वह केवल यही सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि

तार्किक दृष्टि से यह स्थापित नही किया जा सकता कि नीले की प्रतीति एव नीलापन दो विभिन्न विषय हैं, दूसरे शब्दो मे यह सिद्ध नही किया जा सकता कि ज्ञात विषय एव उसका ज्ञान दोनो भिन्न हैं। प्रतीति को प्रत्येतव्य से भिन्न नही समझा जा सकता। सपूर्ण प्रत्यक्षीकृत जगत् ऐसे ज्ञान के अतिरिक्त कुछ नही है जिसके अनुरूप कोई विषय न हो। जैसे स्वप्न बिना किसी यथार्थ विषय के केवल प्रतीति मात्र हैं जिनका ज्ञान एव ज्ञेय के प्रभेद से भान होता है उसी प्रकार जगत् जाग्रत विज्ञान मात्र है।[1] इस प्रकार जगत् का कोई स्वतत्र अधिष्ठान नही है बल्कि वह केवल विज्ञान मात्र अथवा भाव मात्र है।

वेदान्त दर्शन की इस पद्धति का आश्चर्यजनक सादृश्य वसुबधु (२८० ३६० ई० प०) के उस विज्ञानवाद से है जिसका प्रतिपादन उन्होने स्वय के द्वारा रचित सक्षिप्त भाष्य सहित विंशतिका एव स्थिरमति[2] के भाष्य सहित त्रिंशिका मे किया है। वसुबन्धु के इस विज्ञानवाद के अनुसार अखिल प्रपच अपनी अन्तर्निहित गतिशीलता के कारण चैतन्य के मूल तत्व के विकार हैं एव हमारे कोई भी ज्ञान के विषय ऐसे किसी बाह्य विषय द्वारा उत्पाद्य नही हैं जिनका अस्तित्व हमसे बाह्य प्रतीत होकर हमारे विचारो की उत्पत्ति का कारण हो। जिस प्रकार स्वप्न मे बाह्य विषय के अभाव मे स्वप्नद्रष्टा विभिन्न स्थानो एव देशो मे विभिन्न विषयो का अनुभव करता है अथवा जिस प्रकार स्वप्न मे कई लोग इकट्ठा होकर कई प्रकार के कार्य किया करते हैं उसी प्रकार जो तथ्यात्मक एव बाह्य विषयात्मक वास्तविक जगत् प्रतीत होता है वह बिना किसी विषयात्मक आधार के चैतन्य के तत्व की सृष्टि मात्र है। जो कुछ हम वस्तुपरक अथवा आत्मपरक के रूप मे जानते हैं वह केवल विज्ञप्ति मात्र है एव उसके अनुरूप कोई स्वतत्र सत्ता नही है, परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि सतो द्वारा अनुभूत शुद्ध अनिर्देश्य विज्ञान भी मिथ्या है।[3] सम्भवत एक पदार्थ की प्रतीति किसी

---

[1] प्रत्येतव्य प्रतीत्योश्चभेद प्रामाणिक कुत
प्रतीतिमात्रमवैतद् भाति विश्व चराचरम्।
ज्ञानज्ञेय प्रभेदेन यथा स्वप्न प्रतीयते
विज्ञानमात्रमेवैतत्तथा जाग्रच्चराचरम्॥

[2] विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, जिसमे विंशतिका एव त्रिंशिका नामक दो ग्रथो का समावेश है। वसुबधु का काल इसी ग्रथ के प्रथम भाग मे मैंने ४२० ५०० ई० प० माना है जो सम्भवत सही नही प्रतीत होता। उसका काल २८०-३६० ई० प० है। व० भट्टाचार्य द्वारा लिखित तत्वसग्रह का प्राक्कथन देखें।

[3] यो बाल धर्माणा स्वभावो ग्राह्य ग्राहकादि परिकल्पित, तेन कल्पितेन आत्मना तेषा नैरात्म्य न तु अनभिलप्यन आत्मना यो बुद्धाना विषय इति।

—विंशतिका भाष्य, पृ० ६।

विषय के धर्म का स्वरूप प्रतीति के धर्म से पूर्णतया भिन्न है क्योंकि प्रतीति एवं उसके विषय के भेद विवादास्पद हैं एवं प्रत्यक्षीकरण अथवा किन्हीं अन्य साधना द्वारा उन्हें प्रमाणित नहीं किया गया। आगे चलकर प्रकाशानन्द कहते हैं कि अर्थापत्ति का यह तर्क असंगत है कि प्रतीति में प्रतीति से भिन्न शक्ति की स्वीकृति (जिसके द्वारा प्रतीति की स्थापना होती है) अन्तर्निहित है क्योंकि अनुरूप विषय के बिना किसी भी प्रकार की प्रतीति नहीं हो सकती। ज्ञान अनिवार्यतः विषय को अर्थापतित करता है" इस धारणा की अयुक्तता दिखाने के लिए प्रकाशानन्द यह प्रश्न उठाते हैं कि विषय द्वारा ज्ञान के निर्धारण सम्बन्धी अर्थापत्ति ज्ञान की उत्पत्ति की ओर संकेत करती है या उसकी स्थिति की ओर निर्देश करती है या कि उसकी गौण सत्ता (सेकेण्ड्री कोग्नीशन) का अभिधान करती है ? प्रथम विकल्प के संबंध में प्रकाशानन्द कहते हैं कि वेदान्त के अनुसार चैतन्य नित्यसत्तारूप है, उसकी कदापि उत्पत्ति नहीं होती एवं यदि उसकी उत्पत्ति का मान भी लिया जाय तो स्वयं ज्ञान की प्रक्रिया को उसकी उत्पत्ति के लिए पर्याप्त हेतु माना जा सकता है। सम्पूर्ण अवस्थाओं में ज्ञान की उत्पत्ति के लिए बाह्य विषय को आवश्यक कदापि नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यद्यपि यह तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि प्रत्यक्षीकरण में विषय की उपस्थिति आवश्यक है तो भी अनुमान द्वारा प्राप्त ज्ञान की उत्पत्ति के लिए कोई भी व्यक्ति बाह्य विषय को आवश्यक नहीं मानेगा—यही तथ्य इस बात को सिद्ध करता है कि ज्ञान की उत्पत्ति के लिए बाह्य विषय की उपस्थिति अनिवार्य नहीं है। ज्ञान की स्थिति के संबंध में जो कहा जाता है कि अपने आश्रय के लिए ज्ञान का कोई विषय ऐसा नहीं होता कि ज्ञान के अतिरिक्त विषय की अनुपस्थिति ज्ञान की स्थिति को असंभव बना दे और यदि ज्ञान की स्थिति को किसी में स्थित मान लिया जाय तो ऐसी स्थिति में वह एक ज्ञात विषय न होकर स्वयं ज्ञाता ही होगा—जैसाकि न्याय दर्शन में दृष्टिगोचर होता है जहाँ ज्ञान को आत्मा का गुण माना गया है एवं आत्मा को ज्ञान का आश्रय माना गया है। पुनः ज्ञान एवं उसके विषय के एक ही काल एवं दिक् में विद्यमान नहीं होने के कारण (यह हमारे भूत अथवा भविष्य के विषय ज्ञान की संभावना से सिद्ध है) दोनों में ऐसा समवाय नहीं हो सकता कि आत्मगत ज्ञान अथवा बोध के कारण विषय के बाह्य अस्तित्व के बारे में किसी व्यक्ति द्वारा अनुमान करना सही होगा। अतः वह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि ज्ञान एवं ज्ञात विषय को भिन्न समझने का कोई प्रमाण नहीं है।

प्रकाशानन्द के मत के उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि वह अपने इस प्रतिपाद्य विषय की पुष्टि में कोई प्रबल प्रमाण देने का प्रयत्न नहीं करते कि जगत् प्रपंच एवं उसमें निहित संपूर्ण अप्रत्यक्षीकृत विषयों की कोई सत्ता नहीं है अथवा समस्त विषयों का सत् उनके प्रत्यक्षीकरण में है। वह केवल यही सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि

तात्त्विक दृष्टि स यह स्थापित नही किया जा सकता कि नीले की प्रतीति एव नीलापन दो विभिन्न विषय हैं, दूसरे शब्दो मे, यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि ज्ञात विषय एव उसका ज्ञान दोनो भिन्न हैं। प्रतीति को प्रत्येतव्य से भिन्न नही समझा जा सकता। सपूर्ण प्रत्यक्षीकृत जगत् ऐसे ज्ञान के अतिरिक्त कुछ नही है जिसके अनुरूप कोई विषय न हो। जसे स्वप्न बिना किसी यथार्थ विषय के केवल प्रतीति मात्र हैं जिनका ज्ञान एव ज्ञेय के प्रभेद से भान होता है उसी प्रकार जगत् जाग्रत विज्ञान मात्र है।[1] इस प्रकार जगत् का कोई स्वतन्त्र अधिष्ठान नही है बल्कि वह केवल विज्ञान मात्र अथवा भाव मात्र है।

वेदान्त दर्शन की इस पद्धति का आश्चर्यजनक साहश्य वसुबधु (२८० ३६० ई० प०) के उस विज्ञानवाद से है जिसका प्रतिपादन उन्होने स्वय के द्वारा रचित सक्षिप्त भाष्य सहित विंशतिका एव स्थिरमति[2] के भाष्य सहित त्रिंशिका' म किया है। वसुबन्धु के इस विज्ञानवाद के अनुसार अखिल प्रपच अपनी अन्तर्निहित गतिशीलता के कारण चैतन्य के मूल तत्त्व के विकार है एव हमारे कोई भी ज्ञान के विषय ऐस किसी बाह्य विषय द्वारा उत्पाद्य नही हैं जिनका अस्तित्व हमसे बाह्य प्रतीत होकर हमारे विचारो की उत्पत्ति का कारण हो। जिस प्रकार स्वप्न मे बाह्य विषय के अभाव मे स्वप्नद्रष्टा विभिन्न स्थानो एव देशो मे विभिन्न विषयो का अनुभव करता है अथवा जिस प्रकार स्वप्न म कइ लोग इकट्ठा होकर कइ प्रकार के काय किया करते हैं उसी प्रकार जो तथ्यात्मक एव बाह्य विषयात्मक वास्तविक जगत् प्रतीत होता है वह बिना किसी विषयात्मक आधार के चैतन्य के तत्व की सृष्टि मात्र है। जो कुछ हम वस्तुपरक अथवा आत्मपरक के रूप मे जानते हैं वह केवल विज्ञप्ति मात्र है एव उसके अनुरूप कोइ स्वतन्त्र सत्ता नही है परन्तु इसका यह तात्पय नहीं कि सतो द्वारा अनुभूत शुद्ध अनिर्देश्य विज्ञान भी मिथ्या है।[3] सम्भवत एक पदाथ की प्रतीति किसी

---

[1] प्रत्येतव्य प्रतीत्योरभेद प्रामाणिक कुत
प्रतीतिमात्रमेवैतद् भाति विश्व चराचरम्।
ज्ञानज्ञेय प्रभेदेन यथा स्वप्न प्रतीयते
विज्ञानमात्रमेवतत्तथा जाग्रच्चराचरम्॥

[2] *विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, जिसमे विंशतिका एव त्रिंशिका नामक दो ग्रथो का समावेश है।* वसुबधु का काल इसी ग्रथ के प्रथम भाग मे मैंने ४२० ५०० ई० प० माना है जो सम्भवत सही नही प्रतीत होता। उसका काल २८०-३६० ई० प० है। व० भट्टाचाय द्वारा लिखित तत्वसग्रह का प्राक्कथन देखें।

[3] या बाल धर्माणा स्वभावो ग्राह्य ग्राहकादि परिकल्पित, तेन कल्पितेन आत्मा तेषा नरात्म्य न तु अनभिलप्येन आत्मना या बुद्धाना विषय इति।

—विंशतिका भाष्य, पृ० ६।

अन्य पदार्थ की प्रतीति का कारण हो एवं वह आगे चलकर पुनः किसी अन्य का कारण हो, परन्तु ऐसी सब अवस्थाओं में जहाँ प्रतीतियाँ अर्थवती होती हैं वहाँ उनके द्वारा सत्ता का प्रतिनिर्धारण नहीं होता परन्तु इसका अर्थ स्वयं शुद्ध ज्ञान अथवा चैतन्य के अभाव के रूप में नहीं लिया जाना चाहिए। आगे चलकर वसुबन्धु यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न करते हैं कि वस्तुपरक जगत् के अस्तित्व का प्रत्यक्षात्मक अनुभव पर विश्वास नहीं किया जा सकता। वह कहते हैं कि दृष्टिजन्य प्रत्यक्षीकरण के उदाहरण को लेकर हम अपने आपसे पूछें कि क्या दृष्टिजन्य प्रत्यक्षीकरण के विषय पूर्ण इकाई के रूप में एक हैं अथवा परमाणुओं के रूप में अनेक हैं? वे केवल पूर्ण इकाइयाँ मात्र नहीं हो सकते क्योंकि पूर्ण इकाइयों में अवयव अन्तर्निहित हैं, उनका स्वरूप अणु के सदृश भी नहीं हो सकता क्योंकि इस प्रकार के परमाणु का पृथक् प्रत्यक्षीकरण नहीं हो सकता उनका स्वरूप परमाणु संहति के रूप में भी नहीं है क्योंकि परमाणुओं का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता।[1] क्योंकि यदि छः परमाणुओं का समुच्चय छः ओर से हो तो उसका अर्थ है कि परमाणुओं के खंड हैं, अब यदि छः परमाणु एक दूसरे से एक ही बिन्दु पर संहत होते हैं तो इसका अर्थ यह होगा कि संहत समूह का आकार एक परमाणु के आकार से बड़ा नहीं होगा अतः वह अदृश्य होगा। पुनः यदि प्रत्येक य एवं प्रत्यक्षीकरण के विषय केवल पूर्ण ही होते तो अनुक्रम एवं तारतम्य अवर्णनीय होता तथा पृथक् एवं असम्बद्ध पदार्थों का प्रत्यक्षीकरण दुर्ज्ञेय रहता। अतः प्रत्यक्षीकरण द्वारा उनकी वस्तुपरक सत्ता का विश्वास दिलाने पर भी उनका वास्तविक विषयात्मक अस्तित्व नहीं है।

लोग वितथ विकल्पाभ्यास वासना रूपी निद्रा द्वारा प्रपंचात्मक जगत् के स्वप्न का अनुभव कर रहे हैं एवं अपने स्वप्न में ही वे विषयात्मक जगत् की सृष्टि करते हैं, जब वे लोकोत्तर निर्विकल्प ज्ञान के लाभ से प्रबुद्ध होते हैं तभी उन्हें जगत् रचना नाना रूपात्मक प्रतीतियों की स्वप्न-सृष्टि की तरह मिथ्या लगती है। इस प्रकार के मत में विषयात्मक जड़ जगत् का कोई अस्तित्व नहीं है एवं हमारे ज्ञान बाह्य विषयों द्वारा प्रभावित नहीं होते तब हमारे मन शुभ उपदेशों एवं सम्पर्क से कैसे प्रभावित होते हैं,[2] एवं किसी भी वास्तविक भौतिक शरीर की अनुपस्थिति में किस प्रकार एक व्यक्ति दूसरे की हत्या कर सकता है? वसुबन्धु इसकी व्याख्या इस सिद्धान्त द्वारा करते हैं कि एक व्यक्ति की विचार तरंगें कभी कभी दूसरे व्यक्ति की विचार तरंगों का निर्धारित करती

---

[1] नापि ते संहता विषयीभवन्ति, यस्मात् परमाणुरेकम् द्रव्यं न सिद्ध्यति।
—विंशतिका पर टीका, पृ० ७।

[2] पर विज्ञप्ति विशेषाधिपत्यात् परेषां जीवितेन्द्रिय विरोधिनी का चित् विक्रिया उत्पद्यते यया सभाग-संतति विच्छेदाख्य मरणं भवति। —विंशति पर टीका, पृ० १०।

हैं। अत आघातविशेष की विज्ञप्ति दूसरे की जीवितेन्द्रिय के विरोध द्वारा ऐसा विकार उत्पन्न कर सकती है कि उससे विचार प्रक्रिया का सातत्य विच्छिन्न हो जाय, इसे ही मरण कहते हैं। इसी प्रकार एक व्यक्ति के शुभ विचार दूसरे व्यक्ति के विचारो को शुभ कार्य के लिए प्रभावित करते हैं।

वसुबन्धु की त्रिशिका एव स्थिरमति द्वारा लिखित उसकी टीका मे इस विज्ञानवाद को अधिक स्पष्टता से समझाया गया है। कहा गया है कि आत्मा (अथवा ज्ञाता) एव आत्मपरक विचारो के रूप मे अथवा बाह्य जगत् मे विद्यमान विषयो के रूप मे इसके ज्ञेय पदार्थ विज्ञान-परिणाम मात्र हैं। विज्ञान-परिणाम का अर्थ कारण-क्षण के निरोध के साथ साथ कारण क्षण से विलक्षण कार्य का आत्मलाभ है।[1] विज्ञान मे न तो बाह्यत्व है और न आत्मत्व, अपितु ये धर्म और आत्मपरकता तो उसमे परिकल्पित हैं। समस्त दोषपूर्ण परिकल्पनाओ मे एक ऐसी सत्ता का अस्तित्व आवश्यक है जिसमे किसी अन्य वस्तु का भ्रम हो। केवल निराधार शून्य मे दोष पूर्ण परिकल्पना असम्भव है, अत यह मानना ही पड़ेगा कि ये आत्मा इत्यादि विविध प्रकार के धर्म दोषपूर्ण परिकल्पनाए विज्ञान पर आधारित हैं।[2] वसुबन्धु एव स्थिरमति दोनो ही उन अति विज्ञानवादियो के मत का खडन करते हैं जो संवृति के आधार पर विज्ञान की सत्ता को भी अस्वीकार करते हैं।[3] वसुबन्धु के मत म विज्ञप्ति मात्रता ही परम सत्य है। यह विज्ञप्तिमात्रता स्थाई सत्ता है जो अपनी स्वाभाविक शक्ति द्वारा अनिर्णय आतरिक विपाक के रूप मे तीन प्रकार के परिणामो म परिणत होती है जो आगे चलकर पुन मनन एव विषय विज्ञप्ति के रूप म परिणत होती है। द्रष्टा दृश्य के द्वैत मे ज्ञाता एव ज्ञेय के रूप म समस्त प्रपचो अथवा धर्मों का ज्ञान विपाक, मनन एव विषय विज्ञप्ति इन तीनो परिणामो के कारण होता है। इन सब विचारो के वशीभूत यह विज्ञप्ति मात्र अपने विकृत परिणामो मे आलय विज्ञान कहलाता है क्योकि यह सम्पूर्ण अनुभवो का भण्डार है। विज्ञप्ति का चरम

---

[1] कारण-क्षण निरोध सम काल कारण क्षण विलक्षण कार्यस्य आत्मलाभ परिणाम।
—त्रिशिका पर स्थिरमति की टीका, पृ० १६।

[2] उपचारस्य च निराधारस्यासम्भवादवश्य विज्ञान-परिणामो वस्तुतोऽस्त्युपगन्तव्यो यत्र आत्म धर्मोपचार प्रवर्तते। त्रिशिका पर स्थिरमति की टीका, पृ० १६, शकर द्वारा लिखित गौडपाद कारिका-टीका से तुलना कीजिए, 'न हि निरास्पदा मृगतृष्णिकादय।

[3] इस प्रकार बौद्ध विज्ञानवाद पर अत्यत महत्वपूर्ण ग्रथ लकावतार आलय विज्ञान के वास्तविक परिणाम का निषेध करता है। १९२३ म ओटनी विश्वविद्यालय प्रेस क्योटो द्वारा मुद्रित 'लकावतार', पृ० ४६ देखिए।

तत्व अक्षय एवं नित्यत्व के कारण नित्य माना जाता है जिसका फल सुख है क्योंकि जो अनित्य है वह दुःख है एवं यह नित्य होने के कारण सुख है।[1] जब बुद्ध का मन इस विज्ञप्ति मात्र में प्रतिष्ठित हो जाता है तब ग्राह्य ग्राहकानुराग के द्वैत की प्रवृत्ति का निरोध हो जाता है तथा शुद्ध निर्विकल्प एवं लोकोत्तर विज्ञप्ति का उदय होता है। यह वह स्थिति है जहाँ परम विज्ञप्ति मात्रता अपने परिणामों से लौट आती है एवं स्वयं में स्थित रहती है। यह सम्पूर्ण क्लेश अथवा दुष्प्रवृत्तियों के स्पर्श से मुक्त हो जाती है अतः इसे अनास्रव कहते हैं। यह अविचार्य एवं अनिर्देश्य है क्योंकि एक ओर यह आवरण रहित होने के कारण प्रत्यात्म वेद्य एवं सर्वज्ञाता है तथा दूसरी ओर यह स्वयं में अलौकिक है।[2] यह विज्ञप्ति मात्रता सब बीज का धारक कहलाती है एवं जब इसके प्रथम निर्विकल्प तथा अनिर्वचनीय परिणाम मानस प्रक्रियाएं एवं उसके परिणामस्वरूप इन्द्रिय प्रत्यक्षीकरण को उत्पन्न करते हैं तब ये एक दूसरे के विरुद्ध क्रिया एवं प्रतिक्रिया करते हैं तथा इस प्रकार शृंखलाएं बार बार उत्पन्न होती हैं और एक दूसरे का निर्धारण करती हैं। ये परिणाम सागर के उन तरंगों के समान हैं जहाँ एक तरंग दूसरी तरंगों का कारण और फल दोनों ही है।[3]

इस मत के अनुसार विज्ञान को सत् द्रव्य समझा जाता है एवं उसके परिणामों को भी सत् ही माना गया है ये परिणाम ही आत्मा और धर्मोपचार के रूप में प्रकाशित होते हैं।[4] एक प्रकार से विपाक संज्ञक प्रथम प्रकार के परिणाम अन्य उन दो परिणामों के अधिष्ठान हैं जिनमें निर्विकल्प द्रव्य वर्तमान है और जिसके द्वारा अन्य दो परिणाम प्रकाशित होते हैं, परन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उपरोक्त तीन प्रकार के परिणाम पुनः परस्पर एक दूसरे का निर्धारण करते हैं विपाक परिणामों में ज्ञाताओं के रूप में आत्माओं के विकल्प वासनाओं के रूप शब्द इत्यादि विकल्प वासनाओं के, इन द्विविध विकल्प वासनाओं के मूल आश्रय के तथा स्थान विज्ञप्ति

---

[1] ध्रुवो नित्यत्वादक्षयतया सुखो नित्यत्वादेव यदनित्यम् तद्दुःख अयं च नित्य इति अस्मात् सुखः। —त्रिंशिका पर स्थिरमति की टीका पृ० ४४।

[2] आलय विज्ञान इस परम विज्ञप्ति मात्रता की अवस्था में सम्पूर्ण गुणों का धातु कहलाता है एवं अपने सम्पूर्ण आवरणों से मुक्त धर्मों का परम स्थान होने के कारण यह बुद्ध का धर्मकाय कहलाता है (महा मुनि भूमि पारमितादिभावनया क्लेश ज्ञेयावरण प्रहाणात् सर्वधर्म विभुत्व लाभतश्चधर्म काय इत्युच्यते)।
—त्रिंशिका पर स्थिरमति की टीका पृ० ४४।

[3] तच्च वर्त्तते स्रोतसौघवत्। —त्रिंशिका पर स्थिरमति की टीका पृ० २१।

[4] अवश्य विज्ञानपरिणामो वस्तुतोऽस्ति उपगतव्यायत्रात्मधर्मोपचारः प्रवर्त्तते।
—त्रिंशिका पर स्थिरमति की टीका।

अथवा भाजन लोक सन्निवेश विज्ञप्ति के बीज होते है। वे एक अन्य प्रकार से इन्द्रिय विकारो से भी सबद्ध है जिनमे इन्द्रिय विषय और ज्ञान का त्रिक (पुन इन त्रिको मे से प्रत्येक त्रिक अन्य दो सघटको के प्रभावी रूप के अनुरूप एक विशिष्ट क्रियात्मक रूप से व्यक्तिश आनुरूप्य सबध से सबद्ध है) मनस्कार, सज्ञा, चेतना और वेदना होते हैं।[1] विपाक परिणाम अपरिच्छन्नालम्बनाकार है और इनमे राग द्वेष इत्यादि की कायरूपा सवेगात्मक अवस्थाए नही होती हैं जो वास्तविक सुखमय अथवा दु खमय वेदनाओ मे युक्त हैं। अत विपाक परिणामो से हम अविकल्प ग्राह्य ग्राहकता की चेतना एव उसकी प्रक्रियाओ की समस्त सभाव्यताओ सहित मन एव उसके मुख्य कार्यों की मूलभूत धारणाओ को प्राप्त करते हैं। इनमे ही द्रष्टा के रूप मे आत्माओ की सृजनात्मक प्रवृत्तिया, शब्दरूप आदि की विषयगत सृजनात्मक प्रवृत्तिया इन्द्रिय सामर्थ्य इत्यादि, मनस्कार, वेदना, सज्ञा चेतना और इन्द्रिय व्यापार हैं। परन्तु इनमे किसी का भी निश्चित एव वास्तविक आकार नही है। मनन सज्ञक द्वितीय प्रकार के परिणाम नैतिक और अनैतिक सवगो के वास्तविक विकास को प्रस्तुत करते हैं। इन्ही परिणामो मे मानसिक तत्वो के अविद्यापूर्ण सदर्भों के द्वारा मन आत्मा के रूप मे गतिशील होता है और *आत्मा के विषय मे इस ममता के कारण आत्म स्नेह और आत्ममान का* उदय होता है। पुन ये सदम इन्द्रिय व्यापार, वेदना, मनस्कार, चेतना एव सज्ञा की विश्वजनीन पचविध जातियो से सम्बद्ध हैं। तत्पश्चात् परिणामो की तीसरी श्रेणी आती है जो ठोस इन्द्रिय प्रत्यक्षो की विशेष वृत्तियो एव विभिन्न प्रकार की बौद्धिक (चैतन्य) अवस्थाओ तथा नैतिक और अनैतिक मानसिक अवस्थाओ, यथा विभिन्न प्रकार के इन्द्रिय अनुभवो की इच्छा (छद) प्रत्यक्ष एव तर्क आदि द्वारा दृढता से *स्थापित निष्कर्षों मे अधिमोक्ष, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा, श्रद्धा ह्री आदि के साथ साथ* पचविध विश्वजनीन जातियो से सम्बद्ध है। इन तीनो प्रकार के परिणामो को आलयविज्ञान की सज्ञा दी गई है परन्तु इनके नीचे ग्राहक आधार के रूप मे शाश्वत और अविकारी विज्ञप्तिमात्रता विद्यमान है।

---

[1] यहा वेदना को दु खमय सुखमय तथा ऐसी मूल इकाई के रूप मे माना गया है जो न तो दु खमय है और न सुखमय ही, अपितु स्वय एक वेदना है (वेदना अनुभव स्वभावा सा पुर्नविषयस्य आह्लादक परितापक तदुभयकर विविक्त स्वरूप साक्षात्करणभेदात्)। स्वय इस वेदना का दु ख और सुख की अन्य दो वेदनाओ के साथ विद्यमान अदु ख सुख की वेदना से भेद करना होगा। यहा विपाक परिणामो को वेदना की मूलभूत सत्ता का कारण माना गया है और इसीलिए इसको सुख अथवा दु ख से अभिन्न माना गया है तथा उसे उपेक्षा और अव्याकृत वेदना की सज्ञा दी गई है। शुभाशुभ को धर्माधर्म मे सम्भाव्य एव वास्तविक निर्धारको के रूप मे नैतिक और अनैतिक से पृथक समझना चाहिए।

यहा यह उल्लेख करना उपयुक्त होगा कि इस सम्प्रदाय के अनुसार शाश्वत और अविकारी विज्ञप्तिमात्रता अपनी आन्तरिक गतिशीलता के कारण ऊपरी स्तर के तीन भिन्न प्रकार के परिवर्तनो को प्राप्त होती है जिनकी तुलना सतत परिवर्तमान धाराओ और तरगो से की गई है। इनमे से प्रथम से मूलभूत विकार होता है जो ग्राह्य ग्राहक की समस्त सभावनाओ का निर्धारण करता है, दूसरा अनात्म तत्वो, आत्म स्नेह एव आत्ममान मे आत्मत्व के मिथ्या अध्यारोप एव मूल अविद्या के कारण बौद्धिक प्रक्रियाओ को जन्म देता है और तीसरे मे समस्त मानसिक एव मानसेतर मूर्त रूप तथ्य होते है। मन मानसिक प्रक्रियाओ और मानसेतर सम्बधो को सभव करने वाली मूल जातियो का प्रादुर्भाव परिणामो की प्रथमावस्था मे होता है, ये परिणामो की अन्य दो अवस्थाओ मे विद्यमान रहकर अन्य परिणामो की जातियो के साथ अपने सम्पर्क के दौरान अधिकाधिक जटिल एव मूर्त हो जाती हैं। प्रतीति अवस्था का विश्लेषण करते हुए वसुबन्धु इस मत से सहमत नही है कि हमारी नीलवर्ण की प्रतीति का विकारमात्र नही है अपितु उनके मत मे किसी भी प्रतीति म सदा दो सबध निहित होते हैं कर्ता अथवा ज्ञाता के साथ सबध (ग्राहक ग्रह) और ज्ञान विषय से सबध (ग्राह्य ग्रह)। नीलवर्ण की प्रतीति को सभव करने के लिए विषय रूप म नीलवर्ण का होना अत्यावश्यक है, क्योकि प्रतीति नीलवर्ण न होकर हमे नीलवर्ण की प्रतीति होती है। परन्तु वसुबन्धु का तर्क है कि यह मनोवैज्ञानिक आवश्यकता अविकल्प विचार के आवश्यक कार्य के रूप मे वस्तुपरकता का प्रस्तार मात्र है और इससे यह कदापि निष्कर्ष नही निकाला जा सकता कि इसका अर्थ इससे बाह्य विद्यमान और बाह्य कारको के रूप मे प्रतीति को उत्पन्न करने वाले सत्तामय बाह्य विषय है। मनोवैज्ञानिक वस्तुपरकता का अर्थ सत्तामूलक वस्तुपरकता नही है। ऐसा तर्क किया जाता है कि यदि इन्द्रिय ज्ञान के उत्पादन म वस्तुपरक सत्ताओ का स्वीकार कर लिया जाय तो किसी भी अवस्था म इन्द्रिय ज्ञान को वस्तुपरक सत्ताओ के कार्य के बिना ही उत्पन्न नही माना जा सके। परन्तु स्वप्नो और भ्रान्तियो म सदा सर्वत्र इस प्रकार का इन्द्रिय ज्ञान इस प्रकार की वस्तुपरक सत्ताओ की कारणभूत क्रिया के बिना उत्पन्न माना जाता है अत इन्द्रिय ज्ञान के फलित होने के लिए वस्तुपरक सत्ताओ की किसी भी कारणभूत सत्ता को स्वीकार नही किया जा सकता।

ब्रह्मसूत्र II, ॥ २८ के अपने भाष्य म बौद्ध विज्ञानवाद का खडन करने का प्रयत्न करते हुए शकर विज्ञानवाद की उस शाखा का उल्लेख करते हुए प्रतीत होते हैं जिसका शान्त रक्षित ने तत्व सग्रह म वर्णन किया है तथा कमलशील ने जिस पर टीका की है परन्तु जो त्रिंशिका म दिए हुए वसुबन्धु के वर्णन से अत्यधिक भिन्न है। अवयव रहित अणुओ द्वारा निर्मित बाह्य-जगत् की असम्भावना के विरुद्ध विध्यात्मक युक्तिया एक सी है।[1] परन्तु विज्ञानवादियो की ओर स पुन यह युक्ति दी जाती है

---

[1] ब्रह्मसूत्र II ॥ २८ पर भामती टीका म नई वाचस्पति कुछ नई बातो का उल्लेख

कि स्तम्भ, भित्ति अथवा घट या वस्त्र के प्रतीति ज्ञान का तात्पर्य यह है कि ये व्यक्तिगत प्रतीतियाँ स्वरूपत परस्पर एक दूसरे से भिन्न हैं जिसके परिणामस्वरूप विषयो का स्वरूप उन्ही विशिष्ट प्रत्ययो का होता है जिनके द्वारा हम उनका ज्ञान होता है एव ऐसी अवस्था मे बाह्य विषयात्मक जगत् की कल्पना अनावश्यक हो जाती है। इसके अतिरिक्त विषय एव विषय प्रत्यय का एक ही क्षण मे ग्रहण करने का तथ्य यह सिद्ध करता है कि विषय एव प्रत्यय दोनो उसी प्रकार एकरूप होते हैं जैसे चन्द्रमा के साथ उसी समय मे प्रत्यक्षीकृत द्वितीय मिथ्या चन्द्र एक रूप हो।[1]

उन दोनो मे से एक का प्रत्यक्षीकरण न होने की अवस्था म दूसरे का भी प्रत्यक्षीकरण नही होता। यदि वे स्वरूपत अलग अलग एव भिन्न हैं तो उन दोनो म इस प्रकार के एक से एक अपरिवर्तनीय सबध होने का क्या कारण है ? हमारे प्रत्यय-वैविध्य का कारण उन बाह्य विषयो की विविधता नही है जिन्हें साधारणतया उनका उत्पादक माना जाता है बल्कि उनका कारण मूल प्रत्ययात्मक अवचेतन आधारो (वासना) की अनादि अनेकता है जो निद्रा के समय स्वप्नो की उत्पत्ति के समान ही जाग्रतावस्था मे हमारे सब प्रत्ययो को उत्पन्न करती है जिस प्रकार स्वप्न को उत्पन्न करने के लिए बाह्य विषयो की अपेक्षा नही है उसी प्रकार बिना किसी बाह्य वास्तविक विषय के सब प्रत्यय उत्पन्न होते हैं क्योकि प्रत्ययों के रूप मे स्वप्न प्रत्यय एव जाग्रत प्रत्यय म कोई भेद नही है। परन्तु दोनो अवस्थाओ मे वासना रहती है जिसके बिना जाग्रतावस्था अथवा स्वप्नावस्था म प्रत्यय उत्पन्न नही हो सकते, अत प्रत्ययो के उत्पन्न होने की ये सब अवस्थाएँ उनके सर्वदा उपस्थित होने के कारण सब प्रत्ययो के कारण हैं।[2]

करते हैं उनके अनुसार रूप प्रत्यक्ष मे अनुभूत देशीय प्रस्तार अवयव रहित अणुओ के प्रत्यक्षीकरण के कारण नही है। न यह कहा जा सकता है कि देशीय प्रस्तार मे उत्पन्न करण व्यक्तिगत अणु मे देशीय प्रस्तार का प्रत्यय उत्पन्न करते हैं।

[1] यह उपमा वाचस्पति द्वारा सभवत दिङ्नाग के उद्धरण से दी गई है—सहोपलम्भ नियमादभेदो नील-तद्धियो भेदश्च भ्रान्ति विज्ञाने दृश्येतेन्दाविवाद्वये। एक ही समय मे होने वाले नील एव नील के ज्ञान मे कोई भेद नही है क्योकि एक साथ घटित होने वाली कोई दो घटनाए एकरूप होती हैं। जैसे भ्रम ज्ञान म एक चन्द्र दो प्रतीत होते हैं उसी प्रकार प्रत्यय एव विषय के ज्ञान का भेद भी भ्रमात्मक होता है। सहोपलम्भ नियम का यह तर्क वसुबन्धु की विंशतिका एव त्रिंशिका मे अनुपस्थित है।

[2] इस सम्बन्ध में वाचस्पति बाह्य विषयात्मक जगत् के अस्तित्व एव उसके अनुरूप प्रत्ययो के कारणभूत सौत्रान्तिको के अनुमान का संक्षेप करते हैं। सौत्रान्तिको द्वारा दिया गया तर्क निम्न है

उपरोक्त स्थिति का खडन करते हुए शकर कहते हैं कि इस प्रकार का मत अमान्य है क्योंकि यह विषय एव विषयी को विज्ञान से भिन्न बताने वाले हमारे अनुभव का विरोध करता है। हमे प्रत्यक्षीकृत बाह्य विषयो के इन्द्रियो के साथ सन्निकर्ष की अपरोक्ष अवगति होती है तथा अवगति एव ज्ञान विषय अभिन्न नही हैं। हमारा ज्ञान स्वय यह बताता है कि वह ज्ञेय से भिन्न है। स्तम्भ ज्ञान और स्तम्भ एक नही है बल्कि स्तम्भ तो केवल स्तम्भ ज्ञान का विषय है। बाह्य विषयो के निषेध मे बौद्ध अध्यात्मवादियो का कथन है कि जो केवल अन्तर्ज्ञेय है उसका बहिर्वत् अवभास होता है।[1] शकर इस पर इस प्रकार की युक्ति देते है।

यदि बाह्यत्व निरपेक्ष रूप से असत् है तो किस प्रकार कोई इन्द्रिय ज्ञान बाह्यरूप मे भासित हो सकता है ? विष्णुमित्र वन्ध्यापुत्र नही हो सकता। पुन प्रत्यय एव उसके विषय का एक ही आकार होने के तथ्य का अर्थ यह नही है कि विषय की कोई सत्ता ही नही बल्कि यदि विषय का अस्तित्व नही होता तो प्रत्यय का आकार तदनुरूप विषय का ही कैसे होता ? पुन, यह उक्ति मिथ्या है कि कोई दो वस्तुए एकरूप होती हैं, क्योकि यदि विषय एव उसके ज्ञान को युगपत् ग्रहण किया जाय तो एक का ग्रहण दूसरे के साथ साथ होने का तथ्य ही यह बताता है कि दोनो एकरूप नही हो सकते। इसके अतिरिक्त हमारे नील पीत घट अथवा भित्ति के समस्त ज्ञान मे ज्ञेय विषयो के विशेषक अथवा निरूपक तत्वो मे भेद होता है, ज्ञान स्वय तो एकसा ही रहता है।

जब जब पूर्वकरण के अविकारी रहते हुए कोई नया कार्य फलित हो तो उस नए कार्य का कोई नया कारण अवश्य होगा। अब, यद्यपि यह स्वीकार्य है कि आन्तरिक चेतना के प्रवहमान क्रम म प्रत्येक क्षण अगले क्षण को उत्पन्न करता है और इस उत्पादक शक्ति को वासना कहते हैं। (तत्प्रवृत्तिविज्ञानजननशक्तिर्वासना) एव स्वय को कार्यरूप मे फलित करने की उसकी प्रवृत्ति को 'परिपाक' कहते हैं। फिर भी यह समझना कठिन है कि प्रत्येक क्षण मे अन्य क्षणो से सर्वथा भिन्न शक्ति कैसे हो सकती है ? क्योकि क्षणो के स्वरूप मे विकार लाने वाली अन्य कोई वस्तु नही होने के कारण प्रत्येक क्षण ठीक उसी प्रकार से एक क्षण है जिस प्रकार कोई अन्य क्षण।

[1] शकर का कथन है—यदन्तर ज्ञेय-रूप तद् बहिर्वदवभासते। यह दिङ नाग से उद्धृत किया प्रतीत होता है। दिङ नाग का श्लोक जैसाकि कमल शील ने तत्व सग्रह पर लिखे गए अपने भाष्य मे उद्धृत किया है (२०८२-२०८४) इस प्रकार है—

यदन्तर ज्ञेयरूप तु बहिर्वदवभासते,
सोऽर्थो विज्ञानरूपत्वात् तत् प्रत्ययतयापि च।

उपरोक्त श्लोक से स्पष्ट है कि जिस समय शकर ने बौद्ध विज्ञानवाद का खडन करने का प्रयत्न किया उस समय उनके मनस् में दिङ्नाग थे।

जिस प्रकार शुभ्रत्व एव कृष्णत्व किसी गाय का गुण हो सकता है ठीक उसी प्रकार ज्ञेय के विषय भी ज्ञान म आरोपित बाह्य गुणो के सदृश होते हैं अत किसी व्यक्ति के नील, रक्त अथवा पीत को देखने का यह अर्थ है कि प्रत्यक्षीकरण का भेद विषय भेद के कारण होता है–स्वय विज्ञान के कारण कोई भेद नही। अत ज्ञान होने के कारण स्वभावत विषयो से भिन्न हैं जो अनेक है, विषयो की अनेकता के कारण व उस ज्ञान से भिन्न हैं जो एक हैं। विज्ञान एक है एव वह विषयो से भिन्न है जो अनेक है।[1] इसके अतिरिक्त जगत् प्रपच की स्वप्न के साम्य से व्याख्या करने का तर्क भी अयुक्त है, क्योकि सासारिक विषयो एव स्वप्न के हमारे ज्ञान मे महान् भेद है–जाग्रत अनुभव द्वारा स्वप्नानुभवो का बाध होता है पर तु जाग्रत अनुभवो का कदापि बाध नही होता।

स्वय शकर के कथनो मे यहा परस्पर विरोधी बातो का सकेत मिलता है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि उन्होने गौडपाद कारिका पर लिखे गए अपने भाष्य म स्वप्नानुभव के विषयो की अविद्यमानता के सादृश्य पर जाग्रदानुभव के विषयो के अनस्तित्व पर अत्यत शक्तिशाली प्रमाण दिया था। शान्तरक्षित (७०५ ई० प०) एव कमलशील (७२८ ई० पू०) शाकर मत के समान ही इस सिद्धान्त अर्थात् चैत य एक एव अविकारी है तथा सब विषय परिवतनशील हैं, परन्तु विषय परिवतन का अथ स्वय चैतन्य म किसी प्रकार का विकार नही होता–का खडन करते हुए यह प्रमाण देते हैं कि यदि ऐसा होता तो विषयो को प्रकट करने वाले चैतन्य के स्थाई एव अविकारी होने के कारण वण, ध्वनि इत्यादि विभिन्न प्रकार के इन्द्रिय गम्य विषयो का ज्ञान एक ही तथा उसी समय होता।[2] अत कमलशील के मतानुसार चैतन्य अविकारी एव एक नही है अपितु इन्द्रियगम्य विषयो के केवल विकारी प्रत्यय होते है एव प्रत्येक प्रत्यय दूसरे प्रत्यय से भिन्न होता है जो उसका यथासमय अनुसरण करता है। चैतन्य का एक बताने तथा केवल विषयो की ही अनेकता बताने का शाकर मत स्वच्छन्द अपकपण के कारण पाथक्य पर आधारित है। यदि गौडपाद कारिका पर लिखे गए भाष्य को शकर की कृति माना जाय तो यह कहा जा सकता है कि जब शकर ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिख रहे थे तब उनके मत मे कुछ परिवतन हो चुका था, क्योकि गौडपाद कारिका के भाष्य म वह बार बार इस दृष्टिकोण पर बल देते हुए

---

[1] द्वाभ्या च भेद एकस्य सिद्धो भवति एकस्माच्च द्वयो, तस्मादयज्ञानयोर्भेद ।
शाकर भाष्य २ २ २६ निर्णयसागर प्रेस बम्बई, १९०४।

[2] तद्यदि नित्यक ज्ञान प्रतिभासात्मिका धर्मो शब्दादय ।
–तत्व सग्रह श्लोक ३३१ पर कमलशील का भाष्य।
(Gaekwal s Oriental Series 1926)

प्रतीत होते हैं कि जाग्रतावस्था के प्रत्यक्षीकृत विषय स्वप्नानुभव के विषयों के सदृश असत् एवं मिथ्या हैं। उनका यथार्थवाद इसी निश्चयात्मक कथन में है कि जगत् यथार्थ ब्रह्म पर मिथ्या भ्रमात्मक आरोपण का परिणाम है क्योंकि मृगतृष्णा आदि भ्रमों के लिए किसी अधिष्ठान की आवश्यकता होनी चाहिए जिन पर वे आरोपित किए जाएं। परन्तु ब्रह्मसूत्र पर लिखे गए भाष्य में इन्द्रिय विषयात्मक जगत् का एक ऐसे प्रकार का अस्तित्व है जो व्यक्ति के विचार के परे है। वाचस्पति ने अपनी भामती टीका में शांकर सिद्धान्त को बौद्ध विज्ञानवाद से भिन्न बताते हुए कहा है कि वेदान्त के मतानुसार 'नील' नील के आकार का प्रत्यय नहीं है किन्तु 'नील' केवल अनिर्वचनीय एवं अवर्णनीय विषय है।[1]

विंशतिका एवं त्रिंशिका में प्रतिपादित वसुबन्धु के दृष्टिकोण की विवेचना करते हुए यह बताया जा चुका है कि वसुबन्धु ने प्रत्येतव्य विषयों की विषयता का खंडन करने का प्रयत्न नहीं किया परन्तु उसने इस धारणा का खंडन किया कि प्रत्येतव्य विषयों का अस्तित्व प्रत्यय से बाहर है एवं प्रतीति के विभिन्न प्रकारों का उत्पादक है। उसका तात्पर्य यह है कि इन्द्रिय विषय का निर्माण विचार सामग्री द्वारा होता है एवं यद्यपि वे प्रतीति के मनोवैज्ञानिक विषय हैं तथापि उनका अस्तित्व विचार के बाहर नहीं है तथा वे उनके बारे में हमारे विचारों को निश्चित नहीं करते हैं। परन्तु इन्द्रिय विषय एवं प्रत्यय दोनों विचार के किसी ऐसे आन्तरिक नियम द्वारा निश्चित किए जाते हैं जो मनोविकृति के उत्पत्ति एवं विकास की सम्पूर्ण प्रक्रिया के स्वरूप एवं विधियों को निश्चित करता है एवं जो उसकी ज्ञानात्मक स्थिति को ही नहीं बल्कि उसकी नैतिक एवं भावात्मक स्थिति को भी निश्चित करता है। शंकर की उन युक्तियों का वसुबन्धु के विरुद्ध कोई प्रभाव नहीं पड़ता जिनमें यह विज्ञान के मनोवैज्ञानिक द्वैत एवं उसके विषय पर अधिक बल देते हैं क्योंकि वसुबन्धु स्वयं उन्हें स्वीकार करते हैं एवं कहते हैं कि नील के प्रत्यय से नील भिन्न है नील आलम्बन है एवं नील का प्रत्यय प्रतीति है। उनके अनुसार विचार स्वयं विषयी एवं विषय में अपने आपको विभक्त करता है, अतः प्रत्यय अपने आपको विषयी विषय विज्ञान में अभिव्यक्त करता है। स्वयं प्रत्यय की ही तरह विषयी एवं विषय विचार की ही उत्पत्ति है, नील को विचार मानने से उसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह नील की विषयता का निषेध करते हैं अथवा यह कि नील का एकमेव अस्तित्व नील प्रत्यय ही है। नील के प्रत्यय के पूर्व प्रत्यक्ष रूप में नील वस्तुपरक रूप से ठीक वैसे ही वर्तमान रहता है जैसे उसका प्रत्यक्षीकरण करने वाला कोई विषयिन् विद्यमान हो। परन्तु इस विषयता का तात्पर्य यह नहीं है कि नील कहीं विचार के बाहर किसी बाह्य स्थान में अवस्थित है, क्योंकि

---

[1] नहि ब्रह्मवादिनो नीलाद्याकारां वृत्तिम् अभ्युपगच्छन्ति किन्तु अनिर्वचनीयं नीलादीति। भामती २ २ २८।

स्थान निर्धारण भी विचार फल ही है, अत दृश्यमान इन्द्रिय विषयों को बाह्य जगत् का गुण कहने मे कोई अर्थ नहीं है। इन्द्रिय विषय ज्ञान के विषय हैं। परन्तु वे उससे सम्बद्ध ज्ञान के उद्दीपक नहीं है। शंकर इस प्रकार के मत के खंडन म कुछ भी कहते हुए प्रतीत नहीं होते। गौडपाद कारिका पर लिखे गए अपने भाष्य मे शंकर की स्थिति वही है जो दिङनाग की है तथा जिसका उन्होंने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य म खंडन करने का इतना प्रयत्न किया है। इस प्रकार वह नागार्जुन के उस मत के विरुद्ध हैं जिसके अनुसार कोई ऐसी सारभूत सत्ता होनी चाहिए जिस पर भ्रमात्मक आरोपण हो सके। परन्तु ब्रह्मसूत्र भाष्य मे उन्होंने हमारी चेतना को भासित होने वाले प्रपचात्मक जगत् को वस्तुपरक एव स्वतन्त्र रूप से उस चेतना के आगे विद्यमान माना है तथा केवल उसके पारमार्थिक स्वरूप को अनिर्वचनीय माना है। शांकर शाखा के अधिकांश उत्तरकालीन वेदान्ताचार्यो ने विज्ञान से विषयों की भिन्नता एव उनकी स्वतन्त्र सत्ता तथा क्रियाशीलता को स्वीकार किया है एव यह सुविदित है कि इन्द्रिय प्रत्यक्षीकरण मे विशिष्ट इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्षीकरण के विषय के साथ मनस सन्निकर्ष आवश्यक माना जाता है।[1]

अपने पचपादिकाविवरण म प्रकाशात्मन् (१२०० ई० पू०) इस विषय को प्रस्तुत करते हुए कहते ह कि महायानियों एव वेदान्तियों मे यही महान् अतर है कि महायानियों के अनुसार क्षणिक प्रत्ययो से भिन्न विषयो की न तो कोई अलग सत्ता है और न कोई पूर्ण करने के लिए स्वतन्त्र हेतु अथवा क्रिया ही है जबकि वेदान्तियों के अनुसार यद्यपि तात्विक रूप से विषयो का अद्वितीय शुद्ध चैतन्य से अभेद है फिर भी वे स्वतन्त्र रूप से अपनी अर्थक्रिया मे समर्थ हैं एव उनकी स्वतन्त्र स्थाई तथा अबाधित सत्ता है। पद्मपाद एव प्रकाशात्मन् दोनो ही यह तर्क प्रस्तुत करते है कि विषयों के निरंतर विकार मे विज्ञान एक सा रहने के कारण अनुवृत्त एव व्यावृत्त मे अभेद नहीं माना जा सकता। अत विषय को प्रत्यय के विकार के रूप म नहीं लिया जा सकता।[2] यह सुझाव दिया जाता है कि बौद्ध विज्ञानवादियों के अनुसार यदि विषय (जैसे नील) ज्ञान से भिन्न है तो उसकी अभिव्यक्ति उसमे (विज्ञान म) सम्भव नहीं एव यदि नील की अभिव्यक्ति विज्ञान म हो सकती हो तो उस समय जगत् की अन्य सभी वस्तुए भी अभिव्यक्त हो जाएगी। क्योंकि नील के साथ ऐसा कोई विशिष्ट सम्बन्ध नहीं है कि उस समय केवल नील ही चैतन्य म प्रकट हो। यदि यह कहा जाय कि नील के ज्ञान का उत्पादक नील है तो फिर दृश्येन्द्रिय का कार्य क्या होगा ? अत बौद्धो के अनुसार प्रत्यय एव विषय के स्वाभाविक एव असाधारण अभेद सम्बन्ध

---

[1] द्रष्टव्य वेदान्त परिभाषा अध्याय १, श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९११।

[2] अनुवृत्तस्य व्यावृत्तान्न भेद अनुवृत्तत्वादाकाशघटादिवत्।

—पचपादिका विवरण, पृ० ७३।

को स्वीकार कर लेना श्रेयस्कर है।[1] वेदान्तिन् इस पर आपत्ति उठाते हुए कहते हैं कि इस प्रकार की उपकल्पना सत्य नहीं हो सकती क्योंकि हम देखते हैं कि विषय, विषयिन् एवं प्रत्यय एक ही नहीं है। बौद्ध इस आपत्ति का प्रत्युत्तर इस प्रकार दे सकते हैं कि ये तीनों किसी संश्लिष्ट इकाई का निर्माण नहीं करते वरन् काल के तीन अनुक्रमिक क्षणों में उत्पन्न होते हैं और तब उनकी शक्ति के कारण तीनों के संश्लिष्ट रूप का अवभास होता है, अतः इस संश्लिष्ट रूप को तीन भिन्न भिन्न सत्ताओं में परस्पर संबंध स्थापित करने का कारण नहीं मानना चाहिए। इस प्रकार 'मैं नील देखता हूँ' की व्याख्या 'मैं' 'नील' एवं विज्ञान के चेतन सम्बन्ध के रूप में नहीं की जाकर एक विशिष्ट समय में उसके अन्दर आविर्भूत इन तीनों अंगों से युक्त प्रत्यय के रूप में की जानी चाहिए। इस प्रकार की कल्पना आवश्यक है क्योंकि सब प्रतिभास क्षणिक है और उनके सम्बन्ध के परिचालन के लिए कुछ समय बीते बिना तीन स्वतन्त्र सत्ताओं के रूप में इन तीनों का सम्बन्ध जोड़ना अवश्य ही असम्भव होगा। क्षणिकवाद का सिद्धान्त हमें स्वाभाविक रूप से उपरोक्त उपकल्पना की ओर ले जाता है कि सम्बन्ध के रूप में जो कुछ अवभास होता है वह एक क्षणिक स्फुरण मात्र है जिसके उपरोक्त तीनों अंश सारभूत अंश तत्व हैं अतः बौद्धों की मान्यता है कि मनोवैज्ञानिक रूप से विज्ञान एवं उसके विषय में भेद प्रतीत होता है परन्तु इस प्रकार के मनोवैज्ञानिक अवभास को अधिक से अधिक मानसिक भ्रम अथवा कपोल कल्पना ही माना जा सकता है, क्योंकि तार्किक दृष्टि से बौद्ध यह स्वीकार नहीं कर सकते कि क्षणिक अवभास पर्याप्त समय तक आत्मा एवं विज्ञान के सम्बन्ध की सम्भावना को लेकर टिक नहीं सकता, जैसे कि इस वाक्य में कि 'मैं नील को जानता हूँ' एवं यदि नील का विज्ञान से अभेद नहीं माना जाय तो विज्ञान में नील के अवभास की सम्भावना की व्याख्या किसी प्रकार नहीं हो सकेगी।

पद्मपाद का कथन है कि बौद्धों का मुख्य विषय अर्थक्रियाकारित्व का सिद्धान्त यह उक्ति है कि केवल उसी का अस्तित्व है जो अपने अस्तित्व को किसी हेतु

[1] तस्मात् स्वाभाविका साधारणाभेदसम्बन्धात् एव विज्ञाने नीलावभासतः। पंचपादिका विवरण पृ० ७४। ऐसे ही दृष्टिकोण के आधार पर प्रमाण देते हुए शान्तरक्षित एवं कमलशील का कथन है कि यदि विषय का विज्ञान के साथ अभेद सम्बन्ध न हो तो कोई ऐसा अटल नियम अवश्य होना चाहिए कि उनका एक साथ अवभास क्यों होता है। बौद्धों के अनुसार यह नियम या तो तादात्म्य का या तदुत्पत्ति के अविकार्य रूप कारणत्व का हो सकता है। बौद्धों का प्रथम विकल्प वेदान्तियों के विरुद्ध है। यहाँ कारणत्व का नियम नहीं हो सकता क्योंकि कारणता के नियम की सत्क्रिया एक साथ घटने वाले दो तत्वों के उत्पादन के बीच नहीं हो सकती।
—तत्त्व संग्रह एवं पंजिका २०३० २०३१।

अथवा क्रिया के संपादन द्वारा सिद्ध कर सके। बौद्धों का यह भी मत है कि यदि सब सत्ताएं एवं वस्तुएं क्षणिक हों तब ही केवल अस्तित्व के इस मापदंड को पूरा किया जा सकता है। ज्ञान एवं विषय का अभेद ही एकमात्र युक्तियुक्त स्वीकार्य मीमांसा संबंधी दृष्टिकोण है। केवल क्षणिक सत्ता ही अर्थक्रियाकारित्व के मापदंडों को क्यों पूरा कर सकती है? इसका मुख्य कारण यह है कि यदि विद्यमान का क्षणिक नहीं माना जाय तो वे किसी भी हेतु अथवा क्रिया के उत्पादक नहीं हो सकते।[1] इसका खंडन करते हुए पद्मपाद का कथन है कि यदि अर्थक्रियाकारित्व का अर्थ स्वविषय ज्ञान का उत्पन्न होना है तो ज्ञान अथवा प्रत्यय का कोई अस्तित्व नहीं है, क्योंकि यह अपने स्वयं के किसी अन्य ज्ञान का जनक नहीं है (संविदास्स्वविषयज्ञानाजननादसल्लक्षणत्वम्) एवं किसी व्यक्ति के ज्ञान को अन्य व्यक्तियों द्वारा अनुमान के अतिरिक्त नहीं जाना जा सकता, जो पुनः अपरोक्ष ज्ञान नहीं होगा।[2] यदि अर्थक्रियाकारित्व का तात्पर्य अन्य क्षण की उत्पत्ति है तो अंतिम क्षण किसी अन्य क्षण का उत्पादक नहीं होने के कारण स्वयं असत् हो जाएगा और यदि अंतिम क्षण को असत् समझ लिया जाय तो क्रमशः अन्य सब क्षण असत् हो जाएंगे। सत्ता वस्तुओं का स्वरूप है और जब कोई वस्तु कार्य करने के पश्चात् भी मूक रहती है तो भी वह उस कारण से असत् नहीं हो जाता। इसी आधार पर प्रकाशात्मन् का कथन है कि 'अहम्' ज्ञान एवं 'विषय' की तीन कल्पित धारणाएँ वस्तुतः अपने सादृश्य के कारण एकरूप से भासमान तीन भिन्न भिन्न धारणाएँ नहीं हैं परन्तु तीनों एक विषय विषयी ज्ञान में परस्पर जुटे हुए हैं जिनमें बौद्धों द्वारा कल्पित तीन क्रमिक अवस्थाओं का समावेश नहीं होता। यह अभेद इस तथ्य से सिद्ध होता है कि उनका इस प्रकार का होना प्रत्यभिज्ञात है। पुनश्च हम सब अपने स्वयं की एकात्मकता के प्रति जागरूक हैं कि चेतना की सब परिवर्तनशील अवस्थाओं में हम स्थिर रहते हैं एवं यद्यपि हमारे प्रत्यय परिवर्तनशील विषयों के साथ परिवर्तित रहे हैं फिर भी हम अपरिवर्तित ही रहते हैं, इसका तात्पर्य यह है कि शुद्ध ज्ञान के रूप में हम स्वयं को जानते हुए भी परिवर्तनशील विषयों के साथ क्रमिक रूप में सम्बन्धित हैं। परन्तु यह प्रश्न उठता है कि जिस एकात्मकता का प्रत्यय पूर्व अस्तित्व के साथ (स्मृति के अवचेतन संस्कारों द्वारा)

---

[1] इसी ग्रंथ का प्रथम खंड देखिए पृ० १६३ १६४ जहाँ संक्षिप्त रूप से इसी सिद्धान्त के औचित्य के कारणों का योग है।

[2] पद्मपाद का यह कथन कि विज्ञान का ज्ञान प्राप्त करना संभव है, युक्ति संगत नहीं प्रतीत होता। उनके विचार में प्रकाश स्वरूप होने के कारण विज्ञान को स्वयं को प्रकाशित करने के लिए किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं है। न च संवित् संविदो विषय संविद् आत्मना भेदाभावात् प्रदीपस्येव प्रदीपान्तरम्।

—पंचपादिका पृ० २७।

वर्तमान अस्तित्व का सम्बन्ध जोड़ने से ही केवल उत्पन्न किया जा सकता है उस एकात्मकता का किसे विश्वास दिलाया जाय। तथा यह उस वेदान्तीय आत्मा द्वारा नहीं किया जा सकता जो शुद्ध आत्म ज्योति रूप चैतन्य है और जिसे किसी अन्य चेतन अवस्था का विषय नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि वह अविकारी एवं अविनाशी है और उसमें स्मृति के अवचेतन संस्कारों द्वारा पूर्वानुभव एवं वर्तमान अनुभव में सम्बन्ध होने की चेतना सम्भव नहीं है।[1] एक ही चैतन्य की स्थिरता मात्र अभेद की प्रत्यभिज्ञा नहीं है क्योंकि अभेद की प्रत्यभिज्ञा एक ऐसा सम्बन्ध होगा जो भूत को भूत के रूप में और वर्तमान को वर्तमान के रूप में जान ले, चूंकि अभेद सम्बन्ध का प्रत्यभीकरण करने वाला कोई नहीं है अतः अभेद का अवभास मिथ्या है। इस प्रकार के आक्षेप का उत्तर वेदान्त के अनुसार यह है कि यद्यपि शुद्ध चैतन्य एक व्यक्ति की तरह व्यवहार करने में असमर्थ है फिर भी मन से सबद्ध वही चैतन्य (अन्तःकरण विशिष्ट) एक ऐसे व्यक्ति के समान भी व्यवहार कर सकता है जो अपने एवं दूसरे लोगों के अभेद की प्रत्यभिज्ञा में समर्थ है। भूतकाल से सम्बन्धित आत्मानुभव के कारण मनस् अहं वृत्ति के अवचेतन संस्कारों के साथ सम्बन्धित है, वर्तमान काल से सम्बन्धित आत्मानुभव के लिए उत्तरदायी होने के कारण यह भूत एवं वर्तमान में अटल रहने वाले आत्मा के अभेद की धारणा को उत्पन्न करता है। इस प्रकार की व्याख्या के विरुद्ध स्वाभाविक आक्षेप यह है कि चूँकि वेदान्त एक ज्ञान को अन्य ज्ञान का विषय स्वीकार नहीं करता अतः भूतकाल के ज्ञान का पुनरुद्दीपन असम्भव है जिसके बिना अभेद की प्रत्यभिज्ञा असम्भव होगी। वेदान्ती का उत्तर यह है कि जिस प्रकार किसी विचार की स्मृति अपने अवचेतन संस्कारों द्वारा होती है उसी प्रकार यद्यपि पूर्ववर्ती क्षण में अभेद की प्रत्यभिज्ञा अनुपस्थित था, फिर भी यह प्रत्यभिज्ञा परवर्ती क्षण में अवचेतन संस्कारों की सक्रिया द्वारा जाग्रत हो सकी।[2] वेदान्त के अनुसार शुद्ध चैतन्य ही एकमात्र अविकारी अन्तर्निहित द्रव्य है यही चैतन्ययुक्त मनस (अन्तःकरण) ज्ञाता अथवा विषयी के रूप में व्यवहार करता है एवं पूर्व तथा परवर्ती काल से सबद्ध वही चैतन्य वस्तुपरक आत्मा के रूप में प्रकट होता है इसी आत्मा के साथ अभेदता का अनुभव होता है एवं इसी को ज्ञाता के साथ तादात्म्य अन्तःकरण-मन सबद्ध चैतन्य माना जाता है। आत्म तादात्म्य के विचार हम सबके अंदर [redacted] तथा 'मैं वही हूँ' का अनुभव हम सब करते हैं एवं इसकी एकमात्र व्याख्या इस तथ्य के

---

[1] पूर्वानुभवसंस्कारसहिताद् इदानीतन वस्तु प्रमिति कारणाज्जात एकस्य कालद्वय सम्बन्ध विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान प्रत्यभिज्ञा इति चेत् न तर्हि आत्मनि सा सम्भवति सविज्ञान स्वभावस्य ह्यात्मन ज्ञानान्तरागम्यत्वात्।

—पंचपादिका विवरण पृ० ७५।

[2] पंचपादिका विवरण पृ० ७६।

आधार पर की जा सकती है कि चैतन्य के अद्वितीय एवं सामान्य प्रत्यय होते हुए भी अपने उन सम्बन्धों के स्वरूप वभिन्य के कारण नानाविध क्रियाएं करने वाला माना जा सकता है जिसके द्वारा यह ज्ञाता एवं स्वयं को ज्ञान सहस्रों प्रकार के सबधों तथा विषयों के रूप में स्वयं का परिणत करता हुआ प्रतीत होता है। आत्मा के इस अभेद अनुभव के सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य मुख्य ज्ञान यह है कि पूर्वानुभव एवं स्मृति इस बात को सिद्ध करते हैं कि भूतकाल में आत्मा का अस्तित्व था, परन्तु हम यह सिद्ध कैसे करें कि जो विद्यमान था वह अब भी विद्यमान है। आत्मा के अभेद का ज्ञान आत्मा के भूत एवं वर्तमान काल के अनुभव से भिन्न है। परन्तु प्रक्रिया यह है कि दोनों अनुभव आत्मा को उन दोनों अनुभवों में विद्यमान एक ही इकाई के रूप में प्रकट करते हैं एवं इस नूतन अनुभव में ही हम आत्मा के पूर्वोक्त अभेद सम्बन्ध का परिज्ञान करते हैं। पुनश्च, जब मैं भूत काल के अनुभव का स्मरण करता हूँ तो उस अनुभव से संबद्ध आत्मा का ही स्मरण होता है, अत आत्मा के अभेद के अनुभव में विभिन्न काल सम्बन्धों से युक्त आत्मा का ही बोध होता है।

इन सब विवेचनों से जो एक बात स्पष्ट हो जाती है वह यह है कि पद्मपाद एवं उसके अनुयायियों की विवरण नामक द्वारा व्याख्यात शांकर वेदान्त के अनुसार इन्द्रिय सामग्री एवं विषयों का अस्तित्व उनके प्रत्यक्षीकरण से स्वतन्त्र है एवं एक अन्त करण नामक मनस भी है जो इतरतर विषय के ज्ञान के लिए अपने ही ढग से क्रिया करता रहता है। क्या विषय पहले से ही विद्यमान है एवं मनस द्वारा शुद्ध चैतन्य के समक्ष प्रस्तुत किए जाते हैं? परन्तु विषय क्या है? और शांकर का उत्तर यह है कि वे स्वयं में अनिर्वाच्य एवं वर्णनातीत है। एक ओर दिङ्नाग अथवा लंकावतार के बौद्ध विज्ञानवाद से और दूसरी ओर वसुबन्धु की त्रिंशिका से इस प्रकार के दृष्टिकोण का अन्तर सरलता से देखा जा सकता है। क्योंकि अन्तिम दृष्टिकोण के अनुसार प्रत्यक्षीकरण से स्वतन्त्र विषयों की सत्ता नहीं है एवं पहले दृष्टिकोण के अनुसार विषय एक विचार तत्व के परिणाम हैं तथा इस प्रकार ज्ञाता विषयों के विषय भूत हैं। विषय एवं विषयी दोनों एक उच्चतर एवं श्रेष्ठतर तत्व विचारतत्व में प्रतिष्ठित हैं। इस प्रतिष्ठापना का अर्थ यह है कि उपादान और आकार की दृष्टि से यह विचार तत्व एवं उसके परिणाम विषय एवं विषयी दोनों के लिए उत्तरदायी भी हैं। शांकर वेदान्त के अनुसार प्रपंचात्मक जगत मनस इन्द्रियाँ एवं उनकी सम्पूर्ण क्रियाएं कार्यशीलता इत्यादि सब उस माया के विकार हैं जो स्वयं अनिर्वाच्य है परन्तु जो सदा शुद्ध चैतन्य से अपने आधारभूत तत्व के रूप में सम्बन्धित हैं एवं जो जड़ विषयों के रूप में आँखों से आच्छन्न रहती है तथा जिसे शुद्ध चैतन्य के अन्तर्निहित तत्व की प्रकाशिका ज्योति द्वारा बौद्धिक अवस्थाओं अथवा प्रत्ययों के रूप में अपने आकार में आ में चैतन्य प्राप्त होता है। जैसाकि कहा जा चुका है कि

शून्यवादियों ने भी समस्त वस्तुओं एवं अवभासों के वस्तुपरक अस्तित्व को स्वीकार किया है, परन्तु चूंकि वे आलोचनात्मक परीक्षा के सामने टिक नहीं सके अतः उन्होंने इन्हें निःस्वभाव माना। निःस्वभावता के इस सिद्धान्त एवं शांकर मत के अनिर्वाच्यता के सिद्धान्त में एकमात्र अन्तर यही है कि यह 'अनिर्वाच्य' अभी तक किसी अनिर्वाच्य वस्तु के रूप में माना जाता है, एक ऐसे द्रव्य के रूप में जो विकृति को प्राप्त होता है एवं जिसने अपने को जगत् के सम्पूर्ण विषयों के रूप में परिणत कर दिया है। शांकर वेदान्त का विज्ञानवाद बौद्ध विज्ञानवाद के उस सहोपलम्भ नियम में विश्वास नहीं करता जिसके अनुसार अस्तित्व का अर्थ प्रत्यक्षीकरण करना है। किसी व्यक्ति विशेष द्वारा प्रत्यक्षीकृत नहीं होने पर भी जगत् का अस्तित्व तो रहता ही है इसकी वस्तुपरक सत्ता मेरी सम्वेदनाओं एवं प्रत्ययों से पूर्ण स्वतन्त्र है, परन्तु मेरे प्रत्ययों अथवा सम्वेदनाओं से स्वतन्त्र होने पर भी यह चैतन्य से स्वतन्त्र नहीं है जिसके साथ इसका सम्बन्ध है एवं जिस पर यह आश्रित है। यह चैतन्य साधारण मनोवैज्ञानिक विचार नहीं है परन्तु यह वह तत्व है जो सम्पूर्ण चैतन्य विचार का आधार है। यह शुद्ध विचार स्वतन्त्र एवं स्वयं ज्योति है क्योंकि सम्पूर्ण चैतन्य विचार में चैतन्य स्वयं प्रकाशित होता है, अन्य सब की प्रवृत्ति इसी चैतन्य द्वारा होती है एवं इससे पृथक करके इसे देखा जाए तो यह निरर्थक तथा अविषय हो जाता है। स्वतन्त्र एवं अबाधित स्वयं प्रकाशता ही इसकी सत्ता है (अबाधितस्वयंप्रकाशतैव अस्य सत्ता)।[1] सम्पूर्ण सत्ता शुद्ध चैतन्य है एवं सम्पूर्ण अवभासित जगत् इसी पर आश्रित है मानो कोई वस्तु इसके सन्दर्भ में ही व्यक्त की गई हो तथा इससे पृथक इसकी कोई बाह्य स्थिति अथवा अर्थ न हो। यह केवल प्रमाण मीमांसा अथवा तार्किक दृष्टि से ही नहीं है बल्कि सत्तामूलक दृष्टि से भी होता है। जगत् के विषयभूत आकार माया की अनिर्वाच्य सामग्री के परिणाम रूप है जो सत्ता नहीं है अपितु सत्ता पर आधारित है परन्तु उनकी अभिव्यक्ति उसी समय हो सकती है जब वे मानसिक अवस्थाओं में प्रतिबिम्बित हों एवं प्रत्ययों के रूप में प्रस्तुत किए जाएँ। स्वप्न के विषय अथवा भ्रम के साथ सादृश्य माया के सामान्य प्रत्यय को जन साधारण के लिए बुद्धिगम्य बनाने के लिए केवल प्रचलित उदाहरण के रूप में ही लिए जा सकते हैं एवं यह वेदान्तीय विज्ञानवाद को एक अद्वितीय स्थान प्रदान करता है।

शांकर द्वारा वेदान्त का पक्षपोषण, बादरायण एवं भर्तृप्रपंच का दर्शन

शांकर की रक्षात्मक युक्तियाँ उन आक्षेपों के खण्डन में निहित थी जो जगत् सम्बन्धी वेदान्तीय सामान्य प्रत्यय के विरुद्ध किए जा सकते हैं। प्रथम पूर्वानुभूत आक्षेप

[1] वाचस्पति मिश्र द्वारा लिखित भामती पृ० १३ निर्णय सागर संस्करण, १६०४।

सारय दशन के अनुयायियो का है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि काय एव कारण का स्वरूप अधिकाश मे एक सा ही हाना चाहिए। चेतन एव शुद्ध माना जाने वाला ब्रह्म जड तथा अचेतन एव अशुद्ध जगत् का कारण नही हो सकता। जगत् स्वभावत चेतन आत्माओ से इतना भिन्न हान के कारण ही उनके लिए उपयागी हा सकता है। अपने स्वभाव मे अभिन्न दो पदार्थों के लिए एक दूसरे के लिए उपयागी हाना दुष्कर है-दो दीपक एक दूसरे को प्रकाशित नही कर सकते। अत चैतन्य आत्माओ से भिन्न हाकर ही जगत् उनकी अधिकतम सेवा कर सकता है एव उनके लिए विद्यमान हा सकता है। इस आक्षेप का शकर ने उत्तर इस प्रकार दिया है कि यह सत्य नही है कि काय का कारण स प्रत्येक प्रकार से एक सा हाना चाहिए-चेतन प्राणियो से जड केश तथा नाखून एव गोबर जैसे जड विषयो से जीवित कीडे मकोडे उत्पन्न होने के उदाहरण मिलत हैं। न इस बात को अस्वीकार किया जा सकता है कि ब्रह्म एव जगत् म कम से कम इस बात मे कुछ सादृश्य है कि दोनो की सत्ता है। यह नही कहा जा सकता कि चूँकि ब्रह्म चैतन्य है अत जगत् भी चैतन्य होना चाहिए, क्योकि इस प्रकार की आशा का कोई कारण नही है। इसका विपयय भी सत्य नही है-ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य स्रोत द्वारा प्रकृति (जड) का उत्पन्न हुआ नहीं देखा गया है।[1] इस तक का सम्पूण विषय इस तथ्य म निहित प्रतीत हाता है कि उपनिषदो ने स्पष्टतापूवक ब्रह्म का जगत् का कारण बताया है अत चैतन्य एव शुद्ध ब्रह्म द्वारा अशुद्ध और जड (प्रकृति) की उत्पत्ति के प्रतीयमान विराध को समझना पडेगा या क्योकि इस प्रकार के परम सत्यो का अन्वेषण तक द्वारा नहीं अपितु उपनिषदो के आप्तवचन द्वारा ही हो सकता है। साख्यो द्वारा वेदान्त के विरुद्ध अन्य आपत्ति यह उठाई जा सकती है कि प्रलय क समय कायरूप जगत् जब कारण ब्रह्म म पुन विलीन हो जाएगा तब सासारिक अवस्था की अशुद्धिया ब्रह्म की कारण अवस्था का भी अशुद्ध बना सकती हैं। शकर उदाहरणो की दो श्रेणियो की ओर सकेत करत हुए इसका खडन करत है जिनमे कारणावस्था म प्रलय के समय काय कारणावस्था को प्रभावित नही करते। इनम एक उदाहरण की श्रेणी उन दशाओ मे पाई जाती है जहाँ सुवण रजत इत्यादि के पदाथ अपने मौलिक द्रव्य की अवस्थाओ म आकारहीन सुवण एव रजत के रूप म पुन द्रवीभूत हो जाते हैं तथा आकृति युक्त पदार्थों के रूप मे अपनी विशिष्ट विलक्षणताओ द्वारा उन्हें प्रभावित करते हुए प्रतीत नही हाते। अन्य उदाहरण जादूगर द्वारा व्यक्त जादू मे पाया जाता है। बाजीगर मायावी सृष्टि को अपने नियन्त्रण म रखता है तथा इस प्रकार वह तिराहित होने पर स्वय बाजीगर

---

[1] किं हि यच्चैतन्येनानन्वित तद्ब्रह्म प्रकृतिक दृष्टमिति
ब्रह्मवादिन प्रत्युदाहियेत समस्तस्य वस्तुजातस्य ब्रह्म प्रकृतित्वाभ्युपगमात्।
—शाकर भाष्य, २१, १, ६७।

को किसी भी प्रकार से भ्रम में नहीं डाल सकता, क्योंकि जादू सृष्टि सत्य नहीं है। इसी प्रकार जागृत होने पर स्वप्न द्रष्टा अपने स्वप्नों से प्रभावित नहीं होता। अतः सत् वह है जो विकारशील अवस्थाओं में पूर्णरूप से अस्पृष्ट रहे। सब विकासशील अवस्थाओं में इस सत् का आभास सर्प के रूप में रज्जु के अवभास की तरह माया मात्र है। पुनश्च जिस प्रकार सुषुप्ति का अनुभव करने वाला व्यक्ति एक ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है जहाँ उसके सांसारिक अनुभव का किंचित मात्र भी चिह्न नहीं हो, फिर भी जाग्रत होने पर वह अपने जीवन के सामान्य व्यवसाय में पुनः प्रवृत्त हो जाता है इसी प्रकार जगत के अपनी कारणावस्था में लीन हो जाने पर पुनः प्रलय के पूर्व की अवस्था की उसी प्रकार की सृष्टि हो सकती है। अतः इस प्रकार की आपत्ति को कोई स्थान नहीं है कि अशुद्ध कार्यों का जगत प्रलय के समय ब्रह्म की शुद्ध स्थिति को प्रभावित करेगा अथवा प्रलय के अनन्तर सृष्टि नहीं हो सकेगी।

अशुद्ध एवं अचेतन कार्य रूपी जगत के शुद्ध एवं चेतन ब्रह्म द्वारा उत्पन्न न हो सकने की सम्भावित आपत्ति के प्रत्युत्तर में शंकर की ये उपरोक्त युक्तियाँ दुर्बल ही नहीं अपितु अनावश्यक हैं। यदि कार्य रूपी जगत माया एवं जादू मात्र है तथा उसका कोई वस्तुत्व नहीं है तो उनके लिए सर्वोत्तम मार्ग यही होता कि कार्यों की उनके कारणों से महान् विषमता प्रदर्शित करने के लिए कारण की कार्य में वास्तविक परिणति का बताने वाले परिणामवाद को स्वीकार करने की अपेक्षा वह कार्य के वस्तुत्वहीन होने के अपने सिद्धान्त पर सीधा आ जाते। यदि वह प्रारम्भ में यही उत्तर देते कि कार्य की वास्तविक सत्ता नहीं है एवं वह तो जादू की सृष्टि मात्र तथा मिथ्या प्रपंच है तो यह आपत्ति तत्काल असफल हो जाती है कि अशुद्ध जगत शुद्ध ब्रह्म द्वारा उत्पन्न नहीं हो सकता क्योंकि इस प्रकार की आपत्ति कार्य की किंचित मात्र भी सत्यता में विश्वास नहीं करने वाले दार्शनिक शंकर के लिए नहीं बल्कि उन लोगों के लिए उचित होती जो कारण से कार्य के वास्तविक परिणाम में विश्वास रखते हैं न कि शंकर जैसे दार्शनिक के लिए जिनका कार्य की सत्यता में बिल्कुल विश्वास नहीं था। ऐसा करने के स्थान पर उन्होंने यह प्रदर्शित किया कि कार्य के विशिष्ट दोष अथवा अन्य लक्षण कारण की शुद्धता को प्रभावित नहीं कर सकते तथा इसके लिए स्वर्ण के आभूषणों का स्वर्ण में वास्तविक लय होने का उदाहरण देना प्रारम्भ किया। इसके साथ साथ वह एक अन्य उदाहरण भी देते हैं कि बाजीगर के स्वभाव को प्रभावित किए बिना जादुई सृष्टि किस प्रकार तिरोहित हो सकती है यह उदाहरण स्वर्ण के साथ बिल्कुल मेल नहीं खाता एवं आश्चर्य की बात है कि यह शंकर के ध्यान में कैसे नहीं आई कि यथार्थ परिणामवाद के उनके उदाहरण यदि खरे उतर सकें तो जादू एवं बाजीगर के उनके उदाहरण बिल्कुल अनुपयुक्त होंगे।

यदि कारणता के परिणामवादी सिद्धान्त को मान लिया जाय तो विवर्तवाद को

छोड़ना पड़ेगा। ऐसा प्रतीत होता है कि शंकर को अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य में कार्य के मिथ्यात्व के विवर्त दृष्टिकोण के उदाहरणों का प्रच्छन्न रूप से समावेश करके विवादों की इस प्रकार की उलझन का आश्रय लेना पड़ा जिसकी केवल यथार्थवादी व्याख्या ही हो सकती थी। यहां सूत्र इतने विश्वासोत्पादक रूप से यथार्थवादी प्रतीत होते हैं कि अपने कारण के असदृश कार्य की उत्पत्ति के प्रस्तावित असंगति का अंतिम उत्तर इस तथ्य में प्राप्त होता है कि उपनिषदों के अनुसार यह अशुद्ध एवं अचेतन जगत ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है, चूंकि उपनिषद् इसे थापित करते हैं अतः तर्क के आधार पर इसके विरुद्ध कोई आपत्ति नहीं उठाई जा सकती।

अगले विभाग में कारण के यथार्थवादी परिणाम का सिद्धान्त उस सूत्र द्वारा और आगे स्पष्ट किया गया है जिसके अनुसार कार्यों का उनके कारण के साथ अभेद होने पर भी उनके अनेकत्व अथवा नानात्व की व्याख्या कई प्रचलित उदाहरणों के सादृश्य से भी की जा सकती है। अतः यद्यपि तरंगों का समुद्र के साथ अभेद है फिर भी अपने नानात्व एवं वैभिन्य में उनकी सत्ता है। यहां भी शंकर को अपनी व्याख्या में सूत्र के भावार्थ का अनुसरण करना पड़ा है। सूत्र पर अपने भाष्य का उपसंहार करते हुए शंकर कहते हैं कि जगत ब्रह्म के परिणाम का कोई कार्यरूप फल नहीं है केवल ब्रह्म की ही सत्ता है परन्तु फिर भी तत्र सृष्टिकर्ता के रूप में ब्रह्म सोपाधिक होता है तब प्रतीयमान नानात्व एवं भिन्न्य हो सकता है। यहां यह बताना ठीक होगा कि इस प्रकार की अनुपूरक व्याख्या सूत्र के उस सामान्य अर्थ से पूर्णतः असंगत है जो निश्चित रूप से यथार्थवादी परिणामवाद के पक्ष में है। यह दुर्भाग्य है कि यहां भी शंकर अपने इस अनुपूरक कथन के लिए कोई कारण नहीं देते जो सूत्र एवं उनके द्वारा दिए गए भाष्य के सामान्य अभिप्राय के अनुरूप नहीं है।

आगे के अध्याय में शंकर सूत्र 'कार्य की संभावना, कारण की सत्ता, कार्य की कारण में सत्ता, कारण के विस्तरण हेतुओं के कारण एवं उपनिषदों के आप्त वचन के कारण', कारण एवं कार्य के अभेद को स्पष्ट रूप से स्थापित करते हुए प्रतीत होते हैं। इस प्रकार का अर्थ पूर्वाचार्यों के सामान्य अर्थ के अनुरूप है। शंकर, सूत्र की व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि केवल एकमात्र कारण ब्रह्म ही सत्य है। अतः कार्य में कारण का यथार्थ परिणाम नहीं हो सकता। इस प्रकार ब्रह्म की सर्वज्ञता एवं उसका जगत कर्तृत्व केवल सीमित रूप से ही उचित है क्योंकि वे जगत् की आपेक्षिक सत्यता पर आधारित हैं। अतः पारमार्थिक दृष्टि से ऐसा कोई ईश्वर नहीं है जो जगत का सर्व उत्पत्तिकर्ता हो।[1] शंकर कुछ उपनिषदों के प्रमाण के

---

[1] कूटस्थ ब्रह्मात्मवादिन एकत्वैकान्त्यात् ईशित्रीशितव्यभाव ईश्वर कारण प्रतिज्ञा विरोधइति चेत् न अविद्यात्मक नाम-रूप बीज व्याकरणापेक्षत्वात् सर्वज्ञत्वस्य।

आधार पर इसका समर्थन करते हैं (जैसे—मृत्तिकेत्येव सत्यमिति) वह सत्कार्यवाद के सिद्धान्त अर्थात कार्य के कारण में पहले से ही विद्यमान होने के सिद्धान्त के समर्थन में युक्ति देते हैं। यह सिद्धान्त वास्तव में यथार्थ परिणाम के परिणामवादी एवं विवर्तवादी दोनों दृष्टिकोणों में दो भिन्न भिन्न प्रकारों से सामान्य है। यह आश्चर्य की बात है कि न्याय के असत्कार्यवादी कर्तृत्व के दृष्टिकोण के विरुद्ध वह सत्कार्यवाद के सिद्धान्त का समर्थन कार्यों को असत् एवं मिथ्या मानने वाले विवर्तवादी दृष्टिकोण के आधार पर न करके परिणामवादी आधार पर करते हैं। इस प्रकार उनकी मान्यता है कि दही का मिट्टी से उत्पन्न न होकर दूध से उत्पन्न होना—इस बात को स्पष्ट करता है कि दही का दूध के साथ कोई ऐसा घनिष्ट सम्बन्ध है जो उसका किसी अन्य के साथ नहीं है। यह घनिष्ट सम्बन्ध कारण की विशिष्ट शक्ति में निहित है जो विशिष्ट कार्य (जैसे दही) उत्पन्न करने में समर्थ है। यह शक्ति कारण का सारतत्व है एवं इस शक्ति का सारतत्व स्वयं कार्य है। यदि कोई शक्ति किसी कार्य के स्वरूप का निर्धारित करती है तो वह कार्य के सार के रूप में कारण में पहले से ही विद्यमान होनी चाहिए। समवाय संबंध द्वारा परस्पर सम्बन्धित होने पर भी कार्य से कारण के वैभिन्न्य का प्रतिपादन करने वाले न्याय सिद्धान्त के विरुद्ध युक्ति देते हुए वह कहते हैं कि यदि कारण का कार्य के साथ सम्बद्ध करने के लिए इस प्रकार का समवाय सम्बन्ध आवश्यक है तो समवाय का कारण अथवा कार्य के साथ सम्बद्ध करने के लिए किसी अन्य वस्तु की तथा उसे किसी अन्य की आवश्यकता नहीं होगी इस प्रकार अनवस्था प्रसंग का दोष उत्पन्न होगा। यदि आग्रह किया जाय कि सम्बन्ध होने के कारण समवाय को किसी अन्य से सम्बद्ध करने के लिए किसी अन्य सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं है तो प्रत्युत्तर में यह पूछा जा सकता है कि किस प्रकार उस संयोग का जो कि संबंध माना जाता है संयोगी विषयों के साथ संबद्ध करने के लिए समवाय सम्बन्ध की आवश्यकता होती है? द्रव्यों को अपने गुणों के साथ संबद्ध करने के लिए समवाय का प्रत्यय अनावश्यक है क्योंकि गुणों की द्रव्यों के साथ प्रतिदिन तादात्म्य प्रतीति होती है। यदि कार्य अर्थात समग्र की अवस्थिति कारण अर्थात अवयवों में मान ली जाए तो वह या तो उन सब पुंजीभूत अवयवों में अथवा प्रत्येक अलग अवयव में अवस्थित होगा। यदि समग्र का अस्तित्व केवल अवयवों के जोड़ में ही निहित है तो सब अवयवों के आपस में नहीं जुड़ने के कारण इस प्रकार का समग्र अदृश्य होगा। यदि समग्र की अवस्थिति अवयवों में ही अवस्थित अवयवों में हो तो अपने सारभूत अंश से भिन्न समग्र के अवयवों की अवधारणा करनी पड़ेगी और यदि उन्हीं प्रश्नों का पुन

ब्रह्मसूत्र २ १ १४ पर शांकर भाष्य न तात्विक ऐश्वर्य सर्वज्ञत्व च ब्रह्मण किन्तु अविद्योपाधिकमिति तदाश्रय प्रतिज्ञा सूत्र तत्त्वाश्रय तु तदनन्यत्व सूत्रम्। उपरोक्त भाष्य पर।

दोहराया जाय तो इन अवयवो के लिए अन्य अवयवो की एव उन दूसरे अवयवो को तीसरे अवयवो की आवश्यकता होगी, तथा इस प्रकार अनवस्था प्रसग का दोष होगा। यदि एक ही समय मे समग्र पूर्णरूप से प्रत्येक अवयव मे अवस्थित हो तो समग्रो की सख्या अनेक हो जाएगी। यदि वह अनुक्रम रूप में प्रत्येक भाग म अवस्थित हो तो एक समय मे समग्र केवल एक ही अवयव म अवस्थित होगा, अत उस समय समग्र के काय अन्य अवयवो म अनुपस्थित होगे। यदि यह कहा जाय कि जिस प्रकार वर्ग-प्रत्यय के (जैसे गाय) प्रत्येक व्यक्ति मे पूर्णरूप से विद्यमान रहते हुए भी वह अनेक नहीं है उसी प्रकार प्रत्येक अवयव म समग्र भी पूर्णरूप से विद्यमान हो सकता है तो प्रत्युत्तर मे कहा जा सकता है कि समग्रो का अनुभव वर्ग प्रत्ययो के अनुभव के सदृश नहीं होता। गाय का वर्ग प्रत्यय प्रत्येक गाय म उपलब्ध है परन्तु प्रत्येक अवयव म समग्र की प्राप्ति नही होती। पुन यदि काय अपनी उत्पत्ति के पूर्व अविद्यमान हो तो उत्पत्ति के एक क्रिया होने के कारण ऐसे काय का कोई भी कर्ता नही होगा, यह असम्भव है क्योकि काय अपनी उत्पत्ति के पूर्व अविद्यमान होने के कारण अपना उत्पत्ति कर्ता नही हो सकता एव अविद्यमान होने के कारण वह उत्पत्ति या तो स्वय अविद्यमान होगी या बिना किसी कर्ता के होगी। यदि उत्पत्ति को क्रिया के रूप मे परिभाषा न करके उसे स्वकरण-सत्ता समवाय के रूप मे माना जाय तो भी यह आपत्ति की जा सकती है कि दो सम्बन्धित पदो के बीच ही सम्बन्ध सम्भव है एव चूंकि काय अभी तक अविद्यमान है अत उसका सम्बन्ध अपने कारण से नही हो सकता। परन्तु यदि काय पहले से ही विद्यमान है तो फिर कारक व्यापार की आवश्यकता ही क्या है? इस प्रकार के प्रश्न का उत्तर इसी मत मे पाया जाता है कि काय तो कारण का अपने काय म विस्तरण मात्र है। जिस प्रकार एक मनुष्य अपने अवयवो का समेट कर अथवा फैलाकर बैठने पर भी वही मनुष्य माना जाएगा उसी प्रकार काय को भी कारण का विस्तरण मानना चाहिए और इसी हेतु कारण और काय म अभेद भी मानना चाहिए। इस प्रकार काय केवल कारण की रूपान्तरित अवस्था है अन इस रूपान्तरण को घटित करने के लिए कारक व्यापार अनावश्यक है, परन्तु ऐसा रूपान्तरण होते हुए भी काय कारण म अपनी शक्ति के रूप मे पहले से ही विद्यमान नहीं है।

सात अन्य लघुतर अध्याय हैं। उनमे से प्रथम म इस आपत्ति का कि यदि जगत् चैतन्य ब्रह्म की अपरोक्ष उत्पत्ति है तो फिर ऐसी चैतन सत्ता ने इस दु ख से परिपूर्ण जगत की रचना ही क्या कि जो स्वय उसके लिए कारागृह है उत्तर इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करके बडी आसानी से दिया है कि जगदतीत सृष्टिकर्त्ता इस जगत के कारागृह म दु ख का अनुभव करने वाली सासारिक जीवात्माओं से अत्यत परे है। यहाँ भी शाकर एक पूरक व्याख्या के रूप म यह निरूपण सम्मिलित करते हैं कि सृष्टि

यथार्थ नहीं है एवं सम्पूर्ण जगत इन्द्रजालमय अवभास मात्र है अतः ऐसा कोई आपत्ति युक्ति सगत नहीं है जिसके अनुसार सृष्टिकर्त्ता को स्वयं अपने दुःख के लिए एक अवाञ्छनीय जगत की रचना नहीं करनी चाहिए। परन्तु सूत्रों ने इस प्रकार के निरूपण के लिए कोई अवसर नहीं दिया, ताकि पूर्वोपाया की तरह यहाँ भी उनका माया का सिद्धान्त उनके सूत्रों की सामान्य व्याख्या के अनुरूप नहीं है तथा उनके निरूपण को एक ऐसे पाद टिप्पण के रूप में जोड़ देना चाहिए जो सुग्रथित नहीं है और जिसकी सूत्रों के सामान्य अर्थ और आशय के साथ कोई उपादेयता नहीं है।

अगले अध्याय में एक आपत्ति यह उठाई गई है कि ब्रह्म किन्हीं अन्य कारणों की सहायता के बिना सृष्टि की रचना नहीं कर सकता ऐसी आपत्ति का उत्तर इस तथ्य में उपलब्ध है कि स्वयं ब्रह्म सर्वशक्तिमान होने के कारण किसी अन्य की सहायता के बिना ही जगत का सृजन अपने अन्दर से ही कर सकने में समर्थ है।

आगे के अध्याय में यह आपत्ति उठाई गई है कि यदि जगत ब्रह्म का परिणाम है तो ब्रह्म के निरवयव होने के कारण सम्पूर्ण ब्रह्म की ही परिणति होनी चाहिए, क्योंकि आंशिक परिणति उसी समय सम्भव है जब परिणामशील द्रव्य सावयव हो। इस प्रकार की आपत्ति का उत्तर जीवात्मा के सादृश्य में मिलता है जो स्वयं में निराकार है तथा स्वयं विविध प्रकार के स्वप्नानुभवों में परिणत होते हुए भी इस प्रकार के परिणामों से अप्रभावित एवं अविकारी रहता है। फिर उपरोक्त आक्षेप स्वयं विपक्षियों पर भी किए जा सकते हैं क्योंकि सांख्य भी निराकार प्रकृति के परिणाम को मानता है।

एक दूसरे अध्याय में यह आग्रह किया गया है कि चूँकि ब्रह्म स्वयं में पूर्ण है तथा जब इससे इसे कोई लाभ नहीं तब उसके महान् जगत की रचना करने का क्या कारण है। इसका उत्तर खेल के सादृश्य पर आधारित है जिसमें लाभ होने की अवस्था में भी एक व्यक्ति इसमें भाग लेने में आनन्द का अनुभव करता है। अतः ब्रह्म भी अपनी लीला द्वारा जगत की रचना करता है। फिर भी शंकर सूत्रों के हेतु के सबंध में, अप्रासंगिक होते हुए भी माया के सिद्धान्त का अपना प्राचीन गीत गाना कभी नहीं भूलते जिसका अनुसरण किए बिना वह नहीं रह सके। इस प्रकार इस अध्याय में जगत् रचना को ईश्वर का लीलामय व्यापार बताकर सूत्र की व्याख्या करते हुए वह कहते हैं कि यह अविस्मरणीय है कि सम्पूर्ण जगत् रचना अविद्याजनित केवल काल्पनिक अवभास मात्र है एवं परम तत्व जीवात्मा तथा ब्रह्म का तादात्म्य है।

उपरोक्त विचार विमर्श विश्वासप्रद रूप से यह सिद्ध करता हुआ प्रतीत होता है कि स्वयं शंकर के भाष्य के अनुसार भी बादरायण का दर्शन एक प्रकार का भेदाभेद वाद अथवा ईश्वर (ब्रह्म) के विश्वातीत तथा विश्वानुगत होने का सिद्धान्त है। उनका विश्वास था कि जगत् ब्रह्म के वास्तविक परिणाम अथवा यों कहिए कि उसकी

शक्ति एव सामर्थ्य का फल है। ईश्वर स्वय इस प्रकार के परिणाम द्वारा समाप्त नही हुआ है तथा सदा अधिपति सृष्टा रहा है जिसने अपनी लीला द्वारा सृष्टि की रचना की एव जो बिना किसी बाह्य सहायता के अपनी शक्ति द्वारा इसका सृजन कर सका। इस प्रकार जगत् ईश्वर की शक्तियो का यथार्थ परिणाम है। जबकि वह स्वय अपनी शक्तिया द्वारा विश्वानुगत होते हुए भी विश्वातीत भी है तथा इसका नियत्रक है। वह सृष्ट सासारिक जीवात्माओ के लिए उनके शुभाशुभ कर्मों के अनुसार पुरस्कार अथवा दड का विधान करता है।

बहुत से पुराणो का मुख्य मत होने के कारण भेदाभेदवाद का सिद्धान्त निश्चित रूप से शकर से पूर्व का है। सभवत ऐसा भी प्रतीत होता है कि भर्तृ प्रपच ने रामानुज द्वारा वृत्तिकार के रूप मे एव शकर द्वारा उपवर्ष तथा वृत्तिकार के रूप मे उल्लिखित बोधायन का एव शकर तथा रामानुज द्वारा उल्लिखित द्रमिडाचार्य का उल्लेख किया है सबने भेदाभेदवाद के किसी न किसी रूप को माना है। शकर ने बृहदारण्यकोपनिषद् पर लिखे अपने भाष्य म भर्तृ प्रपच का उल्लेख किया है और आनन्दज्ञान ने शकर भाष्य पर लिखी अपनी टीका म बृहदारण्यक उपनिषद् पर लिखे गए भर्तृ प्रपच के भाष्य से कई उद्धरण दिए हैं। प्रो० एम० हिरियन्ना ने एक लेख मे इन अशो को इकट्ठा किया जो उन्होने १९२४ मे तृतीय ओरियटल कांग्रेस (मद्रास —१९२४) के समय पढे थे एव वहाँ उन्होने भर्तृ प्रपच के दर्शन का निम्न प्रकार से वर्णन किया है—भर्तृ प्रपच का सिद्धान्त भेदाभेद के प्रकार का अद्वैत का सिद्धान्त है। ब्रह्म एव जगत् के सम्बन्ध की तरह ब्रह्म एव जीव का सबध भी भेदाभेद का है। इस मत का एक तात्पर्य यह है कि जीव एव भौतिक जगत् की उत्पत्ति ब्रह्म से हुई अत इसे ब्रह्मपरिणामवाद का सिद्धान्त कहा जा सकता है। आध्यात्मिक पक्ष मे ब्रह्म को अन्तर्यामिन् और जीव म परिणत कर दिया गया है, भौतिक पक्ष मे अव्यक्त, सूत्र विराट और देवता मे परिणत कर दिया गया है जो सब हैं, तथा जाति और पिण्ड जो नही हैं। ये ब्रह्म की अवस्थाए हैं और आठ वर्गों का प्रतिनिधित्व करती हैं जिसम नानात्मक जगत् विभक्त हो सकता है। उनका पुन तीन राशियो म वर्गीकरण होता है यथा परमात्म राशि, जीव राशि, और मूर्त्तामूर्त्त राशि जो धर्म एव दर्शन के त्रिकोणात्मक विषय के अनुरूप है यथा ईश्वर, जीवात्मा, प्रकृति। भर्तृ प्रपच ने प्रमाण समुच्चय को मान्यता दी है जिसका अर्थ यह है कि सर्वसाधारण अनुभव का प्रमाण भी उतना ही सही है जितना कि वेदो का। प्रथम, नानात्व की सत्यता को तथा द्वितीय एकरूपता का (जैसा कि उपनिषदो म अबाधित है) प्रमाणित करता है। अत परमतत्त्व द्वैताद्वैत है। मोक्ष अथवा जीवन का लक्ष्य दो अवस्थाओ म प्राप्त किया जाता है—प्रथम अपवर्ग की ओर ले जाती है जहा आसक्ति को वशीभूत करके ससार को अभिभूत किया जाता है, तथा द्वितीय अविद्यानाश द्वारा ब्रह्मत्व की ओर ले जाती है। उपरोक्त दोनो अवस्थाओ म से किसी भी एक अवस्था तक पहुँचने का

साधन ज्ञान कम समुच्चय कहलाता है जो प्रमाण समुच्चय के सैद्धांतिक पक्ष या व्यवहारिक दृष्टि से स्वाभाविक परिणाम प्रतीत होता है।

यह कहना सचमुच कठिन है कि बादरायण ने वेन्दात में भेदाभेद सिद्धान्त के ठीक ठीक लक्षण क्या-क्या थे परन्तु इसम कोई सन्देह नहीं कि वह कोई विनिष्ट प्रकार का भेदाभेद का सिद्धान्त था एव जैसा कि बार बार कहा जा चुका है कि स्वय शाकर भाष्य भी इसी मत को प्रदर्शित करता है (यदि हम उनके केवल निक्षिप्त वाक्य के रूप म रखे हुए उन मन्तव्यों को निकाल दें जो प्राय उनके अपने भाष्य के सामान्य प्रवाह तथा सूत्रों के प्रसग के साथ एव इस प्रकार के प्रसग द्वारा यथा सभव ज्ञात उनके हेतु तथा ग्रथ के साथ असगत हैं)। फिर भी यदि यह कहा जाय कि वास्तविक परिणाम का यह दृष्टिकोण केवल व्यवहारिक दृष्टिकोण से ही सत्य है तो कम से कम एक सूत्र तो ऐसा होना ही चाहिए जहाँ पारमार्थिक दृष्टिकोण दिया गया हो, परन्तु इस प्रकार का सूत्र स्वय शकर भी ढूँढ निकालने मे असमर्थ रहे हैं। यदि अनुभव हमेशा कारण परिणामवाद को सत्य प्रमाणित करता जाय तो पारमार्थिक दृष्टि से सब कार्यों को भ्रम और असत्य कसे मान लिया जाय ? यदि यह कहा जाय कि माया के उपादान का वास्तविक परिणमन होता है जबकि ब्रह्म म कभी भी विकार नहीं होता एव यदि माया को ब्रह्म की शक्ति माना जाय तो फिर ब्रह्म की शक्ति तथा उसका परिणाम किस प्रकार असत् एव मिथ्या माना जा सकता है जबकि शक्तिमद् ब्रह्म का सत्य एव परम तत्व माना जाता है। शाकरमत के कई वेदान्त लेखकों के बीच इस विषय पर गहरा मतभेद है। इस प्रकार अपने 'सिद्धान्तलेश' म अप्पय दीक्षित ने पदार्थनिर्णय के लेखक को यह कहते हुए बताया है कि ब्रह्म एव माया, दोनों ही प्रपचात्मक जगत् के उपादान कारण हैं—ब्रह्म विवर्त कारण तथा माया परिणाम कारण है। कारणत्व की परिभाषा विवर्त एव परिणाम के बीच की यह कह कर कहते हैं कि अपने से अभिन्न कार्यों को उत्पन्न करने वाला कारण उपादान कारण कहलाता है (स्वाभिन्न कार्य जनकत्वम् उपादानत्वम्)। जगत् का ब्रह्म के साथ तादात्म्य है क्योकि उसकी सत्ता है तथा उसका माया के साथ तादात्म्य है क्योंकि उसम जडता एव विकारशीलता के लक्षण हैं। अत दो विभिन्न दृष्टियों से ब्रह्म एव माया दोनों जगत् के कारण है। वाचस्पति मिश्र के मत म माया केवल सहकारी कारण हैं जबकि ब्रह्म वास्तविक विवर्त कारण है।[1] सिद्धान्त मुक्तावाली के लेखक प्रकाशानन्द के विचार मे जगत् का उपादान कारण माया शक्ति है न कि ब्रह्म। ब्रह्म अविकारी है एव माया का आश्रय है इस प्रकार वह औपचारिक अर्थ मे जगत् का

---

[1] वाचस्पति मिश्र ८४० ई० प० म हुए। ब्रह्मसूत्र पर अपनी भामती टीका के अतिरिक्त उन्होंने अन्य दर्शनों पर भी अनेक ग्रथ एव टीकाएं लिखीं। उनके महत्वपूर्ण ग्रथ निम्न हैं

कारण है। सर्वज्ञात्ममुनि का यह विश्वास है कि केवल ब्रह्म ही विवर्त कारण हैं तथा माया उस हेतु के लिए केवल निमित्त मात्र है।[1] बादरायण के अनेक सूत्र कारणता के परिणामवादी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं—इस कठिनाई का अनुभव सर्वज्ञात्म मुनि ने कर लिया था जिन्होंने उसे यह संकेत देकर उठा दिया कि परिणाम के सिद्धान्त का विवेचन सूत्रों में समर्थन रूप में केवल इसीलिए किया गया है कि यह सिद्धान्त विवर्त के अत्यन्त निकट आता है तथा लोगों को परिणामवाद के सिद्धान्त में दीक्षित करने से उन्हें विवर्त सिद्धान्त की ओर ले जाना अधिक सुलभ होगा, जैसा कि सूत्र २ १ १४ में संकेत किया गया है।[2] यदि सूत्रों का विन्यास ऐसा होता कि उससे इस मत का समर्थन हो कि परिणामवाद का आरम्भ केवल पाठक के मनस को विवर्त दृष्टिकोण की ओर ले जाना था, जो अन्ततोगत्वा निश्चित रूप से एक यथार्थ दृष्टिकोण के रूप में स्वीकार किया गया है तो इस व्याख्या की किंचित् सम्भावना होती, परन्तु यह स्पष्ट कर दिया गया है कि २ १ के प्रायः सभी सूत्र संगतिपूर्वक परिणामवादी दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं तथा सूत्र २ १ १४ को भी कारणत्व के विवर्तवादी दृष्टिकोण को सही बताने के रूप में व्याख्या नहीं की जा सकती क्योंकि शंकर ने उसी खंड के अन्य सूत्रों की व्याख्या परिणामवाद के अनुसार की है और यदि विषय सामग्री पर विचार किया जाय तो इस सूत्र की भी व्याख्या भेदाभेद प्रकार के परिणामवाद के दृष्टिकोण के अनुसार करनी पड़ेगी।

वेदान्ताचार्य एवं शिष्य

उपनिषद् एवं ब्रह्मसूत्र के शंकर दर्शन का प्रधान आग्रह सत् चित्, आनन्द के स्वतः प्राकाश्य अभेद ब्रह्म पर है जिसकी अनुभूति के लिए नित्य नैमित्तिक वैदिक कर्मों

तत्व बिन्दु पर तत्व वैशारदी (योग), तत्वसमीक्षा, ब्रह्मसिद्धि टीका, विधि विवेक पर न्यायकणिका, न्यायतत्वालोक, न्यायरत्नटीका, न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका ब्रह्म तत्व संहितोद्दीपनी युक्तिदीपिका, (सांख्य) सांख्यतत्व कौमुदी वेदान्त तत्व-कौमुदी।

[1] वह ९०० ई० पू० के आसपास मनुकुलादित्य राजा के शासनकाल में रहे तथा देवेश्वर के शिष्य थे।

[2] विवर्तवादस्य हि पूर्वभूमिर्वेदान्तवादे परिणामवाद
व्यवस्थितेऽस्मिन् परिणामवादे, स्वयं समायाति विवर्तवाद ।
—संक्षेप शारीरक २ ६१।

उपायमातिष्ठति पूर्वमुच्चैरुपेयमाप्तुं जनता यथैव
श्रुतिमुनीन्द्रश्च विवर्त सिद्धये विकारवादं वदतस्तथैव। —वही, २ ६२।
विकारवाद कपिलादिपक्षमुपेत्यवादेन तु सूत्रकार
श्रुतिश्च सञ्जल्पतिपूर्वभूमौ, स्थित्वा विवर्तप्रतिपादनाय ॥ —वही, २ ६४।

के सपादन की अपेक्षा नही है। अधिकारी गुरु द्वारा उपदिष्ट 'तत्वमसि जसे उपनिषद् वाक्या की सम्यक अनुभूति अपने मे ही (स्वत) जगत अवभास के सब मिथ्या भ्रमा के निवारण के लिए पर्याप्त है। यह बात कुछ विशिष्ट वैदिक कर्मों की अनिवायता के मीमासा दष्टिकोण से एकदम विरुद्ध थी तथा इस बात पर शकर एव उनके अनुयायिया को मीमासको का कडा प्रतिरोध करना पडा। विभिन्न मीमासा लेखका ने ब्रह्मज्ञान के साथ कर्मों के साहचय की आवश्यकता पर विभिन्न रूप से बल दिया, एव उनम से कुछ का सक्षिप्त उल्लेख सुरेश्वर पर लिखे गए खड म किया जा चुका है। एक अन्य प्रश्न वदा त के अद्वैत वचना (यथा तत्वमसि) को श्रवण करने की अनिवायता के स्वरूप के सबध मे उठा, तथा परकालीन वेदान्त लेखको ने इसे भिन्न प्रकार से समझा है। इस प्रकार प्रकटाथ के लेखक का जिसका काल सम्भवत द्वादश शताब्दी है मत है कि उपनिषदो के अनुशासन द्वारा (यथा "तुम्ह इन वचना का *श्रवण करना चाहिए, उनका तात्पय समझना चाहिए तथा मनन करना चाहिए'*) मनुष्य प्रथमत यह ग्रहण करता है कि उसे वेदान्त वचनो का श्रवण करना चाहिए—इस दृष्टिकोण को पारिभाषिक ग्रथों मे अपूव विधि कहा जाता है। अन्या का मत है कि लोग मोक्ष प्राप्ति म अपने प्रयत्नो मे सब प्रकार के ग्रथा का अध्ययन करें तो पथ भ्रष्ट हो सकते हैं। अत उन्हे सन् माग पर लाने के लिए उपनिषदा के अद्वैतवचनो का श्रवण करने का निर्देश देते हैं—पारिभाषिक ग्रथों मे इस दृष्टिकोण को नियम विधि कहते हैं। सवज्ञात्म मुनि के अनुयायियो के तो मत मे ब्रह्म ज्ञान के बाद्य की उपलब्धि के सम्बन्ध म किन्ही भी अर्थों म किसी कम की सत्ता नही हो सकती तथा कम करने की आज्ञा का अथ यह है कि अपनी मेधा के स्पष्टीकरण के लिए विचार विमश करना, तथा आदेश सूचक वाक्य तुम्ह श्रवण करना चाहिए का अथ यही है कि अपनी बोध शक्ति को परिष्कृत करने के लिए मनुष्य सम्यक विचार विमश करें। तो भी सुरेश्वर के अनुयायियो के विचार म कम करने की आज्ञा का तात्पय यह है कि वेदान्त के विद्यार्थी धीरे धीरे अबाध गति से वेदान्त के वचना की यथायता की अनुभूति करें, इस दृष्टिकोण को परिभाषिक रूप म परिसख्या विधि कहा जाता है। वाचस्पति मिश्र एव उनके अनुयायियो के मत मे इन आदेशो मे कम की कोई अनिवायता नही है, इन्हे अनुशासना के रूप म रखने का तात्पय केवल यह है कि प्रगति के वेदान्ती माग पर अग्रसर होने के साधन के रूप म वेदान्त के वचनो के श्रवण और उन पर परिचर्चा करने की महत्ता प्रदर्शित की जा सक।

परन्तु वेदान्त की दाशनिक समस्या का केन्द्र ब्रह्म विचार, उनके कारणत्व का स्वरूप प्रपचात्मक प्रत्यक्ष जगत् एव माया के साथ उनका सम्बन्ध तथा जीवात्माओ के साथ उसका सम्बन्ध है। स्वय शकर के ग्रथ हमेशा एकसा तथा स्पष्ट उत्तर नही देते तथा उनकी सामान्य योजना के न्यूनाधिक रूप मे सुस्पष्ट व्याख्या होने पर भी उनके ग्रथ के विभिन्न भागा मे कई अर्थों में ऐसी झलक मिलती है कि उनकी विभिन्न

प्रकार से व्याख्या की जा सकती है। अप्पय दीक्षित ने अपने सिद्धान्त लेश के प्रारम्भ मे प्रदर्शित किया है कि प्राचीन लोगो का ध्यान जीवनात्मा एव ब्रह्म के स्वरूप की मूलभूत समस्या की ओर अधिक केन्द्रित था तथा उन्होने गोचरीय अवभास के क्रम की व्याख्या की ओर ध्यान नही दिया है और इसलिए इस विषय पर कई पृथक् मत उद्भूत हो गए हैं। इस प्रकार शकर की मृत्यु के थोडे समय बाद ही चार मुख्य आचार्य सुरेश्वर और उनके शिष्य सर्वज्ञात्म मुनि, पद्मपाद और वाचस्पति मिश्र हमारे सामने आते हैं जो वेदान्त की अद्वैत व्याख्या की तीन स्पष्ट प्रवृत्तियो का प्रतिनिधित्व करते हैं। सुरेश्वर एव उनके शिष्य सर्वज्ञात्म मुनि के मत मे माया एक द्वार है जिसके द्वारा एक ब्रह्म का अनेक रूपो मे अवभास होता है एव उनके यथार्थ स्वरूप का जीवात्माओ की दृष्टि से आवरण हो जाता है। इस दृष्टिकोण से माया का भावरूप मानते हुए भी इसे द्रव्य नही समझा गया, तथा ब्रह्म को माया का विषय एव आश्रय दोनो ही माना गया। शुद्ध ब्रह्म ही सम्पूर्ण प्रतीतियो का मूल कारण है तथा माया उस पर भ्रम के पर्दे के समान आश्रित है जिसके कारण यह एक (ब्रह्म) अनेक मिथ्या प्रपचो के रूप मे अवभासित होता है। यह आसानी से देखा जा सकता है कि यह दृष्टिकोण गोचरीय अवभास की दार्शनिक व्याख्या देने के महत्व की पूर्णतया उपेक्षा करता है एव इसी दृष्टिकोण पर बल देने मे व्यस्त है कि ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। वाचस्पति का दृष्टिकोण इस अर्थ मे माया को किंचित अधिक यथार्थता देता है कि माया का ब्रह्म के साथ सहकारी के रूप मे सह अस्तित्व है जिसकी क्रियाशीलता द्वारा प्रपचात्मक जगत की रचना सम्भव है माया ब्रह्म को अपने विषय के रूप मे छिपा देती है परन्तु इसका आश्रय जीवात्माएँ हैं जो पुन माया पर आश्रित हैं और माया उन पर ऐसे अनादि चक्र मे आश्रित है। जगत अवभास केवल वस्तुपरक प्रत्यय अथवा सवेदनाएँ मात्र नहीं हैं अपितु इसका विषयपरक अस्तित्व भी है, यद्यपि इसके अस्तित्व का स्वरूप ऐसा है जिसकी व्याख्या नही हो सकती और न जिसका वर्णन किया जा सकता है तथा प्रलय के समय इसका सूक्ष्म एव स्थूल उपादान कारण अविद्या मे छिपा रहेगा जो कल्प के आदि मे अर्थात सृष्टि रचना के समय पुनरुज्जीवित होगा। तृतीय दृष्टिकोण पद्मपाद का है जो माया का कुछ और अधिक यथार्थता प्रदान करता है। उसके अनुसार माया वह उपादान है जिसका व्यापार द्विविध है–एक ज्ञानात्मक क्रिया शक्ति द्वितीय स्पन्दनात्मक क्रिया शक्ति एक मनोव्यापार सम्बन्धी प्रक्रिया को निर्धारित करती है तथा दूसरी स्थूलप्रक्रिया को निश्चित करती है, तथा मायायुक्त ब्रह्म उपरोक्त दो शक्तियो सहित ईश्वर के रूप मे जगत् का मूल कारण है। परन्तु स्वय शकर की रचनाओ मे भी विषयपरक विज्ञानवाद की जडें पाई जाती हैं। अत बृहदारण्यक उपनिषद भाष्य मे वह कहते हैं कि अवच्छेद एव प्रतिबिम्ब के सिद्धान्तो को छोडकर यह कहा जा सकता है कि जैसे कुन्ती पुत्र और राधेय एक ही है उसी प्रकार ब्रह्म भी अनादि अविद्या के कारण जीवात्माओ के रूप मे भासित होता है, इस प्रकार

जीवात्माएं जन्म ग्रहण करती हैं वे पुन मिथ्या भ्रम द्वारा अपनी ही अविद्या से जगत् प्रपंच की रचना करती हैं। आगे के खण्ड में बताया जाएगा कि शंकर के थोड़े ही समय बाद दशम शताब्दी में मंडन ने भी उसी प्रवृत्ति का प्रतिपादन किया। इस प्रकार एक ही शताब्दी में हमारे समक्ष वेदान्ती विकास की चार विभिन्न धाराएं आती हैं जो पश्चात्वर्ती शताब्दियों में उन लेखकों में फैलने लगी जिन्होंने उनमें से किसी एक अथवा अन्य शाखा का अनुसरण किया, एवं कुछ इनके अतिरिक्त और प्रवृत्तियों का भी प्रादुर्भाव हुआ। वेदान्त क्षेत्र में दशम शतक अत्यन्त अनुर्वर प्रतीत होता है और संभवत सुरेश्वर की वार्तिक के टीकाकार ज्ञानोत्तम मिश्र के अतिरिक्त किसी भी अति प्रतिष्ठित लेखक के इस काल में होने का हमें ज्ञान नहीं। दार्शनिक विकास के अन्य क्षेत्रों में भी यह शतक न्यूनाधिक मात्रा में अनुर्वर ही रहा और न्याय वैशेषिक में उदयन एवं श्रीधर, गणित ज्योतिष में उत्पल, एवं शैवमत में अभिनव गुप्त के अतिरिक्त सम्भवत किन्हीं अन्य अधिक सम्मानित व्यक्तियों के नाम नहीं लिए जा सकते। फिर भी इस काल में कई एक विख्यात् बौद्ध लेखक हुए यथा न्याय लोक सिद्धि के लेखक राजशाही वासी चन्द्रगोमिन् (कनिष्ट) प्रमाण वार्तिकालंकार' और 'सहोपलम्भ निश्चय' के लेखक विक्रमशिलावासी प्रज्ञाकर गुप्त हेतुतत्वोपदेश धर्म धर्मी विनिश्चय और बालावतार तर्क के लेखक राजशाहीवासी आचार्य जेतारि, प्रमाण वार्तिकालंकार टीका के लेखक जिन अपोह सिद्धि क्षणभंग सिद्धि और स्थिर सिद्धि दूषण के लेखक रत्नकीर्ति तथा 'युक्ति प्रयोग' के लेखक रत्नवज्र। एकादश शतक भी वेदान्त दर्शन के लिए निष्फल ही प्रतीत होता है। आनन्दबोध भट्टारकाचार्य ही महती ख्याति के एकमात्र लेखक प्रतीत होते हैं जिनका काल सम्भवत एकादश शतक का परार्ध एवं द्वादश शतक का पूर्वार्द्ध प्रतीत होता है। कुलार्क पंडित के 'महाविद्या तर्क वाक्य सम्भवत एकादश शतक में किसी काल से प्रारम्भ हुए और जैसा कि आगे आने वाले खंड में बताया जाएगा कि चतुर्दश शतक तक वेदान्त के लेखकों ने खंडन के लिए उनका उल्लेख किया है। परन्तु यह निश्चित है कि वेदान्त के कई लेखकों ने आनन्द बोध के पूर्व वेदान्त पर अवश्य ही काम किया होगा यद्यपि आज हम उनका ठीक ठीक पता नहीं लगा सकते। आनन्दबोध का अपने न्याय मकरन्द' में कथन है कि उनका ग्रंथ वेदान्त के सम्बन्ध में कई निबंध पुष्पांजलियों का संग्रह है। चित्सुख ने 'न्याय मकरन्द पर लिखी अपनी टीका (पृ० ८६) में कहा है कि आनन्दबोध ने ब्रह्म प्रकाशिका के लेखक के मत का खंडन किया है। रत्नप्रभा पृष्ठों पर दिए गए गोविन्दानन्द के कथन के अनुसार त्रयोदश शतक के अमलानन्द में प्रकटार्थ के लेखक [illegible]धारा एकादश अथवा द्वादश शतक माना जा सकता है। वह शांकर भाष्य पर [illegible]सनाया इसका पूरा नाम 'शारीरिक भाष्य प्रकटार्थ था और आनन्द ज्ञान ने [illegible] उनका सामान भी था) इस ग्रंथ को वेदान्ती व्याख्या के आधार पर अपना [illegible]के विभिन्न भागों त्रिपाठी अपनो तर्क संग्रह' की भूमिका में लिखते हैं कि इस

ग्रन्थ की एक प्रतिलिपि टेक्का मठ में उपलब्ध है, परन्तु इस पुस्तक के लेखक को अद्यार पुस्तकालयस्थ एक पाडुलिपि से इसका अध्ययन करने का सौभाग्य मिला तथा उसके दार्शनिक विचारों का निम्न संक्षिप्त विवरण भिन्न खड में दिया जाता है। अप्पय दीक्षित कृत 'सिद्धान्त लेश' में प्रकटार्थ विवरण नामक टीका का पता चलता है। यद्यपि आनन्दज्ञान ने अपना 'तत्त्वालोक' 'प्रकटार्थ' के अनुसार लिखा फिर भी आनन्दज्ञान के सामान्य सिद्धान्त उसके (प्रकटार्थ) लेखक के अनुरूप नहीं थे, आनन्दज्ञान की स्थिति प्राय सर्वज्ञात्ममुनि जैसी ही थी तथा न तो उन्होंने कई अज्ञानों का स्वीकार किया था और न उन्होंने माया एवं अविद्या में कोई भेद माना। परन्तु जहाँ तक 'सिद्धान्त लेश' में प्रकटार्थ के लेखक के बारे में आए उल्लेखों के विवरणों से पता चलता है, 'प्रकटार्थ' के लेखक ने व्यक्तियों के अन्तःकरणों को पृथक् स्थान प्रदान किया है और सोचा कि जिस प्रकार जीव अन्तःकरण की अवस्थाओं में शुद्ध चैतन्य के प्रतिबिम्ब द्वारा ज्ञाता रूप हो सकता है उसी प्रकार ईश्वर भी माया विकार के द्वारा सब कुछ जान लेने के कारण सर्वज्ञ है। विधि के स्वरूप के बारे में 'प्रकटार्थ' के मुडक लेखक के विचार पहले ही बताए जा चुके हैं। परन्तु जिस ढंग से आनन्दज्ञान ने मुडक पृ० ३२ एवं केन पृ० २३ में 'प्रकटार्थ' का उल्लेख किया है वह इस बात का द्योतक है कि या तो वह 'प्रकटार्थ' के लेखक थे और या उन्होंने उस पर कोई टीका लिखी। परन्तु वह इस ग्रन्थ के लेखक नहीं हो सकते क्योंकि उन्होंने इसे 'तत्त्वालोक' के लेखन में आदर्शरूप मानने का उल्लेख किया है, अतः यह अधिक सम्भव प्रतीत होता है कि उन्होंने उस पर भाष्य लिखा होगा, परन्तु यह आश्चर्यजनक है कि शाकर के कई महत्त्वपूर्ण भाष्यों पर टीका लिखने वाले आनन्दज्ञान ने 'प्रकटार्थ' पर एक अन्य टीका लिखने का कष्ट किया जो स्वयं शाकर भाष्य पर एक टीका ही है। अतः यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उसका इतना सम्मान करने के कोई विशिष्ट कारण थे और यह उसके किसी विख्यात आचार्य की अथवा उनकी पैतृक शृंखला में किसी एक की कृति हो। फिर भी यह नितान्त असम्भव है कि यह ग्रन्थ द्वादश शतक के मध्य के अनन्तर में लिखा गया हो।[१]

जैसा कि चित्सुख ने उल्लेख किया है, गगापुरी भट्टारक का काल भी सभवतः आनन्दबोध के पूर्व का ही हो।[२] अतः गगापुरी या तो दशम शतक के उत्तरार्ध में या एकादश शतक के पूर्वार्द्ध में रहे होगे। यह असम्भव नहीं है कि वह आनन्दबोध के वरिष्ठ समसामयिक रहे हों। उनके ग्रन्थ पदार्थ-तत्त्व निर्णय पर आनन्दज्ञान ने टीका की है। उनके मत में माया एवं ब्रह्म, दोनों को जगत् का कारण ही मानना चाहिए। जगत के सब प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान विषयों की सत्ता है। जीव उनके कारण होता है। जीव का कारण वे हैं तथा विद्यमान होने वाले पदार्थों के कोई भी

जीवात्माए जन्म ग्रहण करती हैं वे पुन मिथ्या भ्रम द्वारा अपनी ही अविद्या से जगत् प्रवभास की रचना करती है। आगे के खण्ड मे बताया जाएगा कि शकर के थोडे ही समय बाद नवम शताब्दी मे मडन ने भी उसी प्रवृत्ति का प्रतिपादन किया। इस प्रकार एक ही शताब्दी म हमारे समक्ष वेदान्ती विकास की चार विभिन्न धाराए आती हैं जो पश्चातवर्ती शताब्दियो मे उन लेखको मे फैलने लगी जिन्होने उनमें से किसी एक प्रथवा अन्य शाखा का अनुसरण किया, एव कुछ इनके अतिरिक्त और प्रवृत्तियो का भी प्रादुर्भाव हुआ। वेदान्त क्षेत्र म दशम शतक अत्यन्त अनुवर प्रतीत होता है और सभवत सुरेश्वर की वार्तिक के टीकाकार ज्ञानोत्तम मिश्र के अतिरिक्त किसी भी अति प्रतिष्ठित लेखक के इस काल मे होने का हमे ज्ञान नही। दार्शनिक विकास क अन्य क्षेत्रो में भी यह शतक न्यूनाधिक मात्रा मे अनुवर ही रहा और न्याय वैशेषिक मे उदयन एव श्रीधर, गणित ज्योतिष मे उत्पल, एव शैवमत म अभिनव गुप्त के अतिरिक्त सभवत किन्ही अन्य अधिक सम्मानित व्यक्तियो के नाम नही लिए जा सकते। फिर भी इस काल मे कई एक विख्यात् बौद्ध लेखक हुए यथा न्याय लोक सिद्धि के लेखक राजशाही वासी चन्द्रगोमिन् (कनिष्ट) प्रमाण वार्तिकालकार' और 'सहोपलम्भ निश्चय के लेखक विक्रमशिलावासी प्रज्ञाकर गुप्त 'हेतुतत्वोपदश धर्म धर्मी विनिश्चय' और 'बालावतार तर्क' क लेखक राजाशाहीवासी आचार्य जेतारि, प्रमाण वार्तिकालकार टीका के लेखक जिन अपोह सिद्धि क्षणभग सिद्धि और स्थिर सिद्धि दूषण के लेखक रत्नकीर्ति तथा 'युक्ति प्रयोग' के लेखक रत्नवज्र। एकादश शतक भी वेदान्त दर्शन के लिए निष्फल ही प्रतीत होता है। आनन्दबोध भट्टारकाचार्य ही महती ख्याति के एकमात्र लेखक प्रतीत होते हैं जिनका काल सभवत एकादश शतक का पराध एव द्वादश शतक का पूर्वार्द्ध प्रतीत होता है। कुलार्क पडित के महाविद्या तर्क वाक्य सभवत एकादश शतक म किसी काल से प्रारम्भ हुए और जसा कि आगे आने वाले खड ■ बताया जाएगा कि चतुर्दश शतक तक वेदान्त के लेखको ने खडन के लिए उनका उल्लेख किया है। परन्तु यह निश्चित है कि वेदान्त के कई लेखको ने आनन्द बोध के पूर्व वेदान्त पर अवश्य ही कार्य किया होगा यद्यपि आज हम उनका ठीक ठीक पता नही लगा सकते। आनन्दबोध का अपने 'न्याय मकरन्द' मे कथन है कि उनका ग्रथ वेदान्त के सम्बन्ध ■ कई निबध-पुष्पाजलियो का सग्रह है। चित्सुख ने न्याय मकरन्द पर लिखी अपनी टीका (पृ० ६६) मे कहा है कि आनन्दबोध न ब्रह्म प्रकाशिका के लेखक के मत का खडन किया है। रत्नप्रभा पृथ्वी पर दिए गए गोविन्दानन्द क कथन के अनुसार त्रयोदश शतक के अमलानन्द मे प्रकटार्थ के लेखक का काल एकादश अथवा द्वादश शतक माना जा सकता है। वह शाकर भाष्य पर टीका थी तथा इसका पूरा नाम शारीरिक भाष्य प्रकटार्थ था और आनन्द ज्ञान ने (जिनका नाम जनार्दन भी था) इस ग्रथ की वेदान्ती व्याख्या के आधार पर अपना तत्त्वालोक लिखा। श्री त्रिपाठी अपनी तर्क सग्रह की भूमिका मे लिखते हैं कि इस

ग्रन्थ की एक प्रतिलिपि टेक्का मठ मे उपलब्ध है, परन्तु इस पुस्तक के लेखक को अद्यार पुस्तकालयस्थ एक पाडुलिपि से इसका अध्ययन करने का सौभाग्य मिला तथा उसके दार्शनिक विचारो का निम्न सक्षिप्त विवरण भिन्न खड मे दिया जाता है। अप्पय दीक्षित कृत 'सिद्धान्त लेश' मे प्रकटार्थ विवरण नामक टीका का पता चलता है। यद्यपि आनन्दज्ञान ने अपना 'तत्वालोक' 'प्रकटार्थ' के अनुसार लिखा फिर भी आनन्द ज्ञान के सामान्य सिद्धान्त उसके (प्रकटार्थ) लेखक के अनुरूप नही थे, आनन्द ज्ञान की स्थिति प्राय सर्वज्ञात्ममुनि जैसी ही थी तथा न तो उन्होने कई अज्ञानो को स्वीकार किया था और न उन्होने माया एव अविद्या म कोई भेद माना। परन्तु जहाँ तक सिद्धान्त लेश' म प्रकटार्थ के लेखक के बारे मे आए उल्लेखो के विवरणो से पता चलता है, 'प्रकटार्थ' के लेखक ने व्यक्तियो के अन्त करणो को पृथक् स्थान प्रदान किया है और सोचा कि जिस प्रकार जीव अन्त करण की अवस्थाओ मे शुद्ध चैतन्य के प्रतिबिम्ब द्वारा ज्ञाता रूप हो सकता है उसी प्रकार ईश्वर भी माया विकार के द्वारा सब कुछ जान लेने के कारण सवज्ञ है। विधि के स्वरूप के बारे मे 'प्रकटार्थ' के मुडक लेखक के विचार पहले ही बताए जा चुके हैं। परन्तु जिस ढग से आनन्दज्ञान ने मुडक पृ० १२ एव केन पृ० २३ म 'प्रकटार्थ' का उल्लेख किया है वह इस बात का द्योतक है कि या तो वह 'प्रकटार्थ' के लेखक थे और या उन्होने उस पर कोई टीका लिखी। परन्तु वह इस ग्रन्थ के लेखक नही हो सकते क्योकि उन्होने इस तत्वालोक' के लेखन में आदर्शरूप मानने का उल्लेख किया है अत यह अधिक सम्भव प्रतीत होता है कि उन्होने उस पर भाष्य लिखा होगा परन्तु यह आश्चयजनक है कि शकर के कई महत्वपूर्ण भाष्यो पर टीका लिखने वाले आनन्दज्ञान ने 'प्रकटार्थ' पर एक अन्य टीका लिखने का कष्ट किया जो स्वय शाकर भाष्य पर एक टीका ही है। अत यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उसका इतना सम्मान करने के कोई विशिष्ट कारण थे और यह उसके किसी विख्यात आचार्य की अथवा उनकी पैतृक शृ खला मे किसी एक की कृति हो। फिर भी यह नितान्त असम्भव है कि यह ग्रन्थ द्वादश शतक के मध्य के अन्तर मे लिखा गया हो।[1]

जैसा कि चित्सुख ने उल्लेख किया है गगापुरी भट्टारक का काल भी सम्भवत आनन्दबोध के पूर्व का ही हो। अत गगापुरी या तो दशम शतक के उत्तराध मे या एकादश शतक के पूर्वार्द्ध मे रहे होगे। यह असम्भव नही है कि वह आनन्दबोध के वरिष्ठ समसामयिक रहे हो। उनके ग्रथ 'पदार्थ-तत्व निर्णय' पर आनन्द ज्ञान ने टीका की है। उनके मत मे माया एव ब्रह्म, दोनो को जगत का कारण ही मानना चाहिए। जगत के सब प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान विषयो की सत्ता है। जीव उनके कारण होता है। जीव का कारण वे हैं तथा विद्यमान होने वाले पदार्थों के कोई भी

[1] त्रिपाठी द्वारा लिखित 'इट्रोडक्शन टू दी तक सग्रह' देखिए।

स्वरूप होने पर भी सत वही है। इस प्रकार जगत मे ब्रह्म अपरिवर्तनशील अथवा विवर्त कारण है परन्तु सब परिवर्तनशील सामग्रिया अथवा व्यक्तिगत सत्ताएँ भी किसी द्रव्य के विकार का परिणाम समझी जानी चाहिए और इस ग्रथ मे माया को जगत का परिणामी कारण समझना चाहिए। इस प्रकार ब्रह्म जगत का विवर्त-कारण एव माया उसका परिणामी कारण है। जगत दोनो रूपो को प्रकट करता है—अविकारी सत का रूप एव विकारी जडत्व का रूप, अत माया एव ब्रह्म दोनो दो प्रकार से जगत के उपादान कारण हैं (ब्रह्म माया च इति उभयापादानाम्, सत्व जाडय रूपोभयधर्मानुगति उपपत्तिश्च)। इस पुस्तक के 'तर्क विवेक एव सिद्धान्त विवेक' नामक दो अध्याय हैं जो क्रमश वैशेषिक तथा वेदान्त दर्शन का सक्षिप्त विवरण देते हैं। अभी अभी पदार्थ तत्व निर्णय म उल्लिखित गगापुरी का मत निश्चित रूप से आनन्दबोध द्वारा अपने प्रमाण माला पृष्ठ १६ मे निश्चित रूप से अस्वीकार किया गया प्रतीत होता है।

जब कुलार्क ने 'महाविद्यातकवाक्य' का प्रारम्भ किया और जयन्त तथा उदयन जैसे नवम् एव दशम् शतको के महान् न्याय लेखक दर्शन शास्त्र मे उत्साह पूर्वक तार्किक विधियो का समावेश कर रहे थे तथा भेद की परिभाषा देने का प्रयत्न कर रहे थे तब भेद को अनिर्वचनीय बताने वाले वेदान्त मत के प्रभाव का प्रभाव क्षीण हो रहा था, और सम्भवत एकादश शती के उत्तरार्द्ध अथवा द्वादश शताब्दि के पूर्वार्द्ध मे कृत 'प्रमाणमाला एव न्याय दीपावली' जस ग्रथ एकादश शतक अथवा द्वादश शतक के पूर्व भाग मे वेदान्ती विचारधारा को तार्किक आधार पर स्थिर रखने का क्षीण प्रयास कर रहे थे। केवल श्री हर्ष ने ही द्वादश शतक के तृतीय चतुर्थांश मे प्रथम बार नैयायिको के सम्पूर्ण तार्किक शास्त्र का खडन करने का प्रयत्न किया। श्रीहर्ष का कार्य त्रयोदश शतक के पूर्व भाग म चित्सुख कृत तत्व प्रदीपिका म, उसी शतक के उत्तर भाग मे आनन्दज्ञान कृत 'तर्क सग्रह' म एव सोलहवी शतक मे नृसिंहाश्रय मुनि कृत भेद धिक्कार म चलता रहा। नृसिंहाश्रम मुनि पर उसके शिष्य नारायणाश्रम ने भेद धिक्कार सत्क्रिया नामक अपना भाष्य लिखा जिस पर भेद धिक्कार सत्क्रियो ज्ज्वला नामक टीका लिखी गयी। तार्किक युक्तियो का प्रारम्भ शकर म उपलब्ध होता है और उससे भी आगे महान् बौद्ध लेखक नागार्जुन आर्यदेव चन्द्रकीर्ति आदि म मिल सकता है। परकालीन शताब्दियो के दौरान इन ग्रथो पर लिखी गई टीकाओ ने उन तार्किक युक्तियो मे रुचि को निरन्तर बनाए रखा। इन भाष्यकारो के नामो का उल्लेख श्री हर्ष चित्सुख एव आनन्दज्ञान पर लिखे गए अध्यायो म किया गया है।

इसके अतिरिक्त सुरेश्वर, पद्मपाद एव वाचस्पति के साथ प्रारम्भ होने वाली वेदान्त की व्याख्या शृखला अपर शतको म लिखी टीकाओ म तथा स्वतन्त्र ग्रथो मे

उत्साहपूर्वक चालू रखी गई। इस प्रकार त्रयोदश शतक के मध्य म वाचस्पति कृत भामती पर अमलानन्द ने अपने 'कल्पतरू" मे व्याख्या लिखी, एव इस "कल्पतरू" पर अप्पय दीक्षित ने सोलहवी शताब्दि के उत्तर भाग मे तथा सत्रहवी शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश मे टीका की, और लक्ष्मी नृसिंह ने अपने आभोग म सत्रहवी शताब्दी के अन्त मे अथवा अट्ठारहवी शताब्दी के प्रारम्भ मे टीका की।[1]

पद्मपाद कृत पचपादिका पर प्रकाशात्मन् ने तेरहवी शताब्दी मे अपने पचपादिका विवरण म टीका की, अखण्डानन्द ने चौदहवीं शताब्दी मे अपने "तत्वदीपन' म विद्यारण्य ने उसी शताब्दी मे अपने विवरण प्रमेय-सग्रह म आनन्दपूर्ण एव नृसिंह ने सोलहवी शताब्दी मे टीका लिखी। सुरेश्वर की शृंखला भी विद्यारण्य कृत सुरेश्वर के महावार्तिक के सार 'वार्तिकसार' एव उस पर लिखी गई टीकाओ मे तथा भाष्या में तथा षोडश शतक के तथा उनके बाद सक्षेप शारीरक' पर लिखी टीकाओ मे भी चालू रही। सर्वज्ञात्म मुनि के पूर्णाधिक सदृश दृष्टिकोण रखने वाले व्यक्तियो द्वारा भी कई स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे गए।[2]

सम्भवत मडन द्वारा प्रतिपादित दृष्टि सृष्टिवादी वेदान्त दर्शन क भी निस्सदेह कुछ अनुयायी थे परन्तु इस विचारधारा के कोई विशिष्ट लेखक हमे सोलहवी शताब्दी के प्रकाशानन्द एव उनक शिष्य नाना दीक्षित के अतिरिक्त कोई नही मिलते। वेदान्त कौमुदी एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसका उल्लेख अप्पय दीक्षित ने अपने सिद्धान्त लेश म किया है। इस ग्रन्थ मे ब्रह्म की सर्वज्ञता को इस तथ्य मे निहित माना है कि ब्रह्म क रूप म शुद्ध चैतन्य माया मे विद्यमान उन सब कार्यों को प्रकट करता है जो या तो वास्तव म निवृत्ति को प्राप्त होती है अथवा भविष्य के रूप म—समान्य विकृति को प्राप्त होते हैं अथवा भूत के रूप म परोक्ष विकृति को प्राप्त हो चुके हैं, और परमेश्वर ही जीवात्माओ म अपने आपको अतेस्थ साक्षी क रूप म प्रकट करता है जो उनके अज्ञान क विकारो तथा स्वप्नहीन निद्रा म उनक गूढ अज्ञान को प्रकट करता है। इस पुस्तक मे मौलिक प्रकृति के कई महत्वपूर्ण वेदान्ती मत व्यक्त किए गए है। रामाद्वय

---

[1] त्रिविक्रमाचार्य के पुत्र अल्लाल सूरि ने भामती पर भामती तिलक नामक टीका लिखी।

[2] सक्षेप शारीरक पर मुद्रित दो भाष्यो के अतिरिक्त वेदाध्यक्ष भगवत्पूज्यपाद के शिष्य वेदानन्द कृत सक्षेप शारीरक सम्बन्धोक्ति नामक अन्य ग्रन्थ है जिसम लेखक उसके श्लोको के पारस्परिक सम्बन्ध को सगत अर्थ देने के रूप मे बताने का प्रयत्न करता है। नृसिंहाश्रम ने भी तत्वबोधिनी नामक एक टीका सक्षेप शारीरक' पर लिखी। सर्वज्ञात्म भगवत ने पचप्रक्रिया नामक एक छोटा सा वेदान्त ग्रन्थ लिखा परन्तु यह सम्भव नहीं कि वह वही सर्वज्ञात्म मुनि है।

का यह ग्रन्थ वर्तमान लेखक को राजकीय प्राच्य पाडुलिपि सग्रहालय, मद्रास, म उपलब्ध हुआ तथा इसके दर्शन का विवेचन अलग खण्ड मे किया गया है। मध्व के अनुयायियो के बारे म इसम उपलब्ध उद्धरणो से यह अनुमान किया जा सकता है कि वेदान्त कौमुदी सम्भवत चतुर्दश शतक मे लिखी गई थी।

कुछ भी हो चतुर्दश शतक के बाद आने वाले सब शतको मे हम कई वेदान्त के लेखक उपलब्ध होते हैं, परन्तु प्रकाशानन्द, मधुसूदन सरस्वती कृत अद्वैत सिद्धि' (जिसमे उन्होने व्यासतीर्थ द्वारा षोडश शतक मे प्रस्तुत की गई अद्वैत वेदान्त के विरुद्ध आपत्तियो का खडन करने का प्रयत्न किया है) और विद्यारण्य कृत 'विवरण प्रमेय सग्रह और धर्म राजाध्वरीन्द्र कृत परिभाषा तथा रामकृष्ण कृत उसके भाष्य विशिष्ट अपवाद हैं जिनके अतिरिक्त कोई ऐसे लेखक नही हैं, जिन्होने वेदान्त की व्याख्या करने मे महान् मौलिकता का परिचय दिया। इन अपर काल के लेखको म अधिकाश अच्छे सकलनकर्त्ता थे जिन्होने सब प्रकार के अतीत कालीन वेदान्त सम्बन्धी विचारो का आदर किया एव उनको अपने ग्रन्थो म सुव्यवस्थित रूप म एकत्रित किया। तथापि इनम से अधिकाश लेखको पर पचपादिका विवरण का प्रभाव अधिक बलशाली है एव विवरण शाखा की विचारधारा ने सम्भवत इस पूरे काल म वेदान्त की विचारधारा मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण भाग लिया। इस वेदान्ती लखको का विशिष्ट क्षेत्रो मे ही उद्भव हुआ। ये क्षेत्र विशेष उन आचार्यों द्वारा अनुप्राणित हैं जिनका काय या तो उनके ही वश मे अथवा उनकी शिष्य परम्परा म चलता रहा। कुछेक उदाहरणो से यह स्पष्ट हो जायगा। जसे जगन्नाथाश्रम पन्द्रहवी शताब्दी के उत्तराध मे दक्षिणी भारत के महान् आचाय हुए उनके एक शिष्य नृसिहाश्रम थे जो सोलहवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध म वेदान्त के अत्यत विख्यात आचाय थे। सामान्य म एक ओर तो विवरण और दूसरी ओर श्रीहर्ष चित्सुख एव सवज्ञात्म मुनि उनके प्रेरणा के स्रोत थे। उन्होने कई वेदान्त ग्रन्थ लिखे, यथा अद्वैत दीपिका (उनके शिष्य नारायणाश्रम ने उस पर अद्वैत दीपिका विवरण भाष्य लिखा) अद्वैत पचरत्न अद्वैतबोधदीपिका अद्वैत रत्न कोष सक्षेप शारीरिक पर तत्व बोधिनी नामक टीका, तत्व विवेक (जिस पर नारायणाश्रम कृत तत्व विवेक दीपन एव ज्ञानेन्द्र सरस्वती के शिष्य अग्निहोत्र कृत तत्व विवेचन नामक दो भाष्य थे) पच पादिका विवरण प्रकाशिका भेद धिक्कार अद्वैत रत्न व्याख्यान (मल्लनारादीय कृत अद्वैत रत्न पर भाष्य) और वेदान्त-तत्व विवेक सवज्ञात्म मुनि के ग्रन्थ एव विवरण ग्रन्थ पर उनकी टीका करने तथा उनका भेद धिक्कार (श्रीहर्ष कृत तार्किक ग्रन्थ की पद्धति पर लिखा गया एक तार्किक वेदान्त पर ग्रन्थ) लिखने का सामर्थ्य उस युग की सहृतिवादी प्रवृत्ति का द्योतक है जिसमे शाखा के अन्तगत सारे व्यक्तिगत मतभेद वेदान्त के विभिन्न दृष्टिकोणो के रूप म स्वीकृत किए गए थे और जिसम लोगो की वेदान्त मे पूर्णरूपेण रुचि थी तथा जिन्होने वेदान्त विचार-

धारा का अपने ग्रन्थो में अंगीकार करने में कोई आनाकानी नहीं की। नृसिंहाश्रम के एक शिष्य धर्मराजाध्वरीन्द्र थे जिन्होने वेदान्त-परिभाषा, गंगेश-कृत तत्व चिंतामणि पर तत्व चूडामणि नामक टीका एवं शशधर आचार्य कृत न्याय सिद्धान्त पर भी टीका एवं पद्मपाद कृत पंच पादिका पर टीका लिखी। उनके पुत्र एवं शिष्य रामकृष्ण दीक्षित ने वेदान्त परिभाषा पर वेदान्त शिखामणि नामक एक टीका लिखी और ब्रह्म विज्ञान के शिष्य अमरदास ने रामकृष्ण कृत इस शिखामणि पर एक अन्य टीका लिखी।[1] रामकृष्ण ने रुचिदत्त कृत 'तत्व चिंतामणि प्रकाश' पर 'न्याय शिखामणि' नामक टीका एवं वेदान्त सार पर भी एक टीका लिखी। अन्य लेखक यथा काशीनाथ शास्त्री एवं ब्रह्मेन्द्र सरस्वती ने भी सत्रहवी शताब्दी मे धर्मराज कृत वेदान्त परिभाषा के अनुसार वेदान्त परिभाषा नामक अलग अलग ग्रन्थ लिखे। नृसिंह के प्रभाव क्षेत्र मे परन्तु रंगराज अध्वरी के गॉंव एवं मीमासक कुल मे अप्पय दीक्षित का जन्म हुआ जो सोलहवी एवं सत्रहवी शताब्दियों के विख्यात आचार्यों में एक थे। उनके सब ग्रन्थो का उल्लेख उन्हें समर्पित किए गए खंड मे है। पुनश्च, वह भट्टो जी दीक्षित के आचार्य थे जिन्होने व्याकरण एवं स्मृति पर कई ग्रन्थो के अतिरिक्त तत्व कौस्तुभ तथा 'वेदान्त तत्व दीपन व्याख्या' नामक वेदान्त पर दो महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। वेदान्त तत्व दीपन व्याख्या नारायणाश्रम (नृसिंहाश्रम के शिष्य) कृत वेदान्त तत्व विवेक पर लिखे तत्व दीपन भाष्य पर टीका है।

इन नारायणाश्रम ने भी नृसिंहाश्रम कृत भेद धिक्कार पर भेद-धिक्कार सत्क्रिया नामक एक अन्य टीका भी लिखी थी और आगे चलकर अट्ठारहवी शताब्दि में राम भद्राश्रम एवं नागेश्वर के शिष्य नरसिंह भट्ट ने नृसिंह-कृत 'भेद धिक्कार' पर 'अद्वैत चन्द्रिका' नामक टीका लिखी। भट्टो जी दीक्षित के पुत्र भानु जी दीक्षित ने अमरकोष की टीका (व्याख्यासुधा अथवा सुबोधिनी) की। भट्टो जी केवल 'अप्पय' के ही नहीं बल्कि नृसिंहाश्रम मुनि के भी शिष्य थे। भट्टो जी के कनिष्ठ भ्राता एवं शिष्य रंगोजी भट्ट ने अद्वैत चिन्तामणि एवं अद्वैत शास्त्र सारोद्धार नामक दो ग्रन्थ न्यूनाधिक रूप से उन्ही दिशाओं मे लिखे जिनमे निम्न विषयो का समावेश था वैशेषिक पदार्थों का खंडन आत्मा के स्वरूप का निर्धारण प्रतिबिम्बवाद के सिद्धान्त एवं अज्ञान के स्वरूप का निर्धारण जगत् अवभास के मिथ्यात्व के प्रमाण, तथा ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण तथा ब्रह्मत्व की उपलब्धि कैसे हो। उनके पुत्र कोंड भट्ट मुख्य रूप से व्याकरणाचार्य थे जिन्होने वार्तिक पर भी कुछ लिखा। पुनश्च, विश्वेश्वर सरस्वती के (सर्वज्ञ विश्वेश एवं गोविंद सरस्वती के शिष्य के शिष्य) शिष्य मधुसूदन सरस्वती

---

[1] नारायण दीक्षित के पुत्र पेट्टा दीक्षित ने भी वेदान्त परिभाषा पर वेदान्त परिभाषा-प्रकाशिका नामक टीका लिखी।

का जीवन काल सोलहवी शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। सम्भवत वह नृसिंहाश्रम के प्रभाव में थे जो मधुसूदन सरस्वती के आचार्य माधव सरस्वती को पराजित करने के लिए विख्यात है। मधुसूदन के तीन शिष्य थे, पुरुषोत्तम ने मधुसूदन कृत सिद्धान्त तत्व बिन्दु नामक भाष्य पर सिद्धान्त तत्व बिन्दु टीका लिखी।[1] दूसरे बाल भद्र एव शेष गोविन्द थे (जिनमे से द्वितीय ने शंकर कृत सर्व दर्शन सिद्धान्त सग्रह पर सर्व सिद्धान्त रहस्य टीका नामक ग्रन्थ लिखा)। पुनश्च, वेदान्त पर सर्वाधिक लोकप्रिय एव सुपठित सहतियादी ग्रन्थ वेदान्त सार के लेखक सदानन्द नृसिंहाश्रम के समसामयिक थे, नृसिंह सरस्वती ने १५८८ म वेदान्त सार पर सुबोधिनि नामक टीका लिखी। स्वानुभूमि प्रकाश के लेखक देवेन्द्र भी नृसिंहाश्रम के समसामयिक हैं। यह पहले ही बताया जा चुका है कि प्रकाशानन्द शायद नृसिंहाश्रम के समकालीन थे यद्यपि वह उनसे प्रभावित प्रतीत नही होते। इससे यह पता चलता है कि सोलहवी एव सत्रहवी शताब्दियो के कुछ अग्रगण्य वेदान्त लेखक किस प्रकार वेदान्त क्षेत्र मे एक साथ उद्भूत हुए जिनमे से कई परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से नृसिंहाश्रम और अप्पय दीक्षित से प्रभावित थे।

लेखको के अन्य मडल की ओर जाने पर हम देखते हैं सत्रहवी शती के उत्तरार्धकालीन भास्कर दीक्षित ने अपने आचार्य कृष्णानन्द कृत सिद्धान्त सिद्धाजन पर रत्न टीका लिखी। सिद्धान्त वेदान्त पर एक उत्कृष्ट श्रेणी का सहतिवादी ग्रन्थ है जिसमे धर्म विचार एव ब्रह्म विचार के भेद तथा विधि के मीमासा सिद्धान्त एव ब्रह्म ज्ञान की आवश्यकता के बारे में अधिकांश उत्कृष्ट वेदान्त सिद्धान्तो का समावेश है, इसमे अनेक मीमासा सिद्धान्तो को प्रस्तुत किया गया है और कई वेदान्त सबधी उपयुक्त विषयो के साथ उनके सम्बन्ध पर विचार किया गया है। ज्ञान एव अविद्या के स्वरूप पर भी यह ग्रन्थ अपने विचार प्रस्तुत करता है। तथापि यह विवरण के प्रभाव से अधिकांशत स्वतत्र प्रतीत होता है एव यह प्रत्यक्षीकरण के सिद्धान्तो अथवा अन्त करण और उसकी वृत्ति के स्वरूप के सिद्धान्तो म नही पडता है। इस प्रकार नृसिंह अथवा अप्पय के परम्परा मे सोलहवी शती म रचित अधिकांश ग्रन्थो से यह ग्रन्थ अत्यन्त भिन्न है। कृष्णानन्द सम्भवत सत्रहवी शती के मध्य म रहे। उनके आचार्य रामभद्रानन्द थे। रामभद्रानन्द को वेदान्त नय भूषण के लेखक स्वयप्रकाशानन्द ने शिक्षा दी। वेदान्तनयभूषण वाचस्पति मिश्र कृत भामती टीका के आधार पर लिखी ब्रह्म सूत्र पर एक टीका है। इन स्वयप्रकाश को सभवत उसी शती के उन स्वयप्रकाश से भिन्न समझना चाहिए जो कैवल्यानन्द योगीन्द्र के शिष्य थे एव लक्ष्मीधर कवि कृत 'अद्वैतमकरन्द' पर रसाभिव्यंजिका टीका के लेखक थे।

---

[1] ब्रह्मानद ने सिद्धान्त बिन्दु पर 'सिद्धान्त बिन्दु टीका' नामक एक अन्य टीका लिखी।

रामभद्रानन्द के आचार्य रामानन्द सरस्वती थे जिन्होंने 'सिद्धान्त चन्द्रिका' नामक ग्रंथ लिखा और जिस पर 'साम्राज्य सिद्धि' एवं उसकी टीका कैवल्य कल्पद्रुम के लेखक, सर्वज्ञ सरस्वती के शिष्य के शिष्य तथा रामचन्द्र सरस्वती के शिष्य गंगाधरेन्द्र सरस्वती (१८२६ ई० प०) ने लिखी। प्रकाशानन्द शांकर शारीरिक भाष्य पर लिखी गई 'ब्रह्म विद्याभरण'' नामक टीका के लेखक अद्वैतानंद के शिष्य थे। अद्वैतानंद 'अन्वय प्रकाशिका' (सर्वज्ञात्म मुनि कृत संक्षेप शारीरिक पर टीका) के लेखक रामतीर्थ के शिष्य थे तथा नृसिंहाश्रम के आचार्य जगन्नाथाश्रम के समकालीन कृष्णतीर्थ के शिष्य थे। रामतीर्थ कृत 'अन्वय प्रकाशिका' में मधुसूदन कृत 'अद्वैत सिद्धि' का ज्ञान होने का पता चलता है और इस प्रकार उनकी काल गणना सत्रहवीं शताब्दि के मध्य में की जा सकती है। पुनः स्वयंप्रकाशानन्द के शिष्य 'अद्वैत चिंता कौस्तुभ' अथवा 'तत्वानुसंधान' के लेखक महादेवानन्द अथवा महादेव वेदान्ती थे। यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि सत्रहवीं एवं पूर्व अट्ठारहवीं शती के ये लेखक वेदान्ती विचारधारा के विभिन्न मण्डलों में समृद्ध हुए जहाँ वेदान्त की विवरण शाखा के लेखकों की अपेक्षा वाचस्पति, सुरेश्वर और सर्वज्ञात्म मुनि का अधिक प्रभाव था। अद्वैत ब्रह्म सिद्धि के लेखक सदानंद काश्मीरक एक अन्य सहृतिवादी वेदांत लेखक थे। जिनका काल अट्ठारहवीं शती का पूर्व भाग है। 'अद्वैत ब्रह्म सिद्धि' अद्वैताचार्यों की विभिन्न शाखाओं में वर्णित वेदान्त सिद्धान्तों की मुख्य-मुख्य बातों की व्याख्या करने वाला एवं सुलभ शैली में लिखित सम्पूर्ण महत्वपूर्ण वेदान्त सिद्धान्तों का एक उत्कृष्ट सार ग्रंथ है। नरहरि कृत 'बोध सार' अट्ठारहवीं शती के अंत की महत्वपूर्ण कृतियों में से एक मानी जा सकती है।[1]

---

[1] सत्रहवीं से उन्नीसवीं शताब्दियों में लिखित कई अन्य महत्वपूर्ण वेदान्त ग्रंथ भी गिनाए जा सकते हैं—इस प्रकार नृसिंहाश्रम के पौत्र तथा सर्वज्ञनारायण के पुत्र लोकनाथ ने द्वैतवादियों के दृष्टिकोण का खंडन करने के लिए तीन अध्यायों में अद्वैत मुक्तासार नामक एक छंद ग्रंथ तथा उस पर कान्ति नामक टीका की रचना की। ब्रह्मानंद सरस्वती ने अद्वैत सिद्धान्त विद्योतन लिखा। योगानन्द के शिष्य गोपालानंद सरस्वती ने अखण्डात्मक प्रकाशिका' लिखी। विश्वेश्वराश्रम के शिष्य, शिवराम के शिष्य हरिहर परमहंस ने अनुभव विलास लिखा, और उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ के ब्रह्मानंद के शिष्य वामन ने बारह अध्याय में ब्रह्मानन्द विलास नामक एक महान् ग्रंथ लिखा। इस सम्बन्ध में कतिपय वेदान्त तर्क विद्या के उन महत्वपूर्ण ग्रंथों का उल्लेख करना असंगत नहीं होगा जो अन्य दार्शनिक दृष्टिकोणों का खंडन करते हुए न्यूनाधिक उन तार्किक लेखों के आधार पर लिखे गए हैं जिनका प्रस्तुत ग्रंथ में संकेत है। इस प्रकार श्रीहर्ष-कृत खंडन खंड खाद्य के टीकाकार आनन्दपूर्ण (१६०० ई० प०) ने न्याय मीमांसा और वैशेषिक मतों का खंडन

विशिष्ट क्षेत्रों मे आचार्य एवं शिष्यों के सम्बन्ध के बारे में जो संकेत किया गया है वह पूर्वतर लेखकों के सम्बन्ध में भी ठीक उतरता है यद्यपि पूर्वतर पुस्तकों की अनुपलब्धि के कारण एवं प्राचीनतर परम्पराओं के पद चिह्न अधिकाधिक क्षीण पड़ने के कारण इनका पता लगाना अत्यन्त कठिन है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि चौदहवीं शती में विद्यारण्य अमलानन्द के समकालीन थे क्योंकि वे दोनों क्रमश शंकरानन्द एवं अनुभवानंद के शिष्य थे, और ये दोनों आनन्दात्मन् के शिष्य थे। शंकरानंद 'गीता तात्पर्य बोधिनी' एवं विभिन्न उपनिषदों तथा 'उपनिषद्रत्न' नामक उपनिषद् सार के भी लेखक थे। लेकिन अमलानन्द के न केवल अनुभवानन्द ही अपितु सुखप्रकाश मुनि भी आचार्य थे जो चित्सुख के शिष्य थे जो स्वयं गौडेश्वर आचार्य के शिष्य थे। (जिनका नाम ज्ञानोत्तम भी था)।

वेदान्त का आत्म-विचार एवं बौद्ध अनात्मवाद का सिद्धान्त

शंकर द्वारा बौद्ध दर्शन की आलोचना का सर्वाधिक महत्वपूर्ण विषय विभिन्न मनोवैज्ञानिक अंगों को एकीकृत करने वाले अथवा अनुभवों के भोक्ता एवं संपूर्ण विचारों तथा क्रियाओं के नियन्त्रक के रूप में व्यवहार करने वाले चिरस्थायी आत्मा के निषेध के विरुद्ध नियोजित है। बौद्ध कथित युक्ति के अनुसार इन्द्रिय ज्ञानोत्पत्ति के लिए रूप अथवा शब्द के ज्ञान की तरह रूप के इन्द्रिय प्रदत्त विषय के अतिरिक्त उसके अनुरूप इन्द्रिय शक्ति आवश्यक होती है जबकि इस कार्य सम्पादन के लिए आत्मा का

करते हुए चार प्रकरणों में न्याय चन्द्रिका' लिखी सम्भवत उसी शती वाले नारायण ज्योतिष के शिष्य आनन्दानुभव ने पदार्थ तत्व निर्णय नामक उसी प्रकार का ग्रंथ लिखा सम्भवत तेरहवीं शती में रहने वाले ज्ञानघन ने तत्व शुद्धि नामक सतीस प्रकरणों वाला विशद तार्किक ग्रंथ लिखा सम्भवत सोलहवीं शती में रहने वाले श्रीनिवास यज्वन् ने विशिष्टाद्वैत एवं द्वैत दृष्टिकोणों का खण्डन करते हुए छब्बीस प्रकरणों में वादावली नामक ग्रन्थ लिखा भवानीशंकर ने भी इसी प्रकार का सिद्धान्त दीपिका नामक तार्किक ग्रन्थ लिखा सहतिवादी अथ लोकप्रिय वेदान्ती ग्रन्थों के निम्न उदाहरण दिए जा सकते है यथा —

वसुदेवेन्द्र कृत 'तत्व बोध' स्वयंप्रकाश योगीन्द्र कृत 'गुणत्रय विवेक,' रामचन्द्रयोगी कृत जगत् मिथ्यात्व दीपिका शिवानन्दयती कृत आनन्द दीप, (जिस पर रामनाथ ने 'आनन्द दीप टीका' लिखी थी) योगीश्वर कृत स्वात्म योग प्रदीप (जिस पर अमरानन्द ने टीका लिखी थी) तथा वेदपंडित कृत वेदान्त हृदय' (गौडपाद एवं योग वाशिष्ट के आधार पर)।

अस्तित्व आवश्यक है।[1] वसुबन्धु के विचारानुसार इन्द्रिय-प्रदत्त एवं समूहीकृत विषय म उन मनोवैज्ञानिक तत्वो का अनुभव होता है जिन्हें स्कन्ध कहते हैं। जिसे आत्मा कहा जाता है वह वस्तुत मनोवैज्ञानिक तत्वो के समुदाय प्रज्ञप्ति-सत् मात्र के अतिरिक्त और कुछ नही है। वह यथार्थ-तत्व मनोवैज्ञानिक तत्वो का समुदाय है। यदि प्रतीयमान आत्मा एव मनोवैज्ञानिक तत्व मे रूप और शब्द के समान भावान्तर होता तो उसे पुद्गल माना जाता, परन्तु यदि इन मनोवैज्ञानिक तत्वो से इसका भेद वसा ही होता जैसाकि क्षीर के सघटका का क्षीर की प्रतीति से भेद है तो आत्मा को केवल प्रज्ञप्ति सत् वाला ही माना जाएगा।[2]

वस्तुत आत्मा की मनोवैज्ञानिक तत्वा से भिन्नता केवल प्रज्ञप्ति सत् ही है, जिस प्रकार यद्यपि क्षीर अपने सारभूत अश तत्वा के समुदाय से भिन्न अस्तित्व वाला प्रतीत होता है फिर भी वह अपने सारभूत अश तत्वा के निश्चित प्रकार के समुदाय के अतिरिक्त वस्तुत कुछ भी नही है। उसी प्रकार भिन्न स्वतन्त्र सत्ता के रूप मे भासित होने पर भी आत्मा स्कन्ध समुदाय के अतिरिक्त कुछ नहीं है। तथापि वात्सीपुत्रिया के विचार मे लक्षण वैभिन्य के कारण स्कन्धो की पुद्गल से कुछ भिन्नता है। वात्सीपुत्रीय शाश्वत आत्मा का निषेध करते हैं परन्तु उनका स्कन्धा के भिन्न एव स्वतन्त्र पदार्थ के रूप मे क्षणिक पुद्गल मे विश्वास है। जिस प्रकार वह्नि उपाधि-युक्त ईंधन से भिन्न होता है उसी प्रकार पुद्गल उसे कहते हैं जो प्रज्ञप्ति सत् मे एक निर्दिष्ट समय म स्कन्धा द्वारा उपाधि युक्त होता है।[3] फिर भी वसुबन्धु ऐसे पुद्गल के विरुद्ध युक्ति देते हुए कहते हैं कि इस प्रकार के पुद्गल का स्वीकार करना निष्प्रयोजन है। केवल शून्य मे वर्षा एव धूप निष्प्रभावशाली होते हैं उनका उपयोग तो केवल चम को ही है, यदि पुद्गल चम की तरह अनुभव के मूल्य को निर्धारित करता है तो इसे बाह्य अग के रूप में स्वीकार करना होगा यदि वह शून्य देश की तरह है तो

---

[1] यहाँ अभिधम कोष मे दी गई वसुबन्धु की उन युक्तिया का अनुसरण किया गया है जा पुद्गल विनिश्चय' नामक प्रा० शेरवास्की कृत उस ग्रन्थ के आठवें प्रकरण के परिशिष्ट के अनुवाद एव विश्वभारती बगला से ली गई यशोमित्र कृत उसकी टीका की नेपाली पाडुलिपि पर आधारित है।

[2] यदि यथा रूपादि शब्दाद्भेदिर्भावान्तरम् अभिप्रेयते पुद्गल इति अभ्युपगता भवति भिन्न लक्षण हि रूप शब्दादीत्यादि क्षीरादिवत् समुदायश्चेत् प्रज्ञप्ति । अभिधम-कोष व्याख्या, विश्व भारती पाँडुलिपि पृष्ठ ३३७

[3] Stcherbatsky कृत पुद्गल विनिश्चय का अनुवाद Bulletin de l Academic des Science de Russia पृ० ८३०
तिब्बती भाषा से अनूदित वसुबन्धु का मही पाठ निम्न है
गृहीत प्रत्युत्पन्नाध्यात्म-स्कन्धमुपादाय पुद्गल प्रज्ञप्ति । वही, पृष्ठ ६५३

इसे स्वीकार करने में किसी भी हेतु की पूर्ति नहीं होगी।[1] कुछ भी हो वात्सीपुत्रिया ने सोचा कि जिस प्रकार ईंधन अग्नि को उपाधियुक्त करता है उसी प्रकार पुद्गल को उपाधियुक्त करने वाला स्कन्ध है। इस उपाधिकरण से वात्सीपुत्रिया का तात्पर्य यह है कि पुद्गल एक प्रकार से आश्रयभूत और सहभूत हैं।[2] पुद्गल का व्यक्तिगत तत्वों द्वारा उपाधियुक्त होने का तात्पर्य यह है कि स्कन्धों की उपस्थिति में पुद्गल की उपस्थिति है।[3] परन्तु वसुबन्धु का आग्रह है कि व्यक्ति के प्रज्ञप्ति सत् को प्रतिष्ठित करने में इस प्रकार की उपाधि मात्र पर्याप्त नहीं है, क्योंकि रूप भी दृष्टि, प्रकाश एवं अवधान द्वारा इस प्रकार उपाधियुक्त होता है कि इनकी उपस्थिति में भी प्रकाश का प्रत्यक्षीकरण होता है, परन्तु क्या कोई इस आधार पर रूप के अस्तित्व को प्रज्ञप्ति सत् मान सकता है? और क्या प्रज्ञप्ति तत्वों का अलग पदार्थ माना जा सकता है? पुनश्च यह पूछा जा सकता है कि यदि ऐसे किसी व्यक्ति का अस्तित्व हो तो उसका अनुभव कैसे होता है क्योंकि यदि इसका अनुभव किसी एक इन्द्रिय द्वारा होता है तो यह इन्द्रिय प्रदत्त विषय होगा क्योंकि इन्द्रियाँ केवल अपने इन्द्रिय प्रदत्त विषयों को ही समझ सकती हैं एवं पुद्गल इन्द्रिय प्रदत्त विषय नहीं है। अतः यथा क्षीर रूप रस इत्यादि समुदित इन्द्रिय प्रदत्त विषयों के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं उसी प्रकार तथाकथित पुद्गल स्कन्धों के अतिरिक्त कुछ नहीं है।[4] वात्सीपुत्रीय यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि चूंकि स्कन्ध इन्द्रिय प्रदत्त विषय प्राप्ति पुद्गल के अनुभव के कारण हैं अतः पुद्गल का इन कारण तत्वों से तादात्म्य नहीं हो सकता जो अनुभव के कारण हैं यदि ऐसा होगा तो अपने इन्द्रिय प्रदत्त विषयों के अनुभव के कारण प्रकाश नेत्र अवधान इत्यादि भी पुद्गल से अभिन्न समझे जाएंगे।[5] परन्तु यह मान्य नहीं है ध्वनि के प्रदत्त विषय एवं वर्ण सदा पुद्गल से भिन्न समझे जाते हैं तथा प्रत्येक व्यक्ति सदैव पुद्गल से इन्द्रिय प्रदत्त विषयों की भिन्नता प्रदर्शित करता।

---

[1] वात्सीपुत्रीयाणां तीर्थिक दृष्टि प्रसज्यते निष्प्रयोजनत्वञ्च।
वर्णितपाभ्यां किं व्याप्नवश्चमण्यस्ति तयो फलम्।
धर्मोपमश्चेन् स नित्य असतुल्यश्चेद्सत्फल॥ यशोमित्र कृत भाष्य का पृष्ठ ३३८।

[2] आश्रय भूता सहभूतश्च। वही

[3] रूपस्यापि प्रज्ञप्ति वक्ता चक्षुरादिषु सत्सुतस्योपलम्भात्
तानि चक्षुरादीनि उपादाय रूप प्रज्ञाप्यते। वही

[4] यथा रूपादियेव समस्तानि समुदितानि क्षीर मिति उदक इति वा प्रज्ञाप्यते, तथा स्कन्धाश्च समस्ता पुद्गल इति प्रज्ञाप्यत इति सिद्धम्। यशोमित्र कृत भाष्य २८, पृष्ठ ३,६ अ।

[5] यथा रूप पुद्गलोपलब्धे कारणं भवति स चतेभ्योऽन्यो न वक्तव्य आलोक चक्षुमनस्कारा अपि रूपोपलब्धेः कारणं भवति तदपि तद् अभिन्न स्वभाव पुद्गल प्राप्नोति। वही॥

है और कहता है—'यह ध्वनि है' 'यह वर्ण है 'यह व्यक्ति है ।'[1] परतु जसे रूप ध्वनि से भिन्न है वसे पुद्गल एव स्कन्धो के वैभिन्य का अनुभव नही होता। वैभिन्य का सिद्धान्त क्षण के वभिन्य के सिद्धान्त मे निहित है, रूप का शब्द से पृथक्त्व का कारण इसका पृथक क्षण मे अनुभव है जबकि पुद्गल एव स्कन्ध पृथक क्षणो म अनुभूत नही होते।[2] परतु प्रत्युत्तर मे यह तर्क दिया जाता है कि इन्द्रिय प्रदत्त विषय एव पुद्गल न तो भिन्न है और न अभिन्न है। अत अनुभव म उनकी प्राप्ति भी न तो भिन्न है और न अभिन्न।[3] परतु वसुबन्धु का कथन है कि यदि इस सिद्धान्त मे यह दृष्टिकोण अपनाया जाय तो जहाँ कही भी समुदाय होगा उन सब सिद्धान्तो मे इसी सिद्धान्त को अपनाना पडेगा।[4] इसके अतिरिक्त विभिन्न इन्द्रियो के विशिष्ट क्षेत्र हैं और उनके साथ क्रिया करने वाले मनस् का क्षेत्र भी उनके द्वारा दिए गए विषयो तक ही सीमित है, अत ऐसी कोई विधि नही है जिससे तथाकथित पुद्गल का अनुभव हो सकता है। अजित उपदेश मे बुद्ध ने कहा बताते है, दृष्टि-चैतन्य दर्शनेन्द्रिय एव दृष्ट विषय पर आधारित है। जब ये तीनो (विषय इन्द्रिय एव चैतन्य) सयुक्त होते हैं तब सवेदना उत्पन्न होती है। इसके साथ भाव, प्रतिबिम्ब (यह सिद्धान्त कि इन्द्रियो द्वारा अनुभूत जगत् मे प्रथम अनुभूत विषय चेतनातीत विषय का प्रतिबिम्बित करता है) तथा सकल्प आते हैं। जब हम किसी प्राणी के सम्बन्ध मे कुछ कहते हैं तो उसका तात्पर्य इतना ही होता है। उनको (पच तत्व को) विभिन्न नाम दिए गए हैं यथा चेतन प्राणी, मनुष्य मनु की सतान मानव, बालक, व्यक्ति जीवन आत्मा। यदि उनके सबध म यह कहा जाए कि 'वह स्वय अपने नेत्रो से देखता है तो यह मिथ्यारोपण होगा (क्योकि वस्तुत कोई ऐसा प्राणी नही है जिसके स्वय के अपने नेत्र हो)। सामान्य जीवन मे उनके बारे म ऐसे कथन प्रचलित हैं यथा इन माननीय पुरुष का उक्त नाम है, यह अमुक जाति तथा अमुक परिवार के हैं, ये अमुक भोजन करते हैं यह उन्हें अच्छा लगता है उनकी अमुक उम्र हो गई है, वह अमुक वर्षों तक जीवित रहा है वह अमुक आयु म मर गया है। बन्धुओ! अत ये शब्द मात्र हैं, प्रचलित पद सज्ञाएं हैं।

वे शब्दावलिय हैं (परतु सत्य नही)।
यथार्थ तत्व काल–बद्ध नही होते,

---

[1] वही पृष्ठ १३६ जी०
[2] स्वलक्षणादपि क्षणान्तरम् यदिति उदाहार्यम्। वही
[3] यथा रूप-पुद्गलयोरन्यानन्यत्व अवक्तव्य एव तदुपलब्ध्यो अपि अन्यानन्यत्वम् अवक्तव्यम्। वही॥
[4] योऽयम् सिद्धान्त पुद्गल एव वक्तव्य सोऽयम् भिद्यते सस्कृतमपि अवक्तव्यम् इति कृत्वा। वही॥

पारस्परिक आधारित आभासों में
इन्हें संयुक्त करने वाला चेतनत्व है।[1]

तथापि वात्सीपुत्रीय भार हार सूत्र का उल्लेख करते हैं जिसमें बुद्ध ने कहा बताते हैं, भन्तायो ! मैं तुम्हारे समक्ष भार (जीवन के) और इसके अतिरिक्त दायित्व को उठाना इससे मुक्ति पाना तथा इसका वाहक कौन है–इस बात की व्याख्या करूंगा–यह भार क्या है ? पंच तत्व समुदाय व्यक्तिगत जीवन के अधिष्ठान। इस भार का वहन करने का क्या तात्पर्य है ? कई विषयों के उपभोग करते हुए वासनामय कामनाओं से युक्त निरन्तर जीवन के लिए तृष्णा की शक्ति। भार को दूर करने का तात्पर्य क्या है ? यह वासनामय कामनाओं तथा कई विषयों के उपभोग से युक्त जीवित रहने की इच्छा का सम्पूर्ण रूप में बहिष्कार करना, प्रत्येक स्थिति में इससे छुटकारा पाना, इसका शमन, इसका अन्त इसका दमन इससे विरक्ति, इसका नियन्त्रण, इसका लोप है। वहनकर्त्ता कौन है ? हमें उत्तर देना होगा यह अमुक सन्त युक्त अमुक जाति अमुक परिवार का, अमुक भोजन करने वाला इन पदार्थों में सुख अथवा दुःख प्राप्त करने वाला अमुक आयु का मानवीय व्यक्ति जो अमुक आयु में उस आयु को प्राप्त करके पंचत्व को प्राप्त हो जाएगा।[2] परन्तु वसुबन्धु का कथन है कि भार हार का कोई नित्य आत्मा अथवा वास्तविक व्यक्ति नहीं समझना चाहिए। भार की संज्ञा उसे दी जाती है जो पूर्ववर्ती क्षण के तत्वों के क्षणिक स्कन्ध हैं और तुरन्त अनुवर्ती स्कन्ध भार हार कहलाते हैं।[3]

वात्सीपुत्रीय पुनः तर्क प्रस्तुत करते हैं कि क्रियाशीलता में क्रियाशील कर्त्ता निहित है और चूंकि ज्ञान एक कर्म है अतः उस ज्ञान में ज्ञाता निहित है। जिस प्रकार देवदत्त की गतिशीलता में वह देवदत्त निहित है जो गमन करता है। परन्तु वसुबन्धु इस प्रकार के तर्क का उत्तर यह देते हैं कि इस प्रकार का एकत्व कहीं भी नहीं है। देवदत्त जैसा कोई व्यक्ति नहीं है जिसे हम देवदत्त कहते हैं वह तत्वों का समुदाय है। दीप प्रकाश कई चमकीली शिखाओं की शृंखला की अविच्छिन्न उत्पत्ति की सामान्य प्रतीकात्मक संज्ञा है। जब यह उत्पत्ति अपना स्थान परिवर्तन करती है तब हम कहते हैं कि प्रकाश गतिशील हुआ है। उसी प्रकार चेतनत्व भी चेतन क्षणों की शृंखला का प्रचलित नाम है। जब वह अपना स्थान परिवर्तन करता है (अर्थात्

---

[1] Deli Academie des Sciences de Russie बुलेटिन में Stcherbatsky कृत अनुवाद।

[2] Stcherbatsky कृत अनुवाद।

[3] यशोमित्र का कथन है कि स्कन्धों के समुदाय से भिन्न कोई भार हार नहीं है–भारादानवत् न स्कन्धेभ्योऽर्थान्तरपुद्गल। अभिधम्म-कोष व्याख्या विश्वभारती। एम० ए०

जब अन्य विषयक तत्व से सयुक्त होकर प्रकट होता है) तब हम कहते हैं कि उसे विषय का बाध होता है और उसी ढग से भौतिक तत्वो के अस्तित्व की बात करते हैं। हम कहते हैं कि 'जड पदार्थ उत्पन्न होता है, इसका अस्तित्व है परन्तु सत्ता एव सत्तामय मे कोई भेद नही है तो यही बात चेतनत्व के सम्बन्ध म सत्य है (वहाँ स्वय चेतनत्व के गतिशील शिखा के अतिरिक्त ऐसा कुछ भी नही है जो जाता हो)।[1]

यह ज्ञात करना सुलभ है कि शाकर वेदान्त दर्शन द्वारा प्रस्तुत चेतनत्व का विश्लेषण इससे पूर्णतया भिन्न है। वेदान्त के मत मे चेतनत्व का तथ्य अन्य सब सत्ता से सवथा भिन्न है। जबतक किसी ज्ञान की यथा प्रकाश की विद्यमानता इन्द्रिय विषय सन्निकर्ष इत्यादि की पूर्ववर्ती भौतिक अथवा दैहिक अवस्थाओ का समुदाय तयार किया जाता है तबतक ज्ञान नही होता एव किसी विशिष्ट क्षण मे ही विषय ज्ञान उद्भूत होता है। यह ज्ञान अवस्थाओ के तथाकथित समुदाय का सगठित करने वाले प्रत्येक तत्व और सब तत्वो से अत्यन्त भिन्न होता है कि यह किसी भी अर्थ मे अवस्थाओ के समुदाय का परिणाम नही कहा जा सकता। अत चेतनत्व किसी वस्तु का परिणाम न होने व किन्ही सघटको म विश्लेष्य न होने के कारण क्षणिक स्फुरण भी नही माना जा सकता। अहेतुक, अनिर्मित एव अनुत्पादित, यह नित्य, अनन्त तथा असीम है। चेतनत्व का अन्य सब वस्तुओ से वैभिन्य का मुख्य विषय उसके स्वय ज्योति का तथ्य है। चेतनत्व मे कोई जटिलता नही है। यह अतीव सरल है एव इसका एकमात्र सार बल अथवा लक्षण शुद्ध स्वत प्राकाश्य है। चेतनत्व का तथाकथित क्षणिक स्फुरण इस तथ्य क कारण नही है कि यह क्षणिक है एव इसका अस्तित्व होता है और पश्चात् क्षण म ही नष्ट हो जाता है अपितु इस तथ्य के कारण है कि इसके द्वारा अभिव्यक्त विषय समय समय पर इसी के द्वारा प्रतिबिम्बित होते हैं। परन्तु चेतनत्व सदैव स्वय म स्थिर एव अविकार्य है। इस चेतनत्व का अपरोक्षत्व इस तथ्य से सिद्ध होता है कि यद्यपि अन्य सब कुछ इसके सम्पर्क द्वारा ही प्रकट होता है जबकि यह स्वय अनुमान अथवा किसी अन्य विधि द्वारा कदापि वर्णित सूचित अथवा अभिव्यक्त नही होता बल्कि यह सदव स्वत अभिव्यक्त एव प्रामाण्य है। ज्योही समस्त विषय इसक सन्निकर्ष म आते हैं त्योही वे अपरोक्ष रूप म प्रकट हो जाते हैं। सम्विद् अद्वितीय है। यह न तो अपने विषयो स भिन्न है और न चेतनत्व और उनके समुदाय मे सारभूत अश के तत्व के रूप मे उनके समान स्तर पर ही है। चेतनत्व के विषय अथवा चेतनत्व म अभिव्यक्त सब कुछ सम्विद् के सन्निकर्ष म आते हैं और स्वय सम्विद् की तरह प्रतीत होते हैं। यह प्रतीति ऐसी है कि जब वे सम्विद् के सन्निकर्ष मे आते हैं तब वे स्वय चैतन्य की तरह प्रकाशित होते हैं यद्यपि वह अथ क्रिया चैतन्य के प्रकाश म उससे एकरूपता दिखाते हुए अचेतन विषय

---

[1] Bulletin de l Academic des Science de Russie पृष्ठ ६३८ ६३६

एव मानसिक अवस्थाओ की मिथ्या प्रतीति के अतिरिक्त कुछ नही है। परन्तु चैतन्य एव उसके विषयो म सहज अन्तर यह है कि चेतनत्व प्रत्यक एव अनुवृत्त है जबकि विषय अप्रत्यक एव व्यावृत्त है। पुस्तक, मेज इत्यादि का विज्ञान इसलिए भिन्न प्रतीत नही होता कि ये ज्ञान के विभिन्न स्फुरण हैं बल्कि इसका कारण चैतन्य का इन विषयो के साथ परिवर्तनशील साहचर्य है। विषय अपने विज्ञान के स्फुरण के साथ ही अस्तित्व मे नही आते बल्कि उनका अस्तित्व एव अर्थक्रिया का क्षेत्र भिन्न है।[1] सम्विद् अद्वितीय एव अविकार्य है, विषयो का इसके साथ सम्बन्ध होने के कारण ही वे सम्विद् मे एव इसके साथ अभिन्न रूप म इस प्रकार प्रतीत होते हैं कि चैतन्य मे विषय का स्फुरण स्वय चैतन्य का स्फुरण प्रतीत होता है। माया क कारण ही चैतन्य का विषय एव चैतन्य इस प्रकार के समग्र पूर्ण म भासित होते हैं कि उनके पारस्परिक अन्तर की ओर हमारा ध्यान नही जाता और चैतन्य पर प्रयुक्त बाह्य वर्ण की तरह चैतन्य का विषय भिन्न अथवा उसके बाहर प्रतीत नही होता बल्कि स्वय चैतन्य के विशिष्ट प्रकार की तरह प्रतीत होता है। इस प्रकार पुस्तक ज्ञान मेज ज्ञान के रूप मे प्रतीत होने वाली विभिन्न विज्ञप्तिया वस्तुत विभिन्न विज्ञप्तिया नही हैं बल्कि एक अविकार्य चैतन्य है जो सदा परिवर्तनशील विषयो से क्रमिक रूप मे सम्बद्ध है और ये विषय चैतन्य से मिथ्या रूप मे एकीभूत प्रतीत होते हैं तथा प्रतीति का कारण है कि चैतन्य के गुण रूप मे विभिन्न प्रकार से क्षण क्षण पर स्फुरित होते हैं। चैतन्य को क्षणिक नही माना जा सकता। क्योकि ऐसा होता तो वह प्रत्येक विभिन्न क्षण भिन्न प्रतीत होता। यदि यह कहा जाय कि यद्यपि भिन्न भिन्न सवित्तिया प्रत्येक भिन्न क्षण मे उत्पन्न होती हैं तो भी आत्यतिक सादृश्य के कारण यह ध्यान म नही आता तब यह उत्तर दिया जा सकता है कि यदि दो यथाक्रम क्षणो की दो सवित्तियो मे भेद है तो ऐसा विभेद या तो किसी अन्य चैतन्य द्वारा या उसी चैतन्य द्वारा अवश्य ग्राह्य होना चाहिए। प्रथम विकल्प म—प्रथम दो विज्ञप्तिया तथा उनके विभेद का बोध करने वाली तृतीय विज्ञप्ति या तो उनके साथ एकरूप होनी चाहिए और उस अवस्था म तीनो विज्ञप्तिया मे कोई विभेद नही रह जाएगा या वह उनसे भिन्न हो सकती है और उस अवस्था म यदि उनके विभेद को ग्रहण करने के लिए किसी अन्य विज्ञप्ति की आवश्यकता हो और फिर उसे किसी अन्य की आवश्यकता हो तो इस प्रकार अनवस्था प्रसग का दोष होगा। यदि वह भेद सवृत-स्वरूपभूत हो एव यदि इस भेद को ग्रहण करने के लिए कुछ भी न हो तो भेद की अविद्यमानता मे स्वय सविन्

---

[1] तत्त्व-दर्शी तु नित्यम् द्वितीय विज्ञान विषयाश्च तत्राध्यस्ता पृथगर्थ क्रिया समर्थास्तेषा चाबाधित स्थायित्वमस्तीति वदति।
विवरण प्रमेय सग्रह पृष्ठ ७४
विजयनगर सस्कृत सिरीज, वाराणसी, १८६३।

की अविद्यमानता निहित है, क्योंकि उपकल्पना द्वारा भेद को सवित् भूत माना गया है।

इस प्रकार एक क्षण की विज्ञप्ति का अन्य क्षण की विज्ञप्ति से भेद न तो तार्किक दृष्टि से सिद्ध किया जा सकता है और न अनुभव में ही इसका बोध होता है जो सदैव उसकी प्रतीतियो के समस्त क्षणो मे विज्ञप्ति की एकरूपता को प्रमाणित करता है। यह कहा जा सकता है कि अद्वैत एकात्मकता का अवभास भ्रान्तिपूर्ण है और इस प्रकार यह मान कर चलता है कि विज्ञप्तियो मे सादृश्य है, क्योकि इस प्रकार के सादृश्य के बिना अद्वैत का भ्रान्तिपूर्ण अवभास नही हो सकता था। परन्तु जबतक विज्ञप्तियो के भेद और सादृश्य पहले सिद्ध नही किए जाते तबतक कोई चीज ऐसी नहीं है जो इतना सा सकेत दे सके कि अद्वैत का अवभास भ्रान्तिपूर्ण है।[1] यह आग्रह नही किया जा सकता कि दो विभिन्न क्षणो की विज्ञप्तियो मे भेद एव सादृश्य के अस्तित्व को मिथ्या सिद्ध किए जाने की अवस्था मे ही एकरूपता के अवभास को सत्य सिद्ध किया जा सकता है, क्योकि अद्वैत का अवभास प्राथमिक है एव अनुभव द्वारा प्रत्यक्ष रूप से सिद्ध होता है। विज्ञप्तियो के भेद एव सादृश्य के अस्तित्व को अन्यथा सिद्ध करने की अवस्था मे ही इसके साक्ष्य को चुनौती दी जा सकती है। विज्ञप्ति की अद्वैतता विज्ञप्ति के तादात्म्य की प्रत्यभिज्ञा है जो स्वय सिद्ध है।

यह भी बताया जा चुका है कि बौद्ध प्रत्यभिज्ञा के तथ्य का विभिन्न विश्लेषण देते हैं। उनके मत मे प्रत्यक्षीकरण के समय प्रत्यक्षीकरण वस्तुओ के अस्तित्व को प्रदर्शित करता है जबकि प्रत्यभिज्ञा मे भूतकाल के द्वारा उनके अस्तित्व की कल्पना अन्तर्निहित है और यह प्रत्यक्षीकरण द्वारा गम्य नही है क्योकि प्रत्यक्षीकरण केवल वर्तमान क्षण तक ही सीमित है। यदि यह कहा जाय कि प्रत्यभिज्ञा का कारण पूर्वानुभव के सस्कारो के साथ सबद्ध वर्तमान प्रत्यक्षीकरण है तो इस प्रकार के तादात्म्य की प्रत्यभिज्ञा 'सोऽहम्' के रूप मे आत्मा के तादात्म्य को सिद्ध नही करेगी--क्योकि स्वय ज्योति आत्मा मे कोई सस्कार नही हो सकते। स्फुरण के रूप मे चैतन्य मात्र किसी प्रकार के तादात्म्य को सिद्ध नही कर सकता, क्योकि वह तो वर्तमान क्षण तक ही सीमित है एव वह भूत काल के अनुभव के प्रसग मे वर्तमान-काल के अनुभव के साथ नही जोडा जा सकता। बौद्ध अपने पक्ष मे तादात्म्य के प्रत्यभिज्ञा करण की अभेदता के रूप में प्रत्यभिज्ञा के अस्तित्व का निषेध करता है और मानता है कि वस्तुत वे एक नही दो प्रत्यय हैं-- 'अहम्' और 'तत्' --काल मे अटल रहते हुए इस आत्मा की अभेदता के पृथक अनुभव हैं। इस पर वेदान्तियो का उत्तर यह है कि यद्यपि नित्य ज्ञान के रूप में सस्कार असम्भव है फिर भी अन्त करण से सम्बद्ध होने के

[1] विवरण प्रमेय सग्रह, पृष्ठ ७६।

कारण आत्मा में संस्कार हो सकते हैं और इसलिए प्रत्यभिज्ञा सम्भव है।[1] परन्तु इस पर यह आपत्ति की जा सकती है कि आत्मा एवं अन्तःकरण का संयोग ज्ञाता एवं ज्ञेय का द्वैत कार्य सम्पादन करेगा क्योंकि संस्कार युक्त अन्तःकरण एवं आत्मा ही प्रत्यभिज्ञाता का कार्य सम्पादित करते हैं और ठीक वही संस्कार आत्मा से संयुक्त होकर प्रत्यभिज्ञाता की भी सामग्री का निर्माण करते हैं— अतः इस दृष्टिकोण से विषयी एवं विषय एक माने जाते हैं। परन्तु इसके उत्तर में विद्यारण्य मुनि कहते हैं कि दर्शन के सब सिद्धान्त आत्मा के अस्तित्व का शरीर से भिन्न रूप में अनुमान करते हैं, और इस प्रकार आत्मा द्वारा ही अनुमान किया जाता है एवं इस प्रकार आत्मा का ही कर्ता तथा इस प्रकार अनुमाता का विषय कहा गया है। विद्यारण्य का कथन है कि यह पुनः कहा जा सकता है कि प्रत्यभिज्ञा अभिज्ञाता अन्तःकरण की विशिष्टता से आत्मा द्वारा सविहित होता है जबकि प्रत्यभिज्ञेयत्व पूर्वापरकाल द्वारा आत्मा द्वारा गठित होता है।[2] अतः आत्मा के तादात्म्य की प्रत्यभिज्ञा का अर्थ यह नहीं कि वस्तुतः ज्ञाता और ज्ञेय एक ही हैं। यदि यह कहा जाय कि चूँकि आत्म-तादात्म्य की प्रत्यभिज्ञा में दो प्रत्यय निहित हैं—अतः उसमें दो काल भी निहित हैं तो सम्पूर्णज्ञान का क्षणिक बताने वाले कथनों में भी दो प्रत्यय निहित हैं क्योंकि क्षणिकत्व का ज्ञान के साथ तादात्म्य स्थापित नहीं किया जा सकता। प्रत्यय की जटिलता का अर्थ यह नहीं होता कि वह एक नहीं बल्कि दो विभिन्न कालों में घटित होने वाले दो भिन्न प्रत्यय है। यदि इस तर्क को स्वीकार कर लिया जाय तो सम्पूर्ण ज्ञान का क्षणिक बताने वाले सिद्धान्त को एक प्रत्यय नहीं माना जाकर दो क्षणों में घटित होने वाले दो प्रत्यय मानना होगा और इसलिए क्षणिकत्व को ज्ञान पर आरोपित नहीं किया जा सकता जैसाकि बौद्धों ने किया है और न ही प्रभाकर के दृष्टिकोण के अनुसार यह माना जा सकता है कि चिरस्थायी इस आत्मा का अस्तित्व केवल आत्म-तादात्म्य के प्रत्यय की प्रत्यभिज्ञा के आधार पर ही स्वीकार किया गया है क्योंकि भूत काल में सतत विद्यमान रहने वाला एवं वर्तमान काल में विद्यमान आत्मा आत्म तादात्म्य की प्रत्यभिज्ञा के क्षणिक प्रत्यय पर आधारित नहीं हो सकता। आत्म तादात्म्य का प्रत्यय एक क्षणिक प्रत्यय है जो केवल वर्तमान काल तक ही ठहरता है अतः यथार्थ एवं चिरन्तन आत्मा की यथार्थता की सत्ता क्षण के मनोवैज्ञानिक प्रत्यय मात्र के कारण नहीं हो सकती।

पुनः यदि यह युक्ति दी जाती है कि यह स्मृति कि 'मुझे पुस्तक की विज्ञप्ति थी' इस बात को प्रदर्शित करती है कि भूतकाल में जब पुस्तक का प्रत्यक्षीकरण किया गया

---

[1] केवले चिदात्मनि जन्म ज्ञान तत् संस्कारयोरसम्भवेऽप्य त करणविशिष्टे तत् सम्भवादुक्त प्रत्यभिज्ञा किं न स्यात्। वही पृष्ठ ७६

[2] अन्तःकरणविशिष्टतयैवात्मनः प्रत्यभिज्ञातृत्वं पूर्वापरकाल विशिष्टतया च प्रत्यभिज्ञेयत्वम्। विवरण प्रमेय संग्रह–पृष्ठ ७७

था तब आत्मा का अस्तित्व था, तो इसके प्रत्युत्तर मे यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार की स्मृति एव पूर्वानुभव आत्मा के भूत काल के अस्तित्व को सिद्ध कर सकते हैं परन्तु दूसरे यह सिद्ध नही होता कि भूतकाल मे विद्यमान आत्मा और अभी का अनुभव कर्त्ता आत्मा एक ही हैं। काल के दो क्षणा मे आत्मा के अस्तित्व मात्र से यह सिद्ध नहा होता कि आत्मा अन्तवर्तीकाल म भी विद्यमान था। दो विभिन्न कालो के दो प्रत्यय प्रत्यभिज्ञा के प्रत्यय की व्याख्या नही कर सकते जिसके लिए सातत्य का होना पूर्वनिर्मित है। यदि यह मान लिया जाय कि दोना प्रत्यय प्रत्यभिज्ञा के प्रत्यय द्वारा आत्म स्थायित्व के प्रत्यय का कारण हैं ता उसका अथ यह हागा कि बौद्ध यह मानते हैं कि मनुष्य का सोऽह प्रत्यभिज्ञा हा सकती है। यह नही कहा जा सकता कि चू कि आत्मा का प्रत्यक्षीकरण नही हो सकता अत प्रत्यभिज्ञा द्वारा आत्मा के तादात्म्य का प्रत्यक्षीकरण नही हा सकता क्योकि जब कोई स्मरण करता है कि 'मुझे अनुभव हुआ' तो वह स्मृति ही यह सिद्ध करती है कि आत्मा का प्रत्यक्षीकरण हुआ था। यद्यपि जब कोई उसका स्मरण करता है तो उस समय आत्मा उस आत्म प्रत्यक्षीकरण के विषय के रूप म नही बल्कि द्रष्टा के रूप मे अनुभूत होता है। फिर भी वतमान काल म पूर्वानुभव के स्मरण के समय स्वय आत्मा प्रत्यक्षीकरण का विषय अवश्य हागा। यदि यह युक्ति दी जाय कि भूतकालिक विज्ञप्ति ही स्मृति का विषय है और यही विज्ञप्ति स्मरण करने पर आत्मा को विज्ञप्ति के ज्ञाता के रूप में व्यक्त करती है, ता इसके उत्तर मे यह कहा जा सकता है कि स्मरण के समय पूव विज्ञप्ति के नही होने के कारण वह ज्ञाता भी अनुपस्थित रहता है जिस पर स्वय विज्ञप्ति आश्रित थी। कोई विज्ञप्ति अपने को अभिव्यक्त करने के समय ही अपने आश्रय ज्ञाता को अभिव्यक्त करती है परन्तु यदि विज्ञप्ति का स्मरण किया जाता है ता स्मृत विज्ञप्ति स्वत प्रकाश्य वतमान विज्ञप्ति का विषयमात्र बन जाती है। परन्तु जिस पूव विज्ञप्ति को हम स्मृत मानते हैं वह अतीत एव लुप्त होती है इस कारण न तो इसे अपने किसी आश्रयदाता की आवश्यकता रहती है और न यह वस्तुत इस प्रकार के ज्ञाता को प्रकट ही करती है। यह तो केवल स्वत प्रकाश्य ज्ञान ही है जो स्वय अपने प्रकाशन के साथ साथ ज्ञाता का भी तत्काल प्रकाशित करता है परन्तु जब स्मृति किसी बोध का माध्यम होती है तो उसकी स्मृति के साथ उसका ज्ञाता प्रकाशित नही हाता।[1] अत पूव म विज्ञप्ति का अनुभव करने वाले आत्मा का केवल स्मृति के माध्यम द्वारा ही वर्णन किया जाता है। अत प्रभाकर मतानुयायी कहते हैं कि आत्मा की सत्ता 'सोऽह जसे जटिल प्रत्ययो द्वारा अनुभूत हाती है तो यह मानना होगा कि केवल प्रत्यभिज्ञा प्रक्रिया द्वारा ही आत्मा की शाश्वतता सिद्ध की जाती है। विद्यारण्य मुनि

---

[1] स्वय प्रकाशमान हि सम्वेदन आश्रय साधयति न तु स्मृति विषयतया पर प्रकाश्यम्। विवरण प्रमेय सग्रह, पृष्ठ ७८

ने अपने 'विवरण प्रमेय सग्रह' मे जिस मुख्य बात पर बल दिया है वह यह है कि प्रत्यभिज्ञा अथवा आत्म-तादात्म्य का तथ्य भूतकालीन ज्ञान अथवा ज्ञाता और वतमान विज्ञप्ति जसे दो पृथक् प्रत्ययो की किसी कल्पना द्वारा समझाया नही जा सकता। हम सब यह अनुभव करते हैं कि हमारी आत्माए समय के अन्तर मे शाश्वत हैं और कल के सुखो के भोक्ता अह तथा आज के नए सुखो के भोक्ता 'अह दोनो मे तादात्म्य है, और केवल जिस सिद्धान्त द्वारा आत्म शाश्वतता अथवा आत्म तादात्म्य के प्रत्यय की व्याख्या की जा सकती है वह है आत्मा की सत्ता एव कालक्रम म उसकी शाश्वतता। जैसाकि पहले ही दर्शाया जा चुका है, इस प्रकार के आत्म-तादात्म्य की दो पृथक प्रत्ययो के काय की परिकल्पना द्वारा व्याख्या करने के बौद्ध प्रयत्न पूणत अपर्याप्त हैं। अत आत्मतादात्म्य का प्रत्यक्ष केवल चिरन्तन शाश्वत आत्मा के आधार पर ही स्पष्ट किया जा सकता है।

पुन केवल इस अनुमान मात्र के द्वारा ही आत्मा की सत्ता के विषय मे तक नही दिए जा सकते कि बोध इच्छा और भावो के लिए किसी ऐसी इकाई की पूर्वापेक्षा है जिसके व आश्रित अग हो और इस इस इकाई की ही सत्ता आत्मा हो, क्योकि यदि ऐसा होता तो कोई भी अपनी आत्मा का दूसरो की आत्माओ से विभेद नही कर सकता। *क्योकि यदि आत्मा ज्ञान इच्छा आदि के धारक के रूप मे पूर्वापेक्षित एक इकाई ही होती तो कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के विषय बोध से अपने विषय बोध की प्रत्यभिज्ञा को पृथक कसे कर पाता।* वह कौनसी वस्तु है जो मेरे अनुभव मे और दूसरो के अनुभव म अन्तर करती है। मेरी आत्मा मुझको सद्य प्रत्यक्ष होनी चाहिए ताकि मैं किसी भी अनुभूति को अपने से सबद्ध कर सकू । अत सब अनुभूतियो मे आत्मा का स्वय प्रकाश्य मानना पडेगा आत्मा को सब अनुभूतियो म स्वय प्रकाश्य माने बिना यह अन्तर नही समझा जा सकता कि यह मेरा अपना अनुभव है और यह दूसरो का। कुछ लोग यह आपत्ति उठा सकते है कि आत्मा स्वय म स्वय प्रकाश्य नही है अपितु स्वय चतन्य आत्म चतन्य मे सविन्‌क्रम का विषय होने के कारण ही स्वय प्रकाश्य है। परन्तु यह युक्तिसगत नहीं है, क्योकि आत्मा न केवल आत्म चतन्य का ही अपितु स्वय म सब सवित कर्मों का भी विषय है। आत्मा को भावो अथवा प्रत्ययो द्वारा व्यक्त भी नही माना जा सकता है। यह सत्य नही है कि आत्मा का बोध पुस्तक के बोध अथवा उससे पृथक किसी अन्य समय के बाद होता है क्योकि यह सत्य है कि आत्मा एव पुस्तक का बोध एक ही काल म होते है क्योकि एक ही विज्ञप्ति दो भिन्न भिन्न प्रकार के विषयो को एक ही काल मे ग्रहण नही कर सकती। यदि ऐसा भिन्न भिन्न कालो म होता तो, मैंने यह जान लिया है इस *प्रकार का हमारा अनुभव उस विज्ञप्ति के द्वारा स्पष्ट नही होता क्योकि* इस प्रकार के प्रत्यय म ज्ञाता और ज्ञेय के बीच म सबध अपेक्षित है और यदि ज्ञाता व ज्ञेय का ज्ञान दो पृथक काला म होता तो कोई चीज उन दोनो का एक ही ज्ञान क्रिया मे नही

मिला सकती। यह कहना भी अनुचित है कि आत्मा भावो के धारक के रूप म ही प्रकट होता है, क्योकि आत्मा स्वय ज्ञान क्रिया मे व्यक्त होता है। अत क्योकि आत्मा का भावो अथवा उनके विषयो का धारक अथवा ज्ञाता नही माना जा सकता इसलिए इसका केवल एक ही प्रकार से स्वप्रकाश माना जा सकता है। आत्मा का अपरोक्षत्व इस प्रकार इसकी स्वप्रकाश्य प्रकृति है। इस प्रकार आत्मा की सत्ता आत्मा की स्वयप्रकाश्य प्रकृति द्वारा सिद्ध होती है। आत्मा इसी भ्रम मे विषयो का ज्ञाता है कि मानसिक क्रिया की कुछ निश्चित अवस्थाओ मे एक विशिष्ट इन्द्रिय द्वारा मनस विषय सम्पर्क होता है और इसके परिणामस्वरूप एक विचित्र भ्रांति द्वारा इन विषयो की चैतन्य म प्रतीति होती है। इसी प्रकार मनोभाव, प्रत्यय, इच्छाए और सवेदनाए चैतन्य मे आभासित होती है और चेतन अवस्थाओ के रूप मे उनकी प्रतीति होती है माना कि चैतन्य उनका सहज एव सामान्य स्वभाव हो यद्यपि वास्तव म चैतन्य स्वयप्रकाश्य आत्मा पर उनका केवल मिथ्यारोपण ही होता है।

विद्यारण्य ने अपने तर्क आनन्दबोध भट्टारकाचार्य से उद्धृत किए हैं। आनन्द बोध का कथन है कि आत्मा की स्व प्रकाश्यता इसलिए माननी पडती है कि इसको किसी अन्य चीज द्वारा प्रकट हुआ नही मान सकते। आत्मा का मानस प्रत्यक्ष द्वारा गोचर नही माना जा सकता, क्योकि ऐसा करने म यह मानना पडेगा कि आत्मा स्वय अपनी क्रिया का ही विषय है, क्योकि सवित् अनत आत्मा का ही व्यापार है। आत्मा के सवित् सम्बन्धी व्यापार स्वय आत्मा म विकार नही उत्पन्न कर सकते।[1] वेदान्त को प्रभाकर मत के विरुद्ध भी सघर्ष करना पडा इसके अनुसार सवित् अपने साथ साथ विषय एव आत्मा को प्रकट करती है तथा वेदान्त को स्वय अपने इस दृष्टिकोण के विरुद्ध भी सघर्ष करना पडा कि आत्मा ही स्वयप्रकाश्य है और उससे ही ज्ञान का तादात्म्य है। अत आनन्दबोध प्रभाकर के मत पर यह आपत्ति उठाते हैं कि विषय सवित् ही आत्मा एव अनात्म दोनो को व्यक्त करते हैं और उनका मत है कि आत्मा को विज्ञप्ति का विषय नही माना जा सकता। आनन्दबोध यह प्रदर्शित करते हैं कि यह माना जा सकता है कि सवृति द्वारा प्रकट वस्तु सवृति का विषय होना चाहिए और इसी हेतु आत्मा सवृति का विषय नहीं है तो यह सवृति द्वारा प्रकट नहीं हो सकता।[2] अत आत्मा अथवा सवेदिता सविद् द्वारा प्रकट नही होता, क्योकि सविद् के समान ही यह स्वप्रकाश एव अपरोक्ष है तथा जो सवित् का विषय नही है।[3]

---

[1] तथा सति व्यापार विनानहत्तिव्याप्यत्वादात्मन कर्मत्व स्वात्मनि वृत्तिविरोधादिति भ्रम ॥ न्यायमकरन्द पृ० १३१

[2] न्यायमकरन्द पृ० १३४ १३५

[3] सवेदिता न सविदधीनप्रकाश सविल्लमतामतरेण अपरोक्षत्वात् सवेदनवत्। न्याय-मकरन्द पृ १३५। विद्यारण्य ने अपने विवरण प्रमेय सग्रह पृ ८५ पर इस तर्क को अक्षरश उद्धृत किया है।

आनन्दबोध ने संवेदन के स्वप्रकाशत्व में तर्क दिए हैं। उनका कथन है कि यदि यह माना जाय कि संवेदन अपने विषयों को प्रकट करके भी अपने आपको प्रकट नहीं करता है तो यह उत्तर दिया जा सकता है कि ऐसी स्थिति में जब विषय की संवित्ति होती है तो संवेदिता को संशय हो जाएगा कि उसने उस काल में कोई संवेदन प्राप्त किया या नहीं। यदि किसी से पूछा जाय कि तुमने अमुक व्यक्ति को देखा या नहीं तो वह अपने ज्ञान के बारे में निश्चित होता है कि उसने अमुक आदमी को देखा है और इस विषय में उसे संदेह नहीं है। इसलिए यह निश्चित है कि जब एक विषय किसी संवेदन के द्वारा प्रकाशित होता है तो संवेदन भी अपनेआप प्रकाशित होता है। यदि यह तर्क दिया जाय कि इस प्रकार का संवेदन किसी अन्य संवेदन द्वारा प्रकाशित होता है, तो उसके प्रकाशन के लिए अन्य संवेदन की उसको किसी अन्य की इत्यादि अनन्त आवश्यकता होगी और इस प्रकार अनवस्था दोष होगा और न यह माना जा सकता है कि कोई ऐसा अन्य मन संवेदन है (जो किसी विषय की विज्ञप्ति का युगपत् कालीन हो अथवा पर कालीन हो) जिसके द्वारा किसी विषय की विज्ञप्ति की संवित्ति हो। क्योंकि एक ही मन सन्निकर्ष से उपर्युक्त प्रकार की दो पृथक विज्ञप्तियां नहीं हो सकती तो फिर यदि किसी परकाल में मन क्रिया, एक मन सन्निकर्ष का विराम और पुनः दूसरी मन क्रिया और अन्य मन सन्निकर्ष का उद्भव होता है तो उसके लिए अनेकों मन्तरिम कालों की अपेक्षा होगी और इस प्रकार जिस संवेदन से किसी विषय की विज्ञप्ति की संवित्ति की कल्पना की जाती है वह संवेदन बहुत काल बाद में होगा जबकि जिस विज्ञप्ति से उस संवेदन का प्रकाशन होता है वह पहले ही प्रतीत हो जाएगी। अतः यह मानना पड़ेगा कि संवेदन स्वयं स्वयंप्रकाश है और अन्य विषयों के प्रकाशन के साथ-साथ अपना प्रकाशन भी करता है। आपत्ति में यह कहा गया है कि आत्मा अथवा संवेदन अपनी शक्ति के कारण विकार को प्राप्त नहीं होते इसका उत्तर यह है कि संवेदन प्रकाश के समान है और उसकी कोई व्यवधायिका क्रिया नहीं है जिसके कारण वह स्वयं में अथवा अपने विषयों में विकार उत्पन्न करें। जिस प्रकार प्रकाश अंधकार हटाकर दर्शन क्रिया में सहायक होता है तथा विषयों को प्रकाशित करके किसी अन्य प्रकाश की व्यवधायिका क्रिया के बिना ही एक ही क्षण में अपने आपको प्रकाशित करता है, ठीक उसी प्रकार संवेदन भी अपने विषयों एवं स्वयं को एक ही स्फुरण में प्रकाशित करता है और इसकी कोई ऐसी वृत्ति नहीं होती जिससे इसमें स्वयं में विकार पैदा हो। यह संवेदन इस कारण स्फुरणमात्र नहीं कहा जा सकता कि नील वर्ण की विज्ञप्ति के समय पीत वर्ण की विज्ञप्ति नहीं होती, क्योंकि नील विज्ञप्ति पीत विज्ञप्ति अथवा श्वेत विज्ञप्ति के अतिरिक्त भी एक ऐसी सहज विज्ञप्ति अथवा चैतन्य है जिसको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। ऐसा कहना अनुचित होगा कि केवल विशिष्ट विज्ञप्तियां क्षण क्षण में प्रकट एवं लुप्त होती रहती हैं, क्योंकि यदि विशिष्ट विज्ञप्तियों की एक शृंखला

मात्र ही होती तो उनके भेद को बतलाने वाली कोई चीज नहीं होती। शृंखला की प्रत्येक विज्ञप्ति का एक विशिष्ट एवं निश्चित गुण होता, और अपने गुजरने के साथ साथ अन्य विज्ञप्ति को स्थान देती, और वह अन्य दूसरी को, ताकि एक विज्ञप्ति से दूसरी विज्ञप्ति का निर्धारण करने का कोई उपाय नहीं रह जाता क्योंकि चर्चित सिद्धान्त के अनुसार प्रतीयमान विज्ञप्तियों के अतिरिक्त अन्य चैतन्य नहीं है, और इस प्रकार उनका भेद किसी प्रकार भी जाना नहीं जा सकता, क्योंकि चाहे विज्ञप्ति के विषय, यथा नील और पीत, अपने में पृथक क्यों न हों फिर भी वह यह स्पष्ट नहीं कर सकता कि नील-विज्ञप्ति एवं पीत विज्ञप्ति के भेद का ग्रहण कैसे होता है। अतः यही सर्वोत्तम है कि आत्मा को शुद्ध चैतन्य स्वरूप मान लिया जाए।

उपर्युक्त चर्चा से यह प्रकट होगा कि वेदान्त को आत्मा के शुद्ध चैतन्य स्वरूप होने एवं उसके शाश्वत न कि क्षणिक होने के अपने सिद्धान्त के स्थापन के लिए तीन विरोधियों का खण्डन करना पड़ा। प्रथम विरोधी बौद्ध थे, जिनका न तो किसी आत्मा की सत्ता और न उसके शुद्ध शाश्वत चैतन्य स्वरूप में ही विश्वास था। किसी शाश्वत आत्मा के न होने की बौद्ध आपत्ति का वेदान्तियों ने आत्म-तादात्म्य के हमारे प्रत्यय के निर्णय का आश्रय लेकर भली प्रकार निराकरण कर दिया जिसकी भूतकाल की 'वह आत्मा' और वर्तमान के 'मैं हूँ' के दो पृथक प्रत्ययों की परिकल्पना के बौद्ध तरीकों द्वारा व्याख्या नहीं की जा सकी और न चैतन्य को प्रतीयमान भावों अथवा विशिष्ट विज्ञप्तियों की शृंखला के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं माना जा सकता, क्योंकि इस सिद्धान्त में यह बताना असम्भव होगा कि हम उसकी मानसिक अवस्थाओं के प्रति प्रतिक्रिया कैसे करते हैं और कैसे उनका भेद ज्ञात कर सकते हैं। अतः चैतन्य को शाश्वत मानना पड़ेगा। दूसरे विरोधी, नैयायिकों के विरुद्ध वेदान्तियों का कहना है कि आत्मा अनुमानगम्य विषय नहीं है जिसके विज्ञप्तियां, इच्छाएं अथवा भाव धर्म हैं, अपितु उसका अपरोक्ष एवं सदा रूप में अनस्कार होता है क्योंकि यदि ऐसा नहीं होता तो कोई व्यक्ति अपने अनुभवों को अपने और दूसरों के अनुभवों से मिला हुआ कैसे जान सकता। मेरे अपने अनुभवों की आन्तरिकता यह प्रकट करती है कि उनका मेरे अपने अनुभवों के रूप में अपरोक्षतः अनस्कार होता है और उनका केवल किसी ऐसी अन्य आत्मा नहीं माना जाता जो उसके अनुभवों का स्वामी है क्योंकि अनुमान किसी संवेदना अथवा भाव की आन्तरिकता को प्रकाशित नहीं कर सकता। तीसरे विरोधी, मीमांसकों के विरुद्ध वेदान्त का कथन है कि आत्मा का स्वरूप स्वयंप्रकाश्य है एवं आत्मा का विज्ञान के साथ तादात्म्य है—जबकि मीमांसकों के मत में विज्ञान स्वयंप्रकाश्य के रूप में आत्मा एवं विषयों को अपने से पृथक् प्रकाशित करता है। आत्मा एवं विज्ञान का तादात्म्य एवं इसका स्वयंप्रकाश्य स्वरूप भी प्रतिपादित किया गया है और अनेकों भिन्न भिन्न तार्किक हेतुओं द्वारा यह प्रदर्शित किया गया है कि इस प्रकार की कल्पना ही हमारे पास एकमात्र विकल्प रह गया है।

शुद्ध चैतन्य रूप से यह आत्मा निर्विकल्प रूप से अमूर्त, असीम एवं अनन्त है। यह एक आत्मा अनेक व्यक्तियों एवं परमात्मा के रूप में प्रकट हो, ऐसा सम्भव करने हेतु ही यह कल्पना की गई है कि यह माया के आवरण के कारण अपनेआपको भिन्न भिन्न रूपों में प्रदर्शित करता है। इस प्रकार 'प्रकटार्थ विवरण' में यह कहा है कि सिद्धान्त लेश के मतानुसार जब यह शुद्ध चैतन्य अनादि, अनिर्वचनीय माया द्वारा प्रतिबिम्बित होता है तो इसको संज्ञा 'ईश्वर' होती है। परन्तु जब यह आवरण एवं विविध सृष्टि (जिसे अविद्या कहते हैं) की शक्तियों से युक्त माया द्वारा प्रतिबिम्बित होता है तब व्यक्तिगत आत्माएं अथवा जीवों का प्रकाशन होता है। नृसिंहाश्रम कृत तत्त्वविवेक में यह पुनः कहा गया है कि जब यह शुद्ध चैतन्य प्रकृति के अन्य अशुद्ध अंगों पर प्राधान्य प्राप्त किए हुए शुद्ध सत्त्व गुणों द्वारा प्रतिबिम्बित होता है तो ईश्वर प्रकाशित होता है। जबकि प्रकृति के सात्त्विक अंगों पर (जिसको भी अविद्या कहा है) प्राधान्य प्राप्त करके रजस एवं तमस के अशुद्ध अंगों के माध्यम से शुद्ध चैतन्य के प्रतिबिम्बित होने पर जीवों का प्रकाशन होता है। सत्त्व प्रधान तथा रजस एवं तमस प्रधान इन दो भिन्न रूपों में एक ही प्रकृति को माया तथा अविद्या का नाम दिया गया है और यह शुद्ध चैतन्य की उपाधि बनती है, तथा माया और अविद्या की उपाधियों के भिन्न स्वरूप के कारण शुद्ध चैतन्य सर्वज्ञ ईश्वर अथवा अज्ञानी जीवात्माओं के रूप में प्रकट होता है। सर्वज्ञात्म मुनि का मत है कि शुद्ध चैतन्य के अविद्या के माध्यम से प्रतिबिम्बित होने पर उसे ईश्वर की संज्ञा दी जाती है और अन्तःकरण के माध्यम से प्रतिबिम्बित होने पर उसे जीव कहा जाता है।

जीवात्मा और ईश्वर के मूल के कारण बताने वाले इन विभिन्न प्रकारों का बहुत थोड़ा दार्शनिक महत्त्व है। परन्तु इससे यह प्रदर्शित होता है कि वेदान्त की मुख्य रुचि उस शुद्ध चैतन्य की अतिलौकिक इकाई की सर्वोच्च यथार्थता को स्थापित करने में है जो स्वभावतः अस्पष्ट एवं अनासक्त होने पर भी एक ऐसी अन्तर्निहित इकाई है जो हमारे समस्त चेतन अनुभवों के जीवनप्रद एवं प्रकाशक समस्त तथ्यों की व्याख्या कर सकती है। जो कुछ भी ससीम है चाहे वह जीवात्मा हो अथवा ज्ञप्ति का विषय हो वह सब किसी न किसी अर्थ में चेतन इकाई पर अचेतन इकाई के विकारों का भ्रांतिमय आरोपण ही है। विज्ञान और दर्शनशास्त्र दोनों की जगत् प्रक्रिया के स्वरूप को उसकी समस्त बारीकियों के साथ व्याख्या करने की समान रुचि है परन्तु वेदान्त इस स्वरूप की व्याख्या करने का न तो इच्छुक ही है और न समर्थ ही है। इसकी एक मात्र रुचि यह सिद्ध करने में है कि जगत्प्रक्रिया के लिए एक ऐसी शुद्ध चैतन्य इकाई की सत्ता पूर्वापेक्षित है जो निर्विकल्प और अन्तिम रूप से सत् हो और अपरोक्ष एवं यथार्थ का अर्थ है कि वह किसी अन्य से सीमित न हो और इस अर्थ में शुद्ध चैतन्य ही एकमात्र सत् है—और अन्य सब अनिर्वचनीय है—न तो सत्य है, न असत्य ही, और वेदान्त इसके स्वरूप निर्धारण में रुचि नहीं लेता है।

वेदान्ती सृष्टि विज्ञान

उपरोक्त कथन से स्पष्ट है कि माया (जिसे अविद्या अथवा अज्ञान भी कहा गया है) स्वय में अपरिभाष्य रहस्यमय उपादान है जिसका केवल मनोवैज्ञानिक अस्तित्व ही नही है बल्कि सत्तामूलक अस्तित्व भी है। यही अज्ञान एक ओर आत्मपरक स्तर पर मनस एव इन्द्रियो का निर्माण करता है (केवल आत्मा के ही ब्रह्म एव परम सत्य होने के कारण) और दूसरी ओर वस्तुपरक स्तर पर विषयात्मक जगत् का निर्माण करता है। इस अज्ञान की दो शक्तिया है–आवरण शक्ति एव विक्षेप शक्ति। जिस प्रकार एक छोटा सा मेघ लाखो मील व्यास वाले सूर्य को आच्छादित कर सकता है ठीक उसी प्रकार अपना सीमित स्वरूप होते हुए भी छोटी सी आवरण शक्ति ज्ञाता के रूप मे असीम अविकारी आत्मा के स्वत प्रकाश्यत्व को आच्छादित कर सकती है। आत्मा के आवरण का तात्पर्य अनन्त, नित्य असीम शुद्ध चैतन्य के रूप मे उस आत्मा के प्रकाश्यमान अविकारी आत्म प्रत्यक्षीकरण को आच्छादित करना है जो उस आवरण के फलस्वरूप सीमित, विषय ज्ञान एव विषयानन्द से बद्ध तथा जीवात्मा की तरह मूढ प्रतीत होता है।[1] इस अज्ञान की आवरण शक्ति के कारण ही अधेरे मे रज्जु का सर्प के रूप मे भ्रमात्मक प्रत्यक्षीकरण होने की तरह आत्मा कर्ता, सुख दु खो का भोक्ता एव पुनर्जन्म के अज्ञानी भय से ग्रसित प्रतीत होता है। जिस प्रकार रज्जु का यथार्थ स्वरूप दृष्टि से प्रच्छन्न होने के कारण रज्जु की सर्प की तरह प्रतीति होती है, उसी प्रकार अज्ञान अपनी विक्षेप शक्ति के द्वारा प्रच्छन्न आत्मा पर नानारूपात्मक जगत् प्रपञ्च का निर्माण करता है। चूकि अज्ञान अपनी आवरण शक्ति द्वारा आत्मा के केवल स्वत प्रमेय एव स्वत प्रकाश्य स्वरूप को ढक देता है अत शुद्ध सत्व के रूप मे आत्मा का दूसरा स्वरूप एक ऐसे अधिष्ठान के रूप मे खुला रहता है जिस पर उसकी विक्षेप शक्ति द्वारा सम्पूर्ण जगत् प्रपच की सृष्टि होती है। इस प्रकार जब जगत् प्रपच की रचना करने वाले आधार के रूप मे शुद्ध चैतन्य के शुद्ध चैतन्यात्मक स्वरूप पर बल दिया जाता है, तो अज्ञान की दो शक्तियो द्वारा प्रच्छन्न शुद्ध चैतन्य महत्वपूर्ण निमित्त कारण माना जा सकता है, जब इसके अज्ञान अर्थात् आवरण के रूप पर बल दिया जाता है तब इसे उपादान कारण कहा जाता है। यह उस मकडी के सदृश है जो अपना जाला बुनते समय निमित्त कारण कहलाती है और उसके शारीरिक रूप का प्राधान्य देने की अवस्था मे स्वय अपने शरीर से जाले के उपादान प्रदान करने के कारण जाले का उपादान कारण

---

[1] वस्तुतोऽज्ञानस्यात्माध्यादकत्वाभावेऽपि प्रमातृबुद्धिमात्राच्छादकत्वेन अज्ञानस्यात्माच्छादकत्वमुपचारादुच्यते। वेदान्त सार पर सुबोधिनी पृष्ठ १३, निर्णय सागर प्रेस, मुबई १६१६

मानी जा सकती है। सांख्य प्रकृति के समान ही प्रधान को त्रिगुणात्मिका अर्थात् सत्त्व रजस और तमस् प्रकार की त्रिविधधर्मा कहा है। शुद्ध चैतन्य का अधिष्ठान मानकर तम प्रधान प्रधान से सम्बद्ध आवरण शक्ति द्वारा प्रथम आकाश की उत्पत्ति हुई है आकाश से वायु वायु से तेज, तेज से जल एवं जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई है। अपनी सूक्ष्म एवं अयौगिक अवस्थाओं में ये तत्त्व हैं। सांख्य तथा पुराणों में तन्मात्रा कहलाते हैं। इन्हीं तत्त्वों से स्थूल पदार्थों के साथ साथ सूक्ष्म शरीरों का विकास हुआ है।[1] सूक्ष्म शरीर अथवा लिंग शरीर तन्मात्राओं की अनिश्चित सत्रह मात्राओं से बना है, यह सूक्ष्म शरीर पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियाँ, पंचवायु अथवा जीव धारक क्रिया और बुद्धि और मन तथा पंच तन्मात्राओं द्वारा निर्मित है। ज्ञानेन्द्रियाँ नेत्र त्वचा चक्षु दृष्टि घ्राणेन्द्रिय रसना श्रवण आकाश वायु अग्नि अप एवं पृथ्वी इन पाँचों तत्त्वों के सत्त्वभाग से उद्भूत होता है। बुद्धि का अर्थ है निश्चय आत्मिका अथवा निश्चयात्मिका अन्तःकरण वृत्ति। मनस का अर्थ है विकल्प अथवा संकल्प अथवा विकल्प अथवा संशय संकल्प की अन्तःकरण प्रक्रिया।[2] चित्त एव

---

[1] स्थूलतर पदार्थों की उत्पत्ति के लिए सूक्ष्म तत्त्वों के संगठित होने की विधि के बारे में दो सिद्धान्त हैं यथा त्रिवृत करण एवं पंचीकरण। त्रिवृत्करण का अर्थ यह है कि तेज जल और पृथ्वी (सूक्ष्म तत्त्वों के रूप में) में से प्रत्येक दो समान भागों को उत्पन्न करता हुआ दो अर्धों में विभाजित है। तब प्रत्येक तत्त्व का मौलिक १/२ भाग अन्य दो तत्त्वों के १/४ भागों के साथ संगठित होता है। इस प्रकार प्रत्येक तत्त्व के १/२ भाग और दूसरे दो तत्त्वों के १/४ भाग का मिश्रण होता है। वाचस्पति एवं अमलानन्द पंचीकरण से त्रिवृतकरण को श्रेष्ठ समझते हैं क्योंकि उनके मत में वायु एवं आकाश में अन्य तत्त्वों के भागों को एकीकृत मानना व्यर्थ है तथा श्रुति ग्रन्थों में भी त्रिवृतकरण का कथन है पंचीकरण का नहीं। पंचीकरण के सिद्धान्त के अनुसार पंच तन्मात्राओं का प्रथमतः दो अर्धों में विभाग होता है तदनन्तर इन पंचतत्त्वों के दो अर्ध भागों में से एक का पुनः चार भागों में विभाजन होता है और तब प्रत्येक तन्मात्रा का प्रथम अर्ध भाग संघटक रूप में विद्यमान पूर्ण अर्ध भाग वाली उस मात्रा को छोड़कर अन्य तन्मात्राओं के अर्ध भाग के चतुर्थांश से संयुक्त होता है। इस प्रकार प्रत्येक तत्त्व अपने अर्ध भाग एवं अन्य तत्त्वों के आधे के चतुर्थांश (अर्थात् अन्य चार तत्त्वों के अष्टमांश) से बनता है। इस प्रकार के प्रत्येक तत्त्व में अन्य तत्त्वों के कुछ अंश पुंजीभूत अवश्य होते हैं। इस दृष्टिकोण का समर्थन 'वेदान्त परिभाषा' तथा उसकी 'शिखामणि' टीका ने किया है। पृष्ठ ३६३।

[2] वेदान्तसार में विकल्प एवं संकल्प का वर्णन है एवं इसकी व्याख्या सुबोधिनी द्वारा संशय के अर्थ में की गई है। द्रष्टव्य वेदान्तसार एवं सुबोधिनी पृष्ठ ३१।

अहंकार के व्यापार बुद्धि एवं मनस में निहित है।[1] उन सबकी उत्पत्ति पंचतत्वों के सत्व भागों से हुई है अतः वे तत्वयुक्त हैं। यद्यपि वे तत्वयुक्त हैं फिर भी सम्पूर्ण तत्वों के संगठित सत्व भागों से उत्पन्न होने के कारण उनकी ज्ञानात्मक प्रक्रिया में प्रकाशिका प्रक्रिया प्रकट होती है। ज्ञानेन्द्रिय युक्त बुद्धि विज्ञानमय कोष कहलाती है। ज्ञानेन्द्रिय सहित मनस् मनोमय कोष कहलाता है। विज्ञानमय कोष से संबद्ध आत्मा स्वयं अपने आपको कर्ता भोक्ता सुखी अथवा दुःखी और सांसारिक अनुभव एवं पुनर्जन्म में से गुजरने वाला जीव अनुभव करता है। कर्मेन्द्रियाँ पंचतत्वों के रजस भागों द्वारा निर्मित हैं। पंच वायु अथवा धारक प्रक्रियाओं को प्राण अथवा श्वासोच्छ्वास की प्रक्रिया, उदान अथवा ऊर्ध्वगति और समान अथवा पाचन क्रिया कहा गया है। कुछ अन्य लोगों ने अन्य पंच वायु को जोड़ा है यथा वमनकारी अपनयान प्रक्रिया, नाग, पलकों को खोलने की सहज क्रिया, कूर्म, कास की प्रक्रिया, कृकल जम्हाई लेने की प्रक्रिया देवदत्त, और पोषण क्रिया धनंजय। ज्ञानेन्द्रियों से संबद्ध ये प्राण क्रिया शील प्राणमय कोष का निर्माण करते हैं। विज्ञानमय, मनोमय, एवं प्राणमय इन तीनों कोषों में विज्ञानमय कोष कर्म रूप हैं सम्पूर्ण संकल्प एवं एषणाओं का स्रोत मनोमय कोष है, अतः उसको नैमित्तिक प्रक्रिया वाला माना गया है। प्राणमय कोष कर्म करने वाली क्रियाओं का प्रतिनिधित्व करता है। ये तीनों कोष मिलकर सूक्ष्म शरीर की रचना करते हैं। हिरण्यगर्भ (जिसे सूत्रात्मा अथवा प्राण भी कहा गया है) वह देव है जो सब सजीव प्राणियों के संयुक्त सूक्ष्म शरीरों का अध्यक्ष है। व्यक्तिगत रूप से प्रत्येक प्राणी के एक सूक्ष्म शरीर है। अतः हमारी जाग्रत् वासनामयत्ता के स्रोत सम्पूर्ण अवचेतन संस्कारों से युक्त ये तीनों कोष स्वप्न कहलाते हैं (जाग्रद् वासनामयत्वात् स्वप्नः।)

वेदान्तपरिभाषा एवं उसके टीकाकारों ने केवल संकल्प को ही मनस का कार्य कहा है परन्तु उसका अर्थ है संशय। द्रष्टव्य पृष्ठ ८८ ८९ एवं ३५९

[1] स्मरणाकार वृत्तिमदन्तःकरणं चित्तम् (वेदान्त परिभाषा मणिप्रभा पृष्ठ ८९) अनयोरेव चित्ताहंकारयोरन्तर्भावः (वेदान्त सार, पृष्ठ १७) परन्तु वेदान्त परिभाषा का कथन है कि मन बुद्धि चित्त और अहंकार इन चारों के समूह का नाम अन्तःकरण है। देखिए वेदान्त परिभाषा पृष्ठ ८८। परन्तु वेदान्तसार के अनुसार बुद्धि, मनस चित्त और अहंकार ये चार प्रक्रियाएँ नहीं हैं, चित्त और अहंकार को बुद्धि और मनस के सदृश ही माना गया है। इस प्रकार वेदान्तसार के अनुसार केवल दो पदार्थ ही हैं परन्तु चूंकि वेदान्त परिभाषा में केवल बुद्धि और मनस् को ही सूक्ष्म शरीर का सारभूत अंश कहा गया है अतः यह नहीं मानना चाहिए कि अन्ततोगत्वा इसमें और वेदान्तसार में कोई अंतर है।

तन्मात्राओं से पंचभूत महा भूतों के निर्माण की प्रक्रिया को पारिभाषिक अर्थ में पंचीकरण कहा गया है। इस विधि में प्रत्येक मूल तत्व प्रत्येक अन्य मूल तत्व के ⅛ भाग से मिश्रित होता है। इस प्रकार के संयोग की प्रक्रिया द्वारा ही प्रत्येक तत्व में अन्य तत्वों के कुछ गुण विद्यमान रहते हैं। सम्पूर्ण विश्व में सात उच्च जगत् (भू भुव स्व मह जन तप, सत्यम्) तथा सात निम्न जगत् हैं–(अतल वितल, सुतल, रसातल, तलातल महातल एवं पाताल) हैं एवं समस्त सजीव प्राणियों के समस्त स्थूल शरीर हैं। सब प्राणियों के स्थूल शरीरों का अध्यक्ष विश्वव्यापी देवता है और इसको विराट कहते हैं। व्यक्ति भी है जो प्रत्येक शरीर का अध्यक्ष है और इस दृष्टि से उसे विश्व कहते हैं।

बुद्धि एवं मनस की क्रिया करने वाले अन्त करण के संघटक के रूप में अज्ञान सदैव आत्मा से सबद्ध होता है इन अन्त करणों के वैभिन्य के कारण ही एक आत्मा अनेक जीवात्माओं के रूप में दिखाई देता है और इन अन्त करणों की अवस्थाओं के कारण ही आत्मा एवं विषयों पर से आवरण दूर होकर परिणामत विषय ज्ञान सम्भव होता है। अन्त करण शरीर में स्थित है जिसमें यह पूर्ण रूप से व्याप्त है। यह पंच मूल तत्वों के सत्व भागों द्वारा निर्मित है और आत्यंतिक पारदर्शकता के कारण विशिष्ट इन्द्रियों द्वारा इन्द्रिय विषयों के सन्निकर्ष में आता है एवं उनका रूप ग्रहण कर लेता है। इसके भौतिक उपादान होने के कारण एक भाग शरीर के अन्दर रहता है दूसरे भाग का इन्द्रिय विषयों के साथ सन्निकर्ष होता है तथा तृतीय भाग दोनों के बीच और एक सम्पूर्ण के रूप में उन दोनों से सबद्ध होता है। अन्त करण का आंतरिक भाग अहं अथवा कर्ता है। मध्यस्थ भाग का कर्म ज्ञान है जिसे वृत्ति ज्ञान भी कहते हैं। ज्ञान के समय इन्द्रिय विषयों के आकार में परिणत होने वाले तृतीय भाग का कार्य उन्हें ज्ञान में अपने विषय के रूप में प्रकाशित करना है। तीनों भागों के अन्त करण के पारदर्शक होने के कारण शुद्ध चैतन्य भी उसमें अच्छी प्रकार से प्रकट हो सकता है। शुद्ध चैतन्य के एक होने पर भी यह अन्त करण के तीन विभिन्न भागों को ज्ञाता (प्रमातृ) ज्ञान क्रिया (प्रमाण) एवं ज्ञान अथवा प्रमिति इन तीन विभिन्न प्रकारों से प्रकट करता है। क्योंकि वह अन्त करण के तीन विभिन्न विकारों द्वारा स्वयं अपने आपको व्यक्त करती है। अत तीनों में से प्रत्येक अवस्था में परम सत्ता शुद्ध चैतन्य का भाग है। इन्द्रिय विषय आवरणयुक्त शुद्ध चैतन्य ब्रह्म माया ही है जो उनका सारभूत अंश है। जीव चैतन्य एवं ब्रह्म चैतन्य में अन्तर यही है कि प्रथम अन्त करण द्वारा उपाधियुक्त अथवा उसके माध्यम से प्रतिबिम्बित शुद्ध चैतन्य को प्रस्तुत करता है जबकि ब्रह्म चैतन्य मुक्त अनन्त चैतन्य जिसके आधार पर माया की समस्त ब्रह्माण्ड सृष्टि का निर्माण होता है। जिस अविद्या के आवरण को दूर करने के लिए अन्त करण की प्रक्रिया आवश्यक समझी गई है यह दो प्रकार की है आत्मपरक अविद्या एवं वस्तुपरक अविद्या। जब मैं कहता हूँ कि मुझे पुस्तक का

ज्ञान नही है तो इसमे 'मुझे ज्ञान नही है' के अर्थ मे आत्मपरक अविद्या निहित है एव पुस्तक के सबध के रूप मे वस्तुपरक अविद्या है। प्रथम का निराकरण प्रत्यक्ष अथवा अनुमति सब प्रकार के ज्ञान की पहली शर्त है जबकि द्वितीय का निराकरण केवल प्रत्यक्ष ज्ञान मे ही होता है। इन्द्रिय विषयो के आकार एव सामग्री के अनुसार यह विविध प्रकार की होती है, एव प्रत्येक प्रत्यक्ष का ज्ञान केवल उस विशिष्ट अविद्या का ही निराकरण करता है जिसके द्वारा उस विशिष्ट ज्ञान की उत्पत्ति होती है।[1]

शकर एव उनके सम्प्रदाय

यह ठीक ठीक कहना कठिन है कि स्वय शकर ने कितने ग्रथ लिखे। इसमे कोई सदेह नही कि शकर द्वारा लिखित बताई गई कई पुस्तकें उन्होने नही लिखी। यद्यपि नि सदेह रूप से निश्चित होना अत्यधिक कठिन है फिर भी मैं उन पुस्तको की सूची प्रस्तुत करता हूँ जो मुझे उनके मौलिक ग्रथ प्रतीत होते हैं। मैंने केवल उन्ही ग्रथो को चुना है जिन पर अन्य लेखको ने टीकाए लिखी हैं क्योकि इससे यह स्पष्ट है कि उनकी मौलिकता का समर्थन करने के लिए उनके पास परम्परा का बल है। शकर की सर्वाधिक महत्वपूर्ण कृतियाँ दस उपनिषदो, ईश, केन, कठ प्रश्न मुण्डक माण्डूक्य, ऐतरेय तैत्तिरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक पर उनके भाष्य एव शारीरिक मीमासा भाष्य हैं। उनके द्वारा सभवत नही लिखे गए कई ग्रथो को उनके द्वारा लिखित बताने के दो मुख्य कारण हैं, प्रथम यह कि उसी नाम अर्थात् शकराचार्य के अन्य लेखक थे और दूसरा यह कि भारतीय लेखको की यह प्रवृत्ति रही है कि बाद के ग्रथो को अतीत के महान् लेखको द्वारा लिखित बताकर उनकी प्रतिष्ठा को बढाया जाए। व्यास को समस्त पुराणो का लेखक बताना इस बात को अत्यत स्पष्ट रूप से प्रदर्शित करता है। ईशोपनिषद् के शाकर भाष्य पर आनदज्ञान ने एक टीका लिखी है और एक अन्य दीपिका दूसरे शकर आचार्य ने लिखी है। उनके केनोपनिषद् भाष्य पर दो टीकाए लिखी गई हैं केनोपनिषद् भाष्य विवरण एव आनदज्ञान कृत एक टीका। आनदज्ञान और बालगोपाल योगीन्द्र ने काटकोपनिषद् भाष्य पर दो टीकाए लिखी हैं। प्रश्नोपनिषद् भाष्य पर दो टीकाए हैं एक आनदज्ञान कृत तथा दूसरी नारायणेन्द्र सरस्वती कृत आनदज्ञान और अभिनव नारायणेन्द्र सरस्वती ने मुण्डकोपनिषद् पर दो टीकाए लिखी हैं। आनदज्ञान एव मथुरानाथ शुक्ल ने माण्डूक्योऽपनिषद् पर दो टीकाए एव राघवानद ने माण्डूक्योऽपनिषद् भाष्यार्थ सग्रह नामक सार ग्रन्थ लिखा है। आनदज्ञान, अभिनव नारायण, नृसिंह आचार्य, बालकृष्णदास ज्ञानामृत-

---

[1] मधुसूदन सरस्वती कृत सिद्धात बिन्दु देखिए पृ० १३२ १५०, एव ब्रह्मानद सरस्वती-कृत न्याय रत्नावली, देखिए पृष्ठ १३२ १५० श्री विद्या प्रेस कुभकोणम्, १८९२।

यति और विश्वेश्वर तीर्थ कृत ऐतरायोपनिषद् भाष्य पर ■ टीकाएं हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि तैत्तिरियोपनिषद् भाष्य पर केवल एक ही टीका आनंदज्ञान ने लिखी है। छांदोग्योपनिषद् भाष्य पर भाष्य टिप्पण नामक एवं आनंदज्ञान कृत टीकाएं हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य पर आनंदज्ञान ने टीका लिखी है और सुरेश्वर ने उस पर बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य वार्तिक अथवा केवलवार्तिक नामक एक महान् स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा है जिस पर भी कई टीकाएं हैं, सुरेश्वर के बारे में लिखे गए अध्याय में ये बातें बताई गई है। उनके अपरोक्षानुभव पर शंकर आचार्य बालगोपाल, चण्डेश्वर वर्मन् (अनुभव दीपिका) एवं विद्यारण्य ने चार टीकाएं लिखी हैं। गौडपादकृत माण्डूक्य कारिका पर उनके गौडपादीय भाष्य अथवा आगम शास्त्र विवरण पर शुद्धानंद एवं आनंदज्ञान ने एक एक टीका लिखी है। आनन्दज्ञान एवं पूर्णानन्द तीर्थ ने उनके आत्म ज्ञानोपदेश पर दो टीकाएं लिखी हैं, 'एक श्लोक' पर स्वयंप्रकाशयति ने 'तत्व दीपन' नामक भाष्य लिखा है किन्तु विवेक चूडामणि पर कोई भाष्य नहीं लिखा गया जो शंकर का मौलिक ग्रन्थ प्रतीत होता है अद्वयानंद, भासुरानंद, बोधेन्द्र, (भाव प्रकाशिका) मधुसूदन सरस्वती एवं रामानन्द तीर्थ ने आत्म बोध पर कम से कम पांच टीकाएं लिखी पद्मपुराण पूर्णानंद तीर्थ सायण और स्वयंप्रकाशयति ने आत्मानात्मा विवेक पर कम से कम चार भाष्य लिखे। आनन्दज्ञान ने आत्मोपदेश विधि पर टीका लिखी बताते हैं। अप्पय दीक्षित कविराज कृष्ण आचार्य (मंजु भाषिणी) केशव भट्ट कैवल्याश्रम (सौभाग्य वर्धिनी) गंगाहरि (तत्वदीपिका) गंगाधर, गोपीराम गोपीकांत सार्वभौम (आनंद लहरी-तरी) जगदीश जगन्नाथ पंचानन, नरसिंह ब्रह्मानंद (भावार्थ दीपिका) मल्ल भट्ट महादेव विद्यावागीश, महादेव वैद्य रामचन्द्र रामभद्र रामानन्द तीर्थ लक्ष्मीधर देशिक विश्वम्भर और श्रीकण्ठ भट्ट एवं अन्य विद्वन्मनोरमा नामक ने आनंद लहरी पर करीब चौबीस टीकाएं लिखी। उपदेश साहस्री पर आनन्दज्ञान रामतीर्थ (पदयोजनिका) विद्याधामन् के एक शिष्य बोधनिधि और शंकराचार्य ने कम से कम चार टीकाएं लिखी। उनके चिदानंद स्तव राज पर भी जो चिदानन्द दश श्लोकी अथवा केवल दश श्लोकी भी कहलाता है कई टीकाएं एवं उपटीकाएं लिखी गई जैसे मधुसूदन सरस्वती कृत सिद्धान्त तत्व बिन्दु मधुसूदन कृत भाष्य पर कई लोगों ने टीकाएं लिखी, यथा नारायणयति (लघु टीका) पुरुषोत्तम सरस्वती (सिद्धान्त बिन्दु सन्दीपन), पूर्णानंद सरस्वती (तत्व विवेक) गौड ब्रह्मानंद सरस्वती (सिद्धान्त बिन्दु न्याय रत्नावली) सच्चिदानंद और शिवलाल शर्मा। गौड ब्रह्मानंद कृत टीका सिद्धान्त बिन्दु न्याय-रत्नावली पर कृष्णकान्त ने (सिद्धान्त न्याय रत्न प्रदीपिका) एक और टीका लिखी। शंकर दृग दृश्य प्रकरण पर रामचन्द्र तीर्थ ने टीका लिखी उनकी पंचीकरण प्रक्रिया पर पुनः कई टीकाएं लिखी गयी—सुरेश्वर ने पंचीकरण वार्तिक लिखा जिस पर भी

पचीकरण-वार्तिकाभरण नामक टीका ज्ञानेन्द्र सरस्वती के शिष्य अभिनव नारायणेन्द्र सरस्वती द्वारा लिखी गयी। पचीकरण प्रक्रिया पर अन्य टीकाए निम्न है —

पचीकरण भाव प्रकाशिका, पचीकरण टीका तत्व चन्द्रिका, पचीकरण तात्पर्य चन्द्रिका, आनन्दज्ञान कृत पचीकरण विवरण, स्वयप्रकाशयति एव प्रज्ञानानन्द द्वारा पचीकरण विवरण एव तत्व चन्द्रिका नामक उप टीका। शकर ने भगवद्गीता पर भी भाष्य लिखा, इस भाष्य की परीक्षा इसी ग्रन्थ मे भगवद्गीता पर लिखे गए अध्याय म की गई है। उनके लघु वाक्य वृत्ति पर पुष्पाञ्जलि नामक टीका एव रामानन्द सरस्वती कृत लघुवाक्य वृत्ति प्रकाशिका नामक अन्य टीका है, उनके वाक्यवृत्ति पर आनन्दज्ञान न टीका की एव विश्वेश्वर पडित ने वाक्य वृत्ति प्रकाशिका नामक टीका लिखी। उन्होने अपनी 'वाक्य वृत्ति' का प्रारम्भ उसी प्रकार किया है जैसे ईश्वर कृष्ण ने अपनी साख्यकारिका का प्रारम्भ यह कह कर किया है कि जीवन के त्रिविधतापो से दुखी होकर उनसे मुक्ति प्राप्त करने के साधन के बारे मे शिक्षा प्राप्त करने के लिए शिष्य योग्य आचार्य के पास जाता है। सुरेश्वर भी अपने 'नैष्कर्म्यसिद्धि' नामक ग्रन्थ का उसी प्रकार प्रारम्भ करते हैं और इस प्रकार दर्शन के अध्ययन को एक क्रियात्मक रूप देते हैं जिसका विधान ब्रह्मसूत्र भाष्य मे नही पाया जाता। निस्सदेह कई अन्य स्थलो पर दिया गया उत्तर ही यहाँ पर दिया गया है कि ब्रह्म एव जीव की एकरूपता प्रतिपादित करने वाले उपनिषद् वाक्यो की सम्यक् अनुभूति के अनन्तर ही मोक्ष प्राप्ति सम्भव है। वे आगे चल कर बताते हैं कि समस्त बाह्य वस्तुए तथा मनस अथवा मानसिक अथवा लिंग शरीर शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा के लिए विजातीय है वे यहाँ यह भी कहते है कि मानव के कर्म फलो का निवटारा मीमासको द्वारा स्वीकृत अपूर्व की रहस्यमयी शक्ति द्वारा नही वल्कि ब्रह्म से श्रेष्ठतर भ्रमात्मक स्वरूप ईश्वर, द्वारा होता है। तिरपन श्लोको के इस लघु ग्रन्थ के अन्त म वे इस तथ्य पर बल देते हैं कि यद्यपि उपनिषदो की अद्वैत श्रुति यथा तत् (ब्रह्मन्) त्वम् असि एक द्वतापेक्ष शाब्दिक रचना हो सकती है फिर भी उनका मुख्य बल तादात्म्य के सम्बन्ध द्वारा ग्राह्य बौद्धिक प्रक्रिया के बिना विशुद्ध आत्मा की अपरोक्ष एव सद्य अनुभूति पर है। इस प्रकार वाक्य वृत्ति का वहाँ अपरोक्षानुभूति से भिन्न ग्रहण किया है जहाँ आसन एव प्राणायाम की योग प्रक्रियाओ को आत्मा के यथार्थ स्वरूप की अनुभूति मे सहायक बताया गया है। इसस अपरोक्षानुभूति के वास्तविक लेखकत्व के सम्बन्ध मे सशय उत्पन्न हो सकता है यद्यपि स्वय शकर के मस्तिष्क के विकास की विभिन्न अवस्थाओ को इसका कारण बताया जा सकता है उनके गौडपादकारिका भाष्य म वर्णित विज्ञानवाद म भी विभिन्न प्रवृत्तियो के दर्शन होते हैं। वहाँ जाग्रतावस्था को स्वप्नावस्था के पूर्ण समरूप माना गया है एव बाह्य विषयो का कोई भी अस्तित्व नहीं माना गया है क्योंकि शारीरक मीमासा भाष्य म वर्णित स्वप्न सर्गो से अतीव भिन्न अनिर्वचनीय अस्तित्व वाले बाह्य विषयो की तुलना म वे निर्विकल्प रूप से स्वप्न

प्रयश्न सम है। उन्नीस अध्याय तथा छः सौ पचहत्तर श्लोक युक्त उपदेश साहस्त्री का वाक्य वृत्ति के साथ अधिक साम्य है। इसमें यद्यपि सुविज्ञात समस्त वेदान्त विषयों पर किंचित् प्रकाश ही डाला गया है फिर भी ब्रह्मत्व प्राप्ति के साधन रूप 'तत्त्वमसि' जैसे वेदान्ती अद्वैत श्रुतियों की सम्यक् अनुभूति पर अधिक बल दिया गया है। कई ऐसे लघु श्लोक एवं मन्त्र भी हैं जिनके लेखक शंकराचार्य बताए जाते हैं यथा अद्वैतानुभूति, आत्मबोध, सत्वोपदेश, प्राढानुभूति इत्यादि। उनमें से निस्सन्देह कुछ की रचना तो उन्होंने की जबकि बहुत से ऐसे भी हो सकते हैं जिनके रचयिता वे नहीं हों, परन्तु इस सम्बन्ध में कोई अन्य प्रमाण नहीं होने के कारण किसी निश्चयात्मक निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है।[1] इन मन्त्रों में कोई और अधिक दार्शनिक सामग्री नहीं है परन्तु इनका उद्देश्य अद्वैती सम्प्रदाय के पक्ष में धार्मिक श्रद्धा एवं उत्साह को जाग्रत करना है। तथापि उनमें से कुछ में टीकाकारों ने ऐसे वेदान्ती सिद्धान्तों को निकालने का बहाना प्राप्त कर लिया है जो स्पष्टतः उनमें से उद्भूत नहीं कहे जा सकते। उदाहरणस्वरूप यह बताया जा सकता है कि शंकर के दस श्लोकों से ही मधुसूदन ने एक महान् भाष्य लिख डाला एवं ब्रह्मानन्द सरस्वती ने मधुसूदन के इस भाष्य पर एक अन्य महान् भाष्य लिखा तथा वेदान्त सम्बन्धी कई जटिल समस्याओं का विस्तृत विवेचन किया जिनका स्वयं श्लोकों से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। परन्तु शंकर का सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ ब्रह्मसूत्र भाष्य है जिस पर वाचस्पति मिश्र ने नवम् शतक में आनन्दज्ञान ने तेरहवें शतक में और गोविन्दानन्द ने चौदहवें शतक में टीकाएं लिखी। वाचस्पति कृत भाष्य की टीकाएं वाचस्पति मिश्र के बारे में लिखित अध्याय में देखी जा सकती हैं। सुब्रह्मण्य ने भाष्यार्थ न्याय माला नामक शांकर भाष्य का छन्दोबद्धसार लिखा है और भारतीतीर्थ ने वैयासिक न्याय माला लिखी जिसमें उन्होंने शांकर भाष्य के आधार पर ब्रह्मसूत्र की सामान्य युक्तियों का विवेचन करने का प्रयत्न किया है। कई अन्य व्यक्तियों के यथा वैद्यनाथ दीक्षित देवराम भट्ट इत्यादि ने भी शांकर भाष्य लिखित ब्रह्मसूत्र की सामान्य युक्तियों में से मुख्य विषयानुसार सार ग्रंथ लिखे जिन्हें न्याय माला अथवा अधिकरण माला कहते हैं। परन्तु कई अन्य व्यक्तियों को शांकर भाष्य से (अथवा वाचस्पति मिश्र कृत एवं शांकर शाखा के अन्य महान् लेखकों द्वारा टीकाओं से) प्रेरणा मिली और ब्रह्मसूत्र पर स्वतंत्र भाष्यों के नाम पर उन्होंने इन भाष्यों में लिखित सामग्री की केवल पुनरुक्ति ही की। इस प्रकार अमलानन्द ने शांकर-भाष्य पर वाचस्पति कृत टीका की मुख्य बातों का अनुकरण करते हुए अपना शास्त्र दर्पण लिखा और स्वयंप्रकाश ने भी अपना 'वेदान्त नय भूषण' लिखा जिसमें अधिकतर उन्होंने भामती टीका में नीति के विचारों को संक्षेप में प्रस्तुत किया। ब्रह्मसूत्र की स्वतंत्र व्याख्याओं के रूप में हरिदीक्षित ने अपना 'ब्रह्म सूत्र वृत्ति' शंकरानन्द ने 'ब्रह्म सूत्र दीपिका' और ब्रह्मानन्द

[1] पद्मपाद ने अपने आत्म-बोध व्याख्यान में, जिसे वेदान्त सार भी कहते हैं आत्म बोध पर टीका की है।

ने वेदात सूत्र मुक्तावली' लिखे परन्तु ये सब मुख्यतया स्वय शाकर भाष्य के अनुसार लिखे गए हैं। जिन ग्रन्था ने शकर के परवर्ती काल मे उनकी शाखा के दार्शनिका एव शाकर भाष्य के व्याख्याताओ द्वारा विकसित अन्य वेदान्ती विचारा का जोड कर शाकर भाष्य क पूरक का काय किया उनम से कुछेक निम्न हैं—विश्वेश्वरानन्द के शिष्य ब्रह्मानन्दयति कृत 'ब्रह्मसूत्र भाष्याय सग्रह, गौरी एव शिव के पुत्र वेंकट कृत 'ब्रह्मसूत्राथ दीपिका', अन्नम् भट्ट कृत ब्रह्म सूत्र वत्ति' (जिसे मिताक्षरा भी कहा गया है), ज्ञानघन के शिष्य नानोत्तम भट्टारक कत 'ब्रह्मसूत्र भाष्य न्याख्या (जिसे विद्यार्थी भी कहा गया है।) इस अन्तिम ग्रन्थ की विशेषता यह है कि एकजीववाद पद्धति पर लिखी यह केवल एक ही एसी टीका है जो वतमान लेखक को उपलब्ध हो सकी। इनके अतिरिक्त कुछ और टीकाओ का उल्लेख किया जा सकता है, यथा मुकुन्दाश्रम के शिष्य के शिष्य एव रामचन्द्राय के शिष्य धमभट्ट कृत 'ब्रह्म-सूत्र वत्ति ब्रह्मानन्द के शिष्य के शिष्य एव रामानन्द के शिष्य अद्वैतानन्द कृत सूत्र भाष्य व्याख्यान' (जिसे ब्रह्मविद्या भरण भी कहा गया है), अप्पय दीक्षित कृत ब्रह्म सूत्र-भाष्य-व्याख्या', (जिसे न्याय रक्षा मणि भी कहते हैं) सदाशिवेन्द्र सरस्वती कृत ब्रह्मतत्व प्रकाशिका' (जो पूवतर ग्रन्थ ब्रह्मप्रकाशिका से भिन्न है) रामानन्द के शिष्य रामेश्वर भारती कृत 'ब्रह्मसूत्रोपन्यास, सुब्रह्मण्य अग्निचित् मखीन्द्र कृत शारीरक मीमासा सूत्र सिद्धान्त कौमुदी, सीताराम कृत वेदा त कौस्तुभ, जिनमे से कोई भी सोलहवें शतक के पूव की नही प्रतीत होती। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकाशात्मन् १२०० ई० प० के आचाय अन्न यानुभव ने शारीरक न्याय मणिमाला नामक एक ग्रन्थ भाष्य लिखा। प्रकाशात्मन् ने स्वय भी शाकरभाष्य की मुख्य सामग्री को छदोबद्ध साररूप म लिखा जिसका नाम 'शारीरक मीमासा न्याय सग्रह है और उनके बहुत बाद कृष्णानुभूति ने शारीरक मीमासा सग्रह नामक उसी प्रकार छदोबद्ध सारग्रन्थ की रचना की।

मडन, सुरेश्वर एवं विश्वरूप

सामान्य परम्परानुसार मडन सुरेश्वर एव विश्वरूप को सदा एक ही माना गया है और ऐसा प्रतीत होता है कि कनल जी० ए० जैकब अपने नैष्कर्म्य सिद्धि' के द्वितीय सस्करण के प्राक्कथन मे इस परम्परा को मानते हैं। यह परम्परा सम्भवत विद्यारण्य कृत शाकर दिग्विजय से प्रारम्भ हुई जिसम मण्डन का उल्लेख हो नहीं बल्कि विश्वरूप नाम स भी सम्बोधित किया गया है (८६३)। आगे चलकर वे उसी ग्रन्थ के १०४ म कहते हैं कि जब मडन शकर के शिष्य हुए तब उन्होने उन्हे सुरेश्वर नाम दिया। परन्तु 'शकर दिग्विजय एव पौराणिक जीवन चरित है और जबतक किसी विश्वसनीय साक्ष्य से उसके कथन पुष्ट नही हो जाए तबतक इनम विश्वास

करना भयावह है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सुरेश्वर 'शांकर बृहदारण्यक उपनिषद् वार्त्तिक' अथवा पद्यात्मक टीकाओं के लेखक थे जिसका संक्षेपण विद्यारण्य द्वारा भी वार्त्तिक नामक ग्रन्थ में किया गया जिसकी टीका बाद में महेश्वर तीर्थ द्वारा अपनी लघु संग्रह' नामक टीका में की गई। सुरेश्वर कृत वार्त्तिक पर टीका कम से कम दो टीकाकारों ने आनन्दगिरी ने शास्त्र प्रकाशिका' में और आनन्दपूर्ण ने अपने न्याय कल्प लतिका में की। बिब्लियाथेका इंडिका पुस्तकमाला (पृ० ५१) में मुद्रित पाराशर स्मृति टीका में इस वार्त्तिक से अद्भुत एक उद्धरण को विश्वरूप द्वारा कथित बताया गया है, परन्तु यह टीका बाद का ग्रन्थ है और अधिक सम्भावना इस बात की है कि इसने विद्यारण्य के इस आप्तवचन में विश्वास कर लिया कि विश्वरूप एवं सुरेश्वर एक ही व्यक्ति है। विद्यारण्य भी अपने विवरण प्रमेय संग्रह (पृष्ठ ९३) में सुरेश्वर कृत वार्त्तिक (४८) में से एक पद्यांश उद्धृत करके उसे विश्वरूप द्वारा लिखित बताते हैं। परन्तु विवरण प्रमेय संग्रह (पृष्ठ २२४) के एक अन्य स्थल में वे एक वेदान्त सिद्धान्त का उल्लेख करते हैं और उसे ब्रह्म सिद्धि के लेखक द्वारा प्रतिपादित बताते हैं। परन्तु यह ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ है और उसकी पाण्डुलिपियाँ बड़ी दुर्लभ हैं वर्तमान लेखक का सौभाग्यवश एक उपलब्ध हो गई। इस ग्रन्थ के दर्शन का विस्तृत विवेचन अलग विभाग में किया जाएगा। 'ब्रह्म सिद्धि' एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है और इस पर वाचस्पति ने अपनी तत्व समीक्षा में आनन्दपूर्ण ने अपनी ब्रह्म सिद्धि व्याख्या रत्न में शंखपाणि ने अपनी ब्रह्म सिद्धिटीका में और चित्सुख ने अपनी अभिप्राय प्रकाशिका में टीका की है। परन्तु केवल अन्तिम दो ग्रन्थों की ही पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध हैं। किन्तु कई महत्वपूर्ण ग्रन्थ ब्रह्मसिद्धि का एवं सामान्यतया ब्रह्मसिद्धि के लेखक (ब्रह्मसिद्धिकार) द्वारा प्रतिपादित उस ग्रन्थ के विचारों का उल्लेख करते हैं। परन्तु जहाँ तक वर्तमान लेखक को विदित है इनमें से किसी भी उल्लेख में ब्रह्मसिद्धिकार को सुरेश्वर नहीं बताया गया है। ब्रह्म सिद्धि पद्य एवं गद्य में लिखा गया था क्योंकि चित्सुख कृत तत्व प्रदीपिका' में (पृष्ठ ३८१ निर्णय सागर प्रेस) और न्याय कणिका (पृष्ठ ८०) में इसका उद्धरण पद्य में है जबकि तत्व प्रदीपिका (पृष्ठ ८०) के अन्य स्थलों पर अन्य उद्धरण गद्य में हैं। फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि मण्डन अथवा मण्डनमिश्र ने ब्रह्म सिद्धि' लिखा क्योंकि श्रीधर ने अपनी न्याय कन्दली (पृष्ठ २१८) में और चित्सुख ने अपनी 'तत्व प्रदीपिका (पृष्ठ १४०) में मण्डन को ब्रह्मसिद्धि का लेखक बताया है। वस्तुतः दशम् शतक के मध्य में रहने वाले श्रीधर के साक्ष्य को विश्वसनीय समझना चाहिए क्योंकि मंडन की मृत्यु के सौ वर्षों के बीच में यह रहे, चाहे मंडन कोई भी हो परन्तु चूंकि वह शंकर (८२० ई०पू०) के परकालीन थे अतः नवम शतक के मध्य से पूर्वतर नहीं रहे होंगे। अतः यह निश्चित रूप से ज्ञात है कि सुरेश्वर ने नैष्कर्म्य सिद्धि' और वार्त्तिक लिखे और मंडन ने ब्रह्मसिद्धि लिखा। यदि ब्रह्मसिद्धि के सिद्धान्त अथवा दृष्टिकोण की तुलना नैष्कर्म्य सिद्धि अथवा

वार्तिक के साथ की जाय तो इन दोनो व्यक्तियो के एक ही होने का प्रश्न हल किया जा सकता है। इसका उल्लेख करने वाले विभिन्न लेखको की रचनाओ मे प्राप्त कुछेक उद्धरणो से कुछ निश्चयात्मक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।[1]

समस्त उद्धरणो मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण वह उद्धरण है जो विवरण-प्रमेय संग्रह (पृष्ठ २२४) मे ब्रह्म सिद्धि से उद्धृत है। वहा कहा गया है कि ब्रह्म सिद्धि के लेखक अनुसार जीव ही स्वय अपनी अविद्या द्वारा अपने लिए अविकारी ब्रह्म पर मिथ्या जगत् अवभास की रचना करते हैं। ब्रह्म न तो स्वय अपने मे, न मायायुक्त अथवा माया मे प्रतिबिम्बित होकर जगत् का कारण है (ब्रह्म न जगत् कारणम्)। अवभास केवल जीव के अविद्या की ही सृष्टि है, अत जीव के सासारिक मिथ्या प्रत्ययो का कोई वस्तुपरक आधार नही है। व्यक्तिगत प्रत्ययो में साम्य का कारण एक ही प्रकार की अविद्या के मिथ्या प्रभाव से पीडित विभिन्न व्यक्तियो मे भ्रम सादृश्य है इस प्रकार इसका सादृश्य कई व्यक्तियो के द्विचन्द्र के मिथ्या प्रत्यय मे किया जा सकता है। सारे व्यक्ति एक ही जगत् का प्रत्यय नही करते, उनके मिथ्या प्रत्यय मे सादृश्य है परतु प्रत्यय के वस्तुपरक आधार मे कोई सादृश्य नही है। (सवादस्तु बहु पुरुषावगत द्वितीय-चद्रवत् सादृश्याद् उपपद्यते)। यदि यह मान लिया जाय कि यह वृत्तान्त सही है तो बाद के समय मे प्रकाशात्म द द्वारा इतने बलपूर्वक प्रतिपादित दृष्टि सृष्टिवाद के वेदान्ती सिद्धान्त का मूल प्रतिपादक मडन मिश्र को माना जा सकता है। पुन प्रकाशात्मन् कृत पचपादिका विवरण मे (पृष्ठ ३२) यह माना गया है कि ब्रह्मसिद्धि के लेखक के अनुसार अविद्या एव माया, दोनो मिथ्या प्रत्यय के अतिरिक्त कुछ नही (अविद्या माया मिथ्याप्रत्यय इति) ज्ञान के सशयनाशक कार्य के बारे मे उनका यह विचार है (जैसा कि न्याय कदली पृष्ठ २१८ मे वर्णित है) कि ज्ञात की सत्यता के बारे मे सशय का छेदन स्वय ज्ञान द्वारा ही होता है। न्याय कणिका मे (पृष्ठ ८०) यह कहा गया है कि मडन के अनुसार परम सत्ता स्वय अपने आपको एकत्व अथवा विश्वरूपत्व के अनन्त प्रत्ययो मे प्रकट करती है जबकि सीमित प्रत्यय के फलस्वरूप ही भेद का अवभास होता है। पुन लघु चन्द्रिका मे (पृष्ठ ११२ कुम्भकोणम सस्करण) अविद्या के नाश के स्वरूप एव ब्रह्मज्ञान के साथ उनके सबध के बारे मे विचार विमर्श करते

---

[1] उपरोक्त विभाग लिखने के बाद मैंने ब्रह्मसिद्धि की एव उसकी टीका की पाँडुलिपि की एक प्रतिलिपि का आधार राजकीय सस्कृत पाँडुलिपि सग्रहालय व ग्रथालय मे अवलोकन किया था एव मुझे यह लिखने मे प्रसन्नता का अनुभव होता है कि इसकी सामग्री की पूर्ण परीक्षा द्वारा उपरोक्त अनुमान की पुष्टि होती है। प्रो० कुप्पुस्वामी निकट भविष्य मे ही ब्रह्मसिद्धि को मुद्रित करवा रहे हैं और मैंने दिसम्बर १९२८ मे मद्रास मे प्रो० कुप्पुस्वामी शास्त्री के सौजन्य से उसके तत्पाद का अवलोकन किया। मडन कृत ब्रह्मसिद्धि का दर्शन अलग विभाग मे वर्णित है।

समय मंडन का परिचय प्राप्त होता है। शंकर के अनुसार, जसाकि सुरेश्वर तथा उनके कई अनुयायियों ने व्याख्या की है अभाव की भिन्न सत्ता नहीं होने के कारण अविद्यानिवृत्ति अभाव नहीं है। अत अविद्या निवृत्ति का अर्थ केवल ब्रह्म है। परन्तु मंडन के अनुसार अविद्या निवृत्ति के रूप में इस प्रकार के अभाव के अस्तित्व को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि ब्रह्म के एकत्व का अर्थ यह है कि केवल एक ही असंदिग्ध सत्ता है। अभाव से इसका कोई सम्बन्ध नहीं अर्थात् द्वैत के अभाव का अर्थ केवल यही है कि ब्रह्म के अतिरिक्त समस्त विध्यात्मक सत्ताओं का अभाव होता है (भावाद्वैत)। अविद्या की निवृत्ति के रूप में इस प्रकार के अभाव का अस्तित्व अद्वैती सिद्धान्त को हानि नहीं पहुँचाता। पुन अपने संक्षेप शारीरक (२ १७४) में सर्वज्ञात्म मुनि कहते हैं कि अविद्या का आश्रय शुद्ध चैतन्य है (चि मात्राश्रित विषयम अज्ञानम) और जहाँ भी शांकर भाष्य के प्रसंग से ऐसा प्रतीत हो कि मानो वे जीव को ही अज्ञान का आश्रय मानते हों, वहाँ भी उसकी इसी अर्थ में व्याख्या करनी चाहिए। अत ऐसे दृष्टिकोण के प्रति यथा अविद्या का आश्रय जीव है मंडन की आपत्तियों की ओर कोई ध्यान नहीं देना चाहिए, क्योंकि मंडन के विचार सर्वथा अन्यथा निष्कर्षों को ही प्राप्त कराते हैं (परिहृत्य मंडन वाच तद्ध्यन्यथा प्रस्थितम)।[१] संक्षेप शारीरक के टीकाकार रामतीर्थ स्वामी भी उक्त स्थल पर टीका करते हुए मंडन के उपरोक्त दृष्टिकोण का सुरेश्वर से वैषम्य प्रदर्शित करते हैं। सुरेश्वर को उन्होंने संक्षेप शारीरक ग्रन्थों में बहुश्रुत कहा है और उनका मंडन के विचारों के विरुद्ध सर्वज्ञात्म मुनि के विचारों से साम्य बताया है। अब जैसाकि मंडन के सम्बन्ध में कही गई निम्न बातों से प्रतीत होगा मंडन के इन कई विचारों से सुरेश्वर सहमत नहीं है। अत यह प्रतीत नहीं होता कि मंडन मिश्र और सुरेश्वर एक ही व्यक्ति थे। परन्तु यदि मंडन के विचारों का इतना अधिक जानने वाले विद्यारण्य उन दोनों को शंकर दिग्विजय में एक ही बताते हैं तो यह विचारणीय है। अब श्री हिरीयन्न ने जर्नल आफ रोयल एशियाटिक सोसाइटी १९२४ में अपने संक्षिप्त नोट द्वारा इस कठिनाई को दूर कर दिया है जिसमें उन्होंने बताया है कि विद्यारण्य अपने वार्तिक सार में ब्रह्म सिद्धि के लेखक का वार्तिक के लेखक अर्थात् सुरेश्वर से भिन्न बताते हैं। अब, यदि वार्तिक सार के लेखक विद्यारण्य को यह पता होता कि ब्रह्म सिद्धि के लेखक मंडन और सुरेश्वर एक ही व्यक्ति नहीं है तो वे शंकर दिग्विजय में उन्हें एक ही व्यक्ति नहीं बताते। उससे स्वभावत यह संशय उत्पन्न होता है कि विवरण प्रमेय संग्रह एवं वार्तिक सार के लेखक विद्यारण्य और

शकर दिग्विजय लेखक विद्यारण्य एक ही व्यक्ति नही थे। एक अन्य दृष्टि से भी यह विचार उत्पन्न होता है कि विद्यारण्य (विवरण प्रमेय सग्रह) शाकर दिग्विजय के लेखक नही हो सकते थे। आनन्दात्मा के दो शिष्य अनुभावानन्द और शकरानन्द थे। अनुभवानन्द के अमलानन्द और शकरानन्द के विद्यारण्य शिष्य थे। अत अमलानन्द के आचार्य सुखप्रकाश थे जिसके आचार्य चित्सुख थे। इस प्रकार चित्सुख विद्यारण्य के परम गुरू आनन्दात्मा के समकालीन माने जा सकते हैं। यदि ऐसा होता तो वह अपने शाकर दिग्विजय (१३ ५) में यह नही लिख सकते थे कि पद्मपाद के कई शतक बाद रहने वाले चित्सुख पद्मपाद के शिष्य थे। अत यह वेखटके कहा जा सकता है कि शाकर दिग्विजय के लेखक विवरण प्रमेय सग्रह के लेखक नहीं थे। अब, यदि ऐसा है तो विवरण प्रमेय सग्रह के लेखक पर हमारा विश्वास सदेहास्पद एव असुरक्षित नही कहा जा सकता। परन्तु विवरण प्रमेय सग्रह के पृष्ठ ६२ पर सुरेश्वर कृत वार्तिक का एक पद्यांश (४८) विश्वरूप आचार्य का बताया गया है। अत जबतक हम यह नही मान लेते कि मडन केवल मीमांसा लेखक ही नही बल्कि एक महान् सम्मानित वेदान्त लेखक भी थे और शकर द्वारा उनके मत परिवर्तन का अर्थ केवल यही था कि उन्होंने अपने कुछ वेदान्ती विचारों में परिवर्तन किया और शकर की विचारधारा को अंगीकार किया और इसी अवस्था में वह सुरेश्वर कहलाए तब तक यह निष्कर्ष नही निकाला जा सकता है कि ब्रह्म सिद्धि के लेखक मडन और सुरेश्वर एक ही व्यक्ति थे। इस सिद्धान्त के अनुसार उनकी ब्रह्म सिद्धि सम्भवत उनके शाकर मत ग्रहण करने के पूर्व लिखा गया। यह सम्भव है कि यह सिद्धान्त ठीक हो और यह कि विधि विवेक के लेखक ही ब्रह्म सिद्धि के लेखक हो क्योंकि वाचस्पति ने अपनी न्याय कणिका में ब्रह्म सिद्धि का एक अंश इस ढंग से उद्धृत किया है कि जिससे एसा सकेत होता है कि सम्भवत विधि विवेक के लेखक के ब्रह्म-सिद्धि के भी लेखक होने की ही सभावना है। यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि विश्वरूप और सुरेश्वर दोनों के एक होने की ही सम्भावना है यद्यपि इस विषय पर वर्तमान लेखक को विवरण प्रमेय सग्रह के लेखक द्वारा प्रदत्त विवरणों के अतिरिक्त अन्य कोई महत्वपूर्ण विवरण उपलब्ध नही है।

मडन (८०० ई० पू०)

मडन मिश्र कृत ब्रह्म सिद्धि एव उस पर शखपाणि कृत टीका की पाडुलिपियाँ उपलब्ध हैं मद्रास के महामहोपाध्याय कुप्पुस्वामी शास्त्री शीघ्र ही इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ का आलोचनात्मक सस्करण निकालने वाले हैं। महामहोपाध्याय कुप्पुस्वामी शास्त्री के सौजन्य से वर्तमान लेखक का ब्रह्म सिद्धि का प्रूफ पढने का अवसर प्राप्त हुआ था एव अदार पुस्तकालय के अवैतनिक सचालक श्री सी० कुन्हनराजा के सौजन्य

से शंखपाणि कृत टीका की पाण्डुलिपियों का भी उपयोग कर सका।[1] ब्रह्म सिद्धि कारिका एवं वृत्ति रूप में ब्रह्मसिद्धि में ब्रह्म कांड, तर्क कांड, नियोग कांड और सिद्धि कांड चार अध्याय हैं। मंडन के शंकर का समकालीन होना इस तथ्य से सिद्ध होता है कि वे शंकर के किसी भी परकालीन लेखक के बारे में कुछ भी नहीं लिखते यद्यपि उन्होंने कई ऐसे लेखकों के उद्धरण प्रस्तुत किए हैं जो शंकर के पूर्वकालीन थे यथा शबर, कुमारिल अथवा योग सूत्र भाष्य के लेखक व्यास एवं उपनिषद् वाक्यों का प्रचुर उल्लेख करते हैं।[2] मंडन कृत ब्रह्मसिद्धि पर वाचस्पति ने भी 'तत्त्व समीक्षा' नामक टीका लिखी परन्तु जहाँ तक कि वर्तमान लेखक को ज्ञात है, दुर्भाग्यवश मूल पाठ का अभी तक पता नहीं चल सका है। ब्रह्म कांड अध्याय में मंडन ब्रह्म के स्वरूप की विवेचना करते हैं तर्क कांड में वह यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि हम प्रत्यक्ष द्वारा भेद गोचर नहीं हो सकता अतः किसी को भी उपनिषद् ग्रन्थों की द्वैतवादी विचारधारा की इस आधार पर व्याख्या करने का विचार नहीं करना चाहिए कि प्रत्यक्ष भेद अभिव्यक्त करता है। नियोग कांड नामक तृतीय अध्याय में ये इस मीमांसा विचारधारा का खंडन करते हैं कि उपनिषद् वाक्यों की व्याख्या इस मीमांसा सिद्धान्त के अनुसार की जाए कि समस्त वैदिक ग्रन्थ हमें किसी प्रकार का कर्म करने अथवा न करने का आदेश देते हैं। यह पुस्तक का सबसे लम्बा अध्याय है चौथा अध्याय सिद्धि कांड सबसे छोटा है मंडन यहाँ कहते हैं कि उपनिषद् ग्रन्थ यह बताते हैं कि नाना प्रपंचात्मक जगत् की कोई सत्ता ही नहीं है तथा इसका प्रतीयमान अस्तित्व जीव की अविद्या के कारण है।

ब्रह्म कांड में मंडन ने सर्वाधिक महत्वपूर्ण वेदान्ती विचारों की व्याख्या अपने दृष्टिकोण के अनुसार की है। वे प्रथमतः द्रष्टा एवं दृश्य की समस्या को प्रस्तुत करते

---

[1] नारोत्तम के शिष्य चित्सुख ने भी इस पर अभिप्राय प्रकाशिका नामक एक टीका लिखी जिसके प्रारम्भिक कुछ हिस्सों के अतिरिक्त करीब २ पूरा भाग राजकीय प्राच्य पाण्डुलिपि पुस्तकालय, आर० नं० ३८५३ में उपलब्ध है। आनन्दपूर्ण ने भी ब्रह्म सिद्धि पर भाव शुद्धि नामक एक टीका लिखी।

[2] मंडन के अन्य ग्रन्थ भावना विवेक विधि विवेक भ्रम विवेक और स्फोट सिद्धि हैं। इनमें से विधि विवेक पर वाचस्पति मिश्र ने अपनी न्याय कणिका में टीका की एवं स्फोट सिद्धि पर भक्तदास के पुत्र ने टीका लिखी जिन्होंने वाचस्पति कृत तत्त्व बिन्दु पर तत्त्व विभावना नामक टीका भी लिखी। स्फोट सिद्धि पर टीका का नाम गोपालिका है। मंडन कृत विभ्रम विवेक एक छोटा सा ग्रन्थ है जो भ्रम के चार सिद्धान्तों (ख्याति) यथा आत्म ख्याति असत् ख्याति, अन्यथा ख्याति एवं अख्याति की विवेचना करता है। अब तक उनके केवल भावना विवेक एवं विधि विवेक ही प्रकाशित हुए।

हैं और कहते हैं कि द्रष्टा एवं दृश्य के प्रतीयमान द्वैत को हटा कर के ही अनुभव की व्याख्या की जा सकती है। क्योंकि यदि द्रष्टा एवं दृश्य का कोई वास्तविक द्वैत हो, तो उस द्वैत को हटाया नहीं जा सकता एवं दोनों के मध्य किसी प्रकार का भी संबंध स्थापित नहीं किया जा सकता, दूसरी ओर यदि केवल द्रष्टा की ही सत्ता हो तो प्रत्यक्षीकृत समस्त वस्तुओं की व्याख्या एकमात्र परम सत्ता आत्मा पर आरोपित भ्रमात्मक रचनाओं के रूप में की जा सकती है।[१] इसी युक्ति के साथ अग्रसर होते हुए वे कहते हैं कि इस द्रष्टा दृश्य संबंध को स्थापित करने के लिए मध्यस्थ अन्तःकरण की क्रिया के सिद्धान्त द्वारा प्रयत्न किए हैं, परन्तु इस माध्यम का कैसा ही स्वरूप क्यों न हो, शुद्ध अविकारी चिदात्मा अथवा द्रष्टा विभिन्न दृश्यों के साथ अपने सम्बन्ध के अनुसार अपने परिवर्तनशील विकारों के साथ विकृत नहीं हो सकता, यदि यह कहा जाए कि आत्मा अविकारी है एवं अन्तःकरण में उसके प्रतिबिम्ब द्वारा विकार की प्रतीति मात्र होती है तो यह स्पष्टतया स्वीकार करना पड़ेगा कि विषयों का वस्तुतः प्रत्यक्षीकरण न होकर प्रत्यक्षीकरण का अवभास मात्र होता है। यदि विषयों का यथार्थ प्रत्यक्षीकरण नहीं होता तो उनकी सत्ता को आत्मा से स्वतंत्र एवं पृथक मानना दोषयुक्त है।[२] जिस प्रकार दर्पण में देखी गई स्वयं अपनी आकृति को कोई

---

[१] एकत्व एवाय द्रष्ट दृश्य भावोऽवकल्पते द्रष्टुरेव चिदात्मन तथा विपरिणामाद् विवर्तनाद्वा, नानात्वेनु विविक्तस्वभावयो असंसृष्ट परस्परस्वरूपयो असम्बद्धयो कीदृशो द्रष्ट दृश्य भाव ।

कुप्पुस्वामी शास्त्री कृत ब्रह्म सिद्धि संस्करण पृष्ठ ७ (मुद्रणालय में)

[२] एवान्तःकरण सत्रा तावस्त्वेव सम्बन्ध इति चेत्, न चिते शुद्धत्वाद् अपरिणामाद् अप्रति सक्रमाच्च, दृश्याबुद्धि चिति सन्निवेशच्छायया विवर्तत इति चेत् अथ केयम् तच्छायता ? अ तद् आत्मन तदवभास, न तर्हि परमार्थतो दृश्य दृश्यते परमार्थतश्च दृश्यमाण द्रष्ट व्यतिरिक्तमस्ति इति दुर्मणम। वही। इस पर टिप्पणी करते हुए शंखपाणि इस विचार धारा को अग्राह्य करते हैं कि दृश्य पदार्थ इन्द्रिय प्रणाली द्वारा प्राप्त होते हैं और अन्तःकरण पर आरोपित होते हैं तथा उसके द्वारा आत्मा के शुद्ध चैतन्य के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हैं और उनका विषमीकरण हो जाता है न तु स्फटिकोपमे चेतसि इन्द्रिय प्रणाली सक्रान्तानाम् अर्थानां तत्रव सक्रान्तेन आत्मचैतन्येन सम्बद्धाना तद् दृश्यत्व घटिष्यते। अडयार पाण्डुलिपि पृष्ठ ७५। इस सम्बन्ध में यह बताना असंगत नहीं होगा कि धर्मराजाध्वरीन्द्र द्वारा बाद में सम्बन्धित पद्मपाद प्रकाशात्मन् का सिद्धान्त सम्भवतः प्रत्यक्षीकरण में चिच्छायापत्ति के सांख्य सिद्धान्त से अपनाया गया था जिसके अनुसार प्रत्यक्षीकरण में अन्तःकरण का आरोपण बाह्य विषयों पर होता है। यह सिद्धान्त किसी प्रकार शंकर के अस्पष्ट प्रमाण मीमांसा सम्बन्धी सिद्धान्तों के ऊपर लादा गया

व्यक्ति अपने से भिन्न मानता है और उसे अपने से पृथक सत्ता वाला मानता है उसी प्रकार एक ही आत्मा का अपने से भिन्न नाना विषयों के रूप में अवभास होता है। यह सोचना कठिन है कि किस प्रकार कोई व्यक्ति शुद्ध चैतन्य में पृथक बाह्य विषयों की सत्ता को स्वीकार करता है क्योंकि उस स्थिति में दोनों में संबंध स्थापित करना असम्भव होगा।[1]

मंडन के अनुसार अविद्या को माया अथवा मिथ्या-प्रतीति कहा गया है क्योंकि न तो यह ब्रह्म का स्वभाव है और न यह उससे भिन्न न सत् और न असत्। यदि यह किसी का स्वभाव होती तो, उससे एकरूप अथवा उससे भिन्न होने पर भी यह यथार्थ होती और उसे अविद्या नहीं कहा जा सकता यदि यह निर्विकल्प रूप से असत् होती तो आकाश कुसुम के समान उसका अनुभव ■ कोई व्यावहारिक सम्बन्ध नहीं होता जैसा अविद्या का है इस प्रकार यह स्वीकार करना पड़ेगा कि अविद्या अनिर्वचनीय है।[2]

मंडन के अनुसार अविद्या का अधिष्ठान जीव है। वे स्वीकार करते हैं कि इस दृष्टिकोण में असंगति है, परन्तु उनके विचार में स्वयं अविद्या के असंगत पदार्थ होने के कारण इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि जीव के साथ इसका सम्बन्ध भी असंगत एवं अनिर्वचनीय हो। जीवों के साथ अविद्या के सम्बन्ध की असंगति निम्न प्रकार से उत्पन्न होती है—

जीवों का आवश्यक रूप से ब्रह्म के साथ तादात्म्य है एवं जीवों के नानात्व का कारण कल्पना है परन्तु ब्रह्म के कल्पनाशून्य होने के कारण यह कल्पना ब्रह्म की नहीं हो सकती (तस्याविद्यात्मन कल्पना शून्यत्वात्) यह कल्पना जीवों की भी

था एवं व्यवस्थित प्रमाणमीमांसा सिद्धान्त के रूप में काम करने लगा। मंडन द्वारा इस प्रमाण मीमांसक सिद्धान्त की अग्राह्यता एक ओर यह बताती है कि उन्होंने इस सिद्धान्त की शंकर की व्याख्या को सही नहीं माना और शायद दूसरी ओर इसे पद्मपाद की व्याख्या की आलोचना माना जा सकता है। परन्तु *उस शाखा का उत्तर सम्भवत यह होगा कि यद्यपि जीव के अतिरिक्त विषयों की* सत्ता में उनका विश्वास था फिर भी वे शुद्ध चैतन्य के बाह्य किन्हीं विषयों की सत्ता को स्वीकार नहीं करते।

[1] तथा हि दर्पण तल-स्थम् आत्मानविभक्तम् इवात्मन प्रत्येति चितेस्तु विभक्तम् असंसृष्टतया चैत्यत इति दुरवगम्यम। ब्रह्म सिद्धि।

[2] वही। पृष्ठ ६। यहाँ यह बताना अनुपयुक्त नहीं होगा कि न्याय मकरन्द में अविद्या के अनिर्वचनीय स्वरूप (जो इस अध्याय के बाद के विभाग में वर्णित है) के बारे में आनन्दबोध द्वारा दी गई युक्ति मंडन की इस युक्ति पर आधारित है।

नहा हो सकती क्योंकि जीव तो स्वय कल्पना के ही आश्रित हैं।[1] इस कठिनाई के दो हल प्रस्तुत किए जा सकते हैं, प्रथम, माया शब्द का अर्थ ही असगत पदार्थ है यदि यह सगत एव वचनीय प्रत्यय होता तो यह यथार्थ होता, माया नहीं।[2] द्वितीय, यह कहा जा सकता है कि जीव अविद्या पर एव अविद्या जीवों पर आश्रित है, और यह चक्र अनादि है तथा इसलिए जीवों का अथवा अविद्या का प्रथम आदि नहीं है।[3] यह मत उन लोगों का है जो अविद्या को जगत् का उपादान कारण नहीं मानते हैं, पारिभाषिक शब्दावलि मे ये अविद्योपादान भेद-वादी कहलाते हैं। इसी अविद्या के द्वारा जीव आवागमन के चक्र म पडते हैं और यह अविद्या जीवों म नैसर्गिक है क्योंकि स्वय जीव अविद्या के उत्पाद्य हैं।[4] एव वेदान्ती वचनों के श्रवण मनन, निदिध्यासन इत्यादि से यथार्थ ज्ञान का उदय होता है एव अविद्या का नाश होता है, इसी अविद्या के कारण ही ब्रह्म से जीव विभक्त हुआ उसकी निवृत्ति अथवा नाश से ही वे ब्रह्म स्वरूप को प्राप्त होते हैं।[5]

ब्रह्म के स्वरूप की शुद्ध आनन्द के रूप मे परिभाषा देते हुए टीकाकार ज्ञानपाणि कुछेक अत्यत रुचिकर विचार विमर्श करते हैं। वे प्रारम्भ मे दु ख निवृत्ति के रूप मे अथवा इस प्रकार की अभावात्मक स्थिति द्वारा विशिष्ट विद्यात्मक आत्मोपलब्धि के रूप मे सुख की अभावात्मक परिभाषा की आलोचना करते हैं।[6] वे कहते हैं कि सचमुच कई अभावात्मक सुख हैं जिनका अभावात्मक सुखों के रूप में अनुभव किया जाता है (यथा शीतल जल म डुबकी लगाना दुखदायक उष्णता से बचना है) परन्तु उनके मत म कई ऐसी अवस्थाए हैं जहाँ सुख और दुख का अनुभव एकसाथ होता है, न कि एक दूसरे के निषेध रूप मे। किसी मनुष्य को अपने शरीर के ऊपरी भाग म दुखदायक उष्णता का अनुभव हो सकता है और उसके शरीर के निचले भाग म आनन्ददायक शीतलता का अनुभव हो सकता है और इस प्रकार सुख दु ख युगपत् उत्पन्न हो सकते हैं (सुख-दु खे युगपज्जायेत)। पुन शास्त्रों के अनुसार नरक म असंश्लिष्ट दुख है और इससे स्पष्ट है कि दु ख आवश्यक रूप से सापेक्ष नहीं होता।

---

[1] इतरेतराश्रय प्रसगात् कल्पनाधीनोहि जीवविभाग, जीवाश्रया कल्पना। वही, पृष्ठ १०

[2] अनुपपद्यमानार्थैव हि माया, उपपद्यमानार्थत्वे यथार्थभावान्न माया स्यात्। वही।

[3] अनादित्वान्नेतरेतराश्रयत्व-दोष। ब्रह्मसिद्धि।

[4] न हि जीवेषुनिसर्गजा विद्यास्ति अविद्यैव हि नैसर्गिकी, आगन्तुक्या अविद्याया प्रविलय। वही। पृष्ठ ११–१२

[5] अविद्ययैव ब्रह्मणो जीवो विभक्त तन्निवृत्तौब्रह्म-स्वरूपमेव भवति, यथा घटादि भेदे तदाकाश परिशुद्ध परमाकाशमेव भवति। वही।

[6] दु ख निवर्त्तिर्वा तद् विशिष्टात्मोपलब्धिर्वा सुखमस्तु सर्वथा सुख नाम न धर्मान्तर-मस्ति। शखपाणि कृत टीका। अडयार पाण्डुलिपि, पृष्ठ १८

व्यक्ति अपने से भिन्न मानता है और उसे अपने से पृथक सत्ता वाला मानता है उसी प्रकार एक ही आत्मा का अपने से भिन्न नाना विषयों के रूप में अवभास होता है। यह सोचना कठिन है कि किस प्रकार कोई व्यक्ति शुद्ध चैतन्य से पृथक बाह्य विषयों की सत्ता को स्वीकार करता है क्योंकि उस स्थिति में दोनों में संबंध स्थापित करना असम्भव होगा।[1]

मंडन के अनुसार अविद्या को माया अथवा मिथ्या-प्रतीति कहा गया है क्योंकि न तो यह ब्रह्म का स्वभाव है और न यह उससे भिन्न, न सत् और न असत्। यदि यह किसी का स्वभाव होती तो, उससे एकरूप अथवा उससे भिन्न होने पर भी यह यथार्थ होती और उसे अविद्या नहीं कहा जा सकता यदि यह निर्विकल्प रूप से असत् होती तो आकाश कुसुम के समान उसका अनुभव से कोई व्यावहारिक सम्बन्ध नहीं होता जैसा अविद्या का है इस प्रकार यह स्वीकार करना पड़ेगा कि अविद्या अनिर्वचनीय है।[2]

मंडन के अनुसार अविद्या का अधिष्ठान जीव हैं। वे स्वीकार करते हैं कि इस दृष्टिकोण में असंगति है परन्तु उनके विचार में स्वयं अविद्या के असंगत पदार्थ होने के कारण इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि जीव के साथ इसका सम्बन्ध भी असंगत एवं अनिर्वचनीय हो। जीवों के साथ अविद्या के सम्बन्ध की असंगति निम्न प्रकार से उत्पन्न होती है—

जीवों का आवश्यक रूप से ब्रह्म के साथ तादात्म्य है एवं जीवों के नानात्व का कारण कल्पना है परन्तु ब्रह्म के कल्पनाशून्य होने के कारण यह कल्पना ब्रह्म की नहीं हो सकती (तस्याविद्यात्मन कल्पना शून्यत्वात्) यह कल्पना जीवों की भी

था एवं व्यवस्थित प्रमाणमीमांसा सिद्धान्त के रूप में काम करने लगा। मंडन द्वारा इस प्रमाण मीमांसक सिद्धान्त की अग्राह्यता एक ओर यह बताती है कि उन्होंने इस सिद्धान्त की शंकर की व्याख्या को सही नहीं माना और शायद दूसरी ओर इसे पद्मपाद की व्याख्या की आलोचना माना जा सकता है। परन्तु उस शाखा का उत्तर सम्भवतः यह होगा कि यद्यपि जीव के अतिरिक्त विषयों की सत्ता में उनका विश्वास था फिर भी वे शुद्ध चैतन्य के बाह्य किन्हीं विषयों की सत्ता को स्वीकार नहीं करते।

[1] तथा हि दर्पण तलस्थम् आत्मानविभक्तम् इवात्मनः प्रत्येति चितस्तु विभक्तम् असंसृष्टतया चैत्यत इति दुरवगम्यम्। ब्रह्म सिद्धि।

[2] वही। पृष्ठ ९। यहाँ यह बताना अनुपयुक्त नहीं होगा कि न्याय मकरन्द में अविद्या के अनिर्वचनीय स्वरूप (जो इस अध्याय के बाद के विभाग में वर्णित है) के बारे में आनन्दबोध द्वारा दी गई युक्ति मंडन की इस युक्ति पर आधारित है।

नही हो सकती क्योकि जीव तो स्वय कल्पना के ही आश्रित हैं।[1] इस कठिनाई के दो हल प्रस्तुत किए जा सकते हैं, प्रथम, माया शब्द का अर्थ ही असगत पदार्थ है यदि यह सगत एव वचनीय प्रत्यय होता तो यह यथार्थ होता, माया नहीं।[2] द्वितीय, यह कहा जा सकता है कि जीव अविद्या पर एव अविद्या जीवो पर आश्रित है, और यह चक्र अनादि है तथा इसलिए जीवो का अथवा अविद्या का प्रथम, आदि नहीं है।[3] यह मत उन लोगो का है जो अविद्या को जगत् का उपादान कारण नहीं मानते हैं, पारिभाषिक शब्दावलि मे ये अविद्योपादान भेद-वादी कहलाते हैं। इसी अविद्या के द्वारा जीव आवागमन के चक्र म पडते हैं और यह अविद्या जीवो मे नैसर्गिक है क्योकि स्वय जीव अविद्या के उत्पाद्य हैं।[4] एव वेदान्ती वचनो के श्रवण, मनन, निदिध्यासन इत्यादि मे यथार्थ ज्ञान का उदय होता है एव अविद्या का नाश होता है, इसी अविद्या के कारण ही ब्रह्म मे जीव विभक्त हुआ, उसकी निवृत्ति अथवा नाश से ही वे ब्रह्म स्वरूप को प्राप्त होते हैं।[5]

ब्रह्म के स्वरूप की शुद्ध आनन्द के रूप मे परिभाषा देते हुए टीकाकार शखपाणि कुछक अत्यत रुचिकर विचार विमर्श करते हैं। वे प्रारम्भ मे दु ख निवृत्ति के रूप में अथवा इस प्रकार की अभावात्मक स्थिति द्वारा विशिष्ट विधात्मक आत्मोपलब्धि के रूप में सुख की अभावात्मक परिभाषा की आलोचना करते हैं।[6] वे कहते हैं कि सचमुच कई अभावात्मक सुख हैं जिनका अभावात्मक सुखो के रूप मे अनुभव किया जाता है (यथा शीतल जल मे डुबकी लगाना दुखदायक उष्णता से बचना है), परन्तु उनके मत म कई ऐसी अवस्थाएं हैं जहा सुख और दुख का अनुभव एकसाथ होता है न कि एक दूसरे के निषेध रूप म। किसी मनुष्य को अपने शरीर के ऊपरी भाग म दुखदायक उष्णता का अनुभव हो सकता है और उसके शरीर के निचले भाग में आनन्ददायक शीतलता का अनुभव हो सकता है और इस प्रकार सुख दु ख युगपत् उत्पन्न हो सकते हैं (सुख-दु खे युगपज्जायेते)। पुन शास्त्रो के अनुसार नरक मे अमिश्रित दुख है और इससे स्पष्ट है कि दु ख आवश्यक रूप से सापेक्ष नहीं होता।

---

[1] इतरेतराश्रय प्रसगात् कल्पनाधीनोहि जीवविभाग, जीवाश्रया कल्पना। वही, पृष्ठ १०

[2] अनुपपद्यमानार्थैव हि माया, उपपद्यमानार्थत्व यथार्थभावान्न माया स्यात्। वही।

[3] अनादित्वान्नेतरेतराश्रयत्व-दोष। ब्रह्मसिद्धि।

[4] न हि जीवपुनिसर्गजा विद्यास्ति, अविद्यैव हि नैसर्गिकी, आगन्तुक्या अविद्याया प्रविलय। वही। पृष्ठ ११–१२

[5] अविद्ययव ब्रह्मणो जीवो विभक्त तन्निवृत्तौ ब्रह्म-स्वरूपमेव भवति यथा घटादिभेदे तदाकाश परिशुद्ध परमाकाशमेव भवति। वही।

[6] दु ख निवृत्तिर्वा तद् विशिष्टात्मोपलब्धिर्वा सुखमस्तु सर्वथा सुख नाम न धर्मान्तरमस्ति। शखपाणि-कृत टीका। मद्रास पाण्डुलिपि, पृष्ठ १८

पुन, ऐसे उदाहरणों की कमी नही है (यथा, कपूर की प्राण ददायक गध को सूघना) जहा हमे ग्रात्मोपलब्धि का अनुभव होता है।[1] शखपाणि विषय प्राप्ति के बिना काम ही को दुख और उससे निवृत्ति को ही सुख (विषय प्राप्तिम् बिना काम एव दुखमत तन्निवृत्तिरेव सुखमविप्यति) मानने वाले सिद्धात का खडन यह बताकर करते हैं कि सुख की आत्मोपलब्धि किसी व्यक्ति के सुख की कामना किये बिना भी सम्भव है।[2] इस पर आपत्ति यह है कि सुख की आत्मोपलब्धि सहज परन्तु अस्थाई रूप से निष्क्रिय कामनाओं का अवचेतन अथवा प्रच्छन्न अवस्था मे तृप्त करती है।[3] पुन, कुछ उपलब्धियो द्वारा कुछ विषयो मे अन्यो की अपेक्षा अधिक सुख का आविर्भाव होता है और इसका स्पष्ट कारण यह है कि एक को दूसरे की अपेक्षा अधिक प्रसुप्त कामनाए तृप्त करनी होती हैं। इन आपत्तियो के उत्तर मे शखपाणि बताते है कि किसी विषय की अधिक कामना होने पर भी यदि वह अधिक कष्ट के बाद उपलब्ध होता है तो वह मनुष्य को इतना अधिक तृप्त नही करता जितना सुलभ प्राप्य सुख कर सकता है। यदि सुख की परिभाषा काम निवृत्ति के रूप मे की जाए तो सुखानुभव के पूर्व अथवा अनन्तर आनन्द का अनुभव होना चाहिए जब कामनाओ की पूर्ण रूप से निवृत्ति हो जाती है, न कि सुखानुभव का आनन्द लेते समय क्योकि उस समय पूर्णरूपेण काम निवृत्ति नही होती। सर्वाधिक प्रबल कामनाओ की तृप्ति का आनद लेते समय भी किसी को दुख का अनुभव हो सकता है। यह मानना होगा कि सुख ऐसा सापेक्ष प्रत्यय नही है जो काम निवृत्ति का फल हो अपितु यह एक विध्यात्मक प्रत्यय है जिसका अस्तित्व काम निवृत्ति के पूर्व होता है।[4] यदि काम निवृत्ति को सुख की परिभाषा माना जाए तो भोजन के प्रति हल्लासज अरुचि को भी सुख ही कहना पडेगा।[5] अत यह स्वीकार करना पडेगा कि प्रथमत विध्यात्मक सुखो का अनुभव होता है और उसके बाद उनकी कामना होती हैं। यह सिद्धात मिथ्या है कि सुख दुख सापेक्ष हैं एव दुख के अभाव मे सुख का अनुभव नही होता और सुख के अभाव मे दुख का अनुभव नही होता और परिणामत वेदान्ती दृष्टिकोण यह है कि ब्रह्म के रूप मे मोक्ष की अवस्था का विध्यात्मक शुद्ध आनन्द का अनुभव कहा जा सकता है।

ब्रह्मसूत्र एव कुछ उपनिषदो के भाष्य तथा माडूक्य कारिका मे शकर ने तार्किक-आलोचना के कुछ तत्वो का प्रयोग किया था जिनके सिद्धान्त बहुत समय पूर्व ही

---

[1] वही पष्ठ २०–२१

[2] वही पष्ठ २२

[3] सहजाहि राग सर्वपुसामस्ति स तु विषय विशेषेण अभिव्यक्ति वही पष्ठ २३

[4] अत काम निवृत्ते प्रागभाविसुख वस्तु भूत एष्टव्यम वही पष्ठ २७

[5] वही पष्ठ २५

बौद्धा द्वारा सुविकसित रूप मे प्रचलित किए गए थे। शाकर शाखा के तीन महान् तार्किक श्रीहर्ष, आनन्दज्ञान एव चित्सुख के नाम सुविख्यात हैं और इस अध्याय मे उनका सम्यक् ध्यान रखा गया है। परन्तु शकर के शिष्या मे मडन ही ऐसे व्यक्ति थे जिन्हाने तार्किक युक्ति प्रणाली का प्रारम्भ किया, और जो तार्किक शक्तिया मे अद्वितीय थे और जिन्हाने शाकर शाखा के अन्य सब तक शास्त्रियो यथा आनन्द बोध श्रीहर्ष, आनन्दज्ञान, चित्सुख, नसिहाश्रम एव अन्या का प्रभावित किया। मडन की महान् तार्किक उपलब्धि ब्रह्मसिद्धि के तर्क काड अध्याय म भेद के प्रत्यक्षीकरण का खडन करने में पाई जाती है। युक्ति निम्न प्रकार स दी गई है – भेद पदार्थ की अभिव्यक्ति प्रत्यक्षीकरण म होती है और यदि यह सत्य है ता भेद की वास्तविकता का निषेध नही किया जा सकता और इसलिए वचन की व्याख्या इस प्रकार नही करनी चाहिए कि भेद की वास्तविकता ही समाप्त हो जाए। इस प्रकार के दृष्टिकोण के विरुद्ध मडन यह सिद्ध करते हैं कि भेद का अनुभव प्रत्यक्ष द्वारा नही होता चाहे वह वस्तुधर्म के रूप म हो, चाहे इकाई के रूप म हो।[1] वे प्रारम्भ मे यह कहते हैं कि प्रत्यक्ष हमे तीन सम्भव विकल्प देता है यथा–(१) वस्तु स्वरूप सिद्धि (२) अन्य वस्तुओ से इनका व्यवच्छेद (३) दोना।[2] तृतीय विकल्प भी पुन त्रिविध हो सकते हैं यथा– (१) युगपद् भाव (२) व्यवच्छेदपूर्वक विधि (३) विधिपूर्वक व्यवच्छेद।[3] यदि प्रत्यक्ष द्वारा अन्य विषया से व्यवच्छेद का अनुभव होता है अथवा यदि यह दोना वस्तुस्वरूप एव उसके व्यवच्छेद का प्रकट करता तो यह स्वीकार करना पडेगा कि भेद प्रत्यक्ष प्रस्तुत होता है परन्तु यदि यह सिद्ध किया जा सके कि किसी व्यवच्छेदपूर्वक विधि से असम्बद्ध प्रत्यय मे ही केवल वस्तुस्वरूप प्रस्तुत किया जाता है तो यह स्वीकार करना पडेगा कि भेद का प्रत्यय हम प्रत्यक्ष द्वारा नही मिलता और उस अवस्था म उपनिषदा के उस निर्णय का प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा बाध नही होता कि सत् एक है और नानात्व सत् नही हो सकते। अब प्रमाण दिए जाते हैं।

प्रत्यक्ष न तो केवल भेद का ही प्रकट नही करता न यह प्रथम भेद प्रकट करके तदनन्तर वस्तुस्वरूप को और न ही दोना एकसाथ प्रकट करता है, क्योकि किसी भेद के प्रकट होने के पूर्व वस्तुस्वरूप का प्रकट होना आवश्यक है। भेद का

---

[1] यह विवेचना ब्रह्मसिद्धि (मुद्रणालय मे) के पृष्ठ ४४ से द्वितीय अध्याय के अन्त तक की गई है।

[2] तत्र प्रत्यक्षे त्रय कल्पा वस्तुस्वरूप सिद्धि वस्त्वन्तरस्य व्यवच्छेद उभयथा, ब्रह्मसिद्धि, II

[3] उभयस्मिन्नपि त्रैविध्यमयौगपद्यम व्यवच्छेद पूर्वका विधि विधि पूर्वका व्यवच्छेद। वही

अथवा यहाँ कोई भेद नहीं है। किसी वस्तु का अभाव है, अथवा किसी वस्तु म उसका अभाव है, इनके बिना भेद के प्रत्यय म अन्तर्निहित अभाव का कोई अथ नहीं और ये दोनों ही धारणाए वास्तविक हैं। किसी काल्पनिक सत्ता (यथा आकाश पद्म) के अभाव की व्याख्या उसके अगो के मिथ्या सम्बन्ध के अभाव से ही की जानी चाहिए जो स्वय अपने मे सत् है (यथा पद्म और आकाश दोनो सत् हैं असामजस्यता उनके सम्बन्ध के कारण है और इन दो सत् तत्वो के बीच इसी सम्बन्ध का निषेध किया गया है) अथवा इस प्रकार के तत्वो की बाह्य सत्ता का निषेध करना है जो केवल बुद्धि के प्रत्यय के रूप मे प्राप्य हैं।[1] यदि भेद पदाथ दो विषयो को एक दूसरे से अन्तर प्रकट करता है तो प्रथमत उन विषयो का ज्ञान होना आवश्यक है जिनका भेद प्रकट किया जाता है। पुन यह नहीं माना जा सकता कि वस्तुस्वरूप को प्रकट करके प्रत्यक्ष अन्य विषयो से अपने भेद को भी प्रकट करता है क्योंकि प्रत्यक्ष एक अद्वितीय ज्ञान प्रक्रिया है और इसमे कोई क्षण ऐसे क्षण नहीं हैं कि प्रथमत उसे उस विषय को अभिव्यक्त करना चाहिए जो वतमान म इन्द्रिय सन्निकष और तदनन्तर उन विषयो को प्रकट करे जो उस समय इन्द्रिय सन्निकष म नहीं हो और कि दोनो के भेद फिर भी है।[2] स्वय अपने भ्रम का ज्ञान होने पर यथा 'यह रजत नहीं बल्कि शुक्ति है' केवल उत्तरवर्ती ज्ञान मे ही प्रत्यक्ष परक होता है एव यह ज्ञात विषय को रजत के रूप मे पूववर्ती ज्ञान का निषेध होने पर ज्ञान उससे सम्बन्धित होता है तथा उसका निषध करता है। जब केवल प्रस्तुत विषय का प्रत्यक्ष 'पूर्वेदम' के रूप मे किया गया है तब ही पूर्वावभासित रजत का निषेध हुआ है और जब उसका निषध हुआ है तब ही शुक्ति का प्रत्यक्ष हुआ है। बिना किसी भावात्मक प्रत्यय के अभावात्मक प्रत्यय नहीं होता परन्तु इससे यह निष्कष नहीं निकलता कि भावात्मक प्रत्यय के पूव अभावात्मक प्रत्यय नहीं हो सकता।[3] अत यह ऐसी अवस्था नहीं है जिसके एक अलौकिक प्रत्यक्ष म दोक्षण हो परन्तु इस अवस्था मे यहाँ विभिन्न ज्ञानात्मक अनुभव होते हैं।[4]

---

[1] कुतश्चिन्निमित्तादबुद्धौ लब्ध रूपाणाम बहिर्निषेध क्रियते। ब्रह्मसिद्धि॥

[2] क्रम सगच्छत युक्त्या नैक विज्ञान कमणो न सन्निहित ज न च तद यामर्थी जायते। वही॥ कारिका ३

[3] पूव विज्ञान विति रजतादौ इदम इति च सन्निहिताथ सामान्ये निषेधा विधि पूव एव शुक्तिका सिद्धिस्तु विरोधी निषेध पूवउच्यते विधि पूवता च नियमेन निषेधस्योच्यते न विधेर्निषेध पूवकता निषिध्यते। ब्रह्मसिद्धि॥ कारिका ३

[4] न च तत्र एक ज्ञानस्य क्रम वद् व्यापारता उभय स्य उत्पत्ते। वही।

पुन एक मत (बौद्ध) यह है कि किसी भी विषय के अनिर्वाच्य निर्विकल्प ज्ञान की सामर्थ्य द्वारा विध्यात्मक सविकल्प ज्ञान एव उसका अन्य से भेद दोनो उत्पन्न होते हैं। यद्यपि भावात्मक एव अभावात्मक दो ज्ञान हैं फिर भी दोनो निर्विकल्प ज्ञान से प्रादुर्भूत होने के कारण यह ठीक ही कहा जा सकता है कि एक के विध्यात्मक प्रत्यय द्वारा हम अन्य के साथ इसका व्यवच्छेद प्रकट कर सकते हैं (एक विधिरेव अन्य व्यवच्छेद)।[1] इस विचारधारा के विरुद्ध मडन आग्रह करते है कि एक विध्यात्मक अनुभव अन्य सब प्रकार के सभव तथा असभव विषयो से व्यवच्छेद को प्रकट नही कर सकता। एक विशिष्ट समय एव विशिष्ट स्थान पर प्रत्यक्षीकृत रूप उसी विशिष्ट समय एव विशिष्ट स्थान पर प्रत्यक्ष अन्य रूप का निषेध कर सकता है, परन्तु वह उसी विशिष्ट स्थान एव समय पर के रस गुण की उपस्थिति का निषेध नही कर सकता परन्तु केवल रूप ही का प्रत्यक्ष रूप से अन्य उन सब वस्तुओ का इतना निषेध करे, तो उन रस धर्मो का भी निषेध हो जाएगा और चूकि यह सभव नही है अत यह स्वीकार करना पडेगा कि किसी विध्यात्मक तत्व के प्रत्यक्ष मे उसी प्रक्रिया के फलस्वरूप समस्त अन्य तत्वो का निषेध होना आवश्यक नही है।

पुन एक दृष्टिकोण यह भी है कि वस्तुए प्रकृति से ही भिन्न स्वरूप होती हैं (प्रकृत्यैव भिन्नाभाव) और इस प्रकार जब प्रत्यक्ष द्वारा कोई विषयानुभव होता है तब उसी प्रक्रिया द्वारा उस विषय की अन्य विषयो से भिन्नता का भी ग्रहण होता है। इस आपत्ति के उत्तर मे मडन कहते हैं कि वस्तुए भेद स्वरूप नही होती, क्योकि प्रथमत उस अवस्था मे समस्त विषय भेद स्वरूप वाले होगे, और इसलिए उनमे कोई भेद नही रहेगा। द्वितीय चूकि भेद का कोई रूप नही होता अत स्वय विषय भी अरूप होगे तृतीय, भेद के तत्वत रूप से अभाव स्वरूप होने के कारण स्वय विषय भी अभावस्वरूप होगे, चतुर्थ, भेद के प्रत्यय मे द्वैत अथवा बहुत्व निहित होने के कारण किसी भी विषय को एक नही माना जा सकता, कोई भी वस्तु दोनो एक और अनेक नही मानी जा सकती है।[2] इसका उत्तर देते हुए विपक्षी कहते हैं— वस्तु का भेद स्वभावत परापेक्षी होता है आत्मापेक्षी नही (परापेक्ष वस्तुनोभेद-स्वभाव नात्मापेक्ष) इसके उत्तर मे मडन का कथन है कि सम्पूर्ण सबध मानसिक

---

[1] नीलस्य निर्विकल्प दर्शनस्य यत् सामर्थ्य नियर्तक कारणत्व तेन अनादि वासना वशात् प्रतिभासित जनित इद नेद इति विकल्पो भावाभाव व्यहार प्रवर्तयति सत्य, ज्ञान द्रव्य इद सविकल्पक तु निर्विकल्पक तयोर्मूलभूत तत्प्रत्यक्ष तत्र च एकविधि एव अन्य व्यवच्छेद इति ब्रूम इति। शखपाणि कृत वट्टी।

[2] न भेदो वस्तुनो रूपम् तद् अभाव प्रसगत अरूपण च भिन्नत्व वस्तुनो नावकल्पते। ब्रह्मसिद्धि ॥ ५

होने के कारण उन लोगा पर आश्रित है जा वस्तुओ के बारे मे विचार करते हैं, अत अपेक्षा नामक कोई वस्तुधर्म नही है ।

यदि अन्य वस्तु की अपेक्षा ही तत्वत वस्तुधर्म है ता प्रत्येक वस्तु को दूसरों की अपेक्षा होगी उनको अपने अस्तित्व के लिए एक दूसरे के आश्रय की अपेक्षा होगी (इतरेतर आश्रय प्रसगात्) । इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक विरोधी पद के अनुरूप भेद अलग अलग हैं और प्रत्येक विषय का विभिन्न अन्य विषयों के अनुसार एक विभिन्न स्वरूप है जिसके साथ उसका विरोधी सम्बन्ध हो परन्तु, यदि ऐसा हो ता विषयो की उत्पत्ति केवल स्वय अपने कारणा द्वारा ही नही होती है क्योकि यदि भेद उनका स्वरूप माना जाता है तो ये स्वरूप ऐसे प्रत्येक विषय के अनुसार भिन्न भिन्न होने चाहिए जिसके साथ उसका विरोध हो । इसके उत्तर म विपक्षी द्वारा यह आग्रह किया जाता है कि यद्यपि विषय स्वहेतुक है फिर भी भेद रूप मे उसको उन अन्य विषयो की अपेक्षा होती है जिसके साथ इसका विरोध हो । मडन यह प्रत्युत्तर देते हैं कि इस प्रकार के दृष्टिकोण पर इस विरोधी अपेक्षा का अर्थ एव काम समझना कठिन होगा, क्याकि यह स्वयहेतु के विषय का उन्य नहीं करता और इसकी कोई नमित्तिक सामर्थ्य नही है तथा अन्य विषया के साथ सम्बन्धा से इसका अनुभव भी नहीं होता (नानापेक्ष–प्रतियोगिना भेद प्रतीयते) । भेद भी तत्वत विरोध्यपेक्षा नही माना जा सकता पहले से ही अनुभूत के बीच विरोधात्मक अपेक्षा होने पर ही भेद अपने आपको प्रकट करता है । सम्बन्ध मा तरिक होते हैं एव उनकी अनुभूति प्रत्यक्षकर्ता एव ग्राहक के अन्त करण म होती है ।[1] परन्तु आगे चलकर इस पर आपत्ति की जाती है कि पिता एव पुत्र के प्रत्यय दोना सापेक्ष हैं और स्पष्टतया बाह्य हैं । इस पर मडन उत्तर देते हैं कि ये दोनो प्रत्यय अपेक्षा पर आश्रित नही होकर उत्पत्ति के प्रत्यय पर आश्रित हैं, जो उत्पन्न करता है वह पिता है एव जिसकी उत्पत्ति होती है वह पुत्र है । इसी प्रकार दीर्घ एव लघु के प्रत्यय भी नापने के समय न्यून अथवा अधिक क्षेत्र मे व्याप्त होने पर आश्रित है न कि अपेक्षा म ही उनका स्वरूप होने के कारण ।

इसके उत्तर मे पूर्व पक्ष का कथन है कि यदि सम्बन्धो को परम नही माना जाए और यदि वे विभिन्न प्रकार के कार्यों द्वारा प्रादुर्भूत होते हों तो उसी आधार पर भेदो के अस्तित्व को भी स्वीकार किया जा सकता है । यदि विभिन्न प्रकार की वस्तुए नही हों तो विभिन्न प्रकार के कार्यों की व्याख्या करना कठिन होगा । परन्तु मडन का उत्तर यह है कि तथाकथित भेद केवल नाम मात्र के ही भेद हैं एक ही अग्नि की ज्वलन क्रिया को कभी दाहक और कभी पाचक कहा जाता है । वेदान्त के मतानुसार तथाकथित समस्त विभिन्न प्रकार की क्रियाएँ एक ही विषय ब्रह्म मे

---

[1] पौरुषेयीमपेक्षा न वस्त्वनुवर्तते, अतो न वस्तु स्वभाव । वही

भासित होती हैं, अत यह आपत्ति न्याय सगत नही है कि विभिन्न प्रकार की क्रियाओ के लिए उनके उत्पादक कर्त्ताओ म भेद होना आवश्यक है। पुन, बौद्धो की कठिनाई स्वय उनकी विचारधारा मे नही है क्योकि उनके अनुसार सब प्रतीतिया क्षणिक हैं और यदि ऐसा होता तो दृश्यमान कार्यों के सादृश्य की व्याख्या व किस प्रकार करते हैं। उनके अनुसार यह केवल कारणो के साम्य के भ्रमात्मक प्रत्यय पर ही आधारित किया जा सकता है, अत यदि बौद्ध हमारे सादृश्य के अनुभव की व्याख्या कारणो के साम्य की मिथ्या प्रतीति के आधार पर करते हैं तो वेदान्ती भी अपने पक्ष मे नानात्व की प्रतीतियो की व्याख्या भेद के भ्रमात्मक प्रत्यय द्वारा कर सकता है। अत हमारे भेद के अनुभूत प्रत्यय की व्याख्या करने के लिए भेदो की यथार्थता को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नही है।[1] दूसरा का तर्क है कि जगत् बहिन्ययुक्त होना चाहिए क्योकि हमारे अनुभवगत विभिन्न विषय हमारे विभिन्न उद्देश्यो की पूर्ति करते हैं और एक ही वस्तु द्वारा विभिन्न उद्देश्यो की पूर्ति असम्भव है। परन्तु यह आपत्ति युक्तिसगत नही है एक ही अग्नि दाहक, प्रकाशक और पाचक हो सकती है। एक ही वस्तु मे कई अविच्छिन्न गुण अथवा धर्मों के होने मे कोई आपत्ति नही हो सकती। कभी कभी यह कहा जाता है कि वस्तुए अपनी भिन्न भिन्न शक्तियो के कारण एक दूसरे से भिन्न होती हैं (यथा दूध, आंवले से भिन्न है क्योकि दही दूध से उत्पन्न होता है न कि आंवले से,) परन्तु शक्ति वैभिन्य गुण-वैभिन्य के समान है और जिस प्रकार एक ही अग्नि की दो भिन्न शक्तिया अथवा उसके दो भिन्न भिन्न धर्म अर्थात् दहन एव पाचन हो सकते हैं, इसी प्रकार एक ही इकाई म भिन्न भिन्न क्षणो मे कोई शक्ति हो भी सकती है और नही भी हो सकती है, और कम से कम इसका यह तात्पर्य कि किसी वस्तु की विविधता अथवा विभिन्नता है। यह बडा रहस्य है कि एक ही वस्तु मे इस प्रकार का सामर्थ्यातिशय हो कि वह अनेक विविध प्रतीतियो का अधिष्ठान हो। क्योकि एक वस्तु को अनेक भिन्न भिन्न शक्तियों वाला माना जाता है, अत उसी सिद्धान्त के अनुसार एक ही वस्तु को विभिन्न प्रतीतियो का कारण भी माना जा सकता है।

पुन, कुछ लोगो का मत है कि एक वस्तु मे दूसरी वस्तु के निषेध मे ही भेद विद्यमान है। प्रत्युत्तर मे यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार के निषेध स्वभावत निर्विकल्प नही हो सकते क्योकि इस अवस्था मे सब वस्तुओ का सब देशो मे निषेध उन वस्तुओं को निरर्थक बना देंगे। फिर भी यदि सविकल्प वस्तुओ के प्रसग मे निषेध विशेषो से ही तात्पर्य हो तो एक दूसरे से भिन्न इन वस्तुओ के स्वभाव के इन निहित निषेधो पर आश्रित होने के कारण एव इन निहित निषेधो के भिन्न वस्तुओ

---

[1] अथ निरन्वय विनाशानामपि कल्पना विषयाद भेदात् कार्यस्य तुल्यता हन्त तर्हि भ्रमादेव कल्पना विषयात् कार्यभेद सिद्धे मूढा कारण भेद कल्पना। वही।

के विद्यमान होने पर ही कार्य कर सकने के कारण, वे दोनों परस्पर एक दूसरे पर आश्रित (इतरेतराश्रय) हैं और स्वतन्त्र रूप से विद्यमान नहीं रह सकते। पुनश्च यह नहीं कहा जा सकता कि 'भेद' के प्रत्यय की उत्पत्ति सविकल्प प्रत्यक्ष जैसी प्रत्यक्ष प्रक्रियाओं के कार्य (प्रत्यक्ष प्रक्रिया की चरम सीमा के रूप में घटित होने वाले) द्वारा नहीं होती है क्योंकि परस्पर निषेध की अवस्था के अतिरिक्त ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जिसमें निषेध का निश्चितरूपेण अनुभव किया जा सके। पुनः यदि सत् रूप में सब वस्तुओं का अद्वैत अनुभवगम्य नहीं होता तो किसी का भी वस्तुओं के सद्भाव की प्रत्यभिज्ञा कैसे होती। वस्तुओं का यह सद्भाव अथवा अद्वैत सबसे महत्वपूर्ण आधारभूत अनुभव है और यह उस निर्विकल्प अनुभव के रूप में प्रथम प्रकाशित होता है जिसकी बाद में भेद के विभिन्न प्रत्ययों में परिणति हो जाती है।[1] इस सम्बन्ध में वस्तुओं के द्विविध स्वभाव अद्वैत तथा भेद के अपने अपने प्रकार से सत् होने के जैन मत का भी खंडन करने का मण्डन को कठिन प्रयास करना पड़ा। परन्तु इन विशदताओं को छेड़ने की आवश्यकता नहीं है। उनके भेद प्रकरण (पदार्थ के खंडन) की मुख्य बात यह है कि वह यह प्रदर्शित करते हैं कि प्रत्यक्ष द्वारा भेद पदार्थ का अनुभव हो सकने की कल्पना करना प्रत्यय के लिए अगम्य एवं तार्किक दृष्टि से भयावह है और वस्तुतः प्रत्यक्ष में अनुभूत अद्वैत एवं भेद के अगणित साम्य होने की कल्पना की अपेक्षा यह कल्पना दार्शनिक दृष्टि से अधिक समीचीन होगी कि एक वस्तु ही अविद्या के कारण भेद के विभिन्न प्रत्ययों को उत्पन्न करती है।[2]

ब्रह्मसिद्धि के नियोग काण्ड नामक तृतीय अध्याय में मण्डन मीमांसकों के इस मत का खंडन करते हैं कि वेदान्त वाक्यों की मीमांसक व्याख्या पद्धति के अनुसार ही व्याख्या की जानी चाहिए अर्थात् वैदिक वचनों का अर्थ आदेश है या निषेध है। परन्तु क्योंकि उस परिचर्चा का अधिक दार्शनिक महत्व नहीं है अतः इसमें पड़ना वाञ्छनीय नहीं है। सिद्धि काण्ड नामक चतुर्थ अध्याय में मण्डन इस मत का पुनः समर्थन करते हैं कि उपनिषद् ग्रन्थों का मुख्य विषय यह प्रदर्शित करता है कि

---

[1] प्रत्येकमनुविद्धत्वादभेदेन मृषामतः। भेदो यथा तरंगाणां भेदाद्भेदः कलावतः ब्रह्मसिद्धि २ अध्याय ३१ कारिका।

[2] एकस्यैवास्तु महिमा यन्नानेव प्रकाशते,
लाघवान्नतु भिन्नानां यच्चकास्त्यभिन्नवत्।
ब्रह्मसिद्धि, द्वितीयाध्याय की ३२ वीं कारिका।

नानाप्रपचात्मक जगत् असद् है एव उसका प्रकाशन जीवो की अविद्या के कारण होता । जिस प्रकार के परमार्थ का उल्लेख उपनिषदो म है वह हमारे चारो ओर दृश्यमाण यथार्थ से बिल्कुल भिन्न है, और साधारण अनुभव द्वारा अगम्य । इसी सत्य को प्रतिपादित करने के हेतु ही उपनिषदो को ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति का एकमात्र स्रोत माना गया है ।

दूसरे लोग पुन यह युक्ति देते हैं कि यह जगत् अवश्य ही नानात्मक है क्योकि हमारे अनुभूत विविध विषय विविध उद्देश्यो की पूर्ति करते है और इस एक ही वस्तु के लिए विविध उद्देश्यो की पूर्ति असम्भव है । परन्तु यह आपत्ति याय सगत नही है क्योकि ठीक वही वस्तु भी विविध उद्देश्यो की पूर्ति कर सकती है, वही अग्नि जला सकती है प्रकाशित कर सकती है और पका सकती है । एक ही वस्तु मे विविध अवच्छिन्न गुणो के होने म कोई आपत्ति नही है । कभी कभी यह आग्रह किया जाता है कि वस्तुओ के पारस्परिक वैभिन्य का कारण उनकी विविध शक्तिया हैं (यथा दूध तिल से भिन्न इसलिए है कि दूध से दही उत्पन्न होता है तिल से नही) परन्तु शक्ति वैभिन्य गुण वैभिन्य के समान है और, जैसे एक ही आग की दो विविध शक्तियाँ अथवा गुण यथा जलाना अथवा पकाना, हो सकती है उसी प्रकार एक ही तत्व विभिन्न कालो मे शक्तियुक्त अथवा शक्तिमयुक्त हो सकता है और इसमे किंचित् मात्र भी तत्व वभिन्य का अर्थ निहित नही है । यह एक महान् रहस्य है कि एक ही वस्तु का ऐसा अतिशय सामर्थ्य हो कि वह असत्य विविध प्रतीतियो का आधार बन सकता हो । जसे कि एक ही तत्व मे कई विविध शक्तिया रहती हैं उसी प्रकार ठीक वही तत्व उसी आधार पर विविध प्रतीतियो का कारण माना जा सकता है ।

पुन कुछ लोगो की यह मा यता है कि एक तत्व का दूसरे मे अभाव होने मे भेद निहित है । इस पर यह प्रत्युत्तर दिया जा सकता है कि ऐसे अभाव अपने स्वरूप म अनिश्चित नही हो सकते, क्योकि तब सब स्थानो पर समस्त वस्तुओ का अभाव उन्हे रिक्त बना देगा । तथापि यदि विशिष्ट अभाव निश्चित तत्वो के सम्बन्ध मे निहित है तो चूकि इन तत्वो के एक दूसरे से भिन्न रूप म इन तत्वो के स्वरूप निहित अभावो पर आश्रित हैं और चूकि इन विभिन्न तत्वो के होने पर ही निहित अभाव क्रियाशील हो सकते हैं, अत इतरेतर आश्रित है, अत स्वय इन्हे नहीं रह सकते । पुन यह नही कहा जा सकता कि 'भेद' का प्रत्यय, प्रत्यक्ष प्रक्रियाएँ यथा सविकल्पक प्रत्यक्ष की क्रियाशीलता द्वारा उत्पन्न होता है (प्रत्यक्ष प्रक्रिया की चरमावस्था के रूप मे घटित होते हुए), क्योकि ऐसा कुछ भी प्रमाण नहा है कि पारस्परिक अभाव के अतिरिक्त भेद का निश्चित रूप से अनुभव किया

व्यक्ति के लिए मोक्ष प्राप्त करना सम्भव नहीं होगा। अतः ज्ञान कर्म समुच्चय आवश्यक है जिसका शंकर ने घोर विरोध किया है। एक अन्य दृष्टिकोण भी वार्तिक में उल्लिखित है और जिसका भास्कर आनन्द ज्ञान ने मंडन द्वारा प्रतिपादित बताया है– वह यह है कि वेदान्ती ग्रन्थों द्वारा प्राप्त ज्ञान मौखिक एवं प्रत्ययात्मक होने के कारण अपनेआप ब्रह्मज्ञान की ओर नहीं ले जाता परन्तु जब ये ग्रन्थ निरन्तर दोहराए जाते हैं, तो अन्य वैदिक कर्मों के अथवा यज्ञ, दान आदि कर्मों द्वारा विचित्र प्रभाव उत्पन्न करने वाली प्रक्रिया की तरह विचित्र प्रभाव के रूप में ब्रह्म ज्ञान उत्पन्न करते हैं। वार्तिक में ज्ञान कर्म समुच्चय के समर्थकों के विविध सम्प्रदायों का वर्णन है, कुछ लोग ज्ञान को अधिक महत्व देते हैं अन्य कर्म को अधिक महत्वपूर्ण समझते हैं और कई ऐसे हैं जिनकी दृष्टि में ज्ञान कर्म दोनों समान रूप से महत्वपूर्ण हैं। इस प्रकार ज्ञान कर्म समुच्चय के तीन सम्प्रदाय उद्भूत होते हैं। सुरेश्वर इन तीनों विचारधाराओं का खंडन करते हुए कहते हैं कि यथार्थ ज्ञान एवं मुक्ति एक ही वस्तु है और इसमें किंचित् मात्र भी वैदिक कर्मों के सम्पादन की अपेक्षा नहीं है। सुरेश्वर ज्ञान कर्म समुच्चय के सिद्धान्त का भी खंडन भर्तृप्रपंच जैसे अपरिवर्तित द्वैतवादियों की तरह करते हैं जिनके अनुसार परम सत्ता भेदाभेद है जिसमें भेद का सिद्धान्त उतना ही सत्य है जितना अभेद का, एवं मुक्ति की अवस्था में भी कर्म सम्पादन आवश्यक है क्योंकि भेदों के भी सत्य होने के कारण विकास की किसी भी अवस्था में, और मोक्ष की अवस्था में भी कर्मों की आवश्यकता की उपेक्षा नहीं की जा सकती। यद्यपि अभेद के सत्य का अनुभव करने के लिए यथार्थ ज्ञान भी है। सुरेश्वर द्वारा इस दृष्टिकोण का खंडन दो तथ्यों पर आधारित है तथा परम सत्ता का भेदाभेद प्रत्यय परस्पर विरोधी है और जब यथार्थ ज्ञान द्वारा एकत्व का अनुभव होता है तथा परत्व का भाव और नानात्व दूर हो जाता है तब यह सम्भव नहीं है कि उस अवस्था में कोई कर्म किए जा सकते हैं, क्योंकि कर्मों के पालन में द्वैत एवं भेद के अनुभव की आवश्यकता निहित है।[1]

नैष्कर्म्यसिद्धि के द्वितीय अध्याय में योग्य आचार्य द्वारा की गई उपनिषदों के एकत्व सम्बन्धी मन्त्रों की व्याख्या द्वारा अपरोक्षानुभूति के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। एकत्व के यथार्थ आत्म ज्ञान के उदय के साथ ही अहं भाव तथा उससे सम्बद्ध राग द्वेष इत्यादि के अनुभवों का नाश हो जाता है। अहं प्रत्यय विकारी एवं बाह्य तत्व है अतः शुद्ध चैतन्य तत्व के बाहर है। द्वैत के समस्त व्यक्त स्वरूप अन्तःकरण के भ्रान्त परिणामों के कारण हैं। जब यथार्थ ज्ञान का उदय होता है तब ज्ञान में विषय रूप आत्मा का लोप हो जाता है। समस्त भ्रमात्मक प्रतीतियाँ शुद्ध आत्मा पर अज्ञान के आरोपण के कारण हैं किन्तु जो

[1] प्रो० हिरियन्ना–कृत नैष्कर्म्यसिद्धि के अपने संस्करण में देखिए।

इस शुद्ध आत्मा के अविकल एकत्व को विचलित नहीं कर सकते। इन नानात्मक प्रक्रियाओ मे अन्त करण विकार ग्रसित होता है, अन्तर्निहित शुद्ध चैतन्य पूर्णरूप से अविचलित रहता है। फिर भी, मनस बुद्धि, एव उसके विषय के रूप मे प्रतीत होने वाला अनात्मा साख्य प्रकृति के समान अनाश्रित तत्व नही है क्योकि उसकी प्रतीति केवल अविद्या एव भ्रम के कारण है। यह जगत् प्रपच अज्ञान अथवा मिथ्या और अनिर्वचनीय आत्म भ्रम की ही उत्पत्ति है तथा साख्य सिद्धान्त के समान किसी यथार्थ द्रव्य की यथार्थ उत्पत्ति नही है। इस प्रकार ज्योही परम सत्य की अनुभूति होती है त्योही शुक्ति मे भ्रमात्मक शुक्ति की तरह जगत् प्रपच का नाश हो जाता है।

तृतीय अध्याय मे सुरेश्वर अज्ञान के स्वरूप आत्मा के साथ उसका सम्बन्ध एव उसकी प्रलय विधि की विवेचना करते हैं। तत्व दो हैं, आत्मा एव अनात्मा। अब स्वयं अज्ञान (माया अथवा अविद्या) की उत्पत्ति होने के कारण अनात्मा उसका आश्रय नही कहा जा सकता, अत अज्ञान का आश्रय शुद्ध आत्मा अथवा ब्रह्म है आत्मा का अज्ञान भी स्वय अपने बारे मे ही है चूकि विषयात्मक प्रपच के सम्पूर्ण क्षेत्र को स्वय अज्ञान की उत्पत्ति के रूप मे समझने के कारण आत्मा के यथार्थ स्वरूप का अज्ञान अपनेआपको सम्पूर्ण आत्म परक एव वस्तु परक बुद्धि एव उसके विषय मे विकृत करता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वाचस्पति मिश्र एव मडन के विपरीत सुरेश्वर के मतानुसार अविद्या जीव पर आधारित नही होकर स्वय शुद्ध चैतन्य पर आधारित है। यह अविद्या ही है जो शुद्ध आत्मा से सम्बन्धित तथा उस पर आधारित होने के कारण जीवो की प्रतीतिया एव उनके आत्म परक तथा विषयपरक अनुभवो का उत्पन्न करती है। इस अज्ञान का अनुभव अविद्या मात्र के रूप मे सुषुप्ति मे होता है जब उसके समस्त परिणाम एव प्रतीतियाँ उसके अन्दर ही सकुचित हो जाती हैं और उसकी अनुभूति स्वय मे शुद्ध अविद्या के रूप मे होती है जो पुन जागृतावस्था मे अनुभवो की समस्त शृखलाओ मे अपनेआपको प्रकट करता है। यह देखना आसान है कि शुद्ध चैतन्य के साथ अज्ञान के सम्बन्ध का यह दृष्टिकोण मडन द्वारा उपदिष्ट विज्ञानवाद से भिन्न है जैसाकि पूर्व विभाग मे बताया गया है। यह आपत्ति उठाई जाती है कि यदि अह भी तथाकथित बाह्य विषयो के समान अज्ञान की बाह्य उत्पत्ति है तो अह की प्रतीति अन्य बाह्य अथवा (आन्तरिक विषयो के समान (यथा सुख, दुख आदि) ज्ञाता के रूप मे नही बल्कि ज्ञेय के रूप मे होनी चाहिए। सुरेश्वर इसका उत्तर इस प्रकार देते हैं कि जब अन्त करण अथवा मनस बाह्य विषयो के आकार मे विकृत होते हैं तब उस आत्मपरकत्व देने के लिए वस्तुपरक अनुभवो को आत्मपरक विशिष्ट केन्द्रो के साथ सम्बद्ध करने के लिए अहकार का तत्व उत्पन्न होता है। अहकार के तत्व के शुद्ध चैतन्य के साथ अपरोक्ष और घनिष्ट रूप से सम्बन्धित होने के कारण स्वय

ज्ञाता के रूप में वह प्रकाशित होता है और अहंकार की विषयात्मकता का भास नहीं होता जिस प्रकार जलती हुई लकड़ी में आग एवं जलने वाले विषय को अलग नहीं किया जा सकता। अहंकार के तत्व अन्तःनोत्पत्ति द्वारा जब शुद्ध चैतन्य प्रतिबिम्बित होता है केवल तब ही आत्मपरकता का प्रत्यय इस पर लागू होता है और इसके साथ जो कुछ सम्बद्ध होता है वह 'यह' विषय के रूप में अनुभूत होता है, यद्यपि वस्तुतः अहंकार भी उतना ही विषय है जितने स्वयं विषय हैं। तथापि सम्पूर्ण मिथ्यानुभव ब्रह्मानुभूति में नष्ट होता है जब एकत्व के वेदान्ती प्रज्ञा की अनुभूति होती है। नैष्कर्म्यसिद्धि के तृतीय अध्याय में अन्य तीन अध्यायों के मुख्य विचारों की संक्षेपावृत्ति की गई है। वार्त्तिक में सुरेश्वर और अधिक विस्तृत विधि से उन्हीं समस्याओं की विवेचना करते हैं परन्तु इन विस्तृत विवरणों में पड़ना हमारे वर्तमान उद्देश्य के लिए उपयोगी नहीं है।

पद्मपाद (८२० ई० प०)

सब लोग पद्मपाद को शंकराचार्य का प्रत्यक्ष शिष्य मानते हैं और चूंकि शंकराचार्य का अभिवादन करने का स्वयं उनका तरीका इस परम्परा को परिपुष्ट करता है तथा हमें कोई तथ्य ज्ञात नहीं हैं जो इस प्रकार के दृष्टिकोण का प्रतिवाद कर सकते हैं अतः यह निस्सन्देह माना जा सकता है कि वे शंकराचार्य के कनिष्ठतर समकालीन थे। उनके सम्बन्ध में और शंकराचार्य के साथ उनके सम्बन्धों के बारे में कई पारम्परिक कथाएं हैं परन्तु चूंकि उनके सत्य का प्रमाणीकरण किसी विश्वसनीय साक्ष्य द्वारा नहीं किया जा सकता अतः उन पर निर्णय देना सम्भव नहीं है। उनके ग्रन्थ केवल दो हैं यथा पंचपादिका जो ब्रह्म सूत्र के प्रथम चार सूत्रों पर शांकर भाष्य पर भाष्य है और अध्यास तथा सम्भावना भाष्य नामक शांकर भाष्य की भूमिका और आत्म बोध व्याख्यान जिसे वेदान्त सार कहते हैं। यह पंचपादिका हमें ज्ञात वेदान्ती ग्रन्थों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। प्रकाशात्मन् ने (१२०० ई० प०) अपने पंच पादिका विवरण में इस पर टीका।[1] आनन्दगिरि के शिष्य अखण्डानन्द (१३५० ई० प०) ने अपने तत्वदीपन में पंचपादिका विवरण पर एक और भाष्य लिखा। श्रीहर्ष कृत खण्डन खण्ड खाद्य पर विद्या सागरी नामक भाष्य लिखा तथा लेखक आनन्दपूर्ण (१६०० ई० प०) ने पंचपादिका पर भाष्य लिखा।[2] नृसिंहाश्रम

---

[1] प्रकाशात्मन् ने शांकरभाष्य का एक छन्दोबद्ध संक्षेपण तथा शब्द निर्णय नामक ग्रन्थ भी लिखा जिसमें उन्होंने शास्त्रीय शब्द के प्रमा के रूप में अधिकारों को सिद्ध करने का प्रयत्न किया।

[2] जैसा कि श्री तैलंग महा विद्या विडम्बन पर लिखित अपनी भूमिका में यह बताते हैं कि आनन्दपूर्ण शङ्कर मिश्र के बाद रहे (१५२९ ई० प०) जैसा कि उनके खंडन खंड खाद्य पृ० ५८६ (चौखम्बा) के अंश के पाठ की आलोचना से स्पष्ट है।

ने भी पच-पादिका विवरण प्रकाशिका नामक पचपादिका विवरण पर एक भाष्य लिखा एव श्री कृष्ण ने भी पचपादिका विवरण लिखा। ग्रोफ्ट अमलानन्द के एक अ य भाष्य पच पादिका शास्त्र दर्पण का उल्लेख करते है पर तु उसके शास्त्र दपण के लिए वह नि स देह भ्रान्तियुक्त है। अमलानन्द वाचस्पति के सिद्धा त के अनुगामी थे। पद्मपाद अ प्रकाशात्मन् के नही। शावर भाष्य पर रत्ना प्रभा टीका के लेखक गोविन्दान द के शिष्य रामानन्द सरस्वती ने शांकर भाष्य पर टीका के रूप म अपना विवरणोप यास (विवरण के मुख्य सिद्धान्त का सक्षेपण) लिखा, पर तु यह सवथा पचपादिका विवरण के सिद्धान्त पर था यद्यपि यह उस पर प्रत्यक्ष भाष्य नही था। विद्यारण्य ने भी विवरण प्रमेय सग्रह नामक एक अलग निब ध लिखा जिसम उन्होने वेदा ती विचार धारा की व्याख्या पचपादिका विवरण के सिद्धान्त पर की। इन सब मे से रामान द सरस्वती कृत विवरणोप यास सम्भवत विवरण सिद्धा त पर अ तिम महत्वपूर्ण ग्रन्थ था क्योकि शिवराम के शिष्यानुशिष्य गोपाल सरस्वती के शिष्य रामान द के आचाय गोवि दानन् अपनी रत्न प्रभा टीका मे जगन्नाथाश्रम-कृत भाष्य दीपिका नामके शाकर भाष्य पर टीका का एव आनन्दगिरि कृत भाष्य का भी 'ब्रह्म', पृष्ठ ८ (निणय सागर प्रेस १९०४) इस उल्लेख के रूप म प्रसग देते है। जगन्नाथाश्रम नृसिंहाश्रम के आचाय थे, अत गोवि दानन्द सोलहवें शतक के अ त तक रहे होगे। अत रामानन्द सत्रहवें शतक के पूव भाग म रहे सकते हैं। स्वय गोविन्दानन्द ने भी अपनी रत्न प्रभा टीका मे विवरण व्याख्या सिद्धा त का अनुसरण किया और व प्रकाशात्मन् का महान् आदर के साथ प्रकाशात्म श्री चरण क रूप म सकेत करते हैं (रत्न प्रभा पृष्ठ ३)।

पद्मपाद कृत निरूपण विधि जैसीकि प्रकाशात्मन् ने व्याख्या की है वेदान्त की विवेचना के निर्देशक के रूप मे वतमान ग्र थ के प्रथम एव द्वितीय खण्ड म की गई हैं। अत इन दो महान् आचार्यो की वेदान्ती विचारधाराओ के बारे मे अलग विभागो मे और अधिक कहना आवश्यक नही है। परन्तु फिर भी पद्मपाद दशन के बारे म दो शब्द अलग कहना लाभदायक ही होगा। पद्मपाद की मान्यता है कि माया ▪ याकृत प्रकृति अग्रहण, अव्यक्त, तम, कारण लय शक्ति महासुप्ति, निद्रा क्षर और आकाश के पद हैं जो अविद्या के पर्यायवाची शब्दो के रूप मे प्राचीन साहित्य मे प्रयुक्त किए गए हैं। यह वह तत्व है जो शुद्ध और स्वतन्त्र स्वत प्रकाश्य ब्रह्म के स्वरूप म बाधा डालता है और इस प्रकार अविद्या, कम एव पूव प्रज्ञा सस्कारो की चित्र भित्ति के रूप मे खडे हुए जीवत्वापादिका को उत्पन्न करते है। ईश्वर के साथ आश्रय के रूप मे अपने विशिष्ट परिणामो का भोगते हुए वह विज्ञान एव क्रिया की दो आश्रय शक्तियो के रूप म अपनेआपको प्रकट करती है और सव-कम कर्ता तथा सर्वानुभवभोक्ता के रूप म काय करती है। शुद्ध अविकारी

ब्रह्मप्रकाश से सम्बद्ध वह इन परिणामो की ग्रथि है जो अहकार के रूप मे प्रतीत होता है। इसी अहकार के साथ सम्बध द्वारा आत्मा मिथ्या रूप से अनुभवो का भोक्ता समझा जाता है। यह परिणाम अपनी ज्ञानात्मा क्रिया के अर्थ मे अन्त करण, मनस, बुद्धि और अहकार अथवा अह प्रत्ययन् कहलाता है जबकि स्पन्द शक्ति के अर्थ म यह प्राण कहलाती है। अहकार का शुद्ध आत्मा के साथ सम्बन्ध जपापुष्प की रक्तता का शीशे के साथ सम्बध की तरह एक ग्रथि है जो अविद्या उपादान क्रिया के दो लक्षणो को तथा शुद्ध आत्मा के चैतन्य को प्रकट करती है।

इस प्रश्न पर कि अविद्या का आश्रय एव विषय ब्रह्म है या नही स्वय पद्मपाद का विचार अधिक स्पष्ट प्रतीत नही होता। वे केवल यही कहते हैं कि अविद्या स्वत प्रकाश्य रूप ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप म बाधा डालकर अपने आपको जीव मे प्रकट करती है और ब्रह्म अपने अवच्छेद से अनादि अविद्या द्वारा अनन्त जीवो के अवभास का कारण है। परन्तु प्रकाशात्मन् एक लम्बे विवाद का प्रारम्भ करते हैं और यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि ब्रह्म अविद्या का आश्रय एव विषय दोनो है। यह सिद्धान्त वाचस्पति मिश्र के उस दृष्टिकोण के विरुद्ध है जहाँ उन्होने अविद्या का विषय ब्रह्म को एव आश्रय जीव को माना है। इस प्रकार विवरण पक्ष की व्याख्या और वाचस्पति पक्ष की व्याख्या मे मूलभूत अन्तर इसी बात पर है। इस बात पर प्रकाशात्मन् का सुरेश्वर एव उनके शिष्य सर्वज्ञात्मन् से मतैक्य है यद्यपि जैसा कि विचारणीय है सर्वज्ञात्मन् कई अच्छे विभेद बताते है जिनका सुरेश्वर को पता नही है।

पद्मपाद मिथ्या के दो अर्थों मे भेद स्थापित करते है यथा अपह्नव वचन और अनिर्वचनीयता वचन। सम्भवत समस्त भाष्कारो मे ये प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होने अज्ञान अथवा अविद्या का जडात्मिका तथा अजडात्मिका अविद्या शक्ति कहकर वर्णन किया और शकर की मुहावरेदार उक्ति मिथ्या ज्ञान निमित्त की व्याख्या इस अर्थ म की कि यह वही अज्ञान की जडात्मिका शक्ति है जो जगत् प्रपच क उपादान कारण का सारभूत अश है। फिर भी प्रकाशात्मन् अविद्या को भाव रूप मानने के मत के पक्ष म प्रमाण देने का प्रयत्न करते हैं तथा उसकी विस्तृत विवेचना करते हैं। ये प्रमाण बार बार कई अन्य परवर्ती लेखको ने दिए हैं तथा वर्तमान ग्रन्थ के प्रथम खण्ड मे इनका वर्णन किया जा चुका है। पद्मपाद भी सम्भवत प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होने वेदान्ती प्रत्यक्ष की प्रक्रिया की व्याख्या करने का प्रयास किया है। आगे चलकर इसकी विस्तृत व्याख्या प्रकाशात्मन् ने की और सोलहवें शतक मे धर्मराज अध्वरीन्द्र कृत वेदान्त परिभाषा के प्रतिपादन की व्याख्या करते हुए उनके विचार एकत्रित तथा व्यवस्थित किए गए। इस प्रक्रिया का वर्णन करते हुए पद्मपाद का कथन है कि अहकार की ज्ञानात्मक क्रिया के फलस्वरूप वे विषय उससे जुड जाते है

जिनके साथ उसका सम्बन्ध है, जिसके परिणामस्वरूप उसमे कई परिवतन होते हैं और ये वे ही परिवतन हैं जो ज्ञान के ज्ञाता ज्ञेय सम्बन्ध का निर्माण करते हैं। अन्त करण शुद्ध चैतन्य की सीमित अभिव्यक्ति का पथ प्रदशन उसी सीमा तक कर सकता है जितना उस विषय के साथ उसका सम्बन्ध है। विषयो के अपरोक्ष प्रत्यक्ष अनुभव का अथ अन्त करण की परिवतनशील अवस्थाओ द्वारा शुद्ध चैतन्य की अभिव्यक्ति है। इस प्रकार अहकार अपने अन्तर्निहित चैतन्य के साथ सम्बन्ध द्वारा प्रमाता बनता है। किन्तु प्रकाशात्मन् यह मानकर इनका विस्तृत निरूपण करते हैं कि अन्त करण बाहर विषयात्मक शून्य स्थान की ओर जाता है और प्रत्यक्षीकृत विषय के स्थान सम्बन्धी आकार को ग्रहण करता है। अत पद्मपाद ने जिसे अन्त करण का विषयों के साथ परिवतनशील सम्बन्ध द्वारा अन्त करण की अवस्थाओ में विकार माना था उसकी व्याख्या अन्त करण की विषयो पर स्थान सम्बन्धी अध्यारोपण के रूप मे निश्चित अथ देते हुए की है तथापि अनुमान मे अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता क्योकि यह लिंग सम्बन्ध द्वारा मध्यस्थित होता है। ज्ञान का अथ परोक्ष एव अपरोक्ष दोनो है, क्योकि अथ प्रकाश के रूप मे इसकी परिभाषा दी गई है।

ब्रह्म के कारणत्व के विषय पर पद्मपाद कहते हैं कि जिस ब्रह्म पर जगत् प्रपच की अभिव्यक्ति होती है वह जगत् का कारण है। इस विषय पर प्रकाशात्मन् तीन विकल्प प्रस्तुत करते हैं यथा (१) रज्जु म गुथे हुए दो धागो की तरह माया एव ब्रह्म सयुक्त रूप से जगत् के कारण हैं (२) माया जिसकी शक्ति के रूप में है वह कारण है। (३) माया का आश्रय ब्रह्म जगत् का कारण है, परन्तु उपरोक्त सब मे परम कारण तो ब्रह्म को ही माना गया है क्योकि माया उस पर आधारित है। ब्रह्म सवत्र इस अथ मे है कि जो कुछ इससे सम्बन्धित है उसको वह प्रकट करता है और वह ब्रह्म ही है जो माया के द्वारा दृश्य जगत् के रूप मे प्रतीत होता है। वतमान ग्रन्थ के प्रथम खण्ड म विवेचित अवच्छेदवाद और प्रतिबिम्बवाद के सिद्धान्त कम से कम पद्मपाद कृत पचपादिका के समान प्राचीन है और पद्मपाद तथा प्रकाशात्मन् जीव को ब्रह्म का केवल प्रतिबिम्बित आकार मानने वाले प्रतिबिम्बवाद के सिद्धान्त का समथन करते हुए प्रतीत होते हैं।[1]

---

[1] प्रथम खण्ड पृष्ठ ४७५ ४७६ देखिए। ये दोनो सिद्धान्त सभवत नवम् शतक म बीज रूप में वतमान थे। परन्तु शनै शनै इनकी ओर अधिकाधिक ध्यान दिया गया। अप्पय दीक्षित इन दोनो के सिद्धान्तो का सश्लेषण परिमल पृष्ठ ३३५ ३४३ श्री वाणी विलास प्रेस श्री रगम् इनम से एक भी मत को न तो स्वय इन्होंने और न वाचस्पति ने स्वीकार किया है।

वाचस्पति मिश्र (८४० ई० प०)

शांकर भाष्य पर भामती नामक टीका के यशस्वी लेखक वाचस्पति मिश्र, मंडन कृत ब्रह्म सिद्धि पर तत्त्व समीक्षा नामक भाष्य के लेखक हैं, उन्होंने साख्य-कारिका, विधि विवेक, न्याय वार्तिक पे भी भाष्य लिखे एवं वे बड़े ग्रन्थ ग्रन्थों के लेखक थे। आपने न्याय सूची निबन्ध में वह अपना काल ८९८ (वस्वंक वसु वत्सरे) सूचित करते हैं जो अवश्य ही विक्रम सम्वत् के रूप में समझा जाना चाहिए जिसके परिणामस्वरूप उनका काल ८४२ ई० प० आसानी से माना जा सकता है। अपने भामती भाष्य में वे मार्तण्ड तिलक स्वामी का अभिवादन करते हैं जो उनके आचार्य की ओर संकेत माना जाता है। परन्तु अमलानन्द उस पर टीका करते हुए ठीक ही संकेत करते हैं कि यह शब्द किसी के कर्मफल के कारण पूजित एवं देवों के दो नाम मार्तण्ड एवं तिलक स्वामिन का प्रयोग है। तिलक स्वामिन का उल्लेख याज्ञवल्क्य १.२९४ में देवता के रूप में किया गया है एवं मिताक्षरा देव कार्तिकेय अथवा स्कन्द के नाम के रूप में व्याख्या करते हैं। तथापि उदयन वाचस्पति कृत तात्पर्य टीका पर अपनी न्याय वार्तिक तात्पर्य परिशुद्धि (पृष्ठ ९) में वाचस्पति के आचार्य के रूप में त्रिलोचन का उल्लेख करते हैं एवं वर्धमान अपनी न्याय निबन्ध प्रकाश नामक टीका में इसकी पुष्टि करते हैं स्वयं वाचस्पति भी त्रिलोचन गुरु का उल्लेख करते हैं जिनका उन्होंने व्यवसाय (न्याय सूत्र १.१.४) शब्द की व्याख्या सविकल्प ज्ञान के अर्थ में करने में अनुसरण किया।[1] फिर भी न्याय कणिका (श्लोक ३) में वे न्याय मंजरी (संभवतः जयन्त) के लेखक का अपने विद्यागुरु के रूप में उल्लेख करते हैं।[2] वाचस्पति अपनी भामती टीका के अन्त में कहते हैं कि उन्होंने उस ग्रन्थ को महान् नृप नृग के राज्य काल के समय लिखा। इस नृप का जैसाकि वर्तमान लेखक को ज्ञात है, ऐतिहासिक पता नहीं लगता। भामती वाचस्पति-कृत अन्तिम महान् कृति थी, क्योंकि पुष्पिका में भामती के अन्त में वे कहते हैं कि वे पहिले से ही अपनी न्याय कणिका तत्व समीक्षा तत्व बिन्दु एवं न्याय सांख्य और योग पर लिख चुके थे।

वाचस्पति कृत वेदान्ती ग्रन्थ भामती और तत्त्व समीक्षा (ब्रह्मसिद्धि) है। अन्तिम ग्रन्थ अभी तक मुद्रित नहीं हुआ है। उनके ग्रन्थ तत्त्व बिन्दु का उल्लेख करते हुए औफ्रेक्ट कहते हैं कि वह वेदान्त ग्रन्थ है। किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि

---

[1] त्रिलोचन गुरून्नीत मार्गानुगमनोन्मुखै
यथा मानं यथा वस्तु व्याख्यात इदमीदृशम् ॥
—न्याय वार्तिकस्तात्पर्य टीका-पृष्ठ ८७ बनारस १८९८

[2] अज्ञानतिमिरशमनी न्यायमंजरी रुचिराम्
प्रसवित्रे प्रभावित्रे विद्या तस्मै नमो गुरवे।

इस ग्रन्थ में ध्वनि के स्फोट सिद्धान्त का वर्णन किया गया है एवं इसका वेदान्त से कोई सरोकार नहीं। वाचस्पति कृत तत्त्व समीक्षा की अनुपस्थिति में जो अभी तक मुद्रित नहीं हुई है और जिसकी पाण्डुलिपियाँ अत्यन्त दुर्लभ हो गई हैं वाचस्पति की वेदान्त विचार धारा के विशिष्ट लक्षणों का पूर्णतया सन्तापजनक वृत्तान्त देना कठिन है। परन्तु उनकी भामती-टीका एक महान् ग्रन्थ है और उससे उनकी विचार धाराओं के कुछ मुख्य लक्षण संकलित करना संभव है। जहाँ तक वाचस्पति भाष्य की विधि का प्रश्न है वे सर्वैव अपनेआपको पृष्ठभूमि में देख कर उसकी यथार्थ्य यथातथ्य व्याख्या करने का प्रयत्न करते हैं। वे प्रथाओं में से अपरोक्ष रूप से उत्पन्न होने वाली विषय सम्बन्धी महान् ज्ञान की उन समस्याओं के स्पष्टीकरण की ओर निर्देश करते हैं और मूल पाठ में उल्लिखित अन्य विचार शाखाओं के विचार एवं आशय, विचार संदर्भ एवं प्रसंग का स्पष्टीकरण करते हैं। शाङ्कर भाष्य पर भामती भाष्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है और इस पर कई महत्वपूर्ण उप भाष्य थे। इनमें से सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं प्राचीनतम अमलानन्द कृत (१२४७ १२६० ई० प०) वेदान्त कल्प-तरु है जिस पर अप्पय दीक्षित (लगभग १६०० ई० प०) ने वेदान्त कल्प-तरु-परिमल नामक ग्रन्थ भाष्य लिखा।[1] तर्क दीपिका के लेखक, कोंड भट्ट के पुत्र एवं रंगोजी भट्ट के प्रपौत्र लक्ष्मीनृसिंह ने सत्रहवें शतक के अन्त में आभोग नामक भाष्य लिखा। आभोग भाष्य अधिकतर वेदान्त कल्प-तरु-परिमल द्वारा प्रेरित है यद्यपि बहुत सी समस्याओं में उसका उससे मतभेद है तथा उसकी आलोचना करता है। इनके अतिरिक्त भामती पर कई अन्य भाष्य भी लिखे गए हैं यथा भामती तिलक, भामती विलास श्री रंगनाथ कृत भामती व्याख्या तथा वैद्यनाथ पायगुंडे कृत वेदान्त कल्प तरु मंजरी नामक वेदान्त कल्प तरु पर अन्य भाष्य।

वाचस्पति सत् एवं परम् सत्ता की परिभाषा अपरोक्ष स्वप्रकाशता के रूप में देते हैं जो कदापि अबाधित नहीं होती। इस अर्थ में केवल शुद्ध आत्मा ही परम् सत्ता कही जा सकती है। इस प्रकार यह निश्चित रूप से नैयायिकों को मान्य सत्

---

[1] अमलानन्द ने शास्त्र दर्पण नामक एक अन्य ग्रन्थ भी लिखा जिसमें ब्रह्मसूत्रों के विभिन्न अधिकरणों को लेकर इस विषय पर विभिन्न सूत्रों की व्याख्या पर बिना अधिक वादविवाद के सम्पूर्ण विषय का सार एवं सरल सामान्य विवेचन करने का प्रयत्न किया तथापि ब्रह्मसूत्रों के अधिकरणों पर दिए गए इन सामान्य भाषणों द्वारा अमलानन्द की मौलिक विचारधारा व्यक्त नहीं होती थी बल्कि वाचस्पति की व्याख्या पर आधारित थे जैसाकि स्वयं अमलानन्द शास्त्र दर्पण के द्वितीय श्लोक में स्वीकार करते हैं। (वाचस्पति प्रतिबिम्बित मःदर्श प्रारभे विमलम्) श्री वाणी विलास प्रेस १९१३, श्री रंगम् मद्रास)।

वे वग प्रत्यय के भाग ग्रहण के रूप मे परम सत्ता की परिभाषा का खडन करते हैं अथवा अथ क्रिया कारित्व का जाकि बौद्धो को है। वे दो प्रकार का अज्ञान मानते हैं, यथा मनोवैज्ञानिक एव मनस के उपादान कारण के रूप म तथा मानव के आतरिक स्वरूप अथवा भौतिक बाह्य जगत् के रूप म। इस प्रकार शाकर भाष्य १ ३ ३० पर अपनी टीका मे वे कहते है कि महाप्रलय के समय अविद्या की समस्त उत्पत्तिया यथा अत करण स्वय अपनी क्रियाए करना बन्द कर देते हैं परन्तु उसके कारण उनका नाश नही हाता, उस समय वे अपने मूल कारण अनिर्वचनीय अविद्या म विलीन हो जाते हैं और भ्रम के मिथ्या सस्कारो एव मनोवैज्ञानिक वृत्तिया के साथ सूक्ष्म शक्ति रूप से उसमे रहते है। जब ईश्वर के सकल्प द्वारा चलित महा प्रलय की अवस्था का अन्त होता है तब वे कछुए के अगो की तरह बाहर निकल आते हैं अथवा मढको के शरीर की तरह जो सम्पूर्ण वर्ष तक निर्जीव एव निश्चल अवस्था म रहते हैं तथा वर्षा काल मे पुनर्जीवित हो जाते है और तब, अपनी युक्त वृत्तिया और सस्कारा के कारण महाप्रलय के पूर्व पुरातन रूप मे विशिष्ट नाम रूप धारण कर लेते है। यद्यपि सम्पूर्ण सृष्टि की रचना ईश्वर के सकल्प द्वारा हो होती है फिर भी ईश्वर का सकल्प भी उसके द्वारा उत्पन्न सस्कार एव कर्म की अवस्थाओ द्वारा निश्चित होता है। यह कथन सिद्ध करता है कि उनका अनिर्वाच्य स्वरूप वस्तुपरक तत्व के रूप मे अविद्या म विश्वास था जिसम सम्पूर्ण जगत् उत्पत्तिया महाप्रलय के समय विलीन हो जाती है एव जिसके अन्दर से अन्त मे वे पुन प्रकट होती हैं और मनोवैज्ञानिक अविद्या एव मिथ्या सस्कारा से सम्बद्ध हाती है जा महा प्रलय के काल मे उसके अन्दर विलीन हो गए थे। इस प्रकार वर्णित अविद्या का योग की प्रकृति से अधिक सादृश्य है जिसके अन्दर पचविध अविद्या तथा उनके सस्कारो के साथ महाप्रलय के काल म सम्पूर्ण जगत् उत्पत्तियाँ विलीन हो जाती है जो सृष्टि के समय स्वय अपनी युक्त बुद्धि स सयुक्त हाती हैं। भामती के प्रथम मत्र मे ही वाचस्पति अविद्या को द्वितीय बताते हुए कहते हैं कि सम्पूर्ण दृश्य जगत् की उत्पत्ति द्वितीय अविद्या के सहकारी कारण से सयुक्त ब्रह्म से होती है। इस गद्याश की व्याख्या करते हुए अमलानन्द बताते हैं कि यह दो अविद्याओ से सबधित है— एक अनादि भावरूपतत्व और अन्य पूर्वापूर्व अनादि भ्रम सस्कार। इस प्रकार अविद्या का एक रूप तो वह है जो प्रतीतिया का उपादान कारण है परन्तु प्रतीतियाँ वास्तव मे प्रतीतियाँ नही हाती यदि भ्रमात्मक रूप से उनका तादात्म्य अपरोक्ष चित्स्व प्रकाशता के साथ नही हाता। प्रत्येक जीव अपने अन्त करण एव मानसिक अनुभवो को स्वय अपने मे चित् के रूप मे सम्भ्रमित एव मिथ्या ग्रहण करता है और इसी प्रकार की भ्रमात्मक अध्यवस्था द्वारा ही ये मानसिक अवस्थाए प्रतीतियो के रूप म सार्थक बनती है क्योकि इसके बिना इन प्रतीतिया की व्याख्या तक नही की जा सकती थी। परन्तु व्यक्ति का आगमन किस प्रकार

होता है जबकि व्यक्ति का प्रत्यय स्वयं उसी परिभ्रांति की पूर्व धारणा करता है? वाचस्पति इसका उत्तर इस प्रकार देते हैं कि व्यक्तित्व की प्रतीति पूर्व मिथ्या सम्भ्रांति के कारण होती है और वह अन्य पूर्व मिथ्या सम्भ्रांति के कारण होती है (तुलना कीजिए मंडन)। अतः प्रत्येक मिथ्या परिभ्रांति का कारण कोई पूर्व मिथ्या सम्भ्रांति होती है और उस पूर्व की कोई अन्य मिथ्या भ्रांति और इस प्रकार एक अनादि शृंखला है। केवल परिभ्रांति की इस अनादि शृंखला के द्वारा ही सम्पूर्ण बाद में आने वाली सम्भ्रांति की अवस्थाओं की व्याख्या की जानी चाहिए। इस प्रकार, एक ओर अविद्या जीव में उसके आश्रय के रूप में क्रिया उत्पन्न करती है और दूसरी ओर ब्रह्म अथवा शुद्ध स्वतः प्रकाश्य चिदात्मा उसका विषय रूप है जिसका वह आच्छादित कर देता है और जिसके द्वारा वह अपनी मिथ्या प्रतीतियों को प्रकट करके उन्हें सत्ता का मिथ्या रूप देता है जिसके द्वारा सम्पूर्ण जगत् प्रतीतियाँ परम सत्ता का स्वरूप भासित होती हैं।[1] यह देखना सुलभ है कि यह दृष्टिकोण सर्वज्ञात्ममुनि के संक्षेप शारीरक के दृष्टिकोण से किस प्रकार भिन्न है क्योंकि सर्वज्ञात्ममुनि के मत में ब्रह्म अज्ञान का आश्रय एवं विषय है जिसका अर्थ यह होता है कि भ्रम जीव में नहीं रहता परन्तु उसकी स्थिति विषयातीत है। वह जीव इस प्रकार नहीं है परन्तु प्रत्यक् चित् है जो उस प्रत्यक् जीव द्वारा प्रकाशित होता है जिस पर आवरण आया हुआ है और विश्वातीत रूप से नाना रूपात्मक प्रतीतियों में भिन्न भिन्न लगता है। तथापि वाचस्पति के मत में भ्रम मनोवैज्ञानिक है जिसके लिए जीव उत्तरदायी है और उसका कारण भ्रम अथवा परिभ्रांति की अनादि शृंखला है। जहाँ प्रत्येक अनुवर्ती भ्रमात्मक अनुभव की व्याख्या पूर्ववर्ती भ्रमात्मक अनुभव के प्रकार द्वारा होती है और वह पुनः किसी अन्य द्वारा एवं इससे ऊपर भ्रमात्मक अनुभव की सामग्री भी अनिर्वाच्य माया से व्युत्पन्न हुई है जो परम सत्य स्वतः प्रकाश्य सत् ब्रह्म के साथ अपने भ्रमात्मक प्रागभाव के कारण सत्य के रूप में भासित की जाती है। भ्रमात्मक प्रतीतियाँ अपने इस रूप में न तो सत् और न असत् ही कही जा सकती है, क्योंकि यद्यपि उनका व्यक्तिगत अस्तित्व प्रतीत होता है, फिर भी उनका अन्य अस्तित्व द्वारा सदैव अभाव होता है और उनमें से किसी एक की भी उस प्रकार की सत्ता नहीं है जो सम्पूर्ण अभाव एवं पारस्परिक विरोध अथवा बाध की उपेक्षा करती है, और वह केवल इस प्रकार का अबाधित स्वतः प्रकाश्य है जिसे परम सत् कहा जा सकता है। जगत् प्रतीतियों का मिथ्यात्व इस तथ्य में है कि उसका अभाव एवं बाध होता है और फिर भी वे निरपेक्ष रूप से शश शृंग की तरह असत् नहीं है क्योंकि यदि वे ऐसा होतीं तो

[1] ऊपरी दृष्टिकोण में ही वाचस्पति का मंडन से मतभेद है जिसकी ब्रह्मसिद्धि पर उन्होंने अपनी तत्त्व समीक्षा लिखी।

उनका किंचित् मात्र भी अनुभव नहीं होता। अत प्रतीतियों के अविद्या द्वारा उत्पन्न होने पर भी, जहाँ तक उनकी विकृत सत्ता का मानन का प्रश्न है, उनका अन्तर्निहित आधार ब्रह्म है और इसी कारण ब्रह्म को जगत् का परम कारण माना जाएगा। ज्योंही इस ब्रह्म की अनुभूति होती है, प्रतीतियाँ नष्ट हो जाती हैं क्योंकि सम्पूर्ण प्रतीतियों का मूल उनकी परम सत्ता ब्रह्म के साथ भ्रमात्मक परिभ्रान्ति है। शांकर भाष्य २ २ २८ पर भामती भाष्य में वाचस्पति यह बताते हैं कि शांकर वेदान्त के अनुसार ज्ञान के विषय स्वयं स्वरूपत अनिर्वचनीय हैं और न कि मानसिक प्रत्यय मात्र (न हि ब्रह्मवादिनो नीलाद्याकारा वृत्ति अभ्युपगच्छन्ति किन्तु अनिर्वचनीय नीलादि) अत बाह्य विषय पूर्वत प्रत्यक्षीकर्त्ता के बाहर विद्यमान है, केवल उनका स्वरूप और उपादान, अनिर्वचनीय और युक्तिहीन है। अत हमारे प्रत्यक्षीकरण का सम्बन्ध उनके ऐसे विषयों से है जो उनके उत्तेजक अथवा उत्पादक हैं और उनका स्वरूप बाह्य विषयों की सहायता के बिना अन्दर से उत्पन्न शुद्ध संवेदनाएँ अथवा प्रत्यय नहीं हैं।

सर्वज्ञात्म मुनि (९०० ई० पू०)

सर्वज्ञात्म मुनि शंकर के शिष्य सुरेश्वराचार्य के शिष्य थे जिनका वे अपने ग्रन्थ संक्षेप शारीरक के प्रारम्भ में सुरेश्वर में सुर शब्द का पर्यायवाची शब्द होने के कारण देवेश्वर नाम द्वारा अभिनन्दन करते हैं। देवेश्वर का सुरेश्वर के साथ ऐक्य संक्षेप शारीरक के भाष्यकार रामतीर्थ ने किया है और इस ऐक्य का मतभेद कोई ऐसी अन्य बात से नहीं है जो सर्वज्ञात्म मुनि के बारे में या तो उसके ग्रन्थों द्वारा अथवा उसके अन्य सामान्य उल्लेखों द्वारा ज्ञात होती है। यह कहा जाता है कि उसका अन्य नाम नित्यबोधाचार्य था। सुरेश्वर अथवा सर्वज्ञात्म का ठीक-ठीक काल निश्चित रूप से निर्धारित नहीं किया जा सकता। श्री पंडित गौडवहो की अपनी भूमिका में यह विचार व्यक्त करते हैं कि चूँकि भवभूति कुमारिल के शिष्य थे अत कुमारिल सप्तम् शतक के मध्य में रहे होंगे और चूँकि शंकर कुमारिल के समकालिक थे (शंकर दिग्विजय के शब्द पर) अत वह या तो सप्तम् शतक में या अष्टम् शतक के पूर्वार्द्ध में रहे होंगे। वर्तमान ग्रन्थ के प्रथम खंड में शंकर का काल ७८०–८२० ई० पू० के मध्य माना गया। श्री पंडित द्वारा दी गई युक्तियों में कोई नई बात विचारणीय नहीं है। भवभूति को कुमारिल का शिष्य मानने का उसका सिद्धान्त दो पाण्डुलिपियों के साक्ष्य पर आधारित है। जहाँ मालती माधव के अंक के अन्त में यह कहा जाता है कि यह ग्रन्थ कुमारिल के शिष्य द्वारा लिखा गया था यह साक्ष्य जैसाकि मैंने अन्यत्र कहा है, अनुचित है। शंकर को कुमारिल का समकालीन मानने वाली परम्परा में केवल शंकर दिग्विजय के शब्द

पर आधारित होने के कारण गम्भीरतापूर्वक विश्वास नहीं किया जा सकता। जो कुछ कहा जा सकता है वह यह है कि सम्भवत कुमारिल शंकर के बहुत पूर्व नहीं रहे यदि कोई इसका अनुमान इस तथ्य से लगाए कि शंकर कुमारिल का कोई उल्लेख नहीं करते। अत इस परम्परागत मान्य दृष्टिकोण को छोड़ देने मे कोई कारण प्रतीत नहीं होता कि शंकर का जन्म संवत् ८४४ अथवा ई० प० ७८८ अथवा कलियुग ३८८९ मे हुआ।[1] शंकर का मृत्यु काल लगभग ८२० ई० प० समझते हुए और इस बात की ओर ध्यान देते हुए कि सर्वज्ञात्मन् के आचार्य सुरेश्वर ने अपने उच्च धर्माध्यक्षीय पद का दीर्घ काल तक अधिकार मे रखा, यह धारणा कि सर्वज्ञात्मन ९०० ई० प० मे रहें अधिक अनुचित नहीं। तथापि इसका इस तथ्य के साथ कोई मतभेद नहीं है कि ८४२ ई० प० मे वाचस्पति ने न्याय सूचि निबन्ध नामक अपना पूर्वतर ग्रन्थ लिखा और मंडन कृत ब्रह्मसिद्धि पर भी अपना भाष्य लिखा जबकि सुरेश्वर धर्माध्यक्षीय पद का धारण किए हुए थे।

इस प्रकार, सर्वज्ञात्म मुनि सम्भवत वाचस्पति मिश्र के कनिष्ट समकालीन थे। अपने संक्षेप शारीरक मे वे शंकर द्वारा स्पष्टीकृत वेदान्त दर्शन की मूलभूत समस्याओं का वर्णन करने का प्रयत्न करते हैं। यह एक ही उनका ग्रन्थ सम्भवत हम जानते है जो विभिन्न छन्दों के श्लोकों मे लिखे गए चार अध्यायों मे विभाजित है। इसके प्रथम अध्याय मे ५६३ श्लोक, द्वितीय अध्याय मे २४८ तृतीय अध्याय मे २४८ और चतुर्थ अध्याय मे ६३ श्लोक हैं। ग्रन्थ के प्रथम अध्याय मे उनकी धारणा है कि शुद्ध ब्रह्म अज्ञान के द्वारा समस्त वस्तुओं का परम कारण है। चिदात्मा पर आश्रित एवं उसके विषय के रूप मे उस पर क्रिया करने वाला अज्ञान उसके यथार्थ स्वरूप को आच्छादित करके भ्रमात्मक प्रतीतियों का विक्षेप करता है तथा उसके द्वारा ईश्वर, जीव और जगत् की त्रिविध प्रतीतियां उत्पन्न करता है। अज्ञान की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है और उसके प्रभाव केवल चिदात्मा के द्वारा ही उसके आश्रय एवं विषय के रूप मे दिखाई देते हैं तथा उसकी सम्पूर्ण सृष्टि मिथ्या है। सुषुप्ति अवस्था मे चिदात्मा किंचित् मात्र भी शोक अस्पष्ट तथा चिदानन्द और विस्तुल के स्वरूप मे अपरोक्ष रूप से प्रत्यक्षीकृत होता है और चिदानन्द की परिभाषा परम लक्ष्य एवं किसी भी परिस्थिति मे किसी वस्तु के असाधन के रूप में ही दी जा सकती है चिदात्मा वही है जो किसी भी अन्य का साधन नहीं माना जा सकता, इसके अतिरिक्त यह सत्य है कि प्रत्येक व्यक्ति को सदैव अपनी आत्म प्राप्ति के परम विषय के रूप मे अभीष्ट है जो उसे सर्वाधिक प्रिय है। ऐसा अनन्त प्रेय एवं परम लक्ष्य सीमित आत्मा नहीं हो सकता जिसका हमारे साधारण कार्यों के कर्ता के रूप मे और जीवन की दैनिक क्रियाओं मे भोक्ता के रूप मे उल्लेख

---

[1] माध विद्या सुधाकर देखिए पृष्ठ २२६–२२७।

उनका किंचित् मात्र भी अनुभव नहीं होता। अतः प्रतीतियाँ के अविद्या द्वारा उत्पन्न होने पर भी, जहाँ तक उनकी विकृत सत्ता का मानन का प्रश्न है उनका अंतर्निहित आधार ब्रह्म है और इसी कारण ब्रह्म को जगत् का परम कारण माना जाएगा। ज्योंही इस ब्रह्म की अनुभूति होती है, प्रतीतियाँ नष्ट हो जाती हैं, क्योंकि सम्पूर्ण प्रतीतियों का मूल उनकी परम सत्ता ब्रह्म के साथ भ्रमात्मक परिभ्रान्ति है। शांकर भाष्य २ २ २८ पर भामती भाष्य में वाचस्पति यह बताते हैं कि शांकर वेदान्त के अनुसार ज्ञान के विषय स्वयं स्वरूपतः अनिर्वचनीय हैं और न कि मानसिक प्रत्यय मात्र (न हि ब्रह्मवादिनो नीलाद्याकारां वृत्तिं अभ्युपगच्छन्ति किन्तु अनिर्वचनीय नीलादि) अतः बाह्य विषय पूर्ववत प्रत्यक्षीकर्ता के बाहर विद्यमान है, केवल उनका स्वरूप और उपादान, अनिर्वचनीय और युक्तिहीन है। अतः हमारे प्रत्यक्षीकरण का सम्बन्ध उनके ऐसे विषयों से है जो उनके उत्तेजक अथवा उत्पादक हैं और उनका स्वरूप बाह्य विषयों की सहायता के बिना अन्दर से उत्पन्न शुद्ध संवेदनाएं अथवा प्रत्यय नहीं हैं।

सर्वज्ञात्म मुनि (९०० ई० प०)

सर्वज्ञात्म मुनि शंकर के शिष्य सुरेश्वराचार्य के शिष्य थे जिनका वे अपने ग्रन्थ संक्षेप शारीरक के प्रारम्भ में सुरेश्वर में सुर शब्द का पर्यायवाची शब्द होने के कारण देवेश्वर नाम द्वारा अभिनन्दन करते हैं। देवेश्वर का सुरेश्वर के साथ ऐक्य संक्षेप शारीरक के भाष्यकार रामतीर्थ ने किया है और इस ऐक्य का मतभेद कोई ऐसी अन्य बात से नहीं है जो सर्वज्ञात्म मुनि के बारे में या तो उसके ग्रन्थों द्वारा अथवा उसके अन्य सामान्य उल्लेखों द्वारा ज्ञात होती है। यह कहा जाता है कि उसका अन्य नाम नित्यबोधाचार्य था। सुरेश्वर अथवा सर्वज्ञात्म का ठीक ठीक काल निश्चित रूप से निर्धारित नहीं किया जा सकता। श्री पंडित गौडवहो की अपनी भूमिका में यह विचार व्यक्त करते हैं कि चूंकि भवभूति कुमारिल के शिष्य थे अतः कुमारिल सप्तम् शतक के मध्य में रहे होंगे और चूंकि शंकर कुमारिल के समकालिक थे (शंकर दिग्विजय के शब्द पर) अतः वह या तो सप्तम् शतक में या अष्टम् शतक के पूर्वार्द्ध में रहे होंगे। वर्तमान ग्रन्थ के प्रथम खंड में शंकर का काल ७८०-८२० ई० प० के मध्य माना गया। श्री पंडित द्वारा दी गई युक्तियों में कोई नई बात विचारणीय नहीं है। भवभूति को कुमारिल का शिष्य मानने का उसका सिद्धान्त दो पाण्डुलिपियों के साक्ष्य पर आधारित है। जहाँ मालती माधव के अंक के अन्त में यह कहा जाता है कि वह ग्रन्थ कुमारिल के शिष्य द्वारा लिखा गया था यह साक्ष्य, जैसाकि मैंने अन्यत्र कहा है, अनुचित है। शंकर को कुमारिल का समकालीन मानने वाली परम्परा में केवल शंकर दिग्विजय के शब्द

पर आधारित होने के कारण गम्भीरतापूर्वक विश्वास नहीं किया जा सकता। जो कुछ कहा जा सकता है वह यह है कि सम्भवतः कुमारिल शंकर के बहुत पूर्व नहीं रहे, यदि कोई इसका अनुमान इस तथ्य से लगाए कि शंकर कुमारिल का कोई उल्लेख नहीं करते। अतः इस परम्परागत मान्य दृष्टिकोण को छोड़ देने में कोई कारण प्रतीत नहीं होता कि शंकर का जन्म संवत् ८४४ अथवा ई० प० ७८८ अथवा कलियुग ३८८९ में हुआ।[1] शंकर का मृत्यु काल लगभग ८२० ई० प० सम्मत हुए और इस बात की ओर ध्यान देते हुए कि सर्वज्ञात्मन् के आचार्य सुरेश्वर ने अपने उच्च धर्माध्यक्षीय पद को दीर्घ काल तक अधिकार में रखा यह धारणा कि सर्वज्ञात्मन ९०० ई० प० में रहे अधिक अनुचित नहीं। तथापि इसका इस तथ्य के साथ कोई मेल नहीं है कि ८४२ ई० प० में वाचस्पति ने न्याय सूचि निबन्ध नामक अपना पूर्वतर ग्रन्थ लिखा और मंडन कृत ब्रह्मसिद्धि पर भी अपना भाष्य लिखा जबकि सुरेश्वर धर्माध्यक्षीय पद को धारण किए हुए थे।

इस प्रकार, सर्वज्ञात्म मुनि सम्भवतः वाचस्पति मिश्र के कनिष्ठ समकालीन थे। अपने संक्षेप शारीरक में वे शंकर द्वारा स्पष्टीकृत वेदान्त दर्शन की मूलभूत समस्याओं का वर्णन करने का प्रयत्न करते हैं। यह एक ही उनका ग्रन्थ सम्भवतः हमें ज्ञात है जो विभिन्न छन्दों के श्लोकों में लिखे गए चार अध्यायों में विभाजित है। इसके प्रथम अध्याय में ५६३ श्लोक, द्वितीय अध्याय में २४८, तृतीय अध्याय में २४८ और चतुर्थ अध्याय में ६३ श्लोक हैं। ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में उनकी धारणा है कि शुद्ध ब्रह्म अज्ञान के द्वारा समस्त वस्तुओं का परम कारण है। चिदात्मा पर आश्रित एवं उसके विषय के रूप में उस पर क्रिया करने वाला अज्ञान उसके यथार्थ स्वरूप को आच्छादित करके भ्रमात्मक प्रतीतियों का विक्षेप करता है तथा उसके द्वारा ईश्वर, जीव और जगत् की त्रिविध प्रतीतियाँ उत्पन्न करता है। अज्ञान की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है और उसके प्रभाव केवल चिदात्मा के द्वारा ही उसके आश्रय एवं विषय के रूप में दिखाई देते हैं तथा उसकी सम्पूर्ण सृष्टि मिथ्या है। सुषुप्ति अवस्था में चिदात्मा किंचित् मात्र भी शोक अस्पष्ट तथा चिदानन्द और चित्सुख के स्वरूप में अपरोक्ष रूप से प्रत्यक्षीकृत होता है और चिदानन्द की परिभाषा परम लक्ष्य एवं किसी भी परिस्थिति में किसी वस्तु के असाधन के रूप में ही दी जा सकती है। चिदात्मा वही है जो किसी भी अन्य का साधन नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त यह सत्य है कि प्रत्येक व्यक्ति को सदैव अपनी आत्म प्राप्ति के परम विषय के रूप में अभीष्ट है जो उसे सर्वाधिक प्रिय है। ऐसा अनन्त प्रेय एवं परम लक्ष्य सीमित आत्मा नहीं हो सकता जिसका हमारे साधारण कार्यों के कर्त्ता के रूप में और जीवन की दैनिक क्रियाओं में भोक्ता के रूप में उल्लेख

[1] आर्य विद्या सुधाकर देखिए पृष्ठ २२६–२२७।

है। उपनिषद् के द्रष्टाओं की अपरोक्षानुभूति भी अनन्त एव चिदानन्द के रूप म आत्मा के सत्य की पुष्टि करती है। दूसरी ओर भ्रमात्मक अध्यास विषय एव विषयी की सीमित प्रतीतियाँ हैं जो केवल मिथ्या आरोपण की सम्भावना मे योगदान करते है अत वे वास्तविक नही हो सकते। जब ब्रह्म अज्ञान से सबद्ध होता है तब दो मिथ्या तत्व होते है यथा अज्ञान एव अज्ञान से सबद्ध ब्रह्म, परन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि इन समस्त मिथ्या सबधो मे अन्तर्निहित ब्रह्म स्वय मिथ्या है क्योकि इसके कारण इस आलोचना को समर्थन प्राप्त होगा कि बौद्धो की तरह सब कुछ मिथ्या होने के कारण परम सत्य जैसा कोई तत्व ही नहीं है। यहा आधार एव अधिष्ठान के बीच भेद का निर्देश किया गया है। समस्त प्रतीतियो मे अन्तर्निहित चिदात्मा यथार्थ अधिष्ठान है जबकि मिथ्या अज्ञान द्वारा विकृत रूप म ब्रह्म मिथ्या आधार अथवा मिथ्या विषय है जिसके साथ प्रतीतियाँ अपरोक्ष रूप से सम्बन्धित हैं। समस्त भ्रमात्मक प्रतीतियो की अनुभूति इसी प्रकार होती है। इस प्रकार इस अनुभव म कि मैं यह रजत का टुकड़ा देखता हूँ (शुक्ति की रजत के रूप मे मिथ्या प्रतीति होने की अवस्था मे) राजत लक्षण अथवा रजत की मिथ्या प्रतीति प्रत्यक्षीकर्त्ता के समक्ष यह तत्व के साथ रजत सम्बन्धित है और 'यह तत्व मिथ्या विषय के रूप मे अपनी बारी म यह रजत के रूप मे मिथ्या रजत से सबद्ध होता है। परन्तु यद्यपि मिथ्या रजत की विषयपरकता प्रत्यक्षकर्त्ता के समक्ष यह के रूप मे मिथ्या है शुक्ति का वास्तविक विषय 'यह' मिथ्या नही है। यह उपरोक्त प्रकार का मिथ्या प्रतीति का विषय पर एव मिथ्या विषय का मिथ्या प्रतीति पर द्विविध आरोपण परस्पराध्यास कहलाता है। केवल मिथ्या विषय ही भ्रमात्मक प्रतीति म प्रतीत होता है एव यथार्थ विषय अस्पष्ट रहता है। अन्त करण का परावासी स्थिति के कारण कुछ सीमा तक चिदात्मा के साथ सादृश्य है और इस सादृश्य के कारण प्राय इसे चिदात्मा समझा जाता है। यह कहा जा सकता है कि बिना भ्रमात्मक आरोपण के अन्त करण नही हो सकता अत यह स्वय भ्रम क स्वरूप की व्याख्या नही कर सकता। ऐसी आपत्ति का उत्तर यह है कि भ्रमात्मक आरोपण एव उसके परिणाम अनादि हैं और ऐसा कोई विशिष्ट काल केन्द्र नही है जिसे उसका प्रारम्भ कहा जा सकता है। अत यद्यपि वर्तमान भ्रम का प्रारम्भ अन्त करण के साथ हुआ है फिर भी स्वय अन्त करण पूर्वारोपण का परिणाम है और वह पूर्वान्त करण का तथा इस प्रकार अनादि है। जिस प्रकार यद्यपि शुक्ति रजत भ्रम म शुक्ति के वस्तुत विद्यमान होते हुए भी उसे भिन्न नही देखा जाता और जो कुछ विद्यमान प्रत्यक्षीकृत होता है वह असत्य रजत है अत यथार्थ ब्रह्म अधिष्ठान के रूप मे विद्यमान है यद्यपि प्रतीति काल में केवल जगत् का ही अस्तित्व प्रतीत होता है और ब्रह्म उससे अनुभूत नही होता। फिर भी यह इस जगत का वास्तविक अस्तित्व नही है और अज्ञानियो के लिए ही यह

विद्यमान है। ब्रह्म के यथार्थ ज्ञान के उदय होने पर ही इसका (अज्ञान का) निराकरण हो सकता है और उपनिषदो के शब्दो द्वारा ही इस यथार्थ ज्ञान का उदय हो सकता है, क्योकि ब्रह्म के स्वरूप की अनुभूति करने का कोई अन्य साधन नही है। पुन सत्य की परिभाषा प्रमाण द्वारा परीक्षणीय के रूप मे नही दी गई है बल्कि सत्य वह है जिसकी स्वतन्त्र एव अपरोक्षानुभूति हो सकती है। अज्ञान की परिभाषा भावरूप कह कर दी गई है और इसके चिदात्मा ब्रह्म पर आश्रित होने पर भी नवनीत वाह्नि सपर्क के समान, वह भी कुछ विशिष्ट अवस्थाओ मे स्पर्श होने पर द्रवीभूत हो जाता है। अज्ञान के भाव रूप का मान जगत् के जडत्व मे तथा हमारे अन्दर अविद्या के रूप म होता है। तथापि उपनिषदो के शब्द के अनुसार चिदात्मा वास्तविक अधिष्ठान कारण है और अज्ञान यह उपकरण अथवा साधन है जिसके द्वारा वह समस्त प्रतीतियो का कारण हो सकता है, परन्तु स्वय अज्ञान किसी भी प्रकार से जगत् का उपादान कारण नही होने से सर्वज्ञात्मन् की यह निश्चित धारणा है कि अज्ञान से सबद्ध ब्रह्म अथवा दोनो एकसाथ मिलकर जगत् का उपादान कारण नही कहे जा सकते। अज्ञान केवल गौण साधन है जिसके बिना प्रतीतियो का विकार सचमुच सम्भव नही है परन्तु उनसे अन्तर्निहित परम कारण मे जिसका कोई सम्भाग नही है वह निश्चित रूप से इसका निषेध करते हैं कि ब्रह्म किसी अनुमान द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है जिसके फलस्वरूप ब्रह्म जगत्, जन्म, स्थिति एव भग का कारण है क्योकि ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान केवल शास्त्रीय वचनो द्वारा ही हो सकता है। इस बात का प्रदर्शन करने के लिए कि किस प्रकार उपनिषदो द्वारा परमतत्व ब्रह्म की अपरोक्षानुभूति सम्भव हो सकती है व लम्बे पर्यालोचन म पडते हैं।

पुस्तक के द्वितीय अध्याय म मुख्यतया इन्ही सिद्धान्तो की व्याख्या की गई है। उस अध्याय मे सर्वज्ञात्मे मुनि वेदान्त दर्शन का बौद्ध दर्शन से भेद प्रदर्शित करते हैं जो मुख्यतया इसी तथ्य म है कि भ्रम के सिद्धान्त के होते हुए भी वेदान्त ब्रह्म को ही परम सत्य मानता है जो बौद्धो को मान्य नही है। उनका यह भी कथन है कि किस प्रकार जाग्रतावस्था की तुलना स्वप्ना से की जा सकती है। तब वे यह बताने का प्रयत्न करते हैं कि जगत् प्रतीति की सत्यता न तो प्रत्यक्ष और न अन्य प्रमाणो द्वारा ही सिद्ध की जा सकती है और सांख्य दर्शन न्याय तथा अन्य दर्शनो की आलोचना करते हैं। ब्रह्म अज्ञान सबधी सिद्धान्त को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते है अज्ञान का सबध एक चिदात्मा तथा जीवो से नही होकर ब्रह्म के चित्प्रकाश से है जो जीवो के आधार एव अधिष्ठान के रूप मे प्रकाशित होता है क्योकि केवल इसी के सम्बन्ध में अज्ञान की प्रतीति होती है और उसका प्रत्यक्ष होता है। जब यथार्थ ज्ञान का उदय होने पर चिदात्मा अद्वितीय ब्रह्म की अनुभूति होती है तब अज्ञान का अनुभव नही होता। जीवो मे अन्तर्निहित रूप म केवल ब्रह्म के प्रकाश म अज्ञान का प्रत्यक्ष होता है, जब कोई कहता है जो तुम कहते हो, वह मैं

है। उपनिषद् के द्रष्टाओं की अपरोक्षानुभूति भी अनन्त एवं चिदानन्द के रूप में आत्मा के सत्य की पुष्टि करती है। दूसरी ओर भ्रमात्मक अध्यास विषय एवं विषयी की सीमित प्रतीतियाँ हैं जो केवल मिथ्या आरोपण की सम्भावना में योगदान करते हैं अतः वे वास्तविक नहीं हो सकते। जब ब्रह्म अज्ञान से सबद्ध होता है तब दो मिथ्या तत्व होते हैं यथा अज्ञान एवं अज्ञान से सबद्ध ब्रह्म, परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इन समस्त मिथ्या सबधों में अन्तर्निहित ब्रह्म स्वयं मिथ्या है क्योंकि इसके कारण इस आलोचना को समर्थन प्राप्त होगा कि बौद्धों की तरह सब कुछ मिथ्या होने के कारण परम सत्य जैसा कोई तत्व ही नहीं है। यहाँ आधार एवं अधिष्ठान के बीच भेद का निर्देश किया गया है। समस्त प्रतीतियों में अन्तर्निहित चिदात्मा यथार्थ अधिष्ठान है जबकि मिथ्या अज्ञान द्वारा विकृत रूप में ब्रह्म मिथ्या आधार अथवा मिथ्या विषय है जिसके साथ प्रतीतियाँ अपरोक्ष रूप से सम्बन्धित हैं। समस्त भ्रमात्मक प्रतीतियों की अनुभूति इसी प्रकार होती है। इस प्रकार इस अनुभव में कि 'मैं यह रजत का टुकड़ा देखता हूँ' (शुक्ति की रजत के रूप में मिथ्या प्रतीति होने की अवस्था में) रजत लक्षण अथवा रजत की मिथ्या प्रतीति प्रत्यक्षीकर्ता के समक्ष 'यह' तत्व के साथ रजत सम्बन्धित है और 'यह' तत्व मिथ्या विषय के रूप में अपनी पारी में यह रजत के रूप में मिथ्या रजत से सबद्ध होता है। परन्तु यद्यपि मिथ्या रजत की विषयपरकता प्रत्यक्षकर्ता के समक्ष 'यह' के रूप में मिथ्या है शुक्ति का वास्तविक विषय 'यह' मिथ्या नहीं है। यह उपरोक्त प्रकार का मिथ्या प्रतीति का विषय पर एवं मिथ्या विषय का मिथ्या प्रतीति पर द्विविध आरोपण परस्पराध्यास कहलाता है। केवल मिथ्या विषय ही भ्रमात्मक प्रतीति में प्रतीत होता है एवं यथार्थ विषय अस्पष्ट रहता है। अन्तःकरण का परामासी स्थिति के कारण कुछ सीमा तक चिदात्मा के साथ सादृश्य है और इस सादृश्य के कारण प्रायः इसे चिदात्मा समझा जाता है। यह कहा जा सकता है कि बिना भ्रमात्मक आरोपण के अन्तःकरण नहीं हो सकता अतः यह स्वयं भ्रम के स्वरूप की व्याख्या नहीं कर सकता। ऐसी आपत्ति का उत्तर यह है कि भ्रमात्मक आरोपण एवं उसके परिणाम अनादि हैं और ऐसा कोई विशिष्ट काल केन्द्र नहीं है जिसे उसका प्रारम्भ कहा जा सकता है। अतः यद्यपि वर्तमान भ्रम का प्रारम्भ अन्तःकरण के साथ हुआ है फिर भी स्वयं अन्तःकरण पूर्वारोपण का परिणाम है और वह पूर्वान्तःकरण का तथा इस प्रकार अनादि है। जिस प्रकार यद्यपि शुक्ति रजत भ्रम में शुक्ति के वस्तुतः विद्यमान होते हुए भी उसे भिन्न नहीं देखा जाता और जो कुछ विद्यमान प्रत्यक्षीकृत होता है वह असत्य रजत है अतः यथार्थ ब्रह्म अधिष्ठान के रूप में विद्यमान है यद्यपि प्रतीति काल में केवल जगत् का ही अस्तित्व प्रतीत होता है और ब्रह्म उससे अनुभूत नहीं होता। फिर भी यह इस अज्ञान का वास्तविक अस्तित्व नहीं है और अज्ञानियों के लिए ही यह

विद्यमान है। ब्रह्म के यथार्थ ज्ञान के उदय होने पर ही इसका (अज्ञान का) निराकरण हो सकता है और उपनिषदों के शब्दों द्वारा ही इस यथार्थ ज्ञान का उदय हो सकता है, क्योंकि ब्रह्म के स्वरूप की अनुभूति करने का कोई अन्य साधन नहीं है। पुन सत्य की परिभाषा प्रमाण द्वारा परीक्षणीय के रूप में नहीं दी गई है बल्कि सत्य वह है जिसकी स्वतन्त्र एव अपरोक्षानुभूति हो सकती है। अज्ञान की परिभाषा भावरूप कह कर दी गई है और इसके चिदात्मा ब्रह्म पर आश्रित होने पर भी, नवनीत वह्नि सपर्क के समान, वह भी कुछ विशिष्ट अवस्थाओं मे स्पष्ट होने पर द्रवीभूत हो जाता है। अज्ञान के भाव रूप का ज्ञान जगत् के जडत्व म तथा हमारे अन्दर अविद्या के रूप मे होता है। तथापि उपनिषदों के शब्द के अनुसार चिदात्मा वास्तविक अधिष्ठान कारण है और अज्ञान वह उपकरण अथवा साधन है जिसके द्वारा वह समस्त प्रतीतियों का कारण हो सकता है, परन्तु स्वय अज्ञान किसी भी प्रकार से जगत् का उपादान कारण नहीं होने से सर्वज्ञात्मन् की यह निश्चित धारणा है कि अज्ञान से सबद्ध ब्रह्म अथवा दोनों एकसाथ मिलकर जगत् का उपादान कारण नहीं कहे जा सकते। अज्ञान केवल गौण साधन है जिसके बिना प्रतीतियों का विकार सचमुच सम्भव नहीं है परन्तु उनसे अन्तर्निहित परम कारण म जिसका कोई सम्भाग नहीं है वह निश्चित रूप से इसका निषेध करते हैं कि ब्रह्म किसी अनुमान द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है जिसके फलस्वरूप ब्रह्म जगत् जन्म, स्थिति एव भग का कारण है क्योंकि ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान केवल शास्त्रीय वचनों द्वारा ही हो सकता है। इस बात का प्रदर्शन करने के लिए कि किस प्रकार उपनिषदों द्वारा परमतत्व ब्रह्म की अपरोक्षानुभूति सम्भव हो सकती है, व लम्बे पर्यालोचन म पड़ते हैं।

पुस्तक के द्वितीय अध्याय म मुख्यतया इन्हीं सिद्धान्तों की व्याख्या की गई है। उस अध्याय मे सर्वज्ञात्म मुनि वेदान्त दर्शन का बौद्ध दर्शन से भेद प्रदर्शित करते जो मुख्यतया इसी तथ्य मे है कि भ्रम के सिद्धान्त के होते हुए भी वेदान्त ब्रह्म को ही परम सत्य मानता है जो बौद्धों का मान्य नहीं है। उनका यह भी कथन है कि किस प्रकार जाग्रतावस्था की तुलना स्वप्ना से की जा सकती है। तब वे यह बताने का प्रयत्न करते हैं कि जगत् प्रतीति की सत्यता न तो प्रत्यक्ष और न अन्य प्रमाणो द्वारा ही सिद्ध की जा सकती है और साख्य दर्शन न्याय तथा अन्य दर्शनों की आलोचना करते हैं। ब्रह्म अज्ञान सबधी सिद्धान्त को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं अज्ञान का सबध एव चिदात्मा तथा जीवो से नहीं होकर ब्रह्म के चित्प्रकाश से है जो जीवों के आधार एव अधिष्ठान के रूप मे प्रकाशित होता है, क्योंकि केवल इसी के सम्बन्ध म अज्ञान की प्रतीति होती है और उसका प्रत्यक्ष होता है। जब यथार्थ ज्ञान का उदय होने पर चिदात्मा अद्वितीय ब्रह्म की अनुभूति होती है तब अज्ञान का अनुभव नहीं होता। जीवों म अन्तर्निहित रूप म केवल ब्रह्म के प्रकाश म अज्ञान का प्रत्यक्ष होता है, जब कोई

है जसा कि स्वय अपनेआपको प्रत्येक जीव द्वारा अभिव्यक्त करता है।[1] ब्रह्म का यथाथ प्रकाश सदैव वहाँ है और मोक्ष का अथ अज्ञान के नाश के अतिरिक्त कुछ नही है। तृतीय अध्याय मे सवज्ञात्म उन साधनो का वणन करते हैं जिनके द्वारा इस अज्ञान का नाश करना चाहिए और इस परिणाम तथा अन्तिम ब्रह्म ज्ञान के लिए अपनेआपको तयार करना चाहिए। अन्तिम अध्याय म वे मोक्ष के स्वरूप एव ब्रह्मत्व की प्राप्ति का वणन करते हैं।

कई विख्यात लेखको ने सक्षेप शारीरक पर भाष्य लिखे जिनमे से कोई अति प्राचीन प्रतीत नही होता। इस प्रकार नसिंहाश्रम ने तत्त्वबोधिनी, नामक टीका, राघवानन्द ने विद्यामृत वर्षिणी नामक अन्य टीका, विश्वदेव ने एक अन्य सिद्धान्तदीप नामक भाष्य लिखा जिस पर कृष्णतीर्थ के शिष्य रामतीर्थ ने अपने भाष्य अन्वयार्थ प्रकाशिका को आधार बनाया। मधुसूदन सरस्वती ने भी सक्षेप शारीरक सार सग्रह नामक एक अन्य भाष्य लिखा।

आनन्दबोध यति

शाकर वदान्त के सम्प्रदाय म आनन्द बोध एक महान् नाम है। समवत व एकादश अथवा द्वादश शतक मे रहे।[2] वाचस्पति कृत तत्त्व समीक्षा का वे उल्लेख करते हैं और चिदानन्द रूप म आत्मा के स्वरूप की व्याख्या करने वाले सवज्ञात्मन् कृत दशन का उनका नाम लिए बिना उल्लेख है। उन्होने शाकर वेदान्त पर कम से कम तीन ग्रन्थ लिखे यथा न्याय मकरन्द, न्याय दीपावली एव प्रमाण माला इनम से चित्सुख एव उनके शिष्य सुखप्रकाश ने न्याय मकरन्द पर न्याय मकरन्द टीका एव न्याय मकरन्द विवेचनी नामक भाष्य लिखे। सुखप्रकाश ने भी न्याय दीपावली पर न्याय दीपावली तात्पर्य-टीका नामक भाष्य लिखा। आनन्द ज्ञान के आचाय अनुभूतिस्वरूप आचाय (तेरहवें शतक के अन्त) ने भी आनन्द बोध के तीनो ग्रन्थो पर भाष्य लिखे। आनन्द बोध मौलिक योगदान का बहाना

---

[1] नाज्ञाना ब्रह्मसमाश्रय इष्ट एवम्
नाद्वत वस्तु विषय निशितेक्षणानाम्
नानन्द नित्य विषयाश्रय इष्टमतत्
प्रत्यक्त्व मात्र विषयाश्रयतानुभूते। —सक्षेप शारीरक॥ २११ ८ २।

[2] श्री त्रिपाठी आनन्द ज्ञान-कृत तकसग्रह की भूमिका मे आनन्दबोध का काल १२०० ई॰ प देते हैं।

नहीं करते एवं कहते हैं कि उन्होंने अपनी सामग्री अन्य ग्रन्थों से इकट्ठी की जो उनके काल में विद्यमान थे।[1] वे अपना न्याय मकरन्द इसी प्रतिपाद्य विषय के साथ प्रारम्भ करते हैं कि विभिन्न जीवात्माओं का भासित भेद मिथ्या है क्योंकि यह सिद्धान्त केवल उपनिषदों को ही मान्य नहीं है बल्कि यह तर्क के आधार पर भी बुद्धिगम्य है कि जीवात्माओं के प्रतीत होने वाले नानात्व की व्याख्या नानात्व के काल्पनिक पुरुष भेद के आधार पर की जा सकती है, यद्यपि वस्तुतः आत्मा एक ही है। इस तथ्य पर तर्क करना कि काल्पनिक नानात्व की भ्रमात्मक मान्यता भी नानात्व की प्रतीतियों की व्याख्या कर सकती है आनन्द बोध सांख्य कारिका के तर्क का खण्डन करने का प्रयत्न करते हैं कि जीवात्माओं का नानात्व इस तथ्य से सिद्ध होता है कि कुछ लोगों के जन्म मृत्यु के साथ अन्य लोगों की जन्म मृत्यु नहीं होगी। जीवात्माओं के नानात्व का अपने ही ढंग से खण्डन करने के बाद वे विषयों के नानात्व का खण्डन करते हैं। उनकी धारणा है कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा भेद का प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता क्योंकि भेद का प्रत्यक्ष विषय एवं उन सबसे भेद स्थापित करने वाली अन्य सब वस्तुओं के प्रत्यक्ष हुए बिना नहीं किया जा सकता। यह नहीं कहा जा सकता कि प्रथम विषय का प्रत्यक्ष होता है और तदनन्तर भेद। क्योंकि विषय के ज्ञान के साथ प्रत्यक्ष की स्वभावतः निवृत्ति हो जाएगी, और ऐसा कोई ढंग नहीं है जिसमें भेद की अवधारणा के लिए वह क्रिया कर सकता है न यह माना जा सकता है कि भेद का बोध किसी भी प्रकार से इन्द्रिय प्रत्यक्ष के साथ होता है, न यह सम्भव है कि जब दो इन्द्रिय विषयों का प्रत्यक्ष दो विभिन्न कालों में होता है तो कोई अन्य तरीका भी हो सकता है जिसके द्वारा उनके भेद का प्रत्यक्ष सम्भव हो, क्योंकि दो इन्द्रिय विषयों का प्रत्यक्ष एक ही काल में नहीं हो सकता। पुनः यह भी नहीं कहा जा सकता कि किसी भी इन्द्रिय विषय के प्रत्यक्ष में यथा नील के साथ समस्त अनील, पीत, श्वेत, रक्त इत्यादि अन्तर्निहित है क्योंकि उस अवस्था में किसी भी इन्द्रिय विषय के प्रत्यक्ष में जगत् के अन्य सब विषय अन्तर्निहित हैं। किसी तत्त्व के भेद के निषेध का अर्थ उसकी वास्तविक विध्यात्मकता से कुछ भी अधिक नहीं है। परन्तु यह धारणा सही नहीं है कि समस्त विध्यात्मक तत्त्व भेद स्वरूप हैं क्योंकि यह सम्पूर्ण अनुभव के विपरीत है। यदि भेद विध्यात्मक तत्त्वों के रूप में प्रत्यक्षीकृत होते हैं तो उन्हें समझने के लिए अन्य भेदों की आवश्यकता होगी एवं इस प्रकार अनवस्था प्रसंग का दोष उत्पन्न होगा। इसके अतिरिक्त भेद अपने स्वरूप में निषेधात्मक होने के कारण विध्यात्मक इन्द्रिय विषयों के रूप में प्रत्यक्षीकृत नहीं हो सकते। उद्देश्य

---

[1] नाना निबन्ध कुसुम प्रभवावदात-
न्यायापणेन मकरन्द कदम्ब एव। न्याय मकरन्द—पृष्ठ—३५९।

अथवा विधेय के रूप म चाहे 'घट का स्तम्भ से भेद' अथवा 'घट स्तम्भ से भिन्न है के रूप मे दोना अवस्थाओ म दोनो विषयो के बीच पूवतर एव अधिक पुरातन भेद की अवधारणा है जिसके आधार पर भेद के तत्व की अनुभूति होती है।

तब आनन्द बोध न्याय मीमासा और बौद्ध दशन द्वारा प्रतिपादित ख्याति के विभिन्न सिद्धान्तो की विवेचना करते है और अनिवचनीय ख्याति का समथन करते हैं।[1] इस सबध मे व अपने मत को प्रस्तुत करते हैं कि अविद्या को जगत् प्रतीति के कारण के रूप म क्यो स्वीकार करना पडता है। व बताते हैं कि जगत् प्रतीति की विविधता और नानात्व की उसके द्रव्यभूत कारण मे विश्वास किए बिना व्याख्या नही की जा सकती। चूकि जगत् प्रतीति मिथ्या है अत वह सत्य द्रव्य म से उत्पन्न नही हो सकती और न इसकी उत्पत्ति निरपेक्ष रूप से असत् और असत्य मे से हो सकती है *क्योकि ऐसी वस्तु स्पष्टतया किसी का भी कारण नही हो* सकती, अत जगत् प्रतीति का कारण न तो सत् अथवा न असत् ही हो सकता है अत इसका कारण ऐसा होना चाहिए जो न तो सत्य है और न असत्य, और न सत तथा न असत् तत्व अविद्या है।[2]

आगे चलकर वे इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं कि आत्मा सविद् रूप है अर्थात् शुद्ध चतन्य है। प्रथमत वे इसका प्रतिपादन इस प्रकार करते है कि विज्ञप्ति अपनेआपको प्रकट करने के साथ साथ अपने विषयो को भी तत्काल प्रकट करती हैं और द्वितीय विज्ञप्ति विषय के विकारशील होत हुए भी एक अविकारी चतन्य है जो विषय के नही होने पर भी वैसा ही स्थाई रहता है। यदि केवल विज्ञप्तियो की शृखलाए उत्पन्न एव समाप्त होती हैं और यदि प्रत्येक समय निरन्तर स्थाई रहने वाली विज्ञप्ति है तो किस प्रकार एव विज्ञप्ति तथा अन्य विज्ञप्ति में, नील और पीले म भेद स्थापित किया जाय ? अविद्या के सन्दभ मे वे इसके ब्रह्माश्रित होने के मत की पुष्टि करते हैं क्योकि अविद्या का स्वरूप अनिवचनीय होने के कारण अर्थात् न अभाव और न भाव होने के कारण इसे ब्रह्माश्रित मानने मे कोई आपत्ति नही हो सकती। इसके अतिरिक्त केवल अविद्या युक्त ब्रह्म ही सवज्ञ माना जा सकता है *क्योकि सब सापेक्ष वस्तुए अविद्या स्वरूप हैं और सापेक्ष वस्तुओ के ज्ञान के* बिना कोई सवज्ञता नही हो सकी। अपने न्याय दीपवली म भ्रमात्मक रजत के मिथ्यात्व के दृष्टान्त पर जगत् प्रतीति के मिथ्यात्व का व अनुमान द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न करते है। उसके निरूपण की विधि न्यूनाधिक वही है जो निरूपण मधुसूदन सरस्वती कृत अद्वैत सिद्धि म अत्यत अपर काल मे है। उनकी प्रमाण माला मे देखा जाय तो कुछ भी नई बात नहीं है। प्रायोगिक पच्चीस पृष्ठ का

---

[1] वतमान ग्रन्थ का प्रथम खड अध्याय १०, पृष्ठ ४८५ देखिए।

[2] न्याय मकरन्द पृष्ठ १२२ १२३।

यह एक छोटा सा ग्रन्थ है और इसमें न्याय मकरन्द की युक्तियों का कुछ भिन्न रूप में और भिन्न बल के साथ पहचाना जा सकता है। आनन्द बोध की सर्वाधिक युक्तियां वेदान्त सम्प्रदाय के बाद के लेखकों ने अपनाई। वेदान्त के मध्व सम्प्रदाय के व्यासतीर्थ ने खण्डन करने के लिए अपने न्यायामृत में बहुत से वेदान्त प्रमाण आनन्द बोध एवं प्रकाशात्मन् से इकट्ठे किए और उनका खंडन मधुसूदन की महान् कृति अद्वैत सिद्धि में किया गया तथा फिर जिनका खंडन रामतीर्थ कृत न्यायामृत तरङ्गिणी में किया गया। इस विवाद के इतिहास का वर्णन वर्तमान ग्रन्थ के तृतीय खंड में किया जाएगा।

महाविद्या एवं तार्किक युक्ति सगतता का विकास

नागार्जुन काल से ही बौद्धों ने तार्किक वाद विवाद की नैयायिक विधि का सूत्रपात कर लिया था। परन्तु यह किसी भी प्रकार से बौद्धों तक ही सीमित नहीं थी। नैयायिकों ने भी इन विधियों का ग्रहण किया जैसा कि वात्स्यायन, उद्योतकर, वाचस्पति उदयन एवं अन्य लोगों के लेखों से सोन्माहृत है। स्वयं शंकर ने बौद्ध जैन वैशेषिक एवं भारतीय दर्शन के अन्य मतों का खण्डन करने के लिए इसी विधि का उपयोग किया था। परन्तु यद्यपि इन लेखकों ने अधिकतर नागार्जुन के प्रमाणों की तार्किक विधि को अपनाया था फिर भी नागार्जुन के तार्किक प्रमाणों की विशुद्ध युक्तिसगतता का विकास करने के लिए उन्होंने कुछ भी प्रयत्न नहीं किया। जैसे, पूर्णत निश्चित युक्ति सगत कठोरता सहित परिभाषाओं को सूत्र बद्ध करने का प्रयत्न करना और युक्ति सगतता और तर्क युक्त सूक्ष्मता पर अधिक बल के साथ आलोचनाएं करना जिनकी चरमावस्था उत्तरवर्ती न्याय लेखकों में जैसे रघुनाथ शिरोमणि, जगदीश भट्टाचार्य मथुरानाथ भट्टाचार्य एवं गदाधर भट्टाचार्य में दिखायी दी। सामान्यतया यह विश्वास किया जाता है कि इस प्रकार के हानिकारक मानसिक परिश्रम करवाने वाली तार्किक युक्ति सगतता की विधियों को मिथिला के गंगेश उपाध्याय ने पूर्व त्रयोदश शतक में प्रथमत प्रारम्भ किया। परन्तु सत्य यह प्रतीत होता है कि तार्किक युक्ति सगतता की विधि कुछ लेखकों में दशम् एवं एकादश शतकों में धीरे धीरे विकसित हो रही थी। इसका एक प्रख्यात उदाहरण एकादश शतक में कुलार्क पंडित द्वारा अनुमान के महा विद्या प्रकार का सूत्रीकरण है। श्री हर्ष (११८७–ई० प०) के पूर्व इस महाविद्या अनुमान का वस्तुत कोई उल्लेख नहीं मिलता।[1] इस अनुमान के उदाहरण चित्सुख आचार्य

---

[1] गधे गन्धान्तर प्रसंजिका न च युक्तिरस्ति, तदस्तित्वेवास्तां नो हानि, तस्याऽपि अस्माभि खडनीयत्वात्। श्री हर्ष कृत खडन खड खाद्य पृष्ठ ११८१, चौखम्बा सस्करण।

(१२२० ई० प०) श्रमलानन्द जिसे व्यासाश्रम भी कहते हैं, (१२४७ ई० प०), प्रानन्दज्ञान (१२७० ई० प०), वेंकट (१३६६ ई० प०), नेय शङ्गधर (१४५० ई० प०) एवं अन्य लोगों के लेखों में उपलब्ध हैं।[1]

महा विद्या अनुमान का सम्भवत एकादश शतक मे प्रारम्भ हुआ था और पन्द्रहवें शतक तक उनका उल्लेख अथवा खंडन होता रहा, यद्यपि यह आश्चर्य है कि उनका उल्लेख गंगेश अथवा उनके किसी भी समथक यथा रघुनाथ, जगदीश आदि ने केवलान्वयि अनुमान के स्वरूप के बारे मे विचार करते हुए नहीं किया है।

सम्भवत महाविद्या अनुमान का प्रारम्भ प्रथमत कुलाक पंडित ने अपने दशाश्लाकी महा विद्या सूत्र मे किया जिसमे सोलह विभिन्न प्रकार मे महा विद्या अनुमान की सोलह विभिन्न प्रकार की परिभाषायें उल्लिखित हैं। यदि यह मान लिया जाए कि महाविद्या अनुमान के संस्थापक कुलाक पंडित एकादश शतक मे रहे तो यह कहा जा सकता है कि वादीन्द्र के त्रयोदश शतक के प्रथम चतुर्थांश मे इसका खंडन करने के पूर्व इस विषय पर कई लेखकों ने लिख डाला था। पूर्ववर्ती लेखकों द्वारा महाविद्या के समर्थन और खंडन में अपने महाविद्या विडम्बन मे दी गई युक्तियों का उल्लेख केवल वादीन्द्र ने ही नहीं किया बल्कि भुवन सुन्दर सूरि ने भी महाविद्या विडम्बन पर लिखी अपनी टीका मे महाविद्या पर अन्य आलोचना का उल्लेख किया है। सम्प्रति महाविद्या पर पुरुषोत्तम वन एवं पूर्णप्रज्ञ द्वारा लिखित दो विभिन्न भाष्यों का शोध हुआ है। वेंकट अपनी न्याय परिशुद्धि में महाविद्या मान मनोहर एवं प्रमाण मंजरी का उल्लेख करते हैं एवं श्री निवास न्याय परिशुद्धि पर अपनी टीका न्याय सार मे पक्षानुमान का विवेचन करने वाले ग्रन्थों के रूप में उनका वर्णन करते हैं।[2] इससे स्पष्ट है कि एकादश शतक से षोडश शतक के

---

[1] अथवा अयं घटः एतद् घटान्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणान्य पदार्थत्वात् पटवद् इत्यादिमहाविद्या प्रयोगैरपि वेद्यत्व सिद्धिरपि ऊहनीया चित्सुख आचार्य कृत तत्त्व प्रदीपिका पृष्ठ १३ एवं पृष्ठ ३०४ भी। भाष्यकार प्रत्ययरूप भगवान् कुलाक पंडित का नाम से उल्लेख करते हैं एवं सर्वा महाविद्यास्तच्छाया वान्ये प्रयोगा खंडनीया इति अमलानन्द कृत वेदान्त कल्पतरु पृष्ठ ३०४ (बनारस १८९५) सर्वास्वेव महाविद्यासु इत्यादि आनन्दज्ञान कृत तर्क संग्रह पृष्ठ २२। वेंकट कृत न्याय परिशुद्धि भी पृष्ठ १२५, १२६, २७३ २७६ आदि। सर्वार्थ सिद्धि सहित तत्व मुक्ता कलाप पृष्ठ ४७८, ४८५ ४८६ ४९१। श्री म र तैलंग ने महाविद्या के समस्त उपरोक्त प्रसंगों का महा विद्या विडम्बन गायकवाड की ओरियंटल सिरीज, बडौदा १९२० पर लिखित अपनी भूमिका म एकत्रित किया है।

[2] महा विद्या विडम्बन पर म र तैलंग द्वारा लिखित भूमिका देखिए।

मध्य चार अथवा पाँच शतकों तक विशिष्ट क्षेत्रों मे महाविद्या अनुमान का समर्थन अथवा खडन हुआ।

यह सुविज्ञात है कि कुमारिल भट्ट एव उनके अनुयायियो जैसे महान् मीमासको ने ध्वनियो की नित्यता के सिद्धान्त को मान्यता प्रदान की जबकि न्याय-वशेषिक के अनुयायी योगाचार्य ध्वनि को अनित्य मानते थे। महा विद्या अनुमान के विशिष्ट प्रकार थे जिनका आविष्कार सम्भवत कुलाक पडित ने मीमासा द्वारा प्रस्तुत ध्वनियो की नित्यता सबधी युक्तियो का खडन करने के लिए एव ध्वनियो की अनित्यता को सिद्ध करने के लिए किया था। यदि वक्रानुमान के ये प्रकार प्रामाणिक माने जाएँ तो अन्य सिद्धान्तो का सिद्ध अथवा असिद्ध करने के लिए उनका अन्य प्रकार का प्रयोग होगा। महाविद्या अनुमानो का विशिष्ट लक्षण केवलान्वयी विधि द्वारा प्रतिपाद्य विषय को सिद्ध करने का प्रयत्न करना है। साधारणतया व्याप्ति का अर्थ साध्य सहित हेतु के अस्तित्व म और साध्य के अभाव म उसके अवृत्तित्व मे है (साध्याभावान् अवृत्तित्वम्) परन्तु नैयायिको द्वारा स्वीकृत केवलान्वयी अनुमान उन दिशाओ पर लागू होता है जहाँ साध्य इतना सार्वलौकिक होता है कि ऐसा कोई दशा नही है जहाँ इसका अभाव है और जिसके फलस्वरूप इसका कोई ऐसा हेतु नही हो सकता जिसकी इसके साथ व्याप्ति उसका उन सब दिशाओ के अभाव द्वारा निर्धारित साध्य के अभाव के साथ हो सकती है और साध्य के भाव के साथ उसके अस्तित्व का निर्धारण हो सकता है। इस प्रकार इस वाक्य मे 'प्रमेयत्व होने के कारण यह अभिधेय है (इदम् अभिधेयम्), साध्य एव हेतु दोनो इतने सार्वभौम हैं कि ऐसी कोई दशा नही है जहाँ अभावात्मक उदाहरणो द्वारा उनकी व्याप्ति की परीक्षा की जा सकती है। महाविद्या अनुमान इसी प्रकार के केवलान्वयी अनुमान के प्रकार थे और इसके सोलह विभिन्न प्रभेदो को उनके साथ सम्बन्ध होने का लाभ था। उनके अनुमान केवलान्वयी प्रकार के होने के कारण और उनकी अवस्था मे कोई अभावात्मक उदाहरण उपलब्ध नही होने के कारण, साध्य एव हेतु की व्याप्ति की भूलें अथवा दोष बताकर उनकी आलोचना करना सुलभ नहीं था। ध्वनि के अनित्यत्व की अभिपुष्टि करने के लिए केवलान्वयी अनुमान की प्रायोगिकता की सभावना क हेतु कुलाक ने सोलह विभिन्न विधियो द्वारा वाक्यो को सूत्रबद्ध करने का प्रयत्न किया ताकि केवलान्वयी को आधार मानकर इस प्रकार का अभिपुष्टीकरण किसी विषय के बारे मे किया जा सके जिसके फलस्वरूप अन्य समाविष्ट विकल्पो का नियम विरुद्ध घोषित कर दिया जाए एव ध्वनि का अनित्यत्व आवश्यक रूप से एकमात्र परिणाम के रूप म अनुगामी हो। अनुमान की यह परोक्ष उपगम्यता है जिसे महाविद्या के आलोचको ने अनुमान के निकटवर्ती बताया है। इस प्रकार महाविद्या की परिभाषा अनुमान के उस प्रकार के रूप म की गई है जिसके द्वारा

अन्वय व्यतिरेक की संयुक्त विधि के द्वारा प्रमाणित किया जाने वाला अभीष्ट साध्य विशेष (अन्वय व्यतिरेक साध्य विशेष वादी अभिमत साधयति) और पक्षविशेष में एक विशिष्ट साध्य के अस्तित्व को आवश्यक पर्यवसान द्वारा केवलान्वयी ढग पर पक्ष हेतु के भाव द्वारा प्रवर्तमान साध्यविशेष के रूप में (केवलान्वयिनी व्यापके प्रवर्तमाना हेतु) सिद्ध किया जाता है (पक्षे व्यापक प्रतीत्य पर्यवसान बलात्) । दूसरे शब्दों मे एक हेतु जो किसी पक्षमें अचूक एवं अपृथक रूप से स्थित साध्य में है, इस बात को सिद्ध करता है कि उस पक्ष में एव उस ढग से इस साध्य का नित्य अस्तित्व केवल उपकल्पना के अधीन संभव है, अर्थात् एक अन्य पक्ष में अन्य साध्य का अभिमत होना, जैसे, साध्य अनित्यत्व शब्द का ध्वनि पक्ष के साथ अभिमत जो, अन्वय एव व्यतिरेक की प्रत्यक्ष विधि द्वारा सामान्य रूप से सिद्ध किया जा सकता है। महाविद्या अनुमान के अनुकरण द्वारा ही यह समझ में आ सकता है। इस प्रकार यह कहा जाता है कि भयत्व के कारण जैसे कि शब्द के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं के संपूर्ण नित्य एव अनित्य गुणों के सम्बन्धों से विच्छिन्न आत्मा अनित्यत्व से सबंधित है (आत्मा शब्देतरानित्य-नित्य न्यावृत्तित्वानोधिकरणानित्यवत्ति धर्मवान् मेयत्वाद् घटवत्)। जीव की उपाधि के द्वारा आत्मा का सम्बन्ध सम्पूर्ण उन गुणों से विच्छिन्न हो जाता है जो शब्द के अतिरिक्त सम्पूर्ण अन्य नित्य एव अनित्य विषयों के साथ समभोगी है और जिसके फलस्वरूप शब्द के सम्बन्ध में एक प्रकार का अनित्य गुण ही उसमें रह जाता है क्योंकि उपाधि में वह पहले से ही असम्मिलित था जिसके कल्पना क्षेत्र मे शब्द नहीं लिया गया था। चूंकि न्याय दर्शन के अनुसार कई सम्बन्ध भी गुण के रूप में निरूपित हैं अतः ऐसा आत्मा का शब्द से अनित्य सम्बन्ध भी मेयभाव समझा जा सकता है। अत निर्विवाद रूप से नित्य स्वीकार की गई आत्मा का यदि ऐसा अनित्यगुण अथवा शब्द से सम्बन्ध हो तो यह केवल एक अभ्युपगम के कारण हो सकता है, जैसे शब्द अनित्य है, परन्तु सारे अन्य अनित्य सम्बन्ध जो आत्मा के अन्य अनित्य विषयों के साथ हो सकते हैं और सारे नित्य सम्बन्ध जो उसके अन्य नित्य वस्तुओं से हो सकते हैं एवं सारे अन्य ऐसे सम्बन्ध जो शब्द के अतिरिक्त सारे नित्य एव अनित्य विषयों से हो सकते हैं वे सब अविचारणीय समझे जा चुके हैं। उन अपृथक एव अचूक अनित्य गुणों का सम्बन्ध शब्द से है जो आत्मा में किन्हीं निषेधात्मक उदाहरणों के अभाव में हो सकते हैं परन्तु यदि उसमें शब्द के सम्बन्ध का अनित्य गुण है तो वह केवल एक अभिमत के कारण ही हो सकता है जैसे शब्द स्वयं अनित्य है, क्योंकि निर्विवाद रूप से आत्मा नित्य है। अनुमान के इस परोक्ष चक्रक ढग को ही महाविद्या कहते हैं। महाविद्या के अभिमतों के सोलह प्रकारों के उदाहरण देकर उसका विस्तार करना व्यर्थ है क्योंकि ये सम्पूर्ण अभिमत एक ही सिद्धान्त पर साधारण परिवर्तनों के साथ व्यक्त किए गए हैं।

वादीन्द्र ने अपने महा विद्या विडम्बन ग्रन्थ मे अनुमान के इन प्रकारों को मिथ्या बतलाकर खडन किया है और यह ज्ञात नहीं है कि किसी अन्य ने वादीन्द्र

की आलोचनाओं का खंडन करके उन्हें पुन पुनरुज्जीवित करने का प्रयत्न किया हो। वादीन्द्र अपने महा विद्या विडम्बन के प्रथम पाठ के अन्त में अपने को पुष्पिका मे 'हर किंकर न्यायाचार्य परम पंडित भट्ट वादीन्द्र' कह कर सम्बोधित करते हैं, और अपने ग्रन्थ के अंतिम श्लोक म योगीश्वर का अपने गुरू के रूप में उल्लेख करते हैं। तथापि 'हर किंकर न्यायाचार्य' के उपरोक्त विशेषण उसका यथार्थ नाम नहीं बताते। महाविद्या विडम्बन की अपनी भूमिका मे श्री तलग का कथन है कि उनके शिष्य भट्ट राघव भासवज्ञ कृत न्याय सार पर न्याय-सार विचार नामक भाष्य म उनका उल्लेख महादेव नाम द्वारा करते हैं। अत वादीन्द्र का यथार्थ नाम महादेव था और शेष विशेषण उनकी उपाधियाँ थीं। भट्ट राघव का कथन है कि वादीन्द्र के पिता का नाम सारंग था। भट्ट राघव स्वयं अपना काल शक सम्वत् मे देते हैं। परन्तु उस वाक्य की दो विभिन्न रचनाएँ हो सकती हैं जो हमे दो विभिन्न काल देती है यथा १२५२ ई०प० और १३५२ ई०प०। परन्तु इस तथ्य को दृष्टि मे रखते हुए कि वादीन्द्र देवगिरि के शासक राजा श्रीसिंह (जिन्हें सिंघना भी कहा जाता है) १२१०–१२४७ ई०प० के धार्मिक सलाहकार थे और यह कि सम्भवत वह वैकट (१२६७–१३६९ ई०प०) के पूर्व रहे जो उसके महा विद्या विडम्बन का उल्लेख करता है। श्री तैलंग का कथन है कि भट्ट राघव का काल हमें १२५२ ई प मानना पड़ेगा और वादीन्द्र के शिष्य होने के कारण उनके काल म से लगभग २७ वर्ष घटाये जा सकते हैं और वादीन्द्र का काल १२२५ ई प निश्चित किया जा सकता है। श्री तलग का कथन है कि इस प्रकार का काल उसके राजा श्रीसिंह के धार्मिक सलाहकार होने के मत से मेल खाता है। वादीन्द्र उदयन (९८४ ई प) एवं शिवादित्य मिश्र (९७५–१०२५ ई प) का उल्लेख करता है। श्री तलग भी वादीन्द्र के दो अन्य ग्रन्थों यथा रस सार और कणाद सूत्र निबंध का उल्लेख करते हैं और वादीन्द्र कृत महा विद्या विडम्बन म सम्मिलित उदाहरणों द्वारा तर्क करते हैं कि उसने महा विद्या का खंडन करते हुए अन्य ग्रन्थ लिखे होंगे। वादीन्द्र कृत महा विद्या विडम्बन के तीन अध्याय हैं। प्रथम अध्याय म वह महा विद्या अनुमान की व्याख्या करता है द्वितीय एवं तृतीय अध्याय मे अनुमानों का खंडन किया गया है। वादीन्द्र कृत महा विद्या विडम्बन के दो भाष्य हैं, एक का नाम आनन्द पूर्ण (१६०० ई०प०) द्वारा लिखित महा विद्या विडम्बन-व्याख्यान' एवं दूसरे का नाम भुवन सुन्दर सूरि (१४०० ई०प०) द्वारा लिखित 'व्याख्यान दीपिका' है। इनके अतिरिक्त भुवन सुन्दर सूरि ने लघु महा विद्या विडम्बन नामक छोटा सा ग्रन्थ एवं एक अज्ञात लेखक द्वारा लिखित महाविद्या दशश्लोकी विवरण पर महा विद्या विवरण टिप्पण नामक भाष्य भी लिखे।

वादीन्द्र की आलोचना की मुख्य बातें संक्षेप मे निम्नलिखित हैं —

वह कहते हैं कि केवलान्वयी हेतु असंभव है। यह सिद्ध करना कठिन है कि किसी विशिष्ट गुण का अस्तित्व सर्वत्र होना चाहिए और कोई ऐसा उदाहरण

अथवा अवस्था नही होनी चाहिए जहाँ यह घटित नही होता है। तृतीय अध्याय म यह कहा है कि केवलान्वयिहेतु अशक्य ही नहीं है बल्कि इस प्रकार के केवलान्वयिहेतु के आधार पर दिए गए प्रमाणो मे भी स्व व्याघात के हेत्वाभास, एव अनैकान्तिकत्व इत्यादि के हेत्वाभास की सभावना अधिक होगी। वह यह भी स्पष्ट करते है कि किस प्रकार से ये सब हेत्वाभास कुलार्क पडित द्वारा आविष्कृत महाविद्या अनुमानो पर लागू होते हैं। हमारे वतमान हेतु के लिए वादीन्द्र के विस्तृत तार्किक विचार विमश मे पडना अनावश्यक है, क्योकि महा विद्या अनुमान पर वतमान विषयो तरण यहाँ पर यही प्रदर्शित करने के लिए आरम्भ किया गया है कि अत्यन्त सूक्ष्म तक वेत्ता श्री हष ने प्रथमत प्राक्कथन नही किया था बल्कि उनसे कुछ शतक पूव उनका निर्माण हो गया था। यद्यपि नि सन्देह दशन मे अत्यत सूक्ष्म विधियो का प्रयोग करने वाला मे श्री हष सर्वाधिक विख्यात थे।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाएगा कि दशन मे विधि के रूप म तार्किक युक्तिसगतता पर बल देने की प्रणाली नयायिको एव वदान्तियो ने समान रूप से तृतीय एव चतुथ शतको मे नागाजुन आय देव इत्यादि तथा पचम षष्ठ और सप्तम् शतको म परवर्ती अनुयायियो के समान बौद्धो द्वारा उत्तराधिकार मे प्राप्त की थी। परन्तु अष्टम नवम एव दशम शतको के समय इस ओर विख्यात न्याय लेखको के ग्रन्थ मे सुस्थिर विकास देखा जा सकता है यथा वात्स्यायन उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र, उदयन और वेदान्ती लेखक जैसे महान् आचाय शकराचाय, वाचस्पति मिश्र और आनन्द बोधयति के ग्र थो म परन्तु अमूत एव शुष्क क्लिष्टाचार वादिता का सम्प्रदाय ठीक ठीक कुलार्क पडित अथवा एकादश शतक के परवर्ती भाग म रहने वाले मान मनोहर एव प्रमाण मजरी से प्रारम्भ हुआ और तार्किक युक्तिसगतता का काय कई ग्रन्थ लेखको के ग्र थो स प्रारम्भ हुआ। जब तक कि हम पूव त्रयोदश शतक के गगेश का उल्लेख नही करते जिसने अवच्छेदकता के नूतन प्रत्ययो का उल्लेख करके अपने तीक्ष्ण मनस की सूक्ष्मताओ द्वारा उसे अनु प्राणित किया और जो व्याप्ति के बाद नया परिवतनस्थल माना जा सकता है। यह ग्रन्थ अत्यन्त विस्तार पूवक परवर्ती अनुयायी नव्य न्याय के महान् लेखक रघुनाथ शिरोमणि जगदीश भट्टाचाय गदाधर भट्टाचाय आदि द्वारा आगे जारी रखा गया। वेदान्त की दिशा मे यह तार्किक युक्तिसगतता श्री हष (११८७ ई०प०) चित्सुख (लगभग १२२० ई०प०) (जिसके वादीन्द्र समकालीन थे) आनन्दज्ञान अथवा आनन्दगिरि (लगभग १२६० ई०प०) और कई द्वितीय श्रेणी के लेखको अर्थात् सप्तम शतक के नृसिहाश्रम और मधुसूदन सरस्वती द्वारा आगे चालू रखा गया। अनुमान लगाया जा सकता है कि श्री हष की युक्ति सगत आलोचनायें सभवत नयायिको मे नई जागृति का मुख्य कारण थी जिन्होंने नए प्रदत्त के

समूहीकरण से अविचलित रह कर अपना सम्पूर्ण ध्यान दृढ़तापूर्वक अपनी परिभाषायें एवं तर्कों को युक्तिसंगत विशुद्धता एवं सूक्ष्मता प्रदान करने की दिशा में और नए अनुभव अथवा नई समस्याओं अथवा जिज्ञासा की नई दिशाओं की खोज में पूर्णत्व प्रदान करने की ओर दिया, जो यथार्थ दर्शन के विकास में अत्यंत आवश्यक है। परन्तु जब एक बार उन्होंने विशुद्ध तार्किक साधन-सामग्री को पूर्णत्व प्रदान करना प्रारम्भ किया और उन्हें सफलता पूर्वक वाद विवादों में प्रयोग करना प्रारम्भ किया तो वेदान्तियों के लिए भी अपने प्राचीन मतों की रक्षा के लिए दर्शन में नए सृजनों की पूर्णत उपेक्षा करते हुए इस नई तार्किक युक्तिसंगतता की विधि को अभिभूत करना आवश्यक हो गया। इस प्रकार, वेदान्त दर्शन में तार्किक युक्तिसंगतता के न्याय शास्त्र के विकास के इतिहास में ऐसा लगता है कि अष्टम्, नवम, दशम और एकादश शतकों में युक्तिसंगतता का तत्व निम्नतम अवस्था में था एवं वेदान्त के योद्धा, मीमांसकों और नैयायिकों के साथ मत वैभिन्य वेदान्ती दृष्टि से अनुभव के विश्लेषण पर एवं दर्शन के प्रति इसकी सामान्य उपगम्यता पर अधिकतर आधारित है। परन्तु द्वादश एवं त्रयोदश शतकों में विवाद अधिकतर न्याय एवं वैशेषिक के साथ था और सर्वोपरि तार्किक युक्तिसंगतता के निरूपण से अधिरोहित था। आलोचनाओं का तात्पर्य अधिकतर न्याय वैशेषिक की परिभाषाओं की आलोचनाओं से था। इन्हीं शतकों में इसके समानान्तर रामानुज एवं उसके अनुयायियों के लेखों में एक नई शक्ति धीरे धीरे विकसित हो रही थी और अनुवर्ती शतकों में महान् वैष्णव लेखक मध्व के अनुयायियों ने वेदान्तियों की (शांकर सम्प्रदाय के) अत्यंत बलपूर्वक आलोचना करना प्रारम्भ किया। अत यह लिखा गया है कि त्रयोदश अथवा चतुर्दश शतकों से वेदान्ती आक्रमण अधिकतर रामानुज और मध्व के विरुद्ध नियोजित था। इस विवाद का इतिहास वर्तमान ग्रंथ के तृतीय एवं चतुर्थ भाग में दिया जाएगा। परन्तु तार्किक युक्ति संगतता की विधि इस समय में इतनी अधिक महत्वपूर्ण हो गई थी कि वैष्णवों द्वारा दर्शन में कई नए मत मतान्तर लाने पर भी न्याय शास्त्र के वाद विवादों में तार्किक युक्तिसंगतता की विधि ने अपना उच्च स्थान कदापि नहीं खोया।

श्री हर्ष (ईसवी सन् ११५०) का वेदान्ती द्वन्द्ववाद

श्री हर्ष संभवत बारहवीं शताब्दी ईसवी के मध्य में हुए थे। जैसा कि लक्षणावली की पुष्पिका से स्पष्ट है[1] प्रसिद्ध नैयायिक उदयन दसवीं शताब्दी के अंत

[1] तर्काम्बराङ्क (९०६) प्रमितेष्वतीतेषु शकान्तत ।
वर्षेषूदयनश्चक्रे सुबोधां लक्षणावलीम् ॥
लक्षणावली, प० ७२, सुरेन्द्रलाल गोस्वामी का सम्करण, बनारस, १९००।

मे हुए थे। श्री हर्ष प्राय उदयन की परिभाषाओ का प्रत्याख्यान करते हैं और अतएव उनका समय उदयन के बाद ही रखना होगा। पुन मिथिला के प्रसिद्ध तर्कशास्त्री गगेश ने श्री हर्ष का उल्लेख किया है तथा उनके विचारो का प्रत्याख्यान किया है, चूकि गगेश का समय बारहवी शताब्दी ईसवी मे है अत श्रीहर्ष को इस तिथि के पूर्व रखना होगा। इस प्रकार श्री हर्ष का समय उदयन के पश्चात् तथा गगेश के पूर्व–अर्थात् दसवी तथा बारहवी शताब्दी के बीच म–निश्चित होता है। अपने ग्रन्थ के अन्त मे वे स्वय को कन्नौज के शासक (कान्यकुब्जेश्वर) द्वारा आदर प्राप्त करता हुआ बताते है। यह सभव है कि यह शासक कनौज का जयचन्द्र रहा हो जो ११९५ ईसवी मे सिंहासनच्युत हुआ था।[1] अपने काव्यग्रन्थ नैषधचरित के विविध अध्यायो के अन्त मे उन्होने स्वरचित् कई ग्रन्थो का उल्लेख किया है **अर्णववर्णन, गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति, नवसाहसाकचरित, विजयप्रशस्ति, शिवशक्तिसिद्धि, स्थैर्यविचारण, छन्दप्रशस्ति,** तथा **ईश्वराभिसन्धि एव पावनलीय काव्य**[2]। यह तथ्यविशेष कि उनका एक ग्रन्थ गौड शासको के वश की प्रशस्ति मे लिखा गया है इस सभावना की ओर निर्देश करता है कि वह उन पाच ब्राह्मणो म से रहे हो जिन्हें ग्यारहवी शताब्दी के प्रथम भाग म बगाल के आदिशूर द्वारा कनौज से आने के लिए निमन्त्रित किया गया था–जिस दशा मे श्री हर्ष का उस समय रखना होगा तथा ११९५ ईसवी म सिंहासनच्युत हुए जयचन्द्र के साथ उनका सबध स्थापित नही किया जा सकता। श्री हर्ष का सर्वाधिक महत्वपूर्ण दार्शनिक योगदान **खण्डनखण्डखाद्य** (शब्दश 'प्रत्याख्यान के मिष्ठान्न') है जिसमे उन्होने न्यायमत द्वारा अनुभव की कोटियो की यथार्थता को सिद्ध करने के उद्देश्य स प्रस्तुत की गई सभी परिभाषाओ के प्रत्याख्यान का प्रयास किया है और यह प्रदर्शित करने की चेष्टा की है कि जगत् तथा समस्त जागतिक अनुभव पूर्णतया इन्द्रियविषय है तथा उनके पीछे कोइ वास्तविकता नही है। एकमात्र यथार्थ वस्तु सविद् का स्वत प्रकाशमान ब्रह्म है।[3] उनका शास्त्रार्थ न्याय के विरुद्ध है जिसकी यह मान्यता है कि प्रत्येक ज्ञात वस्तु का सुपरिभाषित यथार्थ अस्तित्व होता है तथा श्रीहर्ष का मुख्य प्रयोजन यह सिद्ध करना है कि जो कुछ भी ज्ञात है, वह अपरिभाषेय तथा अयथार्थ है

[1] खण्डनफक्किका नाम से खण्डनखण्डखाद्य के ऊपर लिखी गइ अपनी टीका म आनन्दपूर्ण ने कान्यकुब्जेश्वर का काशीराज अर्थात् काशी अथवा बनारस के शासक के रूप म व्याख्यायित किया है।

[2] किन्तु इनम से कोई भी उपलब्ध नही है।

[3] अपनी पुस्तक के अन्त मे श्री हर्ष ने इसे जान बूझ कर यत्र तत्र जटिल बनाने की बात कही है ताकि कोई बिना गुरु की सहायता के इसको कठिनाइयो को सरलता से न समझ सके। उन्होने लिखा है

क्योंकि प्रत्येक ज्ञात वस्तु इन्द्रियविषयगत स्वभाव की होती है तथा उसका अस्तित्व केवल आपेक्षिक है जो स्वीकृति परम्पराओं एव प्रथाओं के व्यावहारिक प्रकारों पर आश्रित होता है। किन्तु यद्यपि उनका प्रमुख विवाद विषय न्याय के विरुद्ध है तथापि नागार्जुन के समान उनकी सभी आलोचनाएँ ध्वसात्मक होने के कारण, कुछ सशोधनों के साथ, उनका उपयोग समानरूपेण किसी भी अन्य दर्शन के विरुद्ध किया जा सकता है। जो किन्ही विधानात्मक परिभाषाओं की स्थापना के उद्देश्य से आलोचना करते हैं वे अन्य दर्शनों की कुछ परिभाषाओं अथवा मतों के विरुद्ध ही आपत्ति करेंगे, किन्तु श्रीहर्ष तथा उच्छेदवादी दोनों की ही रुचि सभी परिभाषाओं के ही प्रत्याख्यान में है एव इस कारण उनका न्याय अन्य दर्शनों के सभी मतों एव परिभाषाओं के विरोध में तर्कसिद्ध ठहरेगा।[1]

वे इस प्रतिज्ञा से प्रारम्भ करते हैं कि हमारी किसी भी चेतना के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसे और अधिक जाना जाय अथवा यह कि वे ज्ञान की और आगे की क्रिया के विषय हो सकते हैं। वेदान्त तथा विज्ञानवादी बौद्धों के बीच अन्तर इसमें निहित है कि विज्ञानवादी बौद्ध यह मानते हैं कि सभी कुछ अयथार्थ तथा अनिर्वचनीय है और यहाँतक कि व सज्ञानों को भी इसका अपवाद नहीं मानते,

---

अन्यग्रन्थिरिह क्वचित् क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया
प्राज्ञम्मन्यमना हठेन पठितीमास्मिन् खल खेलतु।
श्रद्धाराद्धगुरु श्लथीकृतदृढग्रन्थि समासादयात्
त्वेतत्तर्करसाम्मिमज्जन सुखेष्वासजन सज्जन ॥

खण्डनखण्डखाद्य, पृ० १३४१, चौखम्बा सस्कृत बुक डिपो, बनारस, १९१४।

इस प्रसिद्ध ग्रन्थ के ऊपर कई टीकाएँ लिखी गई हैं उदाहरणार्थ परमानन्द कृत खण्डनमण्डन, भवनाथ कृत खण्डममण्डम, रघुनाथशिरोमणि कृत दीधिति, वर्धमान कृत प्रकाश, विद्याभरण कृत विद्याभरणी, विद्यासागर कृत विद्यासागरी, पद्मनाभ पण्डित कृत खण्डन टीका, शकर मिश्र कृत आनन्दवर्धन, शुभकर कृत श्रीदर्पण, चरित्रसिंह कृत खण्डनमहातर्क प्रगल्भ मिश्र कृत खण्डनखण्डन, पद्मनाभ कृत शिष्य हितैषिणी गोकुलनाथ उपाध्याय कृत खण्डन कुठार। जैसा कि बगाल के एक परवर्ती वाचस्पति (ईसवी सन् १३५०) की कृति खण्डनोद्धार से प्रमाणित होता है नैयायिकों ने इसके प्रत्याख्यान का कम से कम एक प्रयास किया था।

[1] श्रीहर्ष ने स्वय ही अपनी तथा नागार्जुन की आलोचनाओं के बीच समानता स्वीकार की है, उन्होंने लिखा है 'तथा हि यदि दर्शनेषु शून्यवादा निर्वचनीयपक्षयोरा श्रयण तद तावदमूपा निर्बाधैव सार्वपथीनता इत्यादि। खण्डनखण्डखाद्य, पृ० २२९-२३०, चौखम्ब सस्कृत बुक डिपो बनारस, १९१४।

जबकि वेदान्त सज्ञानो का अपवाद मानता है और यह मानता है कि, ज्ञान अथवा चेतना को छोडकर, समस्त विश्व सत् अथवा असत् दोनो ही रूपो मे अनिर्वचनीय है (सदसद्भ्याम् विलक्षणम्) और अयथार्थ है।[१] यह अनिर्वचनीयता ससार की सभी वस्तुओं तथा सभी अनुभवो के स्वभाव मे ही है (मेयस्वभावानुगामिन्याम् अनिर्वचनीयता) एव वैदग्ध्य तथा विद्वत्ता का कोई भी परिमाण किसी ऐसी वस्तु की परिभाषा मे सफल नही हो सकता जिसका परिभाषेय स्वरूप अथवा अस्तित्व नही है। श्रीहर्ष यह प्रदर्शित करने का प्रयास करते हैं कि स्वय नैयायिक द्वारा स्वीकृत तार्किक वाद विवादो तथा परिभाषाओ के अनुसार भी न्याय लेखको द्वारा प्रस्तुत वस्तुओ की परिभाषाएं तथा कोटियां निरर्थक तथा त्रुटिपूर्ण ठहरती हैं, एव यदि कोई भी परिभाषा नही की जा सकती तो इससे अनिवार्यत यह व्युत्पन्न होता है कि परिभाषाएं की ही नही जा सकती अथवा, दूसरे शब्दो में यह कि इन्द्रिय गोचर जगत् की कोई परिभाषा सभव नही है तथा यह कि इन्द्रियगोचर जगत् तथा इससे सबद्ध हमारे समस्त तथाकथित अनुभव अनिर्वचनीय हैं। इस प्रकार वेदान्ती यह कह सकता है कि जगत् की अयथार्थता सिद्ध होती है। किसी के लिए तर्कों का आश्रय लेकर यथार्थ वस्तु को प्राप्त करने की चेष्टा करना निरर्थक है, क्योकि तर्कों को स्वय उन्हीं प्र थो के आधार पर मिथ्या सिद्ध किया जा सकता है जिन पर कि वे आधारित होते हैं। किन्तु, यदि कोई यह कहे कि श्रीहर्ष के तर्कों के प्रति यही आपत्ति उठाई जा सकती है तथा वे सत्य नही हैं तो इससे उन्ही के विचार का पोषण होता है। क्योंकि श्रीहर्ष अपने तर्कों की यथार्थता मे विश्वास नही करते तथा उनकी यथार्थता अथवा अयथार्थता में किसी पूर्वधारणा के बिना ही उनका व्यवहार करते हैं। यह कहा जा सकता है कि तर्कों की यथार्थता के स्वीकरण के बिना तर्क करना सभव नही है। किन्तु इस यथार्थता का प्रतिष्ठापन प्रमाणो का उपयोग किए बिना नही हो सकता, तथा प्रमाणो के उपयोग के लिए और तर्कों की आवश्यकता होगी और पुन इनके लिए प्रमाणो का प्रतिष्ठापन करना होगा—इस प्रकार इस प्रक्रिया का कोई अन्त नही हो सकता। किन्तु, यदि उनकी परिभाषाओ के निरास के उद्देश्य से, प्रतिपक्षियो के शास्त्रो से सगत तर्कों का ही मिथ्या मान लिया जाय तो इसका यह अर्थ होगा कि प्रतिपक्षी स्वय अपने शास्त्रो का तिरस्कार करते हैं, एव परिणामत उनकी स्थिति का प्रत्याख्यान करने वाले वेदान्ती तक प्रभावी होगे। यहाँ वेदान्त की रुचि केवल प्रतिपक्षियो की

---

[१] विज्ञानवादी बौद्धो से यहा श्रीहर्ष का अभिप्राय लंकावतार के विज्ञानवाद से है जिसमे से वे निम्न श्लोक उद्धृत करते हैं

बुद्ध्याविविच्यमानानां स्वभावो नावधार्यते।
अतो निरभिलप्यास्ते निस्स्वभावाश्च देशिता

लंकावतारसूत्र, पृ० २८७, ओतानी यूनिवर्सिटी प्रेस १९२३

परिभाषाग्रो तथा प्रतिज्ञाग्रो का ध्वस करना है, ग्रौर इस प्रकार जबतक कि प्रतिपक्षी वेदान्त के ग्राक्रमणो के विरुद्ध ग्रपनी प्रस्थापनाग्रो का ग्रौचित्य नही सिद्ध कर पाते, वदान्त के मत का प्रत्याख्यान नही हागा। इस प्रकार हमारे ग्रनुभव का विविध पक्षी जगत् ग्रनिवचनीय है तथा एक ब्रह्म ही पूरण तथा परम सत्य है।

परम एकत्व के सवध म प्रमाण की जो माग की जा सकती है उसके विषय मे श्रीहष का कहना है कि यह माग ही यह सिद्ध करती है कि परम एकत्व की भावना पहले से ही विद्यमान है क्योकि यदि इस भावना का ही ग्रस्तित्व नही होता ता कोई इसके प्रमाण की माँग करने के विषय मे सोच ही नही सकता था। ग्रब यह स्वीकार करने पर कि परम एकत्व की भावना ग्रस्तित्व मे है (प्रतीत) यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यह प्रतीति यथाथ नान (प्रमा) है ग्रथवा मिथ्या ज्ञान (ग्रप्रमा)। यदि यह यथाथ भावना है ता, इसका स्रोत चाहे जा हो, इस यथाथ भावना को प्रमाण मानना होगा। यदि इस प्रकार की भावना मिथ्या है, तो वेदान्ती से मिथ्या वस्तु को प्रदर्शित करने के लिए प्रमाणो की माग करना उचित नही हागा। यह तक किया जा सकता है कि यद्यपि नयायिक इसे मिथ्या मानते हैं किन्तु वेदान्ती द्वारा तो इसे सत्य माना जाता है ग्रौर इस कारण वेदान्ती से यह सिद्ध करने के लिए कहा जा सकता है कि जिस उपाय से ग्रथवा जिन प्रमाणो के माध्यम से उसे यह भावना मिली वह यथाथ है। किन्तु इसे वदान्ती तुरन्त ग्रस्वीकार कर देगा क्योकि यद्यपि परम एकत्व की भावना यथाथ हो सकती है तथापि जिस उपाय विशेष से इस भावना की उपलब्धि हुई वह मिथ्या हा सकता है। पवत पर ग्रग्नि हो सकती है, किन्तु फिर भी यदि इस ग्रग्नि के ग्रस्तित्व का ग्रनुमान धूप के रूप मे दिखाई पडने वाले कुहासे के ग्राधार पर किया गया है तो इस प्रकार का ग्रनुमान मिथ्या होगा यद्यपि स्वय ग्रग्नि की प्रतीति यथाथ होगी। प्रतिपक्षियो द्वारा इस प्रकार की मागो की उपयुक्तता की चर्चा का छाडते हुए वेदान्ती का यह कहना है कि उपनिषद् ग्र थो मे परम सत्ता के परम एकत्व क सत्य को प्रदर्शित किया गया है।

उपनिषद् ग्र थो म उपदिष्ट सभी वस्तुग्रा के परम एकत्व का विविधता' के हमारे प्रत्यक्ष ग्रनुभव द्वारा निरास नही हाता। क्याकि हमारा प्रत्यक्ष एक क्षणविशष के पथक् पथक वस्तुग्रा से सबद्ध होता है ग्रौर इस कारण यह भूत वतमान तथा भविष्य की सभी वस्तुग्रो पर लागू नही हो सकता ग्रौर उनक परस्पर पथक होने के तथ्य का प्रतिष्ठापन नही कर सकता। प्रत्यक्ष केवल तात्कालिक वतमान के ग्रनुभव से सबद्ध होता है ग्रौर इस कारण उपनिषदो द्वारा उपदिष्ट सभी वस्तुग्रा के एकत्व के सावभौमिक सिद्धान्तवाक्य का प्रत्याख्यान करन में समथ नही है। पुन, जसाकि श्रीहष कहते हैं, ग्रनुभव की वस्तुग्रा के ग्रपने प्रत्यक्ष मे हम प्रत्यक्ष विषयो तथा ग्रपने बीच स्थित विभेदो को जानते हैं। ज्ञान का ग्रात्म प्रकाशन भी जगत् की सभी विषयो से ग्रपना विभेद नही प्रदर्शित कर पाता। पुन, दृष्ट विषयो का सभी ग्रन्य वस्तुग्रो

से विभेद स्वरूप भेद के रूप में स्वय दृष्ट विषयो के स्वभाव म, अथवा विभेदित विषयो के स्वभावो के रूप में, नही प्रकाशित होता—यदि ऐसा होता तो रजत का मिथ्या तथा दोषपूर्ण प्रत्यक्ष उस विषय से (शुक्तिका) से, जिस पर कि मिथ्या रजत का आरोपण होता है अपने विभेद को तत्काल ही प्रकट कर देता। इस रूप मे श्रीहर्ष ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि वदिक ग्रथो मे प्रतिपादित अद्वैत के आशय का किसी अन्य अधिक पुष्ट प्रमाण द्वारा प्रत्याख्यान नही होता। शाब्दिक स्वरूप वाले इनम से अधिकांश तर्कों को यहा छोड देना उपयुक्त होगा। मुख्य बल इस विचार पर प्रतीत होता है कि दृष्ट वस्तुओ म स्थित तात्कालिक विभेद न्यूनतम मात्रा मे भी यह प्रस्तावित अथवा निर्दिष्ट नही करत कि वे तत्वत अथवा अपनी समग्रता मे वस्तुओ के हमारे प्रगतिशील तथा और विस्तीर्ण ज्ञान के परिणामस्वरूप, परस्पर अभिन्न सत्ता के रूप म नहीं ग्रहण किए जा सकते (जैसाकि उपनिषदो मे कहा गया है)। यदि प्रत्यक्ष कुछ सिद्ध नहीं कर सकता तो केवल अनुमान से उपनिषदो मे उपदिष्ट अद्वैत का समर्थन अथवा प्रत्याख्यान नही हो सकता। इन्द्रियगोचर अनुभव के हमारे विश्व मे हमारे मन सर्वथ विभेद की अवधारणा से प्रभावित होते हैं, किन्तु श्रीहर्ष का कहना है कि किसी विचार का अस्तित्व मात्र उसकी यथार्थता को नही सिद्ध करता। शब्द सर्वथा अस्तित्वहीन वस्तुओ से सबद्ध विचारो को उत्पन्न कर सकते हैं।

पुन 'विभेद' की अवधारणा की परिभाषा असभव सी है। यदि यह भिन्न होने वाली वस्तुओ के मूल स्वभाव म ही स्थित है तो विभेद भिन्न होने वाली वस्तुओ के स्वभाव से अभिन्न होगा। यदि विभेद भिन्न होने वाली वस्तुओ से पथक है तो 'विभेद' तथा भिन्न होने वाली वस्तुओ के बीच के सबध को प्रतिष्ठित करने का कोई उपाय ढूँढना होगा, और इसके लिए किसी अन्य सबध की आवश्यकता हो सकती है और उसके लिए किसी अन्य की, और इस प्रकार हमे एक असमाप्य शृखला प्राप्त होगी। उनका कहना है कि 'विभेद' को कई सभव दृष्टिकोणो से देखा जा सकता है। प्रथम, 'विभेद' को वस्तुओ के स्वभाव वाला माना जाता है। किन्तु, भिन्न होने वाली वस्तुओ के स्वभाव वाले विभेद को सभी को एक मे सन्निविष्ट करना चाहिए क्योंकि जिन वस्तुओ से विभेद है उनके उद्धरण के बिना कोई विभेद नही हो सकता। यदि 'पुस्तक' से हम मेज से इसका विभेद समझते हैं तो मेज का पुस्तक क स्वभाव मे प्रविष्ट होना होगा एव इसका अर्थ होगा मेज तथा पुस्तक की अभिन्नता। विभेद को वस्तु के रूप म कहने का कोई अर्थ नही है जबकि इस प्रकार के विभेदो का अन्य वस्तुओ के उद्धरण द्वारा केवल निर्धारण हो सकता है। कोई वस्तु उदाहरण के लिए पुस्तक, मेज से भिन्न के रूप म ही समझी जाती है—यहा विभेद के स्वभाव का विवेचन 'मेज से भिन्न होने के गुण' के रूप म किया जा सकता है, किन्तु 'भिन्न होने के गुण' का कोई अर्थ अथवा आधार नही होगा जबतक कि 'मेज' को भी इसके साथ न लिया जाय। यदि कोई यह कहे कि पुस्तक से भिन्न होने के गुण से अभिन्न है तो यह सदैव पुस्तक के

स्वभाव म 'मेज' को भी सन्निविष्ट करेगा क्योंकि 'मेज' से भिन्न होने' के जटिल गुण का एक घटक है जिसका अथ अनिवायत 'मेज से भिन्न होना' होता है। इस प्रकार इस विचार के अनुसार भी 'मेज' तथा पुस्तक से पथक की जा सकने वाली अन्य सभी वस्तुएँ सभी वस्तुओ के स्वभाव मे ही निहित होती हैं—यह एक ऐसा निष्कष है जो विभेद की अवधारणा का ही प्रत्याख्यान करता है। यह भी इंगित किया जा सकता है कि विभेद की अवधारणा वस्तुओ—जिस रूप मे उन्हे देखा अथवा समझा जाता है—की अवधारणा के सवथा बाहर है। स्वय 'विभेद' की अवधारणा पुस्तक तथा मेज—चाहे इन्हें साथ साथ अथवा पथक् पथक लिया जाय—की अवधारणा से भिन्न है। पुस्तक तथा मेज का सम्मिलित विचार पुस्तक मेज से भिन्न हैं' इस विचार से भिन्न है। पुस्तक का स्वभाव समझने के लिए यह आवश्यक नही है कि पहले मेज से इसका विभेद समझा जाय। अपरञ्च यदि विभेद के विचार को किसी अथ मे विशिष्ट वस्तुओ के बोध तक ले जाने वाला भी कहा जाय तो इस प्रकार की विशिष्ट वस्तुओ का बोध अपने साथ इस विचार को नही लेकर चलता कि इस प्रकार के विभेद के कारण ही विशिष्ट वस्तुए देखी जाती हैं। दो वस्तुओ की समानता अथवा सदृशता के माध्यम से—उदाहरण के लिए, जगली गाय (गवय) तथा पालतू गाय (गो) मे—काई व्यक्ति जगली गाय को पशु के रूप मे पहचान सकता है तथापि जब वह किसी पशु को जगली गाय समझता है तो वह सदैव इस पशु का गाय से सदृशता क कारण ही जगली गाय नहीं समझता। किसी पशु का गाय अथवा जगली गाय समझने का मानसिक निणय उसके उत्पादक कारण की प्रत्यक्ष सहभागिता के बिना ही तुरत उत्पन्न हाता है। इस प्रकार, विभिन्न विशिष्ट वस्तुओं के हमारे बोध के लिए विभेद के विचार को उत्तरदायी स्वीकार करने पर भी किसी विशिष्ट वस्तु का बोध विभेद की किसी अवधारणा का एक घटक के रूप म नही सन्निविष्ट करता। अतएव यह सोचना गलत है कि वस्तुए विभेद के स्वभाव की होती हैं।

एक अन्य विचार मे, जिसमे विभेद की व्याख्या मानसिक प्रत्याख्यान' अथवा 'अन्यता' (अन्योन्याभाव) के रूप म की जाती है, इस अन्यता (उदाहरणाथ, पुस्तक की मेज से) को एक की दूसरे से एकात्मकता के प्रत्याख्यान के रूप मे व्याख्यायित किया जाता है। जब हम यह कहते हैं कि पुस्तक मेज से भिन्न है, तो इसका अथ पुस्तक की मेज से एकात्मकता का प्रत्याख्यान होता है। श्रीहष यहाँ यह आपत्ति उठाते हैं कि यदि पुस्तक की मेज से एकात्मकता, नर शृग के समान, सवथा भ्रान्तिपूर्ण है, तो एकात्मकता का इस प्रकार का प्रत्याख्यान सवथा अथहीन होगा। पुन, यह नहीं प्रस्तावित किया जा सकता कि इस मानसिक प्रत्याख्यान, अथवा अन्यता के रूप मे प्रत्याख्यान का अथ किसी अन्य के प्रसग में (उदाहरणाथ, मेज पर रखी किसी पुस्तक का) एक जाति प्रत्यय का प्रत्याख्यान होता हैं, क्योंकि इन जाति प्रत्ययो म काई ऐसा विशेष धम नही होता जिनसे एक म दूसरे का प्रत्याख्यान अथवा दूसरे से

विभेद किया जा सके क्योंकि नैयायिक, जिनके विरुद्ध श्रीहर्ष के तर्क उद्दिष्ट हैं, यह नहीं स्वीकार करते कि जाति प्रत्ययों में कोई विभेदक गुण होते हैं। इस प्रकार के विभेदक गुणों के अभाव में उन्हें अभिन्न समझा जा सकता है किन्तु उस दशा में एक *जाति प्रत्यय (उदाहरणार्थ मेज) का अस्वीकरण उस वस्तु के ही (उदाहरणार्थ,* पुस्तक) जाति प्रत्यय का प्रत्याख्यान संनिविष्ट करेगा क्योंकि कोई विभेदक गुण न रखने के कारण पुस्तक तथा मेज के जाति प्रत्यय अभिन्न हैं, अपरञ्च, मानसिक प्रत्याख्यान द्वारा पुस्तक तथा मेज दोनों ही पुस्तक तथा मेज के जाति प्रत्ययों से विहीन होंगे और इस प्रकार एक को दूसरे से पुस्तक को मेज से भिन्न कर सकने का कोई उपाय नहीं *रह जाएगा। पुन, यदि विभेद को विरोधी गुणों (वैधर्म्य) का होना माना जाय तो* भी यह पूछा जा सकता है कि क्या विरोधी गुणों में पारस्परिक भिन्नता लाने के लिए और भी विरोधी गुण हैं तथा इनमें क्या और भी विरोधी गुण है, और इस प्रकार इस प्रक्रिया का कोई अन्त नहीं यदि इन्हें किसी एक बिन्दु पर समाप्त हुआ मान *लिया जाय तो, उन्हें पृथक करने वाले और विरोधी गुणों के न होने से उस अवस्था के अन्तिम गुण अभिन्न होंगे और इस प्रकार पीछे की ओर उन्मुख शृंखला में सभी* विरोधी गुण अर्थहीन ठहरेंगे और सभी वस्तुएं अभिन्न होंगी। यदि इसके विपरीत प्रथम अवस्था में ही यह स्वीकार कर लिया जाय कि विरोधी अथवा पृथक गुणों में परस्पर पृथक्ता लाने वाले भिन्न गुण नहीं होते तो गुण अभिन्न होंगे। पुन यह पूछा जा सकता है कि ये विभेदक गुण स्वयं उनको धारण करने वाली वस्तुओं से भिन्न होते हैं अथवा नहीं। *यदि वे भिन्न हैं तो पुन इस विभेद तक ले जाने वाले विरोधी* गुणों के विषय में और पुन इनके अन्य विरोधी गुणों के विषय में पूछा जा सकता है और यह प्रक्रिया बढ़ती जाएगी। इन अनन्त विरोधों की सत्यता तभी प्रतिष्ठित हो सकती है जबकि इनकी प्राप्ति अनन्त समय से कम में न मानी जाय जबकि विषय समय में सीमित होता है। यदि, पुन, ये सभी एक साथ आएं तो इन अनन्त विरोधों का ऐसा *अव्यवस्थित गोलमाल होगा कि उनके पृथक-पृथक आधारपदार्थों तथा एक* दूसरे के ऊपर उनकी अव्यवस्थापूर्ण आनुक्रमिक निमग्नता को निर्धारित करने का कोई उपाय नहीं रह जाएगा। तथा, चूंकि शृंखला के पूर्व पदों की प्रतिष्ठा विभेद की अपर पदों की प्रतिष्ठा द्वारा ही हो सकती है विभेद के पूर्व पदों के समर्थन में विभेद के अपर पदों के खोज की अग्रगामी गति विभेद के इन पूर्व पदों को अनावश्यक बना देती है।[1]

---

[1] प्रथम भेदास्वीकारप्रयोजनस्य भेदव्यवहारादेर्द्वितीयभेदादेव सिद्धे प्रथमभेदो व्यर्थ स्यादेव द्वितीय भेदादिप्रयोजनस्य तृतीयभेदादिनैव सिद्धे सोऽपि व्यर्थ स्यात्।

खण्डनखण्डखाद्य पर विद्यासागरी, पृ० २०६। चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो बनारस १९१४।

अतएव, यह नही कहा जा सकता कि विभेदा के हमारे प्रत्यक्ष में कोई एसी अन्त-भूत प्रामाणिकता है कि यह उपनिषदो मे उपदिष्ट एकात्मकता का प्रत्याख्यान कर सके। श्रीहर्ष यह नही अस्वीकार करते कि हम सभी वस्तुओ मे प्रतीत विभेदो को देखते हैं, किन्तु वह, उन्हें अविद्या से उत्पन्न मानने के कारण उनकी अन्तिम प्रामाणिकता को अस्वीकरण करते हैं।[1]

श्रीहर्ष के द्वन्द्ववाद की प्रमुख विधा इस धारणा पर आधारित है कि परिभाषित की जाने वाली वस्तुओ की यथार्थता परिभाषाओ के दोषविहीन स्वभाव पर निर्भर करती है, किन्तु एक चक्र म चक्र के मिथ्यात्व को सन्निविष्ट करने के कारण सभी परिभाषाए दोषपूर्ण होती हैं और इस कारण वस्तुओ के यथार्थ स्वभाव को प्रदर्शित अथवा परिभाषित करने का कोई उपाय नही है। हमारे अनुभव का जगत् ज्ञात तथा ज्ञान मे निहित होता है ज्ञाता के ज्ञान के स्वामी के रूप म परिभाषित करने पर ज्ञान का बोध ज्ञाता के उद्धरण से ही सभव है, पुन ज्ञान का बोध ज्ञान तथा ज्ञाता के उद्धरण से ही सभव है, और इस प्रकार आपेक्षिकता का एक चक्र है जिसके कारण इनमे से किसी वस्तु की स्वतन्त्र परिभाषा प्रदान करने का प्रयास व्यर्थ हो जाता है। मुख्यत यह आपेक्षिकता ही विशिष्ट रूपो मे सभी कोटियो की परिभाषा के सभी प्रयास व्यर्थ कर देती है।

विभिन्न कोटियों तथा प्रत्ययो के प्रति द्वन्द्ववाद का व्यवहार

श्रीहर्ष अपनी आलोचना के लिए सर्वप्रथम सम्यक सज्ञान की परिभाषाओ को लेते हैं। सम्यक सज्ञान की परिभाषा को वस्तुओ के यथार्थ स्वभाव का प्रत्यक्ष बोध मानते हुए, वे सर्वप्रथम यह आग्रह करते हैं कि इस प्रकार की परिभाषा दोषपूर्ण है क्योंकि यदि कोई आवरण के पीछे छिपी तथा अदृष्ट किन्ही वस्तुओं को सयोग से ठीक अनुमान कर लेता है अथवा दोषपूर्ण आधार-सामग्री के आधार पर अथवा दोषपूर्ण विधाओ के द्वारा सही अनुमान कर लेता है तो इसे सम्यक् सज्ञान नही कहा जा सकता।[2] यह आग्रह किया गया है कि प्रामाणिक होने के लिए सज्ञान का दोषविहीन

---

[1] न वय भेदस्य सर्वथैवासत्त्वम् अभ्युपगच्छाम किं नाम न पारमार्थिक सत्व, अविद्या-विद्यमानत्व तु तदीयमिष्यत एव। खण्डनखण्डखाद्य, पृ० २१४।

[2] उदाहरण के लिए, जब कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति की मुठ्ठी में छिपी कौड़िया का सही सही अनुमान कर लेता है अथवा जब कुहासे को धुआ समझ कर काई पर्वत पर अग्नि होने का गलत अनुमान करता है तथा सयोग से पर्वत पर अग्नि होती है—तब उसका निर्णय सही हो सकता है यद्यपि उसका अनुमान अशुद्ध हो सकता है।

उपकरणों द्वारा उत्पन्न होना आवश्यक है, किन्तु, यहां पर सयाभासक अनुमानों का दृष्टान्त है जो इन्द्रियों के दोषविहीन उपकरणों द्वारा उत्पन्न न होने पर भी कभी कभी ठीक हो सकते हैं। न ही बोध की अपने विषय के साथ संगति ही (यथार्थानुभव प्रमा) सम्यक् सज्ञान की सही परिभाषा मानी जा सकती है। इस प्रकार की संगति को या तो इस अर्थ में परिभाषित किया जा सकता है कि यह स्वयं विषय की यथार्थता का प्रतिनिधित्व करती है अथवा इस अर्थ में कि यह विषय की सदृशता का प्रतिनिधित्व करती है। किसी भी विषय का यथार्थ स्वभाव अनिर्वचनीय है और इस कारण विषय के साथ ज्ञान की संगति को प्रथम की अपर के साथ सदृशता के रूप में व्याख्यायित करना अधिक उपयुक्त होगा।

यदि इस सदृशता का यह अर्थ है कि ज्ञान में विषय द्वारा अधिगत स्वभाव विद्यमान हो (ज्ञानविषयीकृतेन रूपेण सादृश्यम्), तो यह स्पष्टतः असंभव है क्योंकि विषय के गुण ज्ञान में नहीं हो सकते—दो सफेद तथा कड़ी गायियों का ज्ञान हो सकता है किन्तु ज्ञान न तो दो है न सफेद और न कड़ा।[1] यह कहा जा सकता है कि संगति इसमें निहित होती है कि सफेदपन इत्यादि विषय में इसके द्वारा अधिगत गुणों के रूप में होते हैं जबकि ज्ञान में ये इसके द्वारा प्रकाशित गुणों के रूप में होते हैं।[2] किन्तु यह शुक्तिका में रजत के मिथ्या प्रत्यक्ष के दृष्टान्त में ठीक नहीं बैठेगा। 'मेरे सामने रजत' के प्रत्यक्ष में 'मेरे सामने' के ज्ञान को सम्यक् सज्ञान के रूप में स्वीकार करना होगा। यदि इसे सम्यक् सज्ञान स्वीकार किया जाता है तो सम्यक् सज्ञान को यथार्थ आनुरूप्य के रूप में व्याख्यायित करना अर्थहीन था, इसे केवल सज्ञान के रूप में ही परिभाषित किया जा सकता था क्योंकि सभी सज्ञान का कोई न कोई विषय होगा और जहांतक केवल इसका संबंध है सभी सज्ञान प्रामाणिक होंगे। किन्तु यदि विचार तथा विषय की संपूर्ण संगति का आग्रह किया जाय तब ऊपर के समान आंशिक संगति को सतोषपूर्ण नहीं माना जा सकता। किन्तु यदि संपूर्ण संगति को अपरिहार्य माना जाय तब आंशिक संगति की शुद्धता का ध्यान छोड़ देना होगा जबकि नैयायिक यह स्वीकार करते हैं कि जहांतक किसी विषय के उद्धरण का प्रश्न है सभी सज्ञान प्रामाणिक हैं जब हम विषय के स्वभाव की संगति तथा विषय के ज्ञान द्वारा विशेषित स्वभाव पर विचार कर रहे हैं उस समय केवल सज्ञान के स्वभाव के ऊपर विवाद हो सकता है कि यह शुद्ध है अथवा अशुद्ध। यदि विषय के साथ संपूर्ण संगति

---

[1] द्वौ घटौ शुक्लवित्यत्र रूपसंख्यादिसमवायित्वं। न ज्ञानस्य गुणत्वाद् अत प्रकाशमान रूपेण अर्थसादृश्यं ज्ञानस्य नास्ति अस्ति च तस्य ज्ञानस्ये तत्र घटयो प्रमात्वम्। खण्डन पर विद्यासागरी, पृ० ३९८।

[2] अर्थस्य हि यथा समवायाद् रूपं विशेषणीभवति तथा विषयभावाज्ज्ञानस्यापि तद्वि शेषणं भवत्येव। खण्डन, पृ० ३९९।

नही सुनिश्चित होती तब, बाधक परिस्थितिया के कारण, अशुद्ध अथवा आशिक असगति के साथ किसी विषय के सज्ञान को मिथ्या मानकर तिरस्कृत कर देना होगा। पुन, चूकि सगति सदैव वस्तु के स्वभाव, स्वरूप अथवा आविर्भाव का निर्देश करती है, उन विषयो—जिन्हे ये स्वभाव सबद्ध माने जाते है—के प्रसग म हमारे सभी अभिवचन मिथ्या होगे।

--सम्यक सज्ञान की उदयन की परिभाषा का सम्यक परिच्छित्ति' अथवा उचित अवबोध के रूप मे उल्लेख करते हुए, श्रीहर्ष कहते हैं कि सम्यक् शब्द अर्थहीन है, क्योकि यदि सम्यक का अर्थ सपूर्ण है तो परिभाषा का कोई प्रयोजन नही रहता क्योकि किसी वस्तु के सभी दृष्ट तथा अदृष्ट घटक अशो को देखना असभव है एव एक सर्वज्ञ के अतिरिक्त कोई भी किसी वस्तु को अपने सभी स्वभावो, तत्वो तथा गुणो के साथ नही देख सकता। यदि सम्यक बोध का अर्थ किसी विषय का अपने सभी विभेदक विशेषताओ के साथ बोध है तो यह भी अबोधगम्य है, क्योकि अशुद्ध सज्ञान—उदाहरणार्थ, शुक्तिका को रजत समझना—देखने वाला शुक्तिका मे रजत के विभेदक गुणो को देखता है। सारी बात निर्णय की इस कठिनाई मे निहित है कि दृश्यमान विभेदक लक्षण यथार्थ हैं अथवा नही और इसे निश्चित करने का कोई उपाय नही है। पुन यदि विभेदक लक्षणो का उन विशेषताओ के रूप मे वर्णन किया जाय जिनके प्रत्यक्ष के बिना निश्चित ज्ञान सभव ही नही है तथा जिनका प्रत्यक्ष सम्यक् सज्ञान को सुनिश्चित बनाता है, तब यह कहा जा सकता है कि किसी ऐसे सज्ञान, जिसकी शुद्धता के विषय मे कोई पूर्ण निश्चित हो सकता है, के किसी लक्षण की खोज असभव है। एक स्वप्न देखने वाला सभी प्रकार के स्वभावो तथा प्रकटनो मे भ्रान्तमति होता है तथा सभी को यथार्थ मानता है। यह आग्रह किया जा सकता है कि शुद्ध प्रत्यक्ष मे—जैसा कि रजत के शुद्ध प्रत्यक्ष मे—विषय को अपने विशेष विभेदक लक्षणो के साथ देखा जाता है जबकि शुक्तिका में रजत के अशुद्ध प्रत्यक्ष मे इस प्रकार के विभेदक लक्षण नही देखे जाते। किन्तु, इस दृष्टान्त म भी विभेदक लक्षणो के मूल स्वभाव को परिभाषित करना कठिन होगा, क्योकि यदि किसी प्रकार का विभेदक लक्षण पर्याप्त होता तो शुक्तिका मे रजत के मिथ्या प्रत्यक्ष के दृष्टान्त मे भी आँखो के सामने होने का विभेदक लक्षण शुक्तिका मे भी विद्यमान होता है। यदि सभी विशिष्ट विभेदक लक्षणो पर आग्रह किया जाय तो अनन्त विभेदक लक्षण होगे एव कोई ऐसी परिभाषा बना सकना असभव होगा जो सबको समाविष्ट कर सके। किसी पूर्ववर्ती अशुद्ध सज्ञान का प्रत्याख्यान करने वाले संज्ञान की निश्चितता के प्रति वही आपत्ति व्यवहृत हो सकती है जो कि स्वय अशुद्ध सज्ञान पर होती है क्योकि इसकी प्रामाणिकता को प्रतिष्ठित कर सकने मे समर्थ, विशिष्ट विभेदक लक्षणो के स्वभाव का सम्यक ज्ञान की किसी परिभाषा द्वारा नहीं प्रतिष्ठित किया जा सकता।

सम्यक् सज्ञान की 'जो अशुद्ध अथवा त्रुटिपूर्ण नहीं है' ऐसा बोध (अव्यभिचारी अनुभव इस रूप में की जाने वाली परिभाषा के विरुद्ध तर्क करते हुए श्रीहर्ष कहते हैं कि 'जो अशुद्ध नहीं है' अथवा 'जो त्रुटिपूर्ण नहीं है का यह अर्थ नहीं हो सकता कि सज्ञान का अस्तित्व उसी समय होगा जबकि विषय का अस्तित्व होगा, क्योंकि तब अनुमानात्मक सज्ञान जो प्राय अतीत कालिक अथवा भावी वस्तुओं का निर्णय करता है, मिथ्या होगा। न ही इसका अर्थ हो सकता है कि सज्ञान का देश काल मे अपने विषयों के साथ सहास्तित्व होता है, न ही इसका यह अर्थ हो सकता है कि सम्यक सज्ञान सभी रूपों मे अपने विषय के समान होता है क्योंकि सज्ञान स्वभाव मे अपने विषय से इतना भिन्न होता है कि किसी ऐसे दृष्टान्त का होना सभव नहीं है जिसमे यह सभी रूपों मे उसके सदृश होगा। तथा, यदि ज्ञान तथा इसके विषय की एकात्मकता के विचार को स्वीकार किया जाय तब यह उन दृष्टान्तों पर भी लागू होगा जहाँ एक विषय कोई गलती से अन्य के रूप मे देखा जाता है और इस कारण अव्यभिचारी शब्द सम्यक ज्ञान को अशुद्ध सज्ञान से विभेदित करने के लिए पर्याप्त नहीं है।

ऐसा बोध जो ज्ञात विषय से असगत नहीं है (अविसवादि)' के रूप में सम्यक सज्ञान की बौद्ध परिभाषा के विरुद्ध तर्क करते हुए, श्री हर्ष अशुद्ध ज्ञान का निर्धारण करने वाले विषय के साथ सज्ञान का असगतता के सभी समाविष्ट अर्थों मे इस परिभाषा के प्रत्याख्यान का प्रयास करते हैं। यदि परिभाषा का सम्यक सज्ञान को ऐसे सज्ञान मे प्रतिबद्ध करने वाला माना जाता है जिसका ज्ञान अपने विषय के साथ सहमति रखने वाले के रूप मे एक अन्य सज्ञान द्वारा होता है तब—बहुसख्यक क्षणों मे अनुक्रमिक रूपेण पुनरावृत्त तथा सभी अनुक्रमिक क्षणों मे जबतक कि इसका प्रत्याख्यान नहीं होता, अपने विषय के साथ सम्मत रूप मे प्राप्त—एक अशुद्ध सज्ञान को भी सम्यक मानना होगा क्योंकि इस दृष्टान्त मे पूर्ववर्ती सज्ञान अनुवर्ती क्षणों के सज्ञान द्वारा प्रमाणित होता है। पुन, यदि सम्यक सज्ञान को ऐसे सज्ञान के रूप मे परिभाषित किया जाय अपने विषय के साथ जिसकी असगति का प्रत्यक्षीकरण किसी अन्य सज्ञान द्वारा नहीं होता, तब भी इसमे कई कठिनाइयाँ शेष रहती है। क्योंकि अशुद्ध सज्ञान भी कुछ समय तक किसी अन्य सज्ञान द्वारा अखण्डित रह सकते हैं। अपरच, सामान्य दृष्टि द्वारा शुक्तिका का सफेद के रूप मे दर्शन के बाद मे किसी पाण्डुरोगग्रस्त दृष्टि के पीले के रूप मे दर्शन द्वारा खण्डन हो सकता है। यदि यह आग्रह किया जाता है कि खण्डन एक त्रुटिविहीन परवर्ती सज्ञान द्वारा होना चाहिए, तब यह कहा जा सकता है कि यदि त्रुटिविहीन सज्ञान को परिभाषित करने का कोई उपाय होता तब सम्यक सज्ञान की परिभाषा बड़ी सरल होती। इसके विपरीत, सम्यक सज्ञान की ठीक परिभाषा के बिना त्रुटिपूर्ण अथवा अशुद्ध सज्ञान की बात करने का कोई अर्थ नहीं है। यदि सम्यक सज्ञान को कारणात्मक सामर्थ्य से सपन्न सज्ञान के रूप मे परिभाषित किया जाय तो वस्तुत यह भी ठीक परिभाषा नहीं है, क्योंकि सर्प के अशुद्ध सज्ञान से भी

भय की उत्पत्ति तथा यहाँ तक कि मृत्यु भी हो सकती है। यदि यह आग्रह किया जाता है कि कारणात्मक सामथ्य का सपादन विषय द्वारा उसी रूप म होना चाहिए जिस रूप मे यह देखा जाता है तो इसे अभिनिश्चित करना अत्यन्त कठिन है, तथा कारणात्मक सामथ्य का भी मिथ्या सज्ञान हो सकता है, अतएव, कारणात्मक सामथ्य के आधार पर सम्यक सज्ञान के स्वभाव को अभिनिश्चित करना अत्यन्त कठिन होगा। श्रीहष पुन यह कहते हैं कि समानरूपेण विषय की प्राप्ति कराने वाले के रूप मे (अथ प्रापकत्व) सम्यक सज्ञान की धम कीर्ति की परिभाषा भी अबोधगम्य है क्योंकि यह निश्चित कर सकना कठिन है कि कौन सा विषय प्राप्य है तथा कौन सा नही, तथा यह विचार कि वस्तु उस रूप में प्राप्य है जिस रूप मे यह देखी जाती है, शुक्तिका म रजत के मिथ्या प्रत्यक्ष के दृष्टान्त में भी विद्यमान रह सकता है। यदि सम्यक सज्ञान को ऐसे सज्ञान के रूप मे परिभाषित किया जाता है जिसका कि खण्डन नही होता तब यह पूछा जा सकता है कि क्या खण्डन का अभाव केवल प्रत्यक्ष के समय होता है जिस दशा मे शुक्तिका मे रजत का मिथ्या प्रत्यक्ष भी सम्यक सज्ञान होगा क्योकि यह कम से कम भ्रम की उत्पत्ति के समय खण्डित नही होता। यदि यह आग्रह किया जाता है कि सम्यक सज्ञान ऐसा सज्ञान है जिसका कभी खडन नही होता तब हम किसी सज्ञान की शुद्धता के निश्चयात्मक कथन की स्थिति म नही रहते, क्योकि इसका निश्चित होना असभव है कि कोई विशेष सज्ञान कभी भी किसी भी समय खण्डित नही होगा।

यह प्रदर्शित करने के बाद कि सम्यक सज्ञान (प्रमा) का परिभाषित करना असभव है, श्रीहष यह प्रदर्शित करने का प्रयास करते हैं कि सज्ञान के उपकरणो (प्रमाण) की अवधारणा मे सन्निविष्ट के रूप मे उपकरण (करण) की अवधारणा अथवा उनके व्यापार का परिभाषित करना असभव है। श्रीहष यह प्रदर्शित करने का प्रयास करते हैं कि कर्ता के रूप म करणत्व को अपना स्वतत्र अस्तित्व रखने वाले के रूप मे पृथक रूप से नही उपकल्पित किया जा सकता क्योकि इसके पृथक अस्तित्व का निर्धारित करना कठिन है। श्रीहष ने इस विवचन को जिस रूप म प्रस्तुत किया है उसकी सूक्ष्मताओ म जाना एक लम्बी कथा होगी एव हमारे वतमान प्रयोजनो के लिए केवल यह जानना पर्याप्त है कि श्रीहष ने एक पृथक कर्ता के रूप में करणत्व' के प्रत्यय का—स्वय लोकप्रिय रूप तथा जिस रूप म यह सस्कृत व्याकरण में उपकल्पित हुआ है दोनो मे—प्रत्याख्यान किया है। उन्होने करण के प्रत्यय के प्रति सलग्न किए जा सकने वाले विभिन्न वकल्पिक अर्थों की भी चर्चा की है और यह दिखाया है कि इनम से किसी भी अथ का सतोषपूण ढग से औचित्य स्थापन नहीं किया जा सकता।[1]

---

[1] कई अन्य परिभाषाओ म श्रीहष ने उद्योतकर द्वारा दी गई 'करण' की परिभाषा का भी प्रत्याख्यान किया है—यद्वानेव करोति तत् करणम्। —खण्डन पृ० ५०६।

प्रत्यक्ष की परिभाषा का प्रत्याख्यान करने में वह प्रत्यक्ष को सम्यक् ज्ञान के उपादान के रूप में परिभाषा करने की निरर्थकता का प्रदर्शन करने वाली एक विस्तृत चर्चा प्रस्तुत करते हैं। न्याय में प्रत्यक्ष को एक ऐसे सज्ञान के रूप में परिभाषित किया गया है जो किसी इन्द्रियविशेष के अपने विषय के साथ संसर्ग के कारण उत्पन्न होता है, किन्तु यह जानना असम्भव है कि क्या कोई सज्ञान इन्द्रिय संसर्ग से उत्पन्न हुआ है क्योंकि इन्द्रिय संसर्ग से ज्ञान की उत्पत्ति का तथ्य किसी अन्य उपाय द्वारा नहीं देखा अथवा जाना जा सकता। चूंकि प्रत्यक्ष में इन्द्रियाँ एक ओर आत्मा के संसर्ग में और दूसरी ओर बाह्य विषयों के संसर्ग में रहती हैं श्रीहर्ष विविध तर्कों द्वारा यह आग्रह करते हैं कि जब तक कि प्रत्यक्ष दृष्टान्त में उस विषय विशेष, जिसके संसर्ग में इन्द्रिय है का उल्लेख नहीं किया जाता प्रत्यक्ष की कोई ऐसी परिभाषा प्रदान कर सकना कठिन होगा कि यह केवल बाह्य विषय के प्रकाशन को ही उपलक्षित करे, आत्मा को नहीं जो कि इन्द्रिय के उतने ही संसर्ग में है जितना कि विषय। पुन, प्रत्येक प्रत्यक्ष में विषय का सविशेष उल्लेख उसे विशिष्ट बना देगा और इससे परिभाषा, जिसका कि केवल सम्बन्ध प्रत्ययों के प्रति व्यवहार होता है, के प्रयोजन का ही निरास होगा। तात्कालिकता के रूप में प्रत्यक्ष की एक सम्भव परिभाषा के विरुद्ध तर्क करते हुए श्रीहर्ष यह उपकल्पित करते हैं कि यदि प्रत्यक्ष विषय के, इसके नित्य लक्षण के रूप में, किसी विशेष गुण का प्रकाशन करता है तब, ताकि इस गुण का अभिज्ञान हो सके वहाँ एक अन्य लक्षण की आवश्यकता होगी, और यह एक अन्य लक्षण को अप्रकल्पित करेगा, और इस प्रकार एक असमाप्य शृंखला चलेगी और यदि इस असमाप्य शृंखला को किसी अवस्था में यह मान लिया जाता है कि अब आगे किसी लक्षण की आवश्यकता नहीं है तब, जब तक कि प्रत्यक्ष की सम्भावना का भी निरास न कर दिया जाय, इसमें पूर्ववर्ती निर्धारक लक्षणों की उपेक्षा समाविष्ट होती है। यदि इस तात्कालिकता को इन्द्रियों के कारणत्व द्वारा उत्पादित सज्ञान के रूप में परिभाषित किया जाय तो, पुन, यह अबोधगम्य है, क्योंकि इन्द्रियों का करणत्व अबोध्य है। श्रीहर्ष प्रत्यक्ष के विभिन्न वैकल्पिक परिभाषाओं को लेते हैं एवं सभी का न्यूनाधिक समान रूप में —मुख्यतः परिभाषाओं के निर्माण में शाब्दिक त्रुटियों को प्रदर्शित करते हुए—खण्डन करने का प्रयास करते हैं।

श्रीहर्ष के खण्डनखण्डखाद्य के टीकाकार चित्सुख आचार्य प्रत्यक्ष की परिभाषा का अपेक्षाकृत अत्यधिक संक्षिप्त रूप में प्रत्याख्यान प्रस्तुत करते हैं। उनका कहना है कि अक्षपाद द्वारा विषय के साथ इन्द्रिय संसर्ग से उत्पन्न होने वाले अखण्डित सज्ञान के रूप में प्रत्यक्ष की परिभाषा अबोध्य है। हम यह कैसे जान सकते हैं कि सज्ञान का खण्डन नहीं होगा? इसे संस्थित परिस्थितियों की त्रुटिविहीनता के ज्ञान से नहीं जाना जा सकता क्योंकि त्रुटिविहीनता को तभी जाना जा सकता है जब कि कोई असंगति न हो और इस कारण त्रुटिविहीनता को पहले से अथवा स्वतन्त्र नहीं जाना जा सकता,

तथा सस्थित परिस्थितिया में बहुतेरे अदृश्य तत्व होगे । यह कहना भी असभव है कि कोई अनुभव सर्वदा के लिए अखण्डित रहेगा । न ही यह आग्रह किया जा सकता है कि सम्यक सज्ञान वह है जो द्रष्टा द्वारा कोई प्रयास (प्रवृत्ति-सामर्थ्य) उत्पन्न कर सके, क्योकि भ्रामक ज्ञान भी, इसके द्वारा भ्रमित, व द्रष्टा मे एक प्रयास की उत्पत्ति कर सकता है । परिणाम की उपलब्धिमात्र सज्ञान की शुद्धता की कसौटी नहीं है, क्योकि कोई व्यक्ति मणि की प्रभा को देख सकता है और इसे मणि सोच सकता है और वस्तुत मणि को पा सकता है तथापि इसमे सदेह नहीं किया जा सकता कि मणि की किरण का मणि के रूप मे उसका बोध त्रुटिपूर्ण था ।[1] तारका तथा ग्रहो के प्रत्यक्ष के दृष्टान्त मे इन वस्तुओ की किसी वास्तविक उपलब्धि की कोई सभावना नही होती, तथापि सज्ञाना की प्रामाणिकता के अस्वीकरण का कोई कारण नही है ।

लिगपरामश अथवा 'पक्ष' (उदाहरण के लिए पवत) 'लिग' (उदाहरण के लिए धूम), जो कि साध्य (उदाहरण के लिए अग्नि) के साथ सदैव सहास्तित्वमान होता है, के अस्तित्व की सिद्धि के रूप मे, अथवा लिंग के साध्य (उदाहरणार्थ अग्नि) के साथ नित्य सहास्तित्व के रूप मे श्रीहर्ष के अनुमान की परिभाषाओ के प्रत्याख्यान मे प्रयुक्त न्यूनाधिक शाब्दिक तर्कों तथा इसके अन्य थोडे सशोधित प्रकारो पर ध्यान न देते हुए, मै उनकी सहास्तित्व (व्याप्ति) के स्वभाव की आलोचना पर आता हू जोकि अनुमान की अवधारणा का मूल है । यह आग्रह किया जाता है कि व्याप्ति मे अपेक्षित नित्य सहास्तित्व के सार्वभौमिक सबध को तब तक प्रतिष्ठित नही किया जा सकता जबतक कि किसी जाति मे सन्निविष्ठ सभी व्यष्टियो के नित्य सहास्तित्व को न जाना जाय, जोकि असभव है । नैयायिको का कहना है कि मन सामान्य प्रत्या सत्ति सज्ञा वाले जाति प्रत्ययो अथवा सामान्या के साथ एक प्रकार के मानसिक ससग द्वारा, वस्तुत उसके सभी व्यष्टियो के अनुभव के बिना, किसी जाति के सभी व्यष्टियो का प्रतिज्ञान कर सकता है । वस्तुत इसी रूप मे बहुतेरे दृष्टान्तो मे धूम तथा अग्नि के नित्य सहास्तित्व को देख कर, हम दूरवर्ती पवत पर धूम-देख कर, 'धूम' के जाति-प्रत्यय के साथ एक प्रकार के मानसिक ससग के अनुभव द्वारा अग्नि के साथ धूम के नित्य सहास्तित्व को समझते हैं । इस प्रकार की व्याख्या का प्रत्याख्यान करते हुए श्रीहर्ष तक करते हैं कि यदि सभी विशिष्ट धूमा को इस प्रकार जाति प्रत्ययों के साथ मानसिक ससग द्वारा जाना जा सके तब 'ज्ञेय' जाति प्रत्यय के साथ मानसिक ससग द्वारा हम सभी विशिष्ट ज्ञेया को जान सकेंगे और सवज्ञ हो जाएगे । कोई वस्तु अपने विशिष्ट गुणो के साथ एक व्यष्टि के रूप म ही ज्ञेय होती है, और इस कारण

[1] दृश्यते हि मणिप्रभायां मणिबुद्ध्या प्रवर्तमानस्य मणिप्राप्ते प्रवृत्तिसामर्थ्य न चाव्यभिचारित्वम् । तत्व प्रदीपिका, पृ० २१८ । निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९१५ ।

किसी वस्तु को एक नेय के रूप मे जानना इस प्रकार के सभी विशिष्ट गुणो का ज्ञान सन्निविष्ट करेगा, क्योकि 'ज्ञेय' जाति प्रत्यय उन सभी व्यष्टियो को सन्निविष्ट करेगा जिनका एक विशिष्ट ज्ञेय स्वभाव है। यह आग्रह किया जा सकता है कि ज्ञेयत्व एक ऐकान्तिक स्वभाव है तथा यह कि वस्तुए अन्यथा पूर्ण भिन्न हो सकती है तथापि जहा तक ज्ञेयता का सबध है, वे एक हो सकती हैं और इस प्रकार वस्तुएँ, स्वभाव की भिन्नता मे, सपूर्णत अज्ञात रह सकती हैं और फिर भी जहां तक वे केवल ज्ञेय हैं, ज्ञात हो सकती हैं। इसके प्रति श्रीहर्ष का उत्तर यह है कि ज्ञेय' जाति प्रत्यय सभी ज्ञाता को सन्निविष्ट करेगा और इस प्रकार ज्ञेय' शब्द के अर्थ मे स्वभावो की भिन्नता भी सन्निविष्ट होगी।

पुन, केवल तर्क के लिए यह स्वीकार करने पर भी कि व्यष्टियो के माध्यम से जाति प्रत्यय के साथ मानसिक ससर्ग रखना सभव है नित्य सहास्तित्व को कैसे देखा जा सकता है ? यदि हमारी इन्द्रिया बिना किसी अन्य सहायता के सहास्तित्व के इस प्रकार के सबधो को देख सकती है तो इस प्रकार के सहास्तित्व के दर्शन मे त्रुटियो की कोई सभावना नही होगी। किन्तु इस प्रकार की त्रुटियां होती है और परवर्ती अनुभव द्वारा उनकी शुद्धि होती है एव इन्द्रिय निर्णय म त्रुटि की व्याख्या का कोई उपाय नही रह जाता। पुन यदि इस सहास्तित्व को अविनाभाव के रूप मे परिभाषित किया जाय जिसका अर्थ यह है कि एक का अभाव होन पर दूसरे का भी अभाव है तो इस प्रकार की परिभाषा त्रुटिपूर्ण है, क्योकि वह उन दृष्टान्तो पर भी लागू हो सकता है जहा कोई वास्तविक नित्य सहास्तित्व नही है। इस प्रकार भूमि तथा काटे जाने की सभावना मे कोई नित्य सहास्तित्व नहीं है तथापि आकाश मे भूमि का तथा 'काटे जाने की सभावना का भी अभाव है। यदि यह आग्रह किया जाता है कि सहास्तित्व का निर्धारण किसी एक वस्तु के अभाव का किसी अन्य वस्तु के अभाव के साथ सगति के एकाकी दृष्टान्त द्वारा नही किया जा सकता, तो यह सिद्ध करना होगा कि सार्वत्रिक रूप म किसी एक--उदाहरणार्थ अग्नि--के अभाव के सभी दृष्टान्तो मे दूसरे--उदाहरणार्थ धूम--का भी अभाव है किन्तु इस प्रकार के सार्वत्रिक अभाव का निर्णय उतना ही कठिन है जितना कि सार्वत्रिक सहास्तित्व का। पुन यदि इस सहास्तित्व को लिंग अथवा हेतु या साधन के अस्तित्व की असभाविता के रूप मे परिभाषित किया जाय, जहाकि साध्य का भी अभाव है तब भी यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार की असभाविता का इन्द्रिय ज्ञान द्वारा अथवा किसी अन्य उपाय द्वारा निर्धारण सभव नही है।

अब सभावनाओ के निर्णय मे तर्क अथवा निरसनकारी विचार को नित्य सहास्तित्व का प्रतिष्ठापक नही माना जा सकता, क्योकि सभी तर्क नित्य सहास्तित्व पर आधारित होते हैं और इस प्रकार की मान्यता असमाप्य अन्योन्याश्रयिता को लाएगी।

प्रसिद्ध तर्कशास्त्री उदयन ने इस पर आपत्ति किया है और कहा है कि यदि धूम तथा अग्नि के नित्य सहास्तित्व का अस्वीकरण किया जाता है तो इस प्रकार के अस्वीकरण (बाधकस्तर्क) के विरुद्ध सबल तर्क हैं, अर्थात् यह कि यदि धूम को अग्नि के साथ सहास्तित्वमान नहीं माना जाता तब या तो धूम का अस्तित्व बिना किसी कारण के होगा अथवा इसका अस्तित्व ही नहीं होगा जो असम्भव है। किन्तु श्रीहर्ष का कहना है कि यहाँ एक वैकल्पिक प्रयत्ति के लिए स्थान है जिस पर उदयन का ध्यान नहीं गया है, अर्थात् यह कि धूम के अस्तित्व का कारण अग्नि के अतिरिक्त कुछ और है। यह हो सकता है कि ऐसे धूम हों जो अग्नि के कारण नहीं हैं। कोई इस विषय में कैसे निश्चित हो सकता है कि सभी धूमों की उत्पत्ति अग्नि से होती है? अग्नि की इन दो जातियों में, जिन पर हमारा ध्यान नहीं गया है, भिन्नताएं हो सकती हैं, और इस प्रकार इस उपकल्पना के लिए सदैव स्थान रहता है किसी विशेष धूम का अस्तित्व अग्नि के बिना हो सकता है और इस प्रकार की शंकाएं अनुमान को असम्भव बना देंगी। उदयन ने यह मान लिया था कि यदि हम किसी भावी दृष्टान्त के संबंध में शंका रखते हैं—कि यह सम्भव है कि किसी दृष्टान्त विशेष में सहास्तित्व को गलत पाया जाय—तब इस प्रकार की शंका अनुमान द्वारा समर्थित होगी, और इस बात का स्वीकरण अनुमान का स्वीकरण सन्निविष्ट करेगा। यदि इस प्रकार की प्रतिशयाक्तिपूर्ण शंका को अनुचित माना जाय तो अनुमान के मार्ग में कोई बाधा नहीं रहती। शंकाओं को तभी तक स्वीकार किया जा सकता है जबकि शंकाएं व्यावहारिक जीवन से असंगत हों। प्रतिदिन हम पाते हैं कि भोजन से क्षुधा की शान्ति होती है और इस पर भी यदि हम यह शंका करें कि किसी दिन विशेष पर क्षुधित होने पर हमें भोजन ग्रहण करना चाहिए अथवा नहीं तो जीवन असम्भव हो जाएगा।[1] किन्तु इस मत का उत्तर श्रीहर्ष उदयन की अपनी कारिका के शब्दों में व्यावर्तन करते हुए देते हैं, जिसमें कि उन्होंने कहा है कि जब तक शंका है अनुमान अप्रामाणिक है, यदि शंका नहीं है तो यह तभी हो सकता है जबकि अनुमान की अप्रामाणिकता को प्रकाशित कर दिया गया हो, और जब इस प्रकार की अप्रामाणिकता पाई जाएगी शंकाओं का अस्तित्व होगा। और इस कारण संभावनाओं का तर्क कभी भी शंकाओं को नहीं

---

[1] शंका चेद् अनुमास्त्येव
न चेच्छंका ततस्तराम्।
व्याघातावधिराशंका
तर्क शंकावधिमतः॥

कुसुमांजलि ३ ७। चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो बनारस, १९१२।

हटा सकता ।[1]

श्रीहर्ष 'नित्य सहास्तित्व' या स्वाभाविक संबंध (स्वाभाविक सम्बन्ध) के रूप में परिभाषा के प्रति भी आपत्ति करते हैं। वे 'स्वाभाविक संबंध' शब्द का प्रत्याख्यान करते हैं और कहते हैं कि नित्य सहास्तित्व अपने विविध संभव अर्थों में से ये संभव अर्थ हैं (१) सम्बन्धी के स्वभाव पर निर्भरता (सम्बन्धिस्वभावश्रित), (२) सम्बन्धी के स्वभाव द्वारा उत्पन्न (सम्बन्धिस्वभावजन्य), (३) सम्बन्ध का निर्माण करने वाले स्वभाव से अभिन्नता—किसी में भी तर्कसंगत नहीं ठहरेगा क्योंकि ये अत्यन्त व्यापक होंगे जो नित्य सहास्तित्वमान नहीं हैं उन पर भी लागू होंगे उदाहरणार्थ, जो कुछ भी भूमि निर्मित है, उसे लोहे की सुई से खुरचा जा सकता है। आगे वे नित्य सहास्तित्व की सापाधिक स्थितियों (उपाधि) पर अनाश्रित सम्बन्ध के रूप में परिभाषा का प्रत्याख्यान करते हैं। श्रीहर्ष के तर्क के विवरणों में गए बिना, यह कहा जा सकता है कि यह अत्यन्त विस्तृत रूप से इस विश्वास पर आधारित है कि सबधों की सोपाधिकता का नित्य सहास्तित्व के स्वभाव के ज्ञान बिना निर्धारण नहीं हो सकता तथा यह भी कि नित्य सहास्तित्व का निर्धारण नित्य सहास्तित्व की सापाधिकता के पूर्वगामी निर्धारण के बिना संभव नहीं है।

श्रीहर्ष द्वारा सादृश्यता, विपक्ष तथा प्रमाण का प्रत्याख्यान तथा साथ ही अनुमान के विभिन्न तर्कदोषों की परिभाषाओं का प्रत्याख्यान दार्शनिक दृष्टिकोण से अधिक महत्व के नहीं हैं और यहां उनके विस्तृत विवेचन की आवश्यकता नहीं है।

श्रीहर्ष द्वारा भाव की कोटियों के प्रत्याख्यान पर ध्यान देने पर हम पाते हैं कि वह 'सत्' अथवा 'भावत्व' के प्रत्याख्यान से प्रारंभ करते हैं। उनका कहना है कि भाव को स्वयं अस्तित्वमान के रूप में नहीं परिभाषित किया जा सकता क्योंकि अभाव भी स्वयं अस्तित्वमान है, हम भाव को उतने ही 'अधिकारपूर्वक' अस्तित्वमान कह सकते हैं जितना कि अभाव को अस्तित्वमान कह सकते हैं 'अभाव तथा भाव दोनों अस्तित्वमान हैं' इस क्रिया के व्याकरणीय कर्तृ कारक—बोधकों के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं। पुनः प्रत्येक अस्तित्वमान वस्तु के स्वयं विलक्षण होने के कारण, 'अस्तित्व अथवा 'भाव' के समान कोई ऐसा समान गुण नहीं है जो सब में विद्यमान' हो। पुनः 'भाव' उतना ही 'भाव' का निरसन है जितना कि 'अभाव' 'भाव' का, इस कारण 'भाव' को किसी ऐसी वस्तु के रूप में परिभाषित नहीं किया जा सकता जोकि किसी वस्तु का निरसन नहीं है। निरसन वाणी का एक प्रकार है तथा भाव एवं अभाव दोनों को निरसनकारी रूप में अभिव्यक्त किया जा सकता है।

---

१ व्याघातो यदि शङ्कास्ति
न चेच्छङ्का ततस्तराम् ।
व्याघातावधिराशङ्का
तर्कः शङ्कावधिः कुतः ॥ खण्डनखण्डखाद्य, पृ० ६९३ ।

अभाव की कोटि पर विचार करते हुए श्रीहर्ष कहते हैं कि यह किसी वस्तु के निरसन के रूप में परिभाषित नहीं किया जा सकता क्योंकि जिस प्रकार अभाव को भाव का निरसन कहा जा सकता है उसी प्रकार भाव को भी अभाव का निरसन कहा जा सकता है (भावाभावयोर्द्वयोरपि परस्पर प्रतिक्षेपात्मकत्वात्)। न ही अभाव को भाव का विरोध करने वाले के रूप में परिभाषित किया जा सकता है क्योंकि सभी अभाव सभी भाव के विरोधी नहीं होते (उदाहरणार्थ भूमि पर जलपात्र नहीं है में जलपात्र भूमि का विरोधी नहीं है जिसके कि सदर्भ मे जलपात्र का निरास किया जाता है) यदि अभाव कुछ अस्तित्वमान वस्तुओं का विरोध करता है तो वह निरसन का भेद नहीं करता क्योंकि ऐसी कई अस्तित्वमान वस्तुए हैं जो परस्पर विरोधी हैं (उदाहरणार्थ अश्व तथा वृषभ)।

न्याय की गुणों के आश्रय के रूप में द्रव्य की परिभाषा का प्रत्याख्यान करते हुए श्रीहर्ष कहते हैं कि गुण भी सांख्यिक तथा अन्य गुणों से युक्त प्रतीत होते हैं (उदाहरणार्थ, *हम दो या तीन रंगों की, किसी रंग के गहरा अथवा हल्का होने की मिश्रित* अथवा मौलिक होने की बात करते हैं–एक रंग को गुण माना जाता है)। यदि यह आग्रह किया जाता है कि यह गलती है तब तथाकथित द्रव्यों के गुणों से युक्त के रूप में प्रकटन को भी समानरूपेण त्रुटिपूर्ण मानना होगा। पुन द्रव्य की गुणों के आश्रय के रूप मे परिभाषा का क्या अर्थ है ? चूंकि गुण गुणत्व के जाति प्रत्यय में अवस्थित रह सकते है गुण को जाति प्रत्यय की परिभाषा के अनुसार, द्रव्य मानना चाहिए। यह आग्रह किया जा सकता है कि द्रव्य वह है जिसमें गुण अन्तर्भूत रहते हैं। किन्तु यहां में प्रत्यय का क्या अर्थ होगा ? हम सफेद शुक्तिका में पाण्डुरोगी द्वारा देखे गए पीलेपन के मिथ्या दर्शन को सफेदपन के शुद्ध दर्शन से कैसे विभेदित करेंगे ? जब तक शुक्तिका मे पीलेपन के दर्शन के मिथ्यात्व का अभिज्ञान नहीं होता, दोनों दृष्टान्तों मे *कोई भेद नहीं हो सकता। पुन द्रव्य का अन्तर्भूत अथवा उपादान कारण* (समवायिकारण) के रूप मे नहीं परिभाषित किया जा सकता क्योंकि यह जानना सभव नहीं है कि कौन सा अन्तर्भूत कारण है एव कौन सा नहीं, क्योंकि संख्या को एक गुण गिना जाता है तथा रंग को भी एक गुण गिना जाता है और फिर भी हम रंगों को एक दो अथवा बहु रंगों से निरूपित करते हैं।

अपरन्च न्याय द्वारा गुण की ऐसी वस्तु के रूप में परिभाषा जिसकी एक जाति है तथा जो गुणों से विहीन है अबाध्य है क्योंकि यह परिभाषा गुण की अवधारणा को सन्निविष्ट करती है जिसकी परिभाषा अपेक्षित है। अपरन्च, जैसा कि ऊपर कहा गया है गुणों में भी–जैसे कि रंगों में–सांख्यिक गुण होते हैं, क्योंकि हम एक, दो अथवा कई रंगों की बात करते हैं। सांख्यिक गुणों से युक्त गुणों के इस प्रकटन को धारण करते हुए ही गुण की परिभाषा को प्रतिष्ठित किया जा सकता है तथा गुण की परिभाषा के

आधार पर ही इस प्रकार के प्रकटना को अशुद्ध मान कर निरास किया जा सकता है। यदि रगा को अन्य हेतुओं के विचार से गुणा के रूप में जाना जाना है तो सांख्यिक गुणा से युक्त, ये केवल इसी कारण गुण नही कहे जा सकते, क्योंकि, परिभाषा के अनुसार, गुण केवल द्रव्यो मे होते है। यहाँ तक कि सख्याएँ भी पृथक्ता के गुण से युक्त होती हैं। इस प्रकार कोई एक भी दृष्टान्त नही है जिसे नैयायिक गुण का उदाहरण बना सके।

सम्बन्धो की चर्चा करते हुए श्रीहर्ष कहते हैं कि यदि सम्बन्ध को किसी वस्तु मे अवस्थित किसी वस्तु क रूप मे उपकल्पित किया जाय तो इसका अर्थ अबोध्य है। सम्बन्ध का मे' अथवा इसम अर्थ सर्वथा स्पष्ट नही है, क्योंकि आधार' के रूप मे किसी वस्तु की अवधारणा मे अथवा इसमे के प्रत्यय की अवधारणा के ऊपर आश्रित होती है, तथा वह अवधारणा भी एक आधार की अवधारणा पर आश्रित होती है एव ऐसी कोई अवधारणा नही है जो इनम से किसी भी अवधारणा को स्वतन्त्ररूपेण व्याख्यापित कर सके। आधार का अन्तभूत कारण नही माना जा सकता, क्योंकि उस दशा मे इस पात्र म एक अगूर है अथवा नश मे शृगो का अभाव' जसे उदाहरण अव्याख्येय होगे। तत्पश्चात् वे कई समावित अर्थों को लेते हैं जिन्ह आधार की अवधारणा के लिए दिया जा सकता है किन्तु दार्शनिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण न होने के कारण उन्हें यहाँ छोड दिया जाता है। वह ज्ञान के विषय तथा विषयी के सबध (विषयविषयिभाव) की परिभाषा की असमान्यता की भी चर्चा करते हैं।

कारण की परिभाषा का प्रत्याख्यान करते हुए श्रीहर्ष कहते हैं कि कारण को तात्कालिक पूर्वगामिता के रूप में नही परिभाषित किया जा सकता क्योंकि तात्कालिक पूर्वगामिता को केवल कारणात्मक व्यापार के प्रति आरोपित किया जा सकता है जो कि कारण तथा परिणाम के बीच सदैव अन्तराक्षेपक घटक होता है। यदि इस सिद्धान्त के आधार पर कि जो (उदाहरणार्थ कारणात्मक व्यापार) किसी वस्तु (उदाहरणार्थ, कारण) मे है उसे इसके (कारण) तथा इसके अनुवर्ती (परिणाम) का अन्तस्थ घटक नहीं माना जा सकता *कारणात्मक व्यापार को पृथक तथा स्वतन्त्र* घटक नही माना जाय तो कारण के कारण को भी कारण से अभिन्न और अतएव कारण मानना होगा। किन्तु यदि यह आग्रह किया जाता है कि चूकि कारण का कारण व्यापार नही है अत इसे कारण से अभिन्न नही माना जा सकता तब कोई प्रतिपक्षी से व्यापार के अर्थ की परिभाषा करने को कह सकता है। यदि प्रतिपक्षी इसे ऐसे घटक के रूप मे परिभाषित करता है जिसके बिना कारण परिणाम का उत्पन्न नही कर सकता तब प्राकृतिक नियम देश काल तथा इस प्रकार की सहयोगी परिस्थितियो एव सवसामान्य तथा नित्य अवस्थाओ को भी व्यापार मानना होगा जो असंभव है। अपरच व्यापार को कारण द्वारा स्वय उत्पन्न के रूप मे नहीं विनिर्दिष्ट किया जा

सकता, क्योंकि कारण के प्रत्यय के अर्थ की व्याख्या तथा परिभाषा अभी भी अपेक्षित है। पुन, यदि कारण का जो 'अ कारण' से भिन्न है उसकी पूर्वगामिता के रूप में परिभाषित किया जाय तो यह भी दोषपूर्ण होगा, क्योंकि कोई भी कारण के स्वभाव तथा इसके विपरीत का समझे बिना परिभाषा के 'अ कारण' को नहीं समझ सकता। अपरञ्च, स्थायी द्रव्य होने के कारण आकाश किसी भी वस्तु के 'अ कारण' के रूप में सदैव विद्यमान रहता है और फिर भी ध्वनि का कारण माना जाता है। पुन यदि कारण को ऐसी वस्तु के रूप में परिभाषित किया जाय जो परिणाम के विद्यमान रहने पर विद्यमान एवं परिणाम की अनुपस्थिति में अनुपस्थित रहती है तो यह आकाश, जिसे कभी अनुपस्थित नहीं जाना जाता, के कारणत्व को नहीं व्याख्यायित करेगा। पुन यदि कारण का नित्य पूर्वगामिता के रूप में परिभाषित किया जाय तो आकाश जैसे नित्य द्रव्यों को परिणामों के एकमात्र कारण के रूप में स्वीकार करना होगा। किन्तु यदि नित्य पूर्वगामिता का निरुपाधि पूर्वगामिता के अर्थ में समझा जाय तो एक जलाए जाने वाले मृण्पात्र के स्वाद तथा वर्ण जैसे सहास्तित्वमान सत्ताओं को अन्यो-याश्रित रूप में जले हुए मृण्पात्र के वर्ण तथा स्वाद का कारण होना चाहिए क्योंकि न तो वर्ण स्वाद का निर्धारण करता है और न स्वाद वर्ण का। इसके अतिरिक्त यदि केवल नित्य पूर्वगामिता का ही कारण माना जाता है तो, उनकी नित्य पूर्वगामिता के कारण, किसी रोग के नियत पूर्वगामी लक्षणों को ही रोग का कारण मानना होगा। पुन, कारणत्व को किन्हीं वस्तुओं का विशेष स्वभाव अथवा गुण नहीं माना जा सकता जिस गुण का हमारे द्वारा प्रत्यक्षरूपेण वस्तुओं में अस्तित्वमान के रूप में देखा जा सकता हो। इस प्रकार, कुम्भकार के चक्र-दण्ड को हम इसके द्वारा उत्पादित विशेष पात्रों के कारण के रूप में देख सकते हैं किन्तु कारणत्व को एक दण्ड अथवा किसी अन्य वस्तु के सामान्य गुण के रूप में देखना सम्भव नहीं है। यदि कारणत्व सामान्य रूप में वस्तुओं के सदर्भ में ही अस्तित्वमान होता तो व्यष्टियों की उत्पत्ति की उपकल्पना असम्भव होती, और किसी के लिए यह जानना सम्भव नहीं होता कि कौन सा कारण विशेष परिणाम विशेष को उत्पन्न करेगा। इसके विपरीत इन्द्रियों द्वारा यह देखना सम्भव नहीं है कि एक विशिष्ट वस्तु कई विशिष्ट परिणामों का कारण है, क्योंकि जब तक ये विशिष्ट परिणाम वस्तुत उत्पन्न नहीं हो जाते उनका देखना सम्भव नहीं है क्योंकि इन्द्रियस्पर्श प्रत्यक्ष की आवश्यक अपेक्षा है। हमारे वर्तमान प्रयोजनों के लिए कारण के उन सभी विभिन्न सम्भव प्रत्ययों की चर्चा आवश्यक नहीं है जिनके प्रत्याख्यान का प्रयास श्रीहर्ष ने किया है ऊपर की समीक्षा से कार्य की कोटि के प्रत्याख्यान के लिए श्रीहर्ष द्वारा प्रयुक्त विधि के पर्याप्त व्यापक अभिज्ञान की अपेक्षा की जाती है।

न ही प्रस्तुत पुस्तक के सीमित क्षेत्र के भीतर यह सम्भव है कि न्याय दर्शन में स्वीकृत विभिन्न कोटियों के सभी विविध वैकल्पिक प्रतिवादों का अथवा उन उपायों का पूरा

विवरण दिया जा सके जिनकी सहायता से खण्डनखण्डखाद्य में श्रीहर्ष ने इनका प्रत्याख्यान किया है। अतएव यहाँ मैंने उनके द्वन्द्ववादी तर्क के अधिक महत्वपूर्ण अंशों के कुछ दृष्टान्तों का ही प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। श्रीहर्ष की आलोचनाओं का मुख्य दोष यह है कि वे प्रायः शाब्दिक कुतर्कों का रूप ग्रहण करने लगती हैं तथा प्रतिपक्षी की परिभाषाओं की अभिव्यक्ति के दोषों पर बल देती हैं तथा उसके सामान्य विचारों के प्रति सहानुभूतिपरक व्यवहार करने का न्याय नहीं करती। यह देखना सरल है कि किस प्रकार न्याय की शाब्दिक परिभाषाओं के इन प्रत्याख्यानों ने नैयायिकों में रक्षात्मक वृत्ति को उभारा और उन्होंने अपनी परिभाषाओं को और सम्यक् ढंग से प्रस्तुत किया जिनमें श्रीहर्ष तथा अन्य आलोचकों के प्रत्याख्यानों के विषय बने दोषों का दूर करने का प्रयास किया गया। अतएव एक अर्थ में श्रीहर्ष तथा उनके कुछ अनुयायियों की आलोचनाओं ने न्याय चिन्तना के विकास में बड़ी हानि पहुँचाई क्योंकि पूर्ववर्ती न्याय विचारकों के विपरीत गंगेश, रघुनाथ तथा अन्य परवर्ती न्याय विचारक केवल ऐसे उपयुक्त अनुबन्धों तथा शब्दावलियों के अनुसंधान में प्रवृत्त रहे जिनके द्वारा वे अपनी कोटियों का व इस प्रकार परिभाषित कर सकें कि उनके प्रतिपक्षियों की आलोचनाओं द्वारा प्रदर्शित उनकी परिभाषाओं के अवांछनीय प्रयोगों का परिहार हो सके। यदि ये आलोचनाएँ मुख्यतः न्याय चिन्तन के दोषों की ओर उद्दिष्ट होतीं तो ये परवर्ती लेखक दार्शनिक गाम्भीर्य तथा कुशाग्रता के व्यय पर शाब्दिक अभिव्यक्तियों को विकसित करने का मार्ग ग्रहण करने का बाध्य नहीं हुए होते। अतएव श्रीहर्ष को प्रथम महान् लेखक कहा जा सकता है जो अप्रत्यक्ष रूप से न्याय चिन्तना में शाब्दिकता के विकास के लिए उत्तरदायी हैं।

श्रीहर्ष की आलोचनाओं का दूसरा दोष यह है कि वे मुख्यतः स्वयं को न्याय की कोटियों की परिभाषाओं की आलोचना तक सीमित करते हैं और विचार की इस प्रकार की कोटियों में सन्निविष्ट सामान्य विचारों की इतने विस्तार से चर्चा नहीं करते। किन्तु श्रीहर्ष के साथ पूर्ण न्याय करते हुए यह अवश्य कहा जाना चाहिए कि यद्यपि उन्होंने न्याय की परिभाषाओं का अपनी आलोचनाओं का मुख्य विषय बनाया तथापि इस प्रकार की परिभाषाओं के विभिन्न वैकल्पिक प्रकारों एवं दृष्टिकोणों की चर्चा में वे प्रायः विवाद में सन्निविष्ट समस्याओं का विस्तारपूर्ण विवेचन करते हैं। किन्तु बहुतेरे दृष्टान्तों में उनकी चूकें अत्यन्त स्पष्ट हैं। उदाहरणार्थ, सम्बन्ध की चर्चा में केवल आधार तथा अन्तर्विष्ट के रूप में अन्तर्भूतता के रूप में तथा सजातीयों के विषय विषयी सम्बन्ध के रूप में सम्बन्ध की परिभाषाओं का प्रत्याख्यान करने का प्रयास करते हैं तथा सम्बन्ध के बहुतेरे अन्य प्रकारों को छोड़ देते हैं जिनकी चर्चा की जा सकती थी। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उनके प्रत्याख्यान की एक विशेषता यह है कि उनका दृष्टिकोण केवल ध्वंसात्मक है तथा वे अपने दृष्टिकोण से किसी स्थिति की परिभाषा

करने का उत्तरदायित्व स्वीकार करने का तयार नही है। वे यह प्रदर्शित करने म प्रसन्न होते हैं कि कोई भी जागतिक आभास किसी भी प्रकार परिभाषित नही हो सकता और इस प्रकार, अनिर्वचनीय होने के कारण वे सभी मिथ्या हैं। श्रीहर्ष ने यह नही—और न वे कर सकते थे—प्रदर्शित किया कि विभिन्न कोटियों की परिभाषा केवल उन्ही रूपों मे हो सकती है जिनके कि प्रत्याख्यान का उन्होंने प्रयास किया है। सम्भवत उन्ह अन्य तथा अधिक सुन्दर रूपों म परिभाषित किया जा सकता था और यहाँ तक कि उन परिभाषाओं को भी जिनका उन्होंने प्रत्याख्यान किया, उपयुक्त शब्दावलियों के प्रयोग द्वारा और परिष्कार किया जा सकता था। उन्होंने यह दिखाने का प्रयास नही किया कि कोटियों में सन्निविष्ट प्रत्यय इस प्रकार के अन्तर्विरोधों से संयुक्त हैं कि उन्हें चाहे जिस रूप मे भी परिभाषित किया जाय उन आभ्यन्तर अन्तर्विरोधों, जो कि स्वयं प्रत्ययों के स्वभाव मे ही अन्तभूत है स नही बचा जा सकता। इसके स्थान पर उन्होंने उन औपचारिक परिभाषाओं पर ध्यान केन्द्रित किया जो न्याय तथा कभी कभी प्रभाकर द्वारा प्रस्तुत की गई थी और उन परिभाषाओं की दोषमयता को प्रदर्शित करने का प्रयास किया। विशिष्ट परिभाषाओं की अशुद्धता प्रदर्शित करने से यह प्रदर्शित नही होता कि परिभाषित वस्तुएँ अशुद्ध हैं। यह निस्सदेह सत्य है कि कुछ परिभाषाओं का प्रत्याख्यान उन परिभाषाओं म समाविष्ट प्रत्ययों का प्रत्याख्यान सन्निविष्ट करता है, किन्तु प्रत्यय का प्रस्तुत करने क विशिष्ट प्रकार के प्रत्याख्यान का यह अर्थ नही है कि स्वयं प्रत्यय असम्भव है। इस दूसरी बात को प्रदर्शित करने के लिए इसके अपने वृत्तों के आधार पर, इस प्रत्यय विशेष का विश्लेषण और इस प्रकार के विश्लेषण म उपस्थित असंगतियों का प्रदर्शन आवश्यक है।

शांकर वेदान्त के प्रत्ययों की चित्सुख द्वारा प्रस्तुत व्याख्याएँ

चित्सुख (लगभग १२०० ईस्वी), जो श्रीहर्ष के टीकाकार हैं, में श्रीहर्ष के कुशाग्र द्वन्द्वात्मक चिन्तना की सभी शक्तियाँ थीं किन्तु वे श्रीहर्ष के समान न केवल न्याय की कोटियों का संक्षिप्त प्रत्याख्यान प्रस्तुत करते हैं अपितु अपनी तत्वप्रदीपिका मे, जिस पर प्रत्यग्भगवान् (ईसवी सन् १४००) न अपनी नयनप्रसादिनी[1] म टीका की

[1] गौडेश्वराचार्य जिन्ह ज्ञानोत्तम नाम से भी जाना जाता है के शिष्य चित्सुख ने आनन्दबोध भट्टारकाचार्य क न्यायमकरन्द पर तथा श्रीहर्ष क खण्डनखण्डखाद्य पर भी टीका लिखी है, उन्होंने तत्वप्रदीपिका अथवा चित्सुखी नामक एक स्वतन्त्र कृति की रचना भी की जिस पर कि वर्तमान भाग का अध्ययन आधारित है। इस ग्रन्थ म उन्होंने उदयन, उद्योतकर कुमारिल पद्मपाद, वल्लभ (लीलावती) शालिकनाथ, सुरेश्वर शिवादित्य कुमार पंडित तथा श्रीधर (न्याय कन्दली) का उल्लेख किया

है, शांकर वेदान्त के कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रत्ययों का सीन्दर्य विश्लेषण तथा व्याख्या भी प्रस्तुत किया है। वे न केवल वेदान्त के अद्वैत सिद्धान्त के सरक्षक अपितु वेदान्ती प्रत्ययों के व्याख्याता भी हैं।[1] यह ग्रन्थ चार अध्यायों में लिखा गया है। प्रथम अध्याय मे चित्सुख ने स्व प्रकाश के वेदान्ती प्रत्ययों की व्याख्या, सविद् के रूप मे आत्मा के स्वभाव (आत्मन सविद्रूपत्व) अधकार के रूप में अज्ञान के स्वभाव मिथ्यात्व के स्वभाव, अविद्या के स्वभाव, सभी प्रत्ययों की सत्यता के स्वभाव (सर्व प्रत्ययानाम् यथार्थत्वम्) भ्रान्ति के स्वभाव इत्यादि की चर्चा की है। दूसरे अध्याय मे उन्होने न्याय की कोटियों विभेद पृथक्ता, गुण कर्म जाति प्रत्यय विशेष समवाय प्रत्यक्ष, शका, भ्रान्ति स्मृति अनुमान व्याप्ति व्याप्ति ग्रह, पक्षधर्मता, हेतु उपमान निहितार्थ भाव अभाव, द्वैत परिमाण कारणत्व काल आकाश इत्यादि की चर्चा की है। तीसरे अध्याय म जो कि पुस्तक मे सबसे छोटा अध्याय है, उन्होने ब्रह्म के साक्षात्कार की सम्भावना तथा ज्ञान द्वारा मुक्ति के स्वभाव पर विचार किया है। चतुर्थ अध्याय मे जो प्रथम दो की अपेक्षा बहुत छोटा है, उन्होंने मुक्ति की अन्तिम अवस्था की चर्चा की है।

है। इन कृतियों के अतिरिक्त उन्होने शांकर के ब्रह्मसूत्र भाष्य पर भाष्यभाव प्रकाशिका नामक टीका आनन्दबोध की प्रमाणमाला पर विवरण-तात्पर्य दीपिका नामक टीका मण्डन की ब्रह्मसिद्धि पर अभिप्राय प्रकाशिका नामक टीका ब्रह्मसूत्र के अधिकरणो के लिए अधिकरण मजरी नामक विषय सूची की भी रचना की। उनके गुरु ज्ञानोत्तम ने वेदान्त के ऊपर न्यायसुधा तथा ज्ञानसिद्धि नामक दो पुस्तकें लिखी किन्तु वे उस ज्ञानोत्तम से भिन्न व्यक्ति प्रतीत होते हैं जिन्होने सुरेश्वर की नैष्कर्म्यसिद्धि पर टीका लिखी थी क्योंकि ये दूसरे ज्ञानोत्तम एक गृहस्थ थे (वे स्वय को मित्र की गृहस्थसूचक उपाधि से विभूषित करते हैं) एव चोल देश के मगल नामक गाँव के निवासी थे जबकि पहले ज्ञानोत्तम जैसा कि चित्सुख ने अपनी तत्वप्रदीपिका की पुष्पिका मे बताया है सन्यासी थे एव गौड नरेश के गुरु थे। उन्हे ब्रह्मस्तुति, विष्णुपुराण टीका, षड्दर्शन सग्रह-वृत्ति, अधिकरणसगति (ब्रह्मसूत्र के विषयों के अन्त सबधों की व्याख्या करने वाली कृति) एव नैष्कर्म्यसिद्धि पर नैष्कर्म्यसिद्धि-टीका अथवा भाव-तत्वप्रकाशिका नामक टीका का भी रचनाकार बताया जाता है। उनके शिष्य सुखप्रकाश ने ब्रह्मसूत्र के विषय पर अधिकरण रत्नमाला नामक पुस्तक लिखी।

[1] इस प्रकार पडित हरिनाथ शर्मा ने तत्वप्रदीपिका अथवा चित्सुखी को अपनी सस्कृत भूमिका मे इस कृति का अद्वैतसिद्धान्तरक्षकोऽप्यद्वैतसिद्धान्तप्रकाशको व्युत्पादकश्च कह कर उल्लेख किया है।

चित्सुख वेदान्त के सर्वाधिक आधारभूत प्रत्यय, अर्थात् स्व प्रकाश के प्रत्यय, की औपचारिक परिभाषा से प्रारम्भ करते हैं। पचपादिका तथा पचपादिका विवरण म पद्मपाद तथा प्रकाशात्मन दोनो ने आत्मा का अहकार से स्व प्रकाश (स्वयम् प्रकाश) के रूप में विभेदित किया था। इस प्रकार, प्रकाशात्मन का कहना है सविद् स्व प्रकाशी है तथा इसका स्व प्रकाश किसी अन्य स्व प्रकाशी कारण से उत्पन्न नही है।[1] सविद् के इस स्वाभाविक स्व प्रकाश के कारण ही इसके विषय स्व प्रकाशी रूप मे प्रकट होते है।[2] यह कहते हुए कि आत्मा शुद्ध स्व प्रकाशी सविद् के स्वभाव का है। पद्मपाद यही बात दुहराते हैं जबकि सविद् अन्य विषया के सबध म प्रकट होता है तथा इन्हे प्रकाशित करता है, तब इसे अनुभव कहते हैं, तथा जब यह सवथा एकाकी होता है तब इसे आत्मन् कहते हैं।[3] किन्तु, चित्सुख सभवत प्रथम व्यक्ति हैं जिसने इस स्वप्रकाश के स्वभाव की औपचारिक परिभाषा प्रदान की है।

चित्सुख ने इसे ऐसी वस्तु के रूप म परिभाषित किया है जो तात्कालिक (अपरोक्ष व्यवहार योग्य) कहलाने की अधिकारी है यद्यपि यह किसी सज्ञान अथवा किसी सज्ञानात्मक कम (अवेद्यत्वेऽपि) का विषय नही होती।[4] यह आपत्ति की जा सकती है कि इच्छाए अनुभूतियां इत्यादि भी किसी सज्ञान का विषय नही हाती और फिर भी तात्कालिक कहलाने का अधिकारी हाती हैं और इस कारण यह परिभाषा उन पर भी लागू हो सकती है क्याकि सज्ञान के विषय का एक पृथक वस्तुनिष्ठ अस्तित्व होता है तथा एक मन विषय ससग के द्वारा मन विषय के स्वरूप मे परिवर्तित हो जाता है और इसके द्वारा उस एक सविद् का जो प्रत्यक्षत दो रूपा–भौतिक पदार्थों के रूप मे प्रकट होने वाल विषय सविद् के रूप मे तथा प्रमाता के रूप म प्रकट होने वाली विषय सविद् के रूप मे–म विभक्त हैं विषय रूप पर विषयी रूप के अध्यारोपण द्वारा पुन इसकी एकता म प्रतिष्ठित किया जाता है एव विषय रूप सविद् मे एक जलपात्र अथवा पुस्तक के रूप मे प्रकाशित हाता है। किन्तु, हमारी इच्छा अथवा हमारी अनुभूतिया के अनुभव के दृष्टान्त मे इनका हमारे मन से पृथक अस्तित्व नही हाता और इस

---

[1] सवेदन तु स्वयप्रकाश एव न प्रकाशान्तरहेतु।

—पचपादिका विवरण पृ० ५२।

[2] तस्माद् अनुभव सजातीय प्रकाशान्तर निरपेक्ष प्रकाशमान एव विषये प्रकाशादिव्यवहारनिमित्त भवितुम् अर्हति अव्यवधानेन विषये प्रकाशादि व्यवहारनिमित्तत्वात्।

—वही।

[3] तस्मात् चित्स्वभाव एवात्मा तेन प्रमेयभेदेन उपधीयमानोऽनुभवाभिधानीयक लभते अविवेक्षितोपाधिरात्मादिशब्दै।

—पचपादिका पृ० १०।

[4] अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व स्वयम्प्रकाशलक्षणम्। —चित्सुखी, पृ० ६।

प्रकार इनका संज्ञान उस रूप में नहीं होता जिस प्रकार कि बाह्य विषयों का होता है। वेदान्त ज्ञान मीमांसा के अनुसार इच्छा, सवेदनाएं इत्यादि के विषयीगत अनुभव मानसिक घटक, स्वरूप अथवा अवस्थाएं से भिन्न होते हैं, जो कि प्रत्यक्ष तथा भ्रामक ढंग से स्वप्रकाशी संविद् के ऊपर आरोपित होते हुए अनुभूत होते हैं। इस कारण विषयीगत अवस्थाओं का उस रूप में संज्ञान नहीं होता जिस रूप में बाह्य पदार्थों का होता है। किन्तु चूंकि इन अवस्थाओं का अनुभव भ्रान्तिपूर्ण आरोपण की एक प्रक्रिया के माध्यम से संभव है, वे तात्कालिक कहलाने के अधिकारी नहीं हैं।[1] इस प्रकार, यद्यपि ये तात्कालिक के रूप में प्रकट होते हैं, उनमें कोई उपयुक्त योग्यता नहीं होती अथवा, दूसरे शब्दों में ये तात्कालिक कहलाने के अधिकारी नहीं होते। किन्तु वास्तविक अर्थ में बाह्य विषय भी स्व प्रकाशी संविद् के ऊपर भ्रान्तिपूर्ण आरोपण ही होते हैं और इस प्रकार उन्हें भी तात्कालिक कहलाने का अधिकारी नहीं कहा जा सकता। इस कारण, स्व प्रकाशी संविद् को एसी वस्तु के रूप में, जिसके कि संज्ञान का कोई विषय नहीं होना विभेदित करने की चेष्टा का कोई अर्थ नहीं है, क्योंकि वेदान्त के सिद्धान्त के अनुसार कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो तात्कालिक कहलाने का अधिकारी हो और इस कारण स्व प्रकाशी संविद् के एक विशिष्ट विभेदक लक्षण के रूप में अवेद्यत्व (संज्ञान का विषय न होना) पद अनावश्यक है इस कारण तात्कालिक विशेषण भी आवश्यक है। इस प्रकार की आपत्ति के विरोध में चित्सुख का यह उत्तर है कि बाह्य विषयों के अनुभव का केवल प्रलय तथा ब्रह्मत्व की अन्तिम अवस्थाओं में ही तात्कालिक तथा भ्रान्तिपूर्ण पाया जाना है और चूंकि हमारे अनुभव की सभी सामान्य अवस्थाओं में जागतिक विषय का अनुभव तात्कालिक होता है 'अवेद्यत्वे' विरुद्ध स्व प्रकाशी संविद् का उन बाह्य वस्तुओं के सभी समानों से सफलतापूर्वक विभेदित करता है जो तात्कालिक कहलाने के अधिकारी हैं तथा जिनका केवल संज्ञान के विषय होने के कारण स्व प्रकाशी संविद् के क्षेत्र से बहिष्करण किया जाता है। सामान्य अनुभव के क्षेत्र में इन जागतिक विषय स्व प्रकाशी संविद् के समान ही तात्कालिक कहलाने के अधिकारी पाए जाते हैं तथा संज्ञान के विषय होने के कारण ही उन्हें स्व प्रकाशी संविद् से विभेदित किया जा सकता है।

स्व प्रकाशी संविद् की स्वतंत्र कोटि के स्वीकरण के पक्ष में मुख्य तर्क यह है कि जब तक एक स्वतंत्र स्व प्रकाशी संविद् का स्वीकरण नहीं किया जाता तब तक किसी संज्ञान की उत्पत्ति की पूर्वगामी प्रक्रिया में एक दूषित शृंखला होगी, क्योंकि यदि स्व प्रकाशी संविद् के शुद्ध अनुभव का इसके पहले कि इसे समझा जाता है भाग भी

---

[1] अवेद्यत्वेऽपि नापरोक्ष व्यवहारयोग्यता तेषाम् अध्यस्ततयैव तथा सिद्धेः।
—चित्सुखी पृ० १० निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९१५।

किसी अन्य प्रक्रिया के अधीनस्थ रखना है, तो उसे भी किसी अन्य प्रक्रिया की अपेक्षा हो सकती है और किसी अन्य की और इस प्रकार एक असमाप्य शृंखला बनेगी। इसके अतिरिक्त स्वयं अनुभव के तथ्य से ही यह सिद्ध हो जाता है कि शुद्ध अनुभव स्व प्रकाशी होता है, क्योंकि कोई भी अपने अनुभव के प्रति शंकालु नहीं होता और उसने अनुभव किया अथवा नहीं इस बात के लिए उसे किसी और समर्थन अथवा अनिश्चयन की आवश्यकता नहीं होती। यह आपत्ति की जा सकती है कि यह सुविज्ञात है कि हम किसी वस्तु के अपने बोध से अभिज्ञ (अनुव्यवसाय) रह सकते हैं, और इस प्रकार के दृष्टान्त में स्व प्रकाशी अवबोध का और भी संज्ञान हो सकता है। इसके उत्तर में चित्सुख का कहना है कि जब कोई जलपात्र देखता है तब एक मानसिक कार्य व्यापार होता है फिर उस कार्य व्यापार की समाप्ति होती है, और फिर नए कार्य व्यापार का पुनः प्रारम्भ होता है और फिर यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि मैं जलपात्र को जानता हूँ अथवा यह कि मैं यह जानता हूँ कि मैं जलपात्र को जानता हूँ—और इस कारण इस प्रकार के संज्ञान का प्रत्यक्षतः तथा तात्कालिकरूपेण प्रथम बोध, जो कि इतने अधिक क्षणों तक नहीं ठहर सकता, का संज्ञान करने वाला नहीं कहा जा सकता।[1] पुनः चूँकि न तो इन्द्रियाँ और न बाह्य विषय स्वयमेव ज्ञान के स्व प्रकाश को उत्पन्न नहीं कर सकते, यदि ज्ञान को स्व प्रकाशी नहीं स्वीकार किया जाता तो संपूर्ण जगत् अन्धा होगा और स्व प्रकाश का अस्तित्व संभव नहीं होगा। जब कोई यह जानता है कि वह जलपात्र अथवा पुस्तक को जानता है तब यह संज्ञान किया हुआ विषय है जिसे जाना जाता है बोध को नहीं जाना जाता, बोध का कोई बोध नहीं हो सकता, बोध केवल संज्ञान किए हुए विषय का ही हो सकता है।[2] यदि पूर्ववर्ती बोध को अनुवर्ती बोध का विषय बनाया जा सके तो इसका अर्थ होगा आत्मा द्वारा जाने जाने वाले आत्मा की संभावना का स्वीकरण (स्वस्यापिस्वेन वेद्यत्वापातात्) ऐसा सिद्धान्त जो वेदान्ती प्रत्ययवाद के साथ नहीं प्रत्युत् बौद्ध विज्ञानवाद का संगत होगा। यह निःसंदेह सत्य है कि शुद्ध स्व प्रकाशी संविद् स्वयं का एक मानसिक स्थिति के अवसर पर ही प्रदर्शित करता है किन्तु अन्य संज्ञानात्मक स्थितियों से इसका अन्तर इस तथ्य में निहित होता है कि इसका कोई रूप अथवा विषय नहीं होता, और इस कारण यद्यपि इसे एक मानसिक स्थिति द्वारा संस्पष्ट किया जा सकता है तथापि यह इसके द्वारा प्रकाशित विषयों से भिन्न धरातल पर स्थित होता है।

---

[1] घटज्ञानोदयसमये मनसि क्रिया ततो विभागस्ततः पूर्वसंयोगविनाशस्ततः उत्तरसंयोगोत्पत्तिस्ततो ज्ञानान्तरम् इति अनेकक्षणविलम्बेन उत्पद्यमानस्य ज्ञानस्य अपरोक्षतया पूर्वज्ञानग्राहकत्वानुपपत्तेः। —चित्सुखी पृ० १७।

[2] विदितो घट इत्यत्र अनुव्यवसायेन घटस्यैव विदितत्वम् अवसीयते न तु वित्तेः। —वही, पृ० १८।

दूसरी बात, जिस पर चित्सुख आग्रह करते है, यह है कि आत्मा शुद्ध स्व प्रकाशी संविद् के स्वभाव का होता है (आत्मन संविद्रूपत्व)। यह निश्चित ही चित्सुख का नया योगदान नही है क्योंकि यह विचार उपनिषदों में प्रतिष्ठित हुआ था और शंकर पद्मपाद प्रकाशात्मन तथा अन्यो द्वारा पुनरावृत्त हुआ था। चित्सुख का कहना है कि ज्ञान के समान आत्मा भी किसी संज्ञानात्मक कार्यव्यापार अथवा संज्ञान का *विषय बने बिना तात्कालिकरूपेण प्रकाशित अथवा अनुभूत होता* है और इस कारण आत्मा भी ज्ञान के स्वभाव का है। कोई भी अपनी आत्मा के विषय में शंकालु नहीं होता, क्योंकि आत्मा स्वत प्रत्यक्षत तथा तात्कालिकरूपेण अवस्थित होता है। आत्मा तथा ज्ञान के अभिन्न होने के कारण उनके बीच अभिन्नता को छोड कर कोई अन्य सम्बन्ध नही होता (ज्ञानात्मनो सम्बन्धस्यैव अभावात्)।

चित्सुख मिथ्यात्व, जिस इसका कारण माना जाता है को उसमें उस वस्तु के अभाव के रूप मे परिभाषित करते हैं।[1] वह इसे यह बताते हुए प्रदर्शित करते हैं कि संपूर्ण को, यदि इसका अस्तित्व कहीं होना है तो उन घटकों मे होना चाहिए जिनसे कि यह बना है और यदि इसका अस्तित्व वहाँ भी नही है तो इसका अस्तित्व कहीं *नही होता तथा यह मिथ्या है।* किंतु यह स्पष्ट है कि संपूर्ण का अस्तित्व घटकों मे नही हो सकता क्योंकि संपूर्ण होने के कारण यह घटकों मे नहीं हो सकता।[2] जागतिक आभास के मिथ्यात्व के लिए चित्सुख द्वारा प्रयुक्त एक अन्य तर्क यह है स्व प्रकाशी संविद्, जो कि ज्ञाता (दृक्) है, तथा संज्ञान किए जाने वाले विषयो (दृश्य) के बीच किसी प्रकार के संबंध का होना असंभव है। ज्ञान को इंद्रिय संसर्ग से उत्पन्न हुआ नहीं कहा जा सकता क्योंकि रजत के भ्रांतिपूर्ण प्रत्यक्ष में रजत के साथ किसी वास्तविक इन्द्रिय संसर्ग के बिना ही रजत का मिथ्या प्रत्यक्ष होता है। विषयी तथा विषय के संबंध (विषयविषयिभाव) का उल्लेख इसे नहीं व्याख्यायित कर सकता क्योंकि स्वयं विषयी तथा विषय का संबंध अस्पष्ट तथा अव्याख्येय होता

---

[1] *सर्वेषामपि भावानाम् आश्रयत्वेन सम्मते।*
प्रतियोगित्वम् अत्यन्ताभाव प्रति मृषात्मता॥

—चित्सुखी पृ० ३९।

मिथ्यात्व की इन परिभाषाओं मे से कुछ चित्सुखी के बहुत बाद लिखी गई पुस्तक मधुसूदन कृत अद्वैतसिद्धि मे संगृहीत हैं।

[2] अंशिन स्वांशगात्यन्ताभावस्य प्रतियोगिन अंशित्वाद् इतरांशीव विमत पट एततन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी अवयवित्वात् पटान्तरत्वात्।

—चित्सुखी पृ० ४००, ४१।

है ज्ञान मे विषयी तथा विषय क सबध (विषयविषयिभाव) की उपयुक्त व्याख्या की असमावना के सबध मे तर्क करते हुए चित्सुख कहते है कि यह नही माना जा सकता कि विषयी तथा विषय के सबध का यह अर्थ है कि ज्ञान विषय म कोई परिवतन उत्पन्न करता है तथा यह कि ज्ञाता यह परिवतन लाता है। क्योकि इस प्रकार के परिवतन का क्या स्वभाव हो सकता है ? यदि इस ज्ञातता अथवा ज्ञात होने का स्वभाव कहा जाय तो मेरे ज्ञान द्वारा वतमान क्षण मे इस प्रकार के स्वभाव का कमे उस वस्तु विशेष म एक निश्चित गुण के रूप म उत्पन्न किया जा सकता है तो ऐसा कोई निश्चित नियम नही होगा जिसके अनुसार इस प्रकार के गुणों की उत्पत्ति हो। न ही इस प्रकार के सबध को, एक व्यावहारिक आधार पर, हमारे द्वारा ज्ञात विषयो अथवा वस्तुओं क हमारे ज्ञान स सबद्ध आभ्यन्तर सकल्पों अथवा सवेदनाओं के प्रसग मे, वास्तविक शारीरिक व्यवहारिक काय के उल्लेख द्वारा व्याख्यायित किया जा सकता है। क्योकि अपने सामने दिखाई पडने वाले रजत खड को उठाते हुए हम अनजान म इसके साथ रजत मे स्थित मैल खीच सकते हैं और इस कारण केवल इस आधार पर मैल क शारीरिक आहरण का तथ्य इसे हमारे ज्ञान का विषय नही बनाता और इस कारण ज्ञान के विषयी विषय सबध को केवल ज्ञान के अनुगामी शारीरिक कर्म के रूप में नही परिभाषित किया जा सकता। सकल्प की आभ्यन्तर मानसिक स्थितियाँ तथा ज्ञान से सलग्न मनोभाव ज्ञाता स सबद्ध होते हैं एव ज्ञान के विषय के साथ उनका कोई सम्बन्ध नही होता। यदि यह आग्रह किया जाता है कि वस्तुनिष्ठता इस तथ्य मे निहित होती है कि कोई भी ज्ञात वस्तु सविद् म प्रकट होती है तब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि सविद् म इस प्रकटन का क्या अर्थ है ? इसका यह अथ नही हो सकता कि सविद् आधार है तथा विषय इसमे अतर्विष्ट है क्योकि सविद् के आभ्यन्तर तथा विषय के बाह्य होने क कारण विषय इसमे अतर्विष्ट नही हो सकता। यह केवल अ याख्यायित सम्बद्धता नहीं हो सकती क्योकि उस दशा मे विषय को समानरूपेण विषयी माना जा सकता है और विषयी को विषय। यदि वस्तुनिष्ठता को ज्ञान को उभाडने मे समथ वस्तु के रूप मे परिभाषित किया जाता है तो इन्द्रिया, प्रकाश तथा ज्ञान की उत्पत्ति म सहायक अन्य उपादानों को भी समानरूपेण विषय मानना होगा। विषय को ऐसी वस्तु के रूप म नही परिभाषित किया जा सकता जिसके कारण कि ज्ञान का अपना विशिष्ट स्वरूप है, क्योकि ज्ञान का अपने स्वरूप स अभिन्नता के कारण ज्ञान की उत्पत्ति म सहायक सभी वस्तुओं इन्द्रियाँ प्रकाश इत्यादि –को समानरूपेण विषय माना जा सकता है। इस प्रकार विषयी विषय सम्बन्ध के स्वभाव को चाहे जिस रूप मे उपकल्पित किया जाय, निराशा ही हाथ लगेगी।

चित्सुख अज्ञान के विषय म इस परम्परागत विचार का अनुसरण करते हैं कि यह एक अनादि सकारात्मक सत्ता है जो यथाथ ज्ञान की उत्पत्ति के साथ विलुप्त हो

जाता है।[1] अज्ञान सकारात्मकता तथा नकारात्मक दोनों से भिन्न है, तथापि इस तथ्यविशेष, कि यह नकारात्मक नहीं है, के कारण इसे केवल सकारात्मक कहा जाता है।[2] अज्ञान को एक सकारात्मक स्थिति के रूप में कहा जाता है, इसे केवल ज्ञान का निरास नहीं कहा जाता, और इस प्रकार यह कहा जाता है कि किसी व्यक्ति में किसी विषय के शुद्ध ज्ञान की उत्पत्ति उस विषय के प्रसंग में अज्ञान की सकारात्मक सत्ता का विनष्ट कर देती है तथा यह कि यह अज्ञान शुद्ध ज्ञान के निरास से कोई व्यक्ति जो समझेगा उससे भिन्न वस्तु है।[3] चित्सुख का कहना है कि अज्ञान का सकारात्मक स्वरूप उस समय स्पष्ट हो जाता है जब हम यह कहते हैं कि हम नहीं जानते कि तुम जो कह रहे हो वह सत्य है।' यहाँ इस तथ्य विशेष का शुद्ध ज्ञान है कि जो कहा गया है वह ज्ञात है किन्तु यह नहीं ज्ञात है कि जो कहा गया है वह सत्य है।[4] यहाँ भी तथ्य के अज्ञान का सकारात्मक ज्ञान है जो कि केवल ज्ञान का अभाव नहीं है। *किन्तु, इस प्रकार का अज्ञान इन्द्रिय सम्पर्क अथवा इन्द्रिय प्रक्रिया के* माध्यम से नहीं अपितु सीधे स्वप्रकाशी संविद् साक्षिन् द्वारा अनुभूत होता है। किसी विषय के बारे में शुद्ध ज्ञान की उत्पत्ति के ठीक पूर्व अज्ञान रहता है तथा, इस प्रकार के अज्ञान द्वारा विशेषित के रूप में विषय का अज्ञात के रूप में अनुभव किया जाता है। सभी वस्तुएँ ज्ञात अथवा अज्ञात के रूप में आन्तरिक स्थिर आशुज्ञानीय संविद् की विषय होती हैं।[5] ऐसी अवस्था जिसमें हमें कुछ नहीं ज्ञात हुआ (*न किंचिदवेदिषम्*) के रूप में *गंभीर स्वप्नविहीन निद्रा के हमारे अभिकथन का भी स्वप्न* विहीन अवस्था में अज्ञान के सकारात्मक अनुभव के रूप में उल्लिखित किया जाता है।

---

[1] अनादिभावरूपं यद्विज्ञानेन विलीयते तद् अज्ञानमिति प्राज्ञालक्षणम् सम्प्रचक्षते अनादित्वे सति भावरूपं विज्ञाननिरास्यम् अज्ञानमिति लक्षणं इह विवक्षितम्।

—चित्सुखी पृ० ५७।

[2] भावाभावविलक्षणस्य अज्ञानस्य अभावविलक्षणत्वमात्रेण भावत्वोपचारात्।

—वही।

[3] विगीतं देवदत्तनिष्ठप्रमाणज्ञानं देवदत्तनिष्ठप्रमाभावातिरिक्तानादेर्निवर्तकं प्रमाणत्वाद् यज्ञदत्तादिगतप्रमाणज्ञानवदित्यनुमानम्।

—वही पृ० ५८।

[4] त्वदुक्तेऽर्थे प्रमाणज्ञानं मम नास्ति इत्यस्य विशिष्टविषयज्ञानस्य प्रमात्वात्।

—चित्सुखी पृ० ५९।

[5] अस्मन्मते अज्ञानस्य साक्षिसिद्धतया प्रमाणाबाध्यत्वात् प्रमाणज्ञानोदयात् प्राक्काल अज्ञानं तद्विशेषितोऽर्थ साक्षिसिद्ध अज्ञात इत्यनुवाद गोचर सर्व वस्तु ज्ञाततया अज्ञाततया वा साक्षिचैतन्यस्य विषय।

—वही पृ० ६०।

वेदान्त ज्ञान मीमासा का एक प्रमुख सिद्धान्त इस मान्यता म निहित है कि मिथ्या का प्रस्तुतीकरण अनुभव का एक तथ्य है। इससे विपरीत यह मत प्रभाकर का है कि मिथ्या का कभी भी अनुभव में प्रस्तुतीकरण नही होता तथा मिथ्यात्व मन द्वारा अनुभव के उपर आरोपित त्रुटिपूर्ण रचनावत्ति में निहित होता है जो, मिथ्या रूपेण एक क रूप म सलग्न, दो वस्तुओ के बीच में सम्बन्ध के वास्तविक अभाव को नहीं देख पाती।

वेदान्त ज्ञान सिद्धान्त का एक मुख्य सिद्धान्त इस परिकल्पना मे है कि मिथ्या वस्तु की अभिव्यक्ति अनुभूत तथ्य मे आती है। प्रभाकर का इससे विपरीत मत है। उनके अनुसार मिथ्या का दर्शन अनुभव मे नहीं होता और दो वस्तुओ को मिथ्या रूप से एक मान कर उनके परस्पर सबध के वास्तविक अभाव को मन देख नहीं पाता है और इससे मन द्वारा अनुभव पर जो अयथार्थ कल्पना का अध्यास होता है उससे ही मिथ्यात्व होता है। इस मत के अनुसार सारी भ्रान्ति उन दो वस्तुओ के मिथ्या ससग अथवा मिथ्या सबध के कारण होती है जो अनुभव म सबद्ध नही दिखती। यह मिथ्या ससग मानस के सक्रिय व्यापार के कारण नही होता अपितु इस कारण कि मन यह नहीं देख पाता कि ऐसा कोई ससग अनुभव मे वस्तुत आया ही नही था (असंसर्गाग्रह)। महान् मीमासाचाय प्रभाकर के अनुसार मिथ्या का कभी अनुभव नही होता और मिथ्या अनुभव का कारण मन की असत् कल्पना की स्वच्छन्द भावपरक क्रिया ही नही अपितु अनुभव में प्रस्तुत कुछ भेदो को केवल देख पाना भी है। इस न देख पाने के कारण ही पृथक विषयो को पृथक रूप म नही देखा जाता और इसीलिए जो वस्तुएँ पृथक एव भिन्न हैं उन्हें मिथ्या रूप से एक ही समझा जाता है तथा शुक्ति को रजत माना जाता है। परन्तु इसम अनुभव म वही मिथ्या ज्ञान नही है। जो ज्ञात है वह सत्य है और मिथ्यात्व ज्ञान की त्रुटिया एव भेदो को न देख पाने के कारण होता है।

चिरसुख इस मत के प्रति आपत्ति उठाते हैं और कहते हैं मिथ्या ज्ञान की समस्त अवस्थाओ का इसस स्पष्टीकरण नही होता। उदाहरणार्थ इस वाक्य को लें—मिथ्याज्ञान एव मिथ्या दर्शन होते हैं यदि इस वाक्य को सत्य स्वीकार किया जाय तो प्रभाकर का कथन असत्य हो जायगा यदि इसको असत्य माना जाय तो यह वाक्य मिथ्या हो जायगा जिसके मिथ्यात्व का कारण अतर को न देख पाना नही है। यदि यह कहा जाय कि समस्त प्रतिज्ञाओ के मिथ्यात्व का कारण अतर का न देख पाना है तो किसी एक भी सत्यप्रतिज्ञा अथवा सत्य अनुभव को ढूढ पाना कठिन होगा। सदा परिवर्तनशील दीपशिखा को एक ही मानने के हमारे मिथ्या अनुभव की उपमा के आधार पर समस्त सत्य प्रत्यभिज्ञाओ को भी मिथ्या माना जा सकता है और इस हेतु सारे अनुमान शकास्पद हो जायेंगे। समस्त यथार्थ एव सत्य ससगों का होना, भेदों

को न देख पाने के कारण बताया जा सकता है। ऐसा कोई भी संसर्ग नहीं जिसमें कोई यह निश्चय कर सके कि वह वास्तविक संसर्ग का ही प्रयोग कर रहा है न कि केवल संसर्ग के अभाव की अग्राह्यता का (असंसर्गाग्रह)। अतः चित्सुख का तर्क है कि सारे मिथ्या ज्ञान का कारण भेदों की अग्राह्यता है ऐसी व्याख्या कर सकना आवश्यकता से अधिक आशा करना है क्योंकि यह मानना बिल्कुल युक्ति युक्त है कि मिथ्या ज्ञान दोषयुक्त इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न होता है क्योंकि वे यथार्थ ज्ञान के उदय में बाधक होकर निश्चित रूप से अयथार्थ ज्ञान की जनक होती है।[1] अतः शुक्ति में रजत के मिथ्या प्रत्यक्ष होने में शुक्ति ही रजत का टुकड़ा प्रतीत होती है। परन्तु जो मिथ्याप्रत्यक्ष के आलम्बन को प्रस्तुत करता है उसका स्वरूप क्या है? वह पूर्णतः असत् नहीं माना जा सकता क्योंकि जो पूर्णतः असत् है वह अयथार्थज्ञान का आलंबन भी नहीं हो सकता। इसके उपरान्त यह ऐसे ज्ञान (यथा केवल शुक्ति के अयथार्थ ज्ञान वश उसको रजत मान कर उठाने की प्रवृत्ति) द्वारा द्रष्टा में भी भौतिक क्रिया व्यापार प्रवृत्त नहीं कर सकता। न यह सत् ही माना जा सकता है क्योंकि परवर्ती अनुभव से पूर्व के अयथार्थ ज्ञान का बाध होता है और वह यह कहता है कि रजत का टुकड़ा इस क्षण में नहीं है और भूतकाल में भी रजत का टुकड़ा नहीं था केवल शुक्ति ही रजतवत् प्रतीत होती थी। अतएव मिथ्यादर्शन का वास्तविक प्रतीत होते हुए भी सत् अथवा असत् नहीं कहा जा सकता और समस्त माया की अनिर्वचनीयता का ठीक यही लक्षण है।[2]

चित्सुख द्वारा वर्णित वेदान्त के अन्य सिद्धान्तों का विवेचन करना आवश्यक नहीं है क्योंकि उनमें कोई नवीनता नहीं है और इस ग्रन्थ के प्रथम खंड में दशम अध्याय में उसका वर्णन हो चुका है। अतएव न्याय पदार्थों की उसकी तात्विक आलोचना का वर्णन करना वाञ्छनीय है। तथापि केवल कुछ आलोचनाओं का उल्लेख पर्याप्त होगा क्योंकि अधिकांशतः उनमें उन पदार्थों के खंडन का उल्लेख है जिनकी चर्चा श्री हर्ष की महान् रचना खंडन-खंड खाद्य में की गई है और एक ही प्रकार के पदार्थों का दो भिन्न भिन्न लेखकों द्वारा किया खंडन दुरुह होगा यद्यपि चित्सुख के उद्धृत से तर्क नवीन और श्री हर्ष द्वारा दिए हुए तर्कों से भिन्न हैं। ऐसे खंडनों में चित्सुख का सामान्य क्रम श्री हर्ष के क्रम से कुछ भिन्न है। क्योंकि श्री हर्ष के प्रकटतः चित्सुख ने वेदान्त की मुख्य प्रतिज्ञाओं का विवेचन किया और उनके द्वारा

---

[1] तथा दोषाणामपि यथार्थ ज्ञानप्रतिबाधकत्वम् अयथार्थज्ञानजनकत्वं च किं न स्यात्।
—चित्सुख पृ० ६६।

[2] प्रत्येकं सदसत्त्वाभ्यां विचारपदवीं न यद्‌गाहते तदनिर्वाच्यमाहुर्वेदान्तवेदिनः —
—चित्सुखी पृ० ७९।

न्याय पदार्थों के खडना का लक्ष्य उन पदार्थों की अनिर्वचनीयता अथवा अस्पष्टता प्रदर्शित करना उतना नहीं था जितना कि यह प्रदर्शित करना कि व मिथ्या प्रतीतिया हैं और शुद्ध स्वप्रकाश ब्रह्म ही परम तत्व और परम सत् है।

अत काल के खडन म चित्सुख लिखते हैं कि काल का प्रत्यय न तो चक्षु द्वारा और न त्वचा द्वारा हो हो सकता है और न यह मन द्वारा ही ग्राह्य है क्योंकि मन का व्यापार केवल बाह्य इन्द्रियो के ससग से ही सभव है। इसके अतिरिक्त किसी प्रत्यक्ष गम्य सामग्री के अभाव में इसका अनुमान भी नहीं हो सकता। पूव एव पश्चात् क्रम एव युगपद्भाव, शीघ्रता एव अवधि स्वत ही काल के इस स्वरूप को नहीं प्रदर्शित कर सकते जो स्वरूप स्वय काल का है। यह कहा जा सकता है कि क्योंकि सूय के स्पदन मानव शरीर अथवा जगत् की वस्तुओ के सबध म ही हो सकते हैं जिससे कि वे केवल किसी अन्य कतृ त्व, यथा दिन मास इत्यादि के द्वारा ही युवा अथवा वृद्ध प्रतीत होते हैं, अत सूय के स्पदन को विश्व की वस्तुओ के साथ सबध करने वाला वह कतृ त्व काल कहलाता है।[1] इसका उत्तर चित्सुख यह देते हैं कि क्योंकि घटनाओ और वस्तुओ के प्रकट होने की भिन्न भिन्न अवस्थाओ के अनुसार उन घटनाओ एव वस्तुओ मे काल के प्रकाशन का कारण स्वय आत्मा को माना जा सकता है इसलिए 'काल' सनक किसी पदाथ के अस्तित्व की कल्पना करना अनावश्यक है। पुन यह भी नहीं कहा जा सकता कि पूव एव पश्चात् की धारणा का उपादान कारण काल है क्योंकि इन धारणाओं की यथाथता वेदान्ती नहीं मानते। उनका सूय के परिस्पदन की अधिक अथवा कम मात्रा द्वारा उत्पन्न सस्कार ही माना जा सकता है। अत काल का पृथक पदाथ मानने की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि उसके ज्ञान की व्याख्या हमारे अनुभव के ज्ञात तथ्यो के आधार पर ही की जा सकती है। इन्हीं तथ्यो के विचार से दिक् भी त्याज्य है क्योंकि दिक का प्रत्यक्ष इन्द्रियो के द्वारा नहीं हो सकता अथवा अननुभूत तथ्यो के न होने के कारण उसका अनुमान भी नहीं हो सकता। काल और दिक दोनो का कारण अपेक्षा बुद्धि है और उस अपेक्षा बुद्धि के कारण शारीरिक स्पदन के हमारे अनुभव के ससग से मन दिक् की धारणा का निर्माण करता है। अत दिक को पृथक् पदाथ मानना आवश्यक है।

---

[1] तरणिपरिस्पन्दविशेषाणा युवास्थविरशरीरादिपिण्डेषु मासादिविचित्रबुद्धिजनन द्वारेण तदुपहितेषु परत्वापरत्वादिबुद्धिजनकत्व न च तैरसम्बद्धाना तत्र बुद्धिजनकत्व न चसाक्षात् सम्बन्धाधारविपरिस्पन्दन पिण्डैरस्ति अत तत्सम्बन्धकतया कश्चिदष्ट द्रव्यविलक्षणो द्रव्यविशेष सस्कतव्य, तस्य च काल इति मना। (काल के प्रति यह वल्लभ का दृष्टिकोण है)। चित्सुखी पर प्रत्यकस्वरूप भागवत कृत 'नयन प्रसादिनी टीका निर्णयसागर प्रेस बम्बई १६१५।

वर्णापिया में अणु सिद्धान्त का खंडन करने के लिए चित्सुख कहते हैं कि–वर्णापिक अणुओं को स्वीकार करने का कोई आधार नहीं। यदि इन अणुओं का इस आधार पर स्वीकार किया जाय कि समस्त वस्तुओं का सूक्ष्म एवं सूक्ष्मतर भागों में विभक्त होने योग्य माना जाय तो वही बात स्वयं अणुओं पर भी प्रयुक्त होगी। यदि यह कहा जाय कि कहीं तो रुकना ही पड़ेगा अतः अणु अंतिम अवस्था समझी जानी चाहिए और ये समान आकार के एवं अविभाज्य हैं तो खिड़कियों में दिखने वाले धूलिकण या (जिन्हें त्रसरेणु कहा जाता है) भी सूर्य के प्रकाश के समय वैसी ही अंतिम विभाज्य अवस्था मानना होगा। यदि यह आपत्ति उठाई जाय कि दृश्य होने के कारण वे सावयव हैं और इस हेतु से उनको अविभाज्य नहीं माना जा सकता, तो यह कहा जा सकता है कि योगियों द्वारा अणु के दर्शन की संभावना को न्याय लेखकों द्वारा स्वीकार करने के कारण त्रसरेणुओं की दृश्यमानता का उनको अविभाज्य न मानने का कारण क्यों नहीं माना जा सकता। पुनः अणुओं का बड़े कणों के निर्माण में और उनकी वृहद् रूप प्रदान करने में उनका संयुक्त होना आवश्यक नहीं क्योंकि वस्त्र में सूत्र के सदृश अनेक अणु के संयोग बिना ही भौतिक प्रतीति को संभव कर सकते हैं। चित्सुख भाग अथवा एवं अंशी के प्रत्यय के शंकर द्वारा किए गए खंडन की इन शब्दों में पुनरुक्ति करते हैं कि यदि अंशी अंश से भिन्न है तो या तो वे अंश ही होने चाहिए या उनका अस्तित्व नहीं होगा। यदि वे अंश नहीं हैं तो यह मानना कठिन होगा कि अंशी का निर्माण अंशों द्वारा हुआ है यदि वे अंश ही है तो उनका आंशिक अथवा पूर्ण रूप से उनमें अस्तित्व होना चाहिए। यदि उनका अंशों में पूर्णतः अस्तित्व है तो ऐसे अनेक अंशी होंगे अथवा प्रत्येक अंश में अंशी दृष्टिगोचर होगा और यदि वे अंशों में आंशिक रूपेण विद्यमान हैं तो अंश एवं अंशी की वही कठिनाई ज्यों की त्यों रहेगी।

पुनश्च प्रत्यय की भी व्याख्या नहीं की जा सकती। इसको दो परस्पर असंयुक्त वस्तुओं की प्राप्ति भी नहीं माना जा सकता (अप्राप्तयोः प्राप्तिः संयोग) क्योंकि जब तक कोई संयोग का अर्थ ही न समझे तब तक वह असंयोग का अर्थ नहीं समझ सकता। यदि इसकी परिभाषा दो परस्पर असंबंधित वस्तुओं की प्राप्ति की जाय तो संयोग में समवाय सम्बन्ध भी सम्मिलित हो जाएगा जैसा कि सूत्र तथा वस्त्र में होता है। यदि उसको कार्य जनित अनित्य सम्बन्ध माना जाए (अनित्य सम्बन्ध जन्मत्व विशेषितो वा) तो अनादि संयोग इनमें सम्मिलित नहीं हो सकेंगे और क्रीत वस्तुओं के स्वामित्व को भी संयोग में सम्मिलित करना पड़ेगा क्योंकि स्वामित्व का सम्बन्ध भी काल जनित है। स्वामित्व के सम्बन्ध होने के विषय में आपत्ति नहीं उठाई जा सकती क्योंकि संबंध के लिए यह आवश्यक है कि वह दो वस्तुओं के बीच हो। यदि आपत्ति उचित हो तो वस्तु एवं गुण के बीच का सम्बन्ध सम्बन्ध नहीं रहेगा क्योंकि वस्तु एवं गुण का अस्तित्व एक साथ ही होता है और कोई दो पृथक् वस्तुएँ परस्पर संबंधित नहीं हो सकतीं यदि आपत्तिकर्त्ता का अर्थ यह हो कि संबंध दो

पदों के मध्य हो तो स्वामित्व में भी दो पद है, एक अधिगत वस्तु और दूसरा अधिगन्ता। इसके उपरांत यदि संयोग की परिभाषा ऐसे संबंध के रूप में की जाय जो दो वस्तुओं का पूर्णरूपेण संयोग न करे (अव्याप्यवृत्तित्वविशेषतो) तो वह भी अनुचित ही होगा, क्योंकि संयोग संबंध अंशभूत निरवयव तत्वों का संयुक्त नहीं कर सकता क्योंकि उनके अंश होते ही नहीं। चित्सुख 'विभाग' के प्रत्यय का भी इसी प्रकार से खंडन करते हैं और दो तीन चार आदि संख्या के खंडन पर अग्रसर होते हैं।

चित्सुख का कथन है कि दो तीन इत्यादि का पृथक् संख्याएँ मानना आवश्यक नहीं क्योंकि हमें केवल एक वस्तु का ही प्रत्यक्ष होता है और पुनः अपेक्षा बुद्धि से हम उनका सम्बद्ध करते हैं और दो तीन इत्यादि का रूप देते हैं। इन संख्याओं की कोई पृथक् एवं स्वतन्त्र सत्ता नहीं है अपितु वे एकाकी विषयों की अपेक्षा बुद्धि द्वारा काल्पनिक सृष्टि मात्र ही हैं। अतएव यह मानना आवश्यक नहीं कि दो, तीन इत्यादि संख्याओं की सृष्टि यथार्थ है। हम अपने मानसिक प्रसंग के शक्ति के बल पर ही दो तीन इत्यादि भावों का वर्णन करते हैं।[1]

तत्पश्चात् चित्सुख जाति का इस आधार पर खंडन करते हैं कि इसका प्रत्यक्ष अथवा अनुमान द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। प्रश्न यह है कि जाति का वास्तविक अर्थ क्या है? यदि यह कहा जाय कि एक पशु विशेष के प्रत्यक्ष से हम गौ के भाव का ग्रहण हो और दूसरे ऐसे ही पशु विशेषों के प्रत्ययों में भी गौ के भाव का ग्रहण हो तो वह जाति होती है तो उत्तर में यह कहा जा सकता है कि इसका यह अर्थ लगाना आवश्यक नहीं कि गौ की पृथक जाति को स्वीकार कर लिया गया है क्योंकि जिस प्रकार एक प्राणी कुछ विशेषताओं के कारण गौ संज्ञा धारण करने के योग्य हो जाता है, ठीक उसी प्रकार अन्य प्राणियों में भी ऐसी विशेषताएँ हैं जिनसे वे भी गौ संज्ञा के योग्य हो जाते हैं। हम भिन्न भिन्न स्थानों में चन्द्र बिम्ब देखते हैं और उसको चन्द्र ही कहते हैं। 'गौ' का भाव किन तत्वों से बना हुआ है? गौओं का एक ही विश्व व्यापी लक्षण निर्धारित करना कठिन है, यदि एक ऐसा लक्षण मिल जाय तो गौ की जाति का स्वीकार करने की आवश्यकता ही नहीं होगी, क्योंकि उस स्थिति में वह एक ही लक्षण होगा और प्रत्येक स्थान पर वह गौ के रूप में ही जाना जाएगा और एक पृथक जाति को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं होगी। पुनश्च, जाति से पृथक् इस लक्षण का अथवा लक्षण से पृथक जाति का प्राप्त करना कठिन होगा एवं उनकी अन्यान्याश्रयता इनमें से एक

---

[1] आरोपित द्वित्वत्रित्वादिविशेषितैकत्वसमुच्चयालम्बना बुद्धिर्द्वित्वादिजनिकेति चेत् न तथाभूतया बुद्धेर्द्वित्वादिव्यवहारजनकत्वोपपत्तौ द्वित्वाद्युत्पादकत्वकल्पनावैयर्थ्यात्

—नयन प्रसादिनी—पृ० ३००।

की भी परिभाषा असम्भव बना देगी। जाति को स्वीकार कर भी लिया जाय तो यह प्रदर्शित करना ही पड़ेगा कि प्रत्येक अवस्था में उसका तत्व क्या है, और यदि प्रत्येक अवस्था मे ऐसा तत्व ढूंढ निकालना आवश्यक ही हो तो गौ का गौ के रूप मे एवं अश्व का अश्व के रूप में ज्ञान प्राप्त करने के लिए ये तत्व ही पर्याप्त प्रमाण होगे। तब फिर जाति को स्वीकार करने से क्या लाभ? पुन यदि इस जाति को स्वीकार भी कर लिया जाय तो यह ज्ञात करना कठिन है कि प्राणियो के साथ इसके सम्बन्ध को कैसे ग्रहण किया जाए। यह संसर्ग, तादात्म्य, समवाय अथवा कहीं पर भी विद्यमान अन्य किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नही हो सकता। यदि समस्त जातियो का सर्वत्र अस्तित्व हो तो समस्त जातियो का एक साथ मिश्रण हो जायगा और समस्त वस्तुओ का सर्वत्र अस्तित्व होगा। पुन यदि यह माना जाए कि 'गौ' जाति की सत्ता विद्यमान गौ में ही है तो नवीन गौ के जन्म लेते समय इस जाति का उसमें कैसे समावेश हो जाता है और न जाति के कोई ऐसे अवयव हैं जिससे उसकी सत्ता आंशिकरूपेण यहाँ हो और आंशिक रूप मे वहां। यदि प्रत्येक पृथक गौ मे इस प्रकार की जाति पूर्णत विद्यमान हो तो अनेको जातियाँ हो जायेंगी और यदि इस प्रकार की जाति का विस्तार समस्त पृथक-पृथक गौओ तक कर दिया जाए तो समस्त गौओ को एकत्र किए बिना 'जाति' का भाव उपलब्ध नही हो सकेगा।

'कारण' के खंडन का वर्णन करते हुए चित्सुख का कथन है कि उसकी परिभाषा केवल पूर्वकालभावित्व नही की जा सकती क्योंकि ऐसी स्थिति में तो धोबी के घर में सदा पाए जाने वाले धोबी के वस्त्रो को अपनी पीठ पर उठाने वाले गधे को धोबी के घर मे प्रज्ज्वलित धूम्रयुक्त अग्नि की कालपूर्वी वस्तु मानना पड़ेगा और इस प्रकार उसको अग्नि का कारण मानना होगा। यदि इस पूर्वकालभावित्व का यह गुण भी बताया जाए कि वह कार्य की विद्यमानता मे विद्यमान रहता है और उसके अभाव में अविद्यमान रहता है तो भी धोबी के घर की अग्नि के प्रसंग मे धोबी का गधा इस प्रकार के पूर्वकालभावित्व की अवस्थाओं का प्रतिपादक माना जा सकता है। (जब धोबी गधा लेकर घर से बाहर होता है तो उसके घर में अग्नि का अभाव होता है और उसके गधे को लेकर घर में लौटते ही अग्नि पुन प्रज्ज्वलित हो जाती है)। यदि पूर्वकालभावित्व में एक और विशेषण अन्यथा सिद्ध जोड दिया जाए तो भी गधा और दिक् आकाश इत्यादि अन्य सामान्य तत्व अग्नि के कारण माने जा सकते है। यदि यह तर्क दिया जाय कि गधे की विद्यमानता केवल अन्य उपाधियो की विद्यमानता के कारण ही है तो यही बात बीज भूमि जल इत्यादि के विषय में भी कही जा सकती है जो अंकुरो की उत्पत्ति के कारण माने जाते हैं। यदि आकाश के धुए का कारण होने की सम्भावना मे इस आधार पर आपत्ति उठाई जाय कि वह सामान्य, व्यापी एवम् नित्य तत्व है तो उसी तर्क से

आत्मा को (जो एक सर्वव्यापी तत्व है) सुख दुःख का कारण मानने वाले न्याय दृष्टिकोण के विरुद्ध आपत्ति के रूप में ग्रहण करना पड़ेगा। कारण की परिभाषा यह नहीं हो सकती कि उसके होने से कार्य होता है क्योंकि बीज अंकुर का कारण नहीं हो सकता क्योंकि पृथ्वी जल, आकाश प्रकाश, आदि सहायक तत्वों के बिना अंकुर स्वयमेव उत्पन्न ही नहीं हो सकते। पुनः कारण की परिभाषा यह भी नहीं हो सकती कि जिसके सहायक तत्वों अथवा सहकारी तत्वों के मध्य विद्यमान होने पर कार्य होता है क्योंकि गधे जैसी एक अप्रासंगिक वस्तु भी अनेक सहयोगी परिस्थितियों में विद्यमान हो सकती है, परन्तु इससे किसी अप्रासंगिक वस्तु को कारण बताना किसी के लिए उचित नहीं होगा। इसके अतिरिक्त यह परिभाषा उन अवस्थाओं में प्रयुक्त नहीं होगी जिनमें कई सहयोगी तत्वों के संयुक्त व्यापार से कार्य उत्पन्न होता है। इससे भी अधिक जब तक कारण की परिभाषा ठीक प्रकार से न की जाए, तब तक सहयोगी तत्वों की परिभाषा किसी प्रकार से नहीं हो सकती और न कारण की यह परिभाषा ही हो सकती कि उसके विद्यमान होने पर कार्य होता है और उसके अभाव में कार्य नहीं होता है (सतिभावोऽसत्यभावएव) क्योंकि ऐसा सिद्धान्त कारणों की बहुलता के द्वारा अप्रमाणित हो जाता है (अग्नि लकड़ी के दो टुकड़ों के रगड़ने से, केवल कांच ताल से अथवा चकमक के जोर से टक्कर देने से उत्पन्न होती है)। यह कहा जा सकता है कि भिन्न भिन्न निमित्तों द्वारा उत्पन्न प्रत्येक प्रकार की अग्नि में अन्तर है। इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि यदि ऐसा कोई अन्तर हो भी तो भी वह निरीक्षण द्वारा अगम्य है और इस प्रकार के भेदों के गोचर होने पर भी ऐसे भेदों से यह अर्थ होना आवश्यक नहीं कि भिन्न भिन्न कारणों से भिन्न भिन्न कार्य भिन्न भिन्न श्रेणी के हैं क्योंकि भेद कई पश्चात् की घटनाओं से भी हो सकते हैं। पुनः, कारण को वस्तुओं का एक स्थान पर एकत्र होना भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि ऐसा सह अस्तित्व निरर्थक सत्ता का भी हो सकता है। 'कारण' को भिन्न भिन्न कारणों का एकत्र होना भी नहीं कह सकते क्योंकि 'कारण' का क्या अर्थ है इसकी परिभाषा करना ही अभी तक हमारे लिए सम्भव नहीं हुआ है। अतः 'कारणों का एकत्र होना' यह वाक्यांश निरर्थक होगा। इसके अतिरिक्त यह पूछा जा सकता है कि सामग्री कारणों से भिन्न है अथवा उनसे अभिन्न। यदि भिन्नता मानी जाए तो प्रत्येक कारण से भी कार्य उत्पन्न होगा और उस सामग्री से कार्य की उत्पत्ति की कल्पना करना अनावश्यक होगा। यदि सामग्री से कारण अभिन्न माना जाय तो प्रत्येक कारण सामग्री के कारण होने से और प्रत्येक में उसकी विद्यमानता होने से सामग्री भी सदाविद्यमान रहती है तथा इसी हेतु कार्य भी सदा रहते हैं, और यह बात बिल्कुल मूर्खतता पूर्ण है। पुनः यह प्रश्न उठता है कि सामग्री का अर्थ क्या है? उसका अर्थ एक ही काल अथवा देश में घटना नहीं हो सकता क्योंकि देश सदा एक से ही न होने के कारण देश अथवा काल स्वयं भी बिना कारण के ही होगा। पुनः यह भी नहीं

न होने के कारण वस्तुओं का अभाव हो जाएगा क्योंकि न्याय की यह मान्यता है कि अणु आत्माएँ इत्यादि नित्य वस्तुएँ हैं जिनका कोई कारण नही है।

कारण की परिभाषा न हो सकने के कारण कार्य की भी परिभाषा संतोषजनक रूप से नही हो सकती क्योंकि कार्य की व्याख्या सदा कारण के भाव पर निर्भर करती है। द्रव्य के भाव के खंडन में चित्सुख का कथन है कि द्रव्य की परिभाषा केवल यह है कि उसमे गुण समवायी रूप से रहते हैं। परन्तु क्योंकि गुणो मे भी गुण देखे जाते हैं और नैयायिकों का विश्वास है कि उत्पत्ति के क्षण मे द्रव्य निर्गुण होता है, इसलिए ऐसी परिभाषा द्रव्य की विशेषता नहीं बताई जा सकती अथवा परिभाषा नहीं की जा सकती। यदि द्रव्य की परिभाषा गोल मटोल ढंग से इस प्रकार की जाए कि उसमे गुणो का अत्यन्ताभाव विद्यमान नही होता (गुणवत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणता) तो भी इसमे यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि ऐसी परिभाषा भी हमे अभाव को भी गुण मानने के लिए बाध्य करेगी क्योंकि स्वयं गुणो का अभाव एक प्रकार अभाव होने के कारण अभाव में स्थित नहीं रह सकता।[1] पुनः यह प्रश्न भी उठ सकता है कि गुणो के अभाव की अनुपस्थिति कई गुणो के अथवा सारे गुणो के प्रसंग मे कही गई है? प्रत्येक अवस्था में यह असत्य है। क्योंकि प्रथम अवस्था मे ऐसे द्रव्य को द्रव्य नहीं कहा जा सकता जो कुछ गुणो का आश्रय हो और अन्यों का न हो और दूसरी अवस्था मे किसी ऐसी वस्तु का ज्ञान करना कठिन होगा जिसे द्रव्य नहीं कहा जा सके क्योंकि ऐसा द्रव्य कौन सा है जिसमे सारे गुणो का अभाव हो। यह तथ्य फिर भी रह जाता है कि ऐसी गोल मटोल परिभाषा द्रव्य और गुण का भेद नहीं कर सकती क्योंकि गुणो मे भी संख्या का एवम् पृथकत्व का गुण होता ही है।[2]

यदि यह तर्क दिया जाए कि गुणो मे और गुणो की विद्यमानता मान ली जाए तो अनवस्था दोष की प्राप्ति होगी तो इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि इस पर अनवस्था दोष का आक्षेप नहीं किया जा सकता क्योंकि यह नही कहा जा सकता कि संख्या एवम् पृथक्ता के अन्य और कोई गुण होते हैं। पुनः द्रव्यों मे ऐसी कोई सामान्य वस्तु नही जिसके कारण उनको द्रव्य की जाति के अन्तर्गत माना जा सके।[3] सोना, मिट्टी एवम् वृक्ष सारे द्रव्य माने जाते हैं परन्तु उनमे कोई वस्तु सामान्य नहीं है जिसके कारण सोना और मिट्टी अथवा वृक्ष एक ही माना जा सके। अतः यह स्वीकार नही किया जा सकता कि द्रव्यों मे कोई एक

---

[1] तत्रवात्यन्ताभावेऽतिव्याप्ते सो पि गुणवत्त्वात्यन्ताभावस्तस्याधिकरणं स्वस्य स्वस्मिन्नवृत्ते — चित्सुखी–पृ० १७६।

[2] अस्मिन्नपि चक्रलक्षणे गुणाश्रिपु अपि संख्यापृथक्त्वगुणयो प्रतीते कथं नातिव्याप्ति — चित्सुखी–पृ० १७७।

[3] जातिमभ्युपगच्छता तज्जाति व्यंजकं किंचिदवश्यमभ्युपेयं न च तन्निरूपणं सुशकम् वही–पृ० १७८।

ऐसा धर्म पाया जाता है जो उन सब में एकसा रह सके।[1] गुणों का उल्लेख करते हुए चित्सुख प्रशस्तपाद कृत 'वैशेषिक भाष्य' में दी गई गुण की परिभाषा का विवेचन करते हैं। उसमें प्रशस्तपाद गुण की यह परिभाषा करते हैं कि गुण द्रव्याश्रयी द्रव्य जाति से सम्बद्ध निर्गुण और निष्क्रिय होता है।[2] परन्तु गुण की परिभाषा में निर्गुण पद का समावेश नहीं हो सकता क्योंकि गुण की परिभाषा तो अपेक्षित ही रह जाती है। पुन यदि गुण की उचित परिभाषा न की जाए तो क्रिया से उसका भेद नहीं जाना जा सकता। अत 'निष्क्रिय' पद निरर्थक हो जाता है। पुन 'गुण' जाति का निर्धारण करने के लिए यह आवश्यक है कि गुणों के सामान्य धर्म ज्ञात हों एव जाति का स्वरूप भी निर्धारित हो। अत किसी भी दृष्टिकोण से इस प्रश्न को देखा जाए तो भी गुणों की परिभाषा करना असम्भव है।

चित्सुख द्वारा प्रस्तुत ऐसे खडनों के और अधिक उदाहरण देना अनावश्यक है। उपर्युक्त विवेचन से यह प्रगट होगा कि चित्सुख पदार्थ विशेष से सम्बन्धित अधिकांश प्रत्ययों के विस्तार में जाकर उनकी स्वाभाविक असभवता को प्रदर्शित करने का प्रयत्न करते हैं। तथापि यही नहीं वह अपने कार्य में पूर्णत सफल नहीं हो सके और नैयायिकों द्वारा दी हुई परिभाषाओं की आलोचना मात्र से ही सतुष्ट हो गए। परन्तु इस स्थल पर यह बता देना उचित होगा कि यद्यपि श्री हर्ष एवम् चित्सुख ने न्याय द्वारा प्रस्तुत भिन्न भिन्न पदार्थों की परिभाषाओं की असभवता प्रदर्शित करने के लिए उन पदार्थों के एक आलोचक की विस्तृत योजना को क्रियान्वित किया है तो भी उनमें से कोई भी वेदान्त में नई तार्किक रीति का नवीन प्रणेता नहीं माना जा सकता। स्वय शकर ने अपने वेदान्त सूत्र २२ में न्याय एव अन्य दर्शनों के अपने खडन में इसका प्रचलन कर दिया था।

नागार्जुन का तर्क एव वेदान्त-तर्क विवेचन

श्री हर्ष का तर्क विवेचन न्याय वैशेषिक के यथार्थवादी परिभाषाओं का विरोधी था जिनके अनुसार समस्त ज्ञेय परिभाष्य हैं। इसका लक्ष्य यह था कि समस्त वस्तुओं का अस्तित्व एव स्वरूप मायामय होने के कारण उन सब के स्वरूप को

---

[1] द्रव्य द्रव्यमिति अनुगतप्रत्यय प्रमाण इति चेन्न सुवर्णमुपलभ्य मृत्तिकानुपलभ्य मानस्य लौकिकस्य तदेवेद द्रव्यमिति प्रत्ययाभावात्परीक्षकाणां चानुगतप्रत्यय विप्रतिपत्ते — चित्सुखी–पृ० १७६।

[2] रूपादीना गुणाना सर्वेषा गुणत्वाभिसबधो द्रव्याश्रितत्व निर्गुणत्व निष्क्रियत्व, प्रशस्तपाद भाष्य–पृ० ९४—विजयनगरम् सस्कृत सीरीज, बनारस, १८९५।

अपरिमाप्य सिद्ध करने के लिए उन परिमापाओं का खंडन किया जाए। ब्रह्म ही केवल सत्य है। समस्त परिमापाओं में छिद्रान्वेषण सरल है इसकी शिक्षा नागार्जुन ने बहुत पहले ही दे दी थी, और उस ग्रंथ में (न्याय परिभाषाओं में शुद्ध शान्तिय प्रकार के दोषों को खोजने की प्रवृत्ति को छोड़कर) श्री हर्ष की पद्धति नागार्जुन पद्धति का चालू रखना और न्याय वैशेषिक की वास्तविक परिमापाओं पर उसका प्रयोग करना था। परन्तु नागार्जुन की पद्धति के मुख्यतम अंग की श्री हर्ष और उसके अन्य अनुयायियों ने जानबूझ कर उपेक्षा कर दी। इन्होंने नागार्जुन के निष्कर्षों के खंडन का प्रयत्न नहीं किया। नागार्जुन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय यह है कि सब वस्तुएँ सापेक्ष होने के कारण स्वयं में अपरिमाप्य हैं, अतः उनके तत्व किसी प्रकार भी नहीं ढूँढे जा सकते हैं तथा उनके तत्व न केवल अपरिभाष्य एवं अनिर्वचनीय अपितु अगम्य भी होने के कारण ऐसा नहीं कहा जा सकता कि उनका स्वयं का कोई तत्व है। नागार्जुन के अनुयायी आर्यदेव थे। उनका जन्म श्री लंका में हुआ था तथा उन्होंने उसी विषय पर ४०० श्लोकों का एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा था। इसके लगभग दो शताब्दियों के पश्चात् तक नागार्जुन का सिद्धान्त उपेक्षित सा रहा जैसाकि इस तथ्य से स्पष्ट होता है कि चतुर्थ शताब्दी ई० पू० के बुद्धघोष उनका उल्लेख नहीं करते। पंचम शती ई० पू० में गुप्त साम्राज्य काल में असंग और वसुबन्धु हुए। षष्ठ शताब्दी ई० पू० में सूरत जिला तगत वलभी के निवासी बुद्धपालित एवं उड़ीसा निवासी अन्य अथवा भावविवेक के द्वारा सापेक्षवादी दर्शन पुनः पल्लवित हुआ। नागार्जुन के तर्कों की मध्य के अपने विशिष्ट तर्कों द्वारा पूर्ति होने के कारण, उनकी शाखा को 'माध्यमिक सौत्रान्तिक' कहा जाता है। इस समय उत्तर में महायान के विज्ञानवाद का योगाचार शाखा का विकास हो रहा था तथा इस शाखा का लक्ष्य यह प्रदर्शित करना था कि विज्ञान के यथार्थ ज्ञान के लिए समस्त तर्कशास्त्रीय तर्क निष्फल हैं। समस्त युक्तियुक्त तर्क अपनी असंगति मात्र प्रदर्शित करते हैं।[1] यह अधिक सम्भव प्रतीत होता है कि श्री हर्ष को योगाचार लेखकों से और नागार्जुन से मध्य तक के उनके सापेक्षतावादी अन्य साथियों से तथा नागार्जुन कृत माध्यमिककारिका के सर्वोत्कृष्ट टीकाकार चन्द्रकीर्ति से प्रेरणा मिली हो। बुद्धपालित ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि 'विज्ञान' का ग्रहण एवं उसकी सिद्धि युक्तिपूर्ण तर्कों द्वारा नहीं हो सकती क्योंकि समस्त तार्किक विवेचन निष्फल एवं असंगत होते हैं जबकि भावविवेक ने 'विज्ञान' का युक्तियुक्त तर्कों द्वारा प्रतिपादित करने का यत्न किया। चन्द्रकीर्ति ने अंततः 'भावविवेक की व्यवस्था के विरुद्ध बुद्धपालित की व्यवस्था

---

[1] सोवियत संघ की विज्ञान अकादमी लेनिनग्राद, द्वारा १९२७ में प्रकाशित कन्सेप्शन आव बुद्धिस्ट निर्वाण — पृ० ६६ ६७।

का समर्थन किया और समस्त युक्तियुक्त तर्कों की निष्प्रयोजनता का सिद्ध करने का प्रयत्न किया। विज्ञान की सिद्धि के लिए अन्ततः चन्द्रकीर्ति की माध्यमिक की व्यवस्था का ही तिब्बत एवं मंगोलिया में प्रयोग किया गया।

सत् के विभिन्न पदार्थों के खंडन में नागार्जुन सृष्टि की परीक्षा से प्रारम्भ करते हैं। बौद्धेतर दर्शन कारण प्रक्रिया को किसी नित्य चित् उपादान के आन्तरिक विकास द्वारा अथवा अनेक तत्वों की सामग्री द्वारा अथवा किसी अविकारी एवं नित्य वस्तु पर म्रियमाण कुछ तत्वों द्वारा उत्पत्ति मानते हैं। परन्तु नागार्जुन न केवल इस तथ्य को अस्वीकार ही करते हैं कि किसी वस्तु का कभी प्रादुर्भाव होता है अपितु यह भी कि उसका कभी उपयुक्त किसी एक प्रकार से भी प्रादुर्भाव होता है। बुद्धपालित का मत है कि वस्तुएं स्वयमेव ही उत्पन्न नहीं हो सकतीं, क्योंकि यदि वे पूर्व ही विद्यमान हों तो उनके उत्पन्न होने का कोई अर्थ ही नहीं रहता है, यदि विद्यमान वस्तुओं को पुनः उत्पन्न होने में समर्थ माना जाय तो वस्तुएं अनन्त उत्पन्न होती ही रहेंगी। बुद्धपालित की आलोचना में भाव विवेक का कथन है कि बुद्धपालित द्वारा प्रस्तुत खंडन का हेतु और उदाहरणों द्वारा पुष्टि की अपेक्षा है और उसके खंडन का आशय यह अवांछनीय सिद्धान्त होगा कि यदि वस्तुएं स्वयमेव उत्पन्न नहीं होती हैं तो वे अन्य कारणों से उत्पन्न होनी चाहिएं। परन्तु चन्द्रकीर्ति भावविवेक की आलोचना पर आपत्ति उठाते हुए कहते हैं कि कार्य एवं कारण का तादात्म्य स्थापित करने का भार उस दृष्टिकोण को ग्रहण करने वाले उनके विपक्षियों, सांख्य मतावलम्बियों पर है। जो पूर्व से ही विद्यमान है उसके उत्पन्न होने का कोई अर्थ ही नहीं, और यदि पूर्व से विद्यमान वस्तु का पुनः उत्पन्न होना पड़े और तत्पश्चात् पुनः पुनः उत्पन्न होना पड़े तो अनवस्था प्रसंग की प्राप्ति होगी। सांख्य सत्कार्यवाद दृष्टिकोण के खंडन में नवीन तर्क देना अनावश्यक है, सांख्य दृष्टिकोण की असंगति प्रदर्शित कर देना ही पर्याप्त है। आर्यदेव का कथन है कि माध्यमिक दृष्टिकोण के पास अपना कोई प्रतिपाद्य विषय नहीं है जिसका वह स्थापित करना चाहता है, इसका कारण यह है कि वह किसी वस्तु के सत् अथवा असत् अथवा सत् एवं असत् के योग को नहीं मानता।[1] ठीक इसी दृष्टिकोण का श्री हर्ष ने ग्रहण किया। श्री हर्ष का कथन है कि वेदान्तियों का जड़ जगत् की वस्तुओं एवं उनमें निहित विभिन्न पदार्थों के विषय में अपना कोई दृष्टिकोण नहीं है। अतः किसी प्रकार से भी वेदान्त दृष्टिकोण पर आक्षेप नहीं लगाए जा सकते। तथापि अन्य दृष्टिकोणों के छिद्रान्वेषण में वेदान्त स्वतन्त्र है और ऐसा हो जाने पर तथा अन्य मतों की असंगतियों के प्रदर्शित किये जाने पर वेदान्त का कार्य समाप्त हो जाता है क्योंकि

---

[1] सदसच्चेति यस्य पक्षो न विद्यते।
उपालम्भश्चिरेणापि तस्य वक्तुं न शक्यते॥ माध्यमिक वृत्ति पृ० १६।

वेदान्त को स्वयं अपने दृष्टिकोण को स्थापित करने की आवश्यकता नहीं है। जब मुझे अपना कुछ प्रमाणित करना हो तो मुझ से किसी त्रुटि का होना सम्भव है, परन्तु मुझे कुछ भी प्रमाणित नहीं करना है। मुझ पर असंगति का दोष नहीं लगाया जा सकता। यदि मुझे वस्तुतः किसी पृथक् वस्तु का ज्ञान होता तो उस प्रत्यक्ष अथवा अनुमित वस्तु के आधार पर अपनी स्वीकृति अथवा अस्वीकृति दे सकता। परन्तु मेरे लिए इस पृथक वस्तु की कोई सत्ता ही नहीं है अतः मुझ पर इस आधार पर कोई दोष नहीं लग सकता।[1]

अतः चन्द्रकीर्ति यह बल पूर्वक कहते हैं कि माध्यमिकों का अपना स्वयं के किसी दृष्टिकोण की पुष्टि नहीं करनी है अतः उनके लिए किसी मत की आलोचना करते समय किसी नवीन तर्क अथवा दृष्टान्त को प्रस्तुत करना सम्भव नहीं। वे अपनी स्वयं की मान्यताएं भी प्रमाणित नहीं कर सकते और यदि उनकी मान्यताओं में कोई प्रतिपाद्य विषय हो तो उनका स्वयं का उससे भी विग्रह हो जाएगा। अतः माध्यमिक आलोचना पद्धति समस्त प्रतिपाद्य विषयों का छिद्रान्वेषण करती है, चाहे वे विषय जो कुछ भी हों तथा उसका लक्ष्य प्रतिपक्षी के प्रत्यारोपों का उसके प्रतिपाद्य विषयों एवं विधियों में यथासम्भव पाई जाने वाली असंगतियों के आधार पर प्रत्युत्तर देना है न कि किसी नवीन तर्क अथवा किसी नवीन अन्यथा प्रतिपाद्य विषय को प्रस्तुत करना क्योंकि माध्यमिकों का अपना प्रतिपाद्य विषय तो कोई है ही नहीं। किसी तर्क में कोई किसी के द्वारा स्वीकृत सिद्धान्तों को केवल समझ सकता है, कोई भी केवल अपने प्रतिपक्षी द्वारा स्वीकृत सिद्धान्तों के आधार पर प्रस्तुत किए तर्कों द्वारा पराजित नहीं किया जा सकता।

वस्तुओं की विजातीय घटकों अथवा कारणों के किसी समूह से उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि यदि ऐसा होता तो ऐसी उत्पत्ति का कोई नियम नहीं होता और कोई भी वस्तु किसी अन्य वस्तु से उत्पन्न हो जाती यथा प्रकाश से अन्धकार।[2] और यदि कोई वस्तु स्वयं से अथवा किसी अन्य वस्तु से उत्पन्न नहीं हो सकती, तो वह उन दोनों के संयोग से भी उत्पन्न नहीं हो सकती। पुनः जगत् बिना किसी हेतु के (अहेतुतः) अस्तित्व में नहीं आ सकता था।

---

[1] विग्रहव्यावर्तिनी में नागार्जुन इस प्रकार लिखते हैं
अन्यत्प्रतीत्य यदि नाम परोऽभविष्यत्, जायेत तर्हि बहुलः शिखिनोऽन्धकारः।
सर्वस्य जन्म च भवेत्खलु सर्वतश्च तुल्यम् परत्वमखिलेऽजनकेऽपि यस्मात्॥
—माध्यमिक वृत्ति पृ० ३६।

[2] माध्यमिक वृत्ति पृ० ३६। श्चेर्बात्स्की कृत 'कन्सेप्शन आव बुद्धिस्ट निर्वाण'। लेखक अनुवाद के अन्तिम दो पदच्छेदों की सामग्री के लिए उनका ऋणी है।

बौद्ध तार्किक इस मत का खंडन यह प्रदर्शित करके करते हैं कि मत चाहे जो भी हो, वह उचित प्रमाण द्वारा प्रतिपादित होना चाहिए। अतः समस्त सत्तावान् वस्तुओं के अनुत्पन्न होने के प्रतिपाद्य विषय को प्रमाणित करने के लिए माध्यमिकों को कुछ प्रमाण देना आवश्यक है और इसके लिए ऐसे प्रमाणों के स्वरूप निरूपण की और उनके द्वारा स्वीकृत सत्य प्रमाणों की संख्या के निर्धारण की आवश्यकता होगी। परन्तु यह सिद्धान्त कि 'समस्त भाव असिद्ध हैं' एक कथन मात्र है और उसकी पुष्टि के लिए कोई प्रमाण न हो तो इसके विपरीत कथन भी यथेष्ट संख्या में दिए जा सकते हैं और उनके लिए किसी प्रमाण को प्रदर्शित करने की आवश्यकता नहीं होगी, अतः यदि एक के लिए प्रमाणों की आवश्यकता नहीं है तो अन्य के लिए भी उनकी अपेक्षा नहीं की जा सकती। अतः उतनी ही सत्यता के साथ यह भी कहा जा सकता है कि समस्त विद्यमान वस्तुएँ सत्य हैं और कारणों से उत्पन्न होती हैं। इस आपत्ति का चन्द्रकीर्ति द्वारा प्रस्तुत माध्यमिक प्रत्युत्तर यह है कि माध्यमिकों का अपना प्रतिपाद्य विषय कोई नहीं है, अतः प्रतिपाद्य विषय के सत्य प्रमाणों द्वारा पुष्ट अथवा अन्यथा होने का प्रश्न उतना ही निरर्थक है, जितना कि अश्वतर के शृंगों की मधुरता अथवा तीक्ष्णता का प्रश्न। किसी प्रतिपाद्य विषय के न होने के कारण माध्यमिकों को सत्य प्रमाण के स्वरूप अथवा संख्या के विषय में कुछ भी नहीं कहना है। परन्तु यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि माध्यमिकों का कोई अपना प्रतिपाद्य विषय नहीं है तो उनकी यह प्रतिज्ञा क्या मान्य होनी चाहिए कि 'सर्वभाव अनुत्पन्न हैं' (सर्वभावा-अनुत्पन्ना)? इसका प्रत्युत्तर माध्यमिक यह देते हैं कि ऐसी प्रतिज्ञाएँ केवल जन साधारण का ही निश्चित मत प्रतीत होती हैं बुद्धिमानों का नहीं। बुद्धिमानों के लिए समुचित स्थिति शान्त रहना ही है। जो लोग उनका ध्यान से सुनना चाहते हैं उन्हें ही वे लौकिक दृष्टिकोण से शिक्षा देते हैं। उनके तर्क न तो उनके अपने होते हैं और न ऐसे होते हैं जिनमें उनकी श्रद्धा हो, अपितु ऐसे होते हैं जो उनके श्रोताओं को रुचिकर हों।

यहाँ यह बताना असंगत नहीं होगा कि माध्यमिक लौकिक एवं यथार्थ अथवा पारलौकिक दृष्टिकोण को बिल्कुल पृथक रखना चाहते हैं। लौकिक दृष्टिकोण के अनुसार वस्तुओं को उनके प्रत्यक्ष होने के रूप में ही स्वीकार किया जाता है, और उनके संबंधों को भी यथार्थ ही माना जाता है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष के स्वरूप के विषय में दिङ्नाग के साथ चन्द्रकीर्ति के परिसंवाद का उल्लेख करना रोचक होगा। जहाँ दिङ्नाग का कथन है कि वस्तु स्वलक्षण है, वहाँ चन्द्रकीर्ति का मत है कि प्रत्यक्ष में सम्बन्धों के सत्य होने के कारण वस्तुएँ सापेक्ष भी होती हैं। इस प्रकार से द्रव्यों के साथ-साथ उनके गुणों की भी सत्ता है। दिङ्नाग की 'स्वलक्षण' वस्तु भी उतनी ही सापेक्ष प्रत्यय है जितना कि वे संबंध युक्त वस्तुएँ जिनका प्रत्यक्ष लौकिक रूप में साम्य है। ऐसी अवस्था में प्रत्यक्ष की केवल 'स्वलक्षण' वस्तु के रूप में परिभाषा करना

निरर्थक है। अतः चन्द्रकीर्ति के विचार में नैयायिकों के यथार्थवादी तर्कशास्त्र की आलोचना से कोई हित साधन नहीं होता क्योंकि सामान्य प्रत्यक्ष अथवा धारणाओं का प्रश्न है, न्याय तर्कशास्त्र उनका विवेचन करने एवं उनका विवरण देने में बिलकुल समर्थ हैं। एक दृश्यमाण सत्य एवं भ्रम है, जो सामान्य जन के लिए सत्य है और जिन पर हमारी समस्त भाषाएँ एवं अन्य प्रयोग आधारित हैं। प्रत्यक्ष की परिभाषा करते समय दिङ्नाग उसे एकमेव 'स्वलक्षण' वस्तु तक ही सीमित रखते हैं और उनके विचार में सारे गुण सपर्क एवं सम्बन्ध प्रत्यक्ष के लिए विजातीय होने के कारण कल्पना अथवा अनुमान में सम्मिलित किए जाने चाहिए। तथापि यह हमारे सामान्य अनुभव का बाधक है और उससे कोई उद्देश्य भी सिद्ध नहीं होता, क्योंकि दिङ्नाग द्वारा प्रस्तुत प्रत्यक्ष की परिभाषा अलौकिक दृष्टिकोण से नहीं दी गई है। यदि ऐसा ही है तो न्याय दर्शन की यथार्थवादी धारणाओं को ही क्यों न स्वीकार किया जाय, जो सामान्य जन के अनुभव से मेल खाती है? *यह हमें वेदान्तियों की स्थिति का* स्मरण करा देता है जो एक ओर तो जन सामान्य के अनुभव के दृष्टिकोण को स्वीकार करते हैं और सब वस्तुओं की एक यथार्थ वस्तुपरक सत्ता मानते हैं और दूसरी ओर परमार्थ के अलौकिक दृष्टिकोण से उनको मिथ्या एवं असत्य मानते हैं। इस बात पर वेदान्तियों की स्थिति माध्यमिकों की स्थिति से प्रत्यक्षतः प्रेरित हुई प्रतीत होती है। न्याय की यथार्थवादी परिभाषाओं के खण्डन में श्रीहर्ष के प्रयासों का आशय यह प्रदर्शित करना था कि न्याय की परिभाषाओं को परम एवं सत्य नहीं माना जा सकता जैसा कि नैयायिक सोचते हैं। परन्तु माध्यमिकों का अपना कोई दृष्टिकोण नहीं था जिसकी वे पुष्टि करते, अतः जहाँ वे अनुभव के क्षेत्र को पूर्णतः अविचल छोड़ सकते थे एवं न्याय की यथार्थवादी परिभाषाओं को जन सामान्य की अनुभूतियों की अपने इच्छित प्रकार से व्याख्या करने दे सकते थे वहाँ वेदान्त का अपना एक प्रतिपाद्य विषय है, अर्थात् स्वप्रकाश ब्रह्म एकमात्र सत्य है और इसी से अन्य सब वस्तुएं प्रकाशित होती हैं। अतः वेदान्त अनुभवों एवं उनकी परिभाषाओं की न्याय द्वारा प्रस्तुत व्याख्याओं से सहमत नहीं हो सकता था परन्तु क्योंकि वेदान्त नानाविध जगत्प्रपंच को यथार्थ में कोई आधार प्रदान करने में असमर्थ था, अतः इसने उस जगत् प्रपंच को किसी प्रकार से स्वतः विद्यमान माना एवं प्रत्यक्ष के एक ऐसे सिद्धान्त का आविष्कार किया जिसके अनुसार इसको ब्रह्म के सम्पर्क में आने के कारण प्रकाशित एवं मायामय रूप से उस पर आरोपित माना जा सके।

उत्पत्ति के स्वरूप का विवेचन जारी रखते हुए नागार्जुन एवं चन्द्रकीर्ति का मत है कि उत्पादक की सामग्री कार्य से भिन्न है और कार्य उत्पन्न नहीं कर सकती जैसाकि हीनयानी बौद्धों का भी मत है, क्योंकि उस कारणत्व में कार्य के प्रत्यक्ष न होने के कारण उसकी उत्पत्ति निष्प्रयोजन हो जाती है। किन्हीं विजातीय कारणों से किसी

वस्तु की उत्पत्ति का अर्थ है कि वह वस्तु उनसे सबद्ध है, और इस सम्बन्ध का यह अर्थ है कि उसका उनमे किसी न किसी प्रकार से भाव है। उत्पत्ति अथवा कारणत्व के प्रत्यय का विभिन्न प्रकारो से खण्डन करने के लिए नागार्जुन द्वारा प्रयुक्त मुख्य प्रकार यह है कि यदि किसी वस्तु का भाव है तो वह उत्पन्न नही हो सकती, और यदि उसका भाव नही है तो वह कदापि उत्पन्न हो ही नही सकती। जिस वस्तु का स्वय कोई भाव नही है वह किसी अन्य वस्तु द्वारा उत्पन्न नही हो सकती, तथा अपना कोई तत्व नहीं होने के कारण वह किसी अन्य वस्तु का कारण नही हो सकती।[1]

इसी प्रकार नागार्जुन आवागमन के प्रत्यय की परीक्षा करके कहते हैं कि गमन क्रिया पार किए देश मे उपलब्ध नही होती और न उसकी उपलब्धि पार न किए देश मे ही होती है तथा पार किए हुए अथवा न किए हुए देश से भिन्न गमन क्रिया सभव नहीं। यदि यह कहा जाय कि गमन न तो पार किए अथवा न पार किए गए देश मे निहित है, अपितु गमन का प्रयत्न करने वाले गमनशील व्यक्ति म निहित है तो यह भी सत्य नही हो सकता। क्योकि यदि गमन का गमनशील व्यक्ति से सबद्ध किया जाए तो उसको पारित देश से सबद्ध नही किया जा सकता। एक ही क्रिया दो से सबद्ध नही हो सकती और जब तक कुछ देश को पार नही किया जाय तब तक गन्ता नही हो सकता। यदि गमन गन्ता मात्र मे ही निहित हो तो गमन बिना भी कोई व्यक्ति गन्ता हो सकता है ऐसा होना असभव है। यदि गन्ता एव गत देश दोनो को गमन से सबद्ध किया जाय तो दो क्रियाओ की, न कि एक की अपेक्षा होगी उसका अर्थ होगा कि कर्ता भी दो हो। ऐसा कहा जा सकता है कि गमन क्रिया गन्ता से सबद्ध होने के कारण गमन गन्ता म निहित है, परन्तु यदि गन्ता के अभाव मे गमन एव गमन के अभाव मे गन्ता न हो तो गमन को गन्ता से सबद्ध ही कसे किया जा सकता। पुन गन्ता जाता है' (गन्ता गच्छति) वाक्य मे गमन की केवल एक ही क्रिया है, जो क्रिया पद गच्छति' से पूर्ण होती है, पृथक 'गमन' कौन सा है जिसके सबध मे कारण गन्ता को गन्ता कहा जा सके? तथा गमन की दो पृथक क्रियाओ के अभाव म गन्ता का भाव असभव है। पुन गमन की गति प्रारभ भी नहीं हो सकती क्योकि जब गमन की गति होती है उस समय आदि नही होता, और जब गमन की गति नही होती तो उस समय किसी प्रकार की आदि नही हो सकती। पुनश्च, यह नहीं कहा जा सकता कि 'गमन' की विपरीत अवस्था 'स्थिति' का भाव होने के कारण 'गमन' का भी भाव होना चाहिए, क्योकि 'स्थिति मे कौन है? यदि गन्ता और गमन दोनो को एक ही माना जाय तो, न तो कर्ता होगा और न क्रिया ही। अत गमन मे कोई यथार्थता नही है। यहाँ 'गमन' का अर्थ किसी प्रकार के निष्क्रमण अथवा हो जाने से

[1] माध्यमिक वृत्ति, पृ० ९० १६।

है, और 'गमन' के खण्डन का अर्थ समस्त प्रकार के निष्कर्षणों का भी खण्डन है। यदि बीज अकुर हो जाते हैं, तो वे बीज होंगे, न कि अकुर, अकुर न तो बीज हैं और न उनसे भिन्न ही हैं तथापि वहाँ बीजों के होने के कारण अकुर हैं। एक मटर दूसरे मटर से होता है, फिर भी एक मटर दूसरा मटर नहीं हो जाता। एक मटर न तो अन्य मटर में विद्यमान है और न उससे भिन्न ही है। यह तो ऐसा ही है जैसे कोई दर्पण में स्त्री के सुन्दर मुख को देखकर उस पर आसक्ति का अनुभव करने लगे और उसके पीछे भागने लगे, यद्यपि मुख का दर्पण में कभी निष्क्रमण नहीं हुआ और प्रतिबिम्बित बिम्ब में कोई मानव मुख नहीं आया। जिस प्रकार अज्ञा में स्त्री के मुख का तत्वहीन प्रतिबिम्बित बिम्ब आसक्ति उत्पन्न कर सकता है ठीक उसी प्रकार जगत्प्रपंच भी माया और आसक्ति के कारण हैं।

विभिन्न बौद्ध एवं अन्य पदार्थों के खंडन के लिए अपने तत्व विवेचन को प्रयोग करने के नागार्जुन की पद्धति का विशद विवरण देना एवं उदाहरणों की संख्या बढ़ाना यहां अनावश्यक है, परन्तु जो कुछ कहा जा चुका है उससे नागार्जुन एवं श्रीहर्ष के तत्व विवेचन की तुलना करना संभव है। न तो नागार्जुन और न श्रीहर्ष की ही जगत् प्रक्रिया की युक्ति संगत व्याख्या करने में रुचि है और न ही वे हमारे जगत् अनुभवों की वैज्ञानिक पुनरचना करने में रुचि लेते हैं। वे जगदनुभवों की यथातथ रूप में प्रामाणिकता को अस्वीकार करने में एक मत है, परन्तु जहां नागार्जुन के पास स्थापित करने के लिए अपना कोई प्रतिपाद्य विषय नहीं था, वहाँ श्रीहर्ष ने ब्रह्म की सत्यता एवं परमार्थता स्थापित करने का प्रयत्न किया है। परन्तु ऐसा प्रतीत नहीं होता कि श्रीहर्ष ने कभी अपने तत्व विवेचन का अपने प्रतिपाद्य विषय पर प्रयोग करने का उचित रूपेण प्रयत्न किया हो और यह प्रदर्शित करने का प्रयास किया हो कि 'ब्रह्म की परिभाषा उनके अपने तत्व विवेचन की आलोचना की कसौटी परखरी उतरती है। तथापि नागार्जुन एवं श्रीहर्ष दोनों का ही इस बात पर मतैक्य था कि जगदवभास की पुनरचना का कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं है जिसकी पुष्टि प्रामाणिक रूप में की जा सके। परन्तु जहाँ श्रीहर्ष ने केवल न्याय परिभाषाओं पर आक्षेप किए, वहाँ नागार्जुन ने मुख्यतः बौद्ध पदार्थों एवं उनसे प्रत्यक्षतः संबद्ध कुछ अन्य उपयुक्त पदार्थों पर ही आक्षेप किया। परन्तु श्रीहर्ष के सम्पूर्ण प्रयासों का लक्ष्य यह प्रदर्शित करना था कि न्याय परिभाषाएँ सदोष हैं और न्याय किसी भी प्रकार से पदार्थों की सम्यक परिभाषा नहीं कर सकता। पदार्थों की परिभाषा करने में न्याय की असमर्थता से उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि वे वस्तुतः अपरिभाष्य हैं और इसी हेतु उन पदार्थों के माध्यम से आँका गया व जाँचा गया जगत् अवभास भी मिथ्या ही है। नागार्जुन की पद्धति श्रीहर्ष से इस बात में पर्याप्त भिन्न है कि नागार्जुन ने अपने आलोच्य प्रत्ययों को उन धारणाओं पर वस्तुतः आधारित एवं निर्मित प्रदर्शित किया जिनका अपना

स्वरूप कोई नहीं है, अपितु वे माया के सम्बन्ध से ही ग्रहण किए जाते हैं। किसी प्रत्यय में अपना स्वयं का वास्तविक स्वरूप प्रकट नहीं होता, और किसी प्रत्यय का ग्रहण केवल अन्य प्रत्यय के द्वारा ही हो सकता है और वह भी किसी अन्य द्वारा, चाहे वह पूर्ववर्ती हो अथवा परवर्ती, इत्यादि। अतः समस्त जगदवभास सापेक्ष प्रत्ययों पर आधारित हो जाएगा और इस प्रकार मिथ्या होगा। तथापि नागार्जुन की आलोचनाएँ अधिकांशतः कारण से अन्य सिद्धान्त के स्वरूप की हैं और प्रत्ययों का ठोस प्रकार से विवेचन नहीं करती हैं तथा हमारे मनोवैज्ञानिक मानसिक अनुभवों की साक्षी पर आधारित नहीं हैं। अतः जो विरोध प्रदर्शित किए गए हैं वे अधिकांशतः प्रायः अमूर्त रूप के हैं तथा कभी कभी नग्नाडम्बर मात्र रह जाते हैं। परन्तु नियमित रूप में वे हमारे अनुभवों के मूलभूत सापेक्ष स्वरूप पर आधारित हैं। वे श्रीहर्ष की आलोचनाओं की तुलना में आधी मात्रा में भी विशद नहीं हैं, परन्तु इसके साथ ही वे मूलभूत रूप में श्रीहर्ष के तत्त्व विवेचन की विशद गोलमटोल तार्किक सूक्ष्मताओं की अपेक्षा अधिक विश्वासप्रद एवं प्रत्यक्ष हैं। यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि नागार्जुन बुद्धपालित एवं चन्द्रकीर्ति की तत्त्व विवेचन पद्धति पर आधारित होने के कारण श्रीहर्ष की आलोचनाएँ एक बिलकुल भिन्न योजना का अनुसरण करते हुए तार्किक सूक्ष्मता और चातुर्य का विलक्षण सामर्थ्य प्रदर्शित करती हैं यद्यपि उसका सम्पूर्ण प्रभाव कठोर दार्शनिक दृष्टि से शायद ही उन्नत माना जा सके, जबकि इनकी कई आलोचनाओं का प्राय वाग्जाल उनके सम्पूर्ण कार्य के लिए अशोभनीय ही है।

वेदान्त तत्त्व-विवेचन के अग्रणियों के रूप में शान्तरक्षित एवं कमलशील (७६० ई० प०) का तार्किक आलोचन

(क) सांख्य परिणामवाद की आलोचना

वेदान्त विचारधारा के तार्किक प्रकारों के इतिहास को खोजते समय पूर्व विभागों में यह प्रदर्शित किया जा चुका है कि शंकर एवं श्रीहर्ष चित्सुख आदि उनके कुछ अनुयायियों पर नागार्जुन एवं चन्द्रकीर्ति का प्रभाव बहुत अधिक था। यह भी प्रदर्शित किया जा चुका है कि न केवल नागार्जुन एवं चन्द्रकीर्ति ने ही अपितु अन्य कई बौद्ध लेखकों ने भी विवेचन की आलोचनात्मक एवं तार्किक विधियों को ग्रहण किया था। कमलशील की 'पंजिका' टीका सहित शान्तरक्षित कृत 'तत्त्वसंग्रह' में प्रस्तुत भारतीय विचारधारा की विभिन्न शाखाओं की आलोचना इस बात का प्रमुख उदाहरण है। शान्तरक्षित का काल अष्टम शताब्दी का पूर्वार्द्ध है और कमलशील सम्भवतः उनके अवर समकालीन थे। उन्होंने लोकायत शाखानुयायी कम्बलाश्वतर, बौद्ध वसुमित्र (१०० ई० प०), धर्मत्रात (१०० ई० प०), घोषक (१५० ई० प०),

बुद्ध देव (२०० ई०प०), नैयायिक वात्स्यायन (३०० ई०प०), मीमांसक शबरस्वामी (३०० ई०प०), सांख्य विन्ध्यस्वामी (३०० ई०प०) बौद्ध संघभद्र (३५० ई०प०) वसुबन्धु (३५० ई०प०), सांख्य ईश्वरकृष्ण (३६० ई०प०), बौद्ध दिङ्नाग (४०० ई०प०), जैन आचार्यसूरि (४७८ ई०प०), सांख्य माठराचार्य (५०० ई०प०), उद्योतकर (६०० ई०प०) छन्द शास्त्री भामह (६४० ई०प०), बौद्ध धर्मकीर्ति (६५० ई०प०) वैयाकरण दार्शनिक भर्तृहरि (६५० ई०प०), मीमांसक कुमारिल भट्ट (६८० ई०प०), जैन शुभगुप्त (७०० ई०प०), बौद्ध योगासन (७०० ई०प०), नैयायिक अविद्धकर्ण (७०० ई०प०), शंकरस्वामी (७०० ई०प०), प्रशस्तमति (७०० ई०प०), भावविवेक (७०० ई०प०), जैन पार्श्वस्वामी (७०० ई०प०) आह्निक (७०० ई०प०), सुमति (७०० ई०प०)[1] एवं मीमांसक उम्वेक (७०० ई०प०) के मतों का खंडन किया। शान्तरक्षित एवं कमलशील द्वारा प्रस्तुत विभिन्न दार्शनिकों की सारी आलोचनाओं के पूर्ण विश्लेषण को हाथ में लेना यहाँ सम्भव नहीं है, तो भी इन आलोचनाओं के कुछ मुख्य मुख्य विषयों पर ध्यान देना चाहिए जिससे कि यह प्रदर्शित हो सके कि जो आलोचनात्मक विचारधारा समस्त बौद्धों में शंकर से पूर्व व्याप्त थी और जिस विचारधारा से श्रीहर्ष चित्सुख अथवा आनन्द ज्ञान जैसे शंकर के अनुयायियों के अत्यधिक प्रभावित होने की पूर्ण सम्भावना है, उस आलोचनात्मक विचारधारा के स्वरूप को भी प्रकट करने वाले उस कार्य का स्वरूप एवं महत्व क्या है ?

सांख्य दृष्टिकोण की आलोचना करते समय उनका कथन है कि यदि कार्य, प्रकृति और कारण प्रधान दोनों में एकात्मकता हो तो प्रकृति के प्रधान से उत्पन्न होने का कारण क्या है ? दोनों में एकात्मकता होने की अवस्था में स्वयं प्रकृति को कारण अथवा प्रधान को कार्य माना जा सकता है। उत्पत्ति के निर्धारण का सामान्य प्रकार नित्य पूर्वकालभावित्व है। परिणाम के भाव का अर्थ है विविधता में एकात्मकता, जो सांख्यों की कारण योजना है यह परिणाम का भावप्रत्यावर्तन है, क्योंकि, यदि यह कहा जाय कि कोई तत्व अनेक रूपों में विकृत हो जाता है तो यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या कारण तत्व का भी स्वभाव विकृत होता है या नहीं ? यदि वह विकार को प्राप्त नहीं होता है तो कारण एवं कार्य अवस्थायें परकालीन परिणाम में एक साथ रहनी चाहिए यह असम्भव है। यदि यह विकार को प्राप्त होता है तो स्थायी कारण जैसी कोई वस्तु नहीं है क्योंकि इसका अर्थ यह होगा कि एक पूर्व की अवस्था का बाध होकर एक नवीन अवस्था का जन्म होता

[1] ये तिथियाँ डा० बी० भट्टाचार्य की तत्व संग्रह की भूमिका से संगृहीत हैं। यद्यपि इस ग्रन्थकार के मत में इनमें से अधिकांश तिथियाँ प्रायः ठीक हैं फिर भी उनकी चर्चा के लिए स्थानाभाव के कारण उनकी सत्यता के लिए वह उत्तरदायी नहीं है।

है। यदि यह कहा जाय कि कारणगत परिणाम का अर्थ नए गुणों को धारण करना है तो यह प्रश्न हो सकता कि क्या ऐसे गुण कारणभूत द्रव्य से भिन्न हैं अथवा नही ? यदि वे भिन्न हैं तो नवीन गुणो का उत्पन्न होना इस मत को मानने का अधिकार नही देता कि कारणभूत द्रव्य परिणाम को प्राप्त होता है। यदि विकारी गुण एव कारणभूत द्रव्य दोनो मे तादात्म्य है तो तर्क का प्रथम भाग पुन प्रकट हो जाएगा। पुन, जो तर्क सत्कार्यवाद के पक्ष मे दिए जाते हैं वे ही उसके विरुद्ध भी दिए जा सकते हैं। अत, यदि दुग्ध के स्वभाव मे दधि आदि की अवस्था पहले से ही विद्यमान हो, तो उनके उससे उत्पन्न होने का क्या अर्थ है ? यदि उत्पत्ति का अभाव नही है तो कारणत्व का कोई भाव ही नही रहता। यदि यह कहा जाय कि कार्य कारण में समाव्य रूप से विद्यमान रहता है और कारण व्यापार उनका केवल वास्तविक रूप ही प्रदान करता है, तो यह स्वीकार किया जाता है कि वस्तुत कार्यों का कारण मे अभाव है और हमे कारण मे किसी विशेष धर्म को स्वीकार करना होगा जो उस कारण व्यापार का परिणाम है जिसके अभाव के कारण कार्य 'कारण' मे समाव्य अवस्था मे रहे और जो कारण व्यापार कार्यों को वास्तविक रूप प्रदान करते हैं वे कारण मे कुछ विशिष्ट निर्धारकों को जन्म देते हैं जिनके परिणामस्वरूप जिस कार्य का पहले अभाव था वह वास्तविक रूप धारण करता है, इसका अर्थ यह होगा कि जिसका अभाव है वह उत्पन्न हो सकता है, यह बात सत्कार्यवाद सिद्धान्त के विपरीत होगी। सत्कार्यवाद के सिद्धान्त के अनुसार कारणगत परिणाम असम्भव होने के कारण उपयुक्त आलोचना के प्रकाश में सत्कार्यवाद के पक्ष मे दिया हुआ यह सांख्य तर्क भी अस्वीकार्य है कि केवल विशिष्ट प्रकार के कारणों से ही विशिष्ट प्रकार के कार्य उत्पन्न हो सकते हैं।

पुन सांख्य के अनुसार किसी वस्तु का भी निश्चित रूप से कथन नही किया जा सकता, क्योंकि सत्कार्यवाद के सिद्धान्त के अनुसार बुद्धि, मन अथवा चैतन्य इनमे से किसी एक के भी विकार के रूप में शंकाएं एवं त्रुटियाँ सदा विद्यमान रहती हैं। पुन समस्त सांख्य तर्कों का प्रयोग व्यर्थ माना जा सकता है, क्योंकि समस्त तर्कों का लक्ष्य निश्चय की प्राप्ति है। तथापि यदि कहा जाय कि निश्चयो का भाव पहले नहीं था अपितु वे तर्कों के प्रयोग का फल हैं, तो जिसका भाव नही था उसकी उत्पत्ति हुई और इस प्रकार सत्कार्यवाद का सिद्धान्त असफल हो जाता है। यदि यह कहा जाय कि यद्यपि निश्चय तार्किक प्रतिज्ञाओं के प्रयोग के पूर्व ही विद्यमान होता है फिर भी उसे इन प्रतिज्ञाओं के प्रयोग से अभिव्यक्त माना जा सकता है तो सांख्यों से यह प्रश्न किया जा सकता है कि उनका 'अभिव्यक्ति' से क्या तात्पर्य है ? इस अभिव्यक्ति का अर्थ कोई नवीन धर्म अथवा कोई ज्ञान अथवा बोध के किसी बाधा का निवारण हो सकता है। प्रथम विकल्प में, यह प्रश्न पुन किया जा सकता है

कि क्या इन प्रतिज्ञाओं के प्रयोग से उत्पन्न नवीन स्वभावातिशय स्वयं निश्चय से भिन्न है अथवा उसके समरूप है? यदि यह समरूप है तो उसके समावेश की आवश्यकता नहीं है, यदि वह भिन्न है तो उन दोनों में कोई सम्बन्ध स्वीकार्य नहीं होगा क्योंकि दो असंबद्ध तत्वों के मध्य संबंध का स्थापित करने का कोई भी प्रयत्न हमें अनवस्था दोष में डाल देगा। इसका अर्थ उस विषयविशेष में ज्ञान की उत्पत्ति भी नहीं हो सकता जिसकी अभिव्यक्ति के लिए प्रतिज्ञाओं का प्रयोग होता है, क्योंकि सत्कार्यवाद के सिद्धांत के अनुसार, वह ज्ञान उसमें पहले से ही विद्यमान है। पुन, इसका अर्थ ज्ञान की बाधाओं का निवारण भी नहीं हो सकता क्योंकि यदि कोई बाधा हो, तो वह भी सदा विद्यमान भी होगी। वस्तुत यथार्थ ज्ञान के प्रति उद्दिष्ट सांख्यदर्शन की समस्त शिक्षाओं सिद्धांतों का मिथ्या होना अपेक्षित है क्योंकि यथार्थ ज्ञान सदा सत् होता है, अत कोई सीमा अपेक्षित है, तथा इसी हेतु समस्त व्यक्ति सदा मुक्त ही रहेंगे। पुन यदि कोई मिथ्या ज्ञान है तो उसका विनाश नहीं हो सकता, और इस हेतु से मुक्ति नहीं हो सकती।

तत्पश्चात् शांतरक्षित एवं कमलशील का कथन है कि यद्यपि उपर्युक्त खंडन से स्वभावत असत्कार्यवाद (असत् का उत्पन्न होना) के सिद्धान्त को प्रमाणित होना चाहिए तथापि असत्कार्यवाद के सांख्य खंडन के प्रत्युत्तर में कुछ शब्द कह जा सकते हैं। अत असत् के नैरूप्य के कारण अनुत्पाद्य होने का तर्क मिथ्या है क्योंकि उत्पादन क्रिया स्वयं उत्पाद्य वस्तु के स्वभाव का प्रतिनिधित्व करती है। जिस प्रकार सत्कार्यवादियों का मत है कि कारणसामग्री के अनुसार गुणत्रयी से विभिन्न प्रकार के कार्य उत्पन्न हो सकते हैं उसी प्रकार इस अवस्था में भी कारणशक्तियों के विभिन्न प्रकारों के नियम (कारणशक्तिनियमात्) के अनुसार विभिन्न प्रकार के असत् कार्य भी सत्ता में आ जाते हैं। यह मानना निरर्थक है कि कारण शक्तियों का परिसीमन कार्यों की पूर्व विद्यमानता में उपलब्ध है। क्योंकि वस्तुत कारण शक्तियां के विभिन्न सामर्थ्यों के कारण ही विभिन्न कार्य उत्पन्न होते हैं। विभिन्न *कार्यों का उत्पादन उनकी उत्पादक कारणशक्तियों के विविध स्वभाव मात्र के ही* कारण होता है। अत कारणशक्ति नियम ही परम मूलभूत नियम है। तथापि, 'असत्कार्यवाद संज्ञा भ्रामक है क्योंकि निश्चय ही ऐसा कोई असत् तत्व नहीं है जो उत्पत्ति को प्राप्त होता है।'[1] यथार्थ में उत्पादन का अर्थ पूर्व और अपर क्षणों के समस्त संयोगों से रहित क्षणिक स्वभाव मात्र के अतिरिक्त कुछ नहीं है।[2]

---

[1] न ह्यसन्नाम किंचिदस्ति यदुत्पत्तिमाविशेत्, किन्तु काल्पनिकोऽयं व्यवहारो यदसदुत्पद्यत इति यावत्—तत्वसंग्रह पंजिका-पृ० ३३।

[2] *वस्तुना पूर्वापरकोटिशून्यक्षणमात्रावस्थायी स्वभाव एव उत्पाद इत्युच्यते—वही।*

असत्कार्यवाद का अर्थ यह है कि एक कार्य सनक तत्व का एक कारण व्यापार के तत्क्षण पश्चात् दर्शन होता है और निश्चय ही इसका द्वितीय क्षण के पूर्व अस्तित्व नहीं था क्योंकि यदि यह कारण व्यापार के प्रथम क्षण में विद्यमान होता तो उसका प्रत्यक्ष होता, अत यह कहा जाता है कि कार्य का पहले अस्तित्व नहीं था, परन्तु इसकी व्याख्या इस अर्थ में नहीं करनी चाहिए कि बौद्ध कार्य के असत् रूप-अस्तित्व को मानते थे, जो कारण व्यापार के पश्चात् अकस्मात् उत्पन्न हो जाता है।

अन्य सांख्य सिद्धान्तों के खंडन करते समय शान्तरक्षित एवं कमलशील यह प्रदर्शित करते हैं कि यदि किसी कार्य (यथा दधि) को कारण (यथा दुग्ध) में विद्यमान कहा जाय तो ऐसा कार्य के वास्तविक रूप में नहीं हो सकता क्योंकि उस अवस्था में दुग्ध में दधि का स्वाद आएगा। यदि यह कहा जाय कि यह एक विशेष शक्ति के रूप में विद्यमान रहता है तो कारण में कार्य के अस्तित्व का स्वभावत ही निषेध हो जाता है क्योंकि कार्य की शक्ति ही, न कि स्वयं कार्य, कारण में विद्यमान रहती है। पुन सांख्या की मान्यता है कि समस्त इन्द्रियगोचर वस्तुएँ सुख दु खात्मक होती हैं यह स्पष्टत असम्भव है क्योंकि चेतनावस्थाएं ही सुखमय अथवा दु खमय मानी जा सकती है। पुन, यदि वस्तुपरक जड वस्तुएं स्वयं सुखमय अथवा दु खमय हों तो एक ही वस्तु के एक व्यक्ति को सुखमय प्रतीत होने और अन्य को दु खमय प्रतीत होने के तथ्य को समझाया नहीं जा सकेगा। तथापि, यदि यह माना जाय कि किसी मनुष्य की मानसिक अवस्था विशेष या उसके दुर्भाग्य के कारण सुखमय विषय भी उसे दु खमय प्रतीत हो सकते हैं, तब विषय स्वयं दु खमय अथवा सुखमय नहीं हो सकते। पुन यदि विषयों को गुणत्रयी द्वारा निर्मित माना जाय, तो एक शाश्वत प्रकृति को ही उन सबका स्रोत न मानने का कोई कारण नहीं। यदि कारण कार्यों के सदृश हैं तो विषय जगत् के अनेक अथवा सीमित अथवा अनित्य होने के तथ्य से यह मानना पडेगा कि विषयों के कारण भी अनेक, सीमित एवं अनित्य होंगे। कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि जिस प्रकार सब मृद् भाण्ड एक मृत्तिका से ही उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार सारे विषय भी एक प्रकृति से ही उत्पन्न होते हैं, परन्तु यह तर्क भी हेत्वाभासमय है क्योंकि समस्त मृद्भाण्ड एक मृत्पिण्ड से नहीं अपितु भिन्न भिन्न मृत्पिण्डों से उत्पन्न होते हैं। अत यद्यपि यह अनुमान किया जा सकता है कि कार्य-जगत् के कारण अवश्य होंगे, तो भी हम इससे यह अनुमान नहीं लगा सकते कि सांख्या की प्रकृति जैसा कोई एक ऐसा कारण है।

(ख) ईश्वर की आलोचना

ईश्वर के अस्तित्व के पक्ष में नैयायिक आस्तिकों का मुख्य तर्क इस तथ्य पर आधारित है कि विभिन्न सांसारिक विषयों के रूप एवं आकार विशेषों का स्पष्टीकरण किसी चैतन्य युक्त व्यवस्थाता अथवा निर्माता के बिना नहीं हो सकता। इसके

प्रत्युत्तर में शान्तरक्षित एवं कमलशील का कथन है कि हमें केवल विभिन्न प्रकार के रूपवान् एवं स्पर्शवान् विषयों का ही प्रत्यक्ष होता है और उनसे आगे रूपवान अवयवियों अथवा तथाकथित विषयों के प्रत्यक्ष की कल्पना ही नहीं कर सकते। यह सोचना निरर्थक है कि रूपवान् एवं स्पर्शवान् मूर्ता से ही सम्पूर्ण विषय निर्मित होता है। यह कहना गलत है कि यह वही वर्णयुक्त विषय है जिसका दिन में अवलोकन किया था और जिसका रात्रि में न देख पाने पर स्पर्श किया था, क्योंकि रूप विषय स्पर्श विषयों से पूर्णतः भिन्न प्रकार के तत्व हैं अतः यह कहना निरर्थक है कि यह वही अवयवी अथवा विषय है जिसके रूप एवं स्पर्श दोनों ही स्वभाव हैं। यदि दो रूप यथा पीत एवं नील, भिन्न हों तो रूप एवं स्पर्श के विषय तो और भी अधिक भिन्न होंगे। अतः सत्तावान् विषय रूप एवं स्पर्श के स्वभाव से युक्त अवयवी नहीं है अपितु रूप एवं स्पर्श विषयों की तन्मात्राएँ मात्र हैं, उनका अवयवी में संयोग मिथ्या कल्पना के मात्र के कारण ही होता है। किसी भी विषय का दो इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष नहीं हो सकता किसी एक ही विषय के चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष होने एवं स्पर्श होने का प्रमाण उपलब्ध नहीं है। अतः केवल शिथिल एवं अमूर्त इन्द्रियविषयों का ही अस्तित्व है। साकार अवयवी के अभाव में आकार प्रदाता एवं व्यवस्थाता के रूप में ईश्वर का अस्तित्व अस्वीकार्य है। कार्यों के अस्तित्व के तथ्य से यह अनुमान नहीं किया जा सकता कि एक चेतन स्रष्टा एवं व्यवस्थाता का अस्तित्व है क्योंकि किसी वर्णन में सादृश्य मात्र से कारण युक्त अनुमान नहीं किया जा सकता अन्यथासिद्ध एवं अपरिवर्तनीय संबंध (प्रतिबंध) का नियम होना आवश्यक है। यह तर्क अनुचित है कि घटादि का निर्माण एक चेतन स्रष्टा से होने के कारण वृक्षादि का भी निर्माण किसी चेतन स्रष्टा के द्वारा हुआ होगा, क्योंकि वृक्षादि का स्वभाव घटादि से इतना भिन्न है कि पूर्व से पर के विषय में किसी कथन का करना अनुचित है। किसी शाश्वत तत्व के अस्तित्व के विरुद्ध बौद्धों के सामान्य तर्क किसी नित्य ईश्वर की सत्ता के विरुद्ध भी प्रयुक्त होंगे। यह तर्क गलत है कि समस्त दृश्य जगत् में विराम की अवस्था से क्रिया अथवा सर्ग की अवस्था प्रस्फुटित होने के कारण कोई चेतन स्रष्टा अवश्य होगा, क्योंकि प्रकृति में विरामावस्था कोई नहीं है, सारी सांसारिक वस्तुएँ क्षणिक हैं। पुनः यदि वस्तुएँ कारणरूप कर्त्ता के व्यापार के द्वारा कालान्तर में क्रम से घटित हो रही हैं तो ईश्वर को भी कालान्तर में कार्य करना चाहिए तथा स्वयं विपक्षियों के तर्कों के द्वारा ही उसको अपने क्रियाव्यापार में पथप्रदर्शन के लिए किसी अन्य सत्ता की अपेक्षा होगी उसको किसी अन्य की इस प्रकार अनवस्था दोष की प्राप्ति होगी। यदि ईश्वर स्रष्टा होता, तो सारी वस्तुएँ एक साथ ही अस्तित्व में आ जाती। उसको सहकारी सहायता पर आश्रित नहीं होना पड़ता क्योंकि उसके इस प्रकार की सब सहकारी परिस्थितियों का स्रष्टा होने से वे परिस्थितियाँ उसको अपने सर्ग में कोई सहायता प्रदान नहीं कर सकतीं। यदि यह कहा जाय कि यह तर्क इसलिए स्थिर नहीं रह

सकता कि ईश्वर अपनी इच्छानुसार ही सृष्टि रचता है, तो प्रत्युत्तर मे यह कहा जा सकता है कि ईश्वर की इच्छा एक एव नित्य माने जाने के कारण युगपन् सृष्टि की पूव आपत्ति स्थिर रहती है। तथापि ईश्वर के नित्य होने के कारण एव उसकी इच्छा केवल उसी पर निभर रहने के कारण उसकी इच्छा क्षणिक नही हा सकती। अब यदि ईश्वर और उसकी इच्छा के नित्य होने पर भी किसी प्रपचविशेष की उत्पत्ति के समय अन्य सब प्रपचा की उत्पत्ति नही हो तो उन प्रपचा को ईश्वर अथवा उसकी इच्छा द्वारा सृष्ट नही माना जा सकता। पुनश्च, यदि तक मात्र के लिए भी यह स्वीकार कर लिया जाय कि सारे नैसर्गिक विषया यथा पवत वृक्षादि, को चेतन स्रष्टा की पूव मे ही अपेक्षा है तो भी ऐसी कल्पना के पक्ष मे कोई तक नही उपलब्ध होता है कि एक चेतन स्रष्टा ही विविध नैसर्गिक विषयो एव प्रपचा का कारक है। अत एक सवज्ञ स्रष्टा के अस्तित्व के पक्ष मे तक नही है।

ईश्वर एव प्रकृति के खडन मे प्रस्तुत तक ईश्वर एव प्रकृति के सयुक्त कारणत्व को स्वीकार करने वाले पातजल साख्य के विरुद्ध भी प्रयुक्त होते हैं, क्योकि इसमे भी प्रकृति एव ईश्वर के नित्यकारण होने से समस्त कार्यों की युगपत् सृष्टि अपेक्षित है। यदि यह कहा जाता है कि ईश्वर के व्यापार के सदभ मे तीन गुण सहकारी कारण के रूप म काय करते हैं, तो उस अवस्था मे भी यह प्रश्न किया जा सकता है कि या सग के समय प्रलय अथवा स्थिति का क्रिया-व्यापार भी अपेक्षित है ? अथवा क्या प्रलय के समय सग क्रिया भी हो सकती है ? यदि यह कहा जाय कि प्रकृति मे सब प्रकार की शक्तियो के विद्यमान होने पर भी केवल वे शक्तियाँ ही क्रियमाण होती हैं जो काय रूप ग्रहण करती है तो यह आपत्ति की जा सकती है कि प्रकृति की कुछ शक्तिया की निष्क्रियता की अवस्था मे अ य शक्तियो को क्रियामाण बनाने के लिए किसी अन्य प्रकार के कारण का स्वीकार करना पडेगा, और इस अवस्था मे एक तीसरा तत्व और आ जाएगा अत पुरुष और प्रकृति के सयुक्त कारणत्व का भी सुगमता पूवक खडन हो जाता है। पुन यह मत भी मिथ्या है कि ईश्वर अपने अनुग्रहवश जगत् की सृष्टि करता है क्योकि ऐसी अवस्था मे जगत् इतना दु खमय नही होता। पुनश्च, सृष्टि से पूव किसी प्राणी के न होने के कारण ईश्वर असत् प्राणियो पर कृपा भाव नही रख सकता। यदि वह इतना कृपालु होता तो वह जगत् का प्रलय नही करता, यदि वह जगत् की सृष्टि एव प्रलय शुभाशुभ कर्मानुसार करता है, तो उस अवस्था मे वह स्वतन्त्र नही हो सकता। यदि वह स्वतन्त्र होता तो वह जगत् मे दु ख को उत्पन्न करने के लिए अपने आप को अशुभ कर्मों के फला से प्रभावित नही होने देता। यदि उसने जगत् की सृष्टि लीलावृत्ति मात्र से ही की है तो य लीलावृत्तियाँ उससे वरीयान् होनी चाहिएँ। यदि उसे अपनी सजक एव सहारक लीला स पर्याप्त आनन्द प्राप्त होता है तो यदि उसम सामथ्य हो तो वह जगत् की उत्पत्ति एव सहार

युगपत् ही करता। यदि उसमें जगत् की युगपत् उत्पत्ति एव सहार की सामर्थ्य नही है तो कालान्तर मे ऐसा करने की उसकी सामर्थ्य की कल्पना करने का कोई हेतु नही है। यदि यह कहा जाय कि जगत् की उत्पत्ति निसगत उसके स्वय के अस्तित्व के कारण हुई तो युगपत् उत्पत्तिहोनी चाहिए। यदि यह आपत्ति की जाय कि जिस प्रकार मकडी अपने जाल की रचना करते हुए भी उस सारे की एकदम रचना नही करती, ठीक उसी प्रकार ईश्वर भी जगत् की सृष्टि एक साथ न करके क्रमश करता है, तो यह प्रदर्शित किया जा सकता है कि मकडी की उपमा मिथ्या है क्योकि मकडी जाल की रचना नसर्गिक रूप से न करके कीटा के भक्षण के लोभवश करती है और ऐसे ही उद्देश्या से उसके कायकलापो का निर्धारण होता है। तथापि ईश्वर एक ही है अत उसका एक ही समरूप उद्देश्य हो सकता है। यदि यह कहा जाय कि सग ईश्वर से मानो अचेतन रूप म ही प्रवाहित होता है तो यह आपत्ति की जा सकती है कि इतने महान् विश्व को बिना किसी चेतन आशय के उत्पन्न करने वाली सत्ता अवश्य ही अत्यन्त अचेतन होगी।

(ग) आत्मा के सिद्धान्त का खण्डन

घा तरक्षित एव कमलशील आत्मा के विषय मे याय क इस मत का खण्डन करते हैं कि हमारे विचारो का कोई ज्ञाता होना चाहिए कि हमारी इच्छाआ एव अनुभूतियों का कोई आश्रयतत्व होना चाहिए और वह तत्व आत्मा है तथा इसी आत्मा की सत्ता के द्वारा ही एक व्यक्ति की अनुभूति के रूप म हमारी समस्त चत य अवस्थाओ की एकात्मकता का स्पष्टीकरण होता है। उनका मत है कि किसी विचार अथवा ज्ञान को अपने प्रकाश के लिए किसी अ य ज्ञाता की अपेक्षा नही है, यदि एसा हाता तो अनवस्था प्रसग की प्राप्ति हो जाती। पुन इच्छा, भाव आदि जड विषया के समान नही है जिनको एक आधार की अपेक्षा हा जिनमे व रह सकें। चत य की तथाकथित एकता का कारण क्षणिक स्थित यो को एक मानने की मिथ्या कल्पना है। यह सुविदित है कि विभिन्न तत्वा को एक ही प्रकार के कार्यों का सम्पादन करने के कारण सयुक्त माना जाता है। ज्ञान का अपने अहकार रूप मे ही आत्मा की सज्ञा दी जाती है यद्यपि उसके अनुकूल कोई विषयपरक तत्व नही है। कभी कभी यह तक दिया जाता है कि आत्मा की सत्ता इस तथ्य से प्रमाणित हाती है कि जब तक मनुष्य के जीवन प्रवाह आत्मा से सबद्ध रहते हैं तब तक ही वह जीवित रहता है और जब वे उससे पृथक हो जाते हैं वह मर जाता है परन्तु यह मिथ्या है क्योकि आत्मा की सत्ता प्रमाणित हुए बिना जीवन के निर्धारण म उसको जीवन प्रवाहो से सम्बद्ध करना अग्राह्य है। तथापि, कुछ का कथन है कि अनुभूतिया में आत्मा का प्रत्यक्ष गोचर होता है। यदि उसका अभाव होता तो उसकी सत्ता के विषय मे इतने विविध मत नही होते। अहकार का भाव आत्मा का सकेतक नही माना जा सकता क्योकि

ाहकार का भाव नित्य नही है, जैसा कि उसे माना जाता है। इसके विपरीत कभी इसका सदम हमारे शरीर से (यथा, जब मैं कहता हूँ कि मैं श्वेत हूँ) कभी इन्द्रिया से (यथा, जब मैं कहता हूँ कि मैं बहरा हूँ) और कभी बौद्धिक अवस्थाओ से होता है। यह नही कहा जा सकता कि इसका शरीर अथवा इन्द्रिया से सदम केवल अप्रत्यक्ष ही है क्योकि इसका स्वभाव अन्य किसी नित्य एव प्रत्यक्ष प्रकार से अनुभवगम्य नही है।

इच्छा, माथ आदि को भी प्राय क्रम मे ही उत्पन्न होने के कारण किसी नित्य आत्मा मे आश्रित नही माना जा सकता। निष्कर्ष यह निकलता है कि समस्त जड विषयो के समान मानव प्राणी भी आत्महीन है। कल्पित नित्य आत्मा देह से इतना भिन्न है कि यह समझ पाना कठिन है कि एक दूसरे का कैसे सहायक हो सकता है अथवा उनसे सबद्ध भी हो सकता है? अत याय वशेषिक आत्मा के सिद्धा त का शायद ही कोई तक रहता हो।

(घ) मीमासा के जीव-सिद्धान्त का खण्डन

कुमारिल की आस्था थी कि यद्यपि शुद्धचैत य के रूप मे आत्मा का स्वभाव नित्य एव अविकारी है, तथापि यह अ य भावशील एव सकल्पशील अवस्थाओ के विभिन्न विकारशील चरणो मे से विचरित होता है। आत्मा का शुद्ध चैत यस्वरूप होना इस तथ्य से प्रमाणित होता है कि स्वय भूत एव वतमान कालो मे ज्ञाता के रूप मे प्रत्यक्ष होता है। अत अहवृत्ति द्वारा आत्मा की सत्ता प्रमाणित होती है। इसके प्रत्युत्तर मे शा तरक्षित एव कमलशील का कथन है कि यदि आत्मा को एक नित्य चत य मान लिया जाय तो उसी प्रकार ज्ञान अथवा बुद्धि को भी एक तथा नित्य मानना पडेगा। पर तु प्रकटत कुमारिल बुद्धि को ऐसा नही मानत। यदि बुद्धि का एक तथा नित्य माना जावे तो रूपज्ञान, रस ज्ञान आदि ज्ञान की विभिन्न अवस्थाओ की याख्या कैसे की जायगी। यदि यह कहा जाय कि बुद्धि के एक होने पर भी (यथा अग्नि म सदा दहन सामथ्य होने पर भी वह दाहक पदार्थों के समक्ष आने पर ही प्रज्वलित होती है) वह अपने समक्ष विभिन्न प्रकार के विषयो के प्रस्तुत होने क अनुसार ही विभिन्न प्रकार के प्रत्ययो म से विचरित होती है अथवा जिस प्रकार दपण म प्रतिबिम्ब सामथ्यहोने पर भी वस्तुए उसके समक्ष प्रस्तुत होने पर ही उसम प्रतिबिम्बित होती हैं ठीक उसी प्रकार आत्माए नित्य चैत य होने पर भी अपने शरीरविशेषो के ससग मे ही व्यापारशील होते हैं और विभिन्न इन्द्रियविषयो को ग्रहण करते है तथा समस्त ज्ञान उससे (आत्मा से) निर्मित होते हैं। यदि ज्ञानविकार इन्द्रियो एव इन्द्रियविषयो के क्रियमाण व्यापारो के कारण होता, तो ऐसी बुद्धि नित्य एव एक नही मानी जा सकती। यदि चत य के सातत्य के अनुभव के कारण बुद्धि को नित्य माना जाय तो ज्ञान वभिन्य की किस प्रकार व्याख्या की जायगी? यदि यह कहा जाय कि ज्ञान वैभिन्य बुद्धि के द्वारा विषयो के विभिन्न रूपो को ग्रहण करने के कारण होता है तो मतिभ्रम के समय ज्ञान

वैभिन्य की अनुभूति की किस प्रकार व्याख्या की जायगी, जबकि विषयों का अभाव होता है ? इसके अतिरिक्त मीमांसकों के मत में बुद्धि ज्ञात विषयों का आकार नहीं ग्रहण करती है, अपितु उनका मत है कि ज्ञान विषयजगत् के विषयों को प्रकाशित करता है और बुद्धि स्वयं निराकार है। ज्ञान का तत्सम्बन्धी यथार्थ विषयीपरक अभिव्यक्ति के अभाव में भी होना यह सिद्ध करता है कि हमारा ज्ञान विषयपरक एवं स्वप्रकाश्य है और वह विषयीपरक सत्ता को प्रकाशित नहीं करता है। यदि वह कहा जाय कि बुद्धि में समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने की सदा सामर्थ्य होती है, तो स्पर्श ज्ञान एवं रूप ज्ञान एक ही होंगे। अग्नि की उपमा भी मिथ्या है, क्योंकि एक ही अग्नि सतत नहीं रहती, प्रतिबिम्बकारी दर्पण की उपमा भी मिथ्या है क्योंकि वस्तुतः दर्पण स्वयं में कोई प्रतिबिम्ब नहीं होता, कोई व्यक्ति दर्पण में प्रतिबिम्ब एक विशेष कोण से ही देख सकता है, अतः दर्पण मिथ्या ज्ञान उत्पन्न करने एक यन्त्र मात्र ही है। पुनः बुद्धि की दर्पण से तुलना भ्रान्तिपूर्ण बिम्बों के उत्पादक यन्त्र के रूप में नहीं की जा सकती, क्योंकि उस अवस्था में भ्रान्तिपूर्ण बिम्बों का प्रत्यक्ष करने के लिए एक अन्य बुद्धि की आवश्यकता होगी। पुन, यदि आत्मा को एक एवं नित्य माना जाय तो वह परिवर्तनशील भावमय एवं संकल्पमय अवस्थाओं के मध्य से विचरण नहीं कर सकती। यदि ये अवस्थाएँ आत्मा से पूर्णतः भिन्न नहीं है तो उनके विकारों का अर्थ आत्मा का विकार होगा और यदि वे आत्मा से पूर्णतः भिन्न हैं तो उनके विकार का आत्मा पर क्या परिणाम होगा ? पुन, यदि ये सब अवस्थाएँ आत्मा की ही हैं और यह कहा जाय कि जीवात्मा के स्वभाव में सुखी अवस्था के लीन हो जाने पर ही दुःखी अवस्था उत्पन्न होती है तो यह आपत्ति प्रदर्शित की जा सकती है कि यदि सुखी अवस्थाएँ आत्मा के साथ एकरूपता में उसके स्वभाव में लीन हो जाएँ, तो वे आत्मा के स्वभाव के साथ एकरूप होंगी। यह कल्पना करना भी गलत है कि अहंवृत्ति के भाव का संबंध एक तत्सम्बन्धी यथार्थ में विद्यमान तत्व से है। वस्तुतः इसका कोई ऐसा विशिष्ट विषय नहीं है जिसे आत्मा कहा जा सके। अतः यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि आत्मा की सत्ता आत्म चैतन्य द्वारा प्रमाणित नहीं होती।

(ङ) पुरुष विषयक सांख्य दृष्टिकोण का खण्डन

आत्मसंबंधी सांख्य दृष्टिकोण के विरुद्ध यह प्रदर्शित किया गया है कि सांख्य आत्मा को शुद्ध चैतन्य, एक तथा नित्य मानता है और, ऐसी अवस्था में वह विविध अनुभूतियों का भोक्ता नहीं हो सकता। यदि यह माना जाय कि भागादि सब बुद्धि के धर्म हैं और पुरुष तो बुद्धिगत बिम्ब मात्रा का भोक्ता है तो यह आपत्ति की जा सकती है कि यदि बुद्धिगत प्रतिबिम्बों का पुरुष से तादात्म्य है तो उनके विकारों के साथ पुरुषों में भी विकार होना चाहिए और यदि वे भिन्न हैं तो पुरुष को उनका

भोक्ता नही माना जा सकता। पुन यदि प्रकृति अपने समस्त क्रियाकलापो को पुरुष के भोग के लिए केन्द्रित करती है तो उसे अचेतन कसे माना जा सकता है? पुनश्च यदि समस्त क्रियाकलाप बुद्धि के ही हो तथा बुद्धि पुरुष से भिन्न हो तो बुद्धिकृत कर्मो को पुरुष क्या भोगे। तथापि पुन, यदि सुख एव दु ख की परिवतनशील अवस्थाओ का पुरुष के स्वभाव पर कोई प्रभाव नहीं होता है तो वह भोक्ता नही माना जा सकता, और यदि वह प्रभावित हो सकता है तो वह स्वय विकारी हो जाएगा।

(च) आत्म-सम्बन्धी औपनिषद् दृष्टिकोण का खण्डन

उपनिषद् विचारको का मत है कि एक ही नित्य चैतन्य भ्रमवश सब विषयो के रूप मे प्रतीत होता है, तथा वस्तुत न कोई ज्ञाता है और न कोई ज्ञेय, अपितु एक नित्य चैतन्य मात्र ही सत् है। इस दृष्टिकोण के विरुद्ध शान्तरक्षित एव कमलशील का कथन है कि रूप, रस आदि के पृथक ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई किसी नित्य, अविकारी चतन्य का अनुभव नही होता। यदि एक नित्य चतन्य एक सत्य हो, तो प्रमा एव अप्रमा मे, बन्धन एव मोक्ष मे, अन्तर नही हो सकता। एक ही सत्य होने के कारण सत्यज्ञान की प्राप्ति आवश्यक नहीं।

(छ) सत् तत्वों के स्थायित्व के सिद्धान्त का खण्डन

शान्तरक्षित एव कमलशील यह प्रदर्शित करते हैं कि नैयायिक सत् तत्वो को दो वर्गों म विभक्त करते हैं-कृतक (उत्पन्न) एव अकृतक (अनुत्पन्न) तथा उनका मत है कि कृतक विनाशवान हैं। इसी प्रकार वात्सीपुत्रीय भी सत् तत्वो को क्षणिक (यथा विचार शब्द ज्वाला इत्यादि) और अक्षणिक (यथा पृथ्वी आकाशादि) दो भागो म विभाजित करते हैं। इस विषय पर शान्तरक्षित एव कमलशील का कथन है कि जो कृतक हैं वह क्षणिक है क्योकि क्षणिक वस्तुओ की विनश्वरता उनके कृतक होने के अतिरिक्त अन्य किसी बात पर आश्रित नही रहती, क्योकि यदि ऐसे तत्वो की विनश्वरता उनके कृतक होने के अतिरिक्त किसी अन्य हेतु अथवा अवस्था पर आश्रित होती तो यह अवयव कि 'जो कृतक है वह विनश्वर है मिथ्या होता। अत कृतको का अपने विनाश के लिए अन्य अवस्थाओ पर आश्रित मानने का नयायिक मत असत्य है। यदि कृतक तत्व अपने विनाश के लिए कृतकत्व के अतिरिक्त किसी अन्य अवस्था अथवा हेतु पर आश्रित नही हैं तो उनको उत्पन्न होते क्षण ही नष्ट हो जाना चाहिए अथवा अन्य शब्दो मे वे क्षणिक हैं। इसके अतिरिक्त विनाश अभावात्मक होने के कारण एक भावात्मक तत्व नही है और पूर्णत निरवयव है, तथा कवल भावात्मक तत्व ही अपने कृतकत्व के लिए अन्य हेतुओ अथवा अवस्थाओ पर निभर करते हैं। विनाश अभावात्मक होने के कारण भावात्मक तत्व के समान किसी कारण अथवा अवस्था पर निभर नही करता। अत विनाश किसी पृथक कारण साधन के द्वारा उत्पन्न नही होता, अपितु जिन कारणो से किसी तत्व की उत्पत्ति होती है उन्ही से अगले ही क्षण इसका विनाश भी होता है। विनश्वरता उत्पाद्यता

का आवश्यक धर्म होने के कारण विनाश को किसी अन्य कारण के हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं। यह ऊपर कहा जा चुका है कि विनाश शुद्ध अभाव है और इसी हेतु उसके ऐसे कोई धर्म नहीं जिनकी कारणों अथवा अवस्थाओं के किसी भावात्मक समूह द्वारा उत्पत्ति आवश्यक है।[1]

कमलशील एवं शान्तरक्षित का कथन है कि किसी उद्देश्य की पूर्ति में समर्थ (अर्थक्रियासमर्था) तत्त्वों का ही केवल सत्त्व पुष्ट हो सकता है। उनका कथन है कि क्षणिक होने पर ही तत्त्व अर्थक्रियासमर्थ हो सकते हैं। स्थायी तत्त्वों के अर्थक्रियासमर्थ न होने के कारण उनका कोई अस्तित्व नहीं है। इस साध्य को प्रमाणित करने के लिए वे निम्न तर्क का आश्रय लेते हैं। यदि किसी अर्थ की पूर्ति आवश्यक है तो वह क्रमिक रूप से अथवा युगपत् भाव से हो सकती है क्योंकि पूर्ण हेतु के विद्यमान रहने पर कार्यों का भी विद्यमान होना चाहिए तथा कार्य के क्रमिक होने का कोई कारण नहीं है, परन्तु यह अनुभव सिद्ध है कि कार्य क्रमिक रूप से न कि युगपत् भाव से होते हैं। तथापि यह आपत्ति की जाए कि क्रमशील सहकारियों के साथ स्थायी तत्त्व के संयोग के कारण स्थायी तत्त्व भी क्रमिक क्रिया कर सकता है, तो यह प्रश्न किया जा सकता है कि कार्य के उत्पादन में स्थायी तत्त्व को क्रमशील सहकारियों द्वारा दी गई सहायता का स्वरूप क्या है? क्या यह स्थायी कारण के विशेष विकार उत्पादन (अतिशयाधान) के कारण होता है अथवा स्थायी तत्त्व के उत्पादन क्रिया के साथ साम्य में कार्य करने के कारण होता है? प्रथम विकल्प की अवस्था में अतिशयाधान स्थायी तत्त्व के स्वरूप के सदृश अथवा भिन्न हो सकता है तथा ये दोनों विकल्प असम्भव हैं क्योंकि यदि यह सदृश है तो सहकारियों के अतिशयाधान के परिणामस्वरूप कार्य के होने के कारण अतिशयाधान के तत्त्व को ही न कि स्थायी

---

[1] शान्तरक्षित के मतानुसार 'क्षणिक' शब्द पारिभाषिक शब्द है। किसी तत्त्व में उत्पत्ति के तत्क्षण पश्चात् नष्ट हो जाने के धर्म को पारिभाषिक रूप में 'क्षण' कहते हैं, जिसमें भी यह गुण है वह क्षणिक है। उत्पादनान्तरविनाशिस्वभावो वस्तुनः क्षण उच्यते स यस्यास्ति स क्षणिक इति तत्त्वसंग्रह पृ० १४२, अतः क्षण का अर्थ कालिक क्षण नहीं है। इसका अर्थ है उत्पादन के तत्क्षण पश्चात् विनष्ट हो जाना। अतः उद्योतकर की यह आपत्ति अस्वीकार्य है कि एक कालिक क्षण की समाप्ति पर क्षणिक जैसा कुछ भी शेष न रहने के कारण एक काल में एक क्षणावस्थायी क्षणिक नहीं कहा जा सकता। तथापि क्षणिक धर्म से पृथक कोई तत्त्व नहीं है और व्याकरण के अनुसार, क्षणिक धर्म का अधिकरण एवं क्षणिक धर्म का विभेद करने वाला क्षणिक पद का धारण शाब्दिक प्रयोग की अनुमति मात्र है।

तत्व का काय का कारण मानना चाहिए। पुन यदि यह कहा जाय कि काय प्रतिनयाधान के साथ स्थायितत्व के सयोग के कारण हाता है तो ऐसे सयोग के स्वरूप की परिभाषा करना प्रसम्भव होगा क्योंकि काई भी सयोग सादृश्य प्रथवा उत्पत्ति (तादात्म्य और तदुत्पत्ति) का हा सकता है और वतमान प्रवस्था मे उनमे से कोई भी सम्भव नही, क्योंकि प्रतिशयाधान का स्थायित्व से भिन्न माना गया है और उसकी सहकारिया से उत्पन्न हाने की कल्पना की गई है। पुन इस प्रकार के सयाग को समवाय स्वभाव का नही माना जा सकता, क्योंकि यह प्रतिशयाधान एक अतिरिक्त सहायता (उपकार) के स्वभाव का होने के कारण समवाय के स्वभाव का नही माना जा सकता। यदि इस प्रतिशयाधान को न तो उपकार स्वभावी और न स्थायी तत्व के साथ तादात्म्यस्वभावी माना जाय, और यदि फिर भी उसे स्थायी तत्व के साथ समवायिसबध स सयुक्त माना जाय तो ससार मे किसी भी वस्तु का प्रन्य किसी भी वस्तु क साथ समवाय सम्ब ध म युक्त माना जा सकता है। दूसरे विकल्प की यह मान्यता है कि स्थायी तत्व सहकारिया के स्वतन्त्र क्रिया कलाप की प्रतीक्षा करता है, इस विकल्प मे यह प्रश्न उठता है कि क्या स्थायी तत्व का कारणस्वभाव सहकारिया की पूर्णता की प्रवस्था मे उनकी अपूर्णता की प्रवस्था के सदृश ही होता है? प्रथम प्रवस्था म सहकारी भी स्थायी होगे। द्वितीय प्रवस्था मे, स्थायी तत्व का स्थायी नही माना जा सकता।

तत्वा का क्षणिक मानने से उन्ही कठिनाइया के उत्पन्न हाने की भद त योगासन की प्रापत्ति के विषय मे शा तरक्षित एव कमलशील प्रत्युत्तर देते हैं कि उनके मतानुसार सहकारी दा प्रकार से प्राचरण करते हैं, प्रथमत स्वतन्त्र सहयोग (एकार्थक्रियाकारिता) क रूप मे, और द्वितीयत, परस्पर सहायता (परस्परोपकारिता) के रूप मे। अत प्रथम क्षण म विभिन्न सहकारी इकाईयाँ केवल स्वतन्त्र रूप से सहयोगी है क्योंकि एक क्षण मे उनकी पारस्परिक क्रियाएँ एक दूसरे की सहायता नही कर सकती, परन्तु द्वितीय क्षण मे कार्यों को सयुक्त स्वभाव का माना जा सकता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार यद्यपि प्रत्येक तत्व स्वतन्त्र रूप से क्रिया करता है तथापि उनकी कोई भी क्रिया असगत नही होती। उन सब का उत्पादन होता है और एक अनादि क्रम म सम्बद्ध कारणो एव प्रवस्थाओ द्वारा निर्धारण हाता है।

वस्तुओ के एकत्व हाने एव स्थायित्व होने के प्रत्यक्ष एव प्रत्यभिज्ञा के प्राधार पर समस्त वस्तुओ की क्षणिकता के विरुद्ध आपत्ति सत्य नही है। स्थायित्व का तथ्य इन्द्रियप्रत्यक्ष द्वारा सम्भव न होने के कारण मिथ्या कल्पना के कारण मानना पडेगा। समस्त प्रत्यभिज्ञा का कारण स्मृति व्यापार माना है जिसे प्रामाणिक ज्ञान के लिए प्राय सब लोग अप्रामाणिक मानते है। इस बात पर यह तक प्रस्तुत किया जा सकता है कि यदि वतमान काल मे प्रत्यक्षतत्व किसी पूवकाल मे प्रत्यक्षीकृत

तत्व को कैसे ग्रहण कर सकता है ? यदि उनको भिन्न भिन्न माना जाय, तो यह स्वीकार किया जाता है कि प्रत्यभिज्ञा मे एक ही रूप मे प्रत्यक्षीकृत तत्व वस्तुत एक नही है । एक ही सज्ञा से वस्तुग्रो के नात होने के कारण उन के स्थायी होने का आपत्तिकर्ता का मत भी प्रमाणविरुद्ध है क्योकि यह सुविदित है कि साधारण प्रत्यक्ष मे भी अग्निशिखा को सामान्य बोलचाल की भाषा मे एक ही अग्निशिखा माना जाता है जबकि यह ज्ञात है कि अग्निशिखा प्रतिक्षण नष्ट होती है । अत सारी विद्यमान वस्तुओ को क्षणिक मानना चाहिए ।

(ज) तत्वो के ग्रस्थायित्व की आलोचना का खण्डन

नैयायिको तथा अन्यो द्वारा यह आपत्ति की जाती है कि यदि वस्तुए क्षणिक हैं तो *कर्मसिद्धान्त स्थिर नही रह सकेगा, क्योकि यह कैसे जाना जा सकता है कि कर्म* तो एक आदमी करे और फल दूसरा भोगे ? पुन यह कैसे जाना जा सकता है कि कार्य के उत्पन्न होने तक स्थिर न रहने वाला एक क्षणिक कारण कैसे उस कार्य को उत्पन्न कर सकता है ? पुनश्च यदि विषय क्षणिक है तो उनका चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है ? वर्तमान और भूत की एकात्मकता का निर्धारण करने वाले किसी स्थायी द्रष्टा के अभाव में प्रत्यभिज्ञान भी दुरूह हो जाएगा । पुनश्च बन्धन और मोक्ष ग्रस्थायी सत्ताओ पर कैसे प्रयुक्त होगे ? इसके उत्तर मे शान्तरक्षित एव कमलशील का कथन है कि जिस प्रकार एक बीज से किसी चेतन कर्त्ता के अधिष्ठातृत्व के बिना ही अपनी अपरिवर्तनीय शक्ति के द्वारा अकुर उत्पन्न हो जाते हैं ठीक उसी प्रकार किसी स्थायी चेतन कर्त्ता के अधिष्ठातृत्व के बिना ही मनुष्य की आभ्यन्तर अवस्थाओ से अन्य अवस्थाए उत्पन्न हो सकती है, समस्त उत्पत्ति के लिए यह क्रम सकेत है 'ऐसा होने पर वसा होता है,' 'इसके उत्पन्न होने पर उसकी उत्पत्ति होती है', अविद्या के कारण ही मनुष्य यह नही देख पाता कि परिणाम अवस्थाओ का निर्धारण पूर्ववर्ती अवस्थाओ की नसर्गिक शक्ति द्वारा होता है और अपने आपको इस या उस कार्य का कर्ता अथवा मोक्ष के लिए प्रयत्नशील समझने लगता है । वस्तुओ के यथार्थ स्वरूप का निर्धारण मनुष्यो के भ्रान्तिमय अनुभवो द्वारा नही हो सकता । कभी कभी यह आपत्ति की जाती है कि बीज के अवयव अपनी उपयुक्त सरचना द्वितीय अवस्था मे पोषक तत्वो को आत्मसात करके प्राप्त करते हैं, और तत्पश्चात् पुन तृतीय अवस्था म नए पोषक तत्वो की अतिरिक्त वृद्धि द्वारा नवीन सरचना को प्राप्त करते हैं अत यह नही माना जा सकता कि द्वितीय अवस्था मे बीज के अवयव पूर्णत नष्ट हो जाते हैं । इसके प्रत्युत्तर मे शान्तरक्षित का कथन है कि द्वितीय अवस्था म कार्य की उत्पत्ति प्रथम कारणक्षण के अविनष्ट अर्थक्रियाकारित्व के अधीन होती है जिसके कारण विनष्ट न होने तक प्रथम क्षण के अर्थक्रियाकारित्व के कारण कार्य की उत्पत्ति होती है तथापि कारण का नाश द्वितीय क्षण मे होता है

क्योंकि कारण द्वारा एक बार कार्य उत्पन्न होने के पश्चात् कारण से कार्य की उत्पत्ति पुनः पुनः नहीं हो सकती, यदि ऐसा होता तो अनवस्था दोष की प्राप्ति होती। अतः यह स्वीकार करना होगा कि कारण का अर्थक्रियाकारित्व उत्पादन के तत्क्षण पश्चात् विरत हो जाता है।[1] कारण के साथ ही कार्य के होने (सहभूत कार्यम्) का मत अयुक्तियुक्त है क्योंकि स्वयं कारण की उत्पत्ति हुए बिना कारण से कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती, पुनः कारण स्वयं उत्पन्न होने के पश्चात् उत्पादन नहीं कर सकता क्योंकि उस अवस्था में कार्य को भी कारणस्वभावी मानना होगा, परन्तु उसके साथ ही इसके अर्थक्रियाकारित्व के लिए भी कोई स्थान नहीं रहेगा। अतः कार्य एवं कारण सहभूत नहीं हो सकते। कारण व्यापार को कारण से भिन्न एवं पृथक् स्वीकार करने की भी आवश्यकता नहीं है। तदन्तरभावित्व (नियतपूर्वकालभावित्व) ही केवल उसका कारण है।[2] यदि कारण को कार्य से सम्बद्ध करने के लिए कारण-व्यापार को स्वीकार करना आवश्यक ही है, तो उसका अन्य व्यापार की आवश्यकता होगी, उसे किसी अन्य की और इस प्रकार अनवस्था की प्राप्ति होगी। यदि कारण व्यापार को स्वतः स्वतन्त्र रूप से कार्य के उत्पादन में समर्थ माना जाय तो कारण को भी कार्य के उत्पादन में समर्थ माना जा सकता है। यह आपत्ति अयुक्तियुक्त है कि *यदि पूर्वकालभावित्व मात्र को कारणत्व का निर्धारक माना जाय तो किसी वस्तु के* दर्शन के पश्चात् उसकी गंध ग्रहण करने के तथ्य से यह अनुमान भी किया जा सकता है कि रूप गंध का कारण है क्योंकि रूप को गंध का सहकारी कारण मानने के विषय में बौद्धों को कोई आपत्ति नहीं है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि बौद्ध पूर्वकालभावित्व मात्र को ही नहीं अपितु अपरिवर्तनीय एवं आवश्यक पूर्वकालभावित्व को कारण की परिभाषा मानते हैं।[3] पुनः यदि विषयों को क्षणिक मान लिया जाय तो प्रत्यक्ष में किसी कठिनाई का अनुभव नहीं होगा, क्योंकि विज्ञप्तियां को विषयानुरूप *आकार वाला अथवा निराकार परन्तु विषयप्रकाशी माना जा सकता है।* प्रत्येक अवस्था में विज्ञप्तियां अपने कारणों से उत्पन्न होती हैं विषयों में क्षणिकत्व अथवा स्थायित्व का उनके निर्धारण से कोई संबंध नहीं। यथार्थ में न तो कोई कारण है और न कोई ज्ञाता अपितु विचरमाण मानसिक घटनाओं की शृंखला मात्र ही हैं। कारणत्व पूर्व अवस्थाओं द्वारा पर अवस्थाओं के निर्धारण में निहित है। उदाहरण

---

[1] शान्तरक्षित के अनुसार वैभाषिकों का मत है कि कार्य की उत्पत्ति तृतीय क्षण में होती है इस मत के अनुसार कार्य की उत्पत्ति नष्ट कारण से होती है।

[2] इदमेव हि कार्यस्य कारणापेक्षा यत् तदनन्तरभावित्वम्।

—तत्त्वसंग्रह, पृ० १७७।

[3] न हि वर्तमानतयमात्रं कार्यकारणभावाधिगतिनिबंधनं यस्यैवानन्तरं यद्भवति तस्य कारणमिष्यते।

—वही, पृ० १८०।

की यह आपत्ति अनुपयुक्त है कि यदि मन क्षणिक है तो कर्मों द्वारा वासनाएं नहीं हो सकती, बौद्धों के मत में इसका कारण यह है कि वासना का अर्थ विकृत स्वभाव की एक नवीन मानसिक अवस्था की उत्पत्ति के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। पुन कोई ऐसा स्थायी द्रष्टा नहीं जो स्मर्ता और प्रत्यभिज्ञाता हो, किन्हीं चेतन अवस्थाओं की एक विशिष्ट शृंखला में किसी विशिष्ट प्रत्यक्ष के बल पर जब ऐसी वासनाएं उत्पन्न होती हैं जिनको स्मृति के बीजों से युक्त माना जा सके तब ही स्मृति का होना संभव है। बौद्धों का भी यह मत नहीं है कि एक ही व्यक्ति बंधन एवं मोक्ष को भोगता है, उनका विचार है कि बंधन अविद्या तथा अन्य कारणों के कारण दु खमय अवस्थाओं की उत्पत्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं है और मोक्ष यथार्थ ज्ञान द्वारा अविद्या के विराम के कारण मानस अवस्थाओं की शुद्धि के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

(झ) न्याय-वैशेषिक पदार्थों का खण्डन

शान्तरक्षित एवं कमलशील गुण, कर्म, सामान्य जाति, विशेष समवाय, शब्दार्थ, इन शाखाओं सहित द्रव्य के पदार्थों का खंडन करने का प्रयास करते हैं। यह खंडन संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत है।

अणुतत्त्वों का विरोध करते हुए उनका कथन है कि नित्य तत्त्वों में विशेषातिशय उत्पन्न न होने के कारण किसी प्रकार की कोई अवस्थाएं अथवा सामग्रियाँ परमाणु में कोई विकार उत्पन्न नहीं कर सकती, अत परमाणुओं के सदा एक स्वभाव होने के कारण सारे विषय उनसे तो एक साथ उत्पन्न होने चाहिएँ अथवा उत्पन्न ही नहीं होने चाहिएँ। परमाणुओं के किसी भी कारण का ज्ञान न होना मात्र उनको कारणहीन मानने का आधार नहीं है। अवयवियों का जो खण्डन पहले ही किया जा चुका है वह द्रव्यावयवियों का स्वीकार करने के विरुद्ध भी सत्य है और इसी से परमाणु रचित द्रव्यावयवी माने जाने वाले चार द्रव्य पृथ्वी जल वायु एवं आकाश का भी खण्डन हो जाता है। पुन स्वतंत्र तथा पृथक् दिक् एवं काल तत्त्वों का अस्तित्व सिद्ध करना भी सुकर नहीं है क्योंकि देशीय तथा कालिक निर्धारणाओं की व्याख्या भी अनुभूति के अन्य तथ्यों के समान ही अपने विशिष्ट कारणों के कारण उत्पन्न वासनाओं से की जा सकती है। बौद्ध ज्ञानेन्द्रियों से भिन्न कारण के रूप में मन के अस्तित्व को स्वीकार तो करते हैं परन्तु वे नित्य एवं एक मात्र तत्त्व के रूप में उसके अस्तित्व का स्वीकार नहीं करते।

द्रव्यों के खंडन में द्रव्याश्रयी माने जाने वाले गुणों का खंडन भी निहित है। यदि द्रव्यों का अस्तित्व नहीं है तो जिस समवायि संबंध से गुणों का द्रव्यों में अस्तित्व माना जाता है वह समवायसंबंध भी नहीं रह सकता। पुन जिन परमाणुओं में रूपादिकों का अस्तित्व माना जाता है, उनसे भिन्न इन रूपादिकों के अस्तित्व को स्वीकार करने का भी कोई अर्थ नहीं। संख्याप्रत्यक्ष को भी विशिष्ट संवेदनाओं से

युक्त वासनाग्रो के कारण ही मानना चाहिए। सख्याग्रो को पृथक गुण मानने का भी कोई कारण नही। कुछ इसी प्रकार से शातरक्षित एव कमलशील अन्य न्याय गुणो के खडन मे अग्रसर होते हैं।

कम के खडन की ग्रोर अग्रसर होते हुए उनका कथन है कि यदि समस्त वस्तुग्रो को क्षणिक स्वीकार कर लिया जाय तो कम को उनका गुण नही बताया जा सकता क्योकि कम म अवयवो के क्रमिक पार्थक्य एव सधिस्थला के सयोग की अपेक्षा होने के कारण उसके सम्पादन के लिए कइ क्षणो की अपेक्षा है। यदि वस्तुग्रो का स्थायी अथवा नित्य माना जाय तो भी क्रिया की व्याख्या नही की जा सकती। यदि वस्तुग्रो को सदा क्रियाशील माना जाय तो वे क्रियारत ही रहेंगी जबकि उनका प्रत्यक्ष निष्क्रिय रूप में होता है, ऐसा होना असमव है। यदि वस्तुएँ स्वभावत निष्क्रिय हैं तो उनम कोइ स्पन्दनात्मक क्रिया नही हो सकती। गुणो एव कर्मों के खडन में निहित मुख्य सिद्धान्त यह है कि बौद्ध गुणा तथा कर्मों को और विशिष्ट इन्द्रिय विषयोपलब्धिया को एक ही मानते हैं। उनके अनुसार इन्द्रियविषया का पदार्थों के ऐसे द्रव्या के रूप में विश्लेषण करना गलत है जिनमे गुण और क्रिया का उनसे भिन्न पदार्थो के रूप म समवाय है। कोइ भी द्रव्य हो, उसका गुण भी वही होता है जिसके समवाय की उसमे कल्पना की जाती है और क्रिया भी वही होती है जिसका सम्पादन उससे अपेक्षित है।

जातिया के खडन के विषय मे बौद्ध तर्कों की मुख्य धारा इस प्रकार है कि जाति स्वभाव का प्रत्यक्ष किसी कारण के कारण होने की कल्पना होने पर भी एक जाति के समस्त विकारशील एव विविध पृथक सदस्या मे सतत् विद्यमान नित्य जातिस्वभाव के अस्तित्व की कल्पना करना गलत है। क्योकि किसी भी प्रकार से हम इसकी व्याख्या करने का प्रयत्न करें तो भी यह जानना कठिन है कि जिन पृथक पृथक अवयवो में किसी वस्तु को विद्यमान माना जाता है उन सबके निरन्तर विकृत होते रहने पर भी वह वस्तु निरन्तर वही कैसे रह सकती है। यदि विशेष गुणा, यथा पाचक मे पाचकत्व के कारण जाति सवभाव का समवाय माना जाता है, तो भी यह आपत्ति की जा सकती है कि प्रत्येक अवस्था म पाचन कम भिन्न होने के कारण ऐसा कोइ एक पाचन धर्म नही है जिसके कारण पाचक का जातिस्वभाव स्वीकार्य हो। इसके अतिरिक्त पाचक का पाचन कम न करने पर भी पाचक ही कहा जाता है। इस प्रकार के विचारो से कोइ भी विचारशील व्यक्ति नित्य जातिस्वभाव के अस्तित्व को अस्वीकार करने लगेगा।

विशेष के खडन के विषय म यह कहा जाता है कि यदि योगी परम विशेष का एक दूसरे से भिन्न रूप म प्रत्यक्ष कर सकते हैं तो व उसी प्रकार परमाणुग्रो का एक दूसरे से भिन्न रूप में प्रत्यक्ष कर सकते हैं, यदि कुछ अन्य गुणो के अतिरिक्त अन्य

किसी प्रकार से परमाणुओं का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता तो यही बात स्वय विशेष गुणो को अपेक्षित है।

समवाय के खडन के विषय म बौद्ध मुख्यत एक नित्य समवाय सबध को स्वीकार करने मे आपत्ति करते हैं, यद्यपि जिनमे इस सबध के अस्तित्व की कल्पना की जाती है व सब वस्तुए विकारशील एव विनाशशील हैं। यह एक मिथ्या कल्पना है कि—जसा कि नैयायिको की कल्पना है—समवाय सबध, यथा त तु मे वस्त्र का सबध, के होने की कभी अनुभूति होती हो, मानो कि एक (यथा वस्त्र) अ य (त तु) मे विद्यमान हो।

शकर एव आनन्दज्ञान का तत्व विवेचन

यह सुविदित है कि शकराचाय ब्रह्म सूत्र २ २ ११–१७ पर अपने भाष्य म वैशेषिक परमाणु सिद्धा त की आलोचना करते हैं। उनका प्रथम प्रतिपाद्य विषय यह है कि कारण से भिन्न स्वभाव वाले काय की उत्पत्ति यथा शुद्ध ब्रह्म से अशुद्ध जगत् की उत्पत्ति वेदा त के आलोचक वशेषिको की उपमा के आधार पर भी यथोचित प्रदर्शित की जा सकती है। वैशेषिको का मत है कि परमाणु से द्वयणुक एव द्वयणुक से चतुरणुक के उत्पादन मे, परमाणु और द्वयणुक मे क्रमश विशेष होने वाले परिमाण्डल्य (विशिष्टपरमाण्विकमात्रा) और अणुह्रस्व (विशिष्टद्वयणुकमात्रा) के अतिरिक्त परमाणु और द्वयणुक के अ य सब गुण क्रमश द्वयणुक एव चतुरणुक मे स्थाना तरित हो जाते हैं। अत यद्यपि परमाणुओ के अ य समस्त गुण उनके सयोगो द्वारा उत्पादित द्वयणुको म चले जाते हैं तथापि परमाणुओ का विशिष्ट परिमाण्डल्य परिमाण अणु ह्रस्व परिमाण वाले द्वयणुको म स्थाना तरित नही होता। इसी प्रकार यद्यपि द्वयणुको के समस्त गुण द्वयणुको के सयोग से निर्मित चतुरणुको म स्थान ग्रहण कर लेते हैं तथापि उनका अणुह्रस्व परिमाण द्वयणुको के परिमाण द्वारा अनुत्प न एव स्वय अपने परिमाण अर्थात् महत्परिमाण से युक्त चतुरणुको म स्थाना तरित नही होता। इससे यह प्रकट होता है कि यह वैशेषिको की मा यता है कि परमाणुओ का परिमाण्डल्य परिमाण अपने उत्पाद्य द्वयणुक म एक बिलकुल भि न परिमाण, अर्थात् महत् परिमाण, को उत्प न कर सकता है। इस उपमा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वैशेषिको को एक बिलकुल भि न कारण शुद्ध ब्रह्म से एक बिलकुल भि न काय, अशुद्ध जगत् के उत्पन्न होने म कोई आपत्ति नही है। यदि यह कहा जाय कि परमाणु का परिमाण द्वयणुक म इसलिए नही जा सकता कि एक विपरीत गुण (अणुह्रस्वपरिमाण) द्वारा उसके अधिग्रहण के कारण उसका सचरण असभव हो गया है तो जगत् एव ब्रह्म के मध्य भेद के लिए भी एक ऐसा ही उत्तर दिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त वैशेषिक मतानुसार समस्त उत्पादन

एक क्षण के लिए गुणहीन होने के कारण ऐसा कोइ हेतु नही है कि जब द्वयणुक उत्पन्न हुआ तो पारिमाण्डल्य परिमाण भी उसमे न जाय उस क्षण मे अ य गुणो के समान पारिमाण्डल्य परिमाण के उसम न जाने के कारण यह निष्कर्ष निकलता है कि पारिमाण्डल्य परिमाण के सचरण का अन्य परिमाण द्वारा विरोध होने से परिमाण स्वभावत उसमे नही गया। पुन यह आपत्ति नही की जा सकती कि गुणो के सादृश्य की उपमा द्रव्या के असादृश्य की पुष्टि मे प्रस्तुत नही की जा सकती।

शकर का द्वितीय प्रतिपाद्य विषय यह है कि परमाणुसयोग की वैशेषिक मान्यता मिथ्या है क्योकि परमाणुओ के निरवयव होने के कारण तथा सयोग के लिए सपर्क एव सपर्क के लिए सपर्क म आने वाले अवयवो की अपेक्षा होने के कारण परमाणुओ का कोई सयोग सभव नही। इसके अतिरिक्त सग से पूव किसी प्रयत्नकर्ता के अभाव के कारण, तथा परमाणुओ का सपर्क बिना प्रयत्न फलित न हो सकने के कारण तथा उस काल मे अचेतन होने से जीवो के प्रयत्न मे असमर्थ होने के कारण उस क्रिया का कारण देना असम्भव है जिसके अभाव में परमाणुओ का सम्पर्क भी असम्भव हो जाएगा। अत ऐसे सम्पर्क के लिए आवश्यक प्रयत्न के अभाव मे परमाणु सयुक्त नही हो सकते। शकर का तृतीय प्रतिपाद्य विषय यह है कि वैशेषिको की मान्य समवायसम्बन्ध स्वीकार नहा किया जा सकता, क्योकि यदि दो वस्तुओ के योग मे समवायसम्बन्ध की अपेक्षा है तो स्वय समवाय के उनसे भिन्न होने के कारण स्वय को उनसे युक्त करने के लिए एक अन्य समवाय की आवश्यकता होगी, उसके लिए एक अन्य की, इस प्रकार इसका कोई अन्त नही। यदि सम्पर्क सम्ब ध को सम्पर्कगत विषयो से अपने को सम्बद्ध करन लिए समवाय सम्बन्ध की आवश्यकता हो, तो सम वाय सम्बन्ध को अपने लिए अन्य सबध की आवश्यकता न होने का कोई कारण नही। पुन यदि परमाणुओ को सदा व्यापारशील क्रियाशील एव सयोगशील माना जाय तो प्रलय नही हो सकता और यदि वे सदा विघटनशील हैं तो सग असम्भव होगा। पुनश्च, परमाणुओ के रूपादिगुणो से युक्त होने के कारण उनको किसी सरल कारण का उसी प्रकार फल होना चाहिए जिस प्रकार अन्य गुणवान् विषय सरलतर तत्वो से निर्मित होते है। इसके अतिरिक्त यह मानना भी ठीक नही कि हम अनित्यता का बोध होने के कारण मे नित्यता का आन्वय निहित है और इसी हेतु परमाणुओ का भी नित्य होना आवश्यक है, क्योकि यद्यपि इसमें नित्यता की सत्ता निहित है तथापि ब्रह्म जसी नित्य वस्तु के होने के कारण इसका आशय यह नही कि परमाणु भी नित्य हो। पुन परमाणुओ के विनाश का कारण ज्ञात न होने का यह अर्थ नहीं कि वे नित्य हैं क्योकि विनाश की विधियो को अज्ञान मात्र का आन्वय नित्यता नही है। पुनश्च वशेषिक गलती पर हैं जब वे कहते हैं कि छ विभिन्न पदार्थ होते हैं और फिर भी यह मानते हैं कि अ य सब पाचो पदाथ अपने अस्तित्व अथवा प्रकाशन

[illegible] एव द्रव्य स्वयं अथवा स्वत प्रकट होता है और इसका अर्थ
यह है कि मूलत गुणा का द्रव्य से तादात्म्य है (द्रव्यात्मकता गुणस्य)। इसके अतिरिक्त यह नही कहा जा सकता कि द्रव्य पर अन्य पदार्थों का आश्रयत्व द्रव्य से गुणो के अपृथक्त्व (अयुतसिद्धत्व) मे निहित है। यह अयुतसिद्धत्व देशीय अयुत सिद्धत्व नही हो सकता क्योकि जब तन्तु अपने परिणामस्वरूप वस्त्र की रचना करते हैं तो तन्तुओ एव वस्त्र को एक देशीय नही माना जा सकता, तथापि कारण एव काय होने के कारण उनको अयुतसिद्ध माना जाता है और फिर भी वस्त्र की श्वेतता को तन्तुओ मे व्याप्त नही माना जाता। यदि अयुतसिद्धत्व का अर्थ कालिक अयुतसिद्धत्व है तो वृषभ के दोनो सहभूत शृ गो को भी अयुतसिद्ध ही मानना पडेगा और यदि अयुतसिद्धत्व का अर्थ धर्म का अयुतसिद्धत्व अथवा समानधर्मता हो तो गुणो को द्रव्य से भिन्न नही माना जा सकता। पुन, कारण के काय से पूर्व विद्यमान होने के कारण काय को कारण से अयुतसिद्ध नही माना जा सकता। तो भी वैशेषिक इस पर बल देते हैं कि उनका सम्बन्ध समवायसम्बन्ध है क्योकि वे स्वभावत अयुतसिद्ध हैं।

तथापि उपरिनिर्दिष्ट तार्किक विवेचन जैसे तार्किक विवेचनो मे शकर बहुत कम पडते हैं और कुछ विरले उदाहरण ऐसे हैं जिनमे वे अपने प्रतिपक्षी पर शुद्ध तार्किक दृष्टिकोण से आक्षेप करते हैं। परन्तु यहाँ भी वे वैशेषिक परिभाषाओ की उतनी आलोचना नही करते जितना कि वे कुछ महत्वपूर्ण वैशेषिक सिद्धान्तो के परिणाम स्वरूप सामान्य तार्किक एव आध्यात्मिक अन्यवस्थाओ को प्रदर्शित करते हैं। शकर द्वारा प्रस्तुत इस प्रकार की आलोचनाओ और नैयायिको द्वारा रचित शुद्ध तर्क के प्रतिष्ठित सिद्धान्तो के खडन मे अपने तत्व विवेचन की सूक्ष्मताओ की समस्त शक्ति के प्रयोग द्वारा अपने खण्डनखण्डखाद्य मे ही श्रीहर्ष द्वारा प्रस्तुत आलोचना का अन्तर सुगमता से दृष्टिगोचर हो सकता है। श्रीहर्ष कृत आलोचना का उद्देश्य किसी सिद्धान्त की पुष्टि के लिए अन्य सिद्धान्त की आलोचना न होकर सम्पूर्ण तर्कगम्य अथवा प्रत्यक्षजन्य ज्ञान की सम्भावना का खण्डन है। यह किसी विशिष्ट आध्यात्मिक मत को हाथ मे नही लेती अपितु यथार्थ ज्ञान के लिए प्रत्यक्ष एव अनुमान के सामर्थ्य का अस्वीकार करके यह मान लेती है कि प्रत्यक्ष एव अनुमान के परिभाषा की न्यायिकपद्धति को सदोष एव विरोधाभास युक्त प्रमाणित करके ही उसके काम की इतिश्री हो जाती है। चित्सुख के प्रयास अधिक ठोस हैं क्योकि वह न कवल तर्क के न्याय पदार्थों की ही आलोचना करते हैं अपितु वैशेषिक आध्यात्म की भी आलोचना करते हैं और स्वय वेदान्तमत के विषय मे कुछ स्वीकारात्मक एव महत्वपूर्ण कथन भी प्रस्तुत करते है। आनन्दज्ञान रचित 'तर्क सग्रह' वैशेषिक पदार्थों की निषेधात्मक आलोचना का एक अन्य महत्वपूर्ण ग्रन्थ है और उस ग्रन्थ मे चित्सुख कृत

वैशेषिक पदार्थों की आलोचना का एक अधिक विस्तृत परिमाण मे अग्रेसरहा मात्र है। यथार्थवादी वैष्णव आचार्यों, यथा मध्व और उनके अनुयायियों, द्वारा ज्यो ज्यो वैशेषिक का शनै शनै अंगीकार किया गया त्यो त्यो वैशेषिक के महत्व की भी शनै-शनै वृद्धि होती गई और यह माना जाने लगा कि वैशेषिक के खडन का अर्थ उन द्वैताचार्यों का भी खडन होगा जिन्होने वैशेषिक पदार्थ विद्या एव आध्यात्म विद्या से अपना मुख्य सबल प्राप्त किया।

आनन्दगिरि नाम से भी प्रख्यात, आनन्दज्ञान सम्भवत गुजरात प्रदेश के निवासी थे और उनका काल मध्य त्रयोदश शताब्दी है। आनन्दज्ञान कृत 'तर्क सग्रह' के आमुख म श्री त्रिपाठी यह प्रदर्शित करते हैं कि आनन्दज्ञान शकर के द्वारिकापीठ के मठाधीश थे, श्री शकराचार्य इस मठ के प्रथम गुरु थे। आनन्दज्ञान अनुभूतिस्वरूपाचार्य एव शुद्धानन्द, इन दो गुरुओ के शिष्य थे। अनुभूतिस्वरूपाचार्य ने पाच ग्रथ लिखे (१) सारस्वत प्रक्रिया नामक व्याकरण ग्रन्थ (२) गौडपादरचित 'माण्डूक्यकारिका' पर शाकर भाष्य की टीका (३) आनन्दबोधयति कृत-'न्याय मकरद' पर 'न्यायमकरदसग्रह' नामक टीका (४) आनन्दबोध कृत 'न्याय दीपावली' पर 'चन्द्रिका नामक टीका (५) आनन्दबोध कृत 'प्रमाणमाला पर 'निबन्ध नामक भाष्य। उनके द्वितीय गुरु शुद्धानन्द के बारे में कुछ भी नही ज्ञात है। यह शुद्धानन्द सत्रहवी शताब्दीकालीन स्वयप्रकाश के गुरु एव अद्वैत मकरद टीकाकार शुद्धानन्द से भिन्न है। प्रकाशात्मन् कृत 'पचपादिकाविवरण' की 'तत्वदीपन टीका के लेखक अखडानन्द आनन्दगिरि के पट्टशिष्यो मे से एक थे, क्योकि तत्वदीपन' के चतुर्थ श्लोक म वे आनन्दगिरि का 'शैलाल्लुपवास्यसतत भजे इन शब्दो मे उल्लेख करते हैं। आनन्दगिरि ने अनेको ग्रन्थ रचे जिनम अधिकाश टीकाएँ ही हैं। उनमे से निम्न पहले से ही मुद्रित हो चुकी हैं 'ईशावास्यभाष्य टिप्पण', केनोपनिषद् भाष्य टिप्पण' वाक्यविवरणव्याख्या माण्डूक्यगौडपादीय भाष्य व्याख्या, तैत्तिरीयभाष्य टिप्पण, छान्दोग्यभाष्यटीका, तैत्तिरीयभाष्यवार्तिक टीका, शास्त्रप्रकाशिका बृहदारण्यकभाष्य वार्तिक टीका, शारीरकभाष्य टीका (जिसे 'न्यायनिर्णय' भी कहा जाता है) गीताभाष्य विवेचन, जगन्नाथाश्रय (पन्द्रहवी शताब्दी के उत्तरार्धकालीन) के शिष्य रामतीर्थ कृत 'तत्वचन्द्रिका टीका सहित पचीकरण विवरण, एव 'तर्क सग्रह'। परन्तु उपदेशसाहस्रीविवृति, वाक्यवृत्ति टीका, आत्म ज्ञानोपदेश टीका, स्वरूपनिर्णय टीका, त्रिपुरीप्रकरण टीका, पदार्थतत्वनिर्णय विवरण तथा तत्वालोक जैसे उनके कुछ अन्य ग्रन्थ अभी भी मुद्रित होने शेष हैं। इस प्रकार यह ज्ञात होगा कि उनके प्राय समस्त ग्रन्थ शकर के भाष्यो अथवा अन्य ग्रथो की टीकाएँ मात्र हैं। केवल तत्वसग्रह एव तत्वालोक (जिन्हे जनार्दन कृत बताया जाता है, जनार्दन सम्भवत

आनन्दगिरि का गृहस्थाश्रम का नाम हो) ही उनके दो स्वतन्त्र ग्रन्थ प्रतीत होते हैं।[1] आनन्दगिरि 'तत्त्वालोक' में कई अन्य दार्शनिकों के सिद्धान्तों का यहाँ तक कि भास्कर के प्रमाण सिद्धान्त का भी खंडन करते हैं परन्तु इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि दुर्भाग्यवश वर्तमान लेखक को उपलब्ध नहीं हुई। 'तत्त्वसंग्रह' को लगभग पूर्ण रूप में वैशेषिक दर्शन के सविस्तर खंडन के लिए लगाया गया है। यह ग्रन्थ तीन अध्यायों में विभक्त हैं। प्रथम अध्याय में द्रव्य की आलोचना करते हुए वे द्वैत, तत्त्व सत्त्व, असत्त्व भाव, अभाव के प्रत्ययों के खंडन से प्रारम्भ करते हैं। तत्पश्चात् आनन्दज्ञान द्रव्य की परिभाषा तथा उसके नवधा विभाजन (वैशेषिक दर्शन के अनुसार) के खंडन की ओर अग्रसर होते हैं। तत्पश्चात् वे पृथ्वी द्रव्य और उसके विविध रूपों, यथा परमाणु तथा द्वयणुक उसके महाभौतिक रूपों और उनकी विकृत अवस्थाओं, यथा शरीर इन्द्रियों और इन्द्रिय अर्थों की आलोचना करके जल, अग्नि और वायु के द्रव्यों और सृष्टि तथा प्रलय, आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मन के सिद्धान्तों का खंडन करते हैं। द्वितीय अध्याय में वे रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि गुणों की, पीलुपाक अथवा पिठर पाक द्वारा इन्द्रिय अर्थों के परिवर्तन पर ताप के प्रभाव संख्या, परिमाण, पृथक्त्व संयोग, विभाग, ज्ञान के स्वभाव, माया और स्वप्न, प्रमाण तथा प्रमा प्रत्यक्ष अनुमान, व्याप्ति हेतु, हेत्वाभास, दृष्टान्त, वाद, वितण्डा जल्प आगम, उपमान स्मृति, सुख, दुःख, इच्छा द्वेष प्रयत्न, गुरुत्व, द्रवत्व पाप, पुण्य आदि की आलोचना करते हैं। तृतीय अध्याय में वे कर्म जाति, समवाय एवं विभिन्न प्रकार के अभावों के प्रत्ययों का खंडन करते हैं। इन सब खंडनों में उनका प्रतिपाद्य विषय वही है जो श्री हर्ष अथवा चित्सुख का है अर्थात् वैशेषिक जिस किसी प्रकार से ही जगत् प्रपंचों के विभाग वर्गीकरण अथवा परिभाषा का प्रयत्न करें वे उसमें असफल ही रहे हैं।

इतनी लम्बी आलोचना एवं खंडन के पश्चात् जिस निष्कर्ष पर आनन्दज्ञान पहुँचते हैं वह हमें आनन्दबोध रचित 'न्यायमकरन्द' में दिए हुए उनके निष्कर्षों का स्मरण करा देते हैं। 'न्याय मकरन्द' पर आनन्दज्ञान के गुरु अनुभूतिस्वरूपाचार्य ने टीका लिखी थी। इसका उल्लेख आनन्दबोध के मत की विवेचना करते समय पहले ही किया जा चुका है। अतः आनन्दज्ञान का कथन है कि एक मायामय आरोपण को सत् नहीं माना जा सकता क्योंकि प्रतीति के अधिष्ठान में उसके असत् होने के कारण वह अन्य कहीं भी सत् नहीं हो सकता और न उसे अतिशयासत् ही माना जा सकता है क्योंकि यदि ऐसा होता तो वह अपरोक्षप्रत्यक्ष के रूप में प्रकट नहीं होता (अपरोक्षप्रतीति विरोधात्) और न उसे एक ही विषय में सत् और असत् नहीं माना जा

---

[1] देखिए तर्क संग्रह को श्री त्रिपाठी जी के सम्करण की उनकी भूमिका, बड़ौदा–१९१७।

सकता। एक मात्र विकल्प यह शेष रहता है कि मायामय आरोपण स्वभावत अनिर्वाच्य है।[1] इस अनिर्वाच्यता का यह अर्थ है कि चाहे जिस प्रकार से इसके वर्णन का प्रयत्न किया जाय यह ज्ञात होगा कि उसके सदर्भ मे उनमे से किसी भी प्रकार की पुष्टि नही हो सकती, अथवा अन्य शब्दो मे, वह उनमें से प्रत्येक प्रकार मे अनिर्वाच्य है।[2] अब, चूकि समस्त प्रतीतियो का कोई न कोई कारण होना आवश्यक है तथा चूकि किसी असत् वस्तु का सत्वस्तु उपादान कारण नहीं हो सकती (न च अवस्तुना वस्तु उपादानमुपपद्यते) और चूकि स्वभावत वे सब अनिर्वाच्य हैं, अत उनका कारण भी उसी स्वभाव अर्थात् अधिष्ठान की अज्ञानता का होना चाहिए।[3]

इसके पश्चात् उनका कथन है कि समस्त प्रतीतियो का उपादान, अज्ञान ब्रह्म से सम्बद्ध है, क्योकि यदि सवज्ञ (प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय एव उनके सम्बन्ध) के उपादान अज्ञान से ब्रह्म सम्बन्ध न हो तो उसको सवज्ञ नही माना जा सकता।[4] एक तत्व आत्मा ब्रह्म, के अतिरिक्त सब प्रतीयमान जगत् अज्ञान का फल है। यह एक अज्ञान अनन्तविध प्रतीतियो की व्याख्या कर सकता है और प्रतीतियो की विविधता अथवा अनेकता का स्पष्ट करने के लिए अनेको अज्ञानो का स्वीकार करने की लेशमात्र भी आवश्यकता नही है। अत अनेक आत्माएँ इस एक अज्ञान के साथ ब्रह्म के सम्बन्ध से उत्पन्न प्रतीतियाँ मात्र ही हैं।[5] यही एक अज्ञान स्वप्न एव जाग्रत् अवस्थाओ की प्रतीतियो के लिए उत्तरदायी है। यही एक अज्ञान अपने विविध कार्यो अथवा व्यापारो के तरीको द्वारा समस्त प्रकार की विविधताओ का हेतु है। यदि तत्व एक ही है जो एक अज्ञान के माध्यम से समस्त नानारूप प्रतीतियो मे प्रकट होता है तो अहभाव एव आत्मप्रत्यभिज्ञा के व्यापारो की व्याख्या कैसे की जाएगी?

---

[1] पारिशेष्यादनिर्वाच्यमारोप्यमुपगम्यता सत्वादीना प्रकाराणा प्रागुक्तन्याय बाधनात् तत्वसग्रह–पृ० १३५।

[2] येन येन प्रकारेण परो निवक्तुमिच्छति, तेन तेनात्मनायोगस्तदनिर्वाच्यता मता। तत्वसग्रह–पृ० १३६।

[3] तस्माद्रूप्यादिकार्यस्यानिर्वाच्यत्वात् तदुपादानमपि अधिष्ठानाज्ञानमुपादेयम्– वही–पृ० १३७।

[4] प्रमाणत सवज्ञत्वेऽपि प्रमातृत्वस्य प्रमाणप्रमेयसम्बन्धस्य चाज्ञानसम्बन्धमन्तरेणा सिद्धे, तस्मिन्नज्ञानवत्त्वमवश्यमाश्रयितव्यमन्यथा सवज्ञत्वायोगात– वही–पृ० १३७ ३८।

[5] एकस्तावदात्मा द्वयोरपि आवयो सम्प्रतिपन्नोऽस्ति तस्य स्वाज्ञानादेव अविवादद-सिद्धादेकस्मदतिरिक्त सव प्रतिभाति—समस्तस्यैव भेदमानस्यापारमार्थिकस्यैक ज्ञानसामर्थ्यदिव सभवान्नाज्ञानभेदे हेतुरस्ति–तत्वसग्रह–पृ० १३८ १३९।

इस कठिनाई के उत्तर में ग्रानन्दज्ञान का उत्तर है कि द्रष्टा एवं दृश्य ग्रात्मा दोनों ही ग्रन्तःकरणगत (ग्रज्ञान का फल) मिथ्या प्रतीतियाँ मात्र हैं ग्रौर इसकी किसी प्रकार की क्रिया से एक सत्य ग्रात्मा किसी भी प्रकार से दूषित नहीं होता। ग्रतः ब्रह्म ग्रद्वितीय है ग्रौर उससे सम्बद्ध एक ग्रनादि ग्रनिर्वाच्य ग्रज्ञान है, जो उस सब ग्रनन्त रूप में विविध प्रतीतियों का कारण है जिनके द्वारा मानो ब्रह्म ग्रशुद्ध प्रतीत होता है तथा बन्धन भोगता है ग्रौर पुनः मानो ग्रात्मा के यथार्थ स्वरूप के वेदान्ती सत्य की उपलब्धि के द्वारा पुनः मुक्त हुग्रा प्रतीत होता है।[1] वस्तुतः न तो बन्धन ही होता है ग्रौर न मोक्ष ही।

उपर्युक्त से यह संकेत दिया जा सकता है कि ब्रह्म के साथ ग्रज्ञान के जिस सम्बन्ध का वाचस्पति ग्रौर ग्रानन्दबोध ने स्वीकार किया उसी व्याख्या को ग्रानन्दज्ञान ने भी ग्रपनाया है। शांकरदर्शन के व्याख्याता के रूप में ग्रानन्दज्ञान की स्थिति शांकरभाष्यों पर उनके द्वारा रचित ग्रनेकों सक्षम टीकाग्रों तथा परकालीन लेखकों द्वारा किए गए उनके उल्लेखों से भी स्पष्ट है। उनमें से कुछ लेखकों के नाम श्री त्रिपाठी ने संगृहीत किए हैं, वे हैं—प्रज्ञानानन्द, शेषशार्ङ्गधर, वादिवागीश्वर, वादीन्द्र, रामानन्द सरस्वती, सदानन्द काश्मीरक (१५४७ ई०प०), कृष्णानन्द (१६५० ई०प०) महेश्वरतीर्थ (१६५० ई०प०) इत्यादि।

'प्रकटार्थ विवरण' का दर्शन

'प्रकटार्थ विवरण' (जैसाकि स्वयं लेखक इस ग्रन्थ के ग्रन्त में पुष्पिका में लिखते हैं—प्रारभ्यते विवरणं प्रकटार्थमेतत्) ब्रह्मसूत्र पर शांकर भाष्य की ग्रभी तक पाण्डुलिपि में उपलब्ध एक महत्त्वपूर्ण टीका है। ग्रडयार पुस्तकालय मद्रास के पुस्तकालयाध्यक्ष श्री टी० ग्रार० चिन्तामणि के सौजन्य से वर्तमान ग्रन्थ के लेखक को इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि का ग्रडयार पुस्तकालय में ग्रवलोकन करने का सौभाग्य प्राप्त हुग्रा। श्री चिन्तामणि इसका एक संस्करण प्रकाशित करने का विचार कर रहे हैं। तथापि ग्रन्थकार ग्रन्थ में कहीं भी ग्रपना नाम प्रकट नहीं करता है ग्रौर ग्रन्य ग्रन्थों में इसके प्रकटार्थ नाम का ग्रथवा प्रकटार्थ के रचयिता (प्रकटार्थकार)

---

[1] ग्रद्वितीयमात्मतत्त्वम्, तत्र च ग्रनाद्यमनिर्वाच्यमेकमज्ञानमनन्तभेदप्रतिभाननिदानम् ततश्चानेकार्यकलुषितमात्मतत्त्वं बद्धमिवानुभूयमानं, वेदान्तवाक्योत्थतत्त्वसाक्षात्कार-पराकृतसकार्याज्ञानं मुक्तमिव भाति, परमार्थतो, न बन्धो न मुक्तिरिति सकार्याज्ञान निवृत्त्युपलक्षितम् परिपूर्णमात्मतत्त्वमेव परमपुरुषार्थरूपं सिद्ध्यति।

—वही–१४१।

का सर्वत्र उल्लेख किया गया है, न कि ग्रन्थकार के व्यक्तिगत नाम का।[1] त्रयोदश-शती के आनन्दज्ञान ने इस ग्रन्थ का (आनन्दाश्रम संस्करण के 'मुण्डक' पृ० ३२, केन पृ० २३) उल्लेख किया है, और यह मानना ठीक होगा कि ग्रन्थकार द्वादश शती के उत्तरार्ध काल मे विद्यमान थे। ये 'वेदान्तकौमुदी' के रचयिता रामाद्वय से तो निश्चित ही पूर्ववर्ती होंगे। रामाद्वय न केवल प्रकटार्थ' का उल्लेख ही करते हैं अपितु अपने कई प्रत्ययो मे इस ग्रन्थ के तर्कों से भी बहुत प्रभावित हुए हैं।[2] प्रकटार्थ कार का मत है कि शुद्ध चैतन्य के संयोग मे माया (चिन्मात्रसम्बन्धिनी) समस्त भूत प्रकृति की जन्मदात्री होती है। शुद्ध चैतन्य (चिन्मात्र) के माया मे प्रतिबिम्ब के द्वारा ईश्वर की उत्पत्ति होती है और उसके परिणामस्वरूप स्रष्टा ब्रह्म की उत्पत्ति होती है, तथा उस ब्रह्म के अनन्त अवयवो मे चिन्मात्र के प्रतिबिम्ब द्वारा ही माया की आवरण एव सर्जक क्रियाओ के कारण अनन्त जीवात्माओ का उदय होता है। 'माया' अथवा 'अज्ञान' एक अभाव न होकर ठीक वैसे ही एक भावात्मक उपादान कारण है जैसे कि मिट्टी घट का कारण है (अनाननाभाव उपादानत्वात् मृद्वत्), परन्तु माया मे आवरणत्व (आवरणत्वात्) एव सत्य ज्ञान के द्वारा नश्वर होने के कारण (प्रकाश हेयत्वात्) उसको उसके विद्यमान रूप मे जाना नही जा सकता, तथापि उस समस्त भ्रमो का भावात्मक कारण भी माना जा सकता है।[3] सुविदित वेदान्ती पद स्वप्रकाश' की परिभाषा प्रकटार्थ मे इस प्रकार की गई है स्वय अपने संविद् के ज्ञान बिना प्रकाश (स्वसंविन्निरपेक्षया स्फुरणम्)। आत्मा को स्वप्रकाश मानना होगा, क्योकि ऐसी परिकल्पना के अभाव मे आत्मा का प्रकाश अगम्य होगा।[4] तत्पश्चात् प्रकटार्थ कार कुमारिल के मत की ज्ञान के विपर्ययपरक एव संविद् विशेष होने के कारण अनुमानगम्य होने के कारण आलोचना करते हैं तथा ज्ञान को विषयो में समवायी रूप से विद्यमान विषय का प्रकाश मानने वाले न्याय

---

[1] ग्रन्थ के अन्त मे पुष्पिका निम्न है—
ज्ञात्वापि यस्य बहुकालमचिन्तनेन, व्याख्यातुमक्षमतया परितापि चेत
तस्योपतापहरणाय मयेह भाष्ये, प्रारभ्यते विवरणं प्रकटार्थमेतत्।
पाण्डुलिपि स० १ ३८ ३७ राजकीय पाण्डुलिपि पुस्तकालय मद्रास।

[2] वेदान्त कौमुदी पाण्डुलिपि की रूपान्तरित प्रतिलिपि—पृ० ६६।

[3] आवरणत्वात्प्रकाशहेयत्वाद्वा तमावरस्वरूपेण प्रमाणयोग्यत्वेप्याभावव्यावृत्ति भ्रमका-रणत्वादिधर्मविशिष्टस्य प्रामाणि त्व न विरुध्यते।

पाण्डुलिपि—पृ० १२।

[4] आत्मा स्वप्रकाशस्ततोऽन्यथाऽनुपपद्यमानत्वे सति, प्रकाशमानत्वान्न य एव न स एव यथा कुम्भ ।। प्रकटार्थ पाण्डुलिपि।

वैशेषिक एवं प्रभाकर मतों की, (*आत्मसमवायी विषयप्रकाशो ज्ञानम्*) और ज्ञान को आत्मा की प्रवृत्तिविशेष मानने वाले भास्कर मत की आलोचना भी करके अन्त में यह मत व्यक्त करते हैं कि मन प्रकाशस्वभावी सत्वगुणप्रधान द्रव्य है और यही मन नैतिक भाग्य से युक्त होकर (अदृष्टादिसहकृतम्) उस पद की प्राप्ति करता है जहाँ विषय प्रकाश की एक लम्बी किरण के सदृश स्थित रहते हैं तथा उसके संनिकर्ष में आते हैं *तथा तब उसके परिणामस्वरूप चिन्मात्र के विषय पर प्रतिबिम्बित होने के कारण* उनका ज्ञान होता है। इस प्रकार परिभाषित प्रत्यक्षज्ञान एक मानस परिणाम है जो किसी विषय का प्रकाश नहीं हो सकता (मन परिणाम संविद् व्यञ्जको ज्ञानम्),[1] तथापि अनुमान में मन का परिणाम विषयों के साथ वास्तविक संस्पर्श बिना ही होता है अतः कोई विषय प्रकाशक स्फुरण नहीं होता, क्योंकि उसमें मन के हेतु *अथवा लिंग के प्रत्यक्ष संसर्ग में होने के कारण अनुमेय विषय के साथ मन के* संनिकर्ष का बाध होता है। यहाँ कोई ऐसा व्यापार नहीं होता जिसके द्वारा विषय ज्ञान अपरोक्ष रूपेण प्रकाशित हो सके, अपितु मन का ऐसा परिणाम होता है कि विषय संबंधी संविद् के उदय में बाधा न हो।[2] 'प्रकटार्थ' कार ईश्वर और जीव की उपाधियों के रूप में माया और अज्ञान में अन्तर मानते हैं।

विमुक्तात्मा (१२०० ई० पू०)

अव्ययात्मा भगवत्पूज्यपाद के शिष्य विमुक्तात्मा ने अपना इष्ट सिद्धि ग्रन्थ संभवतः त्रयोदश शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों के पश्चात् नहीं लिखा। चतुर्दश *शताब्दिकालीन मधुसूदन द्वारा अपने 'अद्वैत सिद्धि' एवं रामाद्वय द्वारा अपने वेदान्त* कौमुदी' में उनको उद्धृत किया गया है। उस पर चित्सुख के आचार्य ज्ञानोत्तम ने टीका लिखी है और उस टीका का नाम इष्टसिद्धिव्याख्या अथवा इष्टसिद्धिविवरण' है। अन्यत्र वर्णित हेतुओं के कारण ज्ञानोत्तम का काल त्रयोदश शताब्दी के उत्तरार्ध के पश्चात् नहीं माना जा सकता। विमुक्तात्मा ने प्रमाणवृत्तिनिर्णय' नामक ग्रन्थ

---

[1] पाडुलिपि, पृ० ५४।

[2] उपलब्ध सम्बन्धार्थां वारेण परिणत मनोऽवावभासव्यावृत्तिमात्रफलम् न तु संविद् व्यंजकम् लिंगादिसंविद् व्यवधानप्रतिबन्धात्।

—पाडु०, पृ० ५४।

यह सुगमता से देखा जा सकता है कि किस प्रकार धर्मराजाध्वरीन्द्र ने अपने पूर्वाचार्यों द्वारा निर्मित इन तथा अन्य सामग्रियों से प्रत्यक्ष तथा अनुमान के अपने वेदान्त सिद्धान्त को विषद किया।

ग्रन्थ भी लिखा जिसका वे अपने 'इष्टसिद्धि' (पाडु–पृ० ७२) मे उल्लेख करते हैं। यह ग्रन्थ अभी तक प्रकाशित नही हुआ है। वर्तमान लेखक को अडयार पुस्तकालय मे उपलब्ध इसकी पाडुलिपि कोचीन राज्यान्तगत नाडुविल मटम् की पाडुलिपि का लिप्यन्तरित रूप है परन्तु यह अनेक भागो म अत्यन्त आशिक ही है, यहा तक कि प्राय चर्चा के अर्थ को सम्यक रूप मे ग्रहण करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। ग्रन्थ आठ अध्यायो मे विभक्त है और इसका अधिकाश वेदान्त दर्शन एव अन्य दर्शनो मे भ्रमो के विश्लेषण से सम्बद्ध चर्चाओ के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस ग्रन्थ को मुण्डन कृत 'ब्रह्मसिद्धि,' सुरेश्वर कृत 'नैष्कर्म्यसिद्धि' विमुक्तात्मा कृत 'इष्ट सिद्धि तथा मधुसूदन कृत अद्वैत सिद्धि' इन चार सिद्धियो मे एक माना जाता है। अब तक नैष्कर्म्यसिद्धि' तथा 'अद्वैतसिद्धि' ही प्रकाशित हुए हैं। मद्रास म 'ब्रह्म सिद्धि' के शीघ्र ही प्रकाशन की आशा की जाती है। परन्तु अभी तक वर्तमान लेखक को इस महत्वपूर्ण कृति के विषय मे किसी प्रयास का ज्ञान नहीं है।

ग्रन्थ का प्रारम्भ लेखक द्वारा की गई वदना की व्याख्या से प्रारम्भ होता है। इसमे वह उस अज, अवाच्य आत्मान द स्वरूप अनन्त अनुभूति की वेदना करते हैं जो ऐसा पट है जिस पर भ्रान्तिमय जगदाभास चित्रित है। अत वह शुद्ध अनुभूति के रूप मे परमतत्व के स्वभाव के विषय मे चर्चा प्रारम्भ करते हैं। शुद्ध चतन्य के अतिरिक्त कुछ भी अनादि तथा नित्य नही हो सकता। परमाणुओ को प्राय अनादि माना जाता है, परन्तु उनके वर्ण एव इन्द्रिय गुण होने के कारण वे प्रकृति के अन्य विषयो के सदृश ही हैं, तथा उनके अवयव भी हैं क्योकि उनके अभाव मे परमाणुओ का सयोग असभव होगा। केवल वही अविभाज्य हो सकता है जो निरवयव एव अनादि हो, और केवल अनुभूति ही को ऐसा कहा जा सकता है। अनुभूति और अन्य विषयो मे यह भेद है कि जबकि विषयो का 'यह अथवा विषय कह कर वर्णन किया जा सकता है वहीं अनुभूति स्पष्टत ऐसी नही है। परन्तु यद्यपि यह भेद सामान्यत स्वीकृत है तथापि तत्व विवेचन सम्बन्धी तर्क यह प्रदर्शित करते हैं कि दोनो आभ्यन्तर दृष्टि से भिन्न नही हैं। तार्किक दृष्टि से प्रत्यक्ष कर्ता तत्व (दृक) और प्रत्यक्ष (दृश्य) मे कोई भेद नही हो सकता क्योकि दृक अप्रत्यक्ष है (अदृश्यत्वात्)। दृश्य और अदृश्य के मध्य किसी भेद को ग्रहण नही किया जा सकता क्योकि समस्त भेद दो ज्ञात तत्वो का वर्णन करता है परन्तु यह तर्क किया जा सकता है कि यद्यपि दृक का ज्ञान नही होता तथापि यह स्वप्रकाश है और इसीलिए भेद का भाव प्रकट होना आवश्यक है। इस आपत्ति के उत्तर के लिए भेद के स्वरूप के विषय म विचार विमर्श अनावश्यक है। यदि भेद भिन्न तत्वो के स्वभाव का होता तो भेद तत्वो के सदर्भ पर आश्रित नही होता (न स्वरूपदृष्टि प्रतियोग्यपेक्षा)। अत भेद को भिन्न तत्व के स्वरूप से भिन्न तथा पृथक ज्ञान प्रक्रिया, यथा रूप रसादि के द्वारा ग्राह्य

मानना पडेगा।[1] परन्तु यह मत भी ठीक नहीं है क्योंकि 'भेद' को भिन्न तत्वों से भिन्न स्वीकार करना कठिन है। इसका कारण यह है कि ऐसे भेद का अपने भेय होने के लिए अन्य भेद की अपेक्षा होगी उसकी किसी अन्य की, इस प्रकार अनावस्था प्रसंग की प्राप्ति होगी, तथा यही आपत्ति पृथक तत्व के रूप में अन्योन्याभाव के लिए भी प्रयुक्त होती है। ऐसी अवस्था मे यह कल्पना करना कठिन है कि दृक एवं दृश्य के मध्य भेद अथवा अन्योन्याभाव कैसे अभिगम्य है? क्योकि यह असंभव है कि ऐसा कोई अन्य ज्ञान हो जिसके द्वारा दृक् को एक एकान्तर प्रतियोगी के रूप मे रखने वाले इस 'भेद अथवा अन्योन्याभाव का दर्शन हो सके'।[2] इसके अतिरिक्त स्वप्रकाश दृष्टि सामर्थ्य सदा विद्यमान रहता है, और उसका अभाव होना असंभव है–इस अवस्था के बिना भेद अथवा अभाव किसी का भी होना असंभव है। इसके उपरान्त ऐसे भेद को गम्य स्वीकार करना भी यह सिद्ध करता है कि यह दृक आत्मा का धर्म नहीं है। भेद को स्वप्रकाश मानने पर वह परापेक्षी नहीं रहेगा, तथा भेद एवं अन्योन्याभाव की समस्त धारणाओं के लिए यह अवस्था आवश्यक है। अतः 'भेद एवं 'अन्योन्याभाव' न तो दृक आत्मा के रूप में और न उसके धर्म के रूप में ही सिद्ध होते हैं, और किसी अन्य प्रकार के भेद अग्राह्य होने के कारण यह स्पष्ट है कि दृक आत्मा एवं उसके धर्मों में भेद नहीं है।

पुनः अभाव की परिभाषा दृश्य के अदर्शन के रूप में की जाती है, परन्तु दृक् दृष्टिस्वभावी है और उसकी अदृष्टि असंभव होगी। यदि दृक के लिए यह स्वीकार भी कर लिया जाय कि दृक का अभाव नश्य है तो ऐसे अभाव का ज्ञान कैसे होगा? क्योंकि स्वयं दृक् के दृष्टिस्वभावी होने के कारण दृक के अभाव में दृष्टि का होना असंभव है। अतः दृक का भाव भ्रान्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता। अतः दृक और दृश्य परस्पर भिन्न नहीं हो सकता। तथापि यह कठिनाई उत्पन्न होती है कि यदि दृक और दृश्य अभिन्न हैं तो दृश्य के धर्म अवच्छेद और भेद दृक के भी धर्म हो जाएंगे। ऐसी सामान्य लोक व्यवहार और अनुभव के विपरीत होने जैसी कल्पनाओं के विरुद्ध अन्य आपत्तियां की जा सकती है। उन दोनों के युगपद् अनुभव के कारण (सहोपलम्भनियामात्) दोनों के अभिन्न होने का तर्क दिया जा सकता, परन्तु उत्तर में यह कहा जा सकता है कि दोनों का न कि एक का अनुभव होने के कारण उनको अभिन्न नहीं माना जा सकता क्योंकि उन दोनों के अनुभव में ही उनके भेद की

---

[1] तस्मात् कथंचिद्भिन्नो नानान्तरगम्यो रूपरसादिवद्भेदोऽभ्युपेय –
—आधार 'दृष्ट सिद्धि' पाडु० पृ० ५।

[2] एवं च सति न दृकदृश्ययोर्भेदो द्रष्टव्य, नाट्यन्योन्याभाव, नहि दृश स्वयं दृष्ट प्रतियोग्यपेक्षदृष्ट्य तरदृश्यरूपान्तर स्व समस्ति स्वयं दृष्टित्वाहानात्।
—पाडु० पृ० ६।

अभिव्यक्ति हो जाती है।[1] ऐसे प्रत्यक्ष अनुभवव्याघात के उपरा त भी दृक एव दृश्य की अभि ता का स्वीकार करने का साहस नही किया जा सकता। युगपत दृष्टि के कारण दृक और दृश्य की अभिन्नता के याय को सत्य नही माना जा सकता, क्योकि प्रथमत दृक् एक ज्ञात विषय नही है और दृश्य कभी स्वप्रकाश नही, द्वितीयत, दृक सदा स्वप्रकाशी है, परन्तु दृश्य नही है, तृतीयत यद्यपि दृक के अभाव मे 'दृश्य प्रकाशित नहीं हो सकता तथापि दृक सवदा स्वय प्रकाश है, अत सीधे रूप म दृक और दृश्य मे सहभावित्व नही है। जब सविद् मे एक दृश्य विषय 'क' प्रकाशित होता तो अन्य विषय 'ख' 'ग', 'घ' आदि प्रकाशित नही होते और दृश्य ख के प्रकाशित होने पर 'क' प्रकाशित नही होता, अपितु सवित् सदा स्वप्रकाश रहता है अत किसी सवित् को किसी विशिष्ट विषयपरक भाव से सदा उपाधियुक्त नही माना जा सकता, क्योकि उस अवस्था मे वह भाव भी सदा स्वप्रकाशित हो जायगा।[2] इसके अतिरिक्त प्रत्येक विशिष्ट भान (यथा 'नील' का भान) क्षणिक है एव स्वप्रकाश है, और इस हेतु किसी अन्य भान का विषय नही हो सकता, और यदि कोई विशिष्ट भान किसी अ य भान का विषय होता, तो यह भान न होकर घट, पुस्तकादिवत् विषय मात्र होता। अत विषय एव उसक भान म अन्तभू त भेद है और इस हेतु सविद् रूप म दृक् को दृश्य से अभि न नही माना जा सकता।[3] यह पहले ही प्रदर्शित किया जा चुका है कि दृक् और दृश्य को भिन्न नही माना जा सकता, और अब यह प्रदर्शित किया गया है कि उनको अभिन्न भी नही माना जा सकता। एक अन्य विकल्प यह है कि वे भिन्न और अभिन्न दोनो हो सकते है (जो कि भास्कर तथा रामानुज तथा अन्यो का भेदाभेद मत है) और विमुक्तात्मा इस विकल्प के भी असभव होने तथा दृक एव दृश्य के भिन्न तथा अभिन्न दोनो ही न हो सकने को प्रदर्शित करने का प्रयत्न करते हैं। भेदाभेद मत के मानने वाले शायद यह कहे कि यद्यपि दृक एव दृश्य को अपनी वतमान अवस्था म अभिन्न नही माना जा सकता है। इसके प्रत्युत्तर म यह कहा जा सकता है कि यदि

---

[1] अभेदे सहभानायोगाद् द्वयोर्हि सहभान न एकस्यव न हि दृशव दृकसहभातीति भवताप्युच्यत नापि दृश्येणैव दृश्य सह भातीति किन्तु दृग्दृश्ययो सहभानमुच्यते अतस्तयार्भेदा भात्येव।

—पादु०, पृ० २५।

[2] कि विद्युद्विशेषितता नाम सविद स्वरूपमुत सवेद्यस्य यदि सविद सापि भात्येव सविद्भानात्सवेद्यस्वरूप चेत्तदा भानान्न सविदो भानम्।

—पादु पृ० २७।

[3] असवेद्यव सवित् सवेद्य चासविदेव अत सवेद्यस्य घटसुखादे सविदश्चाभेदगन्धोऽपि न प्रमाणवान्।

—वही, पृ० ३१।

वे दोनो ब्रह्म के साथ एक और अभिन्न हैं तो उनमे भेद नहीं हो सकता। यदि यह तर्क दिया जाय कि उनका ब्रह्म के साथ तादात्म्य एक अन्य रूप मे है तो भी यह प्रश्न उठता है कि दृक एव दृश्य के रूप मे उनके रूपो का उस रूप से तादात्म्य है, जिस रूप में उनका ब्रह्म से तादात्म्य है तथा किसी को भी दृक एव दृश्य के प्रत्यक्ष रूपो के अतिरिक्त अन्य किसी रूप का ज्ञान नही है अत यह स्वीकार नही किया जा सकता कि अपने भेदो के उपरान्त भी वे किसी रूप मे एक और अभिन्न हैं। यदि पुन यह आपत्ति की जाय कि यह बिलकुल सभव है कि एक तादात्म्य युक्त तत्व के दो भिन्न रूप होने चाहिए, तब भी यह प्रश्न उठता है कि क्या ये रूप एक, भिन्न अथवा उस तत्व से अभिन्न एव भिन्न दोनो ही हैं। प्रथम विकल्प मे रूप भिन्न नही होंगे द्वितीय विकल्प मे वे उस तत्व के साथ एक नहीं होंगे। इसके अतिरिक्त यदि तत्व के किसी भाग का किसी रूप विशेष से तादात्म्य हो तो उसका अन्य रूपो से तादात्म्य नही हो सकता क्योकि उस अवस्था मे ये भिन्न भिन्न रूप एक दूसरे से भिन्न नही होगे तथा पुन यदि रूप तत्व से अभिन्न हो तो रूप का तत्व (रूपी) से अन्तर कैसे किया जा सकता है। तृतीय विकल्प मे यह प्रश्न उठता है कि क्या रूपी का उसके एक रूपविशेष से तादात्म्य है और अन्य रूपो से भेद है अथवा उसका एक ही रूप से तादात्म्य तथा भेद दोनो हैं? प्रथम अवस्था मे प्रत्येक रूप के दो रूप होने चाहिएँ और उनके भी दो अन्य रूप जिनमे वे अभिन्न और भिन्न हो, और उनके दो भी रूप, इस प्रकार अनवस्था दोष की प्राप्ति होगी तथा इसी प्रकार का अनवस्था दोष रूपी एव रूपो के मध्य सबध मे भी प्रकट होगा। इन तथा ऐसे ही अन्य कारणो से यह मानना असभव है कि दृक एव दृश्य अपने प्रत्यक्ष रूप में अभिन्न होने पर भी ब्रह्मरूप में एक और अभिन्न हैं।

यदि नानाविध जगत् दृक से न तो भिन्न न अभिन्न और न भिन्नाभिन्न हैं तो उसकी स्थिति क्या है? मानाकि दृक् शुद्ध प्रत्यक्ष एव शुद्ध ज्ञान के सदृश ही है तथा यदि वह नानाविध जगत् से अभिन्न अथवा भिन्न दोनो भिन्नाभिन्न नही है तो नानाविध जगत् को अवश्य ही अवस्तु होना चाहिए क्योकि यदि उसमे कोई वस्तुत्व होता तो वह उपर्युक्त तीन सबधप्रकारो में से किसी एक प्रकार से सबद्ध होता। परन्तु यदि यह अवस्तु है तो उपर्युक्त आपत्तियो मे से कोई भी उस पर नही लग सकती। पुन यह आपत्ति की जा सकती है कि यदि जगत् अवस्तु होता तो हमारे सामान्य अनुभव एव इस जगत् के साथ व्यावहारिक बर्ताव दोनो मे व्याघात होता। इसके प्रत्युत्तर मे विमुक्तात्मा का कथन है कि जगत् को माया निर्मित स्वीकार करने के कारण (मायानिर्मितत्वाभ्युपगमात्) तथा माया के कार्य वस्तु अथवा अवस्तु न माने जा सकने के कारण इस दृष्टिकोण पर कोई भी उपर्युक्त आपत्ति प्रयुक्त नही होगी। जगत्प्रपच के अवस्तु होने के कारण उसको स्वीकार करना अद्वैत दृष्टिकोण व्याघात उत्पन्न नही कर सकता तथा उसके अवस्तु होने के कारण अनुभव के तथ्य को भी

याय सगत बताया जा सकता है।[1] जो प्रतीति न तो वस्तु हो और न अवस्तु ही उसके उदाहरण के रूप मे स्वप्रतीतियो का उल्लेख किया जा सकता है जिनको इस कारण से अयथार्थ नही माना जा सकता कि वे न तो वस्तुस्वभावी और न अवस्तु-स्वभावी ही, अपितु इसलिए कि व्यावहारिक अनुभव म उनका व्याघात होता है। जिस प्रकार कोई पट अपने पर चित्रित चित्र का न तो उपादान होता है और न चित्र का घटक ही, और जिस प्रकार चित्र को पट का विकार नही माना जा सकता, जैसेकि घट मिट्टी का विकार है, अथवा गुण का विकार नही माना जा सकता यथा पके आम की लालिमा का माना जाता है, तथा जिस प्रकार पट चित्र से पहले भी था एव जिस प्रकार चित्र के धो दिए जाने पर भी पट विद्यमान रहेगा जबकि पट के अभाव म चित्र नही रह सकेगा ठीक उसी प्रकार चिदात्मा भी इस जगत्प्रपच से सबद्ध है जो चिदात्मा पर माया का चित्रमात्र है।[2]

माया भाव एव अभाव दोनो से भिन्न रूप नही अपितु भाव एव अभाव के धर्मों स युक्त के रूप मे अवाच्य एव अनिर्वचनीय है। अत इसे अविद्या शक्ति माना जाता है जो प्रत्यक्ष के समस्त विषयो का उपादान कारण है तथा इसे अन्यथा जड तत्व कहा जाता है (सर्वजडोपादानभूत)। परन्तु बासो से उत्पन्न अग्नि जिस प्रकार स्वय बासो के मूल तक का दहन कर देती है उसी प्रकार अविद्या और उसकी प्रक्रिया का परिणाम ब्रह्म ज्ञान स्वय उस अविद्या का नाश कर देता जिससे वह उत्पन्न हुआ था तथा उसकी प्रक्रिया एव अन्तत वह स्वय निरस्त होकर ब्रह्म का स्वय अपने प्रकाश मे प्रकाशित होने देता है।[3] जिस प्रकार कूप खनन का अर्थ सर्वव्यापी आकाश की अवरोधक मिट्टी का हटाना है उसी प्रकार अज्ञान अथवा अविद्या के प्रक्रियामात्र प्रमाण का काय स्वप्रकाश सविद् के प्रकाश को आवृत करने वाले अवरोध का हटाना है। अत प्रमाणो का काय स्वप्रकाश सविद् की अभिव्यक्ति नही है वे तो आवरक अज्ञान का निराकरण ही करते हैं।[4] अत ब्रह्मज्ञान का भी अर्थ अज्ञान के अन्तिम अवशेषो को दूर करना है जिसके पश्चात् अज्ञान का अन्तिम चिह्न होने के कारण प्रत्ययात्मक ज्ञान के रूप म स्वय ब्रह्मज्ञान भी विरत हो जाता है। अज्ञान का यह विराम स्वय

---

[1] प्रपचस्य वस्तुत्वाभावान्नाद्वैतहानि अवस्तुत्वाभावाच्च प्रत्यक्षाद्यप्रामाण्यमप्युक्तदोषाभावात्। —पाडु०, पृ० ६४।

[2] यथा चित्रस्य भित्ति साक्षात् नोपादान नापिसहज चित्र तस्या नाप्यवस्थान्तर मृन्विव घटादि नापि गुणान्तरागम आम्रस्येव रक्तादि न चास्या जन्मादिश्चित्रात्प्रागूर्ध्व च भावात् यद्यपि भित्ति विना चित्र न भाति तथापि न सा चित्र विना भाति इत्येवमाद्यनुभूतिर्भित्तिजगच्चित्रयोर्योज्यम्। —पाडु० पृ० ७३।

[3] वही पृ० १३७।

[4] वही पृ० १४३।

अज्ञान के सदृश ही अनिर्वचनीय है। मण्डन के असदृश विमुक्तात्मा अविद्या को विषयीपरक मात्र नही मानते हैं अपितु उसे विषयीपरक एव विषयपरक दोनो ही मानते हैं जिसम न केवल दृश्य जगत् अपितु उनके सब पारस्परिक सबध तथा यथाथ में सबध रहित चिदात्मा को अविद्या से सम्बद्ध मानने वाला सबध भी सम्मिलित है। विमुक्तात्मा न ग्रन्थ मे अधिकाश मे ख्याति (भ्रान्ति) के विभिन्न प्रकार के सिद्धान्तो और विशेषतर अन्यथाख्याति की आलोचना की है। इन आलोचनाओ मे कई नवीन एव महत्त्वपूर्ण बातें हैं परन्तु प्रथम खण्ड के दशम अध्याय में माया के इन सिद्धान्तो तथा उनकी आलोचनाओ के मुख्य तत्वो का पहले ही विवेचन कर दिए जाने के कारण विमुक्तात्मा की उन नवीन आलोचनाओ म पडना वाछित नही है जिनमे वेदान्त व्याख्या का कोई नवीन दृष्टिकोण नही प्रस्तुत किया गया है। वह कुछ मुख्य वेदान्ती चर्चा के विषयो का विवेचन भी करते हैं यथा बधन तथा मोक्ष का स्वरूप तथा व्यावहारिक जीवन के अद्वैत अनुभवो का वेदान्त के अद्वैत सिद्धान्त के साथ सामजस्य, परन्तु उनम आलोचना का कोई महत्वपूर्ण नवीन प्रकार न होने के कारण उनको इस खण्ड मे छोड दिया गया है।

रामाद्वय (१३०० ई० प०)

अद्वयाश्रम के शिष्य रामाद्वय ने चार अध्यायो का 'वेदान्तकौमुदी' नामक एक महत्त्वपूर्ण ग्रथ लिखा। उसमे उन्होने ब्रह्मसूत्र के प्रथम चार विषयो पर शाकर भाष्य की विषय वस्तु का विवेचन करते हुए कई वेदान्ती समस्याओ का एक विवादास्पद ढग से विवेचन किया है। यह ग्रन्थ यद्यपि अद्यावधि प्रकाशित नही हुआ है परन्तु राजकीय प्राच्य पाडुलिपि पुस्तकालय, मद्रास मे इसकी एक पाडुलिपि तो उपलब्ध है। अध्यक्ष की कृपा से वर्तमान लेखक को इस पाडुलिपि का प्रयोग करने का अवसर मिला। रामाद्वय ने 'वेदान्त कौमुदी पर वेदान्त कौमुदी व्याख्यान नामक भाष्य भी लिखा है। इसके प्रथम अध्याय की एक पाडुलिपि वर्तमान लेखक को कलकत्ता एशियाटिक सोसायटी के पुस्तकालय म उपलब्ध हुई। इस ग्रन्थ की अद्यावधिज्ञात सभवत केवल ये ही पाडुलिपियाँ हैं। *वेदान्तकौमुदीव्याख्यान की प्रतिलिपि करने की तिथि प्रति* लिपिकार गोवर्नसिंह ने १८१२ ई० प० दी है। अत यह सुनिश्चित है कि ग्रन्थ रचना पन्द्रहवी शताब्दी के बाद नही हुई होगी। अपनी चर्चाओ म रामाद्वय कई प्रमुख न्याय एव वेदान्त लेखको का उल्लेख करते हैं जिनम से एक भी त्रयोदश शताब्दी से परकालीन नही है। वर्तमान लेखक ने इष्टसिद्धि कार विमुक्तात्मा का काल त्रयोदश शती का पूर्वार्द्ध निश्चित किया है, परन्तु रामाद्वय उनका मान्य रूप से उल्लेख करते हैं, माना कि उनके विचार अधिकाहत विमुक्तात्मा द्वारा निर्दिष्ट हो, वे अपने वेदान्त कौमुदीव्याख्यान' (पाडुलिपि पृ० १४) में जनार्दन का उल्लेख करते हैं। जनार्दन

आनन्दज्ञान का गृहस्थ नाम था, परन्तु जनार्दन का काल मध्य त्रयोदश शताब्दी है, अत यह सम्भव प्रतीत होता है कि रामाद्वय का काल चतुर्दश शताब्दी का पूर्वार्ध हो।

प्रत्यक्ष एव अनुमान के वेदान्ती सिद्धान्तो के प्रतिपादन मे रामाद्वय प्रकटार्थकार के विचारो से अत्यधिक प्रभावित प्रतीत होते हैं, क्योकि वे इस सन्दर्भ मे उनके नाम का उल्लेख न करके भी किंचित विशद रूप मे उनकी पदावलि की पुनरावृत्ति करते हैं।[1] जिस प्रकार निर्मेघ आकाश मेघाच्छन्न होकर नानारूपो को ग्रहण कर लेता है उसी प्रकार शुद्ध चैतन्य अनिर्वचनीय अविद्या से आवृत होकर विविध अवच्छिन्न रूपो मे प्रकट होता है। यही संविद् सर्वज्ञात विषयो का तात्त्विक आधार है। जिस प्रकार उपाधिरूप इंधन के अभाव मे अग्नि स्फुलिंग की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती, उसी प्रकार समस्त विषयो का आधार भूत तत्व शुद्ध संविद् अपने कार्य के सहयोग के लिए उचित अवस्थाओ के अभाव मे उन विषयो को प्रकाशित नही कर सकता।[2] ऐसी उपाधि शुद्ध सत्वात्मक मनस मे विद्यमान है, इन्द्रियार्थ संनिकर्ष के अवसर पर यह मनस अदृष्ट से क्षुब्ध होकर (अदृष्टादिक्षुब्धम्) स्वय अर्थ तक पहुँचने वाली ज्योति के रूप मे स्वय का परिणाम कर देता है।[3] शुद्ध

---

[1] देखिए वेदान्तकौमुदी पाडुलिपि की लिप्यन्तर प्रतिलिपि—पृ० ३६ तथा ४७।

[2] यहा रामाद्वय ब्रह्मसूत्र के अनुमानत १ ३ १६ पर शाकर भाष्य के दहराधिकरण का उल्लेख करते हैं, जिसमे शकर जीवात्मा एव ब्रह्म के कल्पित अन्तर का उल्लेख करते हैं। उसमे शकर का कथन है कि उनके भाष्य का उद्देश्य उन औपनिषद् एव उपनिषद् इतर मतो का नियमन है जिनके अनुसार जीवात्मा सत्य है (अपरे तु वादिन पारमार्थिकमेव जैव रूपमिति मन्यन्ते अस्मदीयाश्चकेचित्)। इस प्रकार का मत आत्मा को ऐसे परमतत्व के रूप मे सम्यक् प्रकार से ग्रहण करने मे बाधक है जोकि अविद्या के कारण जीवात्मा के रूप मे अपने आपको अभिव्यक्त करता है तथा उस आवरण के दूर हो जाने पर ठीक वैसे ही यथार्थ ज्ञान होने पर अपने यथार्थ स्वरूप मे परमेश्वर के रूप मे प्रकाशित होता है जैसेकि भ्रान्तिमान सर्प अपने आपको रज्जु के टुकडे के रूप मे प्रकाशित करता है। नित्य, अविकारी एव ज्ञाता चैतन्य, परमेश्वर एकमेव तत्त्व है जो अविद्या के कारण वैतालिक के समान अनेक रूपो मे प्रकट होता है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई चैतन्य नही है (एक एव परमेश्वर कूटस्थनित्यो विज्ञानधातुरविद्यया मायया मायाविवदनेकधा विभाव्यते नान्यो विज्ञानधातुरस्ति)।

[3] यह उद्धरण प्रकटार्थ मे सीधा उद्धृत प्रतीत होता है जैसाकि उनके शाब्दिक समन्वय से अनुमान किया जा सकता है। परन्तु यह अधिक संभव है कि वेदान्तकौमुदी व प्रकटार्थ दोनो ने इसको पचपादिका विवरण से लिया हो।

चैतन्य अन्तःकरण से उपाधियुक्त अथवा अवच्छिन्न होकर (अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यम्) इस प्रकार की वृत्ति द्वारा अविद्या के आवरण को हटा देता है (यद्यपि जीवात्मा के रूप में अपनी अवच्छिन्न अवस्था में इस अविद्या ने स्वयं अपने देह का निर्माण किया) तथा उसी वृत्ति द्वारा उसके सन्निकर्ष में आया हुआ विषय भी प्रकाशित हो जाता है। विषयी एवं विषय की दो अभिव्यक्तियाँ वहाँ एक ही वृत्ति में घटित होकर एक ही प्रत्यय यथा 'मुझे यह विषय विदित हुआ है' संयुक्त हो जाते हैं (वृत्तेरुभयसलग्नत्वाच्च तदाभिव्यक्तचैतन्यस्यापि तथात्वेन मयेदं विदितमिति सङ्कलप्रत्ययः) तथा उसके अन्य कार्य के रूप में चैतन्य अन्तःकरण से अवच्छिन्न एवं प्रमा की वृत्ति के रूप में परिणत होकर प्रमाता के रूप में प्रतीत होता है (वृत्तिलक्षणप्रमाश्रयान्तःकरणावच्छिन्नस्तत्प्रमातेत्यपि व्यपदिश्यते)।[1] विषय भी अभिव्यक्त होने पर एक नवीन स्थिति को ग्रहण कर लेता है और इस प्रकार विषय रूप में *जाना जाता है (चमत्कारकाभिव्यक्त च तत्प्रकाशात्मना कर्मव्यपदेशमाक्)*। तत्त्वतः, आधारभूत चैतन्य ही अन्तःकरण के वृत्ति परिणाम की अभिव्यक्ति करता है परन्तु तप्त लौह में अग्नि एवं लौह के समान चैतन्य और अन्तःकरण के ऐक्य का अध्यास होने के कारण चैतन्य का भी अन्तःकरण के वृत्तिपरिणाम के साथ ऐक्य कर दिया जाता है। तथा, विषय पर वृत्ति का अध्यास होने के कारण वृत्ति की अभिव्यक्ति द्वारा यह विषय को भी अभिव्यक्त करता है, अतः विज्ञप्ति के रूप में विषयीपरक प्रकाश से अतिरिक्त विषय के प्रकाशन का एक विषयपरक तथ्य भी है (एवं वृत्तिव्यञ्जकमपि तप्तायःपिण्डन्यायेन तदेकताभिव्याप्त वृत्तिवद्विषय प्राकट्यात्मना सम्पद्यते)।[2] रामाद्वय के अनुसार प्रत्यक्ष में ज्ञान प्रक्रिया के क्रमों का इस प्रकार वर्णन किया जा सकता है। इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से अदृष्ट अन्तःकरण को क्षुब्ध करने का अवसर प्राप्त करता है तथा उसके परिणामस्वरूप अन्तःकरण वृत्तिसंज्ञक एक विशिष्ट अवस्था में परिणत हो जाता है। अन्तःकरण के मूल में स्थित शुद्ध चैतन्य मानो मलिन एवं आवृत अवस्था में स्थित था तथा अन्तःकरण के वृत्ति में परिणत होते ही चैतन्य उज्ज्वल होकर अपने आवरक आवरण को क्षण भर के लिए भेद डालता है। अतः वृत्ति मूलगत चैतन्य को और अधिक आवृत नहीं रख पाती, अपितु जिस विषय पर वृत्ति का अध्यास है उस विषय पर वह चैतन्य के प्रकाश के पारदर्शक वाहक का कार्य करती है और उसके परिणामस्वरूप विषय की विषयपरक अभिव्यक्ति होती है जो वृत्ति की परिणति के प्रथम क्षण में चैतन्य की उज्ज्वलता से पृथक् होती है। अब, चैतन्य की विषयपरक उज्ज्वलता एवं विषय के विषयपरक प्रकाश का वृत्ति द्वारा संश्लेष होने के कारण इन दोनों का संश्लेष हो जाता है

[1] वेदान्तकौमुदी—*पाण्डुलिपि की लिप्यन्तरित प्रतिलिपि*–पृ० ३६।

[2] वेदान्तकौमुदी पाण्डुलिपि की लिप्यन्तरित प्रतिलिपि–पृ० ३८

(सश्लेष प्रत्यय)। तथा उसका परिणाम होता है यह ज्ञान 'यह विषय मुझे विदित है', इस ज्ञान के कारण वृत्ति मे परिणत अहकार द्वारा अवच्छिन्न मूलगत चैतन्य के रूप मे ज्ञाता एव विषयपरक रूप से प्रकाशित ज्ञेय का भेद करना सम्भव है। वेदान्त परिभाषा मे प्रमातृ चतन्य (अन्त करण का उपाधियुक्त चतन्य), प्रमाण चतन्य (अन्त करण की वृत्ति की उपाधि से युक्त वही चैतन्य) तथा विषय चैतन्य (विषय की उपाधि से युक्त वही चैतन्य) इन तीन चतन्यो का अवलोकन करते हैं। इसके अनुसार प्रत्यक्ष के धर्म का निरूपण ज्ञान के दृष्टिकोण (ज्ञानगतप्रत्यक्षत्व) से अथवा विषय के दृष्टिकोण से किया जा सकता है, दोनो का एक ही प्रत्यक्ष प्रकाशन के दो भिन्न भिन्न चरण ज्ञानपरक एव विषयपरक, मानना चाहिए। ज्ञान के दृष्टिकोण से प्रत्यक्ष की परिभाषा विषय पर वृत्ति के देशीय अध्यास के कारण प्रमाण चतन्य से विषय चतन्य के अभेद के रूप म की गई है। विषय के दृष्टिकोण से प्रत्यक्ष (विषयगतप्रत्यक्षत्व) की परिभाषा अन्त करण द्वारा उपाधियुक्त प्रमाण चतन्य अथवा द्रष्टा से विषय के अभेद के रूप मे की गई है। यह बाद वाला दृष्टिकोण अर्थात् अन्त करण द्वारा अवच्छिन्न चैतन्य से विषय के अभेद होने की परिभाषा (घटादेरन्त करणावच्छिन्नचैतन्याभेद) इस गम्भीर आपत्ति का विषय है कि तत्वत अभेद विषय (अन्त करण द्वारा उपाधियुक्त चतन्य अन्त करणावच्छिन्न चैतन्य) से न होकर ज्ञान (प्रमाण-चतन्य अथवा वृत्ति चैतन्य) से है क्योकि ज्ञान अथवा वृत्ति द्रष्टा एव विषय के मध्य आ जाते हैं तथा विषय का वृत्ति के साथ अपरोक्ष सम्पर्क होता है न कि द्रष्टा (अन्त करणावच्छिन्न चैतन्य) के साथ। इसका ऐसा होना रामकृष्णाध्वरी के पुत्र धर्मराजाध्वरीन्द्र ने भी वेदान्त परिभाषा पर अपनी टीका 'शिखामणि' मे स्वीकार किया है।[1] परन्तु वह यह प्रदर्शित करके धर्मराजाध्वरीन्द्र को न्याय सगत बताने का प्रयत्न करते हैं कि धर्मराजाध्वरीन्द्र अभेद के रूप मे विषयगतप्रत्यक्षत्व की परिभाषा विषयी से विषय के अभेद के रूप में करने को विवश थे क्योकि इस दृष्टिकोण को प्रकाशात्मा कृत 'विवरण' एव वेदान्त के अन्य परम्परागत ग्रन्थो में भी अपनाया गया था।[2] तथापि यह एक त्रुटि प्रतीत होती है क्योकि विवरण के जिस उद्धरण का यहाँ उल्लेख है उसमे एक बिलकुल भिन्न दृष्टिकोण का ही प्रतिपादन किया गया है।[3] उसम यह कहा गया है कि

---

[1] यद्वा योग्यत्वेसति विषयचतन्याभिन्नप्रमाणचतन्यविषयत्व घटादेर्विषयस्य प्रत्यक्षत्व तथापि विषयस्यापरोक्षत्व सविदभेदादिति विवरणे तत्र तत्र च साम्प्रदायिकै प्रमात्रभेदस्यैव विषयप्रत्यक्षलक्षणेनाभिधानादेवमुक्तम् वेदान्त परिभाषा पर शिखा मणि टीका —पृ० ७५ मुम्बई १६११, वेंकटेश्वर प्रेस।

[2] वही।

[3] तस्मादव्यवधानेन सविदुपाधितया परोक्षता विषयस्य—पचपादिका विवरण— पृ० ५०, बनारस, १८६२।

विषय या प्रत्यक्षत्व संवेदन अवस्था अथवा संविद् का प्रत्यग एव अपरोक्ष रूप से विशेषित करते हैं।[1] अन्य पारम्परिक वेदान्ती व्याख्याकारों का धर्मराजाध्वरीन्द्र के मत से पूर्णत असहमत होना रामाद्वय द्वारा दिए गए प्रत्यक्षप्रक्रिया के विश्लेषण के विवरण से भी स्पष्ट हो जाता है। जैसाकि अभी प्रदर्शित किया जा चुका है रामाद्वय का कथन है कि इसी प्रकाशित ज्ञान प्रक्रिया अथवा वृत्ति में विषयी और विषय दो ध्रुव हैं, तथा इसी हेतु यह विषयी और विषय का 'यह मुझे विदित है', इस विधेय विधेयक रूपी मानसिक अवस्था में एकीकरण करती है। इस प्रकार विषय वृत्ति द्वारा प्रकाशित होकर विषय का विषयी के साथ नहीं, अपितु वृत्ति के साथ, अपरोक्ष रूप से एकीकरण होता है। धर्मराजाध्वरीन्द्र स्वयं अपनी व्याख्या के विरुद्ध आपत्ति करते हैं कि यह कहा जा सकता है कि यदि प्रत्यक्ष में विषयी विषय अभेद होता तो विषय यथा पुस्तक, के प्रत्यक्ष में यह अनुभव किया जाता कि मैं पुस्तक हूँ न कि 'मैं पुस्तक का प्रत्यक्ष करता हूँ।' इस प्रकार की आपत्ति के उत्तर में वे कहते हैं कि प्रत्यक्ष प्रक्रिया में अभेद केवल विषय के मूलगत चैतन्य एवं द्रष्टा के मूलगत चैतन्य के मध्य होता है और निरपेक्ष होने के कारण इस अभेद का यह आशय नहीं कि 'मैं पुस्तक हूँ' के भाव में फलित होने वाले ऐक्य संबंध की पुष्टि होती है।[2] निस्सन्देह ऐसा होता है, परन्तु उठाई गई आपत्ति का यह शायद ही उत्तर हो सकता है। यह सत्य है कि विषयी और विषय दोनों ही भेदरहित शुद्ध चैतन्य पर अविद्या का अध्यास मात्र ही हैं परन्तु इससे विषयी विषय अनुभूतिमय जटिल जगत् के नानाविध अनुभवों की शायद ही व्याख्या हो सके। 'पञ्चपादिकाविवरण' में प्रतिपादित प्रत्यक्ष के वेदान्ती दृष्टिकोण का बौद्ध विज्ञानवाद से इस बात में भेद है कि बौद्ध विषयों को विज्ञान से भिन्न कोई स्वतंत्र स्थिति नहीं प्रदान करते हैं जबकि वेदान्त बाह्य जगत् के प्रत्यक्ष में विषयों की स्वतंत्र अभिव्यक्ति को स्वीकार करता है।[3] अतः दृश्य विज्ञान एवं विषय में अन्तर है परन्तु उनमें एक अपरोक्ष एवं प्रत्यक्ष सम्बन्ध भी है, और विज्ञप्ति के साथ इस अपरोक्ष सम्बन्ध में ही विषय की संविद् उपाधिता है। (अव्यवधानेन संविदुपाधिता अपरोक्षता विषयस्य विवरण पृ० ५०)। प्रत्यक्ष में विषय का प्रकाश केवल संविद् के विषय के रूप में ही होता है जबकि संविद् एवं विषयी स्वयं का अपरोक्ष रूप से न कि अन्य किसी अनुमान

---

[1] यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि 'संविद्' का अर्थ ज्ञानोत्पादक विज्ञान अथवा इन्द्रिय सम्भूत ज्ञान है न कि प्रमाता (अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य) जैसा कि शिखामणिकार का कथन है। अतः तत्वदीपन भाष्य में अखण्डानन्द संविद् शब्द की व्याख्या इस प्रकार करते हैं संविच्छब्देन इन्द्रियसम्प्रयोगजज्ञानस्य तत्वात्।

—तत्वदीपन पृ० १६४ बनारस १६०२।

[2] वेदान्त परिभाषा पृ० ७६ ७७।

[3] न च विज्ञानाभेदादेव आपरोक्ष्यमवभासते बहिष्ट्वस्यापि रजतादेरपरोक्ष्यात्।

—पञ्चपादिका विवरण, पृ० ५०।

अथवा अन्तर्मन के विषय के रूप में प्रकाशन करता है (प्रमेय कर्मत्वेन अपरोक्ष, प्रमातृप्रमिती पुनरपरोक्षे एव केवल न कर्मतया)।[1]

तथापि 'वेदान्त कौमुदी' की मान्यताओं को किसी भी अर्थ में मौलिक नहीं माना जा सकता क्योंकि वे पद्मपाद कृत 'पंचपादिका' तथा प्रकाशात्मा कृत 'पंचपादिका विवरण' में वर्णित विषयों की व्याख्या मात्र हैं। प्रत्यक्ष के सम्पूर्ण सिद्धान्त के विकास का श्रेय 'पंचपादिकाविवरण' को दिया जा सकता है क्योंकि प्रत्यक्ष सिद्धान्त के समस्त सारभूत विषयों का अवलोकन उस कृति में किया जा सकता है। अतः इसके अनुसार समस्त सांसारिक विषय अविद्या से आवृत है, जैसे जैसे विषयों पर अध्यास के कारण अन्तःकरण की अवस्थाओं में परिणति होती है, वैसे वैसे मूलगत चैतन्य द्वारा वह प्रकाशित होता जाता है, तथा विषयों के साथ देशीय संपर्क के द्वारा ये अन्तःकरण परिणतियाँ विषयों के आवरण का हरण देती हैं, अतः दो प्रकाशन होते हैं अन्तःकरण परिणतियों का (जिन्हें 'वेदान्तकौमुदी' एवं वेदान्त परिभाषा में 'वृत्ति' कहा गया है) तथा शुद्ध चैतन्य का, विषय के मूलगत चैतन्य और अन्तःकरण (अर्थात् विषयी) के मूलगत चैतन्य के ऐक्य होने पर प्रत्यक्षगत ज्ञान (यथा 'मैं पुस्तक का प्रत्यक्ष करता हूँ' और 'मैं पुस्तक हूँ' और केवल 'मैं पुस्तक हूँ' रूप की ही तीनों चैतन्यों के ऐक्य से अपेक्षा की जा सकती है की व्याख्या की आवश्यकता नहीं रहने के प्रश्न के उत्तर में प्रकाशात्मा का कथन है कि अन्तःकरण चैतन्य (विषय) के साथ विषय चैतन्य का ऐक्य अन्तःकरण की वृत्ति अथवा विकार द्वारा प्रतिपादित होने के कारण, तथा अन्तःकरण का उसकी वृत्ति के साथ ऐक्य होने के कारण, वृत्ति के व्यापार को अन्तःकरण का कारक मानना उचित है तथा यह अन्तःकरण के मूलगत चैतन्य द्वारा प्रकाशित होता है जिससे परिणाम स्वरूप प्रमाता का प्रत्यक्ष होता है जो विषय के उस प्रकाशन से भिन्न है जो देशीय अध्यास में वृत्ति के व्यापार का लक्ष्य होता है—अतः प्रत्यक्ष में विषयी एवं विषय का भेद विषयी एवं विषय के संदर्भ में वृत्ति के रूप अथवा अवस्था के भेद के कारण होता है।[2] ठीक यही व्याख्या 'वेदान्त कौमुदी' में की गई है और *ऊपर यह प्रदर्शित किया जा चुका है* कि 'वेदान्त परिभाषा' की व्याख्याएँ उससे अत्यधिक भिन्न हैं तथा यह अधिक संभव है कि वे अपूर्ण हैं। वृत्ति द्वारा विशिष्ट विषयी (विशिष्ट अन्तःकरण द्वारा अवच्छिन्न चैतन्य) तथा विशिष्ट विषय (विषयों के संघटक विशिष्ट अविद्या उपादानों से अवच्छिन्न चैतन्य) में उस ऐक्य की स्थापना के कारण इस ऐक्य का परिणाम केवल एक विषयीविशेष एवं एक

[1] पंचपादिका, पृ० १७ बनारस १८९१।

[2] देखिए पंचपादिका विवरण पृ० ७०, तथा तत्वदीपन, पृ० २५६–२५९, बनारस, १९०२।

विषयविशेष न कि समस्त विषयियों तथा विषयों का प्रकाशन हो सकता है।[1] इसका इस मत में विस्तार किया गया है कि अज्ञानावरणों की संख्या अनन्त है तथा प्रत्येक ज्ञानात्मक प्रकाश एक विषय से सम्बद्ध केवल एक अज्ञान का निराकरण करता है।[2] परन्तु यह भी रामाद्वय का मौलिक योगदान नहीं है क्योंकि इसको भी उनके पूर्वज आनन्दज्ञान ने अपने तर्क संग्रह में तथा अन्यों ने प्रचलित कर दिया था।[3] सम्पूर्ण विवेचन का उद्देश्य यह है कि मनस प्रमाण के अवसर पर मनस एवं प्रमाण दोनों ही प्रमातृ चैतन्य एवं विज्ञप्ति के रूप में अन्तःस्थित शुद्ध चैतन्य द्वारा उत्तेजित एवं प्रकाशित हो जाते हैं तथा प्रमाण के संयोग से विषय भी न केवल विज्ञप्ति के अवयव के रूप में अपितु बाह्य जगत् में भासमान विषयपरक तथ्य के रूप में प्रकाशित होता है। विषयों का ज्ञान, अतः प्रमाता के रूप में न तो आत्मा का गुण मात्र ही है, जैसा नैयायिकों का मत है और न आत्मा का विषय से अपरोक्ष संयोग ही है (संयोग के केवल प्रमाण द्वारा ही होने के कारण), ज्ञान को आत्मा का ऐसा अप्रत्यक्षीकृत स्पन्दन विकार अथवा परिणाम भी नहीं मानना चाहिए जिसका अनुमान ज्ञातता से हो सके, जैसा कुमारिल का मत है, और न विषय के प्रकाश को विषयपरक तत्व के

---

[1] एतत्प्रमातृचैतन्याभिन्नतयैव अभिव्यक्त तद्विषयचैतन्य म प्रमात्रन्तरचैतन्याभेदेन अभिव्यक्तमतो न सर्वेषामवभास्यत्वम्। —पंचपादिका विवरण, पृ० ७१।

[2] यावन्ति ज्ञानानि तावन्ति स्वतन्त्राणिपरतन्त्राणि वा अज्ञानानि ततो न दोषः।

—वेदान्त कौमुदी पाडुलिपि, पृ० ४३।

[3] सिद्धान्त यह है कि अज्ञान आवरण असंख्य हैं वृत्ति विषयसंयोग होते ही आवरण दूर होकर विषय प्रकाशित हो जाता है अगले ही क्षण पुनः विषय के आवरक अज्ञानावरण होने पर पुनः वृत्ति विषय संयोग होकर पुनः विषयप्रकाश होता है तथा इस प्रकार जब काल में प्रत्यक्ष होता रहता है तो आवरण और उनका निवारण अत्यन्त द्रुत क्रम में होते रहते हैं। इस क्रम की द्रुतता के कारण उसको देख पाना सम्भव नहीं (वृत्ति विज्ञानस्य सावयवत्वाच्च ह्रासदशायां दीपज्वालाया इव तमोऽन्तरमोहान्तरमावरितुम् विषय प्रवर्तते ततोऽपि क्रममाण० क्षणान्तरे साम ग्रानुसारेण विज्ञानान्तर विषयावरणभंगेनैव स्वकार्य करोति, तथा सर्वाण्यपि प्रति शीघ्रत्वात्तु ज्ञानभेदवदावरणान्तर न लक्ष्यते वेदान्त कौमुदी, पाडुलिपि, पृ० ४६) वेदान्त कौमुदी का यह मत 'वेदान्त परिभाषा' के इस मत से भिन्न है कि एक ही विषय के निरन्तर प्रत्यक्ष से भिन्न क्रमिक विज्ञान न होकर एक अविकारी निरन्तर वृत्ति होती है न कि विभिन्न अज्ञानों की निवारक विभिन्न वृत्तियाँ (किं च सिद्धान्ते धारावाहिकबुद्धिस्थले न ज्ञानभेदः किन्तु यावद्घटस्फुरणं तावद् घटाकारान्तःकरणवृत्तिरेकैव न तु नानावृत्तिः स्वविरोधिवृत्त्युत्पत्तिपर्यन्तं स्थायित्वाभ्युपगमात्।

—वेदान्त परिभाषा पृ० २६, २७ बम्बई, १९११।

रूप म सबद्ध अभिव्यक्ति के अभाव मे विज्ञान का रूप मात्र ही मानना चाहिए (विषयाभिव्यक्तिर्नाम विज्ञाने तदाकारोल्लेखमात्र न बहिरगरूपस्य विज्ञानाभिव्यक्ति), जसा कि बौद्ध विषयीपरक विज्ञानवादियो का मत है। विषय के साथ अपने सयोग से पूव प्रमाण अभेदित विज्ञान मात्र है, जिसका केवल विषयपरक प्रसग ही होता है एव जो इद्रिय धर्मों की समस्त विशेषताओ से रिक्त है। बाद मे यह विज्ञान जिन विषयो के सम्पक म आता है उनके अनुसार ही इद्रिय धर्मों का ग्रहण कर लेता है तथापि यह अवश्य ध्यान मे रखना चाहिए कि प्रमाण एक अमूत भाव नही है अपितु एक यथाथ सत्व उपादान मन (अन्त करण) की क्रियाशील परिणति है।[1] क्योकि एक ही विषय के हमारे निरन्तर प्रत्यक्ष मे ज्ञान कर्मों का एक द्रुत क्रम होता है जिसम प्रत्येक ज्ञान कम विषय के प्रकाशन से पूव विषय को आवृत करने वाले बौद्धिकतम का विनाश कर देता है इसलिए विषयो से भिन्न तत्व के रूप मे काल का पृथक प्रत्यक्ष नही होता, काल प्रत्यक्ष ज्ञान कर्मों के क्रम का प्रत्यक्ष मात्र है, तथा जिसे वतमान काल माना जाता है, वह वस्तु है जिसम क्रमिक काल क्षण एक स्थिर काल मे लीन हो गए हैं उसी स्थिर काल को जो तत्वत क्षणिक ज्ञान क्रियाओ तथा विज्ञप्तियो का लय मात्र है, वतमान काल की सज्ञा दी जाती है।[2] अत रामाद्वय के अनुसार प्रत्यक्ष की परिभाषा मे प्रत्यक्ष की पृथक सामग्री के रूप म विषय से इतर एक पृथक तत्व के रूप मे वतमान काल का समावेश नही होगा, क्योकि उनका मत काल को विषयपरक तत्व के रूप मे अस्वीकार करता है तथा उसे ज्ञान प्रक्रिया का एक रूप मात्र मानता है।

रामाद्वय की प्रमा की परिभाषा भी धमराजाध्वरीन्द्र की परिभाषा से भिन्न है। रामाद्वय प्रमा की परिभाषा ऐसे अनुभव के रूप म करते हैं जो अपने विषय को मिथ्या रूप से प्रस्तुत नही करता है (यथार्थानुभव प्रमा) और प्रमाण उसे बताते हैं जो प्रमा को प्राप्त कराता है।[3] शाब्दिक दृष्टि से यह परिभाषा धमराजाध्वरीन्द्र की परिभाषा से बिलकुल भिन्न है। धमराजाध्वरीन्द्र के अनुसार प्रमा के लिए दो आवश्यक अवस्थाए य हैं कि यह पहले से ज्ञात का ज्ञान न हो (अनधिगत) तथा यह व्याघात

---

[1] अत सावयवसत्वात्मकमन्त करणमेव अनुद्भूतरूपस्पर्शमदृश्यमस्पृश्य च विषयाकारेण परिणमते। —वेदान्त कौमुदी पाडुलिपि, पृ० ४२।

[2] न काल प्रत्यक्षगोचर स्तम्भादिरेव प्रागभाव निवत्तिप्रध्वसानुत्पत्तिरूपो वतमान तदवच्छिन्न कालोऽपि वतमान स च तथाविधोऽनेकज्ञानसाधारण एव न चतावता ज्ञानयौगपद्यापत्ति सूक्ष्मकालापेक्षया क्रमसम्भवात् न च सूक्ष्मकालोपाधीनामप्रतीति कार्यक्रमेणैव उन्नीयमानत्वात्।

—वेदान्त कौमुदी पाडु० पृ० २० २२।

[3] वही पृ० १६।

रहित हो।[1] तथापि द्वितीय अवस्था रामाद्वय की परिभाषा से शाब्दिक भेद मात्र को प्रदर्शित करती प्रतीत होती है, परन्तु इसका आशय शाब्दिक भेद से कहीं अधिक हो सकता है क्योंकि यद्यपि व्याघात का अभाव (धर्मराजाध्वरीन्द्र की अवस्था) तथा मिथ्या प्रस्तुतीकरण का अभाव (रामाद्वय की अवस्था) का अर्थ एक ही वस्तु हो सकता है, तथापि प्रथम अवस्था में सत्य की परिभाषा द्वितीय अवस्था की अपेक्षा अधिक विषयीपरक हो जाती है, क्योंकि प्रस्तुतीकरण का अभाव एक विषयपरक संदर्भ एवं एक विषयपरक निश्चितता से सबद्ध है। एक विज्ञप्ति किसी विषय को मिथ्या रूप से प्रस्तुत कर सकती है परन्तु फिर भी किसी एक अथवा अनेकों द्रष्टाओं को व्यक्तिगत जीवन में उसका व्याघात नहीं दृष्टिगोचर हो। सत्य की ऐसी परिभाषा की अपने विषय के संदर्भ में कोई निश्चित सीमा नहीं होने के कारण सत्य की यह परिभाषा अत्यन्त सापेक्ष हो जाती है। यदि यह विचार किया जावे कि विषय पर अन्तःकरण के विकार (जो इसकी ज्ञान प्रक्रिया है) के यथार्थ देशीय अध्यास के विषय में वेदान्त द्वारा कथन किया गया है तो सत्य की वेदान्त परिभाषा का यथार्थ होना न कि विषयीपरक अथवा सापेक्ष होना अपेक्षित है। वेदान्त विज्ञानवाद इस बात से सन्तुष्ट है कि विषयों के साथ ये बोधात्मक सम्बन्ध चाहे कितने ही यथार्थ क्यों न हों, तो भी वे अध्यास एवं प्रतीतियाँ ही हैं जिनका परम आधार एक अविकारी चैतन्य है। विषयों को मिथ्या रूप से प्रस्तुत न करने वाले (यथार्थानुभव) विज्ञान के रूप में की गई रामाद्वय की प्रमा की परिभाषा को सदोष नहीं पाया जा सकता क्योंकि वेदान्त के अनुसार जगत् का समस्त द्वैत अनुभव मिथ्या है इसका कारण यह है कि यद्यपि अन्ततः अनुभव ऐसा ही है तो भी समस्त व्यवहारिक आशयों के लिए इसकी एक यथार्थ सत्ता है तथा रामाद्वय अपने उस दृष्टिकोण का न्याय संगत बताने के लिए 'इष्ट सिद्धि' का उल्लेख करते हैं।

जहाँ तक दूसरे विषय, अर्थात् प्रमा को सदा पूर्व में अज्ञात से परिचित कराने (अनधिगत), का प्रश्न है, रामाद्वय निश्चित रूप से ऐसे सुझाव को अस्वीकार करते हैं।[2] उनका कथन है कि प्रायः ऐसा होता है कि हमें उन वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता है जिनका हमें पहले ही प्रत्यक्ष हो चुका है, और इसी से प्रत्यभिज्ञा सम्भव होती है तथा यदि हम उनके प्रामाण्य को अस्वीकार करें तो प्रमा रूप में जो विश्वजनीत रूप से स्वीकृत हैं उनमें से बहुतों का हमें त्याग करना होगा। यह भी अगम्य है कि किसी विषय के निरन्तर प्रत्यक्ष में विषय में नवीन गुणों का उदय कैसे सम्भव है जिससे कि प्रतिक्षण प्रमा के रूप में चैतन्य की यथार्थता को यथोचित बताया जा सके, और न

---

[1] तत्र स्मृति व्यावृत्तम् प्रमात्वमनधिगताबाधितार्थविषयज्ञानत्वम्।
—वेदान्त परिभाषा, पृ० २०।

[2] अज्ञातज्ञापन प्रमाणमिति तदसारम्। —वेदान्त कौमुदी पाण्डुलिपि पृ० १८।

यह कहा जा सकता है कि ज्ञानेन्द्रिया किसी विषय की प्रमा (जो कुछ क्षण स्थिर रहती है तथा क्षणिक नही है) को उत्पन्न करने के पश्चात् नवीन विज्ञान की उत्पत्ति होने तक निष्क्रिय हो जाती हैं। अत प्रत्यक्ष की आवश्यक अवस्था के रूप मे अनधिगतत्व के समावेश करने का कोई औचित्य नही है। प्रत्यक्ष एव अनुमान के भेद की ओर ध्यान देते हुए रामाद्वय का कथन है कि अनुमान म अनुमित विषय किसी सामग्री का निर्माण नहीं करता तथा अनुमित विषय (यथा अग्नि) से अन्त करण का कोई प्रत्यक्ष एव अपरोक्ष सयोग नही होता। अनुमान म अन्त करण हेतु अथवा लिंग (यथा धूम्र) मात्र के ही सपर्क मे होता है और इसके द्वारा (लिंगादिबललब्धाकारोल्लेखमात्रेण) मन म (यथा अग्नि की सत्ता के विषय मे) एक विज्ञान की उत्पत्ति होती है जिसे अनुमान कहा जाता है।[1]

ज्ञान के स्वत प्रामाण्य के विषय मे धर्मराजाध्वरीन्द्र के समान रामाद्वय दोष के अभाव (दोषाभाव) को स्वत प्रामाण्य की परिभाषा म सम्मिलित नहीं करते हैं। यह स्मरण ही होगा कि धर्मराजाध्वरीन्द्र ने ज्ञान के प्रामाण्य की परिभाषा किसी विषय के यथागत रूप के धर्म को निर्देशित करने वाले विज्ञान के रूप मे की है (तद्वति तत्प्रकारज्ञानत्वम्) जबकि स्वत प्रामाण्य की परिभाषा मूलगत साक्षी चैतन्य द्वारा विज्ञान (जिसके प्रामाण्य की पुष्टि की जाती है) के सुनिश्चित प्रकारो के अनुसार तथा किसी दोष के अभाव मे विज्ञान की विषयपरक अवस्थाओ के अनुसार इस प्रामाण्य की स्वीकृति के रूप मे की है।[2] तथापि रामाद्वय ज्ञान के स्वत प्रामाण्य के कुमारिल मत का अति निकट से अनुसरण करते हैं तथा उसकी परिभाषा उससे करते हैं जो उस ज्ञान की यथार्थ सामग्री से उद्भूत होकर अन्य स्रोत से प्राप्त किसी तत्व का अपने म समावेश नही करता।[3] किसी दोषो अथवा विकृति कारक तत्वों की विद्यमानता का परकालीन ज्ञान किसी ज्ञान को अप्रमाण्य बना सकता है परन्तु जब तक ऐसे दोष ज्ञात नही हो जाते तब तक प्रत्येक ज्ञान ऐसे ही कारणो स स्वत प्रामाण्य है जैसे कारणो को कुमारिल ने माना है तथा जिनका विवेचन पूर्व ही हो

---

[1] वेदान्त कौमुदी पाण्डुलिपि पृ० ४७ अनुमान के वेदान्ती दृष्टिकोण की प्राचीनतम व्याख्याओ मे स एक प्रस्ताव विवरण म उपलब्ध है जिसकी वेदान्त कौमुदी प्राय ऋणी है।

[2] दोषाभावे सति यावत्स्वाश्रयग्राहकसामग्रीग्राह्यत्व स्वाश्रया वृत्ति ज्ञानम्, तद्ग्राहक साक्षिज्ञान तेनापि वृत्तिज्ञाने गृह्यमाणे तद्गत प्रामाण्यमपि गृह्यते।

—वेदान्त परिभाषा, पृ० ३३६ ३३७।

[3] विज्ञानसामग्रीजन्यत्व सति यत्तदन्यजन्यत्व तदभावस्यव स्वतास्त्वुक्तयभीकारात्—वेदान्तकौमुदी-पाण्डुलिपि-पृ० ५२। अप्तावपि ज्ञानज्ञापकसामग्रीमात्रज्ञाप्यत्व स्वतस्त्वम्।

—वही पृ० ६१।

चुका है।[1] इस सबंध मे रामाद्वय यह प्रदर्शित करते हैं कि हमारे ज्ञान पूर्णत आन्तरिक घटनाएं हैं तथा विषयों के सम्पर्क में नहीं रहते हैं और यद्यपि विषयों का प्रकाशन बाहर होता है तो भी अपनी आन्तरिक अवस्थाओं, गुणों तथा अवगुणों के कारण ही हमे उनका प्रत्यक्ष होता है।[2]

विद्यारण्य (ई प १३५०)

सर्व दर्शन संग्रह के अतिरिक्त माधव ने शांकर वेदान्त दर्शन पर 'विवरण प्रमेय संग्रह' तथा पंचदशी नामक दो ग्रंथ तथा जीवन्मुक्ति विवेक भी लिखे। इनमें से प्रथम प्रकाशात्माकृत पंचपादिकाविवरण का स्वतन्त्र अध्ययन है, इसमें माधव ने प्रकाशात्मा के तर्कों को अपने ही ढंग से विशद किया है। उनकी अन्य कृति 'पंचदशी' एक लोकप्रिय छंद संग्रह है। इन दोनों कृतियों को अपनी स्पष्ट एवं ओजस्वी शैली तथा शब्द चयन के कारण अत्यधिक प्रतिष्ठा मिली। यह प्रसिद्ध है कि *विद्यारण्य तथा महान् वेदभाष्यकार सायण के भ्राता माधव एक ही हैं।* वे शंकरानन्द के शिष्य थे, शंकरानन्द ने उपनिषदों पर अल्प महत्व के कुछ ग्रंथ लिखे हैं।[3]

पंचदशी' मे विद्यारण्य विवरण के इस वेदान्त दृष्टिकोण को दुहराते हैं कि हमारे जाग्रत अवस्था अथवा स्वप्न में, अथवा नि स्वप्न अवस्था में किसी भी क्षण चैतन्य का अभाव नहीं होता, जैसाकि नि स्वप्न अवस्था के बाद की अनुभव की स्मृति से स्पष्ट है। अत चैतन्य का प्रकाश किसी भी विकार अथवा अस्थिरता के बिना ही सदा विद्यमान रहता है। अत इसे अन्ततोगत्वा यथार्थ मानना चाहिए। यह स्वप्रकाश है तथा इसका उदय या अस्त नहीं होता।[4] यह आत्मा शुद्ध आनन्द है क्योंकि अपनी आत्मा के समान हम अन्य किसी से भी इतना प्रेम नहीं करते हैं। यदि आत्मा का स्वभाव आवरणहीन होता तो हमें इन्द्रियार्थों में कोई सुख नहीं प्राप्त होता। आत्मा के अधिकतर आवृत होने के ही कारण हमें आत्मानन्द के

---

[1] ए हिस्ट्री ऑफ् इण्डियन फिलासफी, खंड १—कैम्ब्रिज १९२२ पृ० ३७२ ३७५।

[2] प्राकट्येन युक्तस्यापि तस्य न सर्वविदितत्व स्वप्रकाशमपि प्राकट्य कस्यचिदेवा दृष्टयोगात्स्फुरति न गुणत्वे नानस्य कथंचिदयोग समस्तीति।
वेदान्तकौमुदी, पाडुलिपि—पृ० ६७ ६८।

[3] भारतीतीर्थ और विद्यातीर्थ भी विद्यारण्य के गुरु थे। अत ऐसा प्रतीत होता है कि विद्यारण्य के तीन गुरु थे, भारती तीर्थ विद्यातीर्थ तथा शंकरानन्द।

[4] नोदेति नास्तमेत्येका सम्विद् सा स्वयंप्रभा-पंचदशी १ ७ वासुमति संस्करण, कलकत्ता, १९०७।

पश्चात् भी सताप नही होता और हम इन्द्रियार्थो के अन्य सुखों के लिए लालायित रहते हैं। माया इस आवरण का कारण है तथा उसका नानाविध जगत्प्रपचा की उत्पादक शक्ति के रूप मे वर्णन किया गया है। इस शक्ति को पूर्णत न तो सत्य और न असत्य ही माना जा सकता है। तथापि, यह ब्रह्म के एक अश के साथ न कि उसके सम्पूर्ण के साथ सयुक्त है तथा ब्रह्म के एक अश के साथ अपने सयोग से ही वह अपने आपको विभिन्न तत्वो तथा उनके विकारो म परिणत कर देती है। इस प्रकार जगद् के समस्त विषय ब्रह्म एव माया के मिश्रण मात्र है। ब्रह्म समस्त वस्तुओ का भाव है तथा भाव से एक रूप प्रतीत होने वाला सब कुछ माया का अश है। ब्रह्म की शक्ति के रूप मे माया विश्व के समस्त सम्ब धो और व्यवस्था का नियमन करती है। ब्रह्म के चैतन्य के सयोग से यह ऐसी चेतन्य शक्ति के रूप म आचरण करती है जो वस्तुओ के समस्त गुणो की व्यवस्थितता उनके आन्तरिक सम्ब ध एव आन्तरिक कार्यो के लिए उत्तरदायी है।[1] जगत्प्रतीति की उन्होने एक ऐसे चित्र से उपमा दी है जिसमे श्वेत पट ब्रह्म है, श्वेत वर्ण अ तर्यामी है, कृष्णवर्ण अहाभूता का नियता (सूत्रात्मा) है और विविधवर्णता पाचभौतिक जड जगत् का नियता (विराट) है, तथा उसम चित्रित समस्त आकृतिया इस जगत् के प्राणी एव अन्य विषय हैं। माया के माध्यम से प्रतिबिम्बित होकर, ब्रह्म ही विविध आकृतिया और धर्मो को ग्रहण करता है। जीवात्मा की मिथ्या प्रतीति का कारण विपर्ययपरकत्व माया का फल—के साथ मूलस्थित शुद्ध चैतन्य ब्रह्म का मिथ्या तादात्म्य है। तत्पश्चात् विद्यारण्य वेदान्त के सामा य विषयो का वर्णन करते हैं। इनका विवेचन पहले ही किया जा चुका है। विद्यारण्य की पचदशी की मुख्य एव महत्वपूर्ण विशेषता वेदान्त के सुप्रतिष्ठित सिद्धा तो की एक स्पष्ट, लोकप्रिय एव आकर्षक ढग से निरन्तर आवृत्ति करना है। यह पुनरावृत्ति आत्मज्ञान के वेदान्ती मार्ग म अपने मन को दीक्षित करने के इच्छुक साधो के लिए अत्यन्त सहायक है।[2] उनका विवरण 'प्रमेय

---

[1] शक्तिरस्त्यैश्वरी काचित्सर्ववस्तुनियमामिका ३८—चिच्छायावेशत शक्तिश्चेतनेव विभाति सा, ४० वही ३।

[2] पचदशी पर चार टीकाएँ हैं–तत्वबोधिनी, स्वामी निश्चलदास कृत वत्ति प्रभाकर' रामाद्वय कृत तात्पर्यबोधिनी तथा सदानद कृत एक टीका। परम्परागत यह विश्वास है कि 'विद्यारण्य एव भारती तीर्थ न सयुक्त रूप से पचदशी की रचना की। स्वामी निश्चलानद अपने 'वत्तिप्रभाकर म यह प्रदर्शित करते हैं कि विद्यारण्य पचदशी के प्रथम दस अध्यायो के रचयिता थ और भारतीतीर्थ शेष पाच के। तथापि सप्तम अध्याय पर अपनी टीका के प्रारम्भ में भारतीतीर्थ को उस अध्याय का लेखक बताते हैं और यह इस अ य परम्परा से मेल खाता है कि प्रथम छ अध्यायो की रचना विद्यारण्य ने की और शेष नौ की भारतीतीर्थ ने।

संग्रह अधिक पांडित्यपूर्ण ग्रंथ है, परन्तु इसमें उल्लिखित विषयों के पृथक वर्णन की यहाँ आवश्यकता नहीं है क्योंकि इस अध्याय में तथा इससे पहले अध्याय में प्रस्तुत वेदांत के वर्णन के लिए मुख्य पथप्रदर्शक के रूप में 'पंचपादिका विवरण' का सामान्यतः अनुसरण करते हुए उसके ही भावों का उस ग्रंथ में विस्तार किया गया है तथा कुछ ही विचार ऐसे हैं जिनको वेदान्त विचारधारा के विकास में विद्यारण्य का मौलिक योगदान माना जा सके।[1] जीवमुक्तिविवेक के सार का प्रयोग वर्तमान ग्रंथ के प्रथम खंड के दशम अध्याय के सत्रहवें अनुभाग में पहले ही किया जा चुका है, यह एक आचार संबंधी पुस्तिका है, जिसमें न्यूनाधिक उन्हीं विषयों का उल्लेख है जिनका सुरेश्वर कृत 'नैष्कर्म्यसिद्धि' उल्लेख है।

नृसिंहाश्रम मुनि (ई० प० १५००)

नृसिंहाश्रम मुनि (ई० प० १५००) गीर्वाणेन्द्र सरस्वती एवं जगन्नाथाश्रम के शिष्य तथा 'भेदधिक्कार' के टीकाकार नारायणाश्रम के गुरु थे। उन्होंने कई ग्रंथों की रचना की, यथा अद्वैतदीपिका अद्वैतपंचरत्न अद्वैतबोधदीपिका, अद्वैतवाद भेद धिक्कार, वाचारम्भण, वेदान्ततत्त्वविवेक, तथा संक्षेपशारीरक एवं पंचपादिकाविवरण तत्त्वबोधिनि और पंचपादिकाविवरणप्रकाशिका नामक टीकाएँ। नृसिंहाश्रम अपने समकालीनों के मध्य अत्यधिक सुविख्यात थे परन्तु ऐसा प्रतीत नहीं होता है कि उन्होंने वेदान्त में किन्हीं नवीन विचारों को प्रचलित किया हो। माया के स्वरूप एवं उसकी रचना का तथा जिस प्रकार से माया को जगत्प्रपंच का उपादान माना जा सकता है उसका अन्वेषण करने की अपेक्षा उनकी रुचि ब्रह्म के साथ आत्मा के ऐक्य तथा जगत्प्रतीति के मिथ्या स्वरूप पर बल देने में अधिक है। वह जगत्प्रतीति के मिथ्यात्व की परिभाषा उसके प्रकट होने के आश्रय में उसके अभाव के रूप में ही करते हैं (प्रतिपन्नोपाधावभावप्रतियोगित्व)[2] जब शुक्ति रजवत् प्रतीत होती है तो रजत सत्प्रतीत होता है परन्तु सत् रजतस्वरूप नहीं हो सकता (न तावद्रजतस्वरूप सत्)। इसी प्रकार जब जब हम जगत्प्रतीति का सत् मान लेते हैं तो जगत्प्रतीति भी सत् स्वरूप नहीं हो सकती उनके साथ उसका ऐक्य अवश्य ही मिथ्या है।[3]

---

[1] उन्होंने विवरण पर एक अन्य ग्रंथ 'विवरणोपन्यास' की भी रचना की। अप्पय दीक्षित अपने सिद्धान्तलेश में पृष्ठ ६८ पर इसका उल्लेख करते हैं—विवरणोपन्यासे भारती तीर्थवचनम्।

[2] वेदान्ततत्त्व विवेक पृ० १२ दी पंडित जिल्द २५ मई १९०३ इस ग्रंथ पर तत्त्व विवेकदीपन तथा भट्टोजी कृत तत्त्वविवेक दीपन व्याख्या नामक दो महत्त्वपूर्ण टीकाएं हैं।

[3] वेदान्त तत्त्वविवेक—पृ० १८।

उसी प्रकार स्वप्रकाश आत्मा मे विषयी परवता अथवा अहकारी धर्मों की प्रतीति भी मिथ्या है, क्याकि दाना बिल्कुल भिन्न है तथा उनका एक्य नही हो सकता है। तथापि, नसिहाश्रम नैयायिक तर्कों अथवा अनुभव के उल्लेख के द्वारा यह प्रदर्शित नही कर सक्त कि विषय परवता अथवा अहकार (जिसे वह अत करण भी कहते हैं) आत्मा से भिन्न है, तथा वह वेदात सिद्धात के लिए मूलभूत महत्व के इस विषय का सिद्ध करने के लिए उपनिषद् वचनो का आश्रय लेते है। प्रत्यक्षीकरण के स्वरूप के स्पष्टीकरण म वह हमारे सामने उसी प्रकार वणन प्रस्तुत करते हैं जसा कि इस ग्रथ के प्रथम खड के दशम अध्याय म वणित ढग से उनके शिष्य धमराजाध्वरीन्द्र ने अपनी वदान्त परिभाषा' मे प्रस्तुत किया है।[1] वह आत्मा को सुखरूप मानते हैं और यह स्वीकार नही करते कि आत्मा और सुख म कोइ भेद है (स आत्मा सुखान्न भिद्यते)।[2] उनकी अज्ञान की परिभाषा चित्सुख की अज्ञान की इस परिभाषा के समान ही है कि अज्ञान अनादि उपादान कारण है जिसकी निवत्ति यथाथ ज्ञान द्वारा सम्भव है।[3] इस प्रकार व्यवहारत उनके वेदा त का प्रस्तुत करने म कोई नवीन तक पद्धति नही है। तात्त्विक विवेचन के तर्कों मे, उनके भेद धिक्कार मे भेद के खडन से उनके प्रयासा म उनके महान् पूवज श्रीहष और चित्सुख उनके पूवगामी थे।

अप्पय दीक्षित (ई प १५५०)[4]

अप्पय दीक्षित द्वारा षाडश शताब्दी के प्रारम्भ काल मे विद्यमान नसिंहाश्रम मुनि के उल्लेख के कारण, अप्पय दीक्षित का काल समवत मध्य षोडश शतान्दी है। वह एक महापडित थे सस्कृत भाषा की अनक शाखाओ मे उनकी गति थी तथा कई

---

[1] यदाऽन्त करणवत्या घटावच्छिन्नचतन्यमुपधीयते तदा अन्त करणावच्छिन्न घटावच्छिन्नचैतन्ययावस्तुत एकत्वेऽप्युपाधिभेदाद् भिन्नयोरभेदापाधिसबधेन ऐक्याद् भवत्यभेद इत्यन्त करणावच्छिन्नचैतन्यस्य विषयाभिन्नतदधिष्ठानचतन्यस्याभेदसिद्धयथ वत्तेनिगमन वाच्यम्। —वही, पृ० २२।

[2] वही, पृ० २६।

[3] अनाद्युपादानत्वे सति ज्ञाननिवर्त्यमज्ञानम्, निखिलप्रपचोपादानब्रह्मगोचरमेव अज्ञानम्। —वही पृ० ४३।

[4] उनको अप्पय दीक्षित तथा अवधानी यज्वा भी कहा जाता था, तथा यज्ञेश्वर मखीन्द्र से उन्हाने तक का अध्ययन किया था। देखिए जानकीनाथ कृत सिद्धात मजरी पर अप्पय दीक्षित कृत न्यायसिद्धात मजरी व्याख्यान (पाडुलिपि) नामक भाष्य की पुष्पिका।

विषयों पर उन्होंने अनेक ग्रंथ लिखे। उनके पितामह आचार्य दीक्षित थे, जो अपने पांडित्य के लिए हिमालय से भारत के सुदूर दक्षिण तक विख्यात थे, अप्पय दीक्षित के पिता का नाम रंगराज मखीन्द्र (अथवा सीधा राजा मखीन्द्र) था। तथापि अप्पय दीक्षित के वेदान्त सिद्धान्तों में कुछ भी महत्वपूर्ण नहीं है। क्योंकि अपने पांडित्य के उपरान्त भी वह एक अच्छे संकलनकर्ता थे न कि मौलिक विचारक, तथा जहां उनको अपने मौलिक विचारों को प्रस्तुत करने का अवसर मिला, ऐसे कई स्थलों पर अन्यों के विचारों को प्रस्तुत करके ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। यह कहा जाता है कि अपने जीवन के दो भिन्न कालों में उनके दो भिन्न, शैव तथा वेदान्ती, धार्मिक विचार थे। परन्तु उसके विषय में कुछ निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनके ऐसे सर्वतोमुखी पांडित्य के कारण उनके द्वारा लिखित शैव टीका और वेदान्ती टीका से यह कल्पना नहीं की जा सकती कि उन्होंने अपना धर्म परिवर्तन किया था। ब्रह्म सूत्र पर श्रीकण्ठ कृत शैव भाष्य पर अपनी शिवार्क मणि दीपिका नामक टीका में अप्पय दीक्षित का कथन है कि यद्यपि ब्रह्म सूत्र की शुद्ध व्याख्या शंकर एवं अन्यों द्वारा की गई अद्वैत व्याख्या है तथापि अद्वैत की इस यथार्थबुद्धि का प्राप्त करने की इच्छा (अद्वैतवासना) का उदय शिव की अनुकम्पा से ही होने के कारण व्यास ने श्रीकण्ठाचार्य द्वारा व्याख्यात सगुण ब्रह्म शिव की महत्ता को स्थापित करने का प्रयत्न किया है। इससे यह प्रकट होता है कि श्रीकण्ठ रचित शैव भाष्य पर अपनी टीका लिखते समय उनमें शंकर की अद्वैत-व्याख्या के प्रति आदर की भावना में न्यूनता नहीं आई तथा वह अपने मन में शिव के रूप में सगुण ब्रह्म के शैव सिद्धान्त का निर्गुण शुद्ध ब्रह्म के साथ किसी प्रकार से सामंजस्य स्थापित करने में समर्थ हुए। तथापि यह संभव है कि प्रारम्भ में अद्वैत वेदान्त के प्रति उनकी जो सहानुभूति केवल मंद थी वह अवस्था के साथ गंभीर होती गयी। अपने 'शिवार्कमणिदीपिका' में उनका कथन है कि वह महाराजा चिन्नबोम्म (जिनके भूमिदान के उत्कीर्ण लेख विजयनगर के महाराजा सदाशिव, १५६६ ई० प० से १५७५ ई० के काल के हैं, देखिए हुल्त्शकृत दक्षिण भारतीय उत्कीर्ण लेख खंड १) के शासनकाल में विद्यमान थे, तथा महाराजा चिन्नबोम्म के आदेश से उन्होंने श्रीकण्ठ कृत भाष्य पर शिवार्कमणिदीपिका नामक टीका लिखी। उनके पौत्र नीलकण्ठ दीक्षित अपने 'शिवलीलार्णव' में कहते हैं कि अप्पय दीक्षित बहत्तर वर्ष की पक्वावस्था तक जीवित रहे। श्री टेलर द्वारा अनुक्रमबद्ध 'ओरिएंटल हिस्टोरिकल मैनस्क्रिप्टस द्वितीय खंड' में यह कहा गया है कि पाण्डय महाराजा तिरुमलनायक की प्रार्थना पर वह सन् १६२६ ई० प० में पाण्डय देश में शैवों और वैष्णवों के कुछ विवादों को हल करने गए थे। 'शिवलीलार्णव' की अपनी संस्कृत भूमिका में महामहोपाध्याय कुप्पुस्वामी शास्त्री का कथन है कि कालहस्तीशरण शिवानन्द योगीन्द्र ने 'आत्मार्पणस्तव' की अपनी टीका में अप्पय दीक्षित की जन्मतिथि कलिकाल का ४६५४ वां वर्ष अथवा १५५४ ई० प० दी है। उनकी ७२ वर्ष की आयु होने के कारण उनका देहावसान १६२६ में हुआ

होगा इसी वष वह पाड्य देश म गए थे । उनके शिष्य मट्टोजी दीक्षित थे, जैसाकि मट्टोजी दीक्षित कृत 'त त्रसिद्धातदीपिका' मे उनके ही कथन से प्रकट होता है। अत मट्टोजी दीक्षित अवश्य ही अप्पय दीक्षित के कनिष्ट समकालीन होंगे, जैसाकि उनके 'तत्वकौस्तुभ' म उनके इस अ य कथन से भी प्रमाणित हाता है कि उ होने 'तत्व कौमुदी की रचना १६०४ से १६२६ तक ''ासन करने वाले महाराजा केलादि वेंकट द्र की प्रायना पर की (देखिए हुल्त्श कृत रिपोर्टस आन सस्कृत मैनस्क्रिप्टस का द्वितीय खड) ।[1]

ऐसा कहा जाता है कि अप्पय दीक्षित ने लगभग ४०० ग्रथा की रचना की। उनमे से कुछ का उल्लेख यहा किया जा सकता है। अद्वैतनिर्णय, चतुमतसार सग्रह (जिसके ''यायमुक्तावलि नामक प्रथम अध्याय म मध्व क सिद्धाता का सार रूप मे उल्लेख है ''याय मयूखमालिका नामक द्वितीय अध्याय मे रामानुज के सिद्धाता का सार रूप उल्लख है, ''यायमणिमाला नामक तृतीय अ ''याय मे श्रीकण्ठ कृत भाष्य के दृष्टिकोण से प्राप्त निर्धारक निष्कर्षों का उल्लख है तथा ''याय मजरी' नामक चतुथ अध्याय म शकराचाय के दृष्टिकोण के अनुसार निर्धारक निष्कर्षों का उल्लेख है), एव व्याकरण ग्रथ व्याकरणवादनक्षत्रमाला पूर्वोत्तर मीमासावादनक्षत्रमाला (जिसमे मीमासा तथा वेदा त के विवेचन के विभिन्न पृथक विषयो का उल्लेख है), शाकर अद्वैत पद्धति के अनुसार ब्रह्मसूत्र पर रचित टीका ''यायरक्षामणि वाचस्पति कृत 'भामती टीका पर अमलान द कृत 'वेदा त कल्पतरू नामक भाष्य पर वेदात कल्पतरू-परिमल' नामक टीका सिद्धा त लेशसग्रह जिसमे वेदा त के कुछ महत्वपूण विषया पर अद्वतवाद की शाकर शाखा के विभिन्न विचारा का उनमे ऐक्य स्थापित करने के अथवा हेतुमय तर्कों द्वारा उनम से किसी क प्रति अपनी प्राधा ''यता प्रदर्शित किए बिना सग्रह किया गया है तथा जिसम अच्युतान द तीथ (कृष्णालकार) गगाधरे द्र सरस्वती (सिद्धा त बि दुशीकर) रामच द्र यज्वा (गूढाथ प्रकाश), विश्वनाथतीथ, धमय दीक्षित तथा अ या के अनेक भाष्य भी सम्मिलित हैं, 'ब्रह्मसूत्र पर श्रीकण्ठ कृत शैवभाष्य की ''िावाकमणिदीपिका नामक टीका, शिवकर्णामृत शिवतत्वविवेक ''िावपुराणतामसत्व खडन शिवाद्वतनिणय, ''ाकर कृत 'शिवानदलहरी पर शिवानद-लहरी च द्रिका नामक टीका, ''िावाचनच द्रिका, शिवात्कप-च द्रिका, शिवोत्कप मजरी, शवकल्पद्रुम, सिद्धा तरत्नाकर, मध्वमुख मग जिसम यह प्रदर्शित करने का प्रयास किया गया है कि 'ब्रह्मसूत्र की मध्व कृत व्याख्या उपनिषद् ग्रथा के आशय के अनुकूल नही है, रामानुज मत खडन, रामायणतात्पय निर्णय रामायण भारत

---

[1] देखिए ''िावलीलार्णव, श्रीरगम् १९११, महामहोपाध्याय कुप्पुस्वामी शास्त्री की भूमिका।

सारसंग्रह, रामायणसार, रामायणसारसंग्रह, रामायणसारस्तव मीमांसा संबंधी एक लघु कृति 'मीमांसाधिकरणमालाउपक्रमपराक्रम', धर्म मीमांसा परिभाषा', नाम संग्रह मालिका विधिरसायन, विधिरसायनोपजीवनी, शब्दों के विविध अर्थों के विषय में एक लघु कृति वृत्तिवार्तिक, कुवलयानन्द नामक छन्द — शास्त्र विषयक कृति, जिस पर दस से अधिक टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं, 'चित्रमीमांसा नामक छन्दोग्रंथ, भागवत पुराण पर 'जयोल्लास निधि नामक टीका वेंकट रचित 'यादवाभ्युदय' पर यादवाभ्युदय टीका नामक टीका, 'प्रबोध चन्द्रोदय नाटक पर टीका, इत्यादि।

प्रकाशानन्द (१५५०-१६०० ई० प०)

यह प्रदर्शित किया जा चुका है कि शंकर द्वारा प्रतिपादित अद्वैतवाद का वेदांत सिद्धांत माया के संयोग से अपने प्रकट द्वैत का निवारण नहीं कर सका, शंकर के परकालीन अनुयायियों के हाथों में माया क्रमश: एक ऐसे उपादान के रूप में घनीभूत होती गई जिसके विकास अथवा रूपान्तरण द्वारा जगत्प्रपंच की समस्त घटनाओं की व्याख्या हो सके। वेदान्तियों का मत था कि यह माया यद्यपि ब्रह्म से अनुबद्ध रहती है अपनी ऐन्द्रजालिक सृष्टि को उस पर छा देती है तथापि यह अकथनीय अनिर्वाच्य, अपरिभाष्य, विकारी एवं अविकाय होने के कारण स्वप्रकाश अविकारी ब्रह्म से एकदम भिन्न है। ऐसे दर्शन के विरुद्ध द्वैतवाद के आरोप का वेदान्ताचार्यों द्वारा यही मानने से खंडन हो सकता है कि ब्रह्म के परमतत्व होने के कारण माया अयथार्थ तथा मिथ्या है और इसी हेतु द्वैत का आरोप असत्य होगा। परन्तु जब हम यह विचार करते हैं कि माया को भावात्मक तथा जगत्प्रतीति के परिणामों के उपादान के रूप में माना गया है तो यह जानना कठिन ही है कि क्यों उसका किसी प्रकार का अस्तित्व न होने का विचार ही नहीं किया जाय? यदि एकदम अद्वैतवादी सिद्धांत का स्थिरता से पालन करना है तो समस्त जगत्प्रपंचों के उपादान के रूप में माया के भावात्मक धर्म का त्याग करना होगा। तथापि शंकर के प्रायः समस्त अनुयायी अपने आचार्य के विचारों की एक ऐसे प्रकार से व्याख्या करते रहे हैं कि प्रत्यक्षमय प्रस्तुतिकरण के आधार के रूप में अपनी अनन्त विभिन्नताओं में युक्त एक विषयपरक जगत् के भावात्मक अस्तित्व को कभी स्वीकार नहीं किया गया। इन वेदान्ताचार्यों के हाथों वेदांत सिद्धांत का सम्पूर्ण क्रम इस दृष्टिकोण का संगठित रूप धारण करने लगा कि शुद्ध अविकारी ब्रह्म द्वारा जगत्प्रपंच की विभिन्नता तथा विविधता की व्याख्या असंभव होने के कारण इस जगत् के आधार स्वरूप एक अनिर्वाच्य उपादान, माया, को आवश्यकतावश स्वीकार करना पड़ता है। प्रकाशानन्द ही सम्भवतः प्रथम व्यक्ति हैं जो विज्ञानवाद के एक शुद्ध इन्द्रियजनित ज्ञानवादी दृष्टिकोण से वेदांत की व्याख्या करने का प्रयास करते हैं तथा किसी उपादान के विषयपरक

अस्तित्व का अस्वीकार करते हैं। विषयों का अस्तित्व उनकी दर्शन दृष्टि के अतिरिक्त कुछ नही है। प्रकाशानंद के मुख्य सिद्धांत का वर्णन इस पुस्तक के प्रथम खंड के दशम अध्याय के १५वें अनुभाग मे किया जा चुका है तथा प्रत्यक्षजन्य ज्ञान के स्वरूप के उनके विश्लेषण का उल्लेख इस अध्याय के एक पूर्व अनुभाग मे पहले ही किया जा चुका है।

ब्रह्म के कारणत्व के विषय म उनका कथन है कि कारणत्व को ब्रह्म से सम्युक्त करना ठीक-ठीक सही नही माना जा सकता, क्योकि कारणत्व मे कारण और कार्य के द्वैत सम्बन्ध की अपेक्षा होती है, ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ न होने के कारण इन अवस्थाओ में उसको कारण नहीं माना जा सकता। पुन, अविद्या को भी जगत् का कारण नहीं माना जा सकता, क्योकि कारणत्व द्वैत के मिथ्या भाव पर आधारित है और यह भाव स्वय अविद्या का फल है। अत कार्य कारण का सिद्धान्त वेदान्त के क्षेत्र के बाहर है (कार्यकारणवादस्य वेदान्तबहिर्भूतत्वात्)। 'जगत् का कारण क्या है ?' जब इस प्रश्न के उत्तर मे यह कहा जाता है कि अविद्या (शाब्दिक अर्थ विज्ञान का अभाव) कारण है तो प्रतिवादी प्रश्नकर्ता को मौन को केवल दूर करना चाहता है तथापि अविद्या का स्वरूप किसी भी प्रमाण द्वारा प्रमाणित नही किया जा सकता, क्योकि यह अन्धकार के समान है और प्रमाण प्रकाश के समान तथा प्रकाश द्वारा अन्धकार का प्रत्यक्ष करना असभव है। अविद्या वह है जिसका ज्ञान किसी अन्य वस्तु के माध्यम से ही किसी अन्य वस्तु के साथ अपने सम्बन्ध के द्वारा सभव हो तथा यह स्वय म अगम्य होने पर भी अनादि एव भावात्मक है। इसके स्वय के यथातथ्य रूप मे इसको समझने का प्रयत्न निष्फल ही होगा। किसी व्यक्ति के स्वय के चैतन्य द्वारा ही अविद्या प्रमाणित होती है अत यह प्रश्न करना व्यर्थ है कि अविद्या कैसे प्रमाणित होती है ? तो भी अपरोक्ष रूप से प्रस्तुत ब्रह्म के साथ आत्मा के ऐक्य की प्राप्ति होते ही उसका नाश हो जाता है। अविद्या के नाश का अर्थ उसका तथा उसकी सृष्टि का विराम नहीं है जैसा कि प्रकाशात्मा ने विवरण मे मत व्यक्त किया है क्योकि ऐसी परिभाषा अकेले रूप मे अथवा सयुक्त रूप मे किसी प्रकार से प्रयोजनीय नही है। अत प्रकाशानन्द इसकी परिभाषा एक ऐसे विश्वास के रूप म करते हैं तो मूलस्थित आधार की उपलब्धि के परिणामस्वरूप इस विश्वास के रूप मे करते हैं कि अनुमानगत प्रतीति कही अन्यत्र होती है न कि उस आधार पर जिस पर उसका अध्यास होता है क्योकि इस अवस्था मे जब मूलस्थित आधार का मनस्कार होता है उस समय मिथ्या प्रतीति पूर्णत अदृश्य हो जाती है और यह अनुभव होता है कि यह कही पर भी नही थी न अन्यत्र कही है और कही भी नही होगी। इसी विश्वास को पारिभाषिक शब्दों मे 'बाध' कहते हैं। अविद्या की अपरिभाष्यता उसके प्रकट होने के आधार पर उसका निषेध है (प्रतिपन्नोपाधौ निषेधप्रतियोगित्वम्)। अत ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी का यह निषेध दो रूप का होता है, एक रूप मे यह निषेध है

और दूसरे रूप मे 'ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य सब' मे सम्मिलित होने के कारण यह निषेध स्वय एक भ्रान्तिमय अध्यास है तथा इस प्रकार स्वय इस दूसरे निषेध के रूप का प्रथम के द्वारा निषेध तथा व्याघात होता है। अत यह तर्क देना गलत है कि ब्रह्म की उपलब्धि के पश्चात् निषेध के शेष रहने के कारण इसका स्वय का निषेध नही होगा, तथा इसी हेतु ब्रह्म के साथ साथ विद्यमान यह द्वैत तत्व होगा।[1]

यह ज्ञान मिथ्या ज्ञान से इस प्रकार से विपरीत है कि ब्रह्मज्ञान के उदय होते ही मिथ्या ज्ञान का लोप हो जाता है। कभी कभी यह आपत्ति की जाती है कि यदि ऐसा है तो ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने वाले व्यक्ति का शारीरिक अस्तित्व नही रहेगा, क्योकि शरीर अस्तित्व के भ्रम पर आधारित है तथा यथार्थ ज्ञान के उदय होने पर समस्त भ्रान्तियो का लोप हो जाना चाहिए, तथा यदि ऐसा ही है तो कोई भी वेदान्त आचार्य समर्थ आचार्य नही होगा। इसके प्रत्युत्तर मे प्रकाशानन्द का कथन है कि स्वय आचार्य के भ्रम की सृष्टि होने के उपरान्त भी वह किसी को भी ठीक उसी प्रकार सत्य मार्ग पर ला सकता है, जिस प्रकार वेद स्वय भ्रम की सृष्टिमात्र होते हुए भी सत्य मार्ग पर प्रेरित करते हैं।[2]

---

[1] ब्रह्मण्यध्यासमान सर्व कालत्रये नास्तीतिनिश्चयस्य अस्ति रूपद्वयमक बाधात्मकमपर मध्यस्यमानत्वम् तत्र मध्यस्यमानत्वेन रूपेण स्वविषयत्वम् बाधत्वेन विषयत्वमिति नात्माश्रेय इत्यर्थ तथा च नाद्वतक्षति (अध्यास भाष्य पर भामती टीका से भी तुलना कीजिए) ऐसा प्रतीत होता है कि नाना दीक्षित ने अपना सम्पूर्ण तर्क भामती से ही लिया है। देखिए सिद्धान्त मुक्तावली पर उनकी टीका।

—दी पडित, १८६०, पृ० १०८।

तथापि यह विचार किसी भी प्रकार से प्रकाशानद का नवीन योगदान नही है। इस प्रकार चित्सुख तत्त्वदीपिका (जिसे प्रत्यक्तत्त्वदीपिका भी कहा जाता है। पृ० न० १६ मे इसी बात को निम्न शब्दो मे लिखते हैं सर्वेषामपि भावनामा श्रयत्वेन् सम्मते प्रतियोगित्वमत्यन्ता भाव प्रति मृषात्मता जोकि प्रतिपन्नोपाधौ निषेध प्रतियोगित्व के समान नही है। वेदान्त परिभाषा पृ० २१६ एव २२० के निम्न अश से तुलना कीजिए 'मिथ्यात्व च स्वाश्रयेनाभिमतयावन्निष्ठात्यन्ताभाव प्रतियोगित्वम्। परवर्ती काल मे मधुसूदन ने अपने 'अद्वैत सिद्धि' मे इस परिभाषा का मुक्त रूप से प्रयोग किया है।

[2] कल्पितोऽप्युपदेष्टा स्याद्यथा शास्त्र समादिशेत्
न चाविनिगमोदोषोऽविद्यावत्वेन निर्णयात ॥

—दी पडित, १८६० पृ० १६०।

आत्मा के आनन्द स्वरूप होने के विषय म उनका सवज्ञात्म मुनि के इस मत से मतभेद है कि आत्मा के आनन्द स्वरूप होने के कथन का अथ यह है कि समस्त दु खो का अत्यन्ताभाव है अथवा आनन्द के अभाव का अभाव है। अत सवज्ञात्म मुनि के अनुसार आनन्द का अथ अनानन्द का अभाव है (अनानन्दव्यावृत्तिमात्र मानन्दत्वम्)।[१] उनका प्रकाशात्मा के उस मत से भी भेद है कि जिसके अनुसार आनन्द वह द्रव्य है जो आनदमय प्रतीत हो क्योकि वस्तुत हम विषय की आकाक्षा रखते हैं। प्रकाशात्मा का मत है कि आत्मा पर ही आनन्दमयता के धम का अध्यास होता है। आत्मा को आनदमय इसलिए कहा जाता है कि यह आनन्दमयता की प्रतीति का अधिष्ठान है। जिसे लोग मूल्यवान् एव इष्ट मानते हैं वह आनन्दमयता नही अपितु आनन्दमय वस्तु है। प्रकाशानन्द का मत है कि यह मत उचित नही है क्योकि आत्मा न केवल आनन्दमय ही अपितु दु खमय भी प्रतीत होती है तथा इसी हेतु आत्मा को आनन्दमय कहना उतना ही उचित है जितना उसे दु खमय कहना। अपिच, आनन्दमयता से पृथक हुआ आनदमयता के विषय का आनदमय नही कहा जाता है अपितु आनदयुक्त पदाथ को आनदमय कहा जाता है (विशिष्टस्यव आनदपदायत्वात्)।[२] यदि आनद मयता आत्मा का सहज धम नही होता तो उसको आनदमय नहीं कहा जा सकता क्योकि आत्मा ही वह आधार है जिस पर आनन्दमयता का भ्रान्तिमय रूप से अध्यास होता है। अत प्रकाशानन्द का मत है कि आत्मा स्वभावत आनन्दमय धम वाला है।

अनुभवगत द्वत के द्रष्टा के विषय में प्रश्न उठाकर प्रकाशानन्द कहते हैं कि ब्रह्म का ही इस द्वैत का अनुभव होता है परन्तु केवल ब्रह्म का ही अस्तित्व होने पर भी ब्रह्म का उसके समस्त अनुभवो म विकार अथवा परिणाम नही होता क्योकि इस प्रकार के मत के विरुद्ध व ही आपत्तियाँ की जाएगी जो ब्रह्म के पूरण अथवा उसके एक अश की वकल्पिक कल्पनाओ के विरुद्ध की जाती है और उन दोनो से हम असभव फलो की प्राप्ति होगी। विवतवाद का कथन है कि मूलस्थित आधार अथवा द्रव्य के अतिरिक्त काय की यथाथता नही है। अत विवत का वास्तविक अथ द्रव्य से एकत्व है, तथा वस्तुत वह इस एक द्रव्य से उत्पन्न होते प्रतीत होने वाले अन्य किसी भी पदाथ को अस्वीकार करता है। अत जगत्प्रतीति का मिथ्या प्रत्यक्ष पूरण रूप से धमहीन ब्रह्म मे समस्त प्रकार के धर्मों की प्रतीति के कारण होना है (निष्प्रकारिकाया सप्रकारकत्वन भाव), आत्मा एव उसके बाघ के ऐक्य होने के कारण तथा आत्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ भी न होने के कारण, इस कथन का कोई अथ नही कि वेदान्त उत्पत्ति के विवतमत को स्वीकार करता है क्योकि यदि ठीक ठीक कहा जाय तो,

---

[१] सक्षेप शारीरक १ १ १७४।

[२] सिद्धान्त मुक्तावली की पक्ति १८६० पृ० २१२।

त्ति तो है ही नहीं (विवतस्य बाल युत्पत्ति प्रयोजनतया)।[1] यदि आत्मा के तिरिक्त किसी अ य की सत्ता हो तो वदा त अद्वैत म व्याघात हो जाएगा। यदि देद वचनानुसार माया को देखा जाय तो माया शशविषाण के समान बिल्कुल तुच्छ ोत होगी यदि इसकी तकसगत व्याख्या करने का प्रयास किया जाय तो जन धारण द्वारा उसका वास्तवी माने जाने पर भी वह अनिवचनीय ही है।[2] अत ाशान द वेदा त मे इस अतिपरक मत का उपदेश करते हैं कि जगत म किसी प्रकार *विषयपरकता नहीं है कि माया का पूणत अभाव है कि हमारे विज्ञान का उससे* द्ध कोई विषयपरक आश्रय नहीं है, कि आत्मा एक है तथा एकमात्र सत्य परम य है, तथा जगत् की सृष्टि अथवा उत्पत्ति नहीं होती। इस मत के लिए उन्हें र सवज्ञात्म मुनि, प्रकाशात्मा तथा अ यो का विरोध करना पडता है जिन्होंने या परिणाम' के एक अधिक अच्छे प्रत्यय का विकास किया परन्तु समवत मडन थ पर अग्रसर होते हुए सर्वाधिक सर्वांग रूप म विज्ञानवादी दृष्टिकोण से वेदान्त युक्तिसगत रूप स प्रस्तुत करने का उन्होंने ही प्रथम बार प्रयत्न किया। अपने की पुष्पिका म उनका कथन है कि उनके द्वारा उपदिष्ट वेदा त का सार उनके कालीनो मे अज्ञात था तथा उन्होंने ही सव प्रथम दशन के इस सिद्धा त का सपूण से प्रतिपादन किया।[3] अपनी 'सिद्धा त मुक्तावली के अतिरिक्त प्रकाशानद ने कई न ग्रंथो की रचना की यथा ताराभक्ति तरंगिणी, मनोरमात त्रराजटीका, महालक्ष्मी ति तथा श्रीविद्या पद्धति, तथा यह प्रदर्शित करते हैं कि सपूणत वेदा ती होने पर उनकी आस्था तन्त्र धम मे थी, जब भारत के विभिन्न प्रदेशो म प्रकाशानद के या के शिष्य व्याप्त हो गए थे। उस समय नाना दीक्षित ने मुक्तावली पर सिद्धा त पिका नामक टीका की रचना की।[4]

मधुसूदन सरस्वती (ई प १५००)[5]

यह सभावना अधिक है कि विश्वेश्वर सरस्वती के शिष्य तथा पुरुषोत्तम सरस्वती के

बाला प्रति विवर्तोऽय ब्रह्मण सकल जगत्।
अविवर्तितमान दमास्थिता कृतिन सदा। —दी पंडित, १८९० पृ० ३२६।

तुच्छानिवचनीया च वास्तवी चेत्यसौ त्रिधा
ज्ञेया माया त्रिभिर्बोधै श्रौतयौक्तिकलौकिक॥ —वही, पृ० ४२०।

वेदा तसारसवस्वमज्ञेयमधुनातन। अशेषेण मयाकन तत्पुरुषोत्तमयत्नत॥
—दी पडित, १८९०, पृ० ४२८।

यच्छिष्यशिष्यसदोह व्याप्ता भारत भूमय।
व देत यतिभिव द्य प्रकाशानदमीश्वरम्॥ —वही, पृ० ४८८।

अपने मधुसूदन कृत वेदान्त कल्पलतिका के सस्करण म रामाज्ञा पाडेय सकेत देते है

गुरु मधुसूदन सरस्वती का काल पाडवा शताब्दी का पूर्वाध है। उनके मुख्य ग्रथ हैं, वे दातकल्पलतिका, अद्वैतसिद्धि, अद्वत मजरी अद्वैतरत्नरक्षण आत्मबोध टीका आनद-मदाकिनी, कृष्णकुतूहल नाटक, प्रस्थान भेद, भक्तिसामान्य निरूपण, भगवद्गीता गूढाथ दीपिका, भगवद् भक्ति रसायन, भागवत पुराण प्रथम श्लोका व्याख्या, वेदस्तुति टीका, शाडिल्यसूत्र टीका, शास्त्र सिद्धातलेश टीका, सक्षेपशारीरक सारसग्रह, सिद्धात तत्वबिन्दु, हरिलीलाव्याख्या। तथापि उनका सबसे महत्वपूर्ण ग्रथ अद्वैत सिद्धि है, जिसमे उन्होने शकर एव उनके अनुयायियो के अद्वैत वेदान्त के विरुद्ध व्यासतीथ कृत न्यायामृत' मे उठाई गई आपत्तियो का खडन करने का प्रयत्न किया है। इस ग्रथ की सामग्री का प्रयोग इस ग्रथ के दशम अध्याय के अनुभाग ६ ७, ८, ९ एव १० मे पहले ही किया जा चुका है। इससे अधिक सामग्री का प्रयोग तृतीय खड मे व्यासतीथ एव मधुसूदन के विवाद के प्रसग मे किया जाएगा। यह विवाद ही अद्वत का विषय वस्तु है। मधुसूदन के सिद्धान्त बिन्दु मे कुछ भी महत्वपूण नही है, इसमे वह केवल प्रत्यक्षीकरण का श्रृ खलाबद्ध वणन देते है जिसका वणन पहल ही दशम् दशम अध्याय मे तथा इस खड के 'वेदान्ती सृष्टि विज्ञान' अनुभाग मे हो चुका है। उनके अद्वैतरत्नरक्षण मे ऐसे विषयो का वणन ,यथा उपनिषदो की प्रामाणिकता उपनिषदो मे द्वैत का अभाव प्रत्यक्ष से द्वैत तत्व की अप्रामाणिकता अन्यो याभाव-जन्य द्वैत का मिथ्यात्व, अनिश्चयात्मक ज्ञान मे द्वैत का अभाव, प्रमाण के किन्ही प्रामाणिक साधना द्वारा द्वत सिद्धि की असमवता इत्यादि। प्राय इसमे कुछ भी नवीन नही है क्याकि इसम बडे ग्रन्थ 'अद्वतसिद्धि मे कुछ महत्वपूण तर्कों की ही पुनरावृत्ति की गई है तथा मध्व के अनुयायियो, जसे द्वैतवादियो, के मत के खडन का प्रयत्न किया गया है मधुसूदन का इन द्वतवादियो से सदा विवाद रहा है।

कि मधुसूदन जन्मना बगदेशीय थे। उनके शिष्य पुरुपोत्तम सरस्वती 'सिद्धान्त बिन्दु टीका पर अपनी टीका मे उल्लेख करते हैं कि बलभद्र भट्टाचाय उनके प्रिय शिष्य थे, तथा पाडेय का यह तक है कि भट्टाचाय बगीय गोत्र होने के कारण तथा

अतः हमारे वर्तमान उद्देश्य के लिए इस ग्रन्थ के विस्तार में जाना आवश्यक नहीं है तथापि यह जानना रुचिकर होगा कि अपने दर्शन में इतना दृढ अद्वैतवादी होने पर भी वह धर्म में आस्तिक थे तथा उन्होंने भक्ति मार्ग का अनुसरण किया जैसाकि उनके भक्तिसम्प्रदाय का उपदेश करने वाले उनके अनेक ग्रन्थों से स्पष्ट होता है। तथापि इन ग्रन्थों का वेदान्त दर्शन से कोई सम्बन्ध नहीं है, जोकि हमारा इस अध्याय में वर्ण्य विषय है। मधुसूदन कृत वेदान्त कल्पलतिका उनकी अद्वैतसिद्धि एवं 'महिम्न स्तोत्र' पर उनकी टीका से पूर्व लिखी गई थी।[1] अपने वेदान्त कल्पलतिका की भूमिका में रामाज्ञा पाण्डेय यह प्रदर्शित करते हैं कि अद्वैतसिद्धि में उनके 'गीता निबन्धन' का उल्लेख है, 'गीता निबंधन' तथा 'श्रीमद्भागवत टीका' में उनके 'भक्ति रसायन' का उल्लेख है, तथा 'भक्ति रसायन' में 'वेदान्तकल्पलतिका' का उल्लेख है। अतः इससे यह प्रकट होता है कि वेदान्तकल्पलतिका की रचना इन सब ग्रन्थों से पूर्व हुई थी। 'अद्वैत रत्नरक्षण' में अद्वैत सिद्धि का उल्लेख होने से उसको काफी बाद की कृति माना जा सकता है। वेदान्त कल्पलतिका में ऐसी कोई विशेष नवीन बात नहीं है जो वेदान्ती विचारधारा में योगदान के रूप में विशेषतः वर्णन किए जाने योग्य हो। ग्रन्थ की विशेषता इसी में है कि उसमें भारतीय दर्शन की अन्य शाखाओं के सिद्धान्तों का सार संक्षेप में दिया हुआ है तथा महत्वपूर्ण वेदान्ती सिद्धान्तों से उनकी तुलना भी की हुई है। चर्चा का प्रथम विषय मुक्ति का स्वभाव और उसकी प्राप्ति के साधन है, मधुसूदन यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि मुक्ति का केवल वेदान्ती प्रत्यय ही मनुष्यों को आकृष्ट कर सकता है। अन्य सब मत असंतोषप्रद तथा अप्रामाणिक हैं। परन्तु यह प्रतीत नहीं होता कि वह अन्य मतों के साथ उचित न्याय करते हैं। उस प्रकार उदाहरणार्थ मोक्ष के सांख्य दृष्टिकोण का खंडन करते हुए उनका कथन है कि क्योंकि सांख्या के मत में भाव का नाश नहीं हो सकता, अतः दुःख का एक भावमय तत्व होने के कारण नाश नहीं हो सकता। अतः दुःख से कभी मोक्ष नहीं मिल सकता। यह स्पष्टतः सांख्य दृष्टिकोण का अयथार्थ रूप में प्रस्तुत करना है, इसका कारण यह है कि सांख्य के अनुसार प्रकृति समस्त दुःखों का मूल है बुद्धि उसका फल है अतः दुःख से मोक्ष का अर्थ यह है कि मोक्ष में बुद्धि का पुरुष से संयोग नहीं रहता है, इसलिए दुःख का नाश नहीं होने पर भी दुःख से मोक्ष प्राप्त करने में कुछ भी असंगति नहीं है। तथापि एक ही समस्या के विषय में अन्य शाखाओं के विचारों को मधुसूदन द्वारा अयथार्थ रूप में प्रस्तुत करने के उदाहरणों की संख्या बढ़ाना हमारे वर्तमान उद्देश्य के लिए अनावश्यक है। चर्चा के मध्य वह यह वर्णन करते हैं कि

---

[1] वह अपने अद्वैत सिद्धि पृ० ५३७ (निर्णयसागर संस्करण) में वेदान्त कल्पलतिका तथा सिद्धान्त बिन्दु का उल्लेख करते हैं। महिम्न स्तोत्र टीका, पृ० ५ भी द्रष्टव्य है।

प्रभाव भी प्रविद्या उपदान से निर्मित है, प्रविद्या प्रन्य वस्तुप्रो के सदृश शुद्ध चित् के सयोग म प्रपने को प्रकट करती है। तत्पश्चात् वह आत्मज्ञान के स्वरूप की चर्चा करते हैं तथा उसके बाद, ऐक्य के उपनिषद् वाक्यो द्वारा ही ब्रह्मज्ञान गम्य होने के कारण वह वाक्यो के प्रथ तथा प्रविहिताचयवाद, प्रनिविताभिधानवाद प्रादि सिद्धातो के विवेचन की प्रोर प्रग्रसर होते हैं। तत्पश्चात् वह प्रविद्या के विनाश का विवेचन करते हैं। प्रपने ग्रन्थ का समापन वह इन्द्रियो के द्रव्यमय स्वभाव के विवेचन से करते हैं। इस प्रकार मनस इन्द्रिय को पचतत्वो से निर्मित माना है जबकि प्रन्य इन्द्रियो को केवल एक तत्व से निर्मित ही माना है। मन को सम्पूर्ण देह मे व्याप्त माना है न कि उसे परमाणिवक माना है, जसाकि नयायिको का मत है। प्रन्त मे मधुसूदन पुन मोक्ष की समस्या पर प्राते हैं प्रौर कहते हैं कि प्रविद्या से मुक्त प्रात्मा का ही मोक्ष का वास्तविक स्वरूप मानना चाहिए।

अध्याय २

योग वाशिष्ठ दर्शन

विभिन्न पुराणों के दार्शनिक तत्वों का बाद के किसी खण्ड में समावेश किया जायगा। योग-वाशिष्ठ रामायण को पुराणों में सम्मिलित किया जा सकता है परन्तु इसमें पुराणों की सामान्य विशेषताओं का अभाव है और सर्वत्र शंकर द्वारा प्रतिपादित वेदान्त सिद्धान्तों से मिलती जुलती मूलतः अद्वैत सिद्धान्तों की वेदान्त सबंधी-समस्याओं की चर्चाएँ भरी हुई हैं। यह विशालकाय काव्य ग्रंथ एक अद्वितीय कृति है इसमें तेइस हजार सात सौ चौतीस (विभिन्न हस्तलिपियों और संस्करणों के सभाव्य मतभेदों को छोड़कर) श्लोक है, और इस प्रकार यह श्रीमद्भगवद्गीता से कहीं अधिक बड़ा है। जिस दार्शनिक दृष्टिकोण के प्रतिपादन की इसमें चेष्टा की गई है और जिस पर बार बार इसमें बल दिया गया है, वह शंकर और बौद्ध विज्ञान वाद के दृष्टिकोण के इतना सदृश है कि शंकर के विवेचन के एकदम बाद में इसका विवेचन करना मुझे विशेष रूप में अधिक महत्वपूर्ण प्रतीत होता है और फिर बाद में आने वाले वेदान्त सूत्रों की विभिन्न व्याख्याएँ शंकर के मत से इतनी प्रतिकूल हैं कि योग-वाशिष्ठ जैसे ग्रन्थ का शंकर से सम्बंधित अध्याय के एकदम बाद विवेचन न करके अन्यत्र विवेचन करने के लिए उपयुक्त स्थान निर्धारित करना अत्यन्त कठिन होगा।

इस ग्रंथ का आरम्भ एक आख्यान से होता है। कोई ब्राह्मण महर्षि अगस्त्य के आश्रम में पहुँचा और उसने प्रश्न किया कि ज्ञान अथवा कर्म में से मोक्ष साधन का प्रत्यक्ष कारण क्या है? अगस्त्य ने उत्तर दिया कि जिस प्रकार पक्षी अपने दो पंखों के सहारे उड़ता है उसी प्रकार मनुष्य केवल ज्ञान और कर्म के द्वारा ही परमपद को प्राप्त कर सकता है। इसे समझाने के लिए वे एक कथा का वर्णन करते हैं जिसमें अग्निवेश्य के पुत्र कारुण्य विद्याभ्यास की समाप्ति पर गुरुकुल से लौटकर शान्त और निष्क्रिय बैठा रहा। उसकी इस मनस्थिति का कारण पूछने पर उसने कहा कि मैं इस प्रश्न से दुविधा में पड़ गया हूँ कि क्या मनुष्य के शास्त्रोपदेशानुकूल कर्म त्यागमात्र का अनुसरण करने की अपेक्षा 'परमपद' की प्राप्ति के लिए अधिक उपयुक्त हैं? कारुण्य के इस प्रश्न को सुनकर अग्निवेश्य ने कहा कि तुम्हारे इस प्रश्न का उत्तर केवल एक कथा के द्वारा ही दे सकता हूँ जिसको सुनकर तुम अपनी इच्छानुसार निश्चय कर सकते हो। एक समय हिमाद्रि शृंग पर बैठी हुई सुरुचि नामक अप्सरा ने इन्द्र के एक संदेशवाहक को आकाश में उड़ते देखा। उससे उसने प्रश्न किया कि तुम कहाँ

जा रहे हो ? उसने उत्तर दिया कि अरिष्टनेमि नामक एक राजा अपना राज्य अपने पुत्र को सौंपकर निष्काम भाव से तपश्चर्या कर रहे हैं, मुझे उसके पास अपने नियोग-वश जाना पड़ा था और मैं वहाँ से लौट रहा हूँ। अप्सरा ने संदेश वाहक और राजा के बीच जो बातचीत हुई उसे विस्तार से जानने की इच्छा प्रकट की। संदेशवाहक ने कहा कि इन्द्र ने उस राजा को स्वलकृत रथ में स्वर्ग में लाने का आदेश दिया था परन्तु इस कार्य के हेतु राजा ने स्वर्ग के गुण और दोषों का वर्णन करने के लिए प्रार्थना की जिन्हें सुनकर वह यह निश्चय कर सकें कि स्वर्ग में जाएँ या नहीं। उन्हें उत्तर मिला कि मनुष्य अपने गुणों के उत्तम मध्यम या अधम होने के अनुरूप ही स्वर्ग में उत्तम मध्यम अथवा अधम सुखों का भोग करते हैं उपभोगों द्वारा अपने गुणों के क्षीण हो जाने पर वे पृथ्वी पर पुनर्जन्म ग्रहण करते हैं और पृथ्वी पर अपने निवास काल में वे अपने सुखों की विषमता के कारण परस्पर स्पृहयुक्त हो जाते हैं। यह सुनकर राजा ने स्वर्ग में जाने से इन्कार कर दिया और इन्द्र से निवेदन करने पर उन्होंने अत्यन्त विस्मित होकर संदेशवाहक को आदेश दिया कि राजा को वाल्मीकि आश्रम में ले जाकर वाल्मीकि को राजा की स्वर्गफल का मांगने की अस्वीकृति से अवगत कराव और राजा का समुचित उपदेश देने की प्रार्थना करे ताकि मोक्ष प्राप्ति हो। ऐसा करने पर राजा ने वाल्मीकि से प्रश्न किया कि मोक्ष किस प्रकार से प्राप्त कर सकता हूँ, वाल्मीकि ने प्रत्युत्तर में इस विषय पर राम वशिष्ठ संवाद को वर्णन करने की इच्छा प्रकट की।

वाल्मीकि का कथन है कि रामायण की कथा समाप्त करके भारद्वाज को उसका उपदेश करने के बाद भारद्वाज ने एक बार उसे ब्रह्माजी को सुनाया और ब्रह्माजी ने प्रसन्न होकर भारद्वाज को वर देने की इच्छा प्रकट की। भारद्वाज ने उत्तर में यह कहा कि मुझे ऐसा उपदेश दीजिए कि जिससे मनुष्य दुःखों से मुक्त हो सके। ब्रह्मा ने उन्हें वाल्मीकि के पास जाने का आदेश दिया और भारद्वाज सहित स्वयं जाकर ब्रह्मा ने वाल्मीकि से प्रार्थना की कि जब तक राम का सम्पूर्णचरित्र का वर्णन न कर लें तब तक वे अपने कार्य से निरत न हों ताकि उसे सुनकर लोग सांसारिक भयों से मुक्ति पा सकें। भारद्वाज को उपदेश देने के पश्चात् आश्रम से ब्रह्मा के अन्तर्धान हो जाने पर भारद्वाज ने भी राम और उनकी पत्नी उनके भाई और अनुयायियों के इस शोक एवं भय ग्रस्त संसार में आचरण का और उनके संतापहीन शान्त जीवन का वर्णन करने की वाल्मीकि से प्रार्थना की।

उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर में वाल्मीकि ने कहा कि अपना विद्याभ्यास समाप्त करके राम ने विभिन्न तीर्थों की और आश्रमों की यात्रा की। लौटकर वे प्रतिदिन अत्यंत खिन्न दिखाई देने लगे परन्तु अपने दुःख का कारण किसी को भी नहीं बताते थे। राम की खिन्नता से राम के पिता दशरथ अत्यंत चिंतित हुए और वशिष्ठ से इसका कारण पूछा। इसी समय विश्वामित्र भी राक्षसों के वध के उद्देश्य से राम को

बुलाने के लिए अयोध्या म उपस्थित हुए। इस समय राम की खिन्न मन स्थिति से अत्यत चिंतित होकर विश्वामित्र ने उनकी खिन्नता का कारण पूछा।

राम ने कहा कि मेरे मन मे एक नई उत्कठा उत्पन्न हो गई है जिसने मुझ मे सब भोगा के प्रति वितृष्णा पदा कर दी है। इस ससार म सुख नही है, मनुष्यो का जन्म मरण के लिए और मरण जन्म के लिए होता है। ससार म सब कुछ अस्थिर है। सब विद्यमान वस्तुएँ असगत है (भावा परस्परमसगित)। कवल हमारी मानसिक कल्पनाआ (मन कल्पनया) के कारण ही उनका सग्रह और सयोग होता है। भोगा के ससार की सृष्टि मन (मन) द्वारा ही होती है और यह मन स्वय अस्तित्वहीन प्रतीत होता है। प्रत्येक वस्तु मृगतृष्णा के समान है।

तब वशिष्ठ ने जगत्प्रतीति के स्वरूप की व्याख्या की और यही उत्तर इस ग्रन्थ का विषय है। राम वशिष्ठ के इस सवाद को वाल्मीकि स सुनकर राजा अरिष्टनेमि छिन्नसशय हो गए और अप्सरा ने भी प्रसन्न होकर देवदूत को जाने की अनुमति द दी। अपने पिता अग्निवेश्य से यह सब सुनकर कारुण्य ने ऐसा अनुभव किया मानो उसने परम तत्व प्राप्त कर लिया और उसने सोचा कि अपनी तत्वानुभूति के कारण एव कम तथा निष्क्रियता एक ही होने के कारण उसका यह स्पष्ट कतव्य है कि वह जीवन के नित्यनमित्तिक कत्तव्यो का पालन करे। जब अगस्त्य ने इस आख्यान को समाप्त किया तो ब्राह्मण सुतीक्ष्ण ने अपने को छिन्नसशय अनुभव किया।

इसम एक बात ऐसी है जिसे परवर्ती काल का स्पष्ट सकेत माना जा सकता है, यहाँ तक कि इस ग्रन्थ क रामायण के रचयिता द्वारा लिखे गए होने के दावे के आशय से भी बहुत बाद के काल की ओर सकेत करती है। इसमे एक श्लोक कालिदास के कुमारसभव के एक श्लोक के प्राय समान ही है।[1] मेरे विचार मे यह अनुमान निस्सदेह लगाया जा सकता है कि लेखक ने इस श्लोक को कालिदास से ग्रहण किया है और सामान्य धारणा भी यही है कि कालिदास का काल पचम शती ई० प० है। *योग-वासिष्ठ* के लेखक चाहे कोई भी क्यो न रहे हो, वे कालिदास से कम से कम कुछ समय बाद रहे। यह भी माना जा सकता है कि कवि के रूप मे कालिदास के सम्मान को स्थापित करने के लिए कालिदास का काल एव योग वाशिष्ठ के लेखक का काल

---

[1] योगवासिष्ठ ३ १६ ५०।

अथ तामतिमात्र विह्वलाम्
सकृपाकाशभवा सरस्वती
शफरीं ह्रदशोष विह्वला
प्रथमावृष्टिरिवान्वकम्पता।

पर्याप्त मात्रा मे लम्बा रहा होगा। इस सम्बध मे विचारणीय एक अन्य तथ्य है। शाकर वेदान्त की व्याख्या एव योग वाशिष्ठ के दृष्टिकोण म महत्वपूर्ण साम्य होते हुए भी कोई भी एक दूसरे के सबध मे कुछ नही कहते। पुन योगवाशिष्ठ के विचार बौद्ध विज्ञानवादियो से इतने मिलते जुलते हैं कि सम्पूर्ण ग्रन्थ बौद्ध विज्ञानवाद का ब्राह्मण रूपातर प्रतीत होता है। बौद्ध विज्ञानवाद का आत्मसात् करने का एव उसे ब्राह्मण विचारधारा पर रूपान्तरित करने का एक अन्य महत्वपूर्ण उदाहरण दिया जा सकता है, यथा गौडपाद एव शकर के लेख। अत मेरी यह मान्यता है कि योग-वाशिष्ठ के लेखक सभवत गौडपाद अथवा शकर के समकालीन सभवत ८०० ई०पू० अथवा उनके एक शतक पूर्व थे।

इस ग्रथ मे [illegible] प्रकरण हैं यथा वैराग्य, मुमुक्षु व्यवहार, उत्पत्ति, स्थिति, उपशम, एव निर्वाण। यह आर्ष रामायण ज्ञान-वशिष्ठ महारामायण, वशिष्ठ रामायण अथवा वशिष्ठ के नाम से जाने जा सकते हैं। इस पर कई भाष्य लिखे गए हैं। इन भाष्यो मे से मैं विशेषतया आनदबोधेन्द्रकृत तात्पर्य प्रकाश का ऋणी हूँ।

योग वाशिष्ठ आद्योपात जनसुलभ भाषणो के रूप मे एक दार्शनिक ग्रथ है एव एक ही विचारधारा को प्राय पुन-पुन विभिन्न प्रकार के वर्णनो तथा काव्यात्मक कल्पना म दोहराया गया है। परतु ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक अलौकिक काव्यात्मक प्रतिभा से युक्त है। प्राय प्रत्येक श्लोक सर्वोत्कृष्ट काव्यात्मक कल्पना से परिपूर्ण है, शब्दो का चुनाव अत्यत कर्ण प्रिय है और वे प्राय हम अपने अभिप्राय आत्यतिक-आदर्शात्मक विचार की अपेक्षा अपने काव्यात्मक मूल्य द्वारा हम पर रुचिकर प्रभाव उत्पन्न करते हैं।

योग वाशिष्ठ पर कई भाष्य लिखे गए, और कुछ लेखको ने इसे श्लोक मे सक्षेपण किया जिनके ग्रथो पर पुन टीकाएँ लिखी गई। इस प्रकार नरहरि-पुत्र अद्वयारण्य ने इस पर वशिष्ठ रामायण चन्द्रिका नामक भाष्य लिखा। उन्नीसवें शतक के गगाधरेन्द्र सरस्वती के शिष्य आनदबोधेंद्र सरस्वती ने तात्पर्य प्रकाश लिखा। गगाधरेंद्र ने भी उसी नाम से एक भाष्य लिखा। रामदेव एव सदानद ने भी इस ग्रथ पर दो भाष्य लिखे और इसके अतिरिक्त योग वाशिष्ठ तात्पर्य सग्रह नामक एक अन्य भाष्य और माधव-सरस्वती ने पद चन्द्रिका नामक अन्य भाष्य लिखा। इसके सक्षेपण निम्नलिखित हैं—बृहद् योग वाशिष्ठ लघु ज्ञान वाशिष्ठ योग वाशिष्ठ श्लोक नवम् शतक के गौड अभिनद-कृत योग वाशिष्ठ सक्षेप योग वाशिष्ठ सार अथवा ज्ञानसार योग वाशिष्ठ सार सग्रह तथा अद्वैतानद के शिष्य रामानद तीर्थ कृत वाशिष्ठ सार अथवा वाशिष्ठ-सार-गूढार्थ। गौड अभिनद कृत योग वाशिष्ठ-सक्षेप पर आत्म सुख ने चन्द्रिका नामक भाष्य एव मम्मडिदेव ने ससार तरणि नामक एक अन्य भाष्य लिखा। पूर्णानन्द और महेश्वर ने भी योग-वाशिष्ठ-सार पर दो भाष्य लिखे।

सन् १९२४ की मद्रास प्राच्य सभा की कार्यवाही में योग वाशिष्ठ रामायण पर एक लेख में शिवप्रसाद भट्टाचार्य कहते हैं कि योग वाशिष्ठ सार का दूसरा नाम मोक्षोपाय सार अभिनद ने लिखा जिसे गौड अभिनद से सम्मिश्रित नही करना चाहिए। परतु वे यह तथ्य भूल जाते हैं कि गौड अभिनद ने भी योग वाशिष्ठ सक्षेप नामक उसका अन्य भाष्य लिखा। प्रासगिक रूप से यह उनके इस मत का खडन करता है कि योग वाशिष्ठ दस एव बारहवें शतको के बीच रखा जाना चाहिए क्योंकि यदि *नवम् शतक के गौड अभिनद ने इसका सक्षेपण लिखा तो योग वाशिष्ठ कम से कम* अष्टम शतक मे लिखा जाना चाहिए। इस प्रकार योग वाशिष्ठ को सातवें अथवा आठवें शतक में मानना चाहिए।

परम तत्व

योग वाशिष्ठ का तृतीय प्रकरण उत्पत्ति के सबध म है। बधन का मूल कारण दृश्य जगत् का भाव है एव इस प्रकरण का मुख्य विषय यह है कि दृश्य जगत् का कोई अस्तित्व नही है। प्रलय के समय सम्पूर्ण दृश्य जगत् की प्रतीति का नाश हो जाता है यथा सुषुप्ति म स्वप्न का। शेष जो बच जाता है वह गम्भीर एव सीमित है, न तो प्रकाश है न अधकार बल्कि केवल अ यक्त और अनिवचनीय है पर तु फिर भी वह एक सत् पदार्थ है। यह तत्व स्वय अपने आपको अ य के रूप म प्रकट करता है *(स्वम अ य इवोल्लसन्)* और *प्रवाहहीन समुद्र की तरगो के समान प्रकृतिशील तत्व* के द्वारा मनस के रूप मे यक्त होता है। पर तु वास्तव मे जो कुछ भिन्न २ रूप मे दृश्य जगत् दिखाई देता है उसका वस्तुत अभाव ही है, क्योकि यदि उसका अभाव होता तो किसी भी स्थिति मे अभाव नही हो सकता था।[1] दृश्य जगत् का लेशमात्र भी अस्तित्व नही है। परम अनिवचनीय अनिश्चित तत्व जो केवल निर्वाण मात्र है अथवा पराबुद्धि है वह सदा विद्यमान रहता है *और उसमे कोई विकार अथवा परि*-वर्तन नही होता। इस तत्व के प्रथम स्प दन मे अहकार उत्पन्न होता है जो भासित होने पर भी वस्तुत परम तत्व के अतिरिक्त कुछ नही है। धीरे २ वायु म लहरो की तरह कई एक स्प दनो के द्वारा सृष्टि के (दृश्य जगत्) विसग की उत्पत्ति होती है। *परम तत्व केवल सकल्प पुरुष ही है।*[2] *मुनि के मतानुसार जिसका हमें अव* भास होता है वह सकल्प नगर अथवा ग धव पट्टन के समान मनस के सकल्प के कारण

---

[1] *योग वाशिष्ठ ३ ३।*

[2] सर्वेषा भूतजातानां ससार व्यवहारिणाम्, प्रथमाऽसौ प्रतिस्प दश्चित्तदेह स्वतोदय। अस्मात् पूर्वात् प्रतिस्प दादनयैतत्स्वरूपिणी इय प्रविसृता सृष्टि स्प दसृष्टिरिवा निलात्। ३ ३ १४ १५।

ही है (यथा सकल्प नगर यथा गन्धर्व पत्तनम्)। सार वस्तु परम तत्व के अतिरिक्त कुछ नहीं है और जो कुछ उसके अतिरिक्त दिखाई देता है उसका कुछ भी अस्तित्व नहीं है वह केवल मानसिक जगत् है जो परम तत्व के द्रव्य रहित अव्यक्त मानसिक जगत् से उत्पन्न होता है। नाता होने का हमारा भ्रम उस स्थिति में ही मिट सकता है जबकि हम यह निश्चित रूप से अनुभव कर लें कि इस दृश्य जगत् के भाव की सम्भावना ही नहीं है, और उस स्थिति में मोक्ष हो जाता है यद्यपि दृश्य जगत् भासित होता रहे। इस मनस की मानसिक रचनाओं द्वारा ही सग विसग की उत्पत्ति दृश्य जगत् में हुई हैं। उसका कोई विशिष्ट रूप नहीं है अपितु वह तो केवल नाममात्र एव शून्यमात्र है।[१] यह मनस न तो हमारे अतर में है और न बाह्य, यह तो हमारे चारों ओर शून्य की तरह व्याप्त है। इस सम्पूर्ण प्रपंच का मनस से प्रकट हुआ समझना मृगजल के समान है। सब रूपों एव भावों के लक्षण केवल क्षणिक कल्पनाओं के समान है। जो कुछ व्यक्त है और जिसका भाव प्रतीत होता है वह मनस के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है यद्यपि यह मनस स्वयं काल्पनिक उत्पत्ति बिंदु है जिसकी कोई वास्तविक स्थिति नहीं है। जैसे जल से रस और वायु से स्पन्दन पृथक नहीं किया जा सकता ठीक उसी प्रकार मनस दृश्यावभास से भिन्न नहीं है और न उनसे भिन्न किया जा सकता है। इस तरह मनस काल्पनिक तत्व के अतिरिक्त और कुछ नहीं है जिसके द्वारा यह सम्पूर्ण दृश्य जगत उत्पन्न हुआ यद्यपि यह दृश्य प्रपच एव मनस एक ही है और उनमें वैभिन्य बताना असम्भव है।[२] अविद्या, संसृति चित्त मनस बंध मल तमस उसी प्रत्यय (दृश्य जगत) के पर्याय-वाची शब्द हैं।[३] द्रष्टा ही दृश्य के रूप में प्रकट होता है और वह दर्शनमात्र ही है जो द्रष्टा और दृश्य के रूप में प्रकट होता है। दृश्य प्रपच का अभाव ही मोक्ष स्थिति है। वास्तव में न तो द्रष्टा है, न दृश्य न दर्शन न शून्य न प्रकृति, और न पुरुष, न चित्त अपितु शुद्ध शान्त अथवा शुद्ध अभाव है और इसी को हम ब्रह्म कहते हैं।[४] यह शुद्ध शान्त स्वरूप है जिसे सांख्य पुरुष वेदांती ब्रह्म, बौद्ध विज्ञानवादी

---

[१] रामास्य मनसो रूप न किंचिदपि दृश्यते। नाम मात्रादृते व्योम्नो, यथा शून्य जडाकृते। ३ ४ ३८।

[२] पूर्णे पूर्णं प्रसरति शान्त शान्त व्यवस्थितम्
व्योमन्येवादितं व्योम ब्रह्मणि ब्रह्म तिष्ठति
न दृश्यं अस्ति सद्रूप न द्रष्टा न च दर्शनम्
न शून्य न जडं नो चिच्छान्तमेवेदमाततम्॥ ३ ४ ६९ ७०।

[३] ३ ४ ४६।

[४] ३ ५ ६ ७।

विज्ञान मात्र और शून्यवादी पूर्ण शून्य कहते हैं।[१] और यही शून्य अंतर और बाह्य जगत में व्याप्त है।[२] उस शून्य की परिभाषा इस तरह से की गई है जो इस प्रकार नहीं दिखाई देता है और जो सबका आधार है अर्थात जिसमें जगत स्थित है (यस्मिन् शून्य जगत स्थितम्) और जो सृष्टि का कारण होते हुए भी शून्य रहता है।[३] मृग जल अथवा वंध्या पुत्र के समान मायिक दृश्य प्रपंच को पूर्णरूप से असत ही समझना चाहिए। इस प्रकार परम तत्व न तो सत है न असत अपितु वह स्पन्दात्मक और अस्पन्दात्मक दोनों है (स्पंदास्पंदात्मक)।[४] वह आत्मा अनिर्वचनीय एवं अव्यपदेश है (किमप्यव्यपदेशात्मा) न भाव है न अभाव है और न भावोऽभाव है तथा न स्पंदात्मक और न अस्पंदात्मक है (न भावो भवन न च)। योग वाशिष्ठ दर्शन की लंकावतार सूत्रों से इतनी निश्चित और गहन समानता है कि इस विषय का विस्तृत विवेचन करना आवश्यक नहीं है और पाठकों का ध्यान वर्तमान कृति की प्रथम पुस्तक में वर्णित लंकावतार दर्शन की ओर आकृष्ट किया जाता है। वेदांत के विषय में योग वाशिष्ठ प्रकाशानंद कृत दृष्टि सृष्टिवाद के समान है जो बाद में लिखी गई है और जिसका रचना काल गौडपाद और मंडन के समय समझा जाता है। प्रकाशात्मन् योग वाशिष्ठ को अपने मुख्य आधार ग्रंथों में से एक मानता है।

उत्पत्ति

(प्रपंचात्मक जगत्) न तो पूर्व में था और न वर्तमान में है और न भविष्य में होगा। इस कारण वास्तविक रूप से न तो जगत की उत्पत्ति है और न विनाश।[५] परंतु फिर भी दृश्य अवश्य है और इसके मूल में हम जाना चाहिए। परम तत्व पूर्ण निवृत्ति मात्र है जैसाकि ऊपर वर्णन किया जा चुका है। इस दृश्य जगत के व्यक्त होने का क्रम इस प्रकार है कि प्रथम परम तत्व में स्व संकल्प होता है जिससे अनिर्वचनीय तत्व प्रकट होता है और उससे अहंकार की उत्पत्ति है। उसके स्पंदन से एक ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है जिसको बुद्धि तत्व कह सकते हैं, जो शुद्ध बुद्ध और

---

[१] नाशरूपो विनाशात्मा ३ ५ १६।

[२] ३ ७ २२।

[३] ३ ६ ५६।

[४] ३ ६ ५६।

[५] वंध्यापुत्रव्योमवन यथा न स्त कदाचन।
जगदाद्यखिलं दृश्य तथा नास्ति कदाचन।
न चोत्पन्नं न च ध्वंसि यन किलादौ न विद्यते।
उत्पत्ति कीदृशी तस्य नाश शब्दस्य का कथा॥ —३ २ ४ ५।

निरजन है और जिसमे प्रत्यक वस्तु प्रतिबिंबित होती है और इसी तत्व का हम चित्त कहते हैं। ज्या ज्या स्पदन अधिक घन सम्वदन हाता है त्या त्या जीव के दूसरे विकार उत्पन्न हात हैं। इस सापान पर वह अपनी परम स्थिति का भूल सा जाता है और भावना मात्र सार के रूप म अपने आप म से प्रवाहित हाने लगता है। प्रथम विषय आकाश है जा शुद्ध शून्य है। उसी क्षण अहता और काल उत्पन्न होता है। यह सृष्टि किसी अश म भी वास्तविक नहीं है। परम तत्व के और स्व समवेदन मात्र के दृश्य की प्रतीति क अतिरिक्त कुछ नहीं है। मन का यह जाल असत है और सत की प्रतीति मात्र है। सम्वित जा आकाश एव अहकार सदृश्य है और जा भावना क गर्भ का बीज है उसी का विकार वायु स्पदन है।[1]

पुन आकाश म स्पन्दन के फलस्वरूप घनीमय की उत्पत्ति होती है और इसस 'ख' तन्मात्रा उत्पन्न हाती है। यही शब्द तन्मात्र सब वर्णो की जननी है जिसम शब्द वाक्य और प्रमाण सम्मिलित है। क्रमश स्पर्श तज रस, गध उत्पन्न हात है और उन्हीं स यह सम्पूर्ण दृश्य प्रपच जा वस्तुत इसके अतिरिक्त कुछ नहीं है कि य बुद्धि तत्व के गर्भ से उत्पन्न हुए। पुन जीव उत्पन्न हाता है जिसम चरम सयोग चेतन के केवल सम्पर्क अथवा स्पश स ही बाह्य चित्त शक्ति आई न कि स्वय मे निहित स्व सचालित चेतत्व स है। इसके पश्चात मायिक अविद्या उत्पन्न हाती है जिससे फलस्वरूप जीव समझने लगता है कि वही चैतन्य सत्ता है और इसी कारण चैतन्य से पृथक है जिसका परिणाम यह हाता है कि जीव म अहकार आ जाता है जा बुद्धिरवाक मलन के कारण पृथक् पृथक तन्मात्राओ का दृश्य प्रपच और जगत् की उत्पत्ति हाती है। परन्तु व सब सग है और इस कारण उनकी वस्तु स्थिति केवल दृश्य क अतिरिक्त और कुछ नहीं है। क्योकि उनका गुण केवल विकल्प मात्र है अत वे कभी भी वास्तविक नही हो सकते। जा कुछ प्रतीति का भाव दिखाई द

---

[1] मन सपद्यते लोल कलनाकलनान्मुखम्
कलयती मन शक्ति आदौ भावयति क्षणात।
आकाशभावनामच्छा शब्दबीजरसोन्मुखीम्,
ततस्ता घनता जातम् घनस्पदक्रमान्मन । —४ ४४ १६ १७।

एसे बहुत से मतो की तुलना से यह ज्ञात होता है कि प्रत्यक मानसिक सृष्टि भावना मात्र का परिणाम है और विकासशील भावनाओ की क्रम-श्र खला की प्रत्यक यथाक्रम भावना घन कहलाता है। तात्पय प्रकाश में घन का भावानुवाद उपचय के रूप म किया गया है। भावना और स्पद एक ही है प्रत्येक भावना का परिणाम घन था और प्रत्यक घन क अनुरूप एक अद्ध निश्चित सृष्टि थी और प्रत्यक घन के क्रम म स्पद था।

रहा है वह विकल्प के स्पन्दन का परिणाम है। यह इच्छा उत्पन्न होते ही कि 'मुझे देखना है' दो आँखें प्रकट हो गई और ऐसे ही स्पर्श, गंध, रस, और श्रवण, की इन्द्रियें बन गइ। न तो जीव एक है और न उन्हें अनत कह सकते हैं। केवल ब्रह्म के विकल्प की सर्व शक्तिमत्ता से इतने जीवों का दृश्य जगत् प्रकट होता है। वास्तव मे जीवों का कोई अस्तित्व विकल्प कुछ नहीं है जिससे कि उनकी प्रतीति होती है। कोई रूप अथवा पदार्थ है ही नहीं वे केवल चित्त चमत्कार हैं।

इस सिद्धांत के अनुसार मनस शुद्ध चित्त के कार्य के अतिरिक्त कुछ नहीं है जिसके द्वारा वह अपने आपको दृश्य के रूप में बाहर निकालती है। यहाँ पर शुद्ध चित्त को हम आध्यात्म कह सकते हैं और उसकी दृश्यता को हम आधिभौतिक कह सकते हैं।[1] दृश्यता में भी चित्त अपने से अतिरिक्त किसी दूसरे को नहीं देखता यद्यपि वह अन्य को देखता हुआ सा प्रकट प्रतीत होता है (स्वमेवान्यतयाद्दष्टवा) और इस दृश्य प्रपंच का प्रारम्भ अहंता से होता है।

यहाँ पर महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि समता में यह विकार कैसे उत्पन्न हुआ और यह वर्तमान संकल्प विकल्पात्मक जगत किस तरह से प्रकट हो गया। योग वाशिष्ठ में इसका उत्तर यही दिया गया है कि काकतालीय योग के द्वारा यह सब कुछ हो गया। वास्तव में यह बड़ी दु:खद बात है कि इतनी विचित्र भयंकरी सृष्टि का उत्पन्न होना केवल आकस्मिक समझा गया है।[2] परब्रह्म के कोई अन्य कारण की सम्भावना की खोज करना अप्रामाणिक समझा जाता है।[3]

कर्म, मनस् एवं पदार्थ

इसके अनुसार कर्म मनस् क्रिया के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मनस की क्रियाशील अवस्थाएं उनकी पूर्व क्रियाओं पर निर्भर रहती हैं और आगे की क्रियाओं द्वारा निर्धारित की जाती हैं। जब कोई विशेष स्थिति आगे आने वाली स्थिति को निश्चित करती है तो वह समझी जाती है परन्तु क्योंकि यह स्थिति पहिले की स्थिति से अर्थात कर्म से पैदा होती है तो यह कहा जा सकता है कि कर्म कर्ता का जनक है और कर्ता फिर अपनी क्रिया से कर्म उत्पन्न करता है। ऐसी अवस्था में कर्म और

---

[1] चितो यच्चेत्य कलन तन्मनस्त्वमुदाहृतम् चिद् भागोऽत्राजडोभागो, जाडयमत्र हि चेतता।—३ ९१ ३७।

[2] —३ ९६ १५ ४ ५४ ७।

[3] ब्रह्मणः कारणं किं स्याद् इति वक्तु न युज्यते स्वभावो निर्विशेषत्वात परो वक्तु न युज्यते।—४ १८ २२।

कर्त्ता परस्पर जनक है जैसाकि वृक्ष से बीज और बीज से वृक्ष इसी तरह से कर्त्ता से कर्म और कर्म से कर्त्ता का चक्कर चलता रहता है तथा यह निश्चित तौर पर नहीं कहा जा सकता कि प्रथमत कर्म हुआ था कर्त्ता।[1] परन्तु यदि ऐसा ही है, तो कर्म का उत्तरदायित्व समाप्त हो जाता है और मनुष्य सुख और दुख अपनी वासना के अनुसार भोगता है जिससे वह पैदा होता है। परन्तु यदि कर्त्ता और कर्म की उत्पत्ति एक साथ ही हो तो पूर्व जन्म के कर्म से वर्तमान जन्म निश्चित नहीं होना चाहिए और इसका अर्थ यह होगा कि मनुष्य के सुख और दुःख उसके कर्मों पर आधारित हैं। श्री रामचन्द्र के यह प्रश्न प्रस्तुत करने पर वसिष्ठजी कहते हैं कि कर्म आत्मा के कारण नहीं होता अपितु मनस के कारण होता है। मानसिक संकल्प विकल्प से ही कर्म होता है। प्रथमत जब मनस् तत्व सत के रूप में ब्रह्म से उत्पन्न होता है तो कर्म भी उसी क्षण आरम्भ हो जाता है और उसके परिणामस्वरूप आत्मा और शरीर का संबंध होते ही वे व्यक्त हो जाते हैं। कर्म और मनस एक अर्थ में एक ही वस्तु है। इस जगत् में क्रिया स्पंदित कर्म कहलाता है और चूँकि मनस के स्पंदन से क्रियाएँ होती हैं और सुख और दुःख के भोगों के साथ समस्त शरीर उत्पन्न होते हैं इसी तरह से जो शरीर, भौतिक स्थूल कर्म से संबंधित है वास्तव में वह मनस और उसके स्पंदन के अतिरिक्त कुछ नहीं है। मनस सार रूप से कर्म अथवा स्पंदन ही है और स्पंदन का बंद होना ही मनस का नाश होना है (कर्मनाश मनोनाश)[2] जैसे उष्णता अग्नि से अथवा कृष्णता अंजन से पृथक नहीं की जा सकती इसी तरह से स्पन्दन और क्रिया मनस से पृथक नहीं की जा सकती। यदि एक समाप्त होता है तो दूसरा भी आवश्यक रूप से समाप्त हो जाता है। मनस का अर्थ वह क्रिया है जो भाव और अभाव के बीच स्थित रहती है और अभाव से भाव उत्पन्न करती है वह स्वाभाविक तौर पर गत्यात्मक है और मनस के नाम से प्रसिद्ध है। मनस की इसी क्रिया के द्वारा शाश्वत ज्ञेय रहित शुद्ध चैतन्य अहंता का रूप धारण करता है। इस तरह मनस सतत क्रियाशीलता का द्योतक है। कर्म का बीज मनस स्पन्दन है और जो क्रियाएँ उसके द्वारा सम्पादित होती हैं वे वास्तव में अनन्त हैं। संश्लेषणात्मक मनस ही कर्मेन्द्रियों का आश्रय कहा जा सकता है—जिससे समस्त कृपाएं होती हैं, और इसी कारण से कर्म को मन के अतिरिक्त और कुछ नहीं माना गया है। मन, बुद्धि अहंकार चित्त कर्म कल्पना, संसृति, वासना विद्या, प्रयत्न, स्मृति, केवल नाममात्र से भिन्न है और इन भिन्न भिन्न नामों से ही भ्रम उत्पन्न होता है, वास्तव में वे केवल

---

[1] यथा कर्म च कर्त्ता च पर्यायेणेह संगतौ
कर्मणा क्रियते कर्त्ता कर्त्रा कर्म प्रणीयते
बीजांकुरादिवन्न्यायो लोके वेदोक्त एव म। ३ ९५। १९ २०।

[2] ३ ९५।

मनस अथवा चित्त की क्रिया के अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु नहीं है अर्थात एक ही तत्व है। ये भिन्न भिन्न नाम केवल इसीलिए प्रचलित हुए हैं कि वे एक ही तत्व के भिन्न भिन्न स्वरूप पर बल देते हैं। वे पृथक पदार्थ अथवा वस्तुएँ नहीं है, केवल भिन्न भिन्न सोपान स्वरूप अथवा क्षण हैं। इस तरह चित्त की क्रिया का प्रथम क्षण भिन्न भिन्न दिशाओं में भटकने वाली चित्त की कृपाओं का क्षण मनस कहलाता है। जब भटकने के पश्चात दो विकल्पों के बीच में यह निर्णय होता है कि 'यह ऐसा ही है' तो वह बुद्धि कहलाती है। जब शरीर और आत्मा के संबंध का भ्रम हो जाता है तो वह व्यक्तित्व का भ्रम अहंकार कहलाता है। जब भूत की स्मृति और भविष्य की आशाओं के साथ विचार विमर्श का संबंध हो जाता है तो वह चित्त कहलाता है। जब किसी दिशा की ओर स्पन्दन अथवा क्रियाशीलता के अर्थ में क्रिया का वास्तविक रूप समझा जाता है तो वह कर्म कहलाता है। जब अपनी स्वयं पूर्ण स्थिति छोड़कर वह किसी वस्तु की इच्छा करता है तो हम उसे कल्पना कहते हैं। जब चित्त का पूर्व दृष्ट अथवा अदृष्ट किसी वस्तु की ओर झुकाव होता है और यह समझता है कि वह पूर्वानुभूत है तो हम उसको स्मृति का नाम देते हैं। जब अति सूक्ष्म तन्त्र रूप में भाव उत्पन्न होते हैं और वे अन्य सब भावनाओं को इस तरह से प्रभावित करते हैं जैसे कोई किसी वस्तु में राग अथवा द्वेष अनुभव किए गए हों तो वह वासना कहलाती है। जब यह अनुभूति होती है कि एक ओर आत्म ज्ञान और दूसरी ओर मिथ्या एवं भ्रमात्मक दृश्य जगत है तो हम इसे विद्या कहते हैं, अर्थात आत्म और अनात्म का ज्ञान ही विद्या है। जब यथार्थ ज्ञान की स्मृति नष्ट हो जाती है और झूठे जगत प्रपंच का प्रभाव हमारे ऊपर यथार्थ ज्ञान सवार हो जाता है तो हम उसको मल कहते हैं। पंच ज्ञानेन्द्रियों का कार्य हमें सुखप्रद लगता है और हम उन्हें इन्द्रियाँ कहते हैं चूँकि सम्पूर्ण जगत प्रपंच दृश्य की उत्पत्ति एवं आधार इस परम तत्व में है अतः वह प्रकृति कहलाती है। चूंकि यह यथार्थ स्थिति न तो भाव और न अभाव ही हो सकती है और चूंकि इसमें अनन्त विश्व की उत्पत्ति होती है इसलिए उसे माया कहते हैं।[1] इस तरह वह एक ही द्रव्य है जो जीव, मनस चित्त और बुद्धि के नामों से प्रचलित है।[2]

इस ग्रन्थ की एक विशेषता यह है कि यह साधारण प्रकार की दार्शनिक पुस्तक नहीं है अपितु उसका मुख्य उद्देश्य पाठकों के हृदय में एक ही भाव का विविध प्रकार

---

[1] ३ ९६ १७ ३१।

[2] ३ ९६ ३४।
जीव इति उच्यते लोके मन इत्यपि कथ्यते।
चित्त इति उच्यते सैव बुद्धिरित्युच्यते तथा।

से उन आख्यानों एव कविताओं को दोहराकर दृढ निश्चय उत्पन्न करने का प्रयत्न है जो महानतम् संस्कृत कवि कालीदास की कविता से निम्न श्रेणी के नहीं हैं।

जगत्-प्रपच

योग वासिष्ठ इस बात की पुनरावृत्ति करते नहीं थकता कि यह जगत् आकाश मे वन अथवा कमल तथा शश शृग के सदृश है। परम ब्रह्म की स्थिति मनस् की स्थिति से उच्चतर है। मनस होने से वही ब्रह्म अपने आपको चित्त मे परिवर्तित कर देता है और इस तरह से यह परिवर्तनशील प्रतीतियों को उत्पन्न करता है। परतु स्वय ब्रह्म तत्व मे कोई अन्य वस्तु नही हो सकती। (ब्रह्मतत्वेऽन्यता नास्ति)। यद्यपि मनस मे परिवर्तन होना और उसके द्वारा जगत् प्रपच की उत्पत्ति होना प्रतीत होता है परन्तु यह परिवर्तन वास्तविक नहीं अपितु भ्रमात्मक है क्योंकि इस परिवर्तन की प्रतीति होते हुए तथा स्थित रहते समय भी ब्रह्म अविकारी और अपरिच्छिन्न एव निर्लेप रहता है। इस तरह सम्पूर्ण दृश्य जगत् ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नही है एव जो कुछ प्रतीत हो रहा है उसका अभाव ही है। द्रष्टा अपने आपको दृश्य मे कभी परिवर्तित नहीं करता परन्तु अपने आप ही स्वय समस्त दृश्यों मे वही रहता है। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि यदि सृष्टि अथवा विसर्ग मन की भ्रमात्मक कल्पना के अतिरिक्त और कुछ नही है तो इस जगत् की व्याख्या कैसे की जा सकती है? इस विचारधारा मे ऐसे प्रश्न का स्वभाविक उत्तर यही है कि यह व्यवस्था और समता कई लोकों मे काल्पनिक उत्पत्तियों की समानता पर एव आकस्मिक बातों पर निर्भर है। यह आकस्मिक बात है कि कई स्वप्न क्रम दूसरे स्वप्न क्रमों से सगति रखते हैं।[1] परतु वस्तुत वे सब केवल एक मनस की ही स्वप्न रचनाएं हैं। होता यह है कि वासना रूपी स्वप्न द्वारा भौतिक वस्तुएँ धीरे धीरे अपने स्थूल पृथक स्थाई रूप से रहती हुई समझी जाने लगती हैं। यद्यपि स्वप्न के रहते वे वास्तविक प्रतीत होती हैं फिर भी वे इस काल मे सिवाय स्वप्न जगत् के और कुछ नहीं है। शुद्ध चैतन्य अपने आप स्वय को बदलकर जो स्वप्न देखता है वह ऐसा है कि स्वय अपने मे एक सा होता हुआ भी अन्य स्वय देश काल क्रिया और द्रव्य के रूप में भिन्न भिन्न सा प्रतीत प्रतिरूप यह जगद्रूप बड़ा भारी स्वप्न के सदृश प्रतीत होता है।

साधारण जागृत स्थिति और स्वप्न स्थिति मे अंतर यही है कि जागृतावस्था को हम स्थिर प्रत्यय समझते हैं और स्वप्नावस्था को हम सामान्यत कोई स्थाई आधार

---

[1] मेलनमपि स्वकीयपरकीयस्वप्नानां दवात् क्वचित् सवादवत् स्यात् कल्पनात्मकमेव।
—योग-वासिष्ठ तात्पर्य प्रकाश ४ १९ ४६।

नही समझते। स्थित रहने वाला कोई भी अनुभव स्वप्न हो अथवा नही स्थाई समझा जाता है चाहे यदि हमारे जागृत प्रत्यय परिवर्तनशील समझे जाय तो वे जबकि भी अपना स्थायित्व खो देते हैं और हमारा उनमे विश्वास स्थित छिन्न भिन्न हो जाता है। यदि स्वप्न के अनुभव कुछ समय तक रहे और जागृत अनुभव क्षणिक हो तो जागृतावस्था स्वप्नवत समझी जाएगी और स्वप्न के दृश्य स्वप्नावस्था मे साधारण अनुभव समझे जायेंगे। केवल जागृतावस्था आने पर ही स्वप्न भग होता है और तभी स्वप्नो का बाध होने के कारण मिथ्या समझे जाते हैं। परन्तु जबतक स्वप्नावस्था मे स्वप्न दिखाई देता रहता है हम उन्हे झूठा नही समझते क्योकि उस अवधि मे स्वप्न के दृश्य स्थाई प्रतीत होते हैं और इसी कारण वास्तविक हैं। इस तरह से जागृत अवस्थाओ और स्वप्न अवस्थाओ मे केवल इतना ही अंतर है कि प्रथम अवस्था आपेक्षिक दृष्टि से स्थिर और चालू रहने वाली है और दूसरी अवस्था अस्थिर और परिवर्तनशील है।[1]

हमारे अदर एक शुद्ध चैतन्यभाव है जो वस्तुत जीव धातु वीर्य और तेजस ही है। जागृतावस्था मे जब शरीर का सबध मन, वचन कर्म से होता है तो बुद्धि अपना कार्य करना प्रारभ कर देती है जिसके परिणामस्वरूप सब तरह का सांसारिक ज्ञान उत्पन्न होता है और उसके कारण जगत् प्रपच की माया व्यक्त हो जाती है जस इंद्रियो के गोलको द्वारा बाह्य स्पर्श से कोई वस्तु अदर आती है और यही स्थिर एव निश्चित स्वभाव वाली होने से जाग्रत अवस्था कहलाती है। सुषुप्तावस्था वह है जिसमे शरीर मनस, कर्म अथवा वचन की क्रिया से क्षुब्ध नही होता। बुद्धि शात रहती है और उसमे बिना किसी बाह्य अभिव्यक्ति के तिल मे तेल की तरह प्रसुप्तावस्था मे रहती है।[2] जब जीव धातु अतिक्षुब्ध हो जाता है तो हम स्वप्नावस्था का अनुभव होते हैं। जब कभी मनस अपने आप की कोई वृत्ति मे पूर्णतया एकत्व स्थापित कर लेता है तो वह अपने आपको ऐसी ही वृत्ति वाला बना हुआ प्रतीत होता है जसेकि अग्नि मे लोहे का गोला स्वय अग्नि के समान हो जाता है। मनस ही पुरुष और विश्व रूपता (दृश्य) है।[3] साख्य दर्शन के अनुयायी मनस को शुद्ध चित्त समझते हैं और उन्होने अपने सिद्धान्तो का प्रतिपादन विस्तारपूर्वक किया है और उनके मत मे साख्य शास्त्र मे बताए गए साधनो के अतिरिक्त किसी अन्य साधन द्वारा मोक्ष प्राप्ति नही होती। वेदान्त के अनुयायियो का भी यह विचार है कि यदि कोई सम्पूर्ण जगत् को

---

[1] जाग्रतस्वप्नदशाभेदो न स्थिरास्थिरते विना सम सर्वत्र सर्वत्र समस्तोऽनुभवोऽनयो। स्वप्नोऽपि स्वप्नसमये स्थैर्याज्जाग्रत्त्वमृच्छति अस्थैर्यात् जाग्रदवास्ते स्वप्नस्तादृशबोधत। —४ १९ ११ १२।

[2] ४ १९ २३।

[3] ४ २० ४।

ब्रह्म समझें और आत्म संयमक इच्छाओं की निवृत्ति यदि इसी ज्ञान के साथ जोड़ दें तो मोक्ष सम्भव है। विज्ञानवादियों की यह धारणा है कि यदि पूर्ण इंद्रिय दमन एवं विषयों की समाप्ति हो जाय और साथ ही उसको यह ज्ञान हो जाय कि जगत्-प्रपंच स्वयं उसके ही भ्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है अर्थात् मिथ्या है तो वह निर्वाण प्राप्त कर सकता है। इस तरह से प्रत्येक दर्शन मोक्ष के झूठे नियमों का बहुत कुछ बढ़ा चढ़ा कर कहता है और उसका कारण परंपरागत गलत विचारधाराएँ ही हैं। परन्तु इन सब विचारधाराओं के मूल में सत्य यह है कि मनस ही अखिल सृष्टि का मूल है। वास्तव में सुख या दुःख मधुर अथवा कटु उष्ण अथवा शीत, स्वतः हैं ही नहीं और ऐसी प्रतीतियाँ केवल मन के ऐसा स्वभाव बन जाने से ही होती हैं जब कोई मान लेता है और पूर्ण श्रद्धा के साथ किसी विशिष्ट विचार में फँस जाता है तो उस समय वह उस वस्तु को उसी विचार से देखना प्रारंभ कर देता है।[1]

कर्तृत्व एवं जगत्-प्रपंच की माया

जब कभी सुख अथवा दुःख के कार्य का अथवा पूर्ण इच्छा शक्ति के प्रयोग जैसे कि योग साधन के प्रयोग वाले कार्यों के संबंध में किसी व्यक्ति को जब हम कर्तृत्व प्रधान कहते हैं तो हम गलती करते हैं क्योंकि कर्तृत्व इच्छा एवं निश्चय का काम है। अतः वह मनस का आंतरिक निश्चय या वासनाभिधान और इच्छाएँ हैं।[2] विषयों का भोग की ओर ले जाने वाली मनुष्य में आंतरिक क्रिया इन इच्छाओं अथवा वासनाभिधान के अनुसार ही होती है और इससे उसका विशेष रूपा के भोग प्राप्त होते हैं इस तरह से हमारे सारे भोग हमारे स्वभाव एवं आचार विचार के स्वाभाविक परिणाम हैं, और वे ही भोगों के कर्त्ता हैं क्योंकि सम्पूर्ण कर्तृत्व हमारे आंतरिक इच्छा प्रयत्न में है। इसके प्रयोग से जो भोग मिलते हैं वह मन के भाव विकारों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है जो इच्छा के क्रियात्मक प्रयोग से उत्पन्न होते हैं। समस्त कर्म अथवा कर्तृत्व इस तरह से मूल वासना से संबंधित है और इस कारण ये दोनों उन लोगों के लिए संभव है जो सत्य को नहीं जानते और जिनके मनस मूल वासनाओं

---

[1] न शनैरिह पदार्थेषु रूपमेकमुदीयते।
दृढ भावनया चेतो यद्यथाभावयत्यलम्।
तत्तत् फलं तदाकारं तावत्कालं प्रपश्यति।
न तदस्ति न यत् सत्यं न तदस्ति न यन्मृषा।

—४ २१ ५६ ५७।

[2] योऽन्तरस्याया मनोवृत्तेर्निश्चय उपादेयताप्रत्ययो वासनाभिधानतत्कर्तृत्वशब्दे नोच्यते।

—४ ३८ २।

से परिपूर्ण रहते हैं। परन्तु जो वासना रहित है उनका कोई कर्तृत्व अथवा भोक्तृत्व नहीं हो सकता। निस्सदेह उनका मानस सदा कर्मशील रहता है और वे स्वय प्रत्येक समय कुछ न कुछ करते ही रहते हैं। परन्तु वासना रहित होने के कारण उनमें फलासक्ति नहीं है और उनके कर्म अनासक्तिपूर्वक चलते रहते हैं। जो कुछ मनस करता है वही होता है और जो वह नहीं करता वह नहीं किया जाता अत मनस ही करता है न कि शरीर। जगत् चित्त अथवा मानस से व्यक्त हुआ है उसी धातु का है, और उसी मे स्थित है। प्रत्येक वस्तु केवल मानसिक है और इसका कोई दूसरा अस्तित्व नहीं है। अततोगत्वा प्रत्येक वस्तु ब्रह्म से ही उत्पन्न हुई है क्योंकि समस्त शक्तियों का स्रोत वही है इसलिए सब शक्तिऍ–भाव, अभाव एकत्व द्वैत, एव अनत ब्रह्म में ही प्रतीत होती है और ब्रह्म से ही इनकी उत्पत्ति है। चित्त अथवा मनस शुद्ध चित्त अथवा ब्रह्म का विकास है जैसा कि उपरोक्त वर्णन मे कहा जा चुका है। ब्रह्म के द्वारा ही कर्म शक्ति, वासना और सम्पूर्ण मानसिक विकार प्रकट होते हैं। परन्तु यदि प्रत्येक वस्तु ब्रह्म से निकली है तो यह समझ मे नहीं आता कि जगत् प्रपच अपने स्रोत अर्थात् ब्रह्म से इतना भिन्न क्यो है ? जब कोई कार्यकारण से उत्पन्न होता है तो यह आशा करना स्वाभाविक है कि यह दोनो वास्तव मे समान होगे अतएव यदि जगत् या सृष्टि ब्रह्म से उत्पन्न हुई है तो वह ब्रह्म के समान ही होनी चाहिए परन्तु ब्रह्म निरजन है और सृष्टि शोकानुकूल है, इसका स्पष्टीकरण कैसे हो ? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि जिस व्यक्ति को पूर्ण स्वानुभूति हो गई है कि सम्पूर्ण जगत् प्रपच ब्रह्म के गर्भ से निकला है और उसका कोई अस्तित्व नहीं है तो, न तो इस सृष्टि मे कोई शोक रहेगा और न कोई ऐसा गुण रहेगा जो ब्रह्म से भिन्न हो। केवल उसी व्यक्ति की दृष्टि मे जगत् और ब्रह्म के बीच मे महान् अतर प्रतीत होता है जिसने परम तत्त्व का अनुभव नहीं किया हो। बिना पूर्ण अनुभूति के ब्रह्म एव सृष्टि के एकत्व का केवल शुष्क ज्ञान सब प्रकार के पापो का कारण है। इस हेतु उस व्यक्ति को सृष्टि और ब्रह्म के एकत्व का उपदेश नहीं देना चाहिए। जिसने अपने मन को इन्द्रिय निग्रह और भोगो के प्रति वैराग्य के आवश्यक गुणो द्वारा शुद्ध नहीं कर लिया हो।[1] यथा इन्द्रजाल मे घट पट के रूप मे और पट घट के रूप मे असत् वस्तुओ का प्रत्यक्षीकरण होता है और सत् का निरास हो जाता है सब तरह के आश्चर्यपूर्ण दृश्य दिखाए जाते है और इन प्रतीतियो की स्वय की वस्तु-स्थिति कुछ भी नहीं होते हुए भी यही उपमा जगत् की उत्पत्ति मनस से की है। न तो कोई कर्त्ता है और न सम्पूर्ण कोई जगत के सुख दुखो का भोक्ता है और न किसी का कोई विनाश है।[2]

---

[1] आदौ शमदमप्रायैर्गुणैः शिष्य विशोधयेत्
पश्चात् सर्व इद ब्रह्म शुद्धस्त्व इति बोधयेत्। –४ ३९ २३।

[2] नात्र कश्चित् कर्ता न भोक्ता न विनाशमेति। –४ ३९ ४१।

यद्यपि परम स्थिति अवाच्य ब्रह्म अथवा चित् है फिर भी सृष्टि एवं प्रलय का चक्र मनस से ही प्रारम्भ होता है। तथाकथित सृष्टि की रचना के प्रारम्भ में मनस की क्रिया शक्ति जाग्रत होती है। प्रारम्भ से ही उस शक्ति का प्रवाह समस्थ स्थिति तक पहुँचने का अर्थ मनस में शक्ति संग्रह है जिससे 'घन' कहते हैं और जो स्पदनात्मक मन की अस्पदन स्थिति है। आगे चलकर शक्ति की यह अस्पदनस्थिति शक्ति के आगे के प्रवाह से मिश्रित होती है और परिणामतः वह द्वितीय श्रेणी का स्थिर शक्ति संग्रह हो जाता है फिर शक्ति का दूसरा प्रवाह आता है और उससे तीसरी श्रेणी की स्थिर शक्ति बन जाती है। यह क्रम चलता ही रहता है। इस तरह से मनस सर्ग का रास्ता विचारों की वास्तविक शक्ति एवं शक्ति के क्रियात्मक रूप की अंतरक्रिया के द्वारा है जो परम सत् की शक्ति के भंडार से प्रत्येक कर्मी बहाव से मिश्रित हो जाती है। अतः यह कहा जाता है कि मनस का प्रथम स्पदन आकाश के रूप में व्यक्त हुआ और इस शक्ति के बहाव के परिणामस्वरूप मनस में शक्ति का 'घन' बन गया, और दूसरा स्पदन मनस में और हुआ जो पूर्वावस्था के घनशक्ति से विकृत होकर वायु हुआ। इस मनस् की शक्ति के द्वितीय विकार से वायु उत्पन्न होने के बाद क्रम चलता ही रहा और इस तरह के मनस के बहाव प्रत्येक सोपान पर विकृत होकर घन का बनना घन स्पद क्रम कहलाता है।[1] आकाश वायु तेज अप एवं पृथ्वी सम्पूर्ण तथाकथित तन्मात्राएँ उपरोक्त क्रम से उत्पन्न होती हैं और पश्चात् अहंकार एवं बुद्धि अर्थात् सूक्ष्म शरीर अर्थात् पुर्यष्टक उत्पन्न होते हैं तत्पश्चात् ब्रह्म का विराट स्वरूप मनस में निहित वासना के अनुसार बनता है एवं विकसित होता है। इस प्रकार हमें पहले आकाश तन्मात्रा और आकाश तन्मात्रा शक्ति के बहाव से वायु तन्मात्रा फिर आकाश तन्मात्रा वायु तन्मात्रा तीसरी शक्ति के बहाव से तेजस तन्मात्रा और इसी प्रकार के आगे की तन्मात्रा, तन्मात्राएं अहंकार और बुद्धि से हमें अष्ट प्रकार की अर्थात् पांच तन्मात्राएं, अहंकार, बुद्धि एवं शुद्ध चित्त का सूक्ष्म शरीर बन जाता है, जो ब्रह्म का पुर्यष्टक कहलाता है। इससे ब्रह्म का शरीर विकसित होता है ब्रह्म के मनस् द्वारा भौतिक तत्व और सम्पूर्ण जगत् प्रपंच की सृष्टि होती है। परन्तु है यह सम्पूर्ण मानसिक खेल अतएव असत है, और इसी तरह से समस्त शास्त्र देवता और देवियें और सब कुछ जो वास्तविक दिखाई देता है वह सब वस्तुतः असार है।

जीवनमुक्त के सोपान

योग वाशिष्ठ के अनुसार मुक्ति मनुष्य के जीवनकाल में अथवा उसकी मृत्यु के पश्चात् प्राप्त हो सकती है, प्रथम मुक्ति सदेह मुक्तता अथवा जीवन-मुक्ति कहलाती है।

---

[1] ४ ४४ १३, ३०।

जीवन मुक्त अवस्था वह है जिसमें संत के कोई वासना (अपगतवपरा) नहीं रहती और वह सुषुप्तवत सा रहता है। वह आत्मरत रहता है और उसके विचार में किसी वस्तु का भाव नहीं है। उसकी दृष्टि सदा अंतर्मुखी ही रहती है, यद्यपि वह अपने बहिर्चक्षु से वस्तुओं को देखता है और अपने सम्पूर्ण कर्मेन्द्रियों की समस्त क्रियाएँ करता रहता है। वह भविष्य की प्रतीक्षा नहीं करता न वर्तमान में रहता है और न भूत को याद करता है। वह सोता हुआ भी जाग्रत है और जाग्रत भी सुषुप्त है। वह सम्पूर्ण कर्म बाह्य रूप से करता हुआ भी मानसिक रूप से उनसे पूर्णतया अप्रभावित रहता है। वह अंतर से समस्त कर्मों को संन्यस्त करता है और अपने लिए कोई इच्छा नहीं रखता। वह आनंद से परिपूर्ण रहता है और इसी कारण साधारण दृष्टि वाले लोगों में साधारण सुखी व्यक्ति दिखाई देता है परन्तु वह वास्तव में सब तरह के काम करता हुआ भी अपने आप का कर्तृत्व से मोहित नहीं करता (त्यक्तकर्तृत्वविभ्रम) अर्थात् उसको कर्ता होने का भ्रम नहीं होता। उसको द्वेष, शोक, संवेग अथवा सुख के उद्वेग नहीं होते। वह अपने साथ शुद्ध अथवा अशुभ करने वालों के प्रति तटस्थ रहता है, वह प्रत्येक व्यक्ति के साथ अपने स्वयं के ढंग से सहानुभूतिपूर्ण रुचि दिखाता है, बच्चों के साथ खेलता है, और बूढ़ों के साथ गंभीर हो जाता है, और युवकों का प्रिय सखा बन जाता है, और दुःखियों के दुःख में सहानुभूति प्रकट करता है। वह जिस किसी के संपर्क में आता है उसके साथ बुद्धिमत्ता और प्रेमपूर्वक रोचक व्यवहार करता है। वह अपने शुभ कर्मों में, भोगों में पापों में बंधन में अथवा मुक्ति में कोई रुचि नहीं दिखाता। उसको सम्पूर्ण जगत प्रपंच के ज्ञान एवं स्वभाव का सच्चा दार्शनिक ज्ञान होता है और वह शुभाशुभ अथवा तटस्थ भौतिकी घटनाओं में तटस्थ रहता है। परन्तु उपरोक्त विवरण से यह प्रकट है कि संत में इस तरह का तटस्थ दृष्टिकोण उसको विरक्त एवं दृढ़ विचार-युक्त होने के कारण असंसारी नहीं बनाता, क्योंकि वह स्वयं अपने अन्दर रत रहता हुआ एवं प्रत्येक तरह से अप्रभावित रहता हुआ दूसरों के आनंद में भागीदार हो सकता है और दुखियों के दुःख में सहानुभूति रख सकता है तथा बच्चे के सदृश खेल सकता है।[1]

जीवन मुक्ति शंकर भी सम्भव मानते हैं यद्यपि उन्होंने अपने ब्रह्म सूत्र में इस शब्द का प्रयोग नहीं किया है। इस तरह से छांदोग्य (६ १४ २) के आधार पर वह लिखते हैं कि ज्ञान से केवल उन्हीं कर्मों का नाश होता है जिनका भोग प्रारंभ में नहीं हुआ है, जिन कर्मों का भोग प्रारंभ हो गया है उनका नाश सच्चे ज्ञान से भी नहीं हो सकता, और इस तरह से किसी के लिए शुभ अथवा अशुभ कर्मों के फल से छुटकारा पाना असंभव है और यह मानना ही पड़ेगा कि सच्चे ज्ञान के उदय होने के पश्चात्

---

[1] ५ ७७।

ो उन प्रारब्ध भोग के हेतु शरीर रहता है जिनका कि फल प्रारम हो गया है और उनका ाय भोग अथवा दु ख के द्वारा नही हुआ है। ऐसी स्थिति के स्पष्टीकरण म शकर ो उपमाओ का उपभोग करते हैं (१) निर्मित होने वाले घडे के पूर्ण हो जाने पर भी ासे कुम्हार की चाक चलती ही रहती है इसी तरह से शरीर जो कि शुद्ध ज्ञान की ाप्ति तक आवश्यक हाता है, ऐसे नान के उदय होने के पश्चात् भी कुछ समय तक ालू रहता है। (२) जैसे कि आख का रोगी यह निश्चय होने पर भी कि चद्र दो ाही है अपितु एक है एक की अपेक्षा दो चद्र देखता है इसी तरह से जीवनमुक्त को ागत् प्रपच की असत्यता की दृढ प्रतीति होने पर भी वह माया का दृश्य देखता रहता । यद्यपि वह अतर में उससे अप्रभावित रहता है।[1] उपनिषदो मे केवल उत्तरकालीन ुक्तिक उपनिषद मे जिसने योग वाशिष्ठ से प्रेरणा ली प्रतीत होती है जीवन मुक्त ाब्द का प्रयोग हुआ है जिसका अथ वह सत है जो प्रारब्ध कम के भोग क्षय होने तक जीवित रहते हैं।[2] परन्तु यद्यपि उपरोक्त शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है फिर भी इसके सम्ब ध मे मा यता अत्यन्त पुरानी प्रतीत होती है।

श्रीमद्भगवद् गीता में स्थित प्रज्ञ का विवरण हमें जीव मुक्त सत की अवस्था की याद दिलाता है। स्थित प्रज्ञ के कोई वासना नही हाती, वह आत्मरत रहता है, न तो उसके आसक्ति है न भय है और न क्रोध वह दु खा स विचलित नही होता और न सुख की स्पृहा करता है, वह पूर्णतया राग द्वेष से विवर्जित रहता है। जैसे कछुआ अपनी इन्द्रियो का अदर खीच लेता है इसी प्रकार वह विषयो से अपने आपको अलग रखता है।[3] श्रीमद्भगवद् गीता का उपरोक्त भाव योग वाशिष्ठ मे भी अपने स्वय के ढग से उल्लिखित है।[4] परन्तु ऐसा प्रतीत होता है योग वाशिष्ठ का जीवन मुक्त गीता के स्थित प्रज्ञ से ऊँचा इस अथ में रख दिया गया है कि वह जीव मुक्त पुण्य एव पाप के परिणाम के फलस्वरूप सुख दु ख स पूर्णत अप्रभावित रहता हुआ भी हम से बिल्कुल विरक्त नहीं है क्योकि अपने स्वय के कल्याण मे वह रुची न रखता हुआ भी दूसरो के सुख में सुखी एव दूसरो के दु ख मे सहानुभूति रखता है, वह बच्चे के सदृश आनद मना सकता है जबकि बच्चो के साथ हो और जब दार्शनिक अथवा वृद्धो के साथ हो तो उतना ही गभीर हो सकता है जितना कि अन्य दार्शनिक। श्रीमद्भगवद्गीता का कहना यह नहीं [redacted] ऐसे गुण स्थित प्रज्ञ में नही है फिर भी उनका उल्लेख वहाँ नही किया गया है और ऐसा प्रतीत होता है कि उसमे जीव मुक्त के विरक्त और निवृत्ति

---

[1] शकर का ब्रह्मसूत्र, ४ १ १५ १६।

[2] मुक्तिक उपनिषद्, १ ४२ ११ ३३ ३५ ७६ भी।

[3] श्रीमद्भगवद्गीता, २ ५५ ५८।

[4] वही २ ५५-५८।

प्रधान दृष्टि पर ही बल दिया गया है जबकि योगवाशिष्ठ ने, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, जीवन्मुक्त संत के निवृत्ति और प्रवृत्ति, दोनों पक्षों पर बल दिया है। वह पूर्णतः अप्रभावित रहते हुए भी समाज से विरक्त नहीं है और अपने मानसिक संतुलन को किसी तरह से खोए बिना भी प्रत्येक प्रवृत्ति में भाग लेता हुआ प्रतीत होता है। गीता सदा निश्चित रूप से अनासक्त योगी के लिए भी शुभ कर्म करने का विधान करती है, परंतु उसमें यह कमी दिखाई देती है कि जीवन में सबके साथ पूर्ण और उचित रुचि लेने का आदेश नहीं है यद्यपि योगी सब कुछ करता हुआ भी पूर्णतः अंतर में अप्रभावित रहता है।

योगवाशिष्ठ में जीवन्मुक्त स्वयं अपने कर्म ही अनासक्त होकर नहीं करता अपितु प्रत्यक्षतः दूसरों के सुख-दुःख में भागीदार हो जाता है।

यह प्रश्न कि जीवन्मुक्त स्वयं अपने कर्मों के अशुभ फल से ऊपर रहता है या नहीं, बौद्ध दर्शन में भी उठाया गया था। इस प्रकार हमें कथावस्तु में यह विवरण मिलता है कि योगी की हत्या सही काल के पूर्व हो सकती है या नहीं और यह भी कहा गया है कि किसी को निर्वाण की प्राप्ति संचित इच्छित कर्म के फल भोग के बिना नहीं हो सकती।[1] धम्मपद भाष्य (बलिंगम्) के अनुसार लगभग ४५० ई०पू०) में एक आख्यान है कि महासंत मोगाल्लाना के चोरों ने टुकड़े टुकड़े कर दिए और उसकी हड्डियों को पीसकर चावल के दाने के समान छोटे बना दिए ऐसे महान् संत की इतनी दुखद मृत्यु से उनके शिष्यों में स्वाभाविक रूप से संशय उत्पन्न हुआ और इसका स्पष्टीकरण बुद्ध भगवान ने इस तरह किया कि उसने पूर्व जन्म में जो हत्या का अपराध किया था वही ऐसी मृत्यु का कारण था, यद्यपि उसने अर्हत्व उसी जन्म में प्राप्त कर लिया था फिर भी वह परिपक्व होने वाले अपने पापों के फल से बच नहीं सका।[2] इसका अर्थ यह हुआ कि योगत्व का अर्थ शरीर का नाश नहीं है और योगत्व प्राप्त करने के पश्चात् भी प्रारब्ध कर्मों के फल भोगने के हेतु स्थित रहता है।

भिन्न भिन्न भारतीय दर्शन जीवन मुक्त अवस्था की सम्भावना के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं हैं। इस प्रकार न्याय दर्शन के अनुसार अपवर्ग केवल उसी अवस्था में सम्भव है जब जीवन सब प्रकार के नौ भावों (अर्थात् सुख दुःख इच्छा द्वेष, ज्ञान प्रयत्न पुण्य पाप और वासना) से पूर्णतः छुटकारा प्राप्त कर ले। जब तक वस्तुतः यह विलगता नहीं हो तबतक मुक्ति सम्भव नहीं हो सकती और यह मानना कठिन

---

[1] कथा वत्थु १७ २।

[2] ई० डब्ल्यू० बर्लिंगेम्स कृत बौद्ध आख्यान द्वितीय खंड पृ० ३०४ वही आख्यान जातक की भूमिका में ५२२ दोहराया गया है।

नहीं है कि यह मृत्यु के बाद भी सम्भव हो सकता है, अतः मोक्ष शरीर जीवित रहने तक सम्भव नहीं है।[1] इस विषय का विवेचन वात्स्यायन ने न्याय सूत्र ४,२,४२-४५ में निम्न प्रकार से किया है कि बाह्य वस्तुओं का इन्द्रियों द्वारा ज्ञान प्राप्त करना सम्भव नहीं है क्योंकि अपवर्ग में जीव शरीर से और सब इन्द्रियों से पृथक हो जाता है, अतः ज्ञान सम्भव नहीं है, और ज्ञान के नष्ट होने पर दुःख की भी आत्यन्तिक एवं पूर्ण निवृत्ति हो जाती है।[2] वैशेषिकों ने उसी मत को मान्यता दी है। श्रीहर्ष कहते हैं कि जब परमार्थ दर्शन द्वारा सम्पूर्ण पुण्य समाप्त हो जाता है तब जीव पुण्य और पाप के बीजों को दग्ध कर देता है जो शरीर एवं इन्द्रियाँ इत्यादि का कारण है और वर्तमान शरीर पुण्य और पाप के भोगों का भोग के द्वारा क्षय करने से समाप्त हो जाता है और कर्म के बीजों के दग्ध हो जाने से नया शरीर उत्पन्न होना सम्भव नहीं है, इसलिए शरीर का नाश हो जाता है, जैसेकि सम्पूर्ण समिधा जलने से अग्नि समाप्त हो जाती है और ऐसी शरीर की नित्य अनुत्पत्ति को मोक्ष कहा जाता है।[3]

प्रभाकर का भी यही मत प्रतीत होता है। इस तरह शालिकनाथ अपने प्रकरण पंचिका में प्रभाकर के मत का विवेचन करते हुए कहते हैं कि शरीर का पुण्य और पाप के भोग क्षय से अन्ततः पूर्ण समाप्त हो जाना ही मोक्ष है।[4] यह कठिन प्रश्न प्रस्तुत किया गया है कि अनादिकाल से संचित कर्मों के सुख-दुःख रूपी भोगों का क्षय सम्भव नहीं है, जगत के दुःख मिश्रित दुःख और सुख से विरक्त होने के कारण वह मोक्ष के लिए यत्न करता है, और इसी हेतु वैदिक विधान से निषिद्ध उन

---

[1] तदेवनवानां आत्म गुणानां निर्मूलोच्छेदोऽपवर्गः।
तदेवेदं उक्तं भवति तदत्यन्त वियोगोऽपवर्गः॥
—न्याय मंजरी, पृ० ५०८।

[2] यस्मात् सर्वदुःखबीजं सर्वदुःखायतनं चापवर्गे।
विच्छिद्यते तस्मात् सर्वेण दुःखेन विमुक्तिः,
अपवर्गो नो निर्बीजं निरायतनं च दुःखं उत्पद्यते।
—न्यायसूत्र पर वात्स्यायन, ४ २ ४ ३।

[3] यथा दग्धेन्धनस्यानलस्योपशमः पुनरनुत्पाद एवं पुनः शरीरानुत्पादो मोक्षः।
—न्याय-कंदली प० २८३।

[4] आत्यन्तिकस्तु देहोच्छेदो निःशेष धर्माधर्मपरीक्षयनिबंधनो मोक्ष इति।
—प्रकरण पंचिका, प० १५६।

प्रशस्तपाद ने भी लिखा है तदा निरोधात् निर्बीजस्यात्मनः शरीरादिनिवृत्तिः पुनः शरीराद्यनुत्पत्तौ दग्धेन्धनानलवद् उपशमो मोक्ष इति।
प्रशस्तपादभाष्य प० २८२।

कर्मों को करने से अपने आपको रोकता है जो पापयुक्त है, वह पूर्वजन्म के शुभाशुभ फलों कर्मों का भोग एवं दुःख के द्वारा क्षय कर देता है, वही यथार्थ ज्ञान प्राप्त करता है, और उन सात्विक शान्ति, इन्द्रिय निग्रह और ब्रह्मचर्य के नैतिक गुणों से सम्पन्न होकर अंत में अपने कर्मों के निःशेष कर्माशय को समाप्त कर देता है और मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है।[1] निस्संदेह यह दृष्टिकोण इस जीवन में इतनी उच्च अवस्था का विवेचन है जबकि कोई नए कर्मों का संचय नहीं होता परन्तु इस अवस्था को भी जीवन्मुक्त की अवस्था नहीं कहा गया है, क्योंकि इस मत के अनुसार मोक्ष निरपेक्ष एवं शरीर की सतत अनुत्पत्ति ही है।

साङ्ख्यकारिका का मत है कि जब सम्यक ज्ञान का अधिगम हो जाता है और जब उसके परिणामस्वरूप अनादि काल से संचित कोई भी कर्मों के नियत विपाक फल भोगने के हेतु परिपक्व हो गए हैं तो शरीर केवल अनादि अविद्या के अनुयोग के कारण स्थित भले ही रहे, जैसेकि कुम्भकार का चक्र कार्य समाप्त करने के पश्चात् भी गतिमात्रा प्राप्त कर लेने के फलस्वरूप गतिमान रहता है।[2]

जीवन्मुक्त शब्द का न तो कारिका में न तत्त्व-कौमुदि में और न तत्त्व विभाकर में ही प्रयोग किया गया है। साङ्ख्य सूत्र इस शब्द का प्रयोग उसी आधार पर करता है जैसाकि वाचस्पति। साङ्ख्य सूत्र और विशेषकर प्रवचन भाष्य, मंद विवेक, मध्य विवेक, एवं विवेक निष्पत्ति का त्रिविध सामान्य प्रत्यय प्रस्तुत करता है।[3] मंद-विवेक का सोपान वह है जिसमें साधक ने प्रकृति एवं पुरुष में भेद का अभीष्ट ज्ञान प्राप्त नहीं किया परन्तु उसके लिए प्रयत्न कर रहा है, मध्य विवेक वह सोपान है जो जीवन्मुक्त की अवस्था है। परन्तु यह असंप्रज्ञात अवस्था है अर्थात् वह अवस्था जिसमें ज्ञाता ज्ञेय का ज्ञान और पूर्ण विवेक है। अंतिम सोपान विवेक निष्पत्ति *असंप्रज्ञात अवस्था है जिसमें ज्ञाता ज्ञेय का कोई ज्ञान नहीं है*, अतः इस अवस्था में पुरुष पर (प्रारब्ध कर्मों के कारण) सुख अथवा दुःख का कोई प्रभाव नहीं होता।

---

[1] वही पृ० १२७।

[2] साङ्ख्य कारिका ६७ ६८। यहाँ तत्त्व कौमुदी अपना मन्तव्य छान्दोग्योपनिषद् ६ १४ २ पर आधारित करने का प्रयत्न करती है जैसाकि शंकर ने ब्रह्म सूत्र भाष्य पर किया। वंशीधर मिश्र कृत तत्त्व विभाकर वाचस्पति कृत तत्त्व कौमुदी पर टीका करते हुए मुण्डक उपनिषद् १ १ २ ८ को और श्रीमद्भगवतगीता ४ ३३ को भी अपनी पुष्टि में उद्धृत करते हैं। योग वाशिष्ठ से तुलना कीजिए घना व वासना यस्य पुनर्जननवर्जिता।

[3] साङ्ख्य सूत्र ३ ७७ ८३।

कोई सशय नही रहता, और वह आत्मा स्वरूप मे पुन स्थित होता एव अपने को अपने सत्व से बिल्कुल भिन्न समझना आरम्भ कर देता है, परन्तु पुराने सस्कारो एव वासनाओ की सडी हुई जडो के स्थित रहने के फलस्वरूप शुद्ध विवेक के प्रवाह मे अन्य साधारण ज्ञानात्मक अवस्थाऐं उत्पन्न हो जाती हैं तथा 'मैं हूँ', 'मेरा', 'मैं ज्ञाता हूँ', 'मैं ज्ञाता नही हूँ', फिर भी पुराने सस्कारो के पहले ही दग्ध हो जाने से ये उपरोक्त आकस्मिक साधारण भाव नये सस्कार उत्पन्न नही कर सकते। ज्ञान सस्कार फिर भी रहते हैं जबतक कि चित्त का पूर्णत नाश नही हो जाय। वस्तु स्थिति यह है कि अवचेतन सस्कारो के जगत मे बीजो का नाश हो जाने से एव साधारण ज्ञानात्मक अवस्थाओ की कभी कभी प्रतीति केवल उन कुछ पुराने सस्कारो का शेष होने से जिनकी जडें पहले से ही कट चुकी हैं वे कोई नये सस्कार उत्पन्न नही कर सकते और इस प्रकार वे योगी के बन्धन के कारण नहीं हो सकते। इस अवस्था की प्रगति के साथ साथ साधु का एकाग्रता के साधनों की ओर कोई झुकाव नही रहता, और केवल विवेक ही रह जाता है, समाधि की यह अवस्था धर्म मेघ कहलाती है। इस सोपान पर अविद्या एव अन्य दु खो के बीज पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं और ऐसी स्थिति मे योगी जीवित रहता हुआ भी विमुक्त रहता है। इसके आगे का सोपान कैवल्य की अवस्था है जबकि चित्त प्रकृति मे लय हो जाता है और फिर पुरुष को प्राप्त नही होता।[1]

उत्तरकालीन लेखको मे विद्यारण्य ने इस विषय पर एक जीवन मुक्ति विवेक नामक ग्रन्थ लिखा।[2] इसके पाँच अध्याय हैं। प्रथम अध्याय मे उन श्रुतियो का विवेचन है जो जीवन्मुक्ति की पुष्टि करते हैं दूसरे मे वासनाओ के नाश के सम्बन्ध में तीसरे मे मनस के नाश का विवरण है, चौथे मे जीवन्मुक्ति के उद्देश्य के सम्बन्ध मे, और पाचवी उन सतो के स्वभाव एव लक्षणो के सम्बन्ध में है जिन्होने विद्वत् सन्यास द्वारा जीवनमुक्ति प्राप्त कर ली है और जीवित रहते हुए भी ससार से उपरामता प्राप्त कर ली है। यह पुस्तक कई भिन्न भिन्न श्रोतो का सग्रह मात्र है, न कि विषय के गहन दार्शनिक विवेचन की पुस्तक। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक

---

[1] योग सूत्र एव व्यास भाष्य ४ २९-३२।

[2] यह विद्यारण्य पचदशी के लेखक विद्यारण्य से बाद के प्रतीत होते हैं—क्योकि पचदशी के ब्रह्मानन्द अध्याय से उद्धरण इसमे पाए जाते हैं (भ० पृ० १९५, १९६ चौखम्बा आवृत्ति) अत पचदशी के विद्यारण्य और जीवन्मुक्ति के विद्यारण्य को इस वर्तमान कृति के प्रथम खड मे (पृ० ४१९) एक मान लेना त्रुटिपूर्ण प्रतीत होता है।

का मुख्य प्रेरक योग वाशिष्ठ है, यद्यपि वह दूसरे कई ग्रन्थों मे उपयुक्त अंशों का उल्लेख करते हैं, यथा बृहदारण्यक उपनिषद्, मैत्रेयी ब्राह्मण, कहोल ब्राह्मण, शारीर-ब्राह्मण, जाबाल ब्राह्मण, कथावल्ली, गीता, भागवत, बृहस्पति स्मृति, सूत संहिता गौड पाद कारिका, शांकर-भाष्य ब्रह्म सूत्र पंचपादिका विष्णु पुराण तैत्तिरीय ब्राह्मण, योग सूत्र, नष्कर्म्य सिद्धि, कौशितकि पंचदशी, अन्तर्यामीब्राह्मण, व्यास भाष्य, ब्रह्म उपनिषद, कौशितकि, यम के ग्रन्थ, पाराशर बोधायन, मेधातिथि, विश्वरूप आचार्य इत्यादि।

उसके विचार में विरक्ति दो प्रकार की है, तीव्र और तीव्रतर। तीव्र विरक्ति वह है जिसमें व्यक्ति इस जन्म में किसी वस्तु की इच्छा नहीं करता और तीव्रतर विरक्ति वह है जिसमे मनुष्य पुनर्जन्म की इच्छाएं बिल्कुल नहीं करता।[1] विद्यारण्य ने बहुत से ग्रन्थों का उल्लेख करके यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि संन्यास दो भिन्न भिन्न श्रेणियों का होता है यद्यपि एक का विकास दूसरे में हो जाता है।[2]

जीवन्मुक्ति के सम्बन्ध में विद्यारण्य योग वाशिष्ठ के मत को मानते हैं, यद्यपि वे अन्य शास्त्र विदेह मुक्ति के विषय में भी योग वाशिष्ठ के उद्धरणों द्वारा उसकी पुष्टि करते हैं। जीवन्मुक्ति, वासनाक्षय तत्व ज्ञान एवं मनोनाश का सीधा परिणाम है। फिर भी विद्यारण्य के मत में स्थिर तत्व ज्ञान के कारण भावों एवं आसक्ति से जीव मुक्त की कोई हानि नहीं हो सकती जैसेकि नाग की विषग्रन्थि को निकालने के पश्चात काटने पर भी वह कोई हानि नहीं कर सकता। इस तरह से याज्ञवल्क्य का उदाहरण देते हैं जिसने शाप देकर शाकल्य को मार दिया परन्तु उससे उसे कोई पाप नहीं लगा क्योंकि वह जीव मुक्त था और जगत की असत्यता के सम्बन्ध में उसको

---

[1] यदि संन्यासी की साधारण इच्छाएँ हैं तो वह हंस कहलाता है, यदि वह मोक्ष की इच्छा करता है तो वह परमहंस कहलाता है। पाराशर स्मृति में उनका आचार विधान का वर्णन है। जीवन्मुक्ति विवेक १–११। जब व्यक्ति परम ज्ञान के हेतु संसार त्याग करता है तो वह विविदिषा संन्यासी कहलाता है जो विद्वत संन्यास से भिन्न है क्योंकि इसमें तत्व ज्ञान होता है। उत्तरकालीन संन्यास उनके संबंध में है जो जीवन्मुक्त हो गए हैं।

[2] विद्यारण्य यह लिखते हैं कि आरुणिकोपनिषद में विविदिषा संन्यास के आचार का विवरण है जिसमें एक दण्ड तथा एक कौपीन साथ रखने और आरण्यको और उपनिषदों को दुहराने का विधान है परन्तु परम हंसोपनिषद् विद्वत संन्यास के आचरण का विवरण प्रदान करता है जिसमें उपनिषदों को दोहराना आवश्यक नहीं बताया गया है क्योंकि वह व्यक्ति अपने ब्रह्म ज्ञान में स्थिर है। इस तरह से दो प्रकार के संन्यास के अन्तिम सोपानों का भेद ज्ञात होता है।

दृढ ज्ञान हो गया था। अत उसका क्रोध यथार्थ एव वासना मे युक्त नही था अपितु आभास मात्र था।[1]

पौरुष शक्ति

योग वाशिष्ठ की विशेष देन यह है कि वह पुरुषार्थ एव उसकी महान् सम्भावनाओ और उसके प्रारब्ध कर्म के बन्धन इत्यादि का नाश करने की उसकी शक्ति पर विशेष बल देता है। योग वाशिष्ठ मे पौरुष की परिभाषा साधु उपादिष्ट मार्ग मे मानसिक एव भौतिक प्रयत्न के रूप मे दी गई है क्योंकि केवल ऐसे कर्म ही सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं।[2] यदि व्यक्ति किसी वस्तु की इच्छा करे एव ठीक ढग से प्रयत्न करे तो वह वस्तु प्राप्त कर सकता है यदि वह बीच मे मन हो न मुड जाय।[3] पौरुष दो प्रकार का है—प्राक्तन् अर्थात् पूर्वजन्म का एव ऐहिक अर्थात् इस जन्म का है, और पूर्व पौरुष वर्तमान पौरुष से दबाया जा सकता है।[4] पूर्व जन्म के कर्म और इस वर्तमान जन्म के कर्म मे सदा सघर्ष होता रहता है और प्रथम या द्वितीय अपनी शक्ति के अनुसार विजय प्राप्त करता है। केवल इतना ही नही है अपितु एक व्यक्ति के प्रयत्न दूसरे व्यक्ति के विरोधी प्रयत्नो से टकराते हैं और इन दोनो मे से भी जीत अधिक शक्तिशाली की होती है।[5] दृढ निश्चय और पौरुष के शक्तिशाली साधन से इस जन्म के प्रयत्न प्रारब्ध के प्रभाव को समाप्त कर सकते हैं। इस विचार धारा को मन से निकालना पडेगा कि प्रारब्ध का प्रभाव मनुष्य को चाहे जिस प्रकार से घुमा सकता है क्योंकि दैनिक क्रियमाण कर्मों के प्रत्यक्ष प्रभाव से प्रारब्ध के प्रभाव किसी भी अवस्था मे अधिक शक्तिशाली नही हो सकते।

सम्पूर्ण प्रयत्न शास्त्रो के आदेशानुसार होने चाहिए। नि सन्देह मानव प्रयत्नो की एक सीमा है जिससे आगे जाना सभव नही है, अत शास्त्रो के आदेशो को मानकर सन्मित्रो के सग द्वारा, और सदाचार का अनुसरण करके प्रयत्नो मे उचित मितव्ययता का पालन करना आवश्यक है क्योंकि शास्त्र विरुद्ध अनिश्चित अथवा गलत दिशा

---

1 जीवन्मुक्ति विवेक पृ० १८३–१८६।

2 साधूपदिष्टमार्गेण यन्मनोङ्ग विचेष्टितम्।
तद् पौरुष तत् सफल अन्यद् उन्मत्तचेष्टितम्॥ —योग-वाशिष्ठ, ४।

3 यो यमर्थ प्रार्थयते तदर्थ चेहते क्रमात्।
अवश्य स तमाप्नोति न चेत् अर्धात् निवर्तते॥ —वही, ११ ४ १२।

4 वही, ११ ४ १७।

5 वही ११ ५ ५७।

मे किए गए प्रयत्नो का शुभ फल नहीं हो सकता।[1] यदि व्यक्ति अपना पौरुष करे और शास्त्रानुसार प्रयत्न करे तो सफलता निश्चित है। दैव को पृथक शक्ति नहीं मानना चाहिए। इसका क्रियमाण कर्म की शक्ति से सम्बन्ध अवश्य है ताकि पूर्व जन्मों के कर्मों की शक्ति को श्रेष्ठ प्रयत्ना द्वारा क्षय करना सम्भव है क्योंकि क्रियमाण कर्मों के बिना अत्यन्त अशुभ परिणाम सम्भव है। जब कभी महान् प्रयत्न किया जाय एवं महान् शक्ति का प्रयोग हो तो विजय निश्चित है। पूर्व जन्म का दैव अथवा इस जन्म का पौरुष अधिक बलवान है यह प्रश्न उन दोनो की आपेक्षिक शक्ति पर निर्भर करता है और दैव का वह भाग जो क्रियमाण से भिन्न है वह स्वाभाविक रूप से समाप्त होता है। जो केवल प्रारब्ध की ही पराधीनता स्वीकार करने के परिणाम स्वरूप अशुभ प्रारब्ध को मिटाने का उचित प्रयत्न नहीं करता वह व्यक्ति पशु के समान दैव अथवा ईश्वर की दया पर निर्भर रहता है जो उसे स्वर्ग अथवा नरक मे ले जा सकती है। तथाकथित प्रारब्ध अथवा दैव की शक्ति को समाप्त करना एवं जीवन के परम पुरुषार्थ को प्राप्त करने के लिए अधिकतम प्रयत्न करना ही सम्पूर्ण प्रयत्नो एवं साधनो का उद्देश्य है।

योग वासिष्ठ केवल यही नहीं कहता कि पौरुष दैव को जीत कर समाप्त कर सकता है अपितु वह दैव के अस्तित्व को ही नहीं मानता और इसको केवल इन्द्रजाल कहता है जिसका वस्तुत भाव ही नहीं है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्रयत्न एवं साधन सम्वित् स्वयं मन स्पन्द एवं ऐन्द्रिय स्पन्द के रूप मे व्यक्त होते हैं। सम्वित्-स्पन्द के पश्चात् चेतस स्पन्द होता है और शारीरिक क्रिया उसी के अनुसार होती है और वैसे ही सुख और दुःख का भोग होता है। यदि यह मत सत्य है तो दैव कहीं नहीं दिखाई देता। वास्तव मे कोई दैव है ही नहीं और जब कोई कभी सफलता मिली है तो वह सदा पुरुषार्थ के सतत महान् प्रयत्न से मिली है चाहे वह स्वयं एकान्तिक हो अथवा शास्त्र के अनुसार या गुरु के आदेशानुसार हो।[2] हम सब का यह कर्त्तव्य है कि शुभ के लिए प्रयत्नशील रहे और अशुभ से अपने मन को दूर हटालें। जितने भी प्रमाण हमे उपलब्ध हो उनसे यही निष्कर्ष निकलता है कि पुरुषार्थ एवं प्रयत्न से ही लक्ष्य की प्राप्ति होती है और केवल दैव पशु हैं, खाने के प्रयत्न से ही भूख की तृप्ति होती है और वाणी के प्रयत्न से ही शब्द निकलता है एवं पैरो के प्रयत्न और इसी के अनुसार मास पेशियो के स्पन्दन द्वारा मनुष्य चल सकता है। इस तरह से प्रत्येक वस्तु पर प्रभाव प्रयत्न का पड़ता है जब वह शास्त्र की सहायता से एवं गुरु

[1] स च सच्छास्त्रसत्सङ्गसदाचारैर्निजं फलम्।
ददातीति स्वभावोऽस्य अन्यथा नार्थसिद्धये॥ —वही, २ ५ २५।

[2] शास्त्रतो गुरुतश्चैव स्वतश्चेति त्रिसिद्धयः।
सर्वत्र पुरुषार्थस्य न दैवस्य कदाचन। —योग वासिष्ठ, २ ७ ११।

के आदेश से किया जाय। जो दैव कहलाता है वह केवल इन्द्रजाल है, न तो किसी ने इसका कभी अनुभव किया है, और न किसी इन्द्रिय के द्वारा इसका उपयोग हुआ है, और प्रयत्न के स्वरूपतः स्पष्ट होने के कारण निराकार निर्जीव तथाकथित दैव से ऐसा स्पष्ट हो नहीं सकता जो केवल मायावी है और कभी प्रमाणित नहीं हो सकता। प्रयत्न साकार है और प्रत्यक्ष है ऐसी स्थिति में यदि यह मान भी लिया जाय कि दैव है, तो भी यह कैसे माना जा सकता है कि यह तथाकथित अमूर्त तत्व उसके सम्पर्क में कैसे आया? केवल मूर्ख ही दैव के अस्तित्व को मानते हैं और उस पर निर्भर रहते हैं और अपना विनाश करते हैं परन्तु जो वीर हैं विद्वान् एवं बुद्धिमान् हैं वे अपनी परम गति को अपने पुरुषार्थ एवं प्रयत्न से प्राप्त कर लेते हैं।[1] श्रीराम वशिष्ठ से २ ६ में कहते हैं कि सब लोगों में दैव की मान्यता है और यह प्रश्न करते हैं कि यदि इसका अस्तित्व नहीं है तो लोगों ने इसको कैसे माना और यह कि आखिर इसका अर्थ क्या है? इसके उत्तर में श्री वशिष्ठ कहते हैं कि जब कभी पुरुषार्थ फलवती होती है अथवा विफल हो जाती है एवं शुभ अथवा अशुभ परिणाम निकलता है तो लोग उसे दैव कह देते हैं। परन्तु कोई दैव नहीं है वह केवल शून्य है और न तो वह किसी तरह से किसी का सहायक हो सकता है न बाधक। कोई कार्य प्रारम्भ करते वक्त लोगों के मानस में एक विचार एक निश्चय होता है और उसको कार्यरूप में परिणत करने के परिणामस्वरूप या तो सफलता होती है या विफलता और साधारण लोग इस सम्पूर्ण कार्य को दैव से होना कह देते हैं जो केवल नाम एवं सान्त्वना सूचक शब्द ही है। पूर्व की वासना कर्म में परिवर्तित होती है। प्रत्येक व्यक्ति वासना के अनुसार कार्य करता है और वासना के द्वारा ही इच्छित वस्तु प्राप्त करता है। वासना एवं कर्म एक ही तत्व की परोक्ष एवं प्रत्यक्ष अवस्थाएं सी हैं। दैव कर्मों का दूसरा नाम ही है जो फल भोग की तीव्र इच्छा से किए गए हैं, इस तरह से कर्म वासना के समान, और वासना मनस के समान, और मनस पुरुष अथवा कर्त्ता के समान है अतएव दैव पुरुष से पृथक कोई तत्व नहीं है, और वे सब एक ही दुर्निश्चय तत्व के पर्यायवाची हैं। जो कुछ मनस करने का प्रयत्न करता है वह स्वयं ही करता है, जो कि दैव के द्वारा किया हुआ कहा जाता है। मनस में शुभ अथवा अशुभ कर्म कराने वाली दो प्रकार की वासनाएं हैं, और अशुभ के विरुद्ध शुभ वासना को जाग्रत करना हमारा परम कर्त्तव्य है ताकि अशुभ शुभ के परे एवं आधीन हो जाय। क्योंकि मनुष्य स्वयं कर्त्ता है अतएव यह कहना निरर्थक है कि अपने से अतिरिक्त दूसरी शक्ति द्वारा यह कहना निरर्थक है कि अपने से अतिरिक्त दूसरी शक्ति द्वारा चलाया जा सकता है यदि यह मान लिया जाय कि कोई अन्य शक्ति इसको बनाती है तो यह प्रश्न और उपस्थित होता है कि उस शक्ति की प्रेरक दूसरी शक्ति

---

[1] मूढ़ प्रकल्पितं दैवं तत्परास्ते क्षयं गता।
प्राज्ञास्तु पुरुषार्थेन पदमुत्तमतां गता॥ —योग वाशिष्ठ, २ ८ १६।

कौन है, फिर आगे और शक्ति इस तरह से इसका अन्त नहीं होगा अर्थात् अनवस्था प्रसंग का दोष होगा।[1] इस तरह से मनस स्वतन्त्रकर्त्ता है और जो उसकी शक्ति को सीमित करती हुई प्रतीत होती है वह उसकी एक दिशा है, जिसे वह अपनी शुभ प्रवृत्ति को जाग्रत करके मिटा सकता है। भारतीय साहित्य में पुरुषकार एवं कर्म के विवेचन अद्वितीय है।

प्राण एवं उसका यम

चित्त जो अपने आपको अपनी वृत्तियों में परिवर्तित करता है वह दो कारणों से ऐसा करता है जो उसके दो बीजों के सदृश कहे गए हैं। उनमें से एक प्राण का परिस्पंद और दूसरी तीव्र इच्छाएं एवम् वासना है जो उसको दृढ़ भावना का रूप देती है।[2]

जब प्राण स्पन्दन करता है और नाडी संस्पर्शनोद्यत के द्वारा नाड़ी में जाता है तब पूर्ण सम्वेदनमय मनस प्रकट होता है। परन्तु जब प्राण शिरा सरणि कोटर में सुषुप्त रहता है तो मन का प्रादुर्भाव नहीं होता और सम्वेदना कार्यान्वित नहीं होती। प्राण स्पन्द ही अपने आपको चित्त के द्वारा व्यक्त करता है और शून्य में से जगत् प्रपंच प्रकट करता है। प्राण के स्पन्द का निरोध होना चित्त के सम्पूर्ण कार्यों का निरोध हो जाना है। प्राण के स्पन्द के परिणामस्वरूप चित्त की वृत्तिए बीता (लट्टू) के सदृश घूमने लगती है। जैसे बीता आघात से फेंकने पर चारों तरफ घूमता रहता है इसी तरह से प्राण के स्पन्द से चित्त व्यक्त होता है और इस चित्त के भटकने को रोकने के हेतु यह आवश्यक है कि इसके कारण पर आक्रमण किया जाय। जब चित्त अन्तरइन्द्रिय में जाग्रत रहता है और बाह्यचित्तवृत्तियां बन्द हो जाती हैं तो हम परम गति प्राप्त कर लेते हैं। चित्त का भटकना बन्द करने के हेतु अर्थात् चित्त निरोध योगी उचित उपदेशों के अनुसार प्राणायाम एवं ध्यान के द्वारा प्राणों का नियन्त्रण करते हैं।

आगे चलकर हम देखते हैं कि वासना एवं प्राण स्पन्द का घनिष्ठ सम्बन्ध इस प्रकार है कि वासना की उत्पत्ति एवं वृद्धि प्राण स्पन्द से होती है और प्राण स्पन्द का कारण वासना है। जब शक्तिशाली विचारधारा के द्वारा और भूत एवं वर्तमान के उचित विचार के बिना ही वस्तुएँ शरीर इन्द्रियाँ अहंकार इत्यादि में ममत्व हो हो जाता है तो हम उसे वासना कहते हैं। जिनकी शुद्ध बुद्धि नहीं है वे वासना की

---

[1] अथ त्वं चेतयति चेत् तं चेतयति कोऽपरः। क इमं चेतयेत् तस्मादनवस्था न वास्तवी। —वही २ ६ २६।

[2] योग वासिष्ठ, ५ ६१ १४।

वृत्तियों को बिना संकोच के मान लेते हैं और उन्हें सत्य समझते हैं, क्योंकि वासना एवं प्राण स्पन्द चित्त के व्यक्त होने में हेतु एवं कारण है तो एक के समाप्त होने से दूसरा अपने आप समाप्त हो जाता है। दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध बीज अंकुरवत है, प्राण स्पन्द से वासना और वासना से प्राण स्पन्द होता है। चित्त का दृश्य स्वयं चित्त में निहित है और इस तरह से दर्शन के मिट जाने से दृश्य समाप्त हो जाता है।[1]

योग वासिष्ठ में प्राण का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि वह स्पन्द शक्ति है जो शरीर के ऊर्ध्व भाग में स्थित है और अपान स्पन्द शक्ति जो शरीर के अधो भाग में स्थित है। शरीर में जाग्रत एवं सुषुप्ति अवस्थाओं में स्वाभाविक प्राणायाम चालू रहता है। हृदय की गुफा में से प्राण की बहिर्वर्ती क्रिया रेचक कहलाती है और द्वादश अंगुलि प्राण का अपान क्रिया के द्वारा अन्दर भरना पूरक कहलाता है। प्राण के रेचक एवं पूरक के मध्य रुकने की स्थिति को कुम्भक कहते हैं। असाधारण दीर्घायु वाले भुशुण्ड ने वशिष्ठ को प्राण विषय में ६२४ में उपदेश दिया है। वे शरीर की तुलना गृह से और अहंकार की तुलना गृहस्थ से करते हैं। इस गृह के तीन प्रकार के स्तम्भ हैं।[2] तीन प्रकार के स्तम्भों द्वारा बने हुए घर में नौ दरवाजे हैं (सात ऊपरी भाग में और दो नीचे के भाग में) जो स्नायु में ऐसे बंधे हुए हैं जैसे रक्त मांस और मज्जा का प्लास्टर लगा हुआ हो। उसके दोनों तरफ दो नाड़ियें इडा और पिंगला हैं जो निमीलित रहती हैं। एक अस्थि मांसमय यन्त्र भी है जो तीन युग्म कमलों (पद्मयुग्मत्रय) के आकार का है और जिसके ऊपर और नीचे दोनों ओर नालिका लगी हुई हैं तथा आपस में मिलित कमल पत्रदल हैं। जब उसको धीरे धीरे वायु से भरते हैं तो दलों का स्पन्दन होता है और उसके द्वारा वायु की वृद्धि होती है। इस तरह से वर्धित वायु ऊपर नीचे भिन्न भिन्न स्थानों में जाती हुई प्राण, समान इत्यादि कहलाती है। हृदय कमल के त्रिविध यन्त्र (हृत्पद्मयन्त्रत्रितये) में प्राण की सम्पूर्ण शक्ति क्रियान्वित होती हुई चन्द्र किरण के सदृश ऊपर नीचे फैलती है। वह बाहर जाती है पुनः लौटती है दूर चली जाती है, निकट आकृष्ट होती है और इस प्रकार परिवहन करती है। हृदय में स्थित वायु प्राण कहलाती है, और इसकी ही शक्ति के द्वारा नेत्रों की क्रिया त्वचा इन्द्रिय की क्रिया नासिका से श्वास

[1] समूलं नश्यत क्षिप्रं मूलच्छेदादिव द्रुमः। संविद विधि सवद्य बीज यौग्यया विना न सम्भवति सवद्य तलस्तिला यथ न बहिर्नान्तरे किंचित सवद्य विद्यते पृथक्। —योग वासिष्ठ ५.९१.६६ और ६७।

[2] त्रिप्रकार महास्थूणम् ६.२४.१४।

माध्यकार तीन स्तम्भों की आयुर्वेदिक के तीन वात, पित्त कफ के मूल तत्वों के रूप में व्याख्या करते हैं। वात पित्त कफ लक्षण त्रिप्रकारा महान्त स्थूणाविष्टम्भ काष्ठानि यस्य। मैं स्वयं तीन प्रकार के स्तम्भों को शरीर के तीन भागों सिर धड, पाद से बने हुए समझता हूँ जो अस्थि समूह है।

लेने की क्रिया, आहार पचाने की क्रिया एवं वाणी की क्रिया सम्भव होती है।[1] प्राण रेचक का काम करता है, और अपान पूरक का और इन दोनों क्रियाओं के बीच का विश्राम क्षण कुम्भक कहलाता है। अतः यदि प्राण और अपान की गति बन्द हो जाय तो सतत कुम्भक चालू रहेगा। परन्तु प्राण की क्रियाएं एवं शरीर का स्थिर रहना अन्ततोगत्वा चित्त के स्पन्द पर निर्भर है।[2] यद्यपि शरीर में प्राण अपने स्पन्दन में वायु से सम्बन्धित होता है फिर भी वह चित्त शक्ति से निकली हुई स्पन्दन क्रिया के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और इन दोनों में क्रिया एवं प्रतिक्रिया परस्पर होती रहती है ताकि यदि शरीर की प्राणशक्ति बन्द हो जाय तो चित्त शक्ति का स्वयं निरोध हो जाता है और इसके विपरीत ढंग से भी। इस प्रकार स्पन्द निरोध के द्वारा प्राण निरोध होता है और प्राण निरोध के द्वारा स्पन्द निरोध हो जाता है। योग वाशिष्ठ में (३ १३ ३१) वायु को केवल स्पन्द मात्र माना गया है (स्पन्दते यत् स तद् वायु)

(५ ७८) में यह कहा गया है कि चित्त एवं स्पन्दन वास्तव में एक ही है अतः यह पूर्णतः हिम एवं उसकी धवलता के सदृश अभिन्न है इसी कारण एक का विनाश होते ही दूसरे का भी विनाश हो जाता है। चित्त का निरोध दो प्रकार से होता है, अर्थात् योग के द्वारा जिसमें मानसिक अवस्थाएं सुषुप्त हो जाती हैं और दूसरा तत्त्व ज्ञान के द्वारा। जैसे जल पृथ्वी के रन्ध्रों में प्रविष्ट होता है इसी तरह से वात शरीर में नाड़ियों के द्वारा स्पन्दित होता है और प्राण कहलाता है। और यही प्राणवायु अपने विभिन्न क्रियाओं और कारणों के कारण अपान इत्यादि कहलाता है। परन्तु यह चित्त से अभिन्न है। प्राण क्रिया से चित्त क्रिया होती है और उससे सम्विद् अर्थात् ज्ञान होता है। प्राण निरोध के सम्बन्ध में योग वाशिष्ठ कई विकल्पों का परामर्श देता है। इस तरह से ध्यान के साथ दीर्घ के पूरक की स्थिर धारणा द्वारा अथवा पूर्ण सेवक अथवा प्राण और अपान को अतिरुद्ध करने के द्वारा अथवा जिह्वा के अणी को तालुमूल में[3] लगाने के द्वारा आन्तरिक श्वासनालिका का अणी अथवा पुनः भृकुटी के मध्य ठीक दो भौंहों के बीच में चित्त अथवा मनस का एकाग्र

---

[1] योग वाशिष्ठ ६ २४ इस सम्बन्ध में यह जानकर आश्चर्य होगा कि आयुर्वेद के सम्पूर्ण साहित्य में किसी स्थान पर सम्भवतः प्राण क्रिया का ऐसा स्पष्ट वर्णन नहीं किया गया है। नाम मात्र को फुप्फुस अथवा पक्के का सुश्रुत-संहिता में है परन्तु उनके काम एवं क्रिया शैली का किंचिद्मात्र विवरण नहीं है। सम्भव है फुफुस के श्वास लेने की क्रियाओं का अनुसंधान आयुर्वेदाचार्यों से भिन्न विचारकों ने किया है।

[2] वही ६ २२ ६१ ७४।

[3] तालुमूलगतां यत्नाज्जिह्वयाक्रम्य घण्टिकाम्।
ऊर्ध्वरन्ध्रगते प्राणे प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ॥ —योगवाशिष्ठ, ५ ७८ २५।

करने से शुद्ध ज्ञान का उदय स्वयं शीघ्र हो जाता है और परिणामतः प्राण क्रियाएं बन्द हो जाती हैं।[1]

प्रो० मकडानेल अपनी पुस्तक वैदिक इन्डेक्स के द्वितीय खण्ड में प्राण की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि प्राण शब्द अर्थात् श्वास का वैदिक साहित्य में विस्तार एवं अस्पष्ट महत्व है। सर्वोत्तम अर्थ में प्राण वायुओं में से एक है। जिनमें ये प्राय पांच प्राण, अपान व्यान उदान् एवं समान हैं। पांचों का उल्लेख करते समय प्रत्येक का अर्थ नहीं किया गया है। शब्द प्राण का स्पष्ट प्रयोग अपान के विपरीत भी श्वास के अर्थ में समझा जाता है परन्तु उसका उचित अर्थ निःसन्देह रेचक है। परन्तु उपनिषदों में शब्द का सामान्य अर्थ प्राण वायु नहीं है यद्यपि कई स्थान पर शब्द का प्रयोग श्वास के स्थान पर किया गया है। उपनिषदों में इस शब्द का प्रयोग श्वास को गति देने वाली शक्ति अथवा जीवन अथवा इन्द्रियों के अर्थ में किया गया है।[2] प्रत्येक का विवेचन करने के पश्चात् इसका यथार्थ अर्थ समझना अत्यन्त कठिन है। अतः सबसे सर्वोत्तम उत्तम बात यही है कि शब्द का परम्परागत अर्थ समझा लिया जाय जो कि उत्तरकालीन हिन्दू शास्त्रकारों का स्वीकार है। मैं बादरायण कृत वेदान्त सूत्र का उल्लेख करता हूँ जो उपनिषदों के सिद्धान्तों की प्रामाणिक व्याख्या समझी जाती है। इस प्रकार वेदान्त सूत्र (२ ४ ९) में (न वायुक्रिये पृथग् उपदेशात्) प्राण के स्वरूप का विवरण देते हुए लिखा गया है कि प्राण न तो वायु है और न क्रिया है क्योंकि उपनिषदों में प्राण, वायु एवं क्रिया में भिन्न माना गया है। शंकर

---

[1] इस सम्बंध में यह ध्यान रखना महत्त्वपूर्ण है कि जिह्वा द्वारा आन्तरिक वायु मार्ग का अवरुद्ध करने की हठ योग की क्रिया के अतिरिक्त प्राणायाम की विधि में जो प्रकार जो यहाँ वर्णित हैं उनमें से सर्वाधिक (सिवाय खेचरी मुद्रा के जो हठयोग में दी गई है) खेचरी मुद्रा कहते हैं। वे ही हैं जिनका पतञ्जलि के सूत्रों में और व्यास भाष्य में वर्णन है इस बात का और ध्यान बाबू श्री विभु ने उपर्युक्त पर लिखित अपने भाष्य में ध्यान आकर्षित किया है।

[2] प्राण तथा वायु में अन्तर ऐतरेय, २,४, आश्रित प्राण १ ८। प्राण का अन्य कार्य व्यापारों के साथ सम्बन्ध कौषीतकि, २ ५, जीवन के रूप में प्राण, २ ८, वायु से सम्बन्धित प्राण २ १२ जीवन के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य-व्यापार के रूप में प्राण २ १४, चेतना के रूप में प्राण, ३ २। नासिका तथा मुख्य प्राण में अन्तर छान्दोग्य, २ १ ९, पांचों वायुओं का कार्य व्यापार, ३ १ ३, प्राण भोजन के परिणाम के रूप में, १ ८ ४ जल के परिणाम के रूप में, ६ ५ २ ६ ६ ८, ६ ७ ६ जैसे सभी अन्य वस्तुएं प्राण से सम्बद्ध होती हैं उस भी प्राण आत्मन् के सम्बन्ध में, बृहदारण्यक २ ५ १५ प्राण शक्ति के रूप में मैत्री ५ १४४ प्राण सुषुम्ना नाड़ी में दौड़ती शक्ति के रूप में मैत्री ६ २१ इत्यादि।

इस पर टीका करते हुए कहते हैं कि ऐसे अवतरण जैसे य प्राण स एव वायु पञ्च विध प्राणो पाना व्यान उन्नन समान (जो प्राण है वह वायु है और वह प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, पचविध है) से यह समझा जा सकता है कि वायु प्राण ह परन्तु वह ऐसा नहीं क्योंकि छांदोग्य से (३ १२ ४) (यह स्पष्ट है कि वह भिन्न हैं। पुन वह इन्द्रियों की भी क्रिया नहीं जैसी साख्य की मा यता है, क्योंकि मुण्डक मे उपरोक्त विवरण जा १ ३ मे वह इन्द्रिया से भिन्न समझा गया ह। वायु और प्राण का एक बताने वाले उपरोक्त विवरण का अभिप्राय यह प्रमाणित करता है कि वायु का स्वभाव प्राण म परिवर्तित हो जाने का ह जैसाकि पृथ्वी के परिवतन अथवा विकार का ही शरीर का कारण समझा जा सकता है) वह वायु नहीं है परन्तु जैसाकि वाचस्पति कहते हैं वायु भेद है जो अमलानन्द अपने ग्रन्थ वेदान्त कल्पतरु मे 'वायो परिणाम रूप काय विशेष' बताते हैं अर्थात् वायु का वह विशिष्ट परिणाम रूप काय ह। स्वय शकर का अभिकथन इस विषय पर समानरूपेण स्पष्ट है। व कहते हैं जो स्वय का शरीर म परिवर्तित करके पाचो भिन्न भिन्न समूहो म अपने को पृथक करता ह प्राण नितान्त भिन्न वग नहीं ह और न ही वह केवल वायु है। २ ४ १० १२ म भी शकर प्राण क स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि वह जीव जैसा स्वतन्त्र नहीं है परन्तु समस्त काय उसकी ओर से करता ह जैसेकि प्रधानमन्त्री (राजमन्त्रीवज्जीवस्य सर्वार्थकरणत्वेन उपकरणभूतो न स्वतन्त्र) प्राण इन्द्रिया जैसा ही उपकरण नहीं है जो विशेष उद्देश्य विषयो के सम्बन्ध म काय करता है क्योंकि यह छान्दोग्य (५ १ ६,७) बृहद् साख्य ४ ३ १२ और बृहदारण्यक १ ३ १९ मे कहा गया है कि इन्द्रियो के शरीर का छोड़ने पर भी प्राण रहता है। यह वही प्राण है जिसके काय करने से शरीर मे आत्मा का अस्तित्व अथवा जीव स्थिति और जीव के शरीर म से निकलना अथवा जीवोत्क्रान्ति सम्भव होती है। पच वायु इस प्राण की पाच मुख्य अवस्थाएं हैं जैसेकि विद्या, अविद्या, विकल्प सुषुप्ति एव स्मृति मन की पाच अवस्थाएं है। वाचस्पति वेदान्त सूत्र २ ४ ११ पर भाष्य लिखते हुए कहते है कि इसी कारण द्वारा शरीर एव इन्द्रियो की स्थिति है (देहेन्द्रिय विधारण कारण प्राण) यद्यपि यह याद रखना चाहिए कि शरीर और इन्द्रियो का धारण करने क उपरान्त भी प्राण के अन्य बहुत स काय हैं (न केवल शरीरेन्द्रियधारणं अस्य कायम् वाचस्पति, वही)। वेदान्त सूत्र २ ४ १३ म लिखा हुआ है कि प्राण अणु है जिसका अथ शकर उसके पाच प्रकार के कार्यों द्वारा सम्पूर्ण शरीर म व्याप्त होने के कारण सूक्ष्म के अथ मे करते है। वाचस्पति इसको केवल व्युत्पत्तिलभ्य कारण और उसके दुरधिगमता के कारण ही अणु कहते हैं यद्यपि वह सम्पूर्ण शरीर म व्याप्त है। गोविन्दानन्द वेदान्त सूत्र २ ४ ९ पर भाष्य करत हुए कहते हैं कि प्राण जीवन को धारण करने वाली स्पन्दन क्रिया है और उसके सिवाय उसका कोई दूसरा काय नहीं है (परिस्पन्द रूप प्राणनानुकूलत्वाद् अवान्तर व्यापाराभावात्)। यह जीवन

शक्ति के जैसा प्रतीत होता है। कर्मेन्द्रियों का एव प्राण के सम्बन्ध के विषय म शंकर कहते हैं कि उनकी क्रिया शक्ति प्राण से ही है (वागान्पि परिस्पन्दलाभस्य प्राणायत्तत्वम्, ११४१६) वेदान्त सूत्र में कई जगह ऐसे विवरण हैं कि जिसस हम यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि पाच प्राण वायु स्पन्दन है परन्तु गुण पाच भूतो से बना हुआ है और प्राण के साथ सम्बन्धित हाने से वह क्रियात्मक कहलाता है। वेदान्त सार के उपरोक्त प्रश्न पर भाष्य करते हुए रामतीर्थ कहते हैं कि प्राण-वायु धातु एवं अन्य भूत का विकार अवश्य है परन्तु वह किसी अर्थ में बाह्य वायु नहीं है जो शरीर में कुछ शारीरिक कार्य करती है (तथा मुख्यप्राणोऽपि वायोर्बाह्यस्य सूत्रात्मकस्य विकारो न शरीरमध्ये नभोवद् वर्तिनामभमात्रेण अवस्थितो बाह्यवायुरेव)।[1] यह प्रमाणित करने के पश्चात् कि वेदान्त में प्राण अथवा पाच प्रकार की वायु का अर्थ हिकम शक्ति है न कि बाह्य वायु अब मैं साख्य योग का विवेचन करूंगा।

साख्य योग एव वेदान्त म यह अन्तर है कि प्राण किसी अर्थ में वायु का विक्षिप्त विकार नहीं है। इस तरह से विज्ञानभिक्षु अपने विज्ञानामृत भाष्य वेदान्त सूत्र (११४१०) मे कहते हैं कि प्राण को वायु इसलिए कहते हैं कि वह वायु के सदृश स्वत क्रियावान् है (स्वत क्रियावत्त्वेन उभयो प्राय वायो साजात्यात्)। पुन (११४६) में वह कहते हैं कि प्राण न तो वायु है और न ऊर्ध्वगति अथवा अधोगति लक्षण वायु क्रिया (मुख्य प्राणो न वायु नापि शारीरस्य ऊर्ध्वाधोगमन लक्षणा वायु क्रिया)।

अब प्रश्न यह है कि साख्य योग के अनुसार प्राण है क्या ? वह महत् तत्व है और ज्ञान शक्ति के सम्बन्ध मे बुद्धि कहलाता है और क्रिया के सम्बन्ध मे सूत्र आत्मा अथवा प्राण जिसका विकास प्रकृति से हुआ ह। पाच प्राण अथवा तथाकथित वायु महत् तत्व क भिन्न भिन्न काय हैं (११४११) आगे चलकर साख्यकारिका २९ म हम मिलता ह कि पाच वायु बुद्धि अहकार एव मन के सामान्य काय कहे गए हैं और वाचस्पति कहते हैं कि पाच प्राण उनका जीवन है। इसका अर्थ यह हुआ कि बुद्धि, अहकार एव प्राण, तीनो अपने ढग से काय करते हैं और इन तीनो शक्तियो का सयुक्त काय ही पाच प्राण हैं जा शरीर को धारण करता है। इस तरह से इस मत के अनुसार भी प्राण द्विवित् कम शक्ति हैं और न कि बाह्य वायु। इस मत की विशेषता यह ह कि यह शक्ति वास्तव म मानसिक शक्ति हैं जो बुद्धि अहकार एव मनस के विशेष कार्यों की सयुक्त उत्पत्ति हैं।[2] उसका कारण अन्त करण की

---

[1] विद्वन्मनोरजनी पृ० १०५ जकब कृत सस्करण मुम्बई १९१६।

[2] साख्य कारिका पर गौडपाद के भाष्य २९ मे प्राण क्रिया की तुलना पिंजडे मे बन्द पुजारी से की गई है जो पिंजडे का हिलाता ह।

वेदान्त सूत्र पर शाकर भाष्य ११४९ के साथ इसकी तुलना कर

विकासात्मक किया है। इसकी पुष्टि में सांख्य प्रवचन भाष्य २ ३१, व्यास भाष्य ३ ३६ और वाचस्पति कृत तत्व वैशारदी, भिक्षु कृत योग वार्तिक एवं नागेशकृत छाया व्याख्या इन ग्रन्थों को देखा जा सकता है। निस्संदेह यह सत्य है कि कभी कभी बाह्य वायु को अन्दर ले जाना और बाहर निकालना प्राण कहलाता है परन्तु इसका कारण यह है कि श्वास प्रश्वास में प्राण गत्यात्मक होता है अथवा स्पन्दन करता है। इस तरह से केवल गति ही प्राण नहीं है अपितु वह तत्व प्राण है।[1] रामानुज शंकर के साथ इस मत में सहमत हैं कि प्राण वायु नहीं है अपितु वायु का विकार मात्र है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान देना अतिआवश्यक है कि यह वायु का विकार ऐसा विकार है जो केवल योग साधना से ही जाना जा सकता है।[2]

वैशेषिक का मत है कि बाह्य वायु शरीर में अपने स्थान के अनुसार भिन्न भिन्न कार्य करते हैं।[3] आयुर्वेद भी इस मत की पुष्टि करता है कि वायु ही एक प्रकार की क्रिया एवं धारण शक्ति है। इस प्रकार भाव प्रकाश में वायु का निम्नलिखित वर्णन है वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर दोष धातु एवं मल को ले जाता है, सूक्ष्म है, रजोगुणात्मक है शुष्क है ठण्डा है हल्का है और गतिशील है। अपनी गति से ही सम्पूर्ण शक्ति उत्पन्न करता है, श्वासोच्छ्वास का नियमन करता है और सम्पूर्ण कार्य एवं स्पन्दन का जनक है और इन्द्रिय एवं धातुओं को तीव्र रखता हुआ, चित्त, इन्द्रिय एवं मन को समान रूप से धारण करता है।[4] वाहट भी स्व रचित अष्टांग संग्रह में वायु को शरीर की समस्त क्रियाओं का कारण बताते हैं और यह कहने का कोई कारण नहीं है वायु से उनका तात्पर्य वायु से है। जैसाकि आगे के अध्याय में देखेंगे, चरक का (१ १२) दीर्घ विवरण भी यही बताता है कि उन्होंने भी वायु को विश्व की रचनात्मक एवं विनाशात्मक शक्ति समझी है, और ब्रह्माण्ड के सदृश पिण्ड में भी वही कार्य करती है। वह केवल शरीर में ही भौतिक क्रियाओं का कर्ता नहीं परन्तु ज्ञानात्मक भावात्मक, और क्रियात्मक रूप मन की सम्पूर्ण क्रियाओं में उसका नियंता और चालक भी है। सुश्रुत भी वायु को अव्यक्त बताते हैं और यह कहते हैं कि शरीर में अपने कार्यों से ही वह व्यक्त होता है (अव्यक्तो व्यक्तकर्मा च)।

योग वाशिष्ठ में, जैसाकि हम ऊपर देख चुके हैं प्राण अथवा वायु वही तत्व है जो स्पन्दन करता है और उसकी वस्तुस्थिति स्पन्दन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। पुन, प्राण, अहंकार अर्थात् बुद्धि की क्रिया के अतिरिक्त स्वयं कुछ नहीं है।[5]

---

[1] वेदान्त सूत्र पर रामानुज भाष्य २ ४ ६।

[2] तत्व मुक्त कलाप ५३ ५५ एवं रामानुज भाष्य और श्रुत प्रकाशिका २ ४ १ १५ भी देखिए।

[3] श्रीधर कृत न्याय कन्दली ६ ४८।

[4] भाव प्रकाश, सेन कृत संस्करण कलकत्ता, पृ० ४७।

[5] योग वाशिष्ठ ३ १४।

प्राण का स्वभाव आवश्यक रूप म स्प द है और मनस प्राण शक्ति का प्रारूप है अतएव मनस के दमन से पाचा प्राणा का निरोध होता है।[1] शैव भी इस मत से सहमत हैं कि प्राण नाम क्रिया ही है जो नाडिया म विचरण करके शरीर क्रिया एव इ द्रय क्रिया का स्थिर रखती है। इस तरह मे क्षेमराज कहते हैं कि प्राण के रूप म चित्त शक्ति ही नाडिया म विचरण करती है और वह भट्ट कल्लट का भी यही मत ग्रहण करते हुए बताते हैं तथा प्राण को उन्होने निश्चितरूपेण एक शक्ति कहा है (कुटिलवाहिनी प्राण शक्ति)।[2] शिवोपाध्याय ने अपनी विज्ञान भैरव पर अपनी पुस्तक विवृति मे प्राण का शक्ति बताया है विज्ञान भैरव भी यही बात कहता है।[3] भट्टान द ने अपनी पुस्तक विज्ञान कौमुदि में प्राण को चित्त वृत्ति बताया है।

प्रगति के सोपान

हम यह कह चुके हैं कि दर्शन का अध्ययन एव सत्सग ही मुख्य साधन हैं जिनसे युक्त होकर साधक मोक्ष की प्राप्ति के लिए साधन करता है। प्रथम भूमिका मे साधक को स्वाध्याय एव सत्सग के द्वारा अपनी प्रज्ञा का बढाना पडता है और दूसरी भूमिका मे विचारणा और तीसरी भूमिका म सम्पूर्ण असग भावनाओ का मानसिक अभ्यास करना, चौथी अवस्था (विलापनी) वह है जिसम सत्य के स्वरूप के सम्यक बोध द्वारा जगत् प्रपच स्वय का मिथ्या प्रदर्शित करता है, पाचवी भूमिका वह है जिनम साधु शुद्ध सम्मात्रिन् मात्रान न्द रूप हो जाता है। यह भूमिका जीवन-मुक्ति है जिसम वह अध सुप्त प्रबुद्ध कहलाता है। छठी भूमिका वह है जिसम परमान द की अवस्था मे सत रहना है और वह अवस्था सुषुप्त सदश स्थिति कही जाती है और सातवी अ तिम भूमिका तुर्यातीत है जो शरीर रहते हुए किसी भी सत्पुरुष द्वारा अनुभव नही की जा सकती। इनमे से प्रथम तीन भूमिकाए हैं जाग्रत चौथी भूमिका स्वप्न छठी तुर्य और सातवी तुर्यातीत अवस्था कही गई है।[4]

इच्छा समस्त दु खो का मूल है। उसकी उपमा हमारे शरीर मे दौडते हुए और उसका नाश करने का प्रयत्न करते हुए मदमत्त हाथी से की गई है। इन्द्रिया उसके शिशु कहे गए हैं और वासनाओ की तुलना उसके मद के प्रवाह से की गई है। धर्म-पालन द्वारा ही इन्हें जीता जा सकता है। इच्छा का अर्थ मन की कल्पनाए हैं जैसे कि 'यह मुझे प्राप्त हो जाय' और इसे सकल्प भी कहते हैं। इस प्रकार के सकल्प मे

---

[1] वही, ५ १३ ७८।

[2] शिव सूत्र विमर्शिणी, ३ ४३ ४४।

[3] विज्ञान भैरव और विवृत्ति श्लोक ६७।

[4] योग वाशिष्ठ ६ १२०।

रोकने का उचित ढंग आशा एवं इच्छा को बाहर निकाल कर नाश करना है, और इसके लिए मनुष्य को सांसारिक स्मृति खाली करनी पड़ेगी क्योंकि जबतक स्मृति है तब तक आशाएं और इच्छाएं बन्द नहीं हो सकतीं। अन्तिम भूमिका जहाँ सम्पूर्ण स्पन्द एवं विचार तथा चित्त वृत्तियें समाप्त हो जाती हैं वह अवेदनम् अवस्था कहलाती है।[1] योग, अवेदनपूर्वक वह परम अन्तिम शाश्वत, स्थिति है जहाँ अन्य सबका नाश हो जाता है।[2] इस अवस्था में चित्त का नाश हो जाता है और वह चलन का परम तत्व बन जाता है अर्थात् शुद्ध ब्रह्म बन जाता है, और इस प्रकार सम्पूर्ण द्रष्य और दृष्टा के भेदों एवं सम्बन्धों से मुक्त होकर इस अवस्था में ज्ञान शून्य हो जाता है यद्यपि वह बोधात्मक कहलाता है। यह अन्तिम अवस्था वास्तव में पूर्णतया अव्यपदेश्य कहलाती है, और इसके दूसरे नाम भी ब्रह्मभय शिव अथवा प्रकृति पुरुष के भेद का ज्ञान है।[3] योग वाशिष्ठ इसे आनन्द की स्थिति नहीं मानता परन्तु अचिन्त्य एवं अनिर्देश्य जड़ता की स्थिति ही मानता है। वह पांचवीं भूमिका को ही आनन्द में व्यक्त मानता है और छठी जड़ता है जिसकी अनुभूति किसी प्रकार सम्भव प्रतीत होती है परन्तु सातवीं को तुर्यातीत एवं अनिर्देश्य ही मानता है।

पातंजल योग सूत्र एवं व्यास भाष्य में प्रज्ञा की सात अवस्थाओं का सादृश्य स्वाभाविक रूप से इन प्रगति की सात भूमिकाओं से होता है। प्रज्ञा की सात भूमिकाएं दो भागों में विभक्त हैं, प्रथम भाग में चार और द्वितीय में तीन। इनमें से चार मनोवैज्ञानिक हैं और तीन तात्विक हैं, जिनमें चित्त विमुक्ति के पूर्व चित्त के लय की भूमिकाएं दिखाई गई हैं।[4] प्रगति की सात भूमिकाओं में प्रथम चार भूमिकाएं विलापनी सहित मनोवैज्ञानिक हैं और अन्तिम तीन भूमिकाएं चित्त को प्रलय की ओर ले जाने वाली हैं। परन्तु योग वाशिष्ठ की पतंजलि की भूमिकाओं से समानता बताने वाली और कोई वस्तु नहीं है। योग वाशिष्ठ में योग की परिभाषा अवेदनम् की उच्चतम अवस्था '(अवेदनम् विदुर्योगम् वे) नाम से दी गई है अथवा उसका दूसरा नाम वासनाओं के विष के प्रभाव का निरोध कहा गया है।[5] छठे प्रकरण के पूर्वार्द्ध सर्ग १२५ में अन्तिम अवस्था सर्वापह्नव' की अवस्था कही गई है। चित्त का भाव दुःख है, और उसका अभाव आनन्द है ज्ञान को समाप्त करने से चित्त समाप्त हो

---

[1] योग वाशिष्ठ ६ १२६।

[2] वही ६ १२६ ७१ ७२।

[3] वही ६ १२६ ६६।

[4] मेरी कृति 'भारतीय दर्शन का इतिहास देखिए खण्ड १ कम्ब्रिज, १६२२, पृ० २७३।

[5] इच्छाविषविकारस्य वियोग योगनामकम्।

—योग वाशिष्ठ ६,३७ १ वही, ६ १२६ ६६।

जाता है—जिसके परिणामस्वरूप न तो दुःख रहता है और न सुख, न सुख दुःख पाषाण की तरह वेदना शून्य ही अन्तिम लक्षित स्थिति है जो सम है। इस तुर्यातीत भूमिका को सुषुप्ति की छठी अवस्था नहीं कहना चाहिए जो केवल शुद्धानन्द की स्थिति है।

योग वाशिष्ठ के अनुसार कर्म दृष्टा दृश्य के रूप में मनस का व्यक्त होना ही है। अतः कर्म का त्यागना मनस् अथवा ज्ञान का त्यागना ही है।[1] अतः कर्म निरोध का अर्थ ज्ञान नाश ही है। कर्म का वेग अथवा मनस का स्पन्दन बिना कोई कारण के होता है परन्तु इस स्पन्दन के कारण अहंकार और सम्पूर्ण दृश्य प्रपंच की उत्पत्ति हो जाती है, सम्पूर्ण प्रयत्नों का लक्ष्य चित्त का विनाश है अर्थात् पाषाण सम ज्ञान रहित अचेतन अवस्था है।

जैसाकि सात क्रमिक भूमिकाएँ हैं, इसी तरह से वासनाओं के बल अथवा निर्बलता के अनुसार सात प्रकार के प्राणी हैं। वे इस प्रकार हैं (१) स्वप्न जागर (२) संकल्प जागर (३) केवल जाग्रत स्थित् स्वप्न (४) चिरा जाग्रत स्थित (५) घन-जाग्रत स्थित (६) जाग्रत स्वप्न (७) क्षीण जागरक। स्वप्न जागर वे मनुष्य हैं जिन्होंने पूर्व जन्म में हमारे समस्त वर्तमान अवस्थाओं का अनुभव स्वप्न दशा में किया और स्वप्न नर के सदृश काम किया। भाष्यकार इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि यह असम्भव नहीं है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु सर्वत्र जीव रूप में रहती है अतः यह सम्भव है कि स्वप्नानुभव के स्वप्न नरों के रूप में हम वासना के रूप में उनके अन्तःकरण में स्थित रहते हैं (तदन्तःकरणे वासनात्मना स्थिता)। क्योंकि भूत एवं वर्तमान का अस्तित्व केवल मनस में ही है अतः काल को उलटने से यह भी शुद्ध हो जाता है कि हमारे भविष्य का अस्तित्व अपने स्वप्न में अनुभूत होने से रोका नहीं जा सकता। क्योंकि मनस का देशकाल की सीमाएँ नहीं कर सकती और मनस तत्व के रूप सब कुछ सर्वत्र विद्यमान है (सर्व सर्वत्र विद्यते)।[2] स्वप्नों के द्वारा ये पुरुष जीवन के परिवर्तनों का अनुभव कर सकते हैं एवं परम मुक्ति भी प्राप्त कर सकते हैं। दूसरी श्रेणी संकल्प जागरस की है जो बिना सुषुप्ति के सब प्रकार की क्रियाओं एवं जीवन का केवल मनस से ही धारण करते रहते हैं, और अन्त में मोक्ष की प्राप्ति कर लेते हैं। तीसरी श्रेणी केवल जागरस वे हैं जो प्रथम बार जन्म लेते हैं। जब ये प्राणी पुनः जन्म लेते हैं तो वे चिर जागरस कहलाते हैं। ऐसे प्राणी अपने पापों के कारण, वृक्ष इत्यादि होते हैं, इस स्थिति में वे घन जागरस कहलाते हैं। इनमें से पुनर्जन्म लेने के पश्चात् जो अध्ययन एवं सत्संग से तत्व ज्ञान प्राप्त कर लेते

---

[1] सर्वेषां कर्मणामेव वेदनं बीजमुत्तमम्।
स्वरूपं चेतयित्वान्तस्ततः स्पन्दः प्रवर्तते। —योग-वाशिष्ठ ६.११.२.२६।

[2] वही।

रोकने का उचित ढंग आशा एवं इच्छा को बाहर निकाल कर नाश करना है, और इसके लिए मनुष्य को सांसारिक स्मृति खोनी पड़ेगी क्योंकि जबतक स्मृति है तब तक आशाएं और इच्छाएं बन्द नहीं हो सकती। अन्तिम भूमिका जहाँ सम्पूर्ण स्पन्द एवं विचार तथा चित्त वृत्तियें समाप्त हो जाती हैं वह अवेदनम् अवस्था कहलाती है।[1] योग, अवेदनमूवी यह परम अन्तिम शाश्वत स्थिति है जहाँ अन्य सबका नाश हो जाता है।[2] इस अवस्था में चित्त का नाश हो जाता है और वह सत्य का परम तत्व बन जाता है अर्थात् शुद्ध ब्रह्म बन जाता है, और इस प्रकार सम्पूर्ण दृश्य और दृष्टा के भेदों एवं सम्बन्धों से मुक्त होकर इस अवस्था में ज्ञान शून्य हो जाता है यद्यपि यह बोधात्मक कहलाता है। यह अन्तिम अवस्था वास्तव में पूर्णतया अनुपदेश्य कहलाती है, और इसके दूसरे नाम भी ब्रह्म शून्य, शिव अथवा प्रकृति पुरुष के भेद का ज्ञान है।[3] योग वाशिष्ठ इसे आनन्द की स्थिति नहीं मानता परन्तु अचिन्त्य एवं अनिर्देश्य जड़ता की स्थिति ही मानता है। वह पांचवीं भूमिका को ही आनन्द में व्यक्त मानता है और छठी जड़ता है जिसकी अनुभूति किसी प्रकार सम्भव प्रतीत होती है, परन्तु सातवीं को तुर्यातीत एवंअनिर्देश्य ही मानता है।

पातंजल योग सूत्र एवं व्यास भाष्य में प्रज्ञा की सात अवस्थाओं का सादृश्य स्वभाविक रूप से इन प्रगति की सात भूमिकाओं से होना है। प्रज्ञा की सात भूमिकाएं दो भागों में विभक्त हैं प्रथम भाग में चार और द्वितीय में तीन। इनमें से चार मनोवैज्ञानिक हैं और तीन तात्विक हैं, जिनमें चित्त विमुक्ति के पूर्व चित्त के लय की भूमिकाएं दिखाई गई हैं।[4] प्रगति की सात भूमिकाओं में प्रथम चार भूमिकाएं विलापनी सहित मनोवैज्ञानिक हैं और अंतिम तीन भूमिकाएं चित्त को प्रलय की ओर ले जाने वाली हैं। परन्तु योग वाशिष्ठ की पतंजलि की भूमिकाओं से समानता बताने वाली और कोई वस्तु नहीं है। योग वाशिष्ठ में योग की परिभाषा अवेदनम् की उच्चतम अवस्था '(अवेदनम् विदुर्योगम् के) नाम से दी गई है अथवा उसका दूसरा नाम वासनाओं के विष के प्रभाव का निरोध कहा गया है।[5] छठे प्रकरण के पूर्वार्द्ध सर्ग १२५ में अन्तिम अवस्था सर्वापह्नव की अवस्था कही गई है। चित्त का भाव दुःख है, और उसका अभाव आनन्द है ज्ञान का समाप्त करने से चित्त समाप्त हो

---

[1] योग वाशिष्ठ ६ १२६।

[2] वही ६ १२६ ७१ ७२।

[3] वही ६ १२६ ६६।

[4] मेरी कृति 'भारतीय दर्शन का इतिहास' देखिए खण्ड १ कैम्ब्रिज १६२२, पृ० २७३।

[5] इच्छाविषविकारस्य वियोग योगनामकम्।

—योग वाशिष्ठ ६ ३७ १ वही ६ १२६ ६६।

जाता है—जिसके परिणामस्वरूप न तो दुःख रहता है और न सुख, न सुख-दुःख-पाषाण की तरह वेदना शून्य ही अन्तिम लक्षित स्थिति है जो सम है। इस तुर्यातीत भूमिका को सुषुप्ति की छठी अवस्था नहीं कहना चाहिए जो केवल शुद्धानन्द की स्थिति है।

योग वाशिष्ठ के अनुसार कर्म द्रष्टा दृश्य के रूप मे मनस् का व्यक्त होना ही है। अतः कर्म का त्यागना मनस अथवा ज्ञान का त्यागना ही है।[1] अतः कर्म निरोध का अर्थ ज्ञान नाश हो है। कर्म का वेग अथवा मनस का स्पन्दन बिना कोई कारण के होता है, परन्तु इस स्पन्दन के कारण अहंकार और सम्पूर्ण दृश्य प्रपंच की उत्पत्ति हो जाती है, सम्पूर्ण प्रयत्नों का लक्ष्य चित्त का विनाश है अर्थात् पाषाण सम ज्ञान रहित अचेतन अवस्था है।

जैसाकि सात क्रमिक भूमिकाएं हैं इसी तरह से वासनाओं के बल अथवा निर्बलता के अनुसार सात प्रकार के प्राणी हैं। वे इस प्रकार हैं (१) स्वप्न जागर (२) सकल्प जागर (३) केवल जाग्रत स्थित् स्वप्न (४) चिरा जाग्रत स्थित (५) घन जाग्रत स्थित (६) जाग्रत स्वप्न (७) क्षीण जागरक। स्वप्न जागर वे मनुष्य हैं जिन्होने पूर्व जन्म मे हमारे समस्त वर्तमान अवस्थाओं का अनुभव स्वप्न दशा मे किया और स्वप्न नर के सदृश कार्य किया। भाष्यकार इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि यह असम्भव नही है क्योंकि प्रत्येक वस्तु सर्वत्र बीज रूप मे रहती है, अतः यह सम्भव है कि स्वप्नानुभव के स्वप्न नरों के रूप मे हम वासना के रूप मे उनके अन्तःकरण मे स्थित रहते हैं (तदन्तः करणे वासनात्मना स्थिता)। क्योंकि भूत एव वर्तमान का अस्तित्व केवल मनस मे ही है अतः काल का उलटने से यह भी शुद्ध हो जाता है कि हमारे भविष्य का अस्तित्व अपने स्वप्न मे अनुभूत होने से रोक नहीं सकता। क्योंकि मनस को देशकाल की सीमाएं नही कर सकती और मनस तत्व के रूप सब कुछ सर्वत्र विद्यमान है (सर्व सर्वत्र विद्यते)।[2] स्वप्नों के द्वारा ये पुरुष जीवन के परिवर्तनों का अनुभव कर सकते हैं एव परम मुक्ति भी प्राप्त कर सकते हैं। दूसरी श्रेणी, सकल्प जागरस की है, जो बिना सुषुप्ति के सब प्रकार की क्रियाओं एव जीवन को केवल मनस् से ही धारण करते रहते हैं, और अन्त मे मोक्ष की प्राप्ति कर लेते हैं। तीसरी श्रेणी केवल जागरस वे हैं जो प्रथम बार जन्म लेते हैं। जब ये प्राणी पुनः जन्म लेते हैं तो वे चिर जागरस कहलाते हैं। ऐसे प्राणी अपने पापों के कारण, वृक्ष इत्यादि होते हैं, इस स्थिति मे वे घन जागरस कहलाते हैं। इनमे से पुनर्जन्म लेने के पश्चात् जो अध्ययन एव सत्सग से तत्व ज्ञान प्राप्त कर लेते

---

[1] सर्वेषां कर्मणामेवं वेदनं बीजमुत्तमम्।
स्वरूपं चेतयित्वा नस्ततः स्पन्दे प्रवर्तते। —योग वाशिष्ठ ६ ११ २ २६।

[2] वही।

रोकने का उचित ढग आशा एव इच्छा को बाहर निकाल कर नाश करना है, और इसके लिए मनुष्य को ससारिक स्मृति खानी पड़ेगी, क्योंकि जबतक स्मृति है तब तक आशाए और इच्छाए बन्द नही हो सकती। अतिम भूमिका जहाँ सम्पूर्ण स्पन्द एव विचार तथा चित्त वृत्तियें समाप्त हो जाती हैं वह अवेदनम् अवस्था कहलाती है।[1] योग, अवेदनमूकी वह परम अतिम शाश्वत स्थिति है जहाँ अन्य सबका नाश हो जाता है।[2] इस अवस्था मे चित्त का नाश हो जाता है और वह चतन्य का परम तत्व बन जाता है अर्थात् शुद्ध ब्रह्म बन जाता है, और इस प्रकार सम्पूर्ण दृश्य और द्रष्टा के भेदा एव सम्बन्धो से मुक्त होकर इस अवस्था मे ज्ञान शून्य हो जाता है यद्यपि यह बोधात्मक कहलाता है। यह अतिम अवस्था वास्तव म पूर्णतया अप्रत्यक्ष दृश्य कहलाती है, और इसके दूसरे नाम भी ब्रह्म शून्य, शिव अथवा प्रकृति पुरुष के भेद का ज्ञान है।[3] योग वाशिष्ठ इसे आनन्द की स्थिति नही मानता परन्तु अचिन्त्य एव अनिर्देश्य जड़ता की स्थिति ही मानता है। वह पाचवी भूमिका को ही आनन्द मे व्यक्त मानता है और छठी जड़ता है जिसकी अनुभूति किसी प्रकार सम्भव प्रतीत होती है परन्तु सातवी का तुर्यातीत एवमनिर्देश्य ही मानता है।

पातजल योग सूत्र एव व्यास भाष्य मे प्रज्ञा की सात अवस्थाओ का सादृश्य स्वभाविक रूप से इन प्रगति की सात भूमिकाओ से होता है। प्रज्ञा की सात भूमिकाए दो भागो म विभक्त है, प्रथम भाग म चार और द्वितीय मे तीन। इनम से चार मनोवैज्ञानिक है और तीन तात्त्विक हैं, जिनमे चित्त विमुक्ति के पूर्व चित्त के लय की भूमिकाए दिखाई गई हैं।[4] प्रगति की सात भूमिकाओ म प्रथम चार भूमिकाए विलापरी सहित मनोवैज्ञानिक है और अन्तिम तीन भूमिकाए चित्त को प्रलय की ओर ले जाने वाली है। परन्तु योग वाशिष्ठ की पतजलि की भूमिकाओ से समानता बताने वाली और कोई वस्तु नही है। योग वाशिष्ठ म योग की परिभाषा अवेदनम् की उच्चतम अवस्था '(अवेदनम् विदुर्योगम् के) नाम से दी गई है अथवा उसका दूसरा नाम वासनाओ के विष के प्रभाव का निरोध कहा गया है।[5] छठे प्रकरण के पूर्वार्द्ध सर्ग १२५ मे अतिम अवस्था सर्वापह्नव' की अवस्था कही गई है। चित्त का भाव दुःख है, और उसका अभाव आनन्द है ज्ञान को समाप्त करने से चित्त समाप्त हो

---

[1] योग वाशिष्ठ ६ १२ ६।

[2] वही, ६ १२६ ७१ ७२।

[3] वही, ६ १२६ ६६।

[4] मेरी कृति 'भारतीय दर्शन का इतिहास देखिए खण्ड १ कैम्ब्रिज १९२२ पृ० २७३।

[5] इच्छाविषविकारस्य वियोग योगनामकम्।
—योग वाशिष्ठ ६,३७ १ वही ६ १२६ ६६।

जाता है—जिसके परिणामस्वरूप न तो दुःख रहता है और न सुख, न सुख दुःख-पाषाण की तरह वेदना शून्य ही अंतिम लक्षित स्थिति है जो सम है। इस तुर्यातीत भूमिका को सुषुप्ति की छठी अवस्था नहीं कहना चाहिए जो केवल शुद्धानन्द की स्थिति है।

योग वाशिष्ठ के अनुसार कर्म दृष्टा दृश्य के रूप में मनस का व्यक्त होना ही है। अतः कर्म का त्यागना मनस अथवा ज्ञान का त्यागना ही है।[1] अतः कर्म निरोध का अर्थ ज्ञान नाश ही है। कर्म का वेग अथवा मनस का स्पन्दन बिना कोई कारण के होता है, परन्तु इस स्पन्दन के कारण अहंकार और सम्पूर्ण दृश्य प्रपंच की उत्पत्ति हो जाती है, सम्पूर्ण प्रयत्नों का लक्ष्य चित्त का विनाश है अर्थात् पाषाण सम ज्ञान रहित अचेतन अवस्था है।

जैसाकि सात क्रमिक भूमिकाएं हैं, इसी तरह से वासनाओं के बल अथवा निर्बलता के अनुसार सात प्रकार के प्राणी हैं। वे इस प्रकार हैं (१) स्वप्न जागर (२) संकल्प जागर, (३) केवल जाग्रत स्थित् स्वप्न (४) चिरा जाग्रत स्थित (५) घन जाग्रत स्थित (६) जाग्रत स्वप्न (७) क्षीण जागरक। स्वप्न जागर वे मनुष्य हैं जिन्होंने पूर्व जन्म में हमारे समस्त वर्तमान अवस्थाओं का अनुभव स्वप्न दशा में किया और स्वप्न नर के सदृश कार्य किया। भाष्यकार इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि यह असम्भव नहीं है क्योंकि प्रत्येक वस्तु सर्वत्र जीव रूप में रहती है, अतः यह सम्भव है कि स्वप्नानुभव के स्वप्न नरों के रूप में हम वासना के रूप में उनके अन्तःकरण में स्थित रहते हैं (तदन्तः करणे वासनात्मना स्थिता)। क्योंकि भूत एवं वर्तमान का अस्तित्व केवल मनस में ही है अतः काल को उलटने से यह भी शुद्ध हो जाता है कि हमारे भविष्य का अस्तित्व अपने स्वप्न में अनुभूत होने से रोक नहीं सकता। क्योंकि मनस को देशकाल की सीमाएं नहीं कर सकतीं और मनस तत्व के रूप सब कुछ सर्वत्र विद्यमान है (सर्व सर्वत्र विद्यते)।[2] स्वप्नों के द्वारा ये पुरुष जीवन के परिवर्तनों का अनुभव कर सकते हैं एवं परम मुक्ति भी प्राप्त कर सकते हैं। दूसरी श्रेणी संकल्प जागरस की है जो बिना सुषुप्ति के सब प्रकार की क्रियाओं एवं जीवन को केवल मनस से ही धारण करते रहते हैं, और अन्त में मोक्ष की प्राप्ति कर लेते हैं। तीसरी श्रेणी केवल जागरस व हैं जो प्रथम बार जन्म लेते हैं। जब ये प्राणी पुनः जन्म लेते हैं तो व चिर जागरस कहलाते हैं। ऐसे प्राणी अपने पापों के कारण, वृक्ष इत्यादि होते हैं इस स्थिति में वे घन जागरस कहलाते हैं। इनमें से पुनर्जन्म लेने के पश्चात् जो अध्ययन एवं सत्संग से तत्व ज्ञान प्राप्त कर लेते

[1] सर्वेषां कर्मणामेव वेदनं बीजमुत्तमम्।
स्वरूपं चेतयित्वा न्तस्ततः स्पन्दः प्रवर्तते। —योग-वाशिष्ठ ६ ११ २ २६।

[2] वही।

हैं, व जाग्रत स्वप्न स्थित कहलाते हैं और अंत में जो मोक्ष की तुर्यस्था तक पहुँच चुके हैं वे क्षीण जागर ...।

योग वाशिष्ठ के अनुसार जबतक हमारे ज्ञान का सम्बन्ध ... रहता है उस वक्त तक व धन रहता है और जब दृश्य जगत् से हमारा ज्ञान पूर्णत एव अन्त असग हो जाता है और शुद्ध तुर्यावस्था में रहता है जहाँ पर न दृश्य है न दृष्टा वहा मोक्ष की प्राप्ति होती है।[1]

सदाचार की विधियाँ

योग वाशिष्ठ परम सिद्धि प्राप्त करने के लिए तीव्र त्याग अथवा पुण्य, अथवा स्नान और इसी तरह के साधना पर (परम सिद्धि प्राप्ति के लिए) बल नहीं देता। उसके मत में परम तत्व के शुद्ध विवेक द्वारा अनुवर्तित केवल राग द्वेष तम क्रोध मद मात्सर्य के नियन्त्रण से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।[2] जबतक सम्पूर्ण दुर्वासनाओं की समाप्ति न होकर मन शुद्ध नहीं हो जाय तबतक धार्मिक विधियों का अनुकरण करने से केवल अहकार एव आडम्बर हमारे अ दर बढते हैं और उसका कोई शुद्ध परिणाम नहीं निकलता। साधक का परम कर्त्तव्य परम सिद्धि की प्राप्ति के लिए सतत् प्रयत्न करना है जिसके हेतु उसका सत् शास्त्र का अध्ययन और सत सग ही करना चाहिए।[3] उसको अपना जीवनयापन करना चाहिए और भोग की न्यूनतम इच्छा का भी परित्याग करना चाहिए और विचार करते रहना चाहिए। अब प्रश्न यह उठता है कि परम सिद्धि के प्राप्ति के हेतु ज्ञान आवश्यक है अथवा कर्म। इस प्रश्न पर योग वाशिष्ठ शकर से इस बात में सहमत नहीं है कि वे दोनों सयुक्त नहीं रह सकते अपितु उल्टा इस बात पर बल देता है कि जैसे पक्षी दो पखो से उड सकता है वैसे ही साधक ज्ञान एव कर्म के सयुक्त के रहने से ही परम सिद्धि को प्राप्त कर सकता है।[4]

---

[1] ज्ञानस्य ज्ञेयतापत्तिबध इत्यभिधीयते
तस्यैव ज्ञेयताशान्ति मोक्ष इत्यभिधीयते। —योग वाशिष्ठ ६ २ १९० १।

[2] स्वपौरुषप्रयत्नेन विवेकेन विकाशिना।
स देवो ज्ञायते राम न तप स्नानकर्मभि। —वही, ३ ६ ६।

[3] सत पुरुषो की परिभाषा योग वाशिष्ठ में निम्न प्रकार से दी गई है—देशे य सुजन प्राया लोका साधु प्रचक्षते। स विशिष्ट स साधु स्यात त प्रयत्नेन सश्रयेत। —वही ३ ६ २०।

[4] योग वाशिष्ठ १ १ ७८।

साधक का मुख्य उद्देश्य चित्त को नाश करने का होने के कारण उसके सम्पूर्ण प्रयत्न वासनाओं का समूल नाश करने की ओर होने चाहिए क्योंकि वासनाएं ही चित्त की मूल एवं द्रव्य है। तत्व ज्ञान की वासनाओं और चित्त का विनाश, सबका अर्थ एक ही है, और वे परस्पर अन्तर निर्भर हैं ताकि एक की प्राप्ति दूसरे के बिना हो नहीं सकती। अतः एक भोग की इच्छा त्याग कर साधक को तीनों ही के लिए प्रयत्नशील एक साथ होना पड़ेगा और इसके लिए साधक को एक ओर इच्छाओं का नियन्त्रण और दूसरी ओर प्राण निरोध करना पड़ेगा, और ये दोनों मिलकर सहयोग करके परम लक्ष्य की ओर अग्रसर होते हैं। यह प्रगति स्वाभाविक रूप से मंद होती है परन्तु यह सतत् होने की स्थिति में किसी दूसरे हठयोग के साधन से श्रेष्ठतर है। आत्म आलोचना की आवश्यकता पर भी विशेष आग्रह किया गया है क्योंकि इससे वासनाओं के एवं जगत् प्रपंच की माया के बंध ढीले पड़ जाते हैं और असंग की प्राप्ति हो जाती है।

योग-वाशिष्ठ शांकर-वेदान्त एवं बौद्ध विज्ञानवाद

योग वाशिष्ठ का उपरिष्ठ पाठक इसके प्रत्ययवाद को शांकर भाष्य के वेदान्त से अभिन्न समझ सकता है, और शांकर मत के उत्तरकालीन वेदान्त ग्रन्थों में यथा जीवन मुक्ति विवेक इत्यादि में इतने प्रश्न योग वाशिष्ठ के समान प्रस्तुत किए गए हैं कि पाठक इस प्रत्ययवाद और शांकर प्रत्ययवाद किसी प्रकार के भेद की कल्पना नहीं कर सकता। अतः इस विषय की कुछ चर्चा आवश्यक है।

शंकर के प्रत्ययवाद का मुख्य लक्षण इन सिद्धान्तों में है कि स्वयं प्रकाशित द्रष्टा दृश्य हीन चैतन्य ही अन्तःकरण एवं बाह्य जगत् का तत्व है जो कुछ परिवर्तन दिखाई देता परम एवं अविकारी है वह इस तत्व के परे है जो तत्व परम तत्व है। फिर भी परिवर्तनों का परम तत्व अथवा ब्रह्म के साथ सम्बन्ध हो गया है और इसी कारण दृश्य के अनन्त रूप एवं भिन्न भिन्न मानसिक अवस्थाओं की प्रतीति होती है। यह परिवर्तनशील है और इसी कारण इनका अनिर्देश्य अस्तित्व ब्रह्म से बिल्कुल भिन्न है, फिर भी आवश्यक रूप से वे भाव रूप हैं।[1] शांकर प्रत्ययवाद बाह्य विषयों को दृष्टा मनस से भिन्न नहीं मानता और वह 'दृष्टि सृष्टि है' के सिद्धान्त को भी नहीं मानता। इस प्रकार वह बौद्ध विज्ञानवादियों की मत की कड़ी आलोचना करते हैं, जो दृश्य जगत् के भाव को मनस से भिन्न मानने में विश्वास नहीं करते, क्योंकि वे मनस के ही परिणाम प्रतीत होते हैं। इनमें से कुछ तर्क महान् दार्शनिक महत्व के हैं

---

[1] इसी पुस्तक के प्रथम खंड में शांकर वेदान्त को देखिए।

हैं वे जाग्रत स्वप्न स्थित कहलाते हैं और अन्त में जो मोक्ष की अवस्था तक पहुँच चुके हैं वे क्षीण जाग्र त ... हैं।

योग वाशिष्ठ के अनुसार जबतक हमारे ज्ञान का सम्बन्ध ... से रहता है उस वक्त तक य बन रहता है, और जब दृश्य जगत् से हमारा ज्ञान पूर्णत एव अन्त असग हो जाता है और शुद्ध तुर्यावस्था में रहता है जहाँ पर न दृश्य है न द्रष्टा वहा मोक्ष की प्राप्ति होती है।[1]

सदाचार की विधियाँ

योग वाशिष्ठ परम सिद्धि प्राप्त करने के लिए तीव्र त्याग अथवा पुण्य, अथवा स्नान और इसी तरह के साधना पर (परम सिद्धि प्राप्ति के लिए) बल नही देता। उसके मत म परम तत्व के शुद्ध विवेक द्वारा अनुवर्तित केवल राग द्वेष तम, क्रोध, मद, मात्सर्य के नियन्त्रण से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।[2] जबतक सम्पूर्ण दुर्वासनाओं की समाप्ति न होकर मन शुद्ध नही हो जाय तबतक धार्मिक विधियों का अनुकरण करने से केवल अहकार एव आडम्बर हमारे अ दर बढते हैं और उसका कोई शुद्ध परिणाम नही निकलता। साधक का परम कर्तव्य परम सिद्धि की प्राप्ति के लिए सतत् प्रयत्न करना है जिसके हेतु उसको सत् शास्त्र का अध्ययन और सत सग ही करना चाहिए।[3] उसको अपना जीवनयापन करना चाहिए और भाग की न्यूनतम इच्छा का भी परित्याग करना चाहिए और विचार करते रहना चाहिए। अब प्रश्न यह उठता है कि परम सिद्धि के प्राप्ति के हेतु ज्ञान आवश्यक है अथवा कर्म। इस प्रश्न पर योग वाशिष्ठ शकर से इस बात मे सहमत नही है कि ये दोनो सयुक्त नही रह सकते अपितु उल्टा इस बात पर बल देता है कि जिस पक्षी दो पखों से उड सकता है वैसे ही साधक ज्ञान एव कर्म के सयुक्त के रहने से ही परम सिद्धि को प्राप्त कर सकता है।[4]

---

[1] ज्ञानस्य ज्ञेयतापत्तिबन्ध इत्यभिधीयते
तस्यैव ज्ञेयताशान्ति मोक्ष इत्यभिधीयते। —योग वाशिष्ठ ६ २ १९०१।

[2] स्वपौरुषप्रयत्नेन विवेकेन विकाशिना।
स देवो ज्ञायते राम न तप स्नानकर्मभि। —वही, ३ ६ ६।

[3] सत पुरुषों की परिभाषा योग वाशिष्ठ म निम्न प्रकार से दी गई है—देशे ■ सुजन प्रायाः लोकाः साधु प्रचक्षते। स विशिष्ट स साधु स्यात त प्रयत्नेन सश्रयेत। —वही ३ ६ २०।

[4] योग वाशिष्ठ १ १ ७ ८।

बौद्ध विज्ञानवाद के विरुद्ध शंकर का उपरोक्त तर्क निश्चित रूप से यह प्रमाणित करता है कि उसने दृश्य का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार किया और उसका भाव किसी व्यक्ति के द्वारा उनको जानने पर आधारित नहीं किया। बाह्य दृश्य का अस्तित्व मनस अथवा चित्त की भिन्नता के अस्तित्व से सर्वथा स्वतन्त्र एवं भिन्न है।

परन्तु योग वाशिष्ठ का प्रत्ययवाद शंकर के प्रत्ययवाद की अपेक्षा बौद्ध विज्ञानवादियों के सिद्धान्त से अधिक मिलता जुलता है। क्योंकि योग वाशिष्ठ के अनुसार प्रत्ययों का ही एक प्रकार का अस्तित्व है। उनके अतिरिक्त कोई भौतिक अथवा बाह्य जगत् का पृथक अथवा स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं। सृष्टि दृष्टि है का सिद्धान्त योग वाशिष्ठ का सिद्धान्त है और शंकर ऐसे सिद्धान्त का दृढ़तापूर्वक खंडन करते हैं। 'वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली' में प्रकाशानन्द योग वाशिष्ठ के प्रत्ययवाद के अनुसार वेदान्त का विवेचन करते वक्त यह प्रदर्शित करते हैं कि उसने वेदान्त के विवेचन योगवाशिष्ठ से प्रेरणा ली, और दृश्य के अस्तित्व का प्रत्यक्ष न ही होने तक उसे मानने से नहीं माना। प्रकाशानन्द साधारणतया मान्य इस मत का खंडन करता है कि इन्द्रियों का विषयों के साथ सम्पर्क होने पर ही दृश्य का ज्ञान हो जाता है, क्योंकि उसके मत में दृश्य वही है जिसका प्रत्यक्षीकरण हो अर्थात् दर्शन से पृथक दृश्य का बाह्य स्वतन्त्र अस्तित्व है ही नहीं। योग वाशिष्ठ एवं प्रकाशानन्द दोनों अप्रत्यक्षीकृत दृश्य के अस्तित्व का निषेध करते हैं परन्तु शंकर केवल उनका अस्तित्व ही नहीं मानते अपितु यह भी मानते हैं कि हमारे किसी बाह्य वस्तु को जानने से उसमें किसी प्रकार की वृद्धि या विकार नहीं होती सिवाय इसके कि वह हमारे चित्त में ज्ञान द्वारा आता है। वस्तुओं के अप्रत्यक्षीकृत होने पर भी उनका अस्तित्व जैसा है वैसा ही है। यह एक प्रकार से शांकर वेदान्त का प्रत्ययवाद इसी में है कि उसने ब्रह्म को अन्तर्यामी माना जो अपरिच्छिन्न एवं सर्वव्यापी और परम तत्व बाह्य दृश्य जगत् के अधिष्ठान के रूप में स्थित हैं। जितने भी अन्तर एवं बाह्य नाम रूपों का हम अनुभव करते हैं अर्थात् जो सग एवं विसग हैं वे अनिर्देश्य एवं अनिर्वचनीय है और उसी का नाम माया कहा जाता है।[1] शांकर वेदान्त इसको मानकर चलता है कि वही सत्य है जो अविकारी, वही असत्य है जो परिवर्तनशील है यद्यपि वह विध्यात्मक है। जगत् विशिष्ट अर्थ में असत्य कहा गया है माया सत् एवं असत् से परे की श्रेणी में आती है अर्थात् वह अनिर्देश्य कहलाती है।

इस माया के साथ शांकर वेदान्त में सत अर्थात ब्रह्म का सम्बन्ध माया की ही तरह अनिर्देश्य है, सत अपरिवर्तनशील हैं परन्तु परिवर्तनशील रूपों एवं गुणों का सम्बन्ध उसके साथ कैसे हो गया अथवा उनकी उत्पत्ति कैसे हुई अथवा उनका परम

---

[1] मेरा भारतीय दर्शन का इतिहास खंड १, अध्याय १० देखिए।

और एक समकालीन आंग्ल नव्यवस्तुवादी ने विज्ञानवाद का खण्डन करने में इसी तरह के तर्क प्रस्तुत किए थे।

बौद्ध का तर्क यह बताया गया है जब दो तत्त्व अभिन्न तौर पर एकसाथ देखे जाएं तो वे एक से हैं, जैसे दर्शन और उसके दृश्य एकसाथ दिखाई देते हैं अतः दर्शन दृश्य एक है, हमारे मानसिक विचार का आधार बाह्य जगत् में कुछ नहीं है जिसके द्वारा वे प्राप्त होते हैं और स्वप्न में उसका अस्तित्व (जबकि ज्ञानेन्द्रियां अचेतन रहती हैं) यह प्रदर्शित करता है कि दृश्य की प्रतीति के हेतु ज्ञानेन्द्रियों की क्रिया आवश्यक नहीं है यद्यपि तथाकथित बाह्य दृश्य के साथ सम्बन्ध स्थापित करने हेतु वे अनिवार्य हैं। यदि यह प्रश्न उपस्थित किया जाय कि दृश्य है ही नहीं तो दर्शन की भिन्नता का कारण क्या होगा? तो उत्तर यही होता है कि भिन्नता का कारण वासना की शक्ति अथवा चित्त के साथ क्षण विशेष योग्यता का सम्बन्ध है।[1] यदि तथाकथित बाह्य दृश्य की भिन्न भिन्न विशेष योग्यताएं हों, और उन्हीं के कारण दर्शन की भिन्नता है, तो मानसिक व्यवस्था में क्रमिक क्षण को भी भिन्न भिन्न योग्यताएं समझी जानी चाहिए जिनके द्वारा इन ज्ञानात्मक भावों से जनित दर्शन की भिन्नताएं होती हैं। स्वप्न में ये चित्त की भिन्न भिन्न अवस्थाएं हैं जो दर्शन की भिन्नता उत्पन्न करती हैं।

शंकर बौद्ध विज्ञानवादियों के उपरोक्त तर्क का वर्णन करते हुए यह कहते हैं कि बाह्य दृश्य जब प्रत्यक्ष दिखाई देता है तो उसका निषेध कैसे किया जा सकता है? इसके उत्तर में यदि यह मान लिया जाय कि संवेदनाओं के अतिरिक्त दर्शन का कोई विषय ही नहीं है अथवा यह कि दर्शन का होना ही दृश्य है तो इसका खंडन इस प्रकार किया जा सकता है कि दर्शन के न होने पर भी दृश्य के भाव, स्वयं दृश्य से ही स्वतन्त्र रूप से होता है क्योंकि विषय का देखना ही विषय नहीं है, यह अनुभव सिद्ध है कि दृष्ट नील से नीलापन का दर्शन भिन्न है नील दर्शन का विषय है और वे दोनों एक कदापि नहीं हो सकते। यह बात सर्वविदित एवं सर्वमान्य है इसका खंडन करने का प्रयत्न करते हुए भी बौद्ध विज्ञानवादी एक तरह से इसको मान लेता है, क्योंकि वह कहता है कि आन्तर दृश्य ऐसा प्रतीत होता है मानो वह हम से बाह्य जगत् में स्थित है। यदि बाह्यत्व जैसे है ही नहीं तो कैसे कहा जा सकता है कि उसकी प्रतीति चित्त में होती है? जब समस्त अनुभव दर्शन और उसके दृश्य एवं मनस के आंतरिक जगत् एवं जगत् प्रपंच में अन्तर की पुष्टि करते हैं तो इस अन्तर का निषेध कैसे किया जा सकता है? उदाहरणार्थ आप एक घड़ा देख रहे हैं और उसकी स्मृति है मानसिक क्रिया दोनों ही अवस्थाओं में भिन्न भिन्न है परन्तु घड़ा वही है।[2]

---

[1] कस्यचिदेव ज्ञानक्षणस्य स तादृशः सामर्थ्यातिशयो वासनापरिणाम।

—भामती, २.२.२८।

[2] ब्रह्म सूत्र पर शांकर भाष्य २.२.२८।

बौद्ध विज्ञानवाद के विरुद्ध शकर का उपरोक्त तर्क निश्चित रूप से यह प्रमाणित करता है कि उसने दृश्य का स्वत त्र अस्तित्व स्वीकार किया और उसका भाव किसी व्यक्ति के द्वारा उनको जानने पर आधारित नहीं किया। बाह्य दृश्य का अस्तित्व मनस अथवा चित्त की भिन्नता के अस्तित्व से सर्वथा स्वतन्त्र एव भिन्न है।

परन्तु योग-वाशिष्ठ का प्रत्ययवाद शकर के प्रत्ययवाद की अपेक्षा बौद्ध विज्ञान-वादियो के सिद्धान्त से अधिक मिलता जुलता है। क्योकि योग वाशिष्ठ के अनुसार प्रत्ययो का ही एक प्रकार का अस्तित्व है। उनके अतिरिक्त कोई भौतिक अथवा बाह्य जगत् का पृथक अथवा स्वतन्त्र अस्तित्व नही। 'सृष्टि दृष्टि है' का सिद्धान्त योग वाशिष्ठ का सिद्धान्त है और शकर ऐसे सिद्धान्त का दृढतापूर्वक खडन करते हैं। 'वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली' मे प्रकाशानन्द योग वाशिष्ठ के प्रत्ययवाद के अनुसार वेदान्त का विवेचन करते वक्त यह प्रदर्शित करते हैं कि उसने वेदान्त के विवचन योग-वाशिष्ठ से प्रेरणा ली, और दृश्य के अस्तित्व का प्रत्यक्ष न ही होने तक उसे मानने से नहीं माना। प्रकाशानन्द साधारणतया मान्य इस मत का खडन करता है कि इन्द्रियो का विषयो के साथ सम्पर्क होने पर ही दृश्य का ज्ञान हो जाता है, क्योकि उसके मत मे दृश्य वही है जिसका प्रत्यक्षीकरण हो अर्थात् दर्शन से पृथक दृश्य का बाह्य स्वतन्त्र अस्तित्व है ही नहीं। योग वाशिष्ठ एव प्रकाशानन्द दोनो अप्रत्यक्षीकृत दृश्य के अस्तित्व का निषेध करते हैं परन्तु शकर केवल उनका अस्तित्व ही नहीं मानते अपितु यह भी मानते हैं कि हमारे किसी बाह्य वस्तु को जानने से उसमे किसी प्रकार की वृद्धि या विकार नही होती सिवाय इसके कि वह हमारे चित्त मे ज्ञान द्वारा आता है। वस्तुओ के अप्रत्यक्षीकृत होने पर भी उनका अस्तित्व जैसा है वैसा ही है। यह एक प्रकार से शाकर वेदान्त का प्रत्ययवाद इसी मे है कि उसने ब्रह्म को अन्तर्यामी माना जो अपरिच्छिन्न एव सर्वव्यापी और परम तत्व बाह्य दृश्य जगत् के अधिष्ठान के रूप मे स्थित हैं। जितने भी अन्तर एव बाह्य नाम रूपो का हम अनुभव करते हैं अर्थात् जो सग एव विसग हैं वे अनिर्देश्य एव अनिवचनीय है और उसी का नाम माया कहा जाता है।' शाकर वेदान्त इसको मानकर चलता है कि वही सत्य है जो

कारण क्या है, शंकर इस विषय में मौन हैं। फिर भी योग-वाशिष्ठ यह मानता है कि निर्गुण एवं निराकार तत्व ही परम तत्व है, और वही ब्रह्म चित्त अथवा शून्य कहा जाता है, परन्तु उसका नाम बुद्ध भी है। वह निर्गुण तत्व ही परम तत्व है। इस परम तत्व का सम्बन्ध स्पन्दन शक्ति से होता है जिसके द्वारा वह भिन्न भिन्न रूपों में प्रतीत हो सकता है। प्रतीति एवं सत्य का सम्बन्ध बाह्य अनिर्देश्य एवं अनिर्वचनीय नहीं है जैसाकि शंकर का मत है परन्तु निर्गुण आत्मा की इस आन्तरिक शक्ति के स्पन्दन के द्वारा उत्पन्न होती है जो स्वयं दृष्टा दृश्य हीन शुद्ध चैतन्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। परन्तु इस आन्तरिक स्पन्दन का अपना स्वयं का कोई तत्त्व प्रतीत नहीं होता और न इसका कोई निश्चित सूत्र बताया जा सकता है। सर्ग और विसर्ग के कल्पित रूप की कोई निश्चित व्यवस्था भी नहीं है परन्तु यह केवल काकतालीय है क्योंकि उनका अस्तित्व केवल दृश्यमान ही है। ऐसी विचारधारा तुच्छ अथवा सारहीन है, और इसी कारण से योग वाशिष्ठ का सिद्धान्त सदोष है। दूसरी कमी इसमें यह है कि न तो यह चित्त की आलोचना करता है और न उसको स्वीकार करता है और उसका आधार निर्गुण तत्व अनुभव में कभी प्रकट नहीं होता। शंकर का मत भिन्न है क्योंकि इसकी मान्यता है कि परम ब्रह्म अनुभव में आने वाली वस्तुओं का भी आत्मा है और वह स्वयं प्रकाश और सर्वव्यापी है। परन्तु योग वाशिष्ठ का परब्रह्म निर्गुण एवं अनुभवातीत है। सप्तम् भूमिका परम मुक्ति की अवस्था वेदान्त के ब्रह्मत्व के सदृश परमानन्द नहीं है परन्तु केवल शून्य एवं निर्गुण की स्थिति है। ग्रन्थ में कई स्थान पर यह कहा गया है कि भिन्न भिन्न दर्शनों में यह परम स्थिति (ब्रह्म) प्रकृति एवं पुरुष का भेद शुद्ध विज्ञान एवं शून्य के रूप में वर्णित है। परन्तु वास्तव में यह निर्गुणतत्व है। इसी कारण उसकी मुक्ति अवस्था का विवरण जैसाकि हम ऊपर देख चुके हैं पाषाणवत किया गया है, जो हमें वैशेषिक दर्शन की याद दिलाता है। व्यवहार में वह मान्य मुक्ति पौरुष अथवा स्वतन्त्रता पर अधिक बल देता है और पुरुषार्थ को निर्बल करने अथवा उसके ऊपर प्रभुत्व रखने की शक्ति को किंचित मात्र नहीं मानता, और कर्म को केवल मनस शक्ति बताकर हमें एक नया दर्शन देता है। शंकर के विरुद्ध वह यह मानता है कि ज्ञान एवं कर्म का मेल सम्भव है, और वे भिन्न भिन्न श्रेणी के लोगों के लिए नहीं हैं अपितु दोनों प्रत्येक बुद्धिमान साधक के लिए अनिवार्य हैं। योग वाशिष्ठ की परम सिद्धि के मुख्य साधन दर्शनशास्त्रों का अध्ययन सत्संग और आत्म आलोचना ही है। वह बिना आंतरिक साधना के बाह्य विधि निषेधों को बताता है। उसका 'सृष्टि दृष्टि' है। सिद्धान्त और मनस के अतिरिक्त बाह्य जगत के अस्तित्व का कोई आधार नहीं और न उनके साथ कोई बाह्य दृश्यों की कोई अनुकूलता है, और वे सब केवल ज्ञान के आकार हैं, इन सब बातों से हमें ऐसा लगता है कि बौद्ध विज्ञानवाद ही इनके मूल में है। 'लङ्कावतार सूत्र' जैसे महत्वपूर्ण विज्ञानवाद ग्रन्थ में अपने कई पदार्थों द्वारा यह स्पष्ट

करने का प्रयत्न किया गया है कि नान मे भिन्न भिन्न की प्रतीतियो का उत्पत्ति स्थान कहा है परतु योग वाशिष्ठ मे इस बात का कोई उल्लेख नही है। जहाँ केवल आकस्मिकता पर ही उत्पत्ति आधारित की गई है। हिन्दू लेखको के विज्ञानवाद के सस्कृत अथा वाचस्पति एव अन्य इनके महत्वपूण योगदान का कोई उल्लेख नही है। विज्ञानवाद एव गौडपाद के प्रभाव योग वाशिष्ठ पर निश्चित रूप से पडे हैं, फिर भी इसका विकास शैव से सम्बन्ध रखकर हुआ है जैसाकि उसका स्पद का सिद्धात स्पष्ट करता है। शव दशन के विवेचन म इस विषय पर पूर्णत विचार किया जायेगा।

चिकित्सा शाखाओ का विवेचन

ऐसा आग्रह किया जा सकता है कि भारतीय दर्शन के इतिहास में चिकित्सा शाखाओं के विचारकों के विवेचन का उल्लेख उपयुक्त नहीं है। परन्तु यदि यह याद रखा जाय कि चिकित्साशास्त्र ही प्राचीन भारत में प्रतिपादित समस्त भौतिक विज्ञानों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण था, कि इसका सांख्य और वैशेषिक भौतिकशास्त्र से सीधा और घनिष्ठ संबंध था और सम्भवतः यह तर्कसंगत विवेचनों का उद्गम था जिनको बाद में न्याय सूत्रों में संहिताबद्ध किया गया है तो इस प्रकार की आपत्ति बहुत कुछ सारहीन हो जायगी।[1] इसके अतिरिक्त इस साहित्य में कई अन्य रोचक आचारशास्त्र संबंधी निर्देश भी सम्मिलित हैं और इसमें जीवन के एक ऐसे दृष्टिकोण के दर्शन होते हैं जो दर्शन ग्रन्थों में पाए जाने वाले दृष्टिकोण से पर्याप्तमात्रा में भिन्न है। अन्यच्च, इसमें भारतीय विचारकों की पांडित्यपूर्ण विधियों पर प्रचुर मात्रा में प्रकाश डालने वाले कई रोचक विशद विवरणों का समावेश भी है। पुनश्च, जो हठ योग सम्बन्धी अथवा तान्त्रिक देह प्रक्रियाओं अथवा उन नाड़ियों की कुछ यौगिक प्रक्रियाओं से संबद्ध शरीर विज्ञानशास्त्र के अत्यधिक महत्व से अभिज्ञ हैं वे निस्सन्देह तुलना के उद्देश्य से उन संबद्ध विषयों पर चिकित्सा शाखाओं के विवेचनों को जानना चाहेंगे। भ्रूण विज्ञान, वंशानुक्रम और अन्य ऐसे ही सामान्य जिज्ञासा के विषयों के बारे में उनके विवेचन शुद्ध दर्शनशास्त्र के विद्यार्थी के लिए भी संभवतः रोचक सिद्ध होंगे।

आयुर्वेद और अथर्ववेद

सुश्रुत का कथन है कि आयुर्वेद अथर्ववेद का उपांग है। मूलतः इसमें एक हजार अध्यायों में १००,००० श्लोक थे और समस्त प्राणियों की सृष्टि से पहले इसे ब्रह्मा ने रचा था (सुश्रुत संहिता १ १ ५)। इस संदर्भ में उपांग का सही सही अर्थ आसानी से संतोषप्रद रूप से समझाया नहीं जा सकता। निबन्ध संग्रह में 'उपांग' शब्द की व्याख्या करते हुए डल्हण (११०० ई० प०) कहते हैं कि 'उपांग' अल्पतर 'अंग' (भाग) होता है—अंगमेवाल्पत्वादुपांगम्। अतः जहाँ हाथ और पैरों को 'अंग' माना गया है वहाँ

---

[1] चरक संहिता ४ में निर्दिष्ट सांख्य दर्शन का वर्णन इस ग्रन्थ के प्रथम खंड के पृष्ठ २२३ २२७ में पहले ही किया जा चुका है।

'अंगूठा' और 'हथेलियाँ' को 'उपांग' कहा गया है। अथर्ववेद में ६ हजार मंत्र एवं लगभग एक हजार गद्य पंक्तियाँ हैं। यदि डल्हण के मतानुसार उपांग का अर्थ एक छोटा सा परिशिष्ट है और यदि आयुर्वेद में मूलतः १,००,००० श्लोक थे तो आयुर्वेद अथर्ववेद का उपांग नहीं कहा जा सकता। आयुर्वेद एक छोटा सा परिशिष्ट होने की अपेक्षा अथर्ववेद से दस गुने से भी कहीं अधिक विस्तृत था। आयुर्वेद के स्वरूप का निरूपण करते हुए चरक कहते हैं कि ऐसा कोई भी समय नहीं हुआ जबकि जीवन का अस्तित्व न रहा हो अथवा जबकि बुद्धिमान् मनुष्यों की सत्ता न रही हो, और इसीलिए ऐसे लोग सदा प्रचुर मात्रा में विद्यमान थे जो जीवन के विषय में ज्ञान रखते थे और सदा ऐसी औषधियाँ विद्यमान थीं जो मानव शरीर पर आयुर्वेद में निरूपित सिद्धान्तों के अनुसार अपना कार्य करती थीं। किसी भी समय आयुर्वेद की सृष्टि शून्य से नहीं हुई अपितु सदा ही आयुर्वेद का एक क्रम बना रहा, जब हम इसकी रचना किए जाने के बारे में सुनते हैं तो केवल किसी मौलिक विचारक के द्वारा आयुर्वेद सिद्धान्तों के बोध के प्रारम्भ के अथवा किसी प्रतिभावान् आचार्य के हाथों एक नए शिक्षा क्रम के प्रचलन के सन्दर्भ में ही ऐसा सम्भव हो सकता है। आयुर्वेद का अस्तित्व सदा ही रहा है और ऐसे लोग सदा विद्यमान रहे हैं जिन्होंने इसे अपने निजी ढंग से ही इसे समझा है इसके प्रथम व्यवस्थित बोध अथवा शिक्षण के अर्थ में ही केवल ऐसा कहा जा सकता है कि उसका 'आदि' है।[1] फिर, चरक ने आयुर्वेद को एक पृथक् वेद के रूप में प्रतिष्ठित किया है, जो अन्य वेदों से श्रेष्ठतर है क्योंकि यह हमें जीवन प्रदान करता है जो अन्य सारे भोगों और सुखों का आधार है चाहे वे ऐहिक हों अथवा पारलौकिक।[2] वृद्ध वाग्भट के अनुसार आयुर्वेद अथर्ववेद का उपांग नहीं अपितु उपवेद है।[3] महाभारत (२.११.३३) में उपवेद का उल्लेख है और इसकी व्याख्या करते हुए नीलकण्ठ का कथन है कि उपवेद चार हैं—आयुर्वेद, धनुर्वेद, गांधर्व और अर्थशास्त्र। एक परकालीन पुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण, का कथन है कि ऋक् यजुस् साम और अथर्ववेदों की रचना के पश्चात् ब्रह्मा ने पंचमवेद आयुर्वेद की रचना की।[4] रॉथ ने अपनी पुस्तक 'वोटरबुश' में इस आशय का एक उद्धरण दिया है

---

[1] चरक १.३०.२४। यह अंश चरक १.१.६ से असंगत प्रतीत होता है क्योंकि इसके अनुसार रोगों का शाश्वत होना माना गया है जबकि चरक १.१.६ के अनुसार रोग एक निश्चित काल से प्रारम्भ हुए। क्या यह संशोधन दृढ़बल का प्रक्षेपक तो नहीं ?

[2] चरक १.१.४२ और इस पर चक्रपाणि रचित आयुर्वेद-दीपिका।

[3] अष्टांग संग्रह १.१.८। तथापि, गोपथ ब्राह्मण १.१० में सर्पवेद, पिशाच वेद असुरवेद, इतिहासवेद एवं पुराणवेद इन पाँच वेदों का संभवतः उपवेद के अर्थ में उल्लेख है, परन्तु इस संदर्भ में आयुर्वेद का उल्लेख नहीं।

[4] ब्रह्मवैवर्त पुराण १.१६.९.१०।

कि वेदाग माने जाने वाले आयुर्वेद का अध्यापन ब्रह्मा सम्पूर्ण आठों भागों मे करते हैं।[1]

इस प्रकार हमे ज्ञात होता है कि कुछ लोगो द्वारा आयुर्वेद अन्य वेदो से बढकर माना जाता था और उनके अनुयायियो द्वारा इसका पचम वेद के रूप मे, अथर्ववेद के उपवेद के रूप मे, एक स्वतन्त्र उपवेद के रूप मे, अथर्ववेद के एक उपाग के रूप मे और अन्तत वेदाग के रूप मे सम्मान किया जाता था। इन सब परस्पर विरोधी सदर्भों से यह समझ मे आता है कि ऐसी परम्परागत धारणा थी कि अन्य वेदो के साथ प्राय सह अस्तित्व रखने वाला, महान् आदर का पात्र और एक विशिष्ट प्रकार से अथर्ववेद से सम्बद्ध आयुर्वेद नामक एक वेद है। तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि इस सम्बन्ध का स्वरूप इस तथ्य मे निहित है कि इन दोनो मे रोगो के उपचार और दीर्घायु की प्राप्ति का वर्णन है, एक मे मुख्यत मत्र तत्र द्वारा और दूसरे मे औषधि द्वारा। सुश्रुत का आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपाग कहने मे जो अर्थ है वह समवत इससे अधिक और कुछ नही है। अथर्ववेद और आयुर्वेद दोनो मे रोगो के उपचार का उल्लेख है, और इसी ने जन मानस मे इन दोनो का सामान्यत परस्पर सम्बद्ध कर दिया और अपने धार्मिक मूल्यो के कारण इन दोनो मे अथर्ववेद के पवित्र तर होने से आयुर्वेद को इसके साहित्यिक परिशिष्ट के रूप मे सबद्ध कर दिया। कौशिक सूत्र २५ २ की टीका करते हुए दारिल भट्ट हमे इसका सकेत देता है कि आयुर्वेद और अथर्ववेद मे सम्पर्क एव विभेद स्थापित करने वाली कौन कौन सी बातें हो सकती है। अत वह कहता है कि दो प्रकार की व्याधियाँ होती हैं, एक तो वे जो कुपथ्य से होती हैं और दूसरी वे जो पाप एव अशुभचरण द्वारा होती है। आयुर्वेद की रचना प्रथम प्रकार की व्याधियो के उपचार के लिए हुई और आथर्वण क्रियाओ की रचना दूसरी प्रकार की व्याधियो के लिए।[2] स्वय चरक प्रायश्चित को गणना भेषज के नामो मे करते है और चक्रपाणि इस पर टीका करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार प्रायश्चित अशुभ द्वारा उत्पन्न व्याधियो का निराकरण करता है उसी प्रकार भेषज भी व्याधियो का निराकरण करता है और इस प्रकार प्रायश्चित भेषज का पर्यायवाची है।[3]

---

[1] ब्रह्मा वेदागमष्टागमायुर्वेदमभाषत। 'आयुर्वेद' शब्द के सम्बन्ध मे बोटरबुश मे मिलने वाले उद्धरण के इस सदर्भ मे कुछ पूर्व के कारण पुष्टि नही की जा सकी। यह ध्यान देने योग्य है कि साधारणत वेदाग का प्रयोग शिक्षा, कल्प व्याकरण छद ज्योतिष और निरुक्त इन ■ अगो के अर्थ मे होता है।

[2] द्विप्रकारा व्याधय। आहारनिमित्ता अशुभनिमित्ताश्चेति। तत्राहारसमुत्थाना वषम्य आयुर्वेद चकार अधर्मसमुत्थाना तु शास्त्रमिदमुच्यते।

—कौशिक सूत्र २५ २ पर दारिल की टीका।

[3] चरक ४ १, ३, और 'आयुर्वेद दीपिका वही।

१

परन्तु यह आयुर्वेद है क्या? हमारे पास आजकल सुश्रुत और चरक की कृतियां ही परकालीन संशोधकों द्वारा संशोधित और परिवर्धित रूप में उपलब्ध हैं। परन्तु सुश्रुत का कथन है कि ब्रह्मा ने मूलतः आयुर्वेद की रचना की। इसमें १,००,००० श्लोक थे जो एक हजार अध्यायों में विभक्त थे और फिर यह देखकर कि मनुष्य क्षीण मति एवं अल्पायु हैं उन्होंने बाद में इसे इन आठ अंगों में विभक्त कर दिया—चीरफाड़ (शल्य) सिर के रोगों का उपचार (शालाक्य) साधारण रोगों का उपचार (काय चिकित्सा) दुष्ट प्रेतात्माओं के प्रभाव की प्रशामक प्रक्रियाएं (भूत-विद्या), बाल रोग चिकित्सा (कौमारभृत्य) विषों का उपशमन (अगदतन्त्र), शरीर को युवा बनाने का विज्ञान (रसायन) और काम शक्ति को प्राप्त करने का विज्ञान (वाजीकरण)।[1] सुश्रुत का यह कथन बहुत कुछ विश्वसनीय प्रतीत होता है कि आयुर्वेद मूलतः एक महान् ग्रन्थ था जिसमें परकालीन आठ भिन्न भिन्न प्रकार के अध्ययनों को पृथक नहीं किया गया था कि आयुर्वेद को उपांग, उपवेद अथवा वेदांग से सम्बोधित किया जाना भी इस बात की ओर संकेत करता है कि जब वैदिक साहित्य रचा जा रहा था उस समय आयुर्वेद का भी किसी न किसी रूप में अस्तित्व था। औषधियों के संकलन का उल्लेख हमें प्रातिशाख्य काल जितने प्राचीन समय में मिलता है।[2] यह विलक्षण बात है कि उपनिषदों अथवा वेदों में आयुर्वेद का नाम कहीं नहीं आता यद्यपि विद्या की विभिन्न शाखाओं का वर्णन उपनिषदों में मिलता है।[3] अष्टांग आयुर्वेद का उल्लेख महाभारत में अवश्य है और वायु पित्त और श्लेष्मा इन तीन धातुओं (धारक) का भी वर्णन है। उसमें एक सिद्धान्त का उल्लेख है जिसके अनुसार शरीर इन तीन धातुओं द्वारा धारण किया जाता है और उनके क्षय से उसका भी क्षय हो जाता है (एतैः क्षीणैश्च क्षीयते) और कृष्णात्रेय के चिकित्सा विज्ञान (चिकित्सितम्) के संस्थापक होने की ओर संकेत किया गया है।[4] मन्त्र तन्त्र के मिश्रण से

---

[1] सुश्रुत संहिता १ १ ५–६।

[2] ऋग्वेद प्रातिशाख्य १६ ५४ (५५) अथर्ववेद एवं गोपथ ब्राह्मण में पृ० १० पर ब्लूमफील्ड द्वारा वर्णित। चिकित्साशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ का नाम 'सुभेषज' बताया गया है।

[3] ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणश्चतुर्थमितिहास पुराणं पंचमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्याम्—छांदोग्य ७ १ २। इनमें से भूत विद्या की गणना आयुर्वेद के आठ तन्त्रों में की गई है जैसाकि हमें सुश्रुत संहिता से तथा अन्यत्र ज्ञात होता है।

[4] महाभारत २, ११ २५, १२ ३४२ ८६, ८७, १२ २१० २ १, कृष्णात्रेय का 'चरक संहिता ६ १५ १२९ में उल्लेख है और इस पर टीका करते हुए चक्रपाणि

रहित ओषधियों के प्राचीनतम सुव्यवस्थित वर्णनों में से एक का उल्लेख 'विनय पिटक' के 'महावग्ग' में मिलता है जहाँ बुद्ध अपने शिष्यों के लिए ओषधियों का निर्देश करते हैं।[१] ये ओषधियाँ साधारण प्रकार की हैं परन्तु उन पर विधि सम्मत व्यवस्था की छाप स्पष्ट है। हमें उसमें 'आकाश गोत्ता' नामक शल्य चिकित्सक का भी नाम होता है जिसने भगन्दर की शल्य चिकित्सा (सत्थ कम्म) की थी। राकहिल रचित 'लाइफ आफ बुद्ध' में हमें तक्षशिला विश्वविद्यालय में आत्रेय के आधीन जीवक के चिकित्साशास्त्र पढने का उल्लेख मिलता है।[२] अथर्ववेद में एक मन्त्र आता है जिससे पता चलता है कि अथर्ववेदकाल में भी सकडों चिकित्सक थे और ओषधियों से व्याधियों का उपचार करने हेतु एक सुसम्पन्न भेषज संहिता विद्यमान थी इस मन्त्र में मणियों के गुणों का स्तवन किया गया है और कहा गया है कि उनकी शक्ति सहस्रों चिकित्सकों द्वारा प्रयुक्त सहस्रों ओषधियों के बराबर होती है।[३] अतः इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि अथर्ववेद काल में भी ओषधियों का प्रचलन जोर शोर से था, और यद्यपि हमारे पास इस मत के पक्ष में अन्य प्रमाण नहीं हैं कि रोगों के उपचार करने से सम्बद्ध साहित्य विद्यमान था जिसे आयुर्वेद के नाम से जाना जाता था, इसमें ऐसी विभिन्न शाखाएं, पृथक पृथक अवस्था में विद्यमान नहीं थीं जिनका विकास बाद में हुआ, फिर भी हमारे पास कोई ऐसा प्रमाण नहीं है जिससे हम इस प्रकार के साहित्य के अस्तित्व की ओर सुश्रुत के निश्चित संकेत को अमान्य कर दें। चरक-संहिता भी आयुर्वेद के अनादि सनातन क्रम के अस्तित्व की ओर संकेत करती है। आयुर्वेद शब्द में उसने आयु जड़ी बूटियां पथ्य आदि के गुणों के स्पर्श का और मानव शरीर पर उनके प्रभावों का तथा प्रज्ञाशील जिज्ञासु का समावेश किया है। आजकल उपलब्ध प्राचीन ग्रंथ 'चरक संहिता और सुश्रुत संहिता तन्त्र नाम से विख्यात है।[४] अग्निवेश कृत अग्निवेश संहिता' भी जिसका चरक ने संशोधन किया था और जो चक्रपाणि के समय तक उपलब्ध थी, एक तन्त्र ही था। यदि आयुर्वेद आजकल हमें उपलब्ध तन्त्र से स्पष्टरूपेण पृथक कोई साहित्य नहीं है तो फिर यह आयुर्वेद क्या था जिसे भिन्न भिन्न प्रकार से पंचम वेद अथवा उपवेद की संज्ञा दी गई है।[५] अतः

कहते हैं कि कृष्णात्रेय और आत्रेय चरक संहिता में वर्णित महान् आचार्य आत्रेय पुनर्वसु से भिन्न दो आचार्य हैं।

१ विनय पिटक महावग्गु ६ १ १४।

२ राकहिल कृत 'लाइफ ऑफ बुद्ध पृ० ६५।

३ अथर्ववेद २ ६ ३ शत ह्यस्य भिषज सहस्रमुत वीरुध।

४ गुर्वाज्ञालाभानन्तरमेतत्तन्त्रकरणम्–चक्रपाणिकृत आयुर्वेददीपिका १ १ १ और चरक संहिता, १ १ ५२।

५ आयुर्वेद दीपिका ६ ३, १७७ १८५ में चक्रपाणि ने 'अग्निवेश संहिता' का उद्धरण दिया है।

सम्भवत ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार का साहित्य विद्यमान था, अग्निवेश एव अन्य लेखकों की व्यवस्थित कृतियों ने उसे निरस्त कर दिया और परिणामस्वरूप यह साहित्य अन्ततोगत्वा लुप्त हो गया। तथापि चरक 'आयुर्वेद' शब्द का प्रयोग आयुर्विज्ञान के सामान्य अर्थ मे करते हैं। चरक ने आयु को चार प्रकारों मे विभक्त किया है—सुख, दु ख, हित और अहित। 'सुखम् आयु' वह आयु है जो शारीरिक एवम् मानसिक व्याधियों से पीडित नही होती है, जो बल, वीर्य शक्ति, पौरुष एवम् पराक्रम से युक्त होती है और जो सब प्रकार के भोगों एव समृद्धियों से परिपूर्ण होती है। इसका विपर्यय 'असुखम् आयु' है। 'हितम् आयु' वह है जिसमे कोई व्यक्ति समस्त प्राणियों का हित करने मे रत रहता है, पर धन का अपहरण नही करता है, सत्यनिष्ठ, शमपरायण होता है अच्छी तरह सोच विचार कर काम करता है, नैतिक आदेशों का उलघन नहीं करता है, सदाचार और भोग समभाव से ग्रहण करता है, पूजनीय पुरुषों का आदर करता है, दानशील होता है और जो इह लोक और परलोक के लिए हितकारी कार्यों को करता है इसका विपर्यय 'अहित' कहलाता है। आयु के इन चारों प्रकारों के साधक ज्ञान को प्रदान करना और साथ ही आयु का मान निश्चित करना ही आयुर्वेद का उद्देश्य है।[1]

परन्तु, यदि आयुर्वेद का अर्थ 'आयु का विज्ञान' है, तो इसका अथर्ववेद से क्या सम्बन्ध है? चरक सहिता मे हम देखते हैं कि एक चिकित्सक की अथर्ववेद मे विशेष रूप से भक्ति होनी चाहिए। अथर्ववेद में स्वस्त्ययन, बलि, मगल, होम नियम, प्रायश्चित, उपवास और मन्त्रों द्वारा चिकित्सा का निरूपण किया गया है।[2] इस पर टीका करते हुए चक्रपाणि कहते हैं कि चूकि चिकित्सकों को अथर्ववेद का भक्त होना चाहिए, अत इसका तात्पर्य यह हुआ कि अथर्ववेद आयुर्वेद का भाव ग्रहण कर लेता है (अथर्ववेदस्यायुर्वेदमुक्त भवति)। नि सन्देह अथर्ववेद मे विभिन्न प्रकार के विषयों का निरूपण किया गया है और इसीलिए आयुर्वेद को अथर्ववेद का केवल

---

[1] चरक, प्रथम १ ४० और प्रथम ३० २०–२३।
हिताहित सुख दु खमायुस्तस्य हिताहितम्।
मान च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेद स उच्यते॥

प्रथम ३० २० मे आयुर्वेद की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी गई है—'आयुर्वेदयतीति आयुर्वेद' अर्थात् जो आयु का बोध करावे वह आयुर्वेद है। सुश्रुत दो वैकल्पिक व्युत्पत्तियों को प्रस्तुत करते है—'आयुरस्मिन् विद्यतेऽनेनवाऽऽयुर्विन्दतीत्यायुर्वेद' अर्थात् जिससे आयु का ज्ञान या जिससे आयु का लाभ हो वह आयुर्वेद।

—सुश्रुत सहिता १ १ १४।

[2] चरक १ ३० २०।

एक अंग ही मानना चाहिए (अथर्ववेदैकदेश एवायुर्वेद)। यदि चक्रपाणि की व्याख्या के प्रकाश में देखा जाय तो यह प्रतीत होता है कि चिकित्साशास्त्र की जिस शाखा से चरक सम्बद्ध थे उसका अथर्ववेद से घनिष्टतम सम्बन्ध था। चरक संहिता में पाई जाने वाली अस्थिप्रणाली की अथर्ववेदीय प्रणाली से तुलना करने पर भी इसकी ही पुष्टि होती है। स्वयं सुश्रुत का कथन है कि जहाँ उसके मतानुसार मानव शरीर की अस्थि संख्या तीन सौ है, वहाँ वेदों के अनुयायियों के अनुसार उनकी संख्या तीन सौ साठ है और चरक द्वारा दी गई संख्या भी ठीक यही है।[1] अथर्ववेद अस्थियों की गणना नहीं करता है परन्तु अस्थियों के वर्णन से सम्बन्धित कुछ ऐसी महत्वपूर्ण बातें हैं जिनमें इस शाखा का जिसके चरक अनुयायी थे अथर्ववेद से, न कि सुश्रुत से मतैक्य है। डा० हनले ने इस प्रश्न की सावधानीपूर्वक विवेचना की है। उनका कथन इस प्रकार है, "एक वास्तव में महत्वपूर्ण अवस्था यह है कि आथर्वण पद्धति का चरक पद्धति से एक बात की बात में साम्य है। वह है शिरोरचना में मुख की केन्द्रीय अस्थि की परिकल्पना जिस विषय में सुश्रुत और चरक का मत वैभिन्य है। यह और कहा जा सकता है कि दीर्घ अस्थियों के आधार के लिए प्रयुक्त आथर्वण शब्द 'प्रतिष्ठा' प्रत्यक्षतः चरकीय शब्द 'अधिष्ठान' से साम्य रखता है और सौश्रुत 'कूर्च' से पर्याप्त मात्रा में भिन्न है।[2] डा० हनले के अनुसार शतपथ ब्राह्मण का उन दोनों शाखाओं का ज्ञान था जिनके चरक और सुश्रुत क्रमशः अनुयायी थे। तो भी इसमें ३६० अस्थियों की गणना ठीक से ही की गई है, जैसेकि चरक ने की थी।[3] सुश्रुत संहिता ३. ५. १८ में प्रयुक्त शब्द 'वेदवादिनो' का अर्थ वेद से भिन्न आयुर्वेद के अनुयायी नहीं है जैसाकि डल्हण ने व्याख्या की है परन्तु यह इस अर्थ में अक्षरशः सत्य

[1] त्रीणि सषष्ठान्यस्थिशतानि वेदवादिनो भाषन्ते, शल्यतन्त्रे तु त्रीण्येव शतानि सुश्रुत संहिता ३. ५. १८। त्रीणि षष्ठानि शतान्यस्थ्नां सह दन्तनखेन।

चरक संहिता ४. ७. ६।

[2] ए० एफ० रूडोल्फ हनले रचित स्टडीज इन दि मैडीसिन आफ एन्शियंट इण्डिया। —पृ० ११३।

[3] वही, पृ० १०५६। शतपथ ब्राह्मण १०. ५. ४. १२. १२. ३. २. ३ और ४, १२. २. ४. ६–१४, ८. ६. २. ७ और १० भी देखिए। याज्ञवल्क्य धर्मशास्त्र विष्णु स्मृति विष्णु धर्मोत्तर और अग्निपुराण में भी चरक के अनुरूप मानव शरीर की अस्थियों की संख्या ३६० दी गई है। अंतिम तीन का स्रोत सम्भवतः प्रथम (याज्ञवल्क्य धर्मशास्त्र) था, जैसाकि डा० हनले द्वारा अपनी पुस्तक स्टडीज इन दि मडीसिन ऑफ एन्शियेन्ट इण्डिया (पृ० ४०–४६) में संकेत किया गया है। परन्तु इन चिकित्सेतर ग्रन्थों में से कोई भी अधिक प्राचीनकाल का नहीं है, सम्भवतः वे तृतीय या चतुर्थ शताब्दी ई० पू० से पहले के नहीं हैं।

है कि यह हमें उस दृष्टिकोण को प्रदान करता है जिस दृष्टिकोण में चरक का अथर्ववेद शतपथ ब्राह्मण, धर्मशास्त्र और पुराणों से साम्य है जो सब कट्टर अनुमानों के अनुसार वेदों से अपनी *प्रामाणिकता उपपादित करते हैं।* यदि चरक द्वारा प्रस्तुत चिकित्सा की आत्रेय शाखा के विचारों और वैदिक विचारों के इस साम्य का आत्रेय द्वारा स्थापित अथर्ववेद और आयुर्वेद की एकात्मकता के साथ साथ देखा जाय तो यह मानना अनुचित नहीं होगा कि चरक द्वारा प्रस्तुत आत्रेय शाखा का विकास अथर्ववेद से हुआ। यह आयुर्वेद की उस अन्य शाखा के विद्यमान होने की सम्भावना का निराकरण नहीं करता जिसका सुश्रुत ने उल्लेख किया है और जिससे गुरु परम्परा के शिक्षण माध्यम से सुश्रुत संहिता का विकास हुआ। इस साहित्य ने अपने आपको अथर्ववेद से सम्बद्ध करके और अपने को अथर्ववेद का एक उपांग घोषित करके जनता का आदर प्राप्त करने का प्रयत्न किया हो।[1]

जयन्त का तर्क है कि वेदों की प्रामाणिकता इस तथ्य पर आश्रित है कि उनकी रचना पूर्णत विश्वसनीय (आप्त) पुरुषों द्वारा हुई। उपमा के रूप में वह आयुर्वेद का उल्लेख करते हैं *जिसकी प्रामाणिकता का कारण इसकी रचना विश्वसनीय* (आप्त) पुरुषों द्वारा होता है। आयुर्वेद के चिकित्सा सम्बन्धी निर्देश इस तथ्य के कारण प्रामाणिक माने जाते हैं कि वे आप्त पुरुषों के निर्देश हैं (यतो यत्राप्तवादत्व तत्र प्रामाण्यमिति व्याप्तिगृह्यते)। परन्तु यह तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि आयुर्वेद की प्रामाणिकता इसके आप्त पुरुषों की कृति होने के कारण नहीं अपितु इसके निर्देश के अनुभव सिद्ध होने के कारण (नन्वायुर्वेदादौ प्रामाण्य प्रत्यक्षादिसम्वादात् प्रतिपन्नमाप्तप्रामाण्यात्)। इसके उत्तर में जयन्त का कथन है कि आयुर्वेद की प्रामाणिकता इस तथ्य के कारण है कि यह आप्त पुरुषों की कृति है और अनुभव सिद्ध भी है। उसका यह भी तर्क है कि औषधियों की अत्यधिक संख्या, उनके योग और उनके प्रयोग इतने अनन्त प्रकार के हैं कि किसी भी व्यक्ति के लिए अन्वयव्यतिरेक की प्रायोगिक विधियों द्वारा उनको जानना पूर्णत असंभव है। क्योंकि चिकित्सकगण वस्तुओं के अपने ज्ञान में लगभग सर्वज्ञ होते हैं अत केवल इसी हेतु उनमें व्याधियों और उनके *उपचार से सबद्ध अलौकिक ज्ञान के प्रदर्शन की क्षमता है जिसको उनके प्रमाण पर* विश्वास करके ही ग्रहण किया जा सकता है। चिकित्सा सम्बन्धी आविष्कार अन्वयव्यतिरेक की प्रायोगिक विधियों के प्रयोग के द्वारा किए गए और बाद में दीर्घकाल में वे पुञ्जीभूत हो गए इस मत का खंडन करने के उसके प्रयत्न बहुत क्षीण हैं और उनकी समीक्षा करना यहाँ आवश्यक नहीं।

---

[1] तथापि उपांग शब्द का प्रयोग इस अर्थ में हुआ हो कि यह एक परिशिष्ट ग्रंथ था जिसका क्षेत्र वैसा ही था जैसाकि अथर्ववेद का।

अथर्ववेद या ब्रह्मवेद के नाम से विख्यात चतुर्थ वेद, मुख्यतः औषधियों और जादू टोना का ही निरूपण करता है।[1] ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है कि इस वेद की रचना प्राचीनतम ऋग्वैदिक ऋचाओं के भी बाद हुई क्योंकि संभवतः भारत के इतिहास में कभी भी ऐसा समय नहीं आया जब लोगों ने व्याधियों का उपचार करने या विपत्तियों को दूर करने और शत्रुओं को क्लेश पहुँचाने के लिए जादू टोने का आश्रय नहीं लिया हो। स्वयं ऋग्वेद का भी अधिकांश में ऐसी आभिचारिक प्रक्रियाओं का एक विशिष्ट विकसित रूप माना जा सकता है। मनुष्यों के मस्तिष्क पर आथर्वण जादुओं का आधिपत्य संभवतः अत्यन्त शक्तिशाली थी क्योंकि वे उन्हें अपने सारे दैनिक कृत्यों में प्रयोग करते थे। आज भी जब ऋग्वेदीय यज्ञ अत्यन्त विरल हो गए हैं, आथर्वण जादू टोनों और उनसे प्रादुर्भूत अपेक्षाकृत परवर्तीकाल के तांत्रिक जादू-टोनों का प्रयोग हिन्दुओं के समस्त वर्गों में बहुत सामान्य है। पुजारी वर्ग की आय का एक बहुत बड़ा भाग पुरानी एवं गम्भीर बीमारियों के इलाज करने, मुकदमे जीतने, कष्ट निवारण करने, परिवार में पुत्र प्राप्त करने, शत्रु की हानि करने इत्यादि के लिए किए गए स्वस्त्ययनों, प्रायश्चित्तों और होम से प्राप्त होता है। रक्षा कवच का प्रयोग भी लगभग उतने ही मुक्त रूप से हो रहा है जितना कि तीन या चार हजार वर्ष पहले होता था, और साँप के मंत्र तथा कुत्ते आदि काटने के मंत्र आज भी ऐसी बातें हैं जिनका विरोध करना चिकित्सकों को कठिन जान पड़ता है। जादू टोने की अदृश्य शक्तियों में विश्वास सामान्य हिन्दू गृहस्थ में प्रायः धर्म का स्थान ले

---

[1] कुछ पवित्र ग्रन्थों में चार वेदों का उल्लेख है और कुछ में तीन का, जैसे—'अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदश्च।' बृहदारण्यक, द्वितीय ४, १० में चार वेदों का उल्लेख है। पुनश्च तैत्तिरीय ब्राह्मण १, ११, १ २६ में तीन वेदों का उल्लेख है—'यमृषयस्त्रयीविदो विदुः ऋचः सामानि यजूंषि। सायण मीमांसा सूत्र २ १, ३७– योंके यजु शब्द' का हवाला देते हैं और कहते हैं कि अन्य सारे वेद जो न तो ऋक् हैं और न साम ही हैं वे यजुस ही हैं (*सायण कृत अथर्ववेद का उपोद्घात, पृ० ४, सन् १८६५ का बम्बई संस्करण*)। इस व्याख्या के अनुसार अथर्ववेद का समावेश यजुर्वेद में होना चाहिए और यह व्याख्या तीन वेदों के उल्लेख को स्पष्ट कर देती है। गोपथ ब्राह्मण द्वितीय १६ में अथर्ववेद का ब्रह्मवेद के रूप में उल्लेख है और दो भिन्न कारण प्रस्तुत किए गए हैं। प्रथमतः ऐसा कहा जाता है कि अथर्ववेद की रचना ब्रह्मा की तपस्या के द्वारा हुई दूसरा कि गोपथ ब्राह्मण में यह बतलाया गया है कि सारे आथर्वण मंत्र उपचार करने वाले (भेषज) हैं और जो कुछ भी भेषज है वह सब अमृत है और जो कुछ अमृत है वह 'ब्रह्म'। येऽथर्वाणस्तद् भेषजं यद् भेषजं तदमृतम् यदमृतं तद् ब्रह्म (गोपथ ब्राह्मण ३, ४)। न्याय मंजरी, २५० २६१ भी देखिए।

लेता है। अत यह मान लिया जा सकता है कि जब अधिकाश ऋग्वेदीय ऋचाओं की रचना भी नही हुई थी, उस समय आथवण मत्रो की अच्छी खासी सख्या प्रचलित थी। तथापि जब अथववेद का आज के उपलब्ध रूप मे सकलन किया गया तो उसम कुछ नए मन्त्र और सम्मिलित कर लिए गए, जिनका दार्शनिक स्वरूप अधिकाश मन्त्रो के दृष्टिकोण से मेल नही खाता। जसाकि सायण ने अपने भाष्य की भूमिका मे दर्शाया है अपने शत्रुओ को दूर रखने के लिए और अन्य कई लाभो को प्राप्त करने के लिए अथववेद राजाओ के लिए अपरिहार्य था और राजपुरोहितो का आथवण प्रक्रियाओ मे निष्णात होना आवश्यक था। ये प्रक्रियाए अधिकाशत साधारण गृहस्थ के क्लेशो का निवारण करने के लिए थी और इसी हेतु गृह्यसूत्रो' ने पर्याप्त मात्रा म इनका प्रयोग किया गया है। अथववेद का प्राचीनतम नाम है 'अथर्वांगिरस और यह नाम प्राय दो प्रकार के विभाजन को सूचित करता है, एक तो वे मन्त्र जो अथर्वा रचित बताए जाते हैं और दूसरे वे जो अगिरा रचित बताए जाते हैं, प्रथम मे शान्त (पवित्र), पौष्टिक (कल्याणप्रद) और भेषजा (उपचारको) का विवेचन है और द्वितीय मे शत्रुओं का क्लेशदायी क्रूर घोर सनक क्रियाओ (अभिचारिक) का विवेचन है। आथवण जादू टोना से जिन उद्देश्यो की पूर्ति की अपेक्षा की जाती थी वे अनेक थे। इन उद्देश्यों को सक्षिप्त रूप में कौशिक सूत्र के अनुसार निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है। बुद्धि तीव्र करना, ब्रह्मचारी के गुणो की प्राप्ति ग्राम, नगर दुग और राज्य का ग्रहण तथा पशु धन धान्य सतान, स्त्री, हाथी, घोडे और रथ आदि की प्राप्ति प्रजा मे ऐकमत्य एव सन्तोष स्थापित करना शत्रु के हाथियो को भयभीत करना रण जीतना, सब प्रकार के अस्त्र शस्त्रो का निवारण शत्रु दल को स्तब्ध, भयभीत और नष्ट कर देना अपनी सेना का उत्साह बढाना और सरक्षण करना युद्ध के भावी परिणामो को जानना, सेनापतियो और मुख्य मुख्य व्यक्तियो को अपने मत में करना, उन क्षेत्रो मे मन्त्र सिद्ध पाश, तलवार अथवा डोरे डालना जहाँ शत्रु सेना गतिशील है। युद्ध विजय के लिए रथारोहण, सारे रण वाद्यो पर जादू करना, शत्रु घात, शत्रु द्वारा नष्ट नगरो का पुनग्रहण अभिषेक समारोह, पापो के प्रायश्चित, शाप, गो सवधन समृद्धि ग्राम कल्याण और कृषि की वृद्धि एव वषर्मो की दशा में सुधार के लिए रक्षा कवच, गृहस्थ की विभिन्न सामग्रियो को जुटाना नव निर्मित भवन को शुभ बनाना, साड को खुला छोडना (सामान्य क्रियाओ के एक अग के रूप मे—श्राद्ध) फसल काटने के मास आग्रहायण (मध्य नवम्बर से मध्य दिसम्बर तक) के कृत्यो को सम्पन्न करना, पूव जन्म कृत पापो के फलस्वरूप प्राप्त अन्यथा असाध्य विभिन्न व्याधियो का उपचार प्राप्त करना, सारे रोगो और सामान्यत ज्वर, हैजा और प्रमेह का इलाज करना शस्त्राघातजनित घावो से रुधिर प्रवाह रोकना, अपस्मारजन्य मूर्छा को और भूत पिशाच, ब्रह्म राक्षस, इत्यादि दुष्टात्माओ के वशीभूत होने स रोकना, वात पित्त श्लेष्मा, हृद्रोग, पाडुरोग, श्वत

कुण्ठ, विभिन्न प्रकार के ज्वर, जलोदर, राजयक्ष्मा का इलाज करना, गायों और घोड़ा के कीड़ा का इलाज करना, सब प्रकार के विषों को शान्त करना, मस्तक नेत्र, वण, जिह्वा, ग्रीवा के रोगों की और ग्रीवा प्रदाह की औषधों की कल्पना करना, ब्राह्मण के शाप के दुष्प्रभावों का निवारण करना, पुत्र प्राप्ति, सुखी प्रसव और भ्रूण के कल्याण के लिए स्त्री संस्कारों की व्यवस्था करना, समृद्धि प्राप्त करना, राज कोप की शान्ति भावी सफलता अथवा असफलता का ज्ञान, अतिवृष्टि और वज्रपात की रोक, शास्त्रार्थ जीतना और विवाद रोकना, स्वेच्छानुसार नदी प्रवाह करना वर्षा प्राप्ति, जूए में जीतना, पशु और अश्वों का कल्याण, व्यापार में अधिक लाभ प्राप्ति, स्त्रियों में अशुभ लक्षणों की रोक, नए घर के लिए शुभ कृत्यों का सम्पादन, निषिद्ध दान को स्वीकार करने और निषिद्ध पौरोहित्य सम्पादित करने से उत्पन्न पापों को परिमार्जन, दुःस्वप्नों का रोकना जिन अशुभ नक्षत्रों की दृष्टि में कोई जातक उत्पन्न हुआ हो उन नक्षत्रों के प्रकोप का दूर करना, ऋण शोधन, अपशकुनों की बुराइयों को दूर करना, शत्रु को क्लेश पहुँचाना, शत्रु के मन्त्र तन्त्रों के क्लेशकारी प्रभाव का प्रतीकार करना, शुभ संस्कारों का सम्पादन दीर्घायुष्य की प्राप्ति जातकर्म नामकरण, चूड़ाकर्म, यज्ञोपवीत, विवाहादि संस्कारों का सम्पादन, अन्त्येष्टि संस्कार करना, प्राकृतिक प्रकोपों यथा धूल वृष्टि रक्त वृष्टि आदि, यक्ष, राक्षसादि के आविर्भाव, भूकम्प धूमकेतु के उदय और सूर्य तथा चन्द्र ग्रहणों के कारण उत्पन्न विपदाओं से रक्षा करना।

आथर्वण क्रियाओं के सम्पादन से उपलब्ध होने वाले लाभों की उपर्युक्त लम्बी सूची हमारे सामने उस समय का चित्र अंकित कर देती है जब आथर्वण जादू टोना का प्रचलन था। यह निश्चित रूप से स्थिर नहीं किया जा सकता कि इन सारी क्रियाओं का आथर्वण मन्त्रों का सर्वप्रथम रचना के समय तक आविष्कार हो चुका था। वर्तमान काल में हमारे पास जो प्रमाण उपलब्ध हैं वे कौशिक सूत्रों द्वारा उपलब्ध कराए गए प्रमाणों तक ही सीमित है। सायण द्वारा स्वीकृत भारतीय परम्परा के अनुसार अथर्ववेद का संकलन नौ पृथक् पृथक् संग्रहों में चालू था, जिनके पाठ न्यूनाधिक रूप में एक दूसरे से भिन्न थे। ये भिन्न भिन्न पाठ अथवा शाखाएँ पैप्पलाद, ताद, मद शौनकीय, जाजल, जलद, ब्रह्मवाद, देवादर्श और चारणवैद्य थी। इनमें से केवल पैप्पलाद और शौनकीय पाठ ही प्राप्य हैं। पैप्पलाद शाखा ट्यूबिंजेन स्थित केवल एक अप्रकाशित पाण्डुलिपि में ही विद्यमान है जिसको सर्वप्रथम रौथ ने खोजा था।[1] इसका प्रतिकृति रूप में और आंशिक रूप से मुद्रित रूप में भी सम्पादन किया जा चुका है। शौनकीयशाखा ही आजकल मुद्रित रूप में उपलब्ध है। शौनकीय शाखा का ब्राह्मण गोपथ ब्राह्मण है और इसके कौशिक, वैतान, नक्षत्र, कल्प आंगिरस

---

[1] रौथ कृत डेर अथर्ववेद इन काश्मीर।

कल्प और शान्ति कल्प ये पाँच सूत्र ग्रन्थ हैं,[1] इन्हें 'पंचकल्प' की संज्ञा भी दी जाती है। इनमें कौशिक सूत्र सम्भवतः प्राचीनतम और सबसे महत्त्वपूर्ण है क्योंकि अन्य चारों सब इस पर आश्रित हैं।[2] नक्षत्र कल्प और शान्तिकल्प का स्वरूप न्यूनाधिक फलित ज्योतिष का है। आंगिरस कल्प की कोई भी पाण्डुलिपि उपलब्ध नहीं है परन्तु सायण की संक्षिप्त टिप्पणी से ऐसा ज्ञात होता है कि यह शत्रुओं को क्लेश पहुँचाने (अभिचार कर्म) से सम्बद्ध एक पुस्तिका होगी। वैतान सूत्र में कुछ याज्ञिक और संस्कार सम्बन्धी विवरणों का विवेचन किया गया है। कौशिक सूत्र पर दारिल, केशव, भट्ट और रुद्र ने भाष्य लिखे थे। चारणवैद्य (घूमते फिरते वैद्य) शाखा की विद्यमानता हमें उस विशिष्ट शाखा का प्रदर्शित करती है, जिससे उस आत्रेय चरक शाखा का प्राचीन 'आयुर्वेद' निर्मित था, जिसने अथर्ववेद की आयुर्वेद से एकात्मकता स्थापित की थी। 'चारणवैद्य' शब्द सन्निहित यह संकेत रोचक है कि उस समय के चिकित्सक (वैद्य) एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाया करते थे और उनके आगमन को सुनकर रोगी उनके पास जाया करते थे, तथा उनकी सहायता लेते थे।[3]

अथर्ववेद और आयुर्वेद में अस्थियाँ

इस अध्याय का मुख्य आकर्षण अथर्ववेद का वह भाग है जिसमें चिकित्सा संबंधी निर्देशों का विवेचन है और इसके लिए कौशिक सूत्र को ही मुख्य पथ प्रदर्शक रूप में ग्रहण करना पड़ेगा। हम प्रथम अथर्ववेद की शारीर विशेषताओं से प्रारम्भ करते हैं।[4] जिन अस्थियों की गणना की गई है, वे इस प्रकार हैं पार्ष्णी (द्विवचनात्)[5]

---

[1] कौशिक सूत्र संहिताविधि और संहिताकल्प नाम से भी विख्यात है। नक्षत्र, आंगिरस और शान्ति ये तीन कल्प वस्तुतः परिशिष्ट हैं।

[2] 'तत्र शाकल्येन संहितामन्त्राणां शान्तिक-पौष्टिकादिषु कर्मसु विनियोग विधानात् संहिताविधिनाम कौशिक सूत्रम् तदेव इतरस्यपजीव्यत्वात्-सायणे कृत अथर्ववेद का उपोद्घात, पृ० २८।

[3] क्या यह सम्भव है कि चरक (शाब्दिक अर्थ घूमने वाला) का वैद्य के रूप में चरक के व्यवसाय की पर्यटक प्रकृति से कोई सम्बन्ध है?

[4] इस सन्दर्भ में मन्त्र सं० २ २३ और १० २ विशेष महत्त्व के हैं।

[5] चरक ने भी प्रत्येक पर की एक एक 'पार्ष्णि' की गणना की है। हर्नले (स्टेडीज इन दि मडोसिन आफ एंशियन्ट इण्डिया पृ० १२८) ने इस तथ्य पर यह टिप्पणी की है कि चरक का आशय पादमूल की अस्थि के पीछे की ओर और नीचे की ओर के अवयवों से है अर्थात् इसके उस भाग से आशय है जिसको बाह्य ओर से देखा और जाना जा सकता है और जो सामान्यतः एड़ी के नाम से जाना जाता है।

दोनों पैरों की एडियाँ, (२) गुल्फौ[1] (द्विवचनान्त)—टखने की दो अस्थियाँ, (३) अंगुल्य (बहुवचन में)—अंगुलियाँ,[2] (४) उच्छलखौ (द्विवचनान्त अर्थात्

अथर्ववेद का भी यही धारणा हो सकती है। सुश्रुत गुच्छ (कूर्च) के रूप में इसकी वास्तविक प्रकृति को सम्भवत जानते थे, क्योंकि शारीर स्थान ६ में वे गुल्फ का कूर्च शिरस अथवा गुच्छ के शिर के रूप में वर्णन करते हैं परन्तु उन्होंने 'पार्ष्णि' की पृथक् रूप से गणना की है। हर्नले का विचार है कि 'पार्ष्णि' से सुश्रुत का आशय पादमूल अस्थि से है और इस प्रपदापास्थि समूह (कूर्च) का एक अंग नहीं मानते थे। यह अजीब बात है कि वाग्भट प्रथम ने प्रत्येक हाथ से एक एक पार्ष्णि सम्बद्ध करके एक अनोखा भ्रम उत्पन्न कर दिया (अष्टांग संग्रह २ ५ और हर्नले पृष्ठ ६१ ६६)।

[1] गुल्फ का आशय टांगों की दो अस्थियों के प्रवर्धों से है जो गुल्फिका (Malleoli) नाम से ज्ञात है। चरक और सुश्रुत द्वारा गुल्फों की संख्या चार गिनाई गई है। देखिए सुश्रुत के विभाजन पर हर्नले की टिप्पणी, हर्नले पृ० ८१ ८२ १०२ से १०४। सुश्रुत ३ ५ १९ में तलकूर्चगुल्फमश्रितानि दश आया है जिसकी व्याख्या डल्हण ने इस प्रकार की है। तल (५ शलाकाएं और उनकी प्रवधक एक अस्थि)—६ अस्थियाँ, कूर्च—२ अस्थियाँ, गुल्फ—२ अस्थियाँ। हार्नले ने इसका गलत अर्थ लगाया, और यह समझकर कि डल्हण ने एक ही पैर के दो 'कूर्च' और दो 'गुल्फों' का वर्णन किया है, उन्होंने कई अनियमितताओं को प्रदर्शित किया है और सुश्रुत के पाठ का भिन्न अर्थ ही बताया है। इस सन्दर्भ में उसका 'वलय' का आभूषण अर्थ भी सही नहीं है, 'वलय' का अर्थ सम्भवत 'गोलाकार' है। यदि डल्हण का अनुसरण किया जाय तो उसका आशय यह हो सकता है कि प्रत्येक टांग में 'कूर्च' में दो अस्थियाँ हैं, और वे प्रत्येक टांग में एक 'गुल्फ' की एक वर्तुलाकार (वलयास्थि) अस्थि का निर्माण करती हैं। यदि ऐसा मान लिया जाय तो हर्नले ने इस विषय पर जो कुछ कहा है वह आलोचना की क्षति हो जाता है और उसका अधिकांश भाग सार हीन हो जाता है। विधायक अंगों अथवा सम्पूर्ण वलयास्थि के प्रसंगानुसार 'गुल्फ' दो होते हैं अर्थात् प्रत्येक टांग में एक एक। मेरे अर्थ के अनुसार सुश्रुत को यही ज्ञान था कि केवल दो अस्थियाँ में ही कूर्च निर्मित है, और सुश्रुत में ऐसा कोई स्थल नहीं है जो यह प्रदर्शित करे कि उसे अधिक का ज्ञान था। पदतल की अस्थि में पार्ष्णि, कूर्च शिरस और दोनों गुल्फों का समावेश होगा।

[2] चरक और सुश्रुत दोनों पोरों (पाणिपादांगुलि) की संख्या साठ बताते हैं जब वास्तविक संख्या केवल छप्पन ही है।

हाथ और पैर की)–करास्थियाँ और प्रपदास्थियाँ,[1] (५) प्रतिष्ठा आधार,[2] (६) अष्ठीवन्तौ (द्विवचनान्त)–घुटना की ढकनियाँ,[3] (७) जानुन संधि घुटना के जोड़,[4] (८) जंघे (द्विवचनान्त)–टाँगें,[5] (९) श्रोणी (द्विवचनान्त)–वस्ति

---

[1] चरक ने इन करभास्थियों और प्रपदास्थियों (पाणिपादांगुलि) की संख्या बीस दी है जो वास्तविक संख्या है। सुश्रुत ने उनका उल्लेख 'तल' संज्ञा के अन्तर्गत किया है, उनके द्वारा प्रयुक्त यह एक विशेष संज्ञा है। उनके समस्त पद तल-कूर्च गुल्फ के अन्तर्गत अंगुलियों की अस्थियों के अतिरिक्त हाथ और पैर की सारी अस्थियों का समावेश होता है।

[2] चरक ने 'पाणिपादशलाकाधिष्ठान' पद का, याज्ञवल्क्य ने 'स्थान' का और सुश्रुत ने 'कूर्च' का प्रयोग किया है। प्रतीत होता है कि चरक ने इसको एक अस्थि ही माना है। 'कूर्च' का तात्पर्य (१) मांस (२) शिरा (३) स्नायु और (४) अस्थि के जाल (मांस शिरास्नाय्वस्थिजालानि) से है। इन चारों प्रकार के ये सारे जाल हाथ और पैरों की संधियों में विद्यमान हैं।

[3] हुनले का कथन है कि अथर्ववेद में 'अष्ठीवत्' और 'जानु' पर्यायवाची हैं परन्तु १० २ २ का पाठ उनकी गणना स्पष्टतः पृथक् रूप से करता हुआ प्रतीत होता है। 'अष्ठीवत्' सम्भवतः जानुफलक की अस्थि है। चरक ने 'जानु' और कपालिका शब्दों का प्रयोग सम्भवतः घुटने की ढकनी (जानुफलक) और 'कुहनी पुटक' (कपालिका) के अर्थ में प्रयोग किया है। 'कपालिका' का अर्थ एक 'छोटा छिछला पात्र' होता है और यह साम्य कुहनी के पुटक की रचना में उपयुक्त है। सुश्रुत ने 'कूर्पर' (कुहनी की पुटक) शब्द का प्रयोग शारीर स्थान ५ १९ में अस्थियों की सामान्य सूची में नहीं किया है अपितु 'शारीर' ६ २५ में 'मर्मों' की गणना के समय किया है।

[4] यह अष्ठीवत् (घुटने की ढकनी) से भिन्न प्रतीत होती है।

[5] टाँग की प्रजंघिका और उपजंघिका अस्थि। चरक, भेल, सुश्रुत और वाग्भट प्रथम ने इस अवयव को दो अस्थियों से निर्मित ठीक ही बताया है। अथर्ववेद ने उन अस्थियों से निर्मित ढाँचे को ठीक ही एक चतुष्टय आकार बताया है जिसके सिरे एक दूसरे से सहत हैं (चतुष्टय युज्यते संहितान्तम्)। इनसे मिलती जुलती अग्र बाहु (अरत्नि) की दो अस्थियों–बहिःप्रकोष्ठास्थि और अन्तःप्रकोष्ठास्थि–की गणना चरक द्वारा ठीक की गई है। यह पर्याप्त विलक्षण बात है कि सुश्रुत ने उनका उल्लेख अस्थि सूची में नहीं किया है। इस सन्दर्भ में 'बाहु' को नहीं गिना गया है।

कुहर,[1] (१०) ऊरु (द्विवचनात)—जाघो की अस्थिया,[2] (११) उरस[3]—वक्ष स्थल की

---

[1] चरक ने वस्ति कुहर की दो अस्थिया अर्थात् दोना ओर की अनामी अस्थिया का उल्लेख किया है। आधुनिक शारीरज्ञा का मत है कि प्रत्येक अनामी अस्थि तीन पृथक अस्थियो से 'श्रोणि फलक अस्थि का ऊपरी भाग, 'आसनास्थि' है, निचला भाग और जघनास्थि, अन्य अनामी अस्थि से जुडा हुआ भाग निर्मित है। यद्यपि शिशु देह मे श्रोणि फलक और आसनास्थि ये दो अस्थियाँ होती हैं फिर भी युवावस्था मे एक हड्डी के रूप मे आपस मे मिल जाती है, और इस दृष्टिकोण से श्रोणि फलक और आसनास्थि इन दोना का एक ही मानना न्यायसगत है। चरक ने इनके अतिरिक्त एक पृथक भगास्थि की भी गणना की है। उन्होने सम्भवत (जसा हनले ने दर्शाया है) त्रिकास्थि को और अनुत्रिक अस्थि को एक अस्थि ही माना है जो पृष्ठकश का एक भाग है भगास्थि' से उनका आशय जघन अस्थि से है, क्योकि चक्रपाणि ने 'भगास्थि' की व्याख्या करते हुए इसको अभिमुखक टिसधानकारक तियगस्थि (कूल्हे की सामने की अस्थिया को परस्पर मिलाने वाली तियक अस्थि) बताया है। फिर भी सुश्रुत ने पाँच अस्थिया की गणना की। चार गुद भग, नितब मे और एक त्रिक मे। नितम्ब चरक के दो 'श्रोणि फलको' के तुल्य हैं, 'भग भगास्थि अथवा जघन अस्थि के, गुद त्रिक अस्थि के और 'त्रिक' त्रिकोणमयी पृष्ठवश की उपान्त्य अस्थि के तुल्य है। सुश्रुत का चरक से मुख्य भेद यह है कि जहाँ चरक पृष्ठ त्रिक और अनुत्रिक अस्थिया को पृष्ठवश के भाग के रूप मे एक अस्थि मानते हैं वहा सुश्रुत उनको दो अलग अस्थिया मानते हैं और उनको पृष्ठवश से पृथक रूप म मानते हैं। वाग्भट ने त्रिक और गुद' को एक अस्थि माना है, परन्तु इसे वह मेरुदड से पृथक रखते हैं।

[2] चरक, सुश्रुत और वाग्भट प्रथम इसको ठीक ही प्रत्येक टाग मे एक अस्थि ही मानते हैं। चरक ने इसे ऊरुनलक की सज्ञा दी है।

[3] चरक ने वक्ष मे चौदह अस्थिया गिनाई हैं। भारतीय 'शारीरज्ञ कोमलास्थि को नई अस्थिया (तरुणास्थि) मानते थे। वक्षोस्थि के प्रत्येक ओर कुल दस पसलिया के किनारे की कोमलास्थियाँ हैं। परन्तु आठवी, नवी और दसवीं कामलास्थिया सातवी से सयुक्त हैं। अब यदि सातवी, आठवी नवीं और दसवीं कोमलास्थियो को एक अस्थि माना जाय तो वक्षोस्थि के प्रत्येक ओर कुल सात अस्थिया होती हैं। इस प्रकार हमे कुल सख्या चौदह प्राप्त होती है, जिनकी गणना चरक ने की है। चरक ने वक्षोस्थि को पृथक से नही गिना है। उनके मत मे यह एक दूसरे से अटूट रूप से सम्बद्ध पसली के सिरे को कोमलास्थि की शृ खला का परिणाम है। सुश्रुत और वाग्भट प्रथम ने 'उर' की आठ अस्थियो की गणना की है और इसका कारण नही बताया जा सकता है। सुश्रुत की दस अस्थिया का हनले का

अस्थियां, (१२) ग्रीवा[1] (बहुवचनात)–वायु नलिका, (१३) स्तनौ (द्विवचनात)[2]–स्तन

काल्पनिक पुन स्थापन सही नहीं प्रतीत होता है। तथापि याज्ञवल्क्य की गणना के अनुसार ये सत्रह हैं अर्थात् उन्होंने वक्षोस्थि का और प्रत्येक पार्श्व की किनारे की आठवीं कामलास्थि का चरक की चौदह अस्थियों में और जोड़ दिया है, ये तीनों अस्थियां चरक की संख्या में सम्मिलित ही हैं। हर्नले का विचार है कि याज्ञवल्क्य की संख्या ही चरक संहिता में वास्तविक पाठ था परन्तु उसका तर्क मुश्किल से ग्राह्य है।

[1] वायु नलिका स्वरयन्त्र, टेंटुआ और दो श्वसनियां इन चार भागों से निर्मित है। भी एक अस्थि नहीं है अपितु कामलास्थि है परन्तु फिर भी भारतीय शारीरज्ञों ने इसकी गणना अस्थि रूप में ही की है यथा चरक ने इसे 'जत्रु' की और सुश्रुत ने इसे 'कण्ठनाडी' की संज्ञा दी है। हर्नले ने सफलतापूर्वक यह प्रदर्शित कर दिया है कि चिकित्सा सम्बन्धी पुस्तकों में 'जत्रु' शब्द 'वायु नलिका' या सामान्यत गर्दन के पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त होता था। हर्नले का कथन है कि मूलत इस शब्द से ग्रीवा और वक्ष स्थल के कोमलास्थि सम्बन्धी भागों (वायु नलिका और तटीय नवास्थियां) का बोध होता था जैसाकि शतपथ ब्राह्मण के 'तस्माद् इमा उभयत्र पशवो बद्धा कीकसासु च जत्रुषु (पसलियां बाह्य किनारे पर वक्ष प्रदेशीय रीढ़ की हड्डी में और आभ्यन्तर किनारे पर किनारे की नवस्थियां–जत्रु से जुड़ी है) में देखने को मिलता है। चिकित्सा ग्रन्थों में इस शब्द का अर्थ गले के नवास्थि सम्बन्धी भाग अर्थात् ग्रीवा से है (चरक) और इसलिए इसका प्रयोग या तो सामान्यत गर्दन के लिए या फिर गले के मूल में वर्णोग्रवेय अस्थियों के लिए किया गया है (सुश्रुत)। केवल छठी अथवा सातवीं शताब्दी ई० पू० से ही शरीर सम्बन्धी सन्धि' और अस शब्दों के अशुद्ध अर्थ लगाने के कारण ही इसका अर्थ हंसली लगाया जाने लगा। देखिए हर्नले कृत स्टडीज इन द मेडिसिन आफ ऐन्शेन्ट इण्डिया, पृ० १६८।

[2] पार्श्वयोश्चतुर्विंशति पार्श्वयास्तावन्ति चैव स्थालकानि तावन्ति चैव स्थालकार्बुदानि अर्थात् पार्श्व (पसलियों) में चौबीस अस्थियां होती हैं। चौबीस स्थालक (सपुट) होते हैं और चौबीस स्थालकार्बुद (गुलिकायें) होते हैं। सुश्रुत के कथनानुसार प्रत्येक ओर छत्तीस पसलियां होती हैं। पसली में एक छड़ और एक शिर होता है, 'इन दो भागों के सन्धि स्थल पर एक गुलिका होती है जो सम्बद्ध रीढ़ की हड्डियों के अनुप्रस्थ प्रवर्धों से सम्बन्ध जोड़ती है और सम्भवत यह गुलिका ही अर्बुद है। निस्सन्देह पसलियां चौबीस हैं। स्थालकों और 'अर्बुदों' को वस्तुत पृथक अस्थियों के रूप में नहीं गिना जा सकता परन्तु यदि उन्हें अस्थियों में गिन भी लिया जाय तो जैसाकि हर्नले ने प्रदर्शित किया है अस्थियों की कुल संख्या

(१४) वफाहौ[1] (द्विवचनात) कधे का पत्ता, (१५) स्कन्धाद (बहुवचनात)[2] कधे की अस्थियाँ, (१६) पृष्टि (बहुवचनात)[3]–रीढ की हड्डी (१७) असो

---

६८ होनी चाहिए, न कि ७२, क्योंकि सबसे नीचे की दो पसलियों में गुलिकायें नहीं है।

[1] 'कफोड' का अर्थ सम्भवत अंस फलक है। चरक ने असफलक का प्रयोग किया है। चरक ने दो अन्य शब्द 'अक्षक' (हसुली) और अस का प्रयोग किया है। जैसाकि हनले ने प्रदर्शित किया है अस शब्द अशुद्ध पाठ प्रतीत होता है, क्योंकि वास्तव में केवल दो ही अस्थियाँ हैं कफाड और हसुली। परन्तु क्या उसका अर्थ असफलक का असकूट नहीं हो सकता ? यद्यपि सुश्रुत ने शारीर ५ मे अस्थियों की गणना करते हुए कधे के परे को छोड दिया है (इसके लिए पद है अक्षक सन्धे), तो भी वह शारीर ६ २७ में 'असफलक' का नाम लेते हैं और उसको त्रिकोणात्मक (त्रिकसबद्धे) बताते हैं और इस शब्द की डल्हण ने ग्रीवायाः असद्वयस्य च य सयोग स त्रिक ऐसी अशुद्ध व्याख्या की है। हसुली और ग्रीवा का सधिस्थल त्रिक नहीं कहा जा सकता है।

[2] चरक ने गर्दन में पन्द्रह अस्थियाँ गिनी हैं। आधुनिक शारीरज्ञों के अनुसार उनकी सख्या केवल सात ही है। सम्भवत उन्होंने अस्थियों के तियक प्रवर्धों को गिन लिया था और इस प्रकार चौदह की सख्या प्राप्त की, जिसमें उन्होंने पृष्ठवश को एक अस्थि मानकर और जोड दिया।

सुश्रुत ने नौ अस्थियों की गिनती की है। सातवीं अस्थि में कशेरुका कटक और तियक प्रवध सम्मिलित हैं और इसलिए उन्होंने उन्हें सम्भवत तीन अस्थियाँ मानकर गणना की इन तीनों का अन्य छः के साथ सन से कुल सख्या नौ हो जाती है।

[3] चरक न रीढ की हड्डी (पृष्ठगतास्थि) मे हड्डियों की सख्या तैतालीस बताई है जबकि वास्तविक सख्या केवल छब्बीस ही है। प्रत्येक अस्थि के चार भाग–मुख्य अस्थि, कशेरुकाकटक और दो अनुप्रस्थ प्रवर्धन होते हैं चरक ने उन सबको चार अस्थियाँ ही गिना है। सुश्रुत ने मुख्य अस्थि और कशेरुकाकटक का एक ही अस्थि और दो तियक प्रवर्धों को दो अस्थियाँ माना है इस प्रकार चरक की चार अस्थियों के स्थान पर सुश्रुत ने तीन अस्थियाँ मानी हैं। चरक के अनुसार बारह वक्षीय कशेरुकाओं के मुख्य प्रवर्धनों और कशेरुकाकण्टकों की गणना से चौबीस की सख्या आती है पाच कटि कशेरुकाओं (मुख्य अस्थि कशेरुकाकटक दो प्रवध) से बीस की सख्या आती है। इस सख्या में उसने त्रिक और अनुत्रिक का एक अस्थि मानकर जोड दिया है, और इस प्रकार कुल सख्या पैंतालीस कर दी है, सुश्रुत मे हमे बारह वक्षप्रदेशीय कशेरुकायें, छः कटि कशेरुकायें और बारह अनुप्रस्थ प्रवध

(द्विवचनात)[1] हसलिया, (१८) ललाट मस्तक, (१६) क्काटिका[2]–मुख की मध्य अस्थि, (२०) हनु-चित्य –जबडे, (२१) कपालम्[4]–कनपटी सहित खापडी।

अर्थात् कुल तीस अस्थिया मिलती हैं। कीकस' (अ० वे० २ ३३, २) शब्द का अर्थ सम्पूर्ण मेरदण्ड है, 'अनुक्य' (अ० वे० २, ३३ २) का अर्थ मेरदड का वक्षप्रदेश है और उदर' का अर्थ 'धड का निचला भाग है।

[1] चरक और सुश्रुत दोनो ने इस 'अक्षक' की सज्ञा दी है और इनका दो अस्थिया ठीक ही गिना है। चक्रपाणि ने इसका वर्णन अक्षविवक्षको जत्रुसधे कीलकौ' किया है (उन्हे अक्षक इसलिए कहा गया है कि वे दो शलाकाओ (ग्रीवा अस्थिया के सधि स्थलो का बाधने वाली कीला) के समान है।

आगे सुश्रुत ने 'असपीठ' (अस उलूखल जिसमे प्रगण्डास्थि का ऊपरी सिरा फसा रहता है) को समुद्ग (पिटक) अस्थि की सज्ञा दी है। गुदास्थिया, भगास्थि एव नितम्बास्थि मे से प्रत्येक के जोड का समुद्ग' सज्ञा से वर्णन किया है। यही श्रेणि उलूखल या कुहर है जिसमे जघास्थि का शीर्षभाग स्थित है। (असपीठ गुदभगनितम्बेषु समुद्गा सुश्रुत, शारीर ५ २)।

[2] ललाट सभवत भौहो के ऊपर की उभरी हुई दो हड्डिया है और कृकाटिका' निचला भाग जिसमे चबाने के दात की और नाक की अस्थिया सहित ऊपरी जबडे की अस्थि का मुख्य भाग भी सम्मिलित है। चरक ने चबाने के दातो की दो अस्थियो (गण्डकूट) नाक की दो अस्थिया और भौहो के ऊपर की दो उभरी हुई हड्डिया को एक ही अटूट (अभिन्न) अस्थि (एकास्थि नासिकागण्डकूटललाटम्) माना है।

[3] चरक के अनुसार केवल निचले जबडे की ही एक पृथक अस्थि के रूप मे गणना की गई है (एक हन्वस्थि) और दो बन्धना का दो अस्थिया गिना गया है (द्वे हनुमूल-बन्धने)। तथापि सुश्रुत ने ऊपरी और निचले जबडा का दो अस्थिया माना है (हन्वोर्द्वे)। यद्यपि वास्तव मे इनमे से प्रत्येक अस्थि मे दो अस्थिया है वे एक दूसरे मे ऐसी मिली हुई हैं कि उनको जैसाकि सुश्रुत माना है एक माना जा सकता है। चरक ने ऊपरी जबडे को नही गिना है अत उसने दत सम्पुट (दन्ता-लूखल) और कठोर तालु (तालुषक) की गणना की है। सुश्रुत की ऊपरी हनु' की गणना मे तालव्य प्रवध सम्मिलित नही है अत वह तालु को भी गिनते हैं (एक तालुनि)।

[4] 'शख' से कनपटियो का बोध होता है चरक और सुश्रुत दोनो ने इसकी सख्या दो बताई है। चरक ने खापडी की अस्थियो की गणना चार की है (चत्वारि शिर कपालानि) और सुश्रुत ने छ (शिरसिषट)। मस्तिष्क कोष मे आठ अस्थियां हैं। इनमे से दो आन्तरिक भाग मे हैं। अत केवल छ अस्थियाँ ही बाहर से

अथर्ववेद और आयुर्वेद में शरीर के अवयव

हमारे पास ऐसे कोई प्रमाण नहीं हैं, जिनसे हम यह बलपूर्वक कह सकें कि अथर्ववेद मन्त्र के लेखक को उन विभिन्न अस्थियों की संख्या का ज्ञान था जिनका वह उल्लेख करता है, परन्तु ऐसा संभव प्रतीत नहीं होता कि मानव कंकाल के ध्यानपूर्वक अध्ययन बिना अस्थियों के विषय में किया गया उल्लेख संभव हो पाता। यह निर्णय करना दुष्कर है कि यह अध्ययन शव छेदन की किन्हीं प्राथमिक विधियों द्वारा किया गया या नरयमान नवा के कंकाल के अध्ययन द्वारा किया गया। कई अवयवों का भी वर्णन है यथा हृदय, फेफड़ा (क्लोम)[1] पित्ताशय

दृष्टिगोचर होती है। इनमें से कनपटी की दो अस्थियों की 'शंख' नाम से ही गणना की जा चुकी है इस प्रकार चार अस्थियाँ ही शेष रहती हैं। सुश्रुत ने ललाटिका, पार्श्विका और पश्च कपालिका अस्थियों को दो दो अर्ध भागों में विभक्त किया है और उनको पृथक पृथक अस्थियाँ माना है, और इस प्रकार वह छः की संख्या पर पहुँचते हैं। वस्तुतः ललाटिका और पार्श्विका दोनों अस्थियों में से प्रत्येक दो दो अस्थियों से निर्मित है, जो उत्तरावस्था में संयुक्त हो जाती है।

यद्यपि लेखक का डा० हनले से प्रायः मतभेद रहा है फिर भी वह इस अध्याय के इस विशिष्ट भाग को लिखने में उनकी पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या एवं समालोचना के लिए वह अत्यन्त ऋणी है।

[1] चरक ने 'क्लोम' की गणना हृदय के पार्श्ववर्ती अवयव के रूप में की है, परन्तु उन्होंने फुप्फुस को नहीं गिना है। दूसरे स्थल (चिकित्सा १७ ३४) पर उन्होंने 'क्लोम' का वर्णन हिचकी (हिक्का) से संबद्ध अवयव के रूप में किया है (हृदयं क्लोम कण्ठं च तालुकं च समाश्रिता मृद्वी सा क्षुद्र हिक्केति नृणां साध्या प्रकीर्तिता)। चक्रपाणि ने इसका वर्णन पिपासा स्थान संज्ञा से किया है। परन्तु वह चाहे जो हो, चूंकि चरक हिक्का के सम्बन्ध में इसके महत्व को समझते थे और चूंकि उन्होंने 'फुप्फुस' (फेफड़ा–महाव्युत्पत्ति, १००) का उल्लेख नहीं किया है इसलिए उनके मत में 'क्लोम' का आशय 'फेफड़े' के दो अवयवों में से एक से अवश्य होगा। सुश्रुत ने फुप्फुस का बाईं ओर होना एवं 'क्लोम' का दाईं ओर होना बताया है। क्योंकि दोनों फेफड़े आकार में भिन्न होते हैं, अतः यह संभव है कि सुश्रुत ने बायें फेफड़े को 'फुप्फुस' और दायें को 'क्लोम' की संज्ञा दी हो। वाग्भट प्रथम ने सुश्रुत का अनुसरण किया है। अथर्ववेद, चरक, सुश्रुत, वाग्भट और अन्य आचार्यों ने इस शब्द का एकवचनान्त प्रयोग किया है परन्तु बृहदारण्यक १ में 'क्लोम' शब्द का बहुवचनान्त प्रयोग है, और इस पर भाष्य करते हुए, शंकर का कथन है कि यद्यपि 'क्लोम' एक ही अवयव है, फिर भी इसका प्रयोग सदा बहुवचनान्त होता

(हलीक्षण),[1] गुर्दे (मत्स्नाभ्याम्),[2] यकृत् (यक्न),[3] प्लीहा, पेट और छोटी आंत (आन्त्रेभ्य) गुदा और उसके ऊपर का भाग (गुदाभ्या), बडी आंत (वनिष्ठु सायण के द्वारा 'स्थविरान्त्र' नाम से व्याख्यात), उदर, बद्धनाली से उत्तर गुदा तक का भाग (प्लाशि), नाभि, मज्जा (मज्जाभ्य), शिराएँ (स्नावभ्य) और धमनियाँ

है (नित्यबहुवचनान्त)। तथापि यह कथन अशुद्ध है क्योंकि सारे आचार्य इस शब्द को एकवचनान्त प्रयोग करते हैं। हृदय के बायें पार्श्व मे इसके स्थित होने का वर्णन (क्लोम च क्लोमानश्च हृदयस्याधस्ताद्दक्षिणोत्तरौ मासखण्डौ—छा० १, १—शाकर भाष्य) सुश्रुत के निर्णय के प्रतिकूल है जिन्होने उसे हृदय के उसी ओर रखा है जिस ओर यकृत् है। भाव प्रकाश' मे इसको नाडियो का उद्गम कहा गया है जहाँ पानी लाया जाता है या बाहर निकाला जाता है। 'क्लोम' का श्वसन अवयवो की प्रणाली का एक अग होना इस बात से भी सिद्ध होता है कि इसको अन्य पार्श्ववर्ती अवयवो यथा कण्ठ और तालुमूल, से प्राय सबद्ध किया गया है। अत चरक ने कहा है 'उदकवहाना स्रोतसा तालुमूल क्लोम च जिह्वाताल्वोष्ठ-क्लोमशोष-दृष्ट्वा (विमान ५ १०)। शारङ्गधर १ ५ ४५ में इसको यकृत के समीपस्थ एक जलवाही ग्रन्थि (शिरामूल) बतलाया है (जलवाहि शिरामूल तृष्णा-च्छादनक तिलम्)।

[1] यह शब्द चिकित्सा साहित्य मे नही आया है। सायण ने इसका एतत्सेनकात् तत्सम्बन्धात् मास पिण्डविशेषात् ऐसा वर्णन किया है। पहचान करने के लिए यह तो बिल्कुल व्यर्थ ही है। वेबर का विचार है कि इसका अर्थ 'पित्त' हो सकता है (इण्डिश स्टडीन १३ २०६)। मेक्डानेल इसे कोई विशिष्ट आँत मानते हैं (वेदिक इण्डेक्स खड २ पृ० ५००)।

[2] सायण ने मत्स्नाभ्याम् की व्याख्या 'वृक्याभ्याम्' से की है। चरक का पाठ वुक्क है। सायण ने एक वैकल्पिक व्याख्या यह दी है मत्स्नाभ्याम् उभयपार्श्वसबधाभ्या कुक्ष्याभ्या तत्समीपस्थपित्ताधारपात्राभ्याम्।' यदि यह व्याख्या स्वीकार कर ली जाय तो मत्स्ना का अर्थ होगा 'गुर्दों' के समीपस्थ पित्त की दो थैलियाँ। इस व्याख्या के अन्तर्गत दो मत्स्ना सभवत पित्ताशय और पाचक रस की थैली हो सकती हो जिनमे दूसरी को अपने स्राव के कारण शायद दूसरा 'पित्ताधार' मान लिया गया हो।

[3] सायण ने प्लाशि की इस प्रकार व्याख्या की है 'बहुच्छिद्रा मलपात्रात् अनेक छिद्रो वाला मलपात्र। ये छिद्र सम्भवत मलाशय (मलपात्र) के अन्दर की ग्रन्थियो के मुख विवर हैं। शतपथ ब्राह्मण १२, ९ १, ३ मे इन सब अवयवो की गणना विशेष देवताओ के लिए पवित्र रूप मे और यज्ञ उपकरणो के रूप में की

(धर्मानिम्य)।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि अथर्ववेद मन्त्रों के रचयिताओं को वे सारे महत्त्वपूर्ण अवयव ज्ञात थे जिनका परवर्ती आत्रेय चरक शाखा या सुश्रुत शाखा ने उल्लेख किया है।[2]

वोलिंग ने इस प्रश्न को उठाया है कि क्या अथर्ववेद कालीन पुरुषों को सिरा और धमनी का अन्तर ज्ञात था, और उसका कथन है कि १ १७ ३ में वर्णित शिरा और धमनी में प्रतीयमान अन्तर का इन्हीं शब्दों के ७ ३५ २ में आना, यानि आदि के द्योतक आन्तरिक स्रोतों के अधिक सामान्य अर्थ में व्यवहार के कारण निराकरण हो जाता है—जो यह प्रदर्शित कराते है कि ऐसे विषयों पर उनके विचार कितने अस्पष्ट थे।[3] परन्तु यह सही नहीं है, क्योंकि १ १७ ३ में कोई ऐसी बात नहीं है जिससे 'सिरा' और 'धमनी' का आधुनिक अर्थों में उनके अन्तर के ज्ञान का ऐसा आभास हो जैसा (७ ३५ २) में नहीं मिलता है। सूक्त १ १७ आघातज व रक्त-स्राव या स्त्रियों के अत्यधिक रुधिरास्रव को रोकने के लिए मन्त्र है। क्षत अंग पर थोड़ा रास्ते की धूल का डाला जाता था और मन्त्र का उच्चारण किया जाता था। १ १७ १ में यह कहा गया है 'स्त्री के लाल कपड़े (अथवा रक्त पात्र) धारण करने वाली वे 'हिराएं' (सिराएं) जो सदा बहती रहती हैं भ्रातृहीन कन्याओं के समान हतोत्साह रहें।'[4] अगले मन्त्र १ १७ २ की व्याख्या करते हुए सायण का कथन है कि यह

गई है—हृदयमेवास्यैन्द्र पुरोडाश, यकृत् सावित्र, क्लोमा वारुण, मतस्ने दवास्या इवत्य च पात्रमौदुम्बर च पित्त नयग्रोधमन्त्राणि स्थाल्य गुदा उपाशयानि श्येनपात्रे प्लीहासन्दी नाभि कुम्भो वनिष्ठु प्लाशि शतातृण्णा तद्यत् सा बहुधा वितृण्णा भवति तस्मात् प्लाशिबहुधा विकृत। वस्ति' को 'मूत्राशय' माना गया (अ० वे० १ ३ ७)।

[1] सायण का कथन है कि यहाँ 'स्नाव' का अर्थ 'सूक्ष्म सिराएं', और धमनी' का अर्थ मोटी शिराएं' है—सूक्ष्म शिरा स्नावशब्देन उच्यन्ते धमनिशब्देनस्थूला (अ० वे० २ ३३)।

[2] अ० वे० १०, ६ से यह पता लगता है कि शायद पशुओं का शव-च्छेद भी प्रचलित था। गाय के अधिकांश अवयवों का वर्णन मिलता है। मानव प्राणियों के उपयुक्त अवयवों के साथ साथ दो अन्य अवयवों हृदयावरण (पुरीतत्) और श्वास नलिकाएँ (सहकण्ठिका) का वर्णन भी मिलता है। —अ० १० ■ १५।

[3] एनसाइक्लोपीडिया आफ रिलिजन एण्ड एथिक्स 'रोग और औषधि वैदिक'।

[4] सायण ने 'हिरा' की व्याख्या 'शिरा' की है और उसका वर्णन रजोवाहिनी नाडी (रजोवहननाड्य) के रूप में, तथा विशेषण लोहितवाससा का वर्णन या तो 'लाल वस्त्रधारिणी' या 'लाल' या 'रक्त पात्र' के रूप में (रुधिरस्यनिवासभूता) किया है।

'धमनी' का स्तवन है। यह मन्त्र इस प्रकार है 'अधराग की तू (सायण के कथनानुसार तू शिरा) निवृत्त हो जा (अर्थात् जैसा सायण का कथन है रुधिर छोड़ना बन्द कर दे') इसी प्रकार ऊपरी अंग की तू निवृत्त हो जा इसी प्रकार तू मध्यभाग की तू निवृत्त हो जा, इसी प्रकार तू सूक्ष्म और तू स्थूल धमनी निवृत्त हो जा।' तीसरे मन्त्र में हिरा और 'धमनी' दोनों का वर्णन है। मध्य में स्थित ये पहले सौ धमनियों और हजारों शिराओं के बीच (रक्त स्राव कर रही) थी (और उसके बाद) अन्य सब नाड़िया (जो नाड़िया रक्त स्राव बन्द कर चुकी हैं, उन दूसरी नाड़ियों के साथ) खेल रही थीं।[1] सूक्त ७ ३५ स्त्री को ऐसी सन्तान रोकने के लिए है जो शत्रु हो। तीसरे मन्त्र में कहा है 'मैं पत्थर से सौ हिराओं और सहस्र धमनियों का मुख विवर बन्द करता हूँ। इसकी व्याख्या करते हुए सायण का कथन है कि हिराएँ गर्भाशय के अन्दर की सूक्ष्म नाड़ियां हैं (गर्भाशयधारणायमन्तरवस्थिता सूक्ष्म या नाड्य) और धमनियां गर्भाशय के चारों ओर की स्थूल नाड़ियां हैं जो उसे स्थिर रखती हैं (गर्भाशयस्यावष्टम्भिका बाह्या स्थूला या नाड्य)। इस मन्त्र और सूक्त १ १७ के मन्त्रों में केवल मात्र अन्तर यह है कि इस मन्त्र में शिराएं सौ और धमनियां सहस्र बताई गई हैं जबकि सूक्त १ १७ में 'धमनियां सौ और धाराएँ सहस्र बताई गई हैं। परन्तु, यदि सायण की व्याख्या स्वीकार कर ली जाय, तो धमनियां बड़े स्रोत मानी जाएंगी और शिराएं सूक्ष्म स्रोत। 'नाडी' स्रोत का सामान्य नाम प्रतीत होता है। परन्तु अथर्ववेद में कहीं कोई ऐसा स्थल नहीं है जिससे यह आभास हो कि उस समय शब्दों के आधुनिक अर्थ में 'शिरा' और 'धमनी' का अन्तर ज्ञात था। अ० वे० १ ३ ६ में गुर्दों से 'मूत्राशय तक मूत्र को ले जाने वाली गविन्यौ नामक दो नाड़ियों का उल्लेख हमें मिलता है।[2] ऐसा कहा गया है कि आठों दिक्पाल और अन्य देवताओं

---

[1] पूर्व मन्त्र में शिरा का 'रक्त छोड़ने वाली' के रूप में उल्लेख है जबकि इस मन्त्र में धमनी द्वारा वही कार्य किए जाने का उल्लेख है। सायण ने भी धमनी की शिरा के रूप में निर्बाध रूपेण व्याख्या की है (मही महती स्थूलतरा धमनि शिरा तिष्ठादितिष्ठत्येव अनेन प्रयोगेण निवृत्तरुधिरस्रावावतिष्ठताम्)।

[2] यहाँ धमनी और 'हिरा' की गणना की गई है। सायण का कथन है कि धमनियां हृदय में महत्वपूर्ण नाड़ियां हैं (हृदयगताना प्रधाननाडीनाम्) और 'हिरा' या 'शिरा' शाखा नाड़ियां हैं (शिराणा शाखानाडीनाम्)। यहाँ दिए अनुसार धमनियों की संख्या सौ है और यह सादृश्य कठोपनिषत् ६ १६ में दी हुई हृदय की नाड़ियों की संख्या से लगभग मेल खाती है (शत चैका च हृदयस्य नाड्य)।

प्रश्नोपनिषत् ३ ६ में भी नाड़ियों का उल्लेख है जिनकी सहस्र शाखाएं हैं।

[3] अन्त्रेभ्यो विनिर्गतस्य मूत्रस्य मूत्राशयप्राप्तिसाधने पार्श्वद्वयस्थ नाड्यौ गवीन्यौ इत्युच्यते–सायण भाष्य। १ ११ ५ में गवीनिका' नामक दो नाड़ियों का उल्लेख

ने गर्भ को रचा और प्रसव के देवता (सूषा) सहित उन्होंने गर्भाशय के बंधनों को ढीला करके प्रसव सुखावह बना दिया।[1] 'जरायु' शब्द का प्रयोग नाल के अर्थ में किया गया है, जिसके बारे में यह कहा जाता है कि इसका मांस और मज्जा से कोई घनिष्ट संबंध नहीं है, ताकि जब यह गिर जाती है तो इसे कुत्ते खा जाते हैं और शरीर को किसी प्रकार का आघात नहीं पहुँचता है। योनि पार्श्वों को फैलाने के द्वारा और दोनों 'गवीनिका' नाड़ियों को दबाने के द्वारा प्रसव के प्राथमिक उपचार का उल्लेख मिलता है।[2] स्नावों (स्नायुओं) का भी धमनियों के साथ उल्लेख किया गया है, और सायण ने उनकी व्याख्या सूक्ष्म शिराओं' के रूप में की है (सूक्ष्मा शिरा स्नावशब्देन उच्यन्ते)। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि धमनियों, शिराओं और स्नावों का विभाजन उनकी अपेक्षाकृत सूक्ष्मता पर आधारित है स्थूल नाड़ियां 'धमनियां' कहलाती थी, सूक्ष्म नाड़ियां शिराएं कहलाती थी और सूक्ष्मतर नाड़ियां 'स्नाव' कहलाती थी। उनके सामान्य कार्य न्यूनाधिक एक से ही माने जाते थे, यद्यपि इनका भेद संभवतः शरीर के उस स्थान एवं अवयव के अनुसार होता था जहाँ वे स्थित हैं तथा जिन अवयवों से वे सम्बद्ध हैं। यह स्वीकार कर लिया गया प्रतीत होता है कि शरीर के तरल तत्वों का एक सामान्य प्रवाह विद्यमान था। यह संभवतः चरक संहिता में वर्णित 'स्रोत' की धारणा के अनुरूप हो, और इसका विवेचन आगे चलकर किया जाएगा। इस प्रकार अ० वे० १० २ ११ में कहा गया है 'विभिन्न दिशाओं में व्याप्त सब ओर और मनुष्य में ऊपर और नीचे सब ओर दौड़ने वाली तीव्र, अरुण, लोहित एवं ताम्रधूम्र नदियों के रूप में प्रवाहमान को उसमें किसने स्थापित किया। इसमें शरीरस्थ विभिन्न तरल तत्वों के नानारूप प्रवाहों का स्पष्ट उल्लेख है। पुनश्च, शुक्र को जीवन तन्तु के रूप में ग्रहण किया गया है जिसका निर्माण होता रहता है।[3] हृदय और मस्तिष्क का घनिष्ट सम्बन्ध अस्पष्ट रूप से समझा गया प्रतीत होता है। अतः यह कहा गया है, 'अथर्वा ने अपनी सूई से उसके हृदय और मूर्धा को सी दिया

है और सायण ने उनका वर्णन योनि के दोनों तरफ स्थित प्रसव नियंत्रणकारी दो नाड़ियों के रूप में किया है (गवीनिके योने पार्श्ववर्तिन्यौ निर्गमनप्रतिबंधके नाड्यौ—सायण)। एक स्थल (अ० वे० २ १२ ७) में 'मन्य' नामक आठ धमनियों का वर्णन है और सायण का कथन है कि वे ग्रीवा के निकट हैं। 'सिकतावाही' नामक एक ऐसी नाड़ी का अ० वे० १ १७ ४ में वर्णन है जिस पर मूत्रकृच्छ्र आश्रित है।

[1] प्रसव की अन्य देवी, सुषाण्मी का भी आह्वाहन किया गया है।

[2] वि ते भिनद्मि वि योनिं वि गवीनिके। —अ० वे० १ ११ ५।

[3] को अस्मिन्रेतो न्यदधात् तन्तुरायततामिति (उसमें शुक्र को किसने यह कहते हुए धारण कराया कि जीवन तन्तु का निर्माण हो ? अ० वे० १० २ १७)।

है।'[1] सम्पूर्ण परकालीन साहित्य में उपलब्ध 'वायु सिद्धान्त' की ओर संकेत किया गया है और प्राण अपान व्यान और समान का वर्णन किया गया है।[2] तथापि यह अनुमान लगाना दुष्कर है कि इन प्राण अपान आदि का वास्तविक अर्थ क्या था। अथर्ववेद के एक अन्य स्थल में हम नौ प्राणों का उल्लेख मिलता है (नव प्राणान् नवभि ममिमीते), और एक अन्य में सात प्राणों का वर्णन है।[3] एक अन्य स्थल पर हमें तीन गुणों से आवृत एक नौ द्वारों वाले कमल का उल्लेख मिलता है।[4] इन्द्रियों के नव द्वारों का द्योतक यह शब्द उत्तरकालीन संस्कृत साहित्य में अत्यन्त परिचित है और हृदय की कमल से तुलना भी अत्यन्त सामान्य है। परन्तु इस स्थल के बारे में एक अत्यन्त रोचक बात यह है कि यह स्थल गुण सिद्धान्त का सीधा द्योतक प्रतीत होता है जिसकी विशद व्याख्या उत्तरकालीन सांख्य लेखकों के द्वारा हुई, इस सिद्धान्त का संभवतः यह प्राचीनतम उल्लेख है। जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है प्राण आदि के वास्तविक कार्य ठीक-ठीक ज्ञात नहीं थे, प्राण को एक महत्वपूर्ण शक्ति या जीवन माना

---

[1] मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत् (अ० वे० १० २ २६)। ग्रिफिथ का अनुवाद भी देखिए।

[2] को अस्मिन् प्राणमवयत् को अपानं व्यानमु उसमानमस्मिन् को देवेऽधि शिश्राय पुरुषे (किसने उसमें प्राण, अपान, व्यान और समान को बुना और कौन सा देवता उनका नियन्त्रण करता है ? अ० वे० १० २ १३)।

[3] सप्त प्राणानष्टौ मन्यस (अथवा मज्जस) तास्ते वृश्चामि ब्रह्मणा (अ० वे० २ १२ ७)। तैत्तिरीय ब्राह्मण १ २ ३ ३ में सात प्राणों का उल्लेख है सप्त वै शीर्षण्या प्राणा। अ० वे० १० २ ६ में भी सात इन्द्रियों का उल्लेख मिलता है कः सप्त खानि वितृतद शीर्षणि। अ० वे० १५ १५ १६ १७ में सात प्रकार के प्राण, अपान और व्यान का वर्णन है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये ब्रह्माण्डीय कार्यों का साधन करते हैं। सात प्राण हैं अग्नि आदित्य चन्द्रमा पवमान आप पशव और प्रजा। सात अपान हैं पौर्णमासी अष्टका अमावास्या, दीक्षा, यज्ञ और दक्षिणा। सात प्रकार के व्यान हैं भूमि अन्तरिक्ष, द्यौ, नक्षत्राणि ऋतव, आर्तवा और संवत्सरा।

[4] पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।
तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्म विदो विदु ॥
(ब्रह्मज्ञानी पुरुष उस पुरुष को आत्मा स्वरूप जानते हैं, जो तीन गुणों से आवृत नौ द्वार वाले कमल पुष्प में निवास करता है। (अ० वे० १० ८ ४३) उत्तरकालीन तन्त्र ग्रन्थों में अत्यधिक वर्णित इडा पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियां अथर्ववेद में दृष्टिगोचर नहीं होती हैं। अथर्ववेद में प्राणायाम का कोई उल्लेख नहीं है।

जाता था और इसे कष्ट और भय से परे माना जाता था। यह उसी प्रकार अमर था जैसेकि पृथ्वी और आकाश, दिन और रात, सूर्य और चन्द्र, ब्रह्म क्षत्रिय, सत्य और असत्य, भूत और भविष्यत्।[1] मृत्यु से रक्षा करने के लिए प्राण और अपान की प्रार्थना की गई है (प्राणापानौ मृत्योर्मा पातम् स्वाहा)।[2] अ० वे० ३ ७ ४ में 'मन' और 'चित्त' का पृथक पृथक् वर्णन है और सायण ने मन की व्याख्या अन्तःकरण अर्थात् आन्तरिक इन्द्रिय से की है और चित्त की व्याख्या 'मनस की एक विशेष वृत्ति (मनोवृत्तिविशेष), विचार, से की है।[3] यहाँ भी हृदय चेतना का आधार है। इस प्रकार ३ २६ ६ के एक मन्त्र में यह कहा गया है, हे मित्र और हे वरुण! इस स्त्री के हृदय (हृत्) से उसकी विचार शक्ति (चित्त) दूर कर दो और उसे विनिश्चय हीन करके, उसे मेरे आधीन कर दो।[4] जिस 'ओज' शब्द से हम चरक एवं अन्य आचार्यों के उत्तरकालीन चिकित्सा ग्रन्थों में सुपरिचित हैं वह अ वे० २ १८ में वर्णित है, जहाँ अग्नि का 'ओज' के रूप में वर्णन किया गया है और उपासक को 'ओज' प्रदान करने की प्रार्थना की गई है।[5]

अथर्ववेद में औषध प्रयोग

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, इस बात का प्रदर्शित करने वाले प्रमाण हैं कि अथर्ववेद काल में भी व्यावसायिक चिकित्सकों द्वारा शुद्ध चिकित्सा कर्म का पहले से

---

[1] अ० वे० २ १५।

[2] वही २ १६ १। एक अन्य स्थल में प्राण और अपान से आदमी में उसी प्रकार प्रवेश करने की प्रार्थना की गई है जैसे वृषभ गोष्ठ में प्रवेश करते हैं। सायण ने प्राण और अपान को शरीर धारक कहा है (अ० वे० ३, ११, ५)। उनसे शरीर न छोड़ने की अपितु वृद्धावस्थापर्यन्त अंगों को धारण करने की भी प्रार्थना की है।

[3] 'मन और चित्त' का अ० वे० ३, ६ ८ में पृथक पृथक गिना गया है।

[4] 'चित्तिन' शब्द का प्रयोग कभी कभी समान प्रकार से विचार करने वाले मनुष्यों के अर्थ में किया गया है (चित्तिन समानचित्तयुक्ता –सायण। (अ०वे० ३, १३, ५)।

[5] ओजोस्योजो मे दा स्वाहा (अ० वे० ११, १८ १)। सायण 'ओज' की व्याख्या करते कहते हैं 'ओज शरीरस्थितिकारणम् अष्टमोधातु।' उन्होंने एक उद्धरण दिया है जिसे वे आचार्यों द्वारा कथित बताते हैं 'क्षेत्रज्ञस्य तदोजस्तु केवलाश्रय इष्यते यथा' स्नेह प्रदीपस्य यथाभ्रमशनिरपि (जैसेकि दीपक तेल पर और तड़ित् मेघ पर आश्रित है ठीक उसी प्रकार 'ओज' केवल क्षेत्रज्ञ (आत्मा) पर आश्रित है)।

ही प्रचलन था। इस प्रकार मन्त्र २ ९ ३ का सायण की व्याख्यानुसार कथन है कि सकडा चिकित्सक (शत ह्यस्य भिषज) और सहस्रो वनौषधियाँ (सहस्रमुत वीरुध) विद्यमान थी, परन्तु जो इनके द्वारा करना सम्भव है वह इस मन्त्र विशेष के टोने सहित रक्षाकवच के बाधने से ही प्राप्त किया जा सकता है।[1] पुनश्च (२ ९ ५) अथर्वा को जो तावीज का बाधने वाला है सर्वोत्तम सुचिकित्सक (सुभिषक्तम) बताया गया है। मन्त्र ६ ६८ २ म प्रजापति से एक लडके का दीर्घायुष्य प्राप्ति क लिए (औषधि द्वारा) उपचार करने की प्रार्थना की गई है, प्रजापति का, ऐसा प्रतीत होता है, आत्रेय चरक शाखा म आयुर्वेद का आदि गुरु माना गया है और उसने इस विद्या को ब्रह्मा से ग्रहण किया।[2] कौशिक सूत्र मे व्याधि का लिंगी, अर्थात् चिह्न (लिंग) वाला, कहा गया है और औषधि (भैषज्य) को इसका नाशक (उपताप) कहा है। दारिल का कथन है कि यह 'उपतापकम न केवल व्याधि के सन्दर्भ मे ही प्रयुक्त हुआ है अपितु उसक लिंगो' के सन्दर्भ मे भी अर्थात् 'भपज्य' वह है जो व्याधि और लिंगो का नाशक हो।[3] स्वय अथर्ववेद मे केवल कुछ औषधियो का ही वर्णन है, यथा जंगिड (१९ ३४ और ३५) गुल्गुलु (१९ ३८) कुष्ठ (१९ ३९) और 'शतवार' (१९ ३६) और ये सब न केवल कुछ निश्चित बीमारियो से रक्षाकवच अपितु शत्रु के जादू (कृत्य) से भी रक्षा करने के लिए रक्षाकवच के रूप मे प्रयोग करने के लिए हैं। इन वनौषधियो का प्रभाव वसा ही आश्चर्यजनक था जैसाकि केवल मन्त्र तन्त्रो का होता था। उनका प्रभाव साधारण चिकित्सा साहित्य मे निर्दिष्ट औषधियो के प्रभाव के समान नहीं था, अपितु एक अति प्राकृतिक प्रकार का था। जो सूक्त जादू मात्र ही प्रतीत होते हैं उनमे से अधिकाश के बारे मे कौशिक सूत्र मे भिन्न-भिन्न औषधियो का आन्तरिक रूप मे अथवा रक्षाकवच के रूप मे प्रयोग करने का निर्देश है। अथर्वा की सर्वोत्कृष्ट चिकित्सक के रूप में और मन्त्रो की अन्य चिकित्सको द्वारा निर्दिष्ट अन्य औषधियो से श्रेष्ठतर होने के रूप मे प्रशसा से एक ऐसे काल का सकेत मिलता है जब इन आथर्वण जादू टोना में से अधिकाश का

---

[1] शत या भेषजानि ते सहस्र सगतानि च।
श्रेष्ठमास्रावभेषज वसिष्ठ रोगनाशनम्॥
(हे रोगी! तुमने सैकडा हजारा औषधियो का प्रयोग किया हो, परन्तु यह मन्त्र तुम्हारे रक्तस्राव को रोकने के लिए सर्वोत्तम दवा है (अ० वे० ६ ४५ २)। सूक्त २ ९ ३ के समान यहाँ पर भी मन्त्र के उच्चारण को अन्य औषधियो और भेषजो के प्रयोग की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली बताया है। घावो को धोने के लिए जल का प्रयोग किया जाता था (६ ५७ २)।

[2] चिकित्सतु प्रजापतिर्दीर्घायुत्वाय चक्षसे (६ ६८ २)।

[3] कौशिक सूत्र पर दारिल की टीका २५ २।

प्रयोग एक ऐसी चिकित्सा प्रणाली के रूप में हो रहा था जो वनौषधियों द्वारा चिकित्सा करने वाले सामान्य चिकित्सकों के व्यवसाय से स्पर्धा कर रही थी। 'कौशिक सूत्र' का काल एक ऐसा काल था जब वनौषधियों का महत्व अधिकाधिक अनुभव किया जाने लगा था और उनका प्रयोग परम्परागत आथर्वण टोनों के साथ साथ किया जा रहा था। मन्त्र प्रणाली एवं औषध प्रणाली के बीच सामंजस्य स्थापित करने की ओर यह सम्भवतः एक कदम था। कुछ वनौषधियां, यथा जंगिड, कुष्ठ इत्यादि, की प्रशंसा में कहे गए विभिन्न सूक्त यह प्रदर्शित करते हैं कि वनस्पतियों के चिकित्सा सम्बन्धी गुणों की उसी चमत्कारिक ढंग से व्याख्या की जाने लगी थी जिस प्रकार मन्त्र प्रभावशाली होते थे। दूसरी ओर भेषज शाखा भी अथर्व वेद से प्रभावित हुई और उसे अपना आदिस्रोत मानने लगी। उत्तरकालीन चिकित्सा साहित्य भी अपने आपको मन्त्रों की प्रभावशालिता एवं अतिप्राकृतिक तथा चिकित्सेतर प्रकार से प्रभावशाली औषधों की चमत्कारिणी शक्ति के प्रति अपनी आस्था से पूर्णतया मुक्त न कर सका। यह चरक का ६. १. ३६ में आदेश है कि वनस्पतियों का चयन 'यथा विधि' होना चाहिए और चक्रपाणि ने इसकी व्याख्या यह कहते हुए की है कि देवतार्चन और अन्य मंगल क्रियाएं की जानी चाहिए (मंगलदेवतार्चनादिपूर्वकम्), ६. १. ७७ में वनस्पतियों के एक योग का निर्देश है, जिसमें अन्य अनेकों गुणों के साथ साथ यह शक्ति भी है कि यह मनुष्य को अन्य सब प्राणियों के लिए अदृश्य बना देता है (अदृश्यो भूतानां भवति), आमलक (आमला) के फल में ऐसी चमत्कारिक शक्तियां बताई गई हैं कि यदि कोई मनुष्य एक साल तक गायों के बीच में पूर्ण तप तेन्द्रिय और आत्मवान् होकर तथा पवित्र गायत्री मन्त्र का ध्यान करता हुआ निवास करे, यदि वर्ष के अन्त में तीन दिन उपवास के पश्चात् पौष (जनवरी), माघ (फरवरी) अथवा फाल्गुन (मार्च) के एक विशेष चान्द्र दिन में आमलक उद्यान में प्रवेश करे और बड़े बड़े आमलों से युक्त एक पेड़ पर चढ़कर उनको ग्रहण करे और आमलक के अमरत्व गुण प्राप्त करने तक 'ब्रह्म' के नाम का जाप करे, तो उस क्षण तक, अमरत्व का वास आमलक में होता है, और यदि वह उन 'आमलकों' का सेवन करे तो वेद वाक्य रूपिणी देवी श्री स्वयं उसके सामने प्रकट होती है (स्वयं चास्योपतिष्ठन्ते श्रीर्वेदवाक्यरूपिणी ६. ३. ६)। ६. १. ८० में यह कहा गया है कि 'रसायन' औषधियां न केवल दीर्घायुष्य प्राप्त कराती हैं अपितु, यदि उनका यथा विधि सेवन किया जाय तो मनुष्य अमर 'ब्रह्मन्' को प्राप्त करता है। पुनः ६. १. ३ में 'प्रायश्चित्त' शब्द का 'औषध' अथवा भेषज का समानार्थक माना गया है। अथर्ववेद में 'भेषज' का अर्थ 'जादू टोना' अथवा रक्षाकवच था जो रोगों और उनके चिह्नों का दूर करने में समर्थ था और यद्यपि उत्तरकालीन चिकित्सा साहित्य में इस शब्द का शुद्ध अथवा यौगिक रूप में 'वनस्पति' और धातु के द्योतक अर्थों में अधिक

सामान्य रूप से प्रयोग हुआ है फिर भी पुरातन अर्थ का भी त्याग नहीं किया गया।[1] अथर्ववेद से पृथक स्वतन्त्र रूप में विद्यमान साधारण वनस्पति एवं धातुओं की यह प्रणाली इस प्रकार अथर्ववेद की मन्त्र विशेष प्रणाली से घनिष्ट रूप से सम्बद्ध हो गई, इन दो प्रणालियों में पहले जो कुछ भी विरोध था, वह लुप्त हो गया, और आयुर्वेद को अथर्ववेद का एक अंग माना जाने लगा।[2] अथर्ववेद के पौराणिक भिषक प्रजापति और इन्द्र आत्रेय चरक शाखा में आयुर्वेद के प्राचीनतम आचार्य माने जाने लगे।[3]

---

[1] अ० वेदीय संज्ञाएं 'भेषजम्' (उपचार), 'भेषजी' (वनस्पति) और 'भेषजि (जल) हैं। भेषज्य पद केवल कौशिक एवं अन्य सूत्रों तथा ब्राह्मणों में दृष्टिगत होता है। ब्लूमफील्ड का कथन है कि कम से कम इन्डो ईरानियन (आर्य) काल जितने पुराने काल में भी ऐसे जादू टोनों और कृत्यों की विद्यमानता बएषज और बएषज्य (मन्त्र बएषज और बएषज्म हाओम बएषज्य) प्रतिपादकों द्वारा और पानी एवं वनस्पति की स्वास्थ्य एवं दीर्घायुष की प्रार्थनाओं में महत्वपूर्ण स्थिति के द्वारा और भी अधिक निश्चित रूप से पुष्ट होती है। आडल्वर्ट कून ने ट्यूटन और वैदिक चिकित्सा विषयक मन्त्रों की विशेषतः कृमियों और अस्थि भंग के उपचार के सम्बन्ध में कुछ रोचक और ध्यानाकर्षक समानताओं को प्रदर्शित किया है। दोनों लोगों के समान मानसिक गुणों के कारण ही शायद ये मानवशास्त्रीय संयोग मात्र ही हों। परन्तु ऐसा भी कम सम्भव नहीं है कि इन लोक धारणाओं में से कुछेक ने प्रागैतिहासिक काल में निश्चित रूप धारण कर लिया हो और कि ये समानताएं अपरिष्कृत इन्डो यूरोपीय लोक कथाओं के उस क्रम को प्रतिबिम्बित करती हों जो आज ट्यूटनों और हिन्दुओं में अवशिष्ट है। देखिए ब्लूमफील्ड कृत अथर्ववेद एण्ड गोपथ ब्राह्मण पृ० ५८ और कून कृत Zeitschrift fur Vergleischende Sprachfoschung १३ पृ० ४६–७४ और ११३–१५७।

[2] स्वयं अथर्ववेद (१९ ३४ ७७) में प्राचीन समय में प्रचलित वनस्पतियों का और नवीन औषधियों का उल्लेख है तथा जंगिड वनस्पति की प्रशंसा उन सबसे अच्छी होने के रूप में की गई है—न त्वा पूर्व ओषधयो न त्वा तरन्ति या नवा।

[3] अ० वे० ६ ६८ २–चिकित्सतु प्रजापतिर्दीर्घायुष्याय चक्षसे वही १९ ३५। इन्द्रस्य नाम गृह्णन्त ऋषयः जंगिडं ददन् (ऋषियों ने इन्द्र के नाम का उच्चारण करते हुए जंगिड दी)। सम्भवतः यही पंक्ति चरक संहिता की इस कथा का प्रेरणा स्रोत रही हो कि इन्द्र ने ही सर्वप्रथम ऋषियों को आयुर्वेद की शिक्षा दी। देखिए वही ११ ८ २३–यन्मातली रथक्रीतममृतं वेद भेषजं तदिन्द्रो अप्सु प्रावेशयत् तदापोदत्तभेषजम्। जिस अमरत्वकारिणी औषधि को मातलि (इन्द्र के सारथी) रथ बेचकर खरीद कर लाया था, उसे रथ के स्वामी इन्द्र ने पानी में फेंक दिया। नदियो, हमें उस औषधि को वापस दे दो।

ब्लूमफील्ड ने अथर्ववेद की सामग्री को चौदह वर्गों मे व्यवस्थित किया है (१) भैषज्यानि–व्याधियो और पिशाचो के अधिकार से बचने के मन्त्र, (२) आयुष्यानि–दीर्घायुष्य और स्वास्थ्य के लिए प्रार्थना, (३) आभिचारिकाणि और कृत्या प्रतिहरणानि–राक्षसा ऐन्द्रजालिको एव शत्रुओ के विरुद्ध शाप, (४) स्त्री-कर्माणि–स्त्री सम्बन्धी मन्त्र, (५) सौमनस्यानि–एकता, समिति म प्रभाव इत्यादि प्राप्त करने के लिए मन्त्र, (६) राजकर्माणि–राज सम्बन्धी मन्त्र (७) ब्राह्मण के हितार्थ प्रार्थनाए और शाप (८) पौष्टिकानि–धन प्राप्ति एव भय से मुक्ति प्राप्ति के मन्त्र (९) प्रायश्चित्तानि–पाप और भ्रष्टता के निराकरण के लिए मन्त्र, (१०) विश्वोत्पत्ति एव ईश्वर सम्बन्धी सूक्त, (११) यज्ञ क्रिया सम्बन्धी व सामान्य सूक्त, (१२) विषय विशेष का वर्णन करने वाले अध्याय (अध्याय १३ से १८), (१३) बीसवा अध्याय (१४) कुन्टाप सूक्त[1] इनमे से १, २, ३, ४ और ६ सूक्तो की सक्षिप्त विवेचना हम न्यूनाधिक उसी क्रम म करनी है, जिस क्रम म वे अथर्ववेद मे प्रकट होते हैं। अ० वे० १, २ ज्वर, अतिसार अतिमूत्र, नाडी व्रण का निराधक मन्त्र है, मूञ्ज से निर्मित रस्सी को बाधना चाहिए किसी खेत या बाबी की मिट्टी को पीना चाहिए द्राधित मक्खन का लेप करना चाहिए और पायु एव उपस्थ के छिद्रो का तथा व्रण के मुख को चम थैली द्वारा आध्मात करना चाहिए तथा मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए। इस सूक्त मे वर्णित 'आस्राव' रोग की व्याख्या सायण ने बहुमूत्र (मूत्रातिसार) के अर्थ म की है।[2] सूक्त १ ३ मल मूत्र रोकने (मूत्र पुरीष निरोध) का मन्त्र है। इस सूक्त के उच्चारण के साथ साथ रोगी को या तो चूहे के बिल की मिट्टी (मूषिक मृत्तिका), पूतिका वनस्पति, दही अथवा पुरानी लकडी का बुरादा पिलाना चाहिए या उसे हाथी अथवा घोडे की सवारी करानी चाहिए या बाण फेंकना चाहिए, मूत्र नाली म एक सूक्ष्म लोहे की शलाका डाली जाती थी। उत्तरकाल म जो 'वस्ति क्रिया' के रूप में विकसित हुई उसकी यह प्रारम्भिक अवस्था थी।[3] सूक्त १ ७ और १ ८ मे मनुष्य के

---

[1] ब्लूमफील्ड कृत दी अथर्ववेद एण्ड गोपथ ब्राह्मण, पृ० ५७।

[2] ब्लूमफील्ड का कथन है कि 'आस्राव का अर्थ 'अतिसार' है (वही पृ० ५६)। एक सी व्याधियो के लिए एक से भौतिक उपचार अ० वे० २ ३ मे निर्दिष्ट हैं। 'आस्राव ऐसी किसी भी व्याधि का द्योतन है जो रोगज य किसी भी स्राव से युक्त है, अत २ ३ २ मे सायण का कथन है कि आस्राव' का अर्थ है अतिसारातिमूत्रनाडी व्रणादय।'

[3] प्र ते भिनद्मि मेहन वर्त्र वेशन्त्या इव एवा ते मूत्र मुच्यताम् वहिर्बालिति सर्वकम् (मैं तुम्हारे मूत्र द्वार को एक कुल्या के समान खोलता हूँ जिसमे से पानी जोर से बह रहा हो, अत मूत्र सनसनाती आवाज के साथ बाहर निकले–अ० वे० १ ३ ७)। इस सूक्त के सारे मन्त्रो म मूत्र से सनसनाती आवाज म बाहर निकलने की प्राथना की गई है।

दुष्ट प्रेतात्माओं, यातुधानों और किमीदियों, के वश मे होने पर उनको भगाने के लिए हैं। १ १० 'जलोदर के लिए मन्त्र है, रोगी की देह पर पूर्वा इत्यादि से युक्त पात्र भर पानी का अभिषचन करना चाहिए। १ ११ सुखपूर्वक प्रसव के लिए मन्त्र है। १ १२ वात, पित्त और श्लेष्मा के विकारजन्य सब रोगों के लिए मन्त्र है—वसा, मधु और शोधित मक्खन या तेल का पान करना चाहिए। शिरोरोग (शीर्षक्ति) और खासी (कास) का विशेष वर्णन है। १ १७ शिरा अथवा धमनियों से निकलते हुए रक्त का अथवा स्त्रियों के अत्यधिक 'आतव' शोणित को रोकने के लिए है। घावों के लिए क्षत स्थान पर मुट्ठी पर भाग की मिट्टी डालनी चाहिए अथवा गूथी हुई मिट्टी से युक्त पट्टी बाधनी चाहिए।[1] १ २२ हृद्रोगों और पाडुरोग के विरुद्ध मन्त्र है—लाल गाय के रोमों को पानी के साथ पीना चाहिए और लाल गाय की खाल का टुकडा रक्षाकवच के रूप में बाधना चाहिए। यह प्रार्थना की गई है कि सूर्य और लाल गाय का लाल रग रोगी के शरीर में आ जाय और पाडुजन्य पीतवर्ण पीले रग के पक्षियों में चला जाय। १ २३ अस्थि, मास और चर्म के 'किलास' अथवा 'कुष्ठ' (श्वेत कुष्ठ) और बालों का श्वेत (पलित) करने वाले रोगों को रोकने के लिए मन्त्र है।[2] श्वेत भागो पर गोचर, भृगराज हरिद्रा इन्द्रावरुणा और नीलिका से बने लेप को तब तक मलना चाहिए जब तक कि वे लाल न हो जाएँ। प्रयोग मे लाई गई काली औषधियों से श्वेत भागों का काला करने की प्रार्थना की गई है। १ २५ 'तक्मा या ज्वर रोकने के लिए मन्त्र है—रोगी पर ऐसे जल को छिड़कना चाहिए जिसमे लोहे की लाल गर्म कुल्हाडी को डुबाया गया हो। विवरण यह प्रदर्शित करता है कि यह ज्वर मलेरिया के प्रकार का था, वह सर्दी (शीत) और दाहक सवेदन (शोचि) के साथ आता था। इस ज्वर के तीन प्रकारों का वर्णन है अगले दिन आने वाला (अन्येद्यु), दूसरे दिन आने वाला (उभयद्यु) और तीसरे दिन आने वाला (तृतीयक)।[3] इसका पाडुरोगो से भी सम्बन्धित किया जाता था, शायद इसलिए कि यह पाडुरोग को उत्पन्न करता था। २ ८ और १० वशानुगत (क्षेत्रीय) रोगों, श्वेतकुष्ठ, अजीर्ण आदि के विरुद्ध मन्त्र हैं।[4] अर्जुन पेड की लकडी, जौ, तिल और उसके फूलों के

---

[1] ४ १२ भी इसी प्रयोजन के लिए एक मन्त्र है।

[2] ६ १३५ १३७ भी केशों की जडों को मजबूत करने के लिए मन्त्र है। भृगराज युक्त काकमाची का पान करना चाहिए।

[3] नम शीताय तक्मने नमो रूपाय शोचिषे कृणोमि
यो अन्येद्युरुभयेद्यु रभ्येति तृतीयकाय नमो अस्तु तक्मने
अ० वे० ७ १२३ १० भी देखिए जिसमें तीसरे दिन के ज्वर चतुर्थ दिन के ज्वर और अनियमित ज्वरों का उल्लेख है।

[4] पाणिनि सूत्र ५ २ ९२ मे क्षेत्रीय शब्द की निपात सिद्ध व्युत्पत्ति दी है (क्षेत्रिय च

रक्षा कवचों को भी मन्त्रोच्चारण के समय बाँधना चाहिए।[1] ५ २ ३१ विभिन्न कृमिजन्य रोगों के विरुद्ध मन्त्र है। इस मन्त्र का उच्चारण करते समय, पुरोहित को माग की मिट्टी अपने बायें हाथ में लेनी चाहिए और इसे दायें हाथ से दबानी चाहिए, तथा रोगी पर डालनी चाहिए। संसार में दृश्य और अदृश्य कृमि हैं, उनमें से कुछ को 'अलगण्डु' और अन्यों को 'शलुन' कहा गया है वे आँतों, शिर और एडियों में उत्पन्न होते हैं, वे शरीर में विभिन्न मार्गों से संचरण करते हैं और विभिन्न प्रकार की वनौषधियों द्वारा भी नष्ट नहीं किए जा सकते हैं। वे सभी पर्वतों और वनों और वनस्पतियों और जन्तु में निवास करते हैं, और वे हमारे शरीर में शारीरिक रन्ध्रों के माग से एवं अन्नपान के द्वारा प्रवेश कर जाते हैं।[2] २ ३३ शरीर के सब भागों से यक्ष्मा दूर करने का मन्त्र है। ३ ७ १ सारे क्षेत्रीय रोगों को दूर करने के लिए मन्त्र है हरिण का सींग रक्षाकवच के रूप में प्रयोग किया जाना चाहिए। ३ ११ राजयक्ष्मा रोकने के लिए मन्त्र है—विशेषतः जबकि यह अतिमैथुनजन्य हो, रोगी को सड़ी मछली खानी चाहिए।[3] ४ ४ पुंस्त्व प्राप्ति के लिए मन्त्र है, जब मन्त्र का उच्चारण करते हैं तब कपित्थ वृक्ष की जड़ दूध में उबाल कर पीनी चाहिए। ४ ६ और ७ शाक के विषाक्त होने से रोकने के लिए है—क्रमुक वृक्ष का अर्क पीना चाहिए।५ ४ ज्वर (तक्मा) और क्षय को रोकने के लिए मन्त्र है, रोगी को मन्त्र उच्चारण के समय 'कुष्ठ' वनस्पति मक्खन के साथ लेनी चाहिए।[4] ५ ११ ज्वर रोकने के लिए मन्त्र है।[5] ५ २३ कृमियों को रोकने के लिए मन्त्र है—रोगी को बीस प्रकार के मूलों का

परक्षेत्रे चिकित्स्य)। काशिका' और पान्मनारी जैसी कृतियों में इसका अर्थ, अपर जन्म के शरीर में चिकित्सा' (जन्मान्तरस्यशरीरे चिकित्स्य) अर्थात् 'अचिकित्स्य' किया गया है। तथापि मुझे अ० वे० २ १० १ पर अपने भाष्य में स्तरण द्वारा दिया गया अर्थ 'वंशानुगत' अधिक ग्राह्य है क्योंकि यह अधिक उपयुक्त और तर्क संगत है।

[1] 'यक्ष्मा' को भी एक 'क्षेत्रीय' रोग माना गया है। (२ १० ६)।

[2] २ ३१ ५। मैंने सायण की व्याख्या को ग्रहण किया है।

[3] ७ ७८ भी गण्डमाला और यक्ष्मा के लिए मन्त्र है।

[4] कुष्ठ, शिर और नेत्रों के लिए हितकारी मानी जाती थी।

[5] गान्धार, महावृष मुजवान् और वाह्लीक (बलख) को ज्वर का घर माना जाता था और अंग और मगध देशों को भी। यह सरदी (शीत) और कंपन (रूर) से युक्त होता था। खाँसी (कास) और क्षय (वलास) प्रायः इसका अनुसरण करते थे। कभी कभी इसका आक्रमण तीसरे या चौथे दिन, ग्रीष्म या शरद् में होता था या यह सारे वर्ष भर चालू रहता था।

रस दिया जाता है।[1] ६ १५ नेत्र रोगों के लिए मन्त्र है, रोगी को कई प्रकार के शाकों विशेषत सरसों, के पत्तों को तेल में भूनकर लेना पड़ता है।[2] ६ २० पित्तज ज्वर (शुष्मिणो ज्वरस्य) को रोकने के लिए मन्त्र है, इसे अत्यन्त दाहक संवेदना मूर्छा और पाण्डुरोग का जनक कहा जाता है। ६ २१ केश वृद्धि के लिए मन्त्र है—केशों पर विभिन्न वनस्पतियों के क्वाथ का छिड़कना चाहिए। ६ २३ हृद्रोग, जलोदर और पाण्डुरोग को रोकने के लिए मन्त्र है। ६ २५ गर्दन की ग्रन्थियों के दाह (गण्डमाला) के लिए मन्त्र है।[3] ६ ८५ क्षय (राजयक्ष्मा) निरोधक मन्त्र है ६ १० शूल' के लिए,[4] ६ १०५ कास और अन्य ऐसे ही श्लेष्मज रोगों के लिए, ६ १०९ गठिया के प्रकार के रोगों (वातव्याधि)[5] के लिए। ६ १२७ व्रण (विद्रध), श्लैष्मिक रोगों (बलास) और मुहासाजन्य दाह (विसर्प) के लिए मन्त्र है। शरीर के विभिन्न भागों में विसर्प के भिन्न भिन्न प्रकारों का उल्लेख किया गया है। हृद्रोगों और यक्ष्मा का भी वर्णन है।[6] ऐसा कहा गया है कि सौ प्रकार की मृत्यु होती है (अ० वे० ८ ५ ७) जिनकी व्याख्या सायण ने ज्वर, शिरोरोग आदि जैसी बीमारियों के अर्थ में की है। ९ १८ में कई रोगों का वर्णन है—प्रथम शिर के रोग शीर्षक्ति शीर्षामय, कर्ण शूल और विसल्पक जिनके कारण कान और मुख में से दुर्गन्ध युक्त स्राव आता है, तत्पश्चात् कंपन युक्त सिर दर्द और अंगों के चटखने की संवेदना से उत्पन्न ज्वर आता है। भयंकर शरद्कालीन ज्वर तक्मा' का ऐसा वर्णन किया गया है। तत्पश्चात् क्षय आता है फिर बलास उदर का 'काहाबाह क्लोम, उदर, नाभि और हृदय के रोग,

---

[1] यह उन विरल अवस्थाओं में से एक है जिनमें 'मूलों की एक बड़ी संख्या का योग किया जाता था और मन्त्रों के साथ साथ औषधि रूप में प्रयोग किया जाता था।

[2] कुछ अन्य वनस्पतियाँ ये हैं अलसाला, सिलाजाला, नीलागलसाला।

[3] ७ ७८ में भी, जहाँ अपचित् 'गलगण्ड' के नाम के रूप में दृष्टिगत होता है, तीन भिन्न भिन्न प्रकार के रोगों का वर्णन है। अपचित्' आरम्भ में तो हानिकारक नहीं होता परन्तु जब इसकी वृद्धि हो जाती है तो संधियों के फोड़ों के समान यह अपनी पीब अधिक छोड़ने लग जाता है। ये फोड़े गर्दन पीठ ऊरु संधि और गुदा पर उत्पन्न होते हैं। आगे ६ ८३ देखिए जहाँ शंख को घिस कर लगाना चाहिए। ≡ ८३ भी इसके लिए एक मन्त्र है। जोंक अथवा एक छिपकली (गृहगोधिका) द्वारा दस्यमान भाग का खून चुसाना पड़ता था।

[4] रक्षा कवच के रूप में लोहे का टुकड़ा बांधना पड़ता था।

[5] मन्त्र के उच्चारण के साथ पिप्पली को भी लेना चाहिए। वात रोगों से ग्रस्त समस्त रोगियों के लिए इस औषधि माना गया है (वातीकृतस्य भेषजाम्। इसे पागलपन की औषधि (क्षिप्तस्य भेषजम्) भी कहा गया है।

[6] चीपुद्रु बलास की औषधि है। चीपुद्रुरभिचक्षणम् (६ १२७ २)।

रीढ़ पसलियां, नेत्र और आंतों के रोग, विसल्प, विद्रध, वायुरोग (वातिकार), मलजी और टांग घुटना, पेडू, गिराधा और सिर के रोग आते हैं।

रोगों की उत्पत्ति के सिद्धान्त के विषय में बोलिंग ने एनसाइक्लोपीडिया आफ रिलिजन एण्ड एथिक्स में रोगों और औषधि (वैदिक) सम्बन्धित अपने लेख में निम्न टिप्पणी की है। यह तथ्य द्रष्टव्य है कि वात, कफ और पित्त इन तीन धातुओं से शरीर के निर्मित होने का हिन्दू सिद्धान्त प्राचीन आथर्वण ग्रन्थों में दृष्टिगत नहीं होता। ६ ४४ ३ के 'वातिकृतनाशनी' को इसके विपक्ष में प्रमाणरूप नहीं प्रस्तुत किया जा सकता, क्योंकि इसका अर्थ शरीर में वातजनित (रोगों का) नाशक नहीं है, अपितु जो वायु में पहुँचा दिया गया है उसका नाशक अर्थ है। स्पष्टतः अतीसार के साथ इसके साहचर्य के कारण इसमें आंतों में स्थित वायु की ओर संकेत है।' मुझे यह सही नहीं प्रतीत होता है। जिस पद का बोलिंग ने उद्धरण दिया है उसका अर्थ वस्तुतः सन्देहास्पद है, सायण ने इसका वाति (वायु पहुँचाने द्वारा चिकित्सा करने वाला) और कृतनाशनी (रोगकारी अशुभ कार्यों का नाशक) इन दो शब्दों से निर्मित माना है। परन्तु यह जैसा भी हो, इस विषय पर अन्य स्थल भी हैं जिनकी ओर बोलिंग ने ध्यान नहीं दिया प्रतीत होता है। इस प्रकार १ १२ ३ में व्याधियों का इन तीन प्रकारों में विभक्त किया गया है। उदक जनित, वायु-जनित और शुष्क—*यो अभ्रजा वातजा यश्च शुष्म।*[1] *उत्तरकालीन चिकित्सा विषयक लेखकों ने श्लेष्मा* को भी जलमय माना था, और 'अभ्रज' शब्द सम्भवतः शरीर को धारण करने अथवा नष्ट करने वालों में से श्लेष्मा का भी एक मानने वाले सिद्धान्त के मूल की ओर संकेत करता है। सामान्यतः 'वातज' शब्द का अर्थ वायु से उत्पन्न रोग है और उत्तरकालीन चिकित्सा साहित्य में अग्नि का एक रूप माने जाने वाले पित्त को यहाँ 'शुष्म' अर्थात् सूखा संज्ञा से बहुत भली प्रकार से वर्णन किया गया है। सन्दर्भ यह प्रदर्शित करता है कि जिन रोगों का पिप्पली द्वारा ठीक किये जाने का उल्लेख है वे ऐसे रोग हैं *जिन्हें उत्तरकालीन साहित्य में वातज माना गया है* क्योंकि 'पागलपन (क्षिप्त) को 'वातिकृत' रोग बतलाया गया है। शुष्म' शब्द शुष (सुखाना) धातु से व्युत्पन्न है, और किंचित् विकृत रूपों में 'शोषण', ज्वलन' 'शक्ति' और दीपन के अर्थ में प्रयुक्त होता है। कम से *कम एक स्थल में इसका प्रयोग अग्नि के समान दाहक बताये* गए मूर्च्छाकारी पित्तज ज्वर की अत्यन्त दाहक संवेदना का वर्णन करने के लिए किया गया है।[2] अतः मेरा अपना निष्कर्ष यह है कि कम से कम कुछ आथर्वण लोगों ने

---

[1] 'वातिकारस्य' (६ १३ २०) से भी तुलना कीजिए।

[2] ६ २० ४। *जिन अन्य सन्दर्भों में न्यूनाधिक रूप से विकृत रूप में* 'शुष्म' शब्द व्यवहृत है, उनके लिए देखिए १ १२ ३, ३ ६ ३, ४ ४ ३ ४ ४ ४,

समस्त व्याधियो के इस त्रिविध वर्गीकरण का विचार कर लिया था अर्थात् वायुज, जलज, अग्निज अथवा वे जो सूखी और दाहक हैं। यह वर्गीकरण समस्त व्याधियो के उस उत्तरकालीन वर्गीकरण के अनुरूप है जिसमे उन्हे वात, कफ अथवा श्लेष्मा, और पित्त जनित माना गया है। सामान्य व्याधियो के अतिरिक्त पर्याप्त बडी सख्या मे हमे उपलब्ध राक्षसो और दुष्ट प्रेतात्माओं के वशीभूत होने के अनेक प्रसग मिलते हैं। राक्षसा और दुष्ट प्रेतात्माओं मे से मुख्य मुख्य कुछ इस प्रकार हैं यातुधान, किमीदिन् पिशाच, पिशाची, अमीवा द्वयाविन् रक्ष, मगुन्दी, अलिंश, वत्सप, पलाल, अनुपलाल शकु, कोक मलीम्लुच, पलीजक, वव्रिवासस आश्रेष ऋक्षग्रीव प्रमीलिन् दुर्णामा सुनामा, कुम्भिल, कुसूल, ककुभ, श्रिम अराय करुम, खलज शकधूमज, उरुण्ड, मटमट, कुम्भमुष्क सायक, नग्नक तगल्व, पवीनस गन्धर्व, ग्राह्यग्रह इत्यादि।[1] अपने कष्टप्रद चिह्नो सहित कुछ व्याधियो को (काव्य रूप मे) मूर्त रूप प्रदान कर दिया गया था और जो व्याधिया प्राय साथ साथ होती थी उन्हे भाई बहन रूप मे सबद्ध रूप म वर्णित किया गया था। आदमी और जानवर दोनो के कृमिजन्य रोग सुविदित थे। मान्त्रिका द्वारा उत्पन्न रोग भी थे जिन्होने वैदिक भारत मे आक्रामक कदम के रूप मे बहुत महत्वपूर्ण भाग लिया था। कई व्याधियो क्षेत्रीय होने के रूप मे सुपरिचित थीं। उपयुक्त व्याधिया के नामो से यह ज्ञात होगा कि चरक द्वारा उल्लिखित व्याधिया म से अधिकाश वैदिक काल मे विद्यमान थी।

वैदिक लोग जिस दृष्टिकोण से व्याधियो को देखते थे उससे प्रतीत होता है कि उन्होंने सदा विभिन्न व्याधिया को उनके लक्षणा से भिन्न माना था। इस प्रकार ज्वर वह था जो कम्पन सरदी, दाहक सवेदना इत्यादि उत्पन्न करता था अर्थात् रोग परीक्षा मुख्यत लक्षणा पर आश्रित थी। मन्त्रो और रक्षाकवचा तथा आन्तरिक रूप से ली

---

५ २ ४ ५ २० २, ६ ६५ १, ६ ७३ २, ६ १ १० २०, ६ ४ ७२ इत्यादि।

[1] देखिए १ २८ ३५ २ ६ २ १४, ८ ६। अन्तिम स्थल मे इनमे से कुछ जीवो का अच्छा वर्णन है। कुछ शुभ प्रेतात्माएँ भी थी जो दुष्ट प्रेतात्मा से सघर्ष करती और मनुष्य का हित करती जैसेकि पिंग' जिसने बच्चे की जन्म के समय रक्षा की और कामी गन्धर्वों का ऐसे पीछा किया जैसे वायु बादलो का पीछा करता है। ८ ६ १९ २५ मे कहा गया है कि कभी-कभी उच्चतर देवता भी रोग फैलाते देखे गए हैं। इस प्रकार तक्मा वरुण पुत्र था (६ ९६ २) और जलोदर का कारण था (१ १० १४ २ १० १ ४ १६ ७ इत्यादि)। पर्जन्य (वर्षा का देवता) ने अतीसार फैलाया और वह अग्नि, ज्वर, सिर दर्द और खासी का कारण था।

जाने वाली ओषधियों के अतिरिक्त, जल को महान् चिकित्साकारक एवं जीवनप्रद गुणों से युक्त माना जाता था।[1] वनस्पतियों में चिकित्साकारक गुणों का होना प्राय उनके सारभूत पानी के कारण, माना जाता था। सर्प विषों के लिए मन्त्र और उनके विषों के लिए उपशामक मानी जाने वाली वनस्पतियों का प्रचलन था। व्याधियों और उनकी चिकित्सा के छुट-पुट प्रसंग अन्य ऋग्वेदीय ग्रन्थों और ब्राह्मणों में दूर-दूर बिखरे हुए मिलते हैं। परन्तु अथर्ववेद[2] से अधिक उन्नत चिकित्सा संबंधी ज्ञान प्रदर्शित करने वाली कोई भी बात इन ग्रन्थों में नहीं दृष्टिगत होती है। इन भेषजों के अतिरिक्त, दीर्घायुष्य की प्राप्ति और पुंसत्व की वृद्धि के लिए पूर्व वर्णित मन्त्र, रक्षाकवच और ओषधियां भी थीं जो चरक और अन्य चिकित्सा सम्बन्धी ग्रन्थों के 'रसायन' और 'वाजीकरण' अध्यायों के अनुरूप हैं। इस तथ्य को प्रदर्शित किए बिना हम इस अध्याय को नहीं छोड़ सकते कि यद्यपि अधिकांश व्याधियां और उनके उपचार ज्ञात थे तो भी निदान अर्थात् रोगों के कारण जैसी किसी भी चीज का विशेष वर्णन नहीं है। अभ्रज, वातज और शुष्म इन तीन प्रकार की व्याधियों के वर्गीकरण के विद्यमान होने से यह भ्रम नहीं लगाना चाहिए कि जिस प्रकार ये तीनों तत्त्व उत्तरकालीन चिकित्सा-साहित्य में निदान समझे जाते थे उसी प्रकार निदान भूत इन तीनों तत्त्वों के असंतुलन का ज्ञान वैदिक लोगों को था। रोगों के तीन महत्त्वपूर्ण कारण थे, अशुभ कर्म, शत्रुओं की मान्त्रिकता और दुष्ट प्रेतात्माओं के वशीभूत होना अथवा क्रुद्ध देवताओं का प्रकोप।

गर्भ और सूक्ष्म शरीर

चरक ने मानव शरीर को आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी इन पांच तत्त्वों का विकार माना है और इसे चेतना का अधिष्ठान भी माना है।[3] स्वयं शुक्र चार तत्त्वों वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी से निर्मित है, आकाश इसका अंग नहीं है, परन्तु इसके स्खलित होते ही आकाश इससे युक्त हो जाता है क्योंकि आकाश या 'अन्तरिक्ष' सर्व व्यापी है। जो शुक्र स्खलित होता है और गर्भाशय में प्रवेश करता है वह

---

[1] अप्सु अन्तरमृतमप्सु भेषजम् (पानी में अमृत और भेषज है— १ ४ ४)। देखिए १ ५ ६ ३३, २ ३ ३ ७ ५ ४ ३३, ६ २४ ६२ ६ २४ २ इत्यादि भी।

[2] इन ऋग्वेदीय और अन्य ग्रन्थों के संक्षिप्त सर्वेक्षण के लिए वॉलिंग का डिजीज एण्ड मेडीसिन (वैदिक) शीर्षक लेख एन्साइक्लोपीडिया आफ रिलिजन एण्ड एथिक्स में देखिए।

[3] गर्भस्तु खल्वन्तारिक्षवाय्वग्नितोयभूमिविकारश्चेतनाधिष्ठानभूत चरक ४ ४ ६।

वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी के सम भागों द्वारा निर्मित है, आकाश शुक्र से गर्भाशय में स्थित हो जाता है, क्योंकि स्वयं आकाश सर्वत्र विद्यमान है और इसकी अपनी कोई गति नहीं है।[1] शुक्र छः प्रकार के रसों का परिणाम है। परन्तु गर्भ की उत्पत्ति सामान्यतः पिता के 'शुक्र' एवं माता के शोणित के संयोग से ही नहीं हो सकती। ऐसा संयोग गर्भ की उत्पत्ति केवल तभी कर सकता है जबकि वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी तथा मनस (मन सम्पूर्ण प्रत्यक्षों और विचारों में युक्त इन्द्रिय) से निर्मित अपने सूक्ष्म शरीर से युक्त आत्मा कर्मों द्वारा उससे सम्बद्ध होता है। यद्यपि आत्मा के सूक्ष्म शरीर के निर्माता चार तत्वों को सर्गों का सामान्य हेतु बताया गया है फिर भी वे बच्चे के मुख्य मुख्य शारीरिक आकार प्रकारों में निर्माण में योगदान नहीं करते हैं।[2] जो तत्व सामान्य आकार प्रकार में योगदान करते हैं वे हैं (१) मातृ अंश शोणित, (२) पितृ अंश-शुक्र, (३)प्रत्येक व्यक्ति के कर्म, माता द्वारा पचाए गए अन्न-रस के योगदान को पृथक रूप से गिनने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि इसका निर्णय व्यक्ति के कर्मानुसार ही होता है। मानसिक लक्षण व्यक्ति के पूर्वजन्म की मानसिक स्थिति के द्वारा निर्धारित किए जाते हैं। इस प्रकार, यदि जीवन की पूर्व अवस्था देवता की थी तो बच्चे का मन शुद्ध एवं उत्साहपूर्ण होगा जबकि यदि यह पशु की हो तो मन अशुद्ध एवं जड़ होगा।[3] जब कोई आदमी मरता है तो उसका आत्मा

---

[1] वायवग्नि भूम्यब्गुणपादवत् तत्षड्भ्यो रसेभ्य प्रभावश्चतस्य। चरक ४ २४। आकाश तु यद्यपि शुक्रे पाञ्चभौतिकेऽस्ति तथापि न पुरुषशरीरान्निर्गत्य गर्भाशय गच्छति, किंतु भूतचतुष्टयमेव क्रियावत्त्वात्, आकाश तु व्यापकमेव तत्रागतेन शुक्रेण सबद्ध भवति चक्रपाणि कृते 'आतंक आग्नेय है। फिर भी उसका कथन है कि अन्यभूता (उल्हण के अनुसार पृथिवी वायु और आकाश) के अणु उनसे पृथक् रूप में सबद्ध होते हैं (सौम्य शुक्रमार्तवमाग्नेयमितरेषामप्यत्र भूताना सान्निध्यमस्त्यणुना विशेषेण परस्परोपकारात् परानुग्रहात् परस्परानुप्रवेशाच्च-सुश्रुत ३ ३ १) और गर्भोत्पत्ति के लिए आपस में एक दूसरे से सहयोग करते हैं।

[2] यानि त्वात्मनि सूक्ष्माणि भूतानि आतिवाहिकरूपाणि तानि सर्वसाधारणत्वेन अविशेषसादृश्यकारणानीति नेह बोद्धव्यानि। चक्रपाणिकृत आयुर्वेद दीपिका' ४ २ २३–२७।

[3] तेषा विशेषाद् बलवन्ति यानि
भवन्ति मातापितृकर्मजानि
तानि व्यवस्येत् सदृशत्वलिंगम्
सत्व यथानूकमपि व्यवस्येत्॥ चरक ४ २ २७।
अनूकं प्राक्तनान्यवहिता देहजातिस्तेन यथानूकम् इति या देवशरीराद्व्यवधानेनागत्य भवति स देवसत्वो भवति इत्यादि चक्रपाणि ४ २ २३–२७।

यु, अग्नि, जल और पृथ्वी इन चार भूतों से निर्मित अपने सूक्ष्म शरीर के साथ तथा नस' की सूक्ष्मावस्था में अपने कर्मों के कारण अदृश्य रूप से एक विशिष्ट गर्भ में वेश करता है और तत्पश्चात् जब माता पिता के संयुक्त शोणित एवं शुक्र से सम्बद्ध जाता है तो गर्भवृद्धि प्रारम्भ होती है।[1] तथापि शुक्र और शोणित शरीरोत्पत्ति के रणरूप में केवल तभी कार्य कर सकते हैं, जब वे म्रियमाण प्राणी की पूर्व देह से थानान्तरित सूक्ष्म शरीर से सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं।[2] सुश्रुत (३ १ १६) कहना है कि उस समय अत्यन्त सूक्ष्म शाश्वत चेतनावान् सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति ती है। (अभिव्यज्यते) जब शोणित और शुक्र का योग होता है (परमसूक्ष्माः तनावन्तः शाश्वता लोहितरेतसः सन्निपातेष्वभिव्यज्यन्ते)। परन्तु बाद में (३ ३ ४) कथन को इस प्रकार से संशोधित कर दिया गया है कि यह चरक के वर्णन के अनुकूल हो गया, क्योंकि वहां यह कहा गया है कि आत्मा सूक्ष्म भूतात्मा के साथ साथ संयुक्त शुक्र और शोणित के सम्पर्क में आता है। एक अन्य स्थल में कुछ भिन्न न पाया जाता है (सुश्रुत ३ ४ ३)। इसमें यह कहा गया है कि वर्धमान गर्भ उपकरण अग्नि सोम, सत्व, रजस्, तमस्, पंचेन्द्रियाँ और भूतात्मा हैं—ये सब गर्भ जीवन में योगदान करते हैं और इनको 'प्राण' भी कहा गया है।[3] इसकी व्याख्या ते हुए, डल्हण का कथन है कि यहां पर वर्णित 'अग्नि' ऊष्मा शक्ति है, जिसका र प्रकार के पाचक कार्यों में नामतः भ्राजक, (चर्म को कान्ति युक्त करना) आलो (देखने की सामर्थ्य)। रक्त को रंजित करने, बौद्धिक व्यापार और विभिन्न क तत्वों (धातुओं) यथा रस, रुधिर इत्यादि की रचना और वायु से सम्बद्ध ऊष्मा पार में अपने को प्रकट करता है, सोम सारे जलीय तत्वों यथा श्लेष्मा रस, शुक्र आदि की और रसनेन्द्रिय की मूल शक्ति है वायु, प्राण, अपान, समान, उदान और

भूतैश्चतुर्भिः सहितः सुसूक्ष्मैः
मनोजवो देहमुपैति देहात्
कर्मात्मकत्वान्न तु तस्य दृश्यं
दिव्यं विना दर्शनमस्ति रूपम्। —चरक ४ २ ३।

यद्यपि शुक्ररजसी कारणे, तथापि यदैवातिवाहिकं सूक्ष्मभूतरूपं शरीरं प्राप्नुतः, तन्द ते शरीरं जनयतः, नान्यदा। चक्रपाणि ४ २ ३६।

भूतात्मा अर्थात् सूक्ष्म शरीर को उसके अधिष्ठाता आत्मा सहित सुश्रुत द्वारा कर्म पुरुष की संज्ञा दी गई है। चिकित्सा सम्बन्धी विवेचन इसी कर्म-पुरुष और उसके शरीर का है (स कर्मपुरुषः चिकित्साधिकृतः—सुश्रुत ३ १ १६)। पुनः सुश्रुत (१ १ २१) में कहा है पंचमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इत्युच्यते, तस्मिन् क्रिया सोऽधिष्ठानम्। (इस विधान में 'पुरुष' शब्द का प्रयोग पंचमहाभूतों और शरीरिन् के समवाय के लिए हुआ है, और यही चिकित्सा सम्बन्धी विवेचन का उद्देश्य है।)

ध्यान इन पचविध जीवन कार्यों को नियन्त्रित करने वाले तत्व का प्रतिनिधित्व करता है। डल्हण आगे कहते हैं कि सत्व, रजस और तमस मनस से सम्बन्धित हैं, जो उनके समुदित विकास का परिणाम है। पाँच इन्द्रियाँ अपने बोधकारक क्रियाओ के कारण जीवन का हेतु हैं। प्रथम स्थल मे जसा प्रदर्शित किया गया प्रतीत होता था कि जीवन शुक्र और शोणित के संयोग के परिणामस्वरूप प्रकट हुआ, दूसरे स्थल म शुक्र शोणित का जीवन रूप म विकसित करने के लिए आवश्यक आत्मा के भूतात्मा के साथ सम्बन्ध पर विचार किया गया है। तीसरे स्थल मे, इनके अतिरिक्त, पाँच इन्द्रिया, सत्व, रजस और तमस को समाविष्ट किया गया है और शुक्र शोणित का स्थान अग्नि की तीन मूल-शक्तियाँ एव वायु ने ले लिया है। ये तीनो शक्तियाँ न्यूनाधिक काल्पनिक प्रकार की हैं जिन्होंने कई क्रियाओ और शरीर के उपादान कारणो को आत्मसात् कर लिया है। तीन उत्तरोत्तर अध्यायो म इन तीन दृष्टिकोणो का कारण सिवाय इस कल्पना के सतोषप्रद रूप से समझाया नहीं जा सकता कि सुश्रुत के ग्रन्थ की तीन विभिन्न कालो मे तीन विभिन्न आवृत्तियाँ हुई हैं, वाग्भट प्रथम का कथन है कि ज्योंही शुक्र और शोणित का योग होता है राग आदि क्लेशो से विकृत मन से प्रेरित होकर 'जीव' इसके सम्पर्क म आता है।[1]

चिकित्सा ग्रन्थो म वर्णित है सूक्ष्म शरीर के सिद्धान्त की साख्य मत से उपयुक्त ढग से तुलना की जा सकती है। चरक संहिता ६ २ ३६ की व्याख्या करते हुए स्वय चक्रपाणि का कथन है कि यह सूक्ष्म शरीर (आतिवाहिक शरीर) का सिद्धान्त आगम' मे वर्णित है और 'आगम का अर्थ साख्य आगम समझना चाहिए (तेन आगमादेव साख्यदर्शनरूपादातिवाहिक शरीरात्)। साख्यकारिका ३९ मे सूक्ष्म देह और माता पिता से प्राप्त देह का वर्णन है। सूक्ष्म का अस्तित्व तबतक रहता है, जबतक कि मोक्ष प्राप्त नहीं हो जाता और प्रत्येक जन्म के समय यह नवदेह धारण करता है और प्रत्येक मृत्यु के समय उसे त्याग देता है। यह महत् अहकार एकादश

---

[1] गते पुराणे रजसि नवेऽवस्थिते शुद्धे गर्भस्याशये मार्गे च बीजात्मना शुक्लमविकृतमविकृतेन वायुना प्रेरितमन्यैश्च महाभूतैरनुगतमार्तवेनाभिमूर्च्छितमन्वक्षमेव रागादिक्लेशवशानुवर्तिना स्वकर्मचोदितेन मनोजवेन जीवेनाभिसंसृष्टं गर्भाशयमुपयाति—अष्टांग संग्रह २ २। इसकी व्याख्या करते हुए इन्दु का कथन है बीजात्मना गर्भकारण महाभूतस्वभावेन—सूक्ष्मस्वरूप मनस्सहचारिभिस्तन्मात्राख्यैर्महाभूतैरनुगत स्त्रीक्षेत्रप्राप्त्या कर्मवशादार्तवेन मिथोभूतमन्वक्ष मिश्रीभावहीनकालमेव—मनोजवेन जीवेनाभिसंसृष्टं प्राप्तसंयोग गर्भाशय शुक्लमुपयाति। 'जीव के प्रयोग की प्रकृति के बारे मे उसकी आगे की व्याख्या यह प्रदर्शित करती है कि अविद्या आदि तथा अन्य क्लेशो के विवरण के लिए उसने पातजल योगसूत्र' का आश्रय लिया।

इन्द्रिय और पंच तन्मात्राओं द्वारा निर्मित है। गुण, दोष और अन्य बौद्धिक विकारों एवं उपलब्धियों को धारण करने वाली बुद्धि के साथ अपने संसर्ग के कारण यह स्वयं उनसे उसी प्रकार सम्बद्ध हो जाता है, जैसेकि एक कपड़ा मधुर गन्ध वाले चम्पक पुष्प के संसर्ग के द्वारा गन्ध ग्रहण कर लेता है और इसलिए उसे तबतक पुनर्जन्मों की शृंखला का भोग करना पड़ता है जबतक कि बुद्धि विवेक प्राप्ति द्वारा उससे पृथक नहीं हो जाती। सूक्ष्म शरीर को स्वीकार करने की आवश्यकता इस तथ्य में निहित मानी जाती है कि अहंकार और इन्द्रियों से युक्त बुद्धि का शरीर रूपी अधिष्ठान के अभाव में अस्तित्व नहीं रह सकता। अतः एक मृत्यु से दूसरे जन्म के मध्य के अन्तराल में बुद्धि इत्यादि को एक धारक शरीर की आवश्यकता होती है और यह आधार सूक्ष्म शरीर है।[1] सांख्य प्रवचन भाष्य ५. १०३ में कहा गया है कि यह सूक्ष्म शरीर तो अणु आकार की एक वस्तु है जो अंगूठे से अधिक बड़े नहीं है फिर भी यह सारे शरीर में ठीक वैसे ही व्याप्त है जैसेकि एक छोटी ज्वाला अपनी किरणों के द्वारा सारे कमरे में व्याप्त होती है।[2] इस सांख्य मत का खंडन करते हुए व्यासभाष्य का कथन है कि इसके अनुसार किसी घट अथवा प्रासाद स्थित दीपक की किरणों के समान ही, चित्त अपने धारक शरीर की विशालता अथवा लघुता के अनुसार संकुचित अथवा विस्तृत होता है।[3] व्यास द्वारा प्रतिपादित योग दृष्टिकोण की व्याख्या करते हुए वाचस्पति का कथन है कि सांख्य मत में चित्त ऐसा है कि चित्त संकोच और विस्तार मात्र से ही किसी शरीर का मृत्यु समय पर त्याग नहीं कर सकता और सूक्ष्म (आतिवाहिक) शरीर के माध्यमिक सम्पर्क के बिना अन्य शरीर को धारण नहीं कर सकता। परन्तु यदि चित्त स्वयं एक देह का त्याग और अन्य का धारण नहीं कर सकता तो कैसे यह अपने आपको मृत्यु के समय सूक्ष्म शरीर से सम्बद्ध कर सकता है? यदि यह कार्य किसी अन्य देह के माध्यम से किया जाता है और वह कार्य फिर किसी अन्य के द्वारा तो हम अनवस्था दोष प्रसंग को प्राप्त हो जाएंगे। यदि यह कहा जाय कि चित्त ऐसे सूक्ष्म शरीर से अनादि काल से सम्बद्ध है, तो इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि ऐसे सूक्ष्म शरीर का किसी ने भी प्रत्यक्ष नहीं किया है (न खल्वेतद् अध्यक्षगोचरम्) और न अनुमान के माध्यम से ही इसे अपरिहार्य रूप से आवश्यक माना जा सकता है, क्योंकि योग का दृष्टिकोण इस अवस्था की व्याख्या ऐसी किसी भी प्रकार के शरीर की कल्पना के बिना ही कर सकता है। चित्त सब

---

[1] सांख्य तत्व कौमुदी ३९, ४०, ४१।

[2] यथा दीपस्य सर्वगृहव्याप्तित्वेऽपि कलिकाकारत्वम्—तथैव लिंगदेहस्य देहव्याप्तित्वेऽप्यंगुष्ठप्रमाणत्वम्। सांख्य प्रवचन भाष्य ५. १०३।

[3] घटप्रासादप्रदीपकल्पं संकोचविकाशि चित्तम् शरीरपरिमाणाकारमात्रमित्यपरे प्रतिपन्नाः—पातंजल योगसूत्र ४. १० पर व्यास भाष्य।

व्यापि है और प्रत्येक आत्मा एक पृथक् चित्त से सम्बद्ध है। प्रत्येक चित्त अपने आपको एक विशिष्ट शरीर से इस तथ्य के कारण सम्बद्ध करता है कि इसकी वृत्तियाँ उस शरीर में देखी जाती हैं। इस प्रकार आत्मा के सर्वव्यापी चित्त की वृत्तियाँ म्रियमाण शरीर में लुप्त होने लगती हैं और नवजात शरीर में क्रियमाण हो जाती हैं। अतः सूक्ष्म शरीर का स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है (आतिवाहिक तस्य न मृष्यामहे)।[1]

कणाद ने भी सूक्ष्म शरीर के अस्तित्व को मानने से इन्कार किया है और गर्भ वृद्धि में इसका कोई स्थान निर्धारित नहीं किया है। "न्याय कन्दली"[2] में श्रीधर ने गर्भ विकास का इस प्रकार वर्णन किया है पिता के शुक्र और माता के शोणित के योग के पश्चात् शुक्र शोणित के विधायक अणुओं के कारण गर्भाशय की गर्मी से एक ऐसा परिवर्तन होता है कि उनके पुराने वर्ण, आकार आदि नष्ट हो जाते हैं और नए सदृश गुण उत्पन्न हो जाते हैं और इस प्रकार द्वयणुओं और त्रसरेणुओं के क्रमिक निर्माण के द्वारा भ्रूण का विकास होता है और, जब ऐसे शरीर का निर्माण हो जाता है तो उसमें 'अन्तःकरण' का प्रवेश होता है, जोकि शुक्र शोणित अवस्था में प्रवेश नहीं कर सकता था क्योंकि मन को शरीर रूपी आश्रय की आवश्यकता होती है (न तु शुक्रशोणितावस्थायां शरीराश्रयत्वान्मनसः)। माता के अन्न रस की ऊष्मा उसका पोषण करती है। तत्पश्चात् अदृष्ट (अदृश्य शक्ति) के द्वारा गर्भ का समस्त ऊष्मा के कारण अणु रूपों में विघटन होता है और अन्न रस के अणुओं के साथ साथ नवीन गुणों से युक्त अणु नव शरीर के निर्माण के लिए आपस में पिण्ड रूप धारण कर लेते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार सूक्ष्म शरीर और चित्त का गर्भ के निर्माण एवं विकास से कोई प्रयोजन नहीं। गर्भ के निर्माण की प्रक्रिया में होने वाले सारे विघटन और पुनः संयोगों के लिए ऊष्मा ही मुख्य कारण के रूप में उत्तरदायी है।

---

[1] वाचस्पति कृत 'तत्ववैशारदी' ४ १०। महाभारत ३ २९६ १७ में उल्लेख है, 'अंगुष्ठमात्र पुरुष निश्चकर्ष यमो बलात्।' वाचस्पति का कथन है कि 'पुरुष' कोई भौतिक वस्तु नहीं है अतः इसको शरीर से बाहर नहीं खींचा जा सकता। अतः इसकी व्याख्या म्रियमाण शरीर में चित्त की वृत्तियों के अभाव के द्योतक औपचारिक अर्थ में करनी चाहिए (न चास्य निष्कर्ष सम्भवति, इत्यौपचारिका व्याख्येयस्तया च चितेश्चित्तस्य च तत्र तत्र वृत्त्यभाव एक निष्कर्षार्थ)।

साङ्ख्य प्रवचन भाष्य ५ १०३ का कथन है कि सत्यवान के शरीर से यम द्वारा निकाले गए जिस अंगुष्ठ मात्र पुरुष का उल्लेख महाभारत ३ २९६ १७ में किया गया है वह लिंगदेह के प्रमाण का ही है।

[2] 'न्याय कन्दली' विजयानगरम् संस्कृत सीरिज १८९५ पृ० ३३।

ऐसा प्रतीत होता है कि न्याय ने इसे महत्वपूर्ण प्रश्न नहीं माना है और यह भी सूक्ष्म शरीर के अस्तित्व को नहीं मानता है। न्याय दर्शन के अनुसार आत्मा सर्वव्यापी है। ऊपर दिए गए महाभूतों वाले उद्धरण में यम अंगुष्ठ मात्र पुरुष को बाहर निकाल लेता है न्याय दर्शन के अनुसार उसकी व्याख्या करनी होगी।[1] पुनर्जन्म में केवल सर्वव्यापी आत्मा ही शरीर विशेष से सम्बद्ध होता है (य एव देहान्तरसंगमोऽस्य, तमेव तज्ज्ञा परलोकमाहु)।[2]

चन्द्रकीर्ति हमें शालिस्तम्ब सूत्र से बौद्ध दृष्टिकोण का विवरण देते हैं।[3] गर्भ ■ धातुओं के समवाय से उत्पन्न होता है (षण्णां धातूनां समवायात्)। शरीर को संश्लिष्ट करने वाला धातु पृथ्वी (पार्थिव धातु) कहलाता है शरीर के अन्न और पान को पचाने वाला धातु अग्नि (तेजो धातु) कहलाता है, श्वास निःश्वास उत्पन्न करने वाला धातु वायु कहलाता है शारीरिक छिद्र (अन्त सौषियम्) को उत्पन्न करने वाला धातु आकाश (आकाश धातु) कहलाता है, जिससे ज्ञान उत्पन्न होता है वह धातु 'विज्ञान धातु' कहलाता है। इन सबके ही समवाय से शरीर की उत्पत्ति होती है (सर्वेषां समवायात् कायस्योत्पत्तिर्भवति)। कई अन्य विभिन्न कारणों के साथ संसर्ग से 'विज्ञान' का बीज नाम और 'रूप' का अंकुर उत्पन्न करता है। इस प्रकार गर्भ स्वतः उत्पन्न होता है अन्य से नहीं, और न स्वतः और अन्य दोनों से न परमात्मा के द्वारा न काल द्वारा न प्रकृति द्वारा, न एक कारण द्वारा, और न बिना कारण द्वारा अपितु उपयुक्त ऋतु में माता और पिता के अंशों के संयोग से उत्पन्न होता है।[4] माता और पिता के अंशों का योग हमें पाँच धातुएँ प्रदान करता है, जब ये पाँचों छठे धातु विज्ञान से युक्त हो जाते हैं तो वे एकसाथ क्रियाशील हो जाते हैं।

गर्भ के षडधातुओं के संयुक्त प्रभाव का परिणाम होने के मत से हमें चरक ४ ३ के एक मिलते जुलते कथन का स्मरण हो जाता है। चरक ने उसमें गर्भ के निर्माण एवं विकास के कारणों के विषय पर विभिन्न ऋषियों के बीच हुए संवादों का सारांश दिया है जहाँ प्रभावकारी शुक्र से युक्त मनुष्य और विकार रहित अंग, गर्भाशय एवं शोणित से युक्त स्त्री का समागम होता है वहाँ यदि शुक्र और शोणित के योग के समय मन के माध्यम द्वारा आत्मा इसके सम्पर्क में आवे तो गर्भ विकास करने लगता

---

[1] तस्मात् हृत्पुण्डरीके यावदवस्थानमात्मनः अतएव अंगुष्ठ मात्र पुरुष निश्चकर्ष बलाद् यम इति व्यासवचनमेवम्परमवगन्तव्यम्।

(जयन्त न्याय मंजरी, पृ० ४६६)।

[2] वही पृ० ४७३।

[3] माध्यमिक वृत्ति (Bibliotheca Buddhica) पृ० ५६० ६१।

[4] वही पृ० ५६७।

है।[1] जब इसकी उचित पोषण द्वारा देखभाल की जाती है, तब उचित समय पर बच्चा उत्पन्न होता है और उपयुक्त समस्त भूतों के समुचित भावों के कारण सारा विकास होता है (समुदयादेषां भावानाम्)। गर्भ माता पिता के तत्वों आत्मा, माता-पिता के शरीर की आरोग्य सम्बन्धी उचित देखभाल (सात्म्य) और अन्नरस से उत्पन्न होता है तथा इनके साथ साथ सत्व अथवा मनस प्रयोजक रूप में विद्यमान रहता है जो शरीर त्याग देने के पश्चात् आत्मा के लिए पूर्व देह के संयोजक का कार्य करने के लिए मध्यस्थित वाहन का कार्य करता है (औपपादिक)।[2] भारद्वाज का कथन है कि इनमें से कोई भी कारण सही नहीं माना जा सकता, क्योंकि माता पिता के समागम के उपरान्त भी वे प्रायः निःसन्तान रहते हैं। आत्मा आत्मा को उत्पन्न नहीं कर सकता, क्योंकि यदि ऐसा होता, तो क्या यह उत्पन्न होने अथवा उत्पन्न न होने के पश्चात् अपने आपको उत्पन्न कर सकता? दोनों ही अवस्थाओं में उसके लिए अपने आपको उत्पन्न करना असम्भव है। और भी यदि आत्मा में स्वयं को उत्पन्न करने की क्षमता होती तो वह अवांछित स्थानों में और दोषयुक्त शक्तियों के साथ जन्म लेने का ध्यान ही नहीं करता, जैसाकि कभी कभी होता है। पुनश्च उचित आरोग्य सम्बन्धी आदतें भी कारण नहीं मानी जा सकती क्योंकि कई ऐसे व्यक्ति विद्यमान हैं जिनकी ऐसी आदतें हैं परन्तु वे निःसन्तान हैं और कई ऐसे हैं जिनकी ऐसी आदतें नहीं हैं परन्तु वे सन्तानयुक्त हैं। यदि यह भोजन के रस के कारण होता तो सारे लोगों की सन्तानें होती। फिर यह भी सत्य नहीं कि एक देह से निकलने वाला सत्व स्वयं को भ्रूण से सम्बद्ध कर लेता है क्योंकि यदि ऐसा होता तो हम सब अपने पूर्वजन्म की घटनाएं याद रखते। अतः उपयुक्त कारणों में किसी को सही नहीं माना जा सकता। इसके उत्तर में आत्रेय का कथन है कि उपयुक्त सारे तत्वों के समुदित प्रभावों से ही बच्चे की उत्पत्ति होती है, न कि उनमें से किसी एक द्वारा पृथक् रूप से।[3] इसी विचार की ४. ३. २० में एक बार फिर पुनरावृत्ति की गई है जिसमें यह कहा गया है कि जैसे चिकित्सागृह (कूटागार वर्तुलाकार गृह जैसे वाष्पस्वेदप्रतिपादितम्—चक्रपाणि) अनेक प्रकार की वस्तुओं से बना होता है, अथवा जैसे एक रथ अपने विभिन्न भागों के संग्रह से बना होता है वैसे ही गर्भ उन विभिन्न इकाइयों के संयोग से बनता है जो

[1] वैशेषिक दर्शन के अनुसार भी सर्वव्यापी आत्मा मन के माध्यम से ही गर्भ के सम्पर्क में आता है परन्तु अन्तर यह है कि इसके अनुसार मन गर्भ के विकास का हेतुभूत प्रयोजक कारण है जबकि उसमें मन गर्भ के पास तब जाता है जब गर्भ शारीरिक ऊष्मा के द्वारा पहले से ही शरीर में विकसित हो जाता है।

[2] चरक संहिता ४. ३. ३।

[3] नेति भगवानात्रेयः सर्वेभ्य एभ्यो भावेभ्यः समुदितेभ्यो गर्भोऽभिनिर्वर्तते।

—वही ४. ३. ११।

गर्भ के निर्माण और उसके विकास का कारण होती हैं (नानाविधानां गर्भकराणां भावानां समुदयादभिनिर्वर्तते)।[1] एक अविकल सम्पूर्ण की उत्पत्ति को प्राप्त कराने वाले कारणों के ऐसे समुदित भाव का विचार अपने चारों ओर एक विशिष्ट बौद्ध चक्र धारण किए हुए प्रतीत होता है।

आत्रेय के उपर्युक्त कथन का विरोध करते हुए भारद्वाज पूछते हैं कि यदि गर्भ अनेकों समुदित कारणों का परिणाम है तो वह निश्चित क्रम क्या है जिसमें वे विभिन्न भागों को उत्पन्न करने के लिए एक दूसरे से परस्पर सहयोग करते हैं (कथमयं सन्धीयते) और फिर इसका क्या कारण है कि स्त्री से उत्पन्न सन्तान मानव सन्तान ही होती है किसी अन्य पशु की नहीं ? फिर यदि मनुष्य को मनुष्य उत्पन्न होता है, तो जड़ पुरुष का पुत्र जड़, अन्धे का पुत्र अन्धा और पागल का पुत्र पागल क्यों नहीं होता ? इसके अतिरिक्त यदि यह तर्क दिया जाय कि आत्मा आँख द्वारा वर्णों को, श्रोत्र द्वारा ध्वनियों को, नासिका (घ्राण) द्वारा गंध को, रसना द्वारा विभिन्न रसों का प्रत्यक्षीकरण करता है और त्वचा द्वारा विभिन्न स्पर्शजन्य संवेदनाओं का अनुभव करता है और इसी कारण से बच्चा पिता के गुणों को जन्म से ही नहीं ग्रहण करता है, तब यह स्वीकार करना पड़ेगा कि आत्मा को ज्ञान केवल तभी हो सकता है जब इन्द्रियां विद्यमान हों और तब उसको यह ज्ञान नहीं होगा जब इन्द्रियां नहीं हों। ऐसी दशा में आत्मा अविकारी न होकर सविकारी हो जायगा (यत्र चैतद्‌द्वयं समवैति ज्ञत्वम् अज्ञत्वं च सविकारश्चात्मा)।[2] यदि आत्मा को विषयों का बोध इन्द्रिय व्यापारों, प्रत्यक्षीकरण इत्यादि, के द्वारा होता है, तो जब यह इन्द्रियहीन होता है तो कुछ भी नहीं जान सकता, और जब यह अचेतन होता है उस समय यह शारीरिक चेष्टाओं का अथवा अन्य अपने व्यापारों में से किसी का भी कारण नहीं हो सकता, और परिणामतः इसे आत्मा नहीं कहा जा सकता। अतः यह कहना केवल मूर्खता है कि आत्मा अपनी इन्द्रियों द्वारा वर्णों इत्यादि का प्रत्यक्षीकरण करता है।

इसके उत्तर में आत्रेय का कथन है कि जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्‌भिज्ज ये चार प्रकार के प्राणी होते हैं। प्रत्येक वर्ग में नानाविध रूपों के असंख्य प्राणी विद्यमान हैं। गर्भकारी भाव (गर्भकराभावा) जिन रूपों को ग्रहण करते हैं वे रूप उस शरीर के रूप पर निर्भर करते हैं जहाँ वे एकत्र होते हैं। जिस प्रकार सोना, चांदी, ताम्बा, सीसा इत्यादि जिस पात्र में डाले जाते हैं उसी का आकार ग्रहण कर लेते हैं ठीक उसी प्रकार जब गर्भकारी भाव एक शरीर विशेष में एकत्र होते हैं तो गर्भ उस आकार विशेष को ग्रहण कर लेता है परन्तु कोई आदमी अपने पिता के दोष

---

[1] वही ४ ३ २०।

[2] चरक संहिता ४ ३ २१।

अथवा रोग से तब तक दूषित नही होता, जब तक कि यह दोष अथवा रोग इतना बुरा अथवा संक्रामक न हो कि उसके शुक्र को प्रभावित कर दे।[1] हमारे प्रत्येक अंग और अवयव का अंकुर पिता के शुक्र में है, और जब पिता के रोग अथवा दोष की जड़ें इतनी गहरी हों कि बीज किसी के अवयव विशेष के अंकुर भाग को प्रभावित (उपताप) कर दे तब उस शुक्र से उत्पन्न सन्तान उस अंग से विकलांग उत्पन्न होती है, परन्तु यदि उसके पिता का दोष अथवा रोग इतना साधारण है कि उसका शुक्र अप्रभावित रहता है तब रोग अथवा दोष पुत्र द्वारा जन्मना ग्रहण नही किया जा सकता। सन्तान इन्द्रियों के लिए माता पिता का ऋणी नही है केवल वह स्वयं ही अपनी इन्द्रियों के अच्छी या बुरी होने का उत्तरदायी है, क्योंकि वे उसके अपने आत्मा से उत्पन्न होती हैं (आत्मजानीन्द्रियाणि)। इन्द्रियों की विद्यमानता अथवा अविद्यमानता उसके अपने प्रारब्ध अथवा कर्मफल (दैव) के कारण है। इस कारण से ऐसा कोई निश्चित नियम नही है कि जड़ अथवा सदोष इन्द्रियों वाले पुरुष की सन्तान आवश्यक रूपेण जड़ अथवा अन्य प्रकार से सदोष ही उत्पन्न होवे।[2] आत्मा केवल तभी तक चेतन है जब तक इन्द्रियां विद्यमान हैं। आत्मा कभी भी सत्व अथवा मन इन्द्रिया से हीन नही रहता और इसके माध्यम से आत्मा मे सदा एक प्रकार की चेतना रहती है।[3] कर्त्ता के रूप में आत्मा व्यावहारिक कार्य मे प्रतिफलित होने वाले बाह्य जगत् के ज्ञान को इन्द्रियों के बिना ग्रहण नही कर सकता, तब कई सहायक उपकरणों की अपेक्षा रखने वाली कोई भी व्यावहारिक क्रिया तब तक नही की जा सकती जब तक ये उपकरण विद्यमान न हों, घड़ा बनाना जानने वाला कुम्हार उस समय तक घड़ा बनाने मे सफल नही हो सकता जब तक कि उसके पास वे अवयव नही हों जिनसे घड़ा बनाया जाय।[4] जब इन्द्रियां निष्क्रिय होती हैं उस समय हमारे स्वप्नज्ञान

---

[1] वही, ४ ३ २२ २३।

[2] चरक संहिता, ४ ३ २५।

[3] वही, ४ ३ २६। न ह्यसत्व कदाचिदात्मा सत्वविशेषाच्चोपलभ्यते ज्ञानविशेष। इस पर टीका करते हुए चक्रपाणि का कथन है कि बाह्य जगत् का हमारा ज्ञान *इन्द्रियों के मन के साहचर्य मे कार्य करने के कारण होता है। यदि ये इन्द्रियाँ* विद्यमान न हों तो हमें बाह्य जगत् का कुछ भी ज्ञान न हो, परन्तु मन की आन्तरिक इन्द्रिय सदा आत्मा के सम्पर्क मे रहती है इसलिए जो ज्ञान 'मन' इन्द्रिय के कारण होता है वह सदा आत्मा मे उपस्थित रहता है। (यत्तुकेवलमनोजन्यमात्मज्ञान तद् भवत्येवसर्वदा)। ऐसा प्रतीत होता है कि सत्व और मन दोनों का प्रयोग मन इन्द्रिय के द्योतक अर्थ में किया गया है।

[4] चरक संहिता, ४ ३ २७ के शब्द 'कार्यज्ञानम्' की चक्रपाणि ने ऐसे व्याख्या की है कार्यप्रवृत्तिजनकबाह्यविषयज्ञानम्। जब आत्मा के पास मन इन्द्रिय के साहचर्य मे

द्वारा यह तथ्य अच्छी तरह प्रदर्शित होता है कि इन्द्रियों के क्रियाशील नहीं होने पर भी आत्मा में चेतना होती है।[1] आत्रेय का आगे कहना है कि जब इन्द्रियों का पूर्ण रूप से निग्रह हो जाता है और मन भी निगृहीत तथा आत्मा में केन्द्रित हो जाता है, तब कोई भी मनुष्य इन्द्रिय व्यापार के बिना ही सब वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कर सकता है।[2] इस प्रकार आत्मा स्वयं ही ज्ञाता और कर्ता है।

चक्रपाणि की व्याख्या के अनुसार, चरक का दृष्टिकोण कुछ कुछ नवीन सा प्रतीत होता है। क्योंकि आत्मा न तो सांख्य योग के पुरुष के समान शुद्ध 'चित्' ही है और न वेदान्त के समान सत्, चित् और आनन्द का एकत्व ही है। यहां आत्मा मन के साथ अपने निरन्तर साहचर्य के कारण ज्ञाता है। हां, इस दृष्टि से हम न्याय वैशेषिक दृष्टिकोण के अधिक निकट हैं। परन्तु न्याय वैशेषिक दृष्टिकोण में आत्मा सदा मन के सम्पर्क में नहीं रहता है और सदा चेतन नहीं है। उस दृष्टिकोण में मन अणुमय है। आत्मा के सदा निराकार चैतन्य रूप होने की दृष्टिकोण निस्सन्देह वेदान्तीय अथवा सांख्य रंग लिए हुए है, परन्तु अन्य विवरण स्पष्टतः इस दृष्टिकोण को इन सम्प्रदायों की मान्य व्याख्याओं से पृथक कर देते हैं। फिर भी यहाँ पर प्रतिपादित आत्मा का सिद्धान्त असंगत प्रतीत होता है और अधिक विस्तार से उसकी चर्चा बाद में की जाएगी।

सूक्ष्म शरीरों के अस्तित्व के विषय में हमने भारतीय दर्शन की विभिन्न शाखाओं के दृष्टिकोण चरक के दृष्टिकोण से साम्य अथवा वैषम्य दिखाने के उद्देश्य से पहले ही उद्धृत कर दिए हैं। इस खंड के समापन से पहले सूक्ष्म शरीरों के स्वरूप के बारे में वेदान्त दृष्टिकोण का उल्लेख करना आवश्यक है।

जैसा शंकर ने भाष्य किया है, वेदान्त के अनुसार सूक्ष्म शरीर पांच भूतसूक्ष्मों से बना है जो प्राण, अपानादि पांच वायुओं से भी युक्त होता है।[3] जो पुण्य कर्म करते हैं वे चन्द्रलोक में जाते हैं और जो पाप करते हैं वे यमलोक में कष्ट भोगते हैं और इस जगत् में पुनर्जन्म प्राप्त करते हैं।[4] जो अपने पुण्य कर्मों के फलस्वरूप चन्द्र-

---

काम करने वाली कोई इन्द्रियाँ नहीं होतीं तब उसके पास जो ज्ञान होता है वह निर्विषय होता, दूसरे शब्दों में, आत्मा का यह ज्ञान सदा निराकार होता है।

[1] वही, ४ ३ ३१।

[2] विनापीन्द्रियैं समाधिबलादेव यस्मात् सर्वज्ञो भवति, तस्माज्ज्ञस्वभाव एव निरिन्द्रियोऽप्यात्मा (चक्रपाणि कृत चरक तात्पर्य टीका, ४ ३ २८-२९)।

[3] ब्रह्मसूत्र ३ १ १–७ पर शांकर भाष्य।

[4] वही, ३ १ १३।

लोक म जाते हैं और तदनन्तर अपने पुण्यों का सम्पूर्ण सचय प्राय क्षीण कर देते हैं और परिणामत वे वहाँ अधिक देर स्थित नही रह सकते हैं, वे इस मृत्यु लोक की ओर अपनी यात्रा प्रारम्भ कर देते हैं। वे आकाश, वायु, धूम और मेघ मे से होकर गुजरते हैं और तत्पश्चात् वर्षा के साथ पृथ्वी पर बरसाए जाते हैं और वनस्पतिया द्वारा आत्मसात् कर लिए जाते हैं और फिर उनको खाने वाले मनुष्या के शरीर में पहुँचते हैं और पुन उन पुरुषा की स्त्रिया के गभ मे शुक्र रूप म छोडे जाते हैं और फिर पुनजन्म को प्राप्त करते हैं। चन्द्रलोक म उपलब्ध भोगा के हेतु वहा उनका शरीर जलमय होता है (चन्द्रमण्डले यदम्मय शरीरमुपभोगार्थमारब्धम्) और जब उनके पुण्य उपभोगो के द्वारा क्षीण हो जाते ह और उस शरीर को अधिक समय धारण करने योग्य नही रहते हैं, तो वे आकाश के समान शरीर को प्राप्त करते हैं और इस प्रकार वायु से प्रेरित होकर धूम और मेघ के सम्पक म आते हैं। इस स्थिति मे और जब वे वनस्पतिया के शरीर म विलीन हो जाते हैं तब भी वे न तो सुख का और न दु ख का ही उपभोग करते हैं। जो अपने पाप कर्मों के दण्डस्वरूप वनस्पति शरीर को प्राप्त होते हैं और जो अपने पुनजन्म के पथ पर केवल पडावमात्र रूप से वनस्पति शरीर को प्राप्त करते हैं उनकी अवस्थाओ मे अन्तर रखना आवश्यक है। प्रथम अवस्था मे वनस्पति जीवन भोगयोनि का जीवन है जबकि दूसरी अवस्था मे न दु ख है और न सुख। जब वनस्पति शरीरो को चबाया और चूण किया जाता है तब भी पडाव रूप म उनके अन्दर रहने वाली आत्माओ को दु ख नही प्राप्त होता, क्योंकि वे इन वनस्पतिया से सश्लिष्ट मात्र ही है (चन्द्रमण्डलस्खलितानां व्रीह्यादि सश्लेपमात्र तद्भाव)।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि केवल साख्य और वेदान्त ही सूक्ष्म शरीर की सत्ता को स्वीकार करते हैं और इस प्रकार उनका चरक के मत से साम्य है। चरक का इस ग्रथ मे वेदान्त मे अधिक मतैक्य है कि जहाँ साख्य के अनुसार तन्मात्राओ से सूक्ष्म शरीर निर्मित है वहाँ चरक और वेदान्त दोनो के मत मे सूक्ष्म शरीर तत्व के स्थूल भूतो के सूक्ष्म कणो द्वारा निर्मित होता है। आत्मा गभ मे प्रवेश के समय क्रमश आकाश, वायु तेज, उष्मा जल और पृथ्वी (न कि किसी अन्य क्रम मे) से एक क्षण बराबर क्षण मे सश्लिष्ट हो जाता है।[2]

---

[1] ३ १ २५ और ३ १ २२–२७ पर शाकर भाष्य।

[2] चरक सहिता ४ ४ ८। इस पर टीका करते हुए चक्रपाणि कहते हैं कि इस बात का कोई विशेष कारण नही है कि स्थूल भूतो के ग्रहण करने का क्रम सूक्ष्म से स्थूल की ओर क्यों होना चाहिए? इस क्रम को आगम सिद्ध प्रमाण के अनुसार ही स्वीकार करना होगा—अयं च भूतग्रहणक्रम आगमसिद्ध एव नात्र युक्तिस्तथाविधा हृदयगमास्ति।

गर्भ वृद्धि[1]

जब तत्व के विभिन्न महाभूत सूक्ष्म शरीर से संयुक्त होकर आत्मा से संश्लिष्ट होते हैं तो वे एक छोटे श्लेष्म पिण्ड (खेट भूत) से प्रतीत होते हैं जिसके सारे अंग

---

[1] गर्भ उपनिषद् मे गर्भवृद्धि का वर्णन है परन्तु इसका काल अज्ञात है इसकी महत्व पूर्ण आवश्यक बातें इस प्रकार संक्षेप म कही जा सकती हैं शरीर के कठोर भाग पृथ्वी है तरल भाग जल है, जो ऊष्ण है वह तेज है जो सचरण करता है वह वायु है जो शून्य रूप है यह आकाश है। आगे शरीर का मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त कटु और कषाय इन षडरसो पर आश्रित (षडाश्रय) और उसे रस, शोणित और मास की सात धातुओ द्वारा निर्मित बताया गया है। षडरसो स शोणित उत्पन्न होता है शोणित से मास बनता है मास से मेद उत्पन्न होता है मेद से स्नायु, स्नायु से अस्थि अस्थियो से मज्जा मज्जा से शुक्र उत्पन्न होता है। शुक्र और शोणित के सयोग के पश्चात् की दूसरी रात्रि तक गर्भ गोल पिण्ड के आकार का हो जाता है जिसे 'कलल' की सज्ञा दी जाती है आठवीं रात्रि को यह छोटे फफोले के आकार का हो जाता है जिसे 'बुद्बुद' की सज्ञा दी जाती है, एक पक्ष के पश्चात् पिण्ड का आकार ग्रहण कर लेता है, दो मास मे सिर प्रकट होता है तीन मास मे पैर, चार मास म उदर एडी और कटि भाग प्रकट होते हैं पाचवें मास मे मेरुदड प्रकट होता है, छठे मास म मुख नाक आखें और कान विकसित होते हैं सातवें मास मे गर्भ जीव से सयुक्त होता है (जीवेन सयुक्तो भवति), आठवें मास म यह पूर्ण विकास को प्राप्त हो जाता है। शोणित से शुक्र का आधिक्य होनेपरपुरुष सतान उत्पन्न होती है, शुक्र से शोणित का आधिक्य होने पर स्त्री सन्तान उत्पन्न होती है जब दोनो समान होते हैं तो स्त्री पुरुष दोनो के लक्षणो से युक्त सतान उत्पन्न होती है। जब किसी प्रकार से शुक्र मे वायु का प्रवेश हो जाता है और दो भागो मे विभक्त हो जाता है तो यमल उत्पन्न होते हैं। यदि माता पिता का मन व्याकुल (व्याकुलितमानस) हो तो सन्तान या तो अधी या पगु या कुब्ज होगी। नवें मास मे जब गर्भ अपने सर्वांगो मे सुविकसित हो जाता है, तो यह अपने पूर्व जन्म को स्मरण करता है और अपने पुण्य और पाप कर्मों का ज्ञान प्राप्त करता है और अपने पूर्व जन्म के कर्मों के कारण यह पश्चाताप करता है कि यदि वह एक बार बाहर आ जाय तो वह सारय योग के अनुशासन का पालन करेगा। परन्तु ज्योंही बच्चा उत्पन्न होता है त्योंही वह वैष्णव वायु के सम्पर्क में आता है और सारे पूर्व जन्मो और निश्चयो को भूल जाता है। देह को शरीर इसलिए कहा गया है कि कोष्ठाग्नि दर्शनाग्नि और ज्ञानाग्नि ये तीन अग्नियां उसमे निवास करती है (श्रयन्ते)। कोष्ठाग्नि सब प्रकार के अन्न पान को पचाती है दर्शनाग्नि

इतने अस्पष्ट और अविकसित होते हैं कि उन्हें विद्यमान होते हुए भी अविद्यमान कहा जा सकता है। सुश्रुत का कथन है कि शरीर के दो मुख्य विधायक शुक्र और शोणित, क्रमशः चन्द्रमा के आवस्तत्व (सौम्य) और तेजस्तत्व (आग्नेय) से बने हैं, अन्य भूतों के भी अणु विशेष उनसे संयुक्त होते हैं, और यह सब शरीर के निर्माण के लिए आपस में एक दूसरे की सहायता एवं सहयोग करते हैं।[1] सुश्रुत आगे और कहते हैं कि पुरुष और स्त्री के संयोग के समय उत्पन्न गरमी (तेज) वायु को कुपित करती है और वायु और तेज के सम्पर्क से शुक्र स्खलित होता है।[2] परन्तु चरक का मत है कि शुक्र के स्खलन का कारण हर्ष है।[3] शुक्र शरीर से उत्पन्न नहीं होता परन्तु सारे शरीर के सब भागों में रहता है। यह केवल हर्ष ही है जो स्खलन का और शुक्र के गर्भाशय में प्रवेश का कारण है।[4] इस प्रकार उनका कथन है कि आत्मा के द्वारा हर्ष रूप में च्युत होकर (हर्षभूतेनात्मनोदीरितश्चाधिष्ठितश्च) शुक्र का विधायक या बीज मनुष्य शरीर से बाहर आकर इसके गर्भाशय में उचित पथ द्वारा प्रवेश पाने के पश्चात्, गर्भाशय में आर्तव के साथ संयुक्त हो जाता है। सुश्रुत के अनुसार च्युत शुक्र स्त्री योनि में प्रविष्ट होता है (योनिमभिप्रपद्यते) और वहां आर्तव के संसर्ग में आता है।[5] उसी क्षण आत्मा अपने सूक्ष्म शरीर के साथ उसमें संश्लिष्ट हो जाता है और

द्वारा रूप और वर्ण का प्रत्यक्षीकरण होता है, जठराग्नि द्वारा मनुष्य अच्छे और बुरे कर्म करता है। यह उपनिषद् खोपड़ी की अस्थियों की संख्या चार बताती है, मर्मों की संख्या १०७ सन्धियों की १८० स्नायु १०६ शिराएं ७०० मज्जा स्थान ५०० और अस्थियां ३०० बताती है।

[1] सुश्रुत संहिता ३ ३ ३।

[2] वही ३ ३ ४ निर्णयसागरीय १६१५ का संस्करण। इस पर टीका करते हुए, डल्हण का कथन है सुखलक्षणव्यायामजाध्मविलीन विद्रुतमनिलाच्च्युतम्।

[3] चरक संहिता ४ ४ ७।

[4] चरक संहिता ४ ४ ■ पर टीका करते हुए चक्रपाणि का कथन है नागेभ्य शुक्र-मुत्पद्यते, किन्तु 'शुक्र रूपतयैव व्यज्यते' अर्थात् शुक्र शरीर के विभिन्न भागों से उत्पन्न नहीं होता परन्तु इसकी सत्ता जैसा यह है वैसा ही है और यह दृश्य रूप में एक क्रिया विशेष के बाद ही केवल प्रकट होता है (सुश्रुत ३ ३ ४)।

[5] डल्हण द्वारा की गई इसकी व्याख्या के अनुसार, स्त्री योनि का अर्थ यहाँ गर्भाशय है इस प्रकार डल्हण कहते हैं योनेस्तृतीयावर्त्तावस्थितगर्भशय्या प्रतिपद्यते अर्थात् शुक्र योनि के तृतीय आवर्त गर्भाशय में प्रवेश करता है। सम्भवतः यहाँ गर्भाशय को तृतीय आवर्त माना गया है प्रथम दो शायद योनि द्वार और योनि मार्ग है।

इस प्रकार सत्व रजस और तमस के भौतिक गुणो से और दैव आसुर और अन्य गुणो से संश्लिष्ट हो जाता है। आत्मा के भौतिक तत्वों के साथ सम्पर्क के प्रश्न का उल्लेख करते हुए चरक कहते हैं कि ऐसा मनरूप करण (सत्वकरण) से युक्त होकर आत्मा के प्रवृत्त होने के कारण होता है।[1] उपर्युक्त अंश पर टीका करते हुए चक्रपाणि का कथन है कि आत्मा निष्क्रिय है, तथापि आत्मा का क्रियाशील होना उससे संयुक्त प्रयोजक मन के कारण बताया जाता है। आत्मा को पूर्णरूपेण निष्क्रिय मानने वाले परम्परागत सांख्य दर्शन के मत के साथ चक्रपाणि का मत मेल खाता सा प्रतीत होता है परन्तु चरक संहिता में आत्मा की निष्क्रियता के बारे में कुछ भी नहीं कहा गया है क्योंकि चरक आत्मा को प्रवृत्तिशील, कर्ता, और विश्वकर्मा मानते हैं और सत्व का यहाँ केवल आत्मा के अवयव (सत्वकरण) के रूप में वर्णन किया गया है।

प्रथम मास में, गर्भ आकार लसदार (कलल) होता है।[2] दूसरे मास में शीत, ऊष्मा और वायु के कार्य द्वारा रासायनिक परिवर्तन प्राप्त करके (अभिप्रपच्यमान) गर्भ घनत्व को प्राप्त करता है। यदि यह पुरुष संतान का गर्भ होता है, तो वह पिण्डाकार होता है, यदि यह स्त्री संतान का गर्भ होता है तो वह पेशी के आकार का होता है, यदि यह स्त्री पुरुष लक्षण युक्त सन्तान का गर्भ होता है तो यह आधे गोल पिण्ड (अर्बुद) के आकार का होता है।[3] तीसरे मास में पाँच पिण्डक और अंग विभाग भी सूक्ष्म रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। चतुर्थ मास में अंग प्रत्यंग विभाग निश्चिततर और सुस्पष्ट होता है, और गर्भ हृदय की अभिव्यक्ति के कारण चेतना धातु भी अभिव्यक्त हो जाती है क्योंकि हृदय चेतना का विशेष स्थान है अतः चतुर्थ मास से इन्द्रिय विषयों के लिए इच्छा प्रकट करता है। पंचम मास में मन प्रतिबुद्धतर हो जाता है

---

[1] सत्वकरणगुणग्रहणाय प्रवर्तते—चरक संहिता ४ ४ ८। चक्रपाणि ने ठीक ही प्रदर्शित किया है कि यहाँ 'गुण' भूतों के द्योतक है जिनमे गुण होते हैं—गुणवन्ति भूतानि। इन सब स्थलों में 'गुण' भूत अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यद्यपि 'गुण' का अर्थ विशेषता होता है और गुणी का अर्थ द्रव्य फिर भी यहाँ ग्रहण किया गया दृष्टिकोण 'गुण' और गुणी' के अन्तर पर ध्यान नहीं देता, और विशेषता का द्योतक सामान्य शब्द 'गुण गुणी' के लिए प्रयुक्त है (गुणगुणिनोरभेदोपचारात् चक्रपाणि वही)।

[2] डल्हण ने 'कलल' की व्याख्या सिंघानप्रख्यम की है।

[3] पेशी और 'अर्बुद' शब्दों के अर्थ के बारे में डल्हण और गयी में मतभेद है। अतः गयी कहते हैं कि 'पेशी' का अर्थ चतुष्कोणीय (चतुरस्र) है और 'अर्बुद' का अर्थ सेमल पेड़ की कली का आकार (शाल्मली मुकुलाकारम्) है।

छठे में बुद्धि का विकास होने लगता है सातवें मे अंग प्रत्यंगो का विभाग पूर्ण हो जाता है, अष्टम मास म ओज (ओजस) अस्थिर रहता है और इस हेतु यदि कोई सन्तान इस समय उत्पन्न होती है तो अल्पायु होती है।[१]

विभिन्न भूतो द्वारा शरीर निर्माण म दिए गए योगदान का वर्णन करते हुए चरक का कथन है कि आकाश तत्व से शब्द, श्रवण, लाघव, सौक्ष्म्य और रध्रयमता (विरेक) निर्मित होते हैं वायु से स्पर्श, स्पर्शनेन्द्रिय, रूक्षता प्रेरणा शक्ति, धातुओ की रचना (धातु व्यूहनम) और शारीरिक चेष्टा का निर्माण होता है, अग्नि से रूप चक्षु, पाचन, उष्णता इत्यादि, जल से रस रसना, शीतता, मार्दव चिक्नापन और गीलापन, पृथ्वी से गध, घ्राणेन्द्रिय, भारीपन, स्थिरता और कठोरता। इस प्रकार विभिन्न भूतो से निर्मित शरीर के भाग उन तत्वो की प्राप्ति से उत्पन्न और विकसित होते हैं जिनसे वे तत्व उत्पन्न हुए हैं।[२] जिस प्रकार सारा ससार पाँच भूतो से बना है उसी प्रकार मानव शरीर भी पाँच भूतो से बना हुआ है।[३] चरक का मत है कि जन्म से पूर्व उत्पन्न इन्द्रियाँ और शरीर के अन्य सब अग तीसरे मास मे युगपत् रूप से प्रकट होते हैं।[४] जब तीसरे मास मे ज्ञानेन्द्रियो की उत्पत्ति होती है, तब हृदय मे भावो और इच्छाओ का प्रादुर्भाव होता है। चतुर्थ मास मे गर्भ दृढ हो जाता है, पचम मे उस अधिक मास और रुधिर मिलता है, छठे मे बल और वर्ण का अधिकतर विकास होता है सप्तम मास में यह अपने सारे अगो सहित सम्पूर्ण हो जाता है अष्टम मास म माता और गर्भ के बीच ओज का निरन्तर आदान प्रदान होता है। गर्भ के अभी सब पूर्ण विकसित न होने के कारण, ओज माता से गर्भ मे जाता है, परन्तु क्योकि गर्भ इसे रोक सकने मे समर्थ नही होता है इसलिए यह माता को लौट जाता

---

१ सुश्रुत सहिता ३ ३ ३०।

२ चरक सहिता ४ ४ १२।

३ एवमय लोकसम्मित पुरुष —यावन्तो हि लोक भावविशेषास्तावन्त पुरुषे, यावन्त पुरुषे तावन्तो लोके (चरक सहिता ४ ४ १३)। वही ४ ३ मे यह कहा गया है कि गर्भ अपने त्वचा, रक्त, मास मेद, नाभि हृदय, क्लोम, प्लीहा, यकृत, वृक्क, वस्ति मलाशय आमाशय पक्वाशय और उत्तरगुदा और अधोगुदा माता से प्राप्त करता है और अपने केश, दाढी, नख, दात, अस्थियाँ, नाडियाँ और शुक्र पिता से, परन्तु जैसा भी यह हो, यह निश्चित है कि इन सब अवयवो का विकास वास्तव मे पचमहाभूतो के एकीकरण के कारण होता है। इसलिए मानव गर्भ की वृद्धि ससार में अन्य वस्तुओ की वृद्धि के समान ही महाभूतो की वृद्धि के कारण होती है।

४ वही ४ ४ १४।

है।[1] इस पर टीका करते हुए चक्रपाणि का कहना है कि ऐसा आदान प्रदान केवल इसलिए सम्भव है कि गर्भ इस समय तक अविकसित होता है, और माता के साहचर्य के कारण गर्भ माता के ओज का कार्य भी सम्पादित करता है, क्योंकि यदि माता में से ओज पूर्ण रूप से निकल जाय तो वह जीवित नहीं रह सकती।

गर्भ के विभिन्न अंगों के प्रकट होने के क्रम के विषय में बहुत मत-वैभिन्य है। चरक और सुश्रुत ने विवादरत आचार्यों की दो भिन्न भिन्न शाखाओं का वर्णन किया है। इस प्रकार कुमारशिरा और शौनक के अनुसार सिर प्रथम प्रकट होता है क्योंकि यह इन्द्रियों का स्थान है, बाल्हीक वद्य काकायन और कृतवीर्य के अनुसार हृदय का आविर्भाव पहले होता है क्योंकि कृतवीर्य के अनुसार (जैसा सुश्रुत में वर्णित है) हृदय चेतना, बुद्धि और मन का अधिष्ठान है। भद्रकाप्य के अनुसार (जैसा चरक ने वर्णन किया है) नाभि प्रथम उत्पन्न होती है क्योंकि इसी स्थान पर भोजन संचित होता है और पाराशर के अनुसार (जैसा सुश्रुत में उल्लेख है) क्योंकि सम्पूर्ण शरीर यहीं से उत्पन्न होता है। भद्रशौनक के अनुसार (जैसा चरक ने उल्लेख किया है) क्षुद्रान्त्र और पक्वाशय सर्वप्रथम आविर्भूत होते हैं क्योंकि यह वायु का अधिष्ठान (मरुताधिष्ठानत्वात्) है, बडिश के अनुसार (जैसा चरक द्वारा उल्लेख किया गया है) हाथ और पैर पहले निकलते हैं क्योंकि यही मुख्य अवयव हैं और मार्कण्डेय के अनुसार (जैसा सुश्रुत ने वर्णन किया है) क्योंकि वे सब चेष्टाओं के मुख्य मूल हैं (तन्मूलत्वाच्चेष्टायाः), विदेह जनक के अनुसार (जैसाकि चरक द्वारा उल्लेख है) इन्द्रियाँ प्रथम प्रकट होती हैं क्योंकि वे बुद्धि का अधिष्ठान (बुद्ध्यधिष्ठान) हैं, मारीचि के अनुसार (जैसा चरक का उल्लेख है) यह कहना सम्भव नहीं कि शरीर का कौन सा भाग पहले विकसित होता है क्योंकि यह किसी के द्वारा देखा नहीं जा सकता (परोक्षत्वादचिन्त्यम्) सुभूति गौतम के अनुसार (जैसा सुश्रुत ने वर्णन किया है) शरीर का मध्य भाग (मध्य शरीर) पहले प्रकट होता है क्योंकि शरीर के अन्य भागों का विकास इस पर आश्रित है (तन्निबद्धत्वात्सर्वगात्रसम्भवस्य) धन्वन्तरि के अनुसार (जैसा चरक और सुश्रुत दोनों का वर्णन है) शरीर के सारे भाग एकसाथ विकसित होने लगते हैं (युगपत्सर्वांगाभिनिर्वृत्तिः) यद्यपि उनकी सूक्ष्मता और अस्पष्टता के कारण ऐसा विकास बढ़ते हुए बाँस के अंकुर अथवा आम के फल के समान सम्यक् प्रकार से देखा नहीं जा सकता (गर्भस्य सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यते वंशांकुरवच्चूतफलवच्च)।[2]

---

[1] मातुरोजो गर्भं गच्छतीति यदुच्यते तद् गर्भौज एव मातृसम्बद्धं सन् मात्रोज इति व्यपदिश्यते चक्रपाणि ४ ४ २४।
गर्भ के विभिन्न अंगों के प्रकट होने के क्रम के विषय में बहुत मत वैभिन्य है।

[2] सुश्रुत संहिता ३ ३ ३२ और चरक संहिता ४ ६ २१।

जिस प्रकार कच्चे आम की प्रारम्भिक अवस्थाओं में गूदा और गुठली अविभक्त होते हैं और वे जब आम पक जाता है तो स्पष्ट रूप से विकसित और विभक्त हो जाते हैं, ठीक वैसे ही, मानव गर्भ जब विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में ही होता है तो इसके सारे अविभक्त भाग वहाँ एकसाथ बढ़ते रहते हैं, यद्यपि अपनी संरचना और वृद्धि की सूक्ष्मता के कारण उनको उस समय पहचाना नहीं जा सकता।

गर्भवृद्धि की प्रारम्भिक प्रक्रिया का उल्लेख करते हुए सुश्रुत का कथन है कि जब शुक्र और शोणित ऊष्मा के द्वारा रासायनिक परिवर्तन को प्राप्त होते हैं, तो दूध पर बनी मलाई की परतों के समान (सन्तानिका) त्वचा की सात भिन्न भिन्न परतें (कला) क्रमशः उत्पन्न होती हैं। प्रथम परत जो धान्य के अठारहवें भाग के बराबर मोटी होती है 'अवभासिणी' कहलाती है धान्य के षोडशांश के बराबर मोटी दूसरी कला 'लोहिता' धान्य के द्वादशांश के तुल्य मोटी तीसरी 'श्वेता', अष्टमांशतुल्य चौथी ताम्रा पंचम, पंचमांश-तुल्य वेदिनी, धान्य के आकार-तुल्य छठी 'रोहिणी' और सातवी दो धान्यों के आकार के तुल्य, मांसधरा' कहलाती है। त्वचा की ये सातों कलाएँ लगभग छः धान्यों के बराबर या अनुमानतः एक इंच होती है। यह कथन शरीर के उन्हीं स्थानों पर लागू होता है जहाँ मांस होता है। त्वचा की इन सात कलाओं के अतिरिक्त विभिन्न धातुओं के बीच में भी सात कलाएं होती हैं। धातु' (धातु धा' धारण करना' से व्युत्पन्न) वह है जो शरीर को धारण करता है यथा, रस रक्त, मांस, मेद अस्थि, मज्जा, शुक्र और अन्त में ओज। कफ, पित्त और पुरीष को भी धातु मानना होगा। परन्तु ये कलाएँ दृश्य नहीं हैं उनके अस्तित्व का इस तथ्य से अनुमान लगाया जाता है कि विभिन्न धातुओं के अपने पृथक स्थान अवश्य निर्धारित होंगे और कलाओं को एक धातु की परत को दूसरी से विभक्त करने वाला माना गया है और वे कफ और स्नायुओं से आवृत हैं।[1] 'मांसधरा संज्ञक प्रथम कला में मांस की नाड़ियाँ, स्नायु इत्यादि पाई जाती हैं, द्वितीय, रक्तधरा में मांस के अन्तर्भाग में रक्त पाया जाता है मेदोधरा नामक तीसरी में मेद होता है जो उदर और अण्वस्थियों के बीच में भी पाया जाता है।[2] चतुर्थ कला श्लेष्मधरा है जो संधियों में विद्यमान है, पंचम 'पुरीषधरा' है जो पक्वाशय में विद्यमान है और मल पृथक् करती है, छठी और सातवीं पित्तधरा' और 'शुक्रधरा' हैं।

---

[1] वृद्ध वाग्भट द्वारा 'कला' की परिभाषा इस प्रकार की गई है 'यस्तु धात्वाशयान्तरेषु क्लेदोऽवतिष्ठते यथास्वमुष्मभिविपक्व स्नायुश्लेष्मजरायुच्छन्न काष्ठ इव सारो धातुसारान्याऽल्पत्वात् कलासंज्ञ (अष्टांगसंग्रह, शारीर ५)।

[2] क्षुद्र अस्थियों के अन्दर की चर्बी 'मेद' कहलाती है, जब स्थूल अस्थियों के अन्दर की चर्बी मज्जा' कहलाती है और शुद्ध मांस की चर्बी 'वसा' कहलाती है।

सुश्रुत का विचार है कि यकृत और प्लीहा शोणित से उत्पन्न होते हैं फुफ्फुस (फेफड़े) रक्तफेन से और 'उण्डुक' (मलाशय में एक ग्रंथि) रक्त के मल (शोणित किट्टप्रभव) से उत्पन्न होता है। रक्त के श्रेष्ठ भाग (प्रसाद) और कफ पर पित्त की क्रिया होती है और वायु उसका अनुधावन करता है, इस प्रक्रिया से आँतें, गुदा और वस्ति उत्पन्न होते हैं, और जब उदर में पाचन प्रक्रिया होती है तो कफ, रक्त और मांस के सार के रूप में जिह्वा की उत्पत्ति होती है। वायु ऊष्मा से युक्त होकर मांस में प्रविष्ट होता है और स्रोतों को बदल देता है, पेशियाँ विभक्त हो जाती हैं और मेद के स्नेह भाग से वायु शिराओं और स्नायुओं को उत्पन्न करता है। रक्त और मेद के प्रसाद से गुर्दे (वृक्क) उत्पन्न होते हैं, मांस, रक्त, कफ और मेद के सारभूत अंश से अण्डकोष और रक्त एवं कफ के सार से हृदय बनता है जो प्राणवहा धमनियों का आश्रय है। हृदय के नीचे की ओर बाएँ तरफ प्लीहा और फुफ्फुस हैं और दाएँ ओर यकृत् और क्लोम (दक्षिणी फेफड़ा) और यह विशेष रूप से चेतना का स्थान है। निद्रा के समय जब हृदय तमोभूयिष्ठ श्लेष्मा से छन्न हो जाता है, तो वह संकुचित हो जाता है।

गर्भ माता के रस के कारण और गर्भ शरीर के वायुज फुलाव के कारण भी बढ़ता है।[1] शरीर की नाभि ज्योति स्थान है और वायु यहाँ से प्रारम्भ होकर शरीर को फुलाता रहता है।

यह ध्यान रखना चाहिए कि गर्भ संयुक्त रूप में कार्य करने वाले अनेकों कारणों का फल है। जन्म के समय किसी अंग विशेष में विकार उन कार्यकारी कारणों में से एक या अधिक के उस अंग के विकार के कारण होता है जिनके प्रभाव के कारण वह अंग विशेष उत्पन्न हुआ था। जो अवयव या अंग पूर्णतः अस्तित्वहीन थे उनके गर्भवृद्धि का कारण होने का प्रश्न नहीं है, वे अवयव या अंग सामान्य रूप में संयुक्त रूप से कार्य करने वाले कारणों में पहले से ही विद्यमान थे। संयुक्त कारणों ने कोई पूर्णतः नई वस्तु उत्पन्न नहीं की परन्तु उनके संयुक्त कार्य ने उस सब को वास्तविक रूप प्रदान करने में सहायता की जो उनमें पहले ही से अन्तर्निहित था। सारे संयुक्त कारणों में से आत्मा शरीर के सारे विकारों में निर्विकार रहता है। सुख दुःख के अथवा आत्मा के कारण माने जाने वाले अन्य गुणों के विकार वास्तव में या तो सत्त्व अथवा मन के कारण हैं या शरीर के कारण।[2] इस पर टीका करते हुए चक्रपाणि का कथन है कि किसी आत्मा के इस या उस जन्तु के रूप में जन्म ग्रहण करने का यह अर्थ नहीं है कि आत्मा विकारी है (परमात्मविकारो न भवति)

---

[1] सुश्रुत संहिता ३ ४ ५७।

[2] निर्विकार परस्त्वात्मा सर्वभूतानां निर्विशेषसत्त्वशरीरयोस्तु विशेषाद् विशेषोपलब्धि
—चरक संहिता ४ ४ ३४।

क्योंकि ऐसा विकार सत्व, रजस अथवा तमस की अत्यधिक प्रबलता के कारण होता है, वास्तव मे सत्व, रजस, और तमस धर्म और अधर्म के कारण होते है और धर्म और अधर्म केवल मन के गुण हैं (सत्वरजस्तम प्रबलतारूपविकारजमनोजन्यधर्माधर्मजन्यायेव)।[1]

शरीर के वात पित्त और श्लेष्मा तीन दोष होते हैं और रजस और तमस मन (सत्व) को प्रभावित करने वाले दो दोष हैं। पहले तीन दोषो के वैषम्य से शरीर रुग्ण होता है, और दूसरे दो के विषम होने से मन प्रभावित होता है। इनका अधिक विस्तार से विवेचन बाद मे किया जाएगा।

वृद्धि और व्याधियाँ

वायु, पित्त और कफ इन तीन तत्वो को धातु और दोष दोनों ही माना गया है। 'धातु' वे तत्व है जो शरीर को धारण करते हैं। शरीर पाँच भूतो के विकारो का समुदाय है और यह उस समय तक उचित ढग से काम करता रहता है जबतक कि ये पाच भूत शरीर मे उचित अनुपात (समयोग वाहिन्) मे हो।[2] शरीर को धारण करने मे परस्पर सहयोग करने वाले पाँच भूतो के ये विकार धातु कहलाते है। जब एक या अधिक धातु उचित मात्रा से न्यून अथवा अधिक (धातु वैषम्य) हो जाते हैं तो एक अथवा अधिक धातुओ की आंशिक रूप से अथवा पूर्ण रूप से (अकात्स्न्येन प्रकृत्या वा) अधिकता अथवा न्यूनता हो सकती है। जैसा चक्रपाणि ने व्याख्या की है, यह द्रष्टव्य है कि धातुओ की प्रत्येक प्रकार की अधिकता अथवा न्यूनता धातु-वैषम्य अथवा धातु सतुलन मे गडबड उत्पन्न नही करती, धातु वैषम्य केवल तब ही कहलाता है जब ऐसी न्यूनता अथवा अधिकता शारीरिक क्लेश उत्पन्न करती है। न्यूनता अथवा अधिकता की जो मात्रा शारीरिक क्लेश उत्पन्न नही करती है उसे धातु का प्राकृत मान कहते हैं।[3] अवश्य, यह स्पष्ट है कि 'प्राकृतमान' और धातु वैषम्य की इस परिभाषा मे चक्रक दोष निहित है क्योकि धातुओ का प्राकृतमान उसे कहा गया है जो शारीरिक क्लेश न होने की अवस्था मे विद्यमान हो और धातुवैषम्य वह है जो उस समय विद्यमान होता है जब शारीरिक क्लेश होता है, अत शरीर के क्लेश का लक्षण 'धातुवैषम्य' के अर्थ मे होना चाहिए। इस आरोप से मुक्ति का एकमात्र

---

[1] चक्रपाणि की चरक ४ ४ पर टीका।

[2] चरक संहिता ४ ६ ४। चक्रपाणि समयोगवाहिन् शब्द पर टीका करते हुए 'सम' की व्याख्या उचितप्रमाण' अर्थ मे करते हैं।

[3] एतदेव धातूना प्राकृतमान यदविकारकारि, चरक संहिता ४ ६ ४ पर चक्रपाणि की टीका।

उपाय यह है कि 'धातुवैषम्य' और रोग पर्यायवाची है और धातुओं का प्राकृतमान आरोग्य का समानार्थक है। जब धातु प्राकृतमान में होते हैं तो स्थानीय प्रकार को छोड़कर कोई भी वैषम्य नहीं हो सकता, उदाहरण के रूप मे, जबकि अपने सममान में अवस्थित पित्त किसी प्रकार से वायु द्वारा शरीर के एक भाग मे लाया जाता है और परिणामत स्थानीय अधिकता हो जाती है। जिस किसी चीज से किसी धातु विशेष की प्रबलता होती है, उसी से स्वत उस धातु की विपरीत धातु का क्षय भी होता है। किसी शारीरिक धातु विशेष के सदृश गुण-स्वभाव वाले पदार्थ उस धातु की वृद्धि करते हैं और असदृश गुण स्वभाव वाले पदार्थ उस धातु का क्षय करते हैं (सामान्यमेकत्वकर विशेषस्तु पृथक्त्वकृत्)।[1] मनुष्य का सामान्य आरोग्य धातुसाम्य का केवल दूसरा नाम है। कोई व्यक्ति अस्वस्थ अथवा धातु वैषम्य की अवस्था मे तब कहा जाता है जब रोगो (विकारो) के लक्षण दृष्टिगत होते हैं। धातु की उचित मात्रा के अल्प परिवर्तन को हम धातुवैषम्य का उदाहरण तबतक नहीं कह सकते जबतक कि उसके विकार अर्थात् लक्षण बाह्य रूप में व्यक्त न हो। स्वस्थ मनुष्य का दैनिक क्रम ऐसा हो कि धातुसाम्य उचित प्रकार से स्थिर रहे। आयुर्वेद का एकमात्र उद्देश्य ऐसे आहार औषधि और व्यवहार क्रम का उपदेश करना है कि यदि उनका उचित पालन किया जाय तो जो मनुष्य सामान्यत स्वस्थ है वह धातुसाम्य स्थिर रख सके और जो मनुष्य धातुसाम्य खो चुका है वह उसे पुन प्राप्त कर सके। इस प्रकार आयुर्वेद का उद्देश्य इस बात का उपदेश करना है कि 'धातुसाम्य' कैसे प्राप्त किया जाय (धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्)।[2]

यदि कोई सामान्य रूप से स्वस्थ पुरुष अपने आरोग्य का सामान्य स्तर पर स्थिर रखना चाहता है तो उसे विभिन्न रस के पदार्थों का प्रयोग करना चाहिए ताकि उसके शरीर मे किसी धातुविशेष की अधिकता न होवे। इन्द्रिय विषय, शीत-ऊष्ण के देशकालीय गुण और बुद्धि, इनके अतियोग अयोग अथवा मिथ्यायोग के कारण व्याधियाँ उत्पन्न होती है।[3] इस प्रकार तीक्ष्णप्रकाशयुक्त वस्तुओ का दर्शन तड़ित् गर्जन जैसे जोरदार शब्दो का श्रवण अधिक शक्तिशाली गन्धो का सूघना, अत्यधिक आहार करना अत्यधिकशीत अथवा ऊष्ण का स्पर्श अथवा अत्यधिक स्नान या मालिश करना अतियोग अर्थात् विषयो के साथ अत्यधिक सम्बन्ध के उदाहरण हैं। दर्शन, श्रवण घ्राण, आस्वादन अथवा स्पर्श का बिलकुल न करना अयोग' अर्थात् इन्द्रिय

---

[1] चरक संहिता १ १ ४४।

[2] वही १ १ ५२।

[3] कालबुद्धीन्द्रियार्थानां योगो मिथ्या न चाति च ॥
द्वयाश्रयाणां व्याधीनां त्रिविधो हेतुसंग्रह ॥ वही १ १ ५३।

विषयो से अल्प सम्बन्ध रखना होगा। आँख से अत्यन्त निकट या अतिदूर पदार्थ का देखना, अथवा भयंकर, अद्भुत, अप्रिय और बीभत्स दृश्यो का देखना 'चक्षु' इन्द्रिय के अनुचित प्रयोग (मिथ्यायोग) के उदाहरण हैं। घरघराहट और अप्रिय ध्वनियो का सुनना 'श्रवण' के मिथ्यायोग के उदाहरण हैं बुरी और अरुचिकर गधो का सूघना नासिका के मिथ्यायोग के उदाहरण होंगे। विभिन्न प्रकार के ऐसे पदार्थों का साथ साथ खाना जो अपने सश्लिष्ट रूप म ऐसे परस्पर विरोधी है कि वे अस्वास्थ्यकर हो जिह्वा के मिथ्यायोग के उदाहरण है, एकाएक सर्दी अथवा गर्मी के सामने आना त्वचा के मिथ्यायोग के उदाहरण हैं।[1] इसी प्रकार से वाक मन और शरीर के सब व्यापार जब अतिरूप मे किए जाएँ, या बिल्कुल न किए जाएँ अथवा अवाछनीय या अहितकर ढग से किए जाए तो उनको वाक, मन और शरीर की प्रवृत्तिया के (वाङ्मन शरीरप्रवृत्ति) क्रमश अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग के उदाहरण मानने चाहिए।[2] परन्तु ये सब बुद्धि के गलत प्रयोग (प्रज्ञापराध) के कारण होते हैं। जब कोई ऋतु विशेष अपने शीत, उष्ण और वर्षा के लक्षणों की अतिमात्रा में, अत्यल्प मात्रा मे अथवा अत्यन्त अनियमित अथवा अस्वाभाविक मात्रा म प्रकट करे जो हमें काल के अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग उपलब्ध होते हैं।[3] परन्तु बुद्धि का दुष्प्रयोग अथवा प्रज्ञापराध ही इन्द्रिय विषयो के सारे अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग के मूल में हैं,[4] क्योकि जब उचित पदार्थ उचित काल मे नही ग्रहण किए जाएँ या उचित बातें उचित समय मे नही की जाती हैं तो यह सब बुद्धि का दुष्प्रयोग ही है और इसलिए इसे प्रज्ञापराध में सम्मिलित किया गया है। जब कोई अधर्माचरण प्रज्ञापराध से किया जाता है और केवल एक निश्चित समय [illegible] व्यवय के पश्चात् प्रभावशाली होने वाले उन कर्मों से ससृष्ट अधर्म के द्वारा रोग उत्पन्न होता है तो रोग का वास्तविक कारण अधर्म अथवा उसका मूल कारण प्रज्ञापराध ही है फिर भी काल को भी कुछ अर्थों मे कारण माना जा सकता है, जिसके कारण अधर्म परिपक्व होता है और फलकारी हो जाता है।

---

[1] चरक सहिता १ ११ ३७।

[2] वही १ ११ ३९ ४०। चक्रपाणि का कथन है कि इसमे रोग और दुःखो के उत्पादक पाप कर्म भी सम्मिलित है शारीरमानसिकवाचनिककर्ममिथ्यायोगेनवा धर्मोत्पादाद्वान्तरव्यापारेणवाधर्मजन्याना विकाराणा क्रियमाणत्वात्।

[3] केवल तीन ऋतुओ का ही वर्णन है। शीतोष्णवर्षलक्षणा पुनर्हेमन्तग्रीष्मवर्षा। वही १ ११ ४२।

[4] इस प्रकार इस पर टीका करते हुए चक्रपाणि का कथन है 'बुद्ध्यपराधस्यैव इन्द्रियार्थातियोगादिहेतुत्वात्'। वही १ १ ५३।

वृद्धि और क्षय का सिद्धान्त इस निर्देश मे अन्तर्निहित है कि शरीर के विभिन्न धातुओं की वृद्धि तब होती है जब समान धातु गुणों वाले भोज्य पदार्थों का सेवन किया जाता है और जब उनसे असदृश गुणों वाले भोज्य पदार्थों का सेवन किया जाता है तो उनका ह्रास होता है (एवमेव सर्वधातुगुणानां सामान्ययोगाद् वृद्धि विपर्ययाद्ह्रास)।[1] इस प्रकार, मास खाने से मास वृद्धि होती है, इसी प्रकार रक्त से रक्त बढ़ता है मेद से मेद, नवास्थियों से अस्थियाँ, मज्जा से मज्जा, शुक्र से शुक्र और अण्डा से गर्भ।[2] परन्तु यह सिद्धान्त न केवल उपयुक्त उदाहरणों के सदृश पदार्थों पर ही लागू होता है अपितु अधिकांश मे सदृश गुण वाले पदार्थों पर भी वैसे ही लागू होता है जैसेकि शुक्र की वृद्धि दूध और मक्खन के प्रयोग से होती है (समान गुणभूयिष्ठानाम् अप्रकृतीनामप्याहारविकाराणामुपयोग)।[3] वृद्धि का उचित काल, प्रकृति, योग्य आहार और वृद्धि अवरोधक परिस्थितियों का अभाव, वृद्धि की ये सामान्य अवस्थाएं सदा ही लागू होती हैं। भोजन का पाचन जठराग्नि द्वारा, जठराग्नि के कार्य के लिए सब वस्तुओं को एकत्रित करने वाले वायु द्वारा, शिथिलताकारक जल द्वारा मृदुताकारी मेद द्वारा और पाचन प्रक्रिया मे सहायक काल द्वारा किया जाता है।[4] ज्यों ही कोई अन्न पक्व और विकृत हो जाता है, तभी वह शरीर मे विलीन हो जाता है। अन्न के घन भाग से शरीर के कठोर भागों का निर्माण होता है और तरल भाग तरल भागों का निर्माण करते हैं जैसे रक्त इत्यादि, और अहितकर आहार अर्थात् शरीर के प्रकृति विरुद्ध गुणों वाले भोजन का शरीर पर विघटनकारी प्रभाव होता है।

जहा तक अन्न रस के सार से शरीर की वृद्धि का प्रश्न है चक्रपाणि (१२८६) द्वारा विभिन्न मतों का सार रूप मे वर्णन किया है। कुछ का कथन है कि रस रक्त का रूप ग्रहण करता है और रक्त मास का इत्यादि। जहां तक इस रूप परिवर्तन की विधि का प्रश्न है कुछ का कथन है कि जैसे सारा दूध दही मे रूपान्तरित हो जाता है वैसे ही सारा रस रक्त मे रूपान्तरित हो जाता है, जबकि कुछ का कथन है कि यह रूपान्तर कुछ कुछ सिंचाई के संचार (केदारी कुल्यान्याय) के समान होता है। पाचन क्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न रस धातुरूप रस के संसर्ग मे आकर, धातुरूप रस की कुछ मात्रा तक वृद्धि करता है, रस का अन्य भाग जिसके रंग और गंध रक्त के समान ही होते हैं रक्त से मिल जाता है और उसकी वृद्धि करता है, और वही प्रक्रिया मेद इत्यादि की वृद्धि के विषय मे होती है। यहाँ सम्पूर्ण संचार क्रम सारे रस के

---

[1] चरक संहिता १ १ ४३ और ४४ और ४ ६ ९ भी और विशेषत ४ ६ १०।

[2] वही ४ ६ १०। चक्रपाणि ने 'आमगर्भ' की व्याख्या अण्ड की है।

[3] वही ४ ६ ११।

[4] वही ४ ६ १४ और १५।

रस धातु मे प्रवेश करने से प्रारम्भ होता है सचरण करते समय कुछ भाग रस म रह जाता है और उसकी वृद्धि करता है अविलीन भाग रक्त मे चला जाता है और वहाँ जो भाग अविलीन रहता है वह मास म चला जाता है और इसी प्रकार वह अस्थि, मज्जा और शुक्र के उत्तरोत्तर धातुओ को जाता है।[1] परन्तु अन्यो का विचार है कि जिस प्रकार खलिहान म विभिन्न वर्णों के कपोत साथ-साथ बैठते है (खले कपोतन्याय), उसी प्रकार सारा पक्व अन्न रस रसधातु के मार्गों से विचलित नही होता अपितु प्रथमावस्था से ही इसके विभिन्न भाग विभिन्न मार्गों द्वारा विचरण करते हैं। इसका जो भाग रस को पुष्ट करता है वह उसके सचार मार्ग म चला जाता है जो भाग रक्त को पुष्ट करता है वह सीधा रक्त म चला जाता है इत्यादि। परन्तु प्राय यह काल सीमा भी है कि जो भाग रक्तपोषक है वह रक्त म तभी प्रविष्ट होता है जबकि जो भाग रसधातु का पोषक है वह उसम विलीन हो गया हो इसी प्रकार पुन जो भाग मास म प्रविष्ट होता है वह वसा तभी कर सकता है जबकि रक्तपोषक भाग रक्त मे विलीन हो गया हो। इस प्रकार प्रारम्भ से ही सचार व्यवस्था भिन्न भिन्न है और फिर भी रक्त का पोषण रस के पोषण मे कुछ देर बाद होता है, मास का पोषण रक्त के पोषण के कुछ काल पश्चात् इत्यादि (रसाद् रक्त ततो मासमित्यादेरयमर्थ यद् रसपुष्टिकालादुत्तरकाल रक्त जायत इत्यादि)। अतिम मत के मानने वालो का कथन है कि दूसरा सिद्धान्त सम्यक् रूप से यह स्पष्ट नही कर सकता कि दुग्ध आदि पोषक आहार (वृष्य) शुक्र की वृद्धि एकदम कैसे कर सकते हैं और यदि उसे सारे सचार से होकर विचरण की लम्बी प्रक्रिया करनी पडे तो वह अपना काम इतनी जल्दी पूरा नहीं कर सकता, परन्तु दूसरे सिद्धान्त के आधार पर दूध अपने विशेष प्रभाव के कारण एकदम शुक्र के ससर्ग म आ सकता है और उसकी वृद्धि कर सकता है।[2] परन्तु चक्रपाणि का कथन है कि इससे पूर्व का सिद्धान्त (केदारीकुल्या) भी

---

[1] धातुरस और पोषक रस सज्ञक दो रस हैं। देखिए चरक सहिता ६, १५, १४ और १५ पर चक्रपाणि की टीका।

[2] परिणामपक्षे वृष्यप्रयोगस्य रक्तादिरूपापत्तिक्रमेणातिचिरेण शुक्र भवतीति, क्षीरादयश्च

उतना ही ठीक है जितना कि दूसरा। क्योंकि उस मत के अनुसार भी, यह माना जा सकता है कि दुग्ध के द्वारा उसी का विशेष प्रभाव विभिन्न अवस्थाओं में तेजी से विचरित हुआ और शुक्र के साथ मिल गया। न यह कहा जा सकता है कि प्रथम सिद्धान्त के अनुसार, रस के दूषित होने की प्रत्येक दशा (रस दुष्टि) रक्त के दूषित होने (रक्त दुष्टि) की अवस्था भी है, जैसाकि तर्क किया गया है क्योंकि सम्पूर्ण रस की रक्त में परिणति नहीं होती है, अपितु इसके एक भाग की ही होती है। अतः रस भाग दूषित हो सकता है, परन्तु तब भी जिस भाग से रक्त बनता है वह शुद्ध हो, इस प्रकार दोनों सिद्धान्त समान रूप से सशक्त हैं और किसी के पक्ष में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। चरक संहिता ६ १५ १४ और १५ में यह कहा गया है कि रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थियाँ, अस्थियों से मज्जा और मज्जा से शुक्र बनता है। जिन दो सिद्धान्तों का ऊपर उल्लेख किया गया वे हैं उन काल्पनिक विधियों का वर्णन करते हैं जिनमें ऐसा रूपान्तर होता है।

उपर्युक्त सात धातुओं अर्थात् शरीर धारकों के अतिरिक्त, दस उपधातुएँ होती हैं जिनकी गणना भोज ने इस प्रकार की है—शिरा स्नायु गर्भाशय का शोणित और त्वचा के साथ परत।[1] चरक ६ १५ १६ में कहते हैं कि रस से दुग्ध भी उत्पन्न होता है दुग्ध से गर्भाशय का शोणित, पुनश्च, महास्नायु अथवा अस्थिबंधन (कण्डरा) और शिराएं रक्त से उत्पन्न होती हैं और मांस से वसा और त्वचा की कलाएँ उत्पन्न होती हैं, और मेद से पांच कलाएँ उत्पन्न होती हैं। पित्त की ऊष्मा से रस लाल रंग का हो जाता है। पुनः वायु और अग्नि की रक्त पर क्रिया होने के कारण रक्त स्थिर और श्वेत हो जाता है और मेद कहलाता है। अस्थियाँ पृथ्वी, अग्नि और वायु का समुदाय है और इसीलिए यद्यपि वे मांस और मेद उत्पन्न हैं फिर भी वे कठोर हैं। वे उनमें से चलने वाली वायु के कारण रन्ध्रमय बन जाती हैं और रन्ध्र 'वसा' संज्ञक मेद से भर जाते हैं। मज्जा के स्नेहमय भागों से फिर शुक्र उत्पन्न होता है। जिस प्रकार नवीन मृद्भाण्ड के रन्ध्रों में से पानी टपकता है, उसी प्रकार शुक्र अस्थियों के रन्ध्रों से रिसता रहता है और शुक्र का अपने स्रोतों के मार्ग से शरीर में से भी प्रवाह होता है। इच्छाओं और कामज आनन्द उत्तेजित होने से और रति की ऊष्मा से शुक्र बाहर टपकता है और अण्डकोषों में जमा हो जाता है जिससे वह अन्ततः उपयुक्त मार्ग से मुक्त हो जाता है।[2]

का शुक्र अथवा अन्य किसी धातु में परिणत होना आहार की प्रकृति और पाचन शक्ति पर निर्भर करता है।

[1] *चक्रपाणि की चरक संहिता* ६ १५ १४ और १५ पर टीका भोज का एक उद्धरण भोज को एक उपधातु माना गया है।

[2] चरक संहिता, ६, १५, २२ २६।

वायु, पित्त और कफ

संक्षेप में शरीर धातु दो प्रकार का होता है, एक वह जो शरीर को गंदा बनाती है—मल, और दूसरा वह जो शरीर का धारण करता है और शुद्ध करता है—प्रसाद। इस प्रकार शरीर के छिद्रों में कई अवाञ्छनीय शरीरजन्य बहिर्मुख पदार्थ एकत्र हो जाते हैं, रक्त जैसे कुछ धातु पीब बन जाते हैं, वायु पित्त और कफ अपनी प्राकृत मात्रा से न्यून व अधिक (प्रकुपित) हो जाते हैं, और अन्य ऐसे पदार्थ हैं जो शरीर में विद्यमान होकर शरीर को क्षीण अथवा नष्ट करने वाले होते हैं, ये सब 'मल' कहलाते हैं अन्य जो शरीर के धारण करने और वृद्धि करने में सहायक होते हैं वे 'प्रसाद' कहलाते हैं।[1]

परन्तु वायु, पित्त और कफ शरीर के सब प्रकार के विकारों के लिए उत्तरदायी हैं, और इसलिए वे 'दोष' कहलाते हैं। फिर भी यह ध्यान रखना चाहिए कि वायु, पित्त और कफ और अन्य सारे मल जबतक अपना उचित अनुपात (सममान) में रहते हैं तबतक वे शरीर को दूषित अथवा क्षीण नहीं करते अर्थात् व्याधियाँ उत्पन्न नहीं करते। अतः वायु, पित्त और कफ अथवा स्वेद, मूत्र इत्यादि के समान मल भी तब तक 'धातु' कहलाते हैं जबतक कि वे सममान से अधिक नहीं होते और इस प्रकार वे शरीर को क्षीण करने की अपेक्षा धारण करने में सहायक होते हैं। अपने सममान में मलधातु' और 'प्रसादधातु' दोनों ही शरीर धारण करने में परस्पर सहयोग करते हैं।[2] जब विभिन्न प्रकार के आरोग्यकारक भोज्य और पेय पदार्थ उदर में पाचक अग्नि के सामने आते हैं तो वे ऊष्मा से पच जाते हैं। पचकर अन्न का सार भाग रस है, और जो अशुद्ध पदार्थ पीछे रह जाते हैं और शरीर में धातु रूप में विलीन नहीं हो सकते वे 'किट्ट' अथवा 'मल' कहलाते हैं। इस किट्ट से स्वेद, मूत्र, विष्ठा, वायु पित्त, श्लेष्मा, और कर्ण, आंख, नाक मुख तथा शरीर के रोम कूपों के मैल, केश, दाढी रोम नख इत्यादि उत्पन्न होते हैं।[3] आहार के अशुद्ध पदार्थ विष्ठा और मूत्र हैं, रस का कफ मांस का अवशिष्ट अशुद्ध पदार्थ पित्त, और मेद का अवशिष्ट अशुद्ध पदार्थ स्वेद है।[4] वायु पित्त और कफ का यह दृष्टिकोण यह प्रदर्शित करता प्रतीत होता है कि ये साथ शरीर के अन्य बेकार पदार्थों के समान व्यर्थ पदार्थ (किट्ट) हैं। किट्ट का सिद्धान्त यह है कि जब वे अपने सममान में होते हैं तो शरीर के धारण करने में और उसके

---

[1] वही, ४ ६ १७।

[2] एव रसमलौ स्वप्रमाणावस्थितयाश्रयस्य समधातोर्धातुसाम्यमनुवर्तयत।

—वही, १ २८ ३।

[3] वही, १ २८ ३।

[4] वही, ६ १५ ३०।

महत्वपूर्ण कामों को करने में सहायक होते हैं, परन्तु जब वे अपने सम्मान से अधिक अथवा न्यून हो जाते हैं तो वे शरीर में दोष उत्पन्न कर देते हैं और अन्तत देहभेद कर देते हैं। परन्तु सब किट्टो म से वायु पित्त और कफ का मूलरूप से सबसे महत्वपूर्ण इकाइयाँ माना गया है और अपने सम्मान मे परस्पर सहयोग द्वारा वे शरीर के कार्यों को चालू रखते हैं और उनम से एक, दो या तीनो की वृद्धि या क्षय के कारण सन्तुलन बिगडने पर उसका क्षय कर देते हैं।

जैसाकि पहले कहा जा चुका है, शरीर रस और रक्त जैसी कुछ धातुओ से निर्मित है। हम जो अन्न-पान लेते है वे धातुओ का पोषण करते हैं। तथापि जो अन्न पान हम लेते है वह सारा शरीर द्वारा आत्मसात् नहीं किया जा सकता, और परिणामस्वरूप कुछ व्यर्थ अवशेष रह जाते हैं।[1] प्रश्न उठता है कि यह कौनसा पदार्थ है जो शरीर का धारण करता है अथवा उसका क्षय करता है ? यह पहले ही देखा जा चुका है कि धातुओ का सम्मान ही शरीर के आरोग्य का निर्माण करता है। तथापि जसाकि आसानी से देखा जा सकता है यह सम्मान अन्नपान को इस प्रकार से आत्मसात् करने पर निर्भर है कि प्रत्येक धातु को उसका उचित, न अधिक न कम, अंश प्राप्त हो। यह भी आवश्यक है कि क्षय और वृद्धि के कारणो का उचित रूप म काय हो, जो इस प्रकार काम करे कि स्वय धातुओ और सारे शरीर की दृष्टि से धातुओ का सम्मान मे रखने के लिए सहायक हो। अत मल की न्यूनता अथवा अधिकता धातुवैषम्य के आवश्यक सहयोगी है, इस हेतु मल की न्यूनता या अधिकता सारे धातुवैषम्य का कारण मानी जाती है। जबतक मलो की अधिकता अथवा न्यूनता नही होती तबतक वे शरीर के मुख्य व्यापारो के आधारभूतकारक हैं और इसलिए उन्हे 'धातु' माना जा सकता है। जब इनम से एक या अधिक की अधिकता अथवा न्यूनता होती है तभी व शरीर के उस व्यापार की सामान्य प्रक्रिया म विभिन्न प्रकारो से बाधक होते हैं और उन्ह दोष अथवा दूषित करने वाले कारण मानना चाहिए। शरीर के कई प्रकार के किट्ट हैं परन्तु इन सब में वायु पित्त और

---

[1] शार्ङ्गधर (४, ५) सात प्रत्यक्ष मलो की गणना करते हैं जो यहा वायु पित्त और कफ सज्ञा से उल्लिखित तीन मलो से भिन्न हैं। वे हैं (१) जिह्वा, आँख और कपालो के जलमय स्राव, (२) रजक पित्त, (३) कान, जिह्वा, दात, बगल और उपस्थ का मैल, (४) नख, (५) आँखो का मैल, (६) मुख का चिकना प्रतीत होना (७) यौवन मे निकलने वाले मुहासे और दाढी। इस पर टीका करते हुए राधामल्ल शार्ङ्गधर के उपयुक्त अश के पक्ष म चरक सहिता ६ १५ २९ ३० का उल्लेख करते हैं। मलो मे से अधिकाश छिद्र मल अर्थात् रोमो के छिद्रो का मैल है।

कफ शरीर की सारी वृद्धि अथवा क्षय, आरोग्य अथवा रोग का मूल होने के कारण सबसे महत्वपूर्ण तीन किट्ट माने जाते हैं। इस प्रकार पांच ऋषियों की सभा के पांडित्यपूर्ण सम्भाषण में काप्यवाच की उक्ति के उत्तर में आत्रेय कहते हैं 'एक अर्थ में तुमने सब ठीक कहा है परन्तु तुम्हारे निर्णयों में से कोई भी निरपेक्ष सत्य नहीं है। जैसे यह आवश्यक है कि धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पर समान रूप से ध्यान देना चाहिए अथवा जिस प्रकार शीत, ग्रीष्म और वर्षा ये तीनों ऋतुएँ एक निश्चित क्रम में आती हैं उसी प्रकार जब वात पित्त और कफ अथवा श्लेष्मा ये तीनों अपने प्राकृत साम्य में होते हैं तो वे इन्द्रियों की क्षमता, बल, रंग और शरीर के आरोग्य में योगदान करते हैं और मनुष्य को दीर्घायुष्य से युक्त करते हैं। परन्तु जब वे वैषम्य को प्राप्त होते हैं तो वे विपरीत परिणाम उत्पन्न करते हैं और अन्ततः सारे शरीर के सम्पूर्ण साम्य को तोड़ देते हैं और उसका क्षय कर देते हैं।'[1] एक महत्वपूर्ण बात की ओर पाठक का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करना आवश्यक है। मैंने 'मल' का अनुवाद कभी दोषकारी कारण अथवा 'अशुद्धि' और कभी 'व्यय के अवशिष्ट पदार्थ' किया है और स्वभावतः इसके कारण भ्रम उत्पन्न हो सकता है। 'मल' शब्द का सम्बन्ध रोगों के उत्पन्न करने से है।[2] किट्ट का अर्थ 'व्यय के अवशिष्ट पदार्थ अथवा स्राव' है और ये जब ऐसे मान में हों कि उनके कारण रोग हो तो उन्हें 'मल' कहा जा सकता है। परन्तु जब मल ऐसे मान में हो कि उससे कोई रोग उत्पन्न न हो तो वह वास्तव में मल नहीं होता है अपितु 'मल धातु' होता है (निर्बाधकरा मलादीन् प्रसादे सचक्ष्महे)।[3] चरक के जिस ग्रन्थस्थल (१ २ ३) का उल्लेख किया जा चुका है उसमें यह कहा जा चुका है कि पक्व अन्न और पान में से रस और 'मल' संज्ञक 'किट्ट' (स्राव) उत्पन्न होते हैं (तत्राहारप्रसादाख्यरसः किट्टं च मलाख्यमभिनिर्वर्तते) और इस किट्ट से स्वेद, मूत्र, विष्ठा, वायु, पित्त और श्लेष्मा उत्पन्न होते हैं। चूंकि अन्य धातुओं रस अथवा रक्त आदि के समान मल भी जबतक अपने सममान में और सन्तुलन में रहते हैं तो शरीर धारण करते हैं इसलिए वे भी धातु हैं (ते सर्व एव धातवो मलाख्याः प्रसादाख्याश्च)।[4] तथापि इस विषय में वाग्भट्ट का दृष्टिकोण भिन्न है। वह दोष, धातु और मल को पृथक् पृथक् मानते हैं और उन्हें शरीर का मूल बताते हैं।

---

[1] चरक संहिता १ १२ १३।

[2] तत्र मलभूतास्ते ये शरीरस्य बाधकराः स्युः —चरक संहिता, ४ ६ १७।

[3] चरक संहिता पर चक्रपाणि की टीका। शार्ङ्गधर ४ ८ से तुलना कीजिए 'वायुः पित्तं कफो दोषा धातवश्च मला मताः' अर्थात् वायु, पित्त और कफ दोष, धातु और मल रूप में विख्यात हैं।

[4] और भी 'एवं रसमलौ स्वप्रमाणावस्थितवाश्रयस्य समधातोर्धातुसाम्यमनुवर्तयतः। —चरक संहिता, १ २८ ३।

इस प्रकार वे कहते हैं कि वायु शरीर को धारण करता है जो उत्साह, उच्छ्वास, निःश्वास, शारीरिक एवं मानसिक चेष्टा, वेगप्रवर्तन का उत्पादक है। पित्त पाचन क्रिया, अग्नि दृष्टि, मेधा बुद्धि, शौर्य, शारीरिक मार्दव के द्वारा शरीर की सहायता करता है और श्लेष्मा स्थैर्य और स्निग्धता के द्वारा, और संधियों का योगकारी इत्यादि होकर सहायता करता है। रस से प्रारम्भ होने वाली सात धातुओं के ये कार्य बताए गए हैं, 'प्रीणन' अथवा 'रस'–इन्द्रियों के समुचित कार्य द्वारा तुष्टि प्रदान करना, जीवन प्राण शक्ति को प्रदान करना, स्नेह चिकनाहट का उत्पादन, धारण भार को वहन करना अस्थि, पूरण अथवा 'मज्जा'–अस्थि कुहरा को भरना, और शुक्र का गर्भोत्पाद–उत्पादन, पुरुषों के विषय में यह कहा जाता है कि 'विष्टा' में शरीर धारण करने की शक्ति है जबकि मूत्र अतिरिक्त जल को बाहर निकाल देता है और स्वेद उसे रोके रखता है।[1] वृद्ध वाग्भट्ट वायु पित्त और कफ को दोष' बताकर (दूषयिता) और धातुओं को दूष्य (वे धातु जो दूषित होती हैं) बताकर, धातु को वात, पित्त और कफ से पृथक मानते हैं। आगे वे निश्चित रूप से अस्वीकार करते हैं कि धातु मल रोग का कारण हो सकते हैं। वे इस प्रकार इस मत को (ऊपर उल्लिखित चरक का मत) औपचारिक अर्थात् रूपकात्मक कथन बताकर उड़ा देते हैं।[2] उनके अनुसार शरीर दोष धातु और मल का समुदाय है।[3] फिर भी 'अष्टांग संग्रह' के टीकाकार इन्दु का कथन है कि जो गत्यात्मक शक्ति धातुओं को प्रवृत्ति प्रदान करती है (दोषैम्य एव धातूनां प्रवृत्ति) वह दोषों से उपलब्ध होती है और उनसे रस के वहन, पाक, स्नेह काठिन्य इत्यादि उपलब्ध होते हैं।[4] प्रारम्भ से ही एक अथवा दूसरे दोष की प्रबलता के कारण जब गर्भवृद्धि होने लगती है तब ऐसा कहा जाता है कि बच्चे में एक या दूसरे दोष के विशेष लक्षण विद्यमान हैं और इसी हेतु वह वात प्रकृति, पित्त प्रकृति अथवा श्लेष्म प्रकृति कहलाता है। वाग्भट्ट आगे कहते हैं कि धातु वैषम्य नहीं अपितु 'दोष वैषम्य' ही रोग है और दोषों का संतुलन अर्थात् 'दोष साम्य' आरोग्य है। इस मत के अनुसार दोष वैषम्य रोग है और क्योंकि दोष धातुओं से स्वतन्त्र इकाइयां हैं, इसलिए दोष वैषम्य का अर्थ धातु वैषम्य होना आवश्यक नहीं।[5] एक

---

[1] अष्टांग हृदय, १ ११ १५।

[2] तज्जानित्युपचारेण तानाहुर्घ तन्गहवत्।
रसादिस्थेषु दोषेषु व्याधयः सम्भवन्ति ये। —अष्टांग संग्रह, १ १।

[3] अष्टांग संग्रह के टीकाकार इन्दु ने इसका ऐसे वर्णन किया है—शरीर [redacted] दोष–धातुमल समुदाय (१ १)।

[4] तथा च धातुपोषाय रसस्य वहनपाकस्नेहकाठिन्यादि दोषप्रसादलभ्यमेव। —वही।

[5] आयुर्वेद का सांख्य और न्याय-वैशेषिक से घनिष्ठ सम्बन्ध है केवल ये ही भारतीय दर्शन में किसी प्रकार के भौतिकविज्ञान का विवेचन करते हैं। नरसिंह कविराज

अन्य स्थल पर वृद्ध वाग्भट्ट कहते हैं कि जिस प्रकार बहुविध जगत् गुणों के विकार के अतिरिक्त कुछ नहीं है उसी प्रकार सारी व्याधियां तीन दोषों का विकार मात्र ही हैं, अथवा जिस प्रकार महासमुद्र में तरंगें, ऊर्मियों और फेन दृष्टिगत होते हैं, जो वास्तव में महासागर ही के समान हैं वैसे ही सारी व्याधियां तीन दोषों के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं।[1] एक अन्य स्थल पर वृद्ध वाग्भट्ट त्रिदोषों के संदर्भ में त्रिगुणों की उपमा का प्रयोग भी करते हैं। अतः वे कहते हैं 'जिस प्रकार त्रिगुण अपने में विद्यमान परस्पर विरोध के उपरान्त भी संसार को अपनी विविधताओं से युक्त उत्पन्न करने के लिए परस्पर सहयोग करते हैं उसी प्रकार दोषत्रय प्राकृत विरोध के होते हुए भी विविध व्याधियों के उत्पादन हेतु परस्पर सहयोग करते हैं।[2] 'अस्थियों के विवेचन में' लेखक डा० हर्नले से इस बात में सहमत है कि वाग्भट्ट ने चरक और सुश्रुत के परस्पर मेल न खाने वाले विचारों की व्याख्या करके उन दोनों में सामंजस्य स्थापित करने का सदा प्रयत्न किया है। यहां पर भी उसी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। इस प्रकार उन्होंने एक ओर चरक के द्वारा व्यक्त इन विचारों को रूपकात्मक (औपचारिक) बतलाया है कि धातुमल दोष हैं। दूसरी ओर उन्होंने उत्तरतन्त्र के इन कथनों का अनुसरण किया है कि दोषत्रय धातु मल और मूल मानव शरीर को धारण करते हैं। वे उत्तर तन्त्र का और आगे अनुसरण करते हैं और कहते हैं कि त्रिदोष त्रिगुण हैं

(एक दाक्षिणात्य लेखक) द्वारा अपने ग्रन्थ 'विवरणसिद्धान्तचिन्तामणि' (जिसकी एकमात्र पाण्डुलिपि लेखक के अधिकार में है) में यह प्रदर्शित किया गया है कि सांख्य के अनुसार स्वयं अपनी साम्यावस्था से किसी एक दोष की विषम प्रबलता में परिणत हो जाने वाला दोष ही रोग कहलाता है। (वैषम्य साम्यावस्थाभिन्नावस्थाविशेषवद् दोषत्वं रोगत्वम्)। तथापि नैयायिकों का मत है कि रोग एक पृथक इकाई अथवा द्रव्य है जो दोष से उत्पन्न होता है परन्तु जो स्वयं दोष नहीं है (द्रव्यत्वे सति दोषभिन्नदोषजन्यत्वं रोगत्वम्)। अतः रोग अपने लक्षणों अथवा कार्यों से भिन्न है। नरसिंह का यह भी मत है कि क्योंकि चरक ने व्याधियों को आग्नेय और वायव्य बताया है अतः उन्होंने व्याधियों को पृथक द्रव्यों के रूप में प्रत्यक्षगत भाव से ग्रहण कर लिया है। कभी कभी किसी व्याधि के धातुवैषम्य द्वारा होने के चरक के कथन की व्याख्या इस प्रकार करनी चाहिए कि धातुवैषम्य व्याधियों के उत्पन्न करने का कारण है इसलिए औपचारिक अर्थ में उनको स्वयं को व्याधियां कहा गया है (यत्तु चरकेन धातुवैषम्यस्य रोगत्वमुक्तं तत्तेषां तथाविधदुःखकर्तृत्वादौपचारिकम्। विवरणसिद्धान्त चिन्तामणि—पाण्डुलिपि, पृ० ३)।

[1] अष्टांग संग्रह १ २२।

[2] आरम्भक विरोधेऽपि मिथो यद्वद् गुणत्रयम्।
विश्वस्य दृष्टं युगपद्व्याधेर्दोषत्रयं तथा॥ —वही, १ २१।

(भिन्ना दोषास्त्रयो गुणा)। डल्हण ने वायु की रजस से, पित्त की सत्व से और कफ की तमस् से एकरूपता बतायी है।[1]

सूत्र स्थान मे सुश्रुत का वर्णन है कि शोणित का भी वही स्थान है जो वायु, पित्त और कफ का है और वे कहते हैं कि शरीर अन्न और पान के साथ साथ आराग्य अथवा रोगो मे होने वाले वायु पित्त, कफ और शोणित के विभिन्न मिश्रणो पर भी आश्रित है। इस पर व्याख्या करते हुए डल्हण का कथन है कि सुश्रुत का ग्रन्थ मुख्यत शल्य ग्रन्थ है, अत इसके लेखक का मत है कि शोणित अपने अन्य दूष्यो सहित व्रण मे दोष उत्पादन हेतु महत्त्वपूर्ण भाग लेता है।[2] आगे सुश्रुत वात, पित्त और श्लेष्मा को शरीरोत्पत्ति हेतु (देह सम्भव हेतव) मानते हैं। शरीर के अध, मध्यम, और ऊर्ध्व भाग मे स्थित वात, पित्त और कफ ऐसे तीन स्तम्भो के समान है जो शरीर को धारण किए हुए हैं और शोणित भी उस कार्य में सहायता करता है। डल्हण का कथन है कि वात पित्त और कफ सामूहिक कारण हैं जो शुक्र और शोणित की सहकारिता से काम करते हैं।[3] आगे सुश्रुत ने वायु की 'वा' चलना धातु स, पित्त की 'तप' तपाना धातु से और 'श्लेष्मा' की 'श्लिष', आलिंगन करना, धातु से व्युत्पत्ति की है। सूत्र स्थान मे कफ, पित्त और वायु की सोम, सूर्य और अनिल से तुलना की गई है न कि तीन गुणो से जैसाकि परिशिष्ट ग्रन्थ 'उत्तर ग्रन्थ' मे देखा जाता है। पित्त की प्रकृति का विवेचन करते हुए उनका कथन है कि पित्त शरीरस्थ अग्नि है और पित्त के अतिरिक्त शरीर म कोई अन्य अग्नि नही है। पित्त मे अग्नि के सारे गुण हैं और इसलिए जब यह क्षीण होता है तो आहार के आग्नेय पदार्थ इसकी वृद्धि म योग देते है और जब इसकी वृद्धि हो जाती है तो भोजन के उपशामक पदार्थ इसको कम कर देते हैं। सुश्रुत के अनुसार पित्त का स्थान आमाशय और पक्वाशय के मध्य है और यह सारे अन्न और पान का पाक करता है और एक ओर रस को तथा दूसरी ओर मल, मूत्र आदि को पृथक करता है। आमाशय और

---

[1] रजोभूयिष्ठो मारुत रजो हि प्रवर्तक सर्वभावाना, पित्त सत्वोत्कट, लघुप्रकाशकत्वात् रजोयुक्त वा इत्येके कफस्तमो बहुल गुरुप्रावरणात्मकत्वादित्याहुर्भिषज । यद्येव तत्कथ कफ प्रकृतिक पु सि सत्वगुणोपपन्नता पठिता उच्यते, येगुणद्वितयमपि कफे ज्ञातव्य सत्वतमोबहुला आप (सुश्रुत उत्तरतन्त्र ६६ ६ पर डल्हण की व्याख्या)।

[2] एतद्धि शल्यतन्त्रम् शल्यतन्त्रे च व्रण प्रधानभूत व्रणे च दूष्येषु मध्ये रक्तस्य प्राधान्यमिति शोणितोपादानाम् (वही)। सुश्रुत 'दोष' शब्द को पीब (पूति) के अर्थ म भी प्रयोग करते हैं। —१ ५ १२।

[3] सुश्रुत १ २१ ३ और ४। उस पर टीका करते डल्हण का कथन है 'शुक्रार्तवादि-सहकारितया देहजनका अभिप्रेता।

पक्वाशय के मध्य उपयुक्त स्थान में स्थित होने के कारण (तत्रस्थमेव), पित्त अपनी शक्ति के द्वारा (आत्मशक्त्या) शरीर के अन्य पित्त स्थानों में कार्य करता है और अपने तपाने के कार्य (अग्निकर्म) के द्वारा उन स्थानों में समुचित कार्य का उपपादन करता है। भोजन पकाने का अपना कार्य करते समय इसको 'पाचक' कहा जाता है, रक्त को रंगने वाले पदार्थ को प्रदान करने वाले यकृत् और प्लीहा में काम करते समय इसे 'रंजक' कहा जाता है (साधक) आँखों में अपना कार्य करने पर इसे लोचक कहा जाता है त्वचा को कान्तिमान रूप प्रदान करने का अपना कार्य करते समय इसे 'भ्राजक' कहा जाता है। पित्त उष्ण, द्रव नीला अथवा पीला दुर्गन्धयुक्त और अहितकर पाचन क्रम में से गुजरने के बाद खट्टा स्वाद देता है। श्लेष्मा के विषय में सुश्रुत का कथन है कि इसका प्राकृत स्थान आमाशय है उदकमय होने के कारण नीचे की ओर बहती है और पित्ताग्नि को शान्त करती है जो अन्यथा अत्यधिक ऊष्मा के कारण सारे शरीर का क्षय कर देती। आमाशय में होने के कारण यह अन्य श्लेष्मा स्थानों यथा हृदय, जिह्वा कण्ठ शिर और शरीर की सारी संधियों में कार्य करती है। वायु का स्थान श्रोणि और गुदा है (श्रोणिगुदसंश्रय), शोणित को सुश्रुत ने दोष माना है और इसका मुख्य स्थान यकृत और प्लीहा माने जाते हैं।[1] मैं ऊपर बता चुका हूँ कि अथर्ववेद में तीन प्रकार की व्याधियाँ पाई जाती हैं वातज शुष्म और अभ्रज।[2] चरक संहिता में वायु पित्त और कफ को 'किट्ट' से उत्पन्न माना गया है। इस प्रकार उन्हें यहाँ आन्तरिक मल माना गया है जो अन्न रस के विलीनीकरण की विभिन्न अवस्थाओं यथा रस, मांस आदि में विलीन नहीं होते और जब ये रस मांसादि समस्थान में होते हैं तो उन्हें शरीर वृद्धि की प्रक्रिया के संरक्षण हेतु कार्यों का सम्पादन करना होता है और जब ये वैषम्य में होते हैं तो शरीर का क्षय करते हैं। किट्ट का ठीक अर्थ क्या है यह निर्धारित करना कठिन है। इसका अर्थ अन्न रस का रसरूप में केवल अविलीन भाग अथवा रक्त रूप में अविलीन भाग इत्यादि हो सकता है, अथवा इसका अर्थ सम्बद्ध धातुओं के सारतत्त्वहीन ऐसे अविलीन पदार्थ हो सकता है जो अन्न रस की पर्याप्त मात्रा का शोषित कर लेते हैं और अपने कुछ द्रव्य पदार्थों को अशोषित पदार्थ में छोड़ देते हैं, यदि इसकी व्याख्या धातुमल अथवा धातु के द्रव्य के अर्थ में की जाय तो किट्ट का कम से कम यही अर्थ होगा। शरीर की रचनात्मक और विनाशक शक्तियों में से अधिकांश का उद्गम इन्हीं मल और किट्टों में ही निहित है। कफ के जलमय गुण और पित्त के आग्नेय गुण की उपेक्षा नहीं की गई है, परन्तु उनका सार मलमय अथवा किट्टमय माना गया है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता

---

[1] सुश्रुत संहिता, १ ११ ८ १६।

[2] ये अभ्रजा वातजा ये च शुष्मा (अथर्ववेद, १ १२ ३) और अग्नेरिवास्य दहत एति शुष्मिणः।
—वही, ६ २० ४।

है कि सुश्रुत ने इस मलमय स्वरूप का उल्लेख नहीं किया है, अपितु ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने यह समझ लिया था कि शरीर का मुख्य दैहिक व्यापार पाचन क्रम की प्रकृति का तथा अग्नि और पाचन जन्य पदार्थों के विभाजन की प्रकृति का है और ऐसा प्रतीत होता है कि खाना पकाने का वह उदाहरण भलीभाँति उनके मस्तिष्क में होगा जिसमें आग, पानी और वायु की आवश्यकता पड़ती है और यह भी प्रतीत होता है कि सुश्रुत का इस मत की ओर अधिक झुकाव है कि शरीर के दैहिक व्यापार पाँच भौतिक क्रियाओं के कारण होते हैं जिनमें अन्न रस ने पृथ्वी का स्थान ग्रहण कर लिया है और अन्य तीन भूत, अग्नि (पित्त), जल (श्लेष्मा) और वायु (वात) हैं। किस कारण से शरीर के इन तत्वों को अग्नि जल और वायु का अन्य रूप माना है, यह सुश्रुत ने स्पष्ट नहीं किया है। तथापि परिशिष्टात्मक 'उत्तरतन्त्र' में यह मत व्यक्त किया गया है कि वे तीन गुण हैं। इस विवेचन के अन्तर्गत सिद्धान्तों को समझने के विभिन्न प्रयासों में सामंजस्य स्थापित करने के प्रयत्न में सदा मध्यम भाग ग्रहण करने में तत्पर वाग्भट्ट का मत है कि उनकी गुणत्रय से तुलना इसलिए करनी चाहिए कि वे परस्पर विरोधी होने पर भी परस्पर सहयोग करते हैं, और, क्योंकि रोग दोषों के विकारमात्र हैं इसलिए उनका आगे मत है कि दोष, धातु और दोष मलों की बिलकुल पृथक पृथक् सत्ता है, परन्तु इन दोषों का स्वरूप क्या है इस पर कोई निश्चित मत व्यक्त करने में वह असमर्थ रहे हैं। जिस व्यक्ति को इन दोषों का अधिकतम निश्चित ज्ञान था वह चरक थे। उत्तर तन्त्र में वर्णित तथा वाग्भट्ट द्वारा प्रतिपादित गुणों की सांख्य तुलना का बहुत भ्रामक प्रभाव पड़ा प्रतीत होता है और दोषों की वास्तविक देह व्यापार सम्बन्धी स्थिति का पता लगाने के प्रयत्न करने की अपेक्षा इन लेखकों ने उस कठिनाई को सांख्य गुणों के प्रति अस्पष्ट संकेतों द्वारा उड़ा दिया है।

हम पुनः चरक पर आते हैं। उन्होंने वायु को सूखा (रूक्ष), ठण्डा (शीत), हल्का (लघु), बारीक (सूक्ष्म), गतिशील (चल), अन्य सब पदार्थों को विभिन्न दिशाओं में बिखरने वाला (विशद) और खुरदरा (खर) माना है।[1] जिन वस्तुओं

---

[1] चरक संहिता, १ १ ५८। इस पर टीका करते, चक्रपाणि का कथन है कि यद्यपि वैशेषिक दर्शन में वायु को न तो ऊष्ण और न शीत माना गया है, फिर भी क्योंकि यह शीत से बढ़ती हुई और गर्मी से घटती हुई देखी जाती है, इसलिए इसको शीत माना गया है। यह अवश्य है कि जब यह पित्त से युक्त होता है तब उसे ऊष्ण देखा जाता है, परन्तु ऐसा पित्त की ऊष्णता के साथ उसके संसर्ग के कारण ही होता है (योगवाहित्वात्)। वातकलाकलीय अध्याय (१ १२ ४) में वायु के छः गुणों का वर्णन है परन्तु उसमें सूक्ष्म का उल्लेख नहीं है, और चल के स्थान पर दारुण का वर्णन है। चक्रपाणि का कथन है कि दारुण का वही

म इसके विरोधी गुण होते हैं उनसे इसका उपशमन होता है। आरोग्यकर रचनात्मक प्रक्रिया मे वायु को निम्न दैहिक काय करने वाला बताया गया है यह शरीर यन्त्र को सम्भाले रखता है (तन्त्रयन्त्रधर) यह प्राण, उदान समान और अपान रूपो मे प्रकट होता है और विभिन्न प्रकार की चेष्टाओ का जनक है यह वह शक्ति है जो मन को सब अवाछनीय पदार्थों से रोकने वाला (नियन्ता) है और मन का वाछनीय पदार्थों म लगाने वाला (प्रणेता) है, इन्द्रियो को काय में लगाने का कारण है सारे इन्द्रिय विषयो की उत्तेजना का वहन करने वाला है शरीर के सारे धातुओ को एकत्रित करता है एक पूण इकाई के रूप म शरीर के कार्यों मे समरूपता रखता है, वाणी का प्रवतक है, स्पश और शब्द का तथा उनसे सम्बद्ध इन्द्रियो का भी कारण है, हप और उत्साह का मूल है पाचक अग्नि के लिए समीकरण है, दोषो का शोषक, बहिर्मलो का क्षेप्ता, सब प्रकार के सचारो का प्रयोजक हेतु है गर्भों की आकृतियो का निर्माता है और सक्षेप मे आयु की निरन्तरता का समान प्रयक है (आयुषोऽनुवृत्ति प्रत्ययभूत)। जब यह कुपित हो जाता है तो शरीर म नाना प्रकार के विकार उत्पन्न कर देता है बल, वण सुख और आयु को क्षीण कर देता है, मन को दुखी करता है, इन्द्रियो के व्यापारो को दुबल करता है गभ को विकृत कर देता है, रोगो और भय, शोक, मोह इत्यादि के भावो को उत्पन्न करता है तथा प्राणो के काय को रोकता है।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि वायोविद् ने किस प्रकार से वायु के बाह्य कम यथा पृथ्वी का धारण करना अग्नि का ज्वालन नक्षत्र और ग्रहो की एकसी गति, मेघ सृष्टि, वृष्टि वषण नदियो का प्रवाहन, पुष्प और फलो को आकृति प्रदान करता वनस्पतियो का उत्पन्न करना ऋतु प्रवतन धातुओ का विभाग करना, बीजो की अकुर उत्पादक शक्ति का उत्पादन करना शस्यादि का अभिवधन आदि का वणन किया है।[1] उसी चर्चा म मरीचि ने यह मत व्यक्त किया है कि अग्नि पित्त के अन्तगत है और सारे शुभ और अशुभ गुणो, पाचन और अपाचन, दशन अदशन, शूरता और भय क्रोध हप अपनता इत्यादि को पित्त अपने अकुपित या कुपित होने के अनुसार उत्पन्न करता है। काप्य का मत है कि श्लेष्मान्तगत सोम सारे अच्छे और बुरे गुणो यथा शरीर की दृढता अथवा शिथिलता मोटापा, पतलापन उत्साह और आलस्य, सत्व और क्लीवत्व, ज्ञान और अज्ञान आदि को उत्पन्न करता है।[2]

ये सम्भाषण ऐसा प्रदर्शित करते प्रतीत होते हैं कि आत्रेय के ग्रन्थ के लिखे जाने से पहले स्वस्थ और अस्वस्थ शरीर के दैहिक व्यापारो का एक प्रयोजक हेतु के काय

अथ है जो चल का है। उसी अध्याय (१ १२ ७) मे वायु के लिए 'सुषिर कर अर्थात् छिद्र करने वाला' विशेषण का प्रयोग किया गया है।

[1] चरक सहिता १ १२ ८।

[2] वही १ १२ ११ और १२

से सम्बद्ध बताकर उनको समझाने का प्रयत्न किया गया था। छान्दोग्य उपनिषद् में पृथ्वी, जल और अग्नि को रचना के जगद् हेतु बताया गया है, विभिन्न प्रकार के वायु अथर्ववेद जितने प्राचीनकाल में भी ज्ञात थे और वायु को कई उपनिषदों में जीवन का मूल तत्व माना गया है। यह काफी मात्रा तक निश्चित प्रतीत होता है कि वात, पित्त और कफ का सिद्धान्त उस मत का उत्तरकालीन विकसित रूप है जिसके अनुसार वायु (प्राण), अग्नि (दहन) और जल (ताप) को शरीर का मूलभूत निर्माता तत्व माना गया है। इस प्रकार सुश्रुत इस मत का ३ ४ ४० में उल्लेख ऐसे करते हैं 'कुछ का कहना है कि मानव शरीर की प्रकृति भौतिकी है प्रकृतिभूत वे भूत वायु, अग्नि और जल है।'[1] इन विवेचना अथवा उन अन्य विवेचना जिनके अनुसार शरीर एक भूत अथवा कई भूतों का परिणाम है उनके प्राग चिकित्सा सम्बन्धी विचार की धाराओं की प्रगति का अन्वेषण इस तथ्य में करना चाहिए कि शरीर के *भौतिक कारणों (उपादानों)* को धातु मानने के अतिरिक्त उन्होंने शरीर के विकास और ह्रास के लिए एक या अधिक अन्तर्निहित गतिशील तत्वों का स्वीकार करने की आवश्यकता पर बल दिया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि वात पित्त और कफ को धातु और दोष तथा प्रकृति और विकृति, दोनों क्यों माना गया है? इस प्रकार जैसाकि पहले ही कहा जा चुका है चरक का कथन है कि गर्भ की रचना के काल से ही वात, पित्त और कफ काम करते रहते हैं, परन्तु यह काय न्यूनाधिक भिन्न भिन्न प्रकार से और विभिन्न प्रणालियों में वात, पित्त, मल और कफ की साम्य अवस्था में (समपित्तानिलकफ) अथवा पृथक् पृथक् अंशों में उनका प्राधान्य होने के कारण वातल, पित्तल और श्लेष्मल रूप में होता है।[2] श्लेष्मल प्रकृति के मनुष्य

---

[1] प्रकृतिमिह नराणां भौतिकी केचिदाहु ।
पवनदहनतोयैः कीर्तितास्तास्त, तिस्र ॥ —सुश्रुत ३ ४ ८०।

[2] चरक ने एक मत का उल्लेख किया है जिसके अनुसार कुछ लोग समवातपित्तश्लेष्म (वात, पित्त और श्लेष्मा की समान मात्रा से युक्त) माने जाते है। क्योंकि सारे मनुष्य विभिन्न प्रकार का भोजन खाते हैं (विषमाहारोपयोगित्वात्) इसलिए वे अवश्य वातप्रकृति, पित्तप्रकृति अथवा श्लेष्मप्रकृति होंगे। इसके विरुद्ध चरक का कथन है कि समवातपित्तश्लेष्म और स्वास्थ्य अथवा रोगों से मुक्ति (अरोग) एक ही बात है। सब भेषजों का प्रयोग इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किया जाता है और इस बारे में कोई सन्देह नहीं हो सकता कि ऐसी अवस्था विद्यमान है। पुनश्च वात प्रकृति पित्त प्रकृति और श्लेष्मप्रकृति ये शब्द गलत है क्योंकि प्रकृति का अर्थ स्वास्थ्य से है। वात प्रकृति का अर्थ यह है कि वात की मात्रा की प्रधानता है (आधिक्यभावात्सा दोष प्रकृतिरुच्यते) और परिणामगत आधिक्य

सामान्यत स्वस्थ होते हैं जबकि वातल और पित्तल प्रकृति के मनुष्य सदा क्षीण स्वास्थ्य होते हैं। बाद में जिस दोष की मनुष्य के शरीर में उसके जन्म से ही प्रबलतम है उस दोष प्रधान व्याधि से जब वह पीडित होता है तो नव सचित दोष उसी ढंग से दोष दा उत्पन्न करता है जिस ढंग में उसके शरीर का प्रधान दोष काम कर रहा होता है, परन्तु यह नव सचित दोष सम्बद्ध मूलदोष की वृद्धि नहीं करता है। मूलदोष की कमी वृद्धि नहीं होती, और किसी व्याधि के कारण दोष की कितनी ही प्रबलता क्यों न हो, दोष की शारीरिक स्थिति एक सी रहती है। इस प्रकार कोई वात प्रकृति पुरुष श्लेष्म प्रकृति अथवा पित्त प्रकृति अथवा इसके विपरीत नहीं होता। जो दोष विधायक है वे सदा अपने दैहिक व्यापारों में लगे हुए अविच्छिन्न भाग के रूप में रहते हैं। बाद में होने वाले दोषों की वृद्धि अथवा उनकी न्यूनता रोग उत्पन्न करने में पृथक रूप से काय करती है और इन बाद के दोषों के सचय अथवा उनके ह्रास के और प्रकृति अक्षय दोषों के रचना सम्बन्धी शाश्वत भागों के बीच में कोई आदान प्रदान नहीं होता।[1] केवल इसी अर्थ में कोई दोष प्रकृति दोष से सबद्ध है (जैसाकि चक्रपाणि का कथन है) कि कोई दोष उस शरीर में बलशाली होता है जिसमें सबद्ध दोष की प्रकृति रूप से प्रधानता होती है और इससे विपरीत अवस्था में वह क्षीणतर हो जाता है।[2] इस सदर्भ में यह कहना अनुपयुक्त नहीं होगा

और विकार एक ही है, इसलिए उपयुक्त सज्ञाएं वातल पित्तल आदि हैं। जब कोई वातल मनुष्य वातवर्धक पदार्थों का प्रयोग करता है तो वात एकदम बढ जाता है परन्तु जब वह पित्त अथवा श्लेष्मावर्धक पदार्थों का प्रयोग करता है तो उसमें पित्त अथवा श्लेष्मा उतनी शीघ्रता से नहीं बढ़ते जितनी शीघ्रता से वात बढता है। इसी प्रकार पित्तल मनुष्य में पित्तवर्धक पदार्थों का उपयोग करने से पित्त शीघ्रता से बढ़ता है और ऐसा ही श्लेष्मा के साथ होता है।
(चरक सहिता ३ ६ १४–१८)।

[1] वही १ ७ ३८–४१। इस अश 'प्रकृतिस्थ यदा पित्त मारुत श्लेष्मण क्षये' (१ १७ ४८) का इस मत के पक्ष में प्राय उल्लेख किया जाता है कि दोषों की नई वृद्धि प्रकृति दोषों पर प्रभाव डालती है। परन्तु चक्रपाणि इसकी अन्य प्रकार से व्याख्या करते हैं। उनका कथन है कि कोई रोग ऐसे दोष द्वारा उत्पन्न हो सकता है जो इस तथ्य के कारण अपने शाश्वत प्रकृतिमान से अधिक नहीं है कि वह शरीर के एक भाग से दूसरे भाग में वाहित हो जाय और उसके परिणाम स्वरूप कोई स्थानीय वृद्धि अथवा अधिकता उत्पन्न हो जाय हालांकि दोष की कुल मात्रा का आधिक्य न हो।

[2] समाना हि प्रकृति प्राप्य दोष प्रवृद्धबला भवति असमाना तु प्राप्य तथा बलवान् न स्यात् (चरक सहिता १ १७ ६२ पर चक्रपाणि की टीका)।

कि यद्यपि दोष परस्पर रूप मे एक दूसरे के विरोधी हैं तो भी वे एक दूसरे को सदा प्रभावहीन नही करते और शरीर मे उनका साथ साथ उग्र हो जाना सभव है। वर्षा, शरत्, हेमन्त, शीत, वसन्त, ग्रीष्म उन [redacted] ऋतुओ मे पित्त, श्लेष्मा और वायु इन तीन दोषो का एकान्तर रूप से क्रमश चय, प्रकोप और शमन होता है। इस प्रकार उदाहरणत वर्षा मे पित्त का चय होता है, शरत् मे पित्त का प्रकोप होता है, हेमन्त मे पित्त का शमन और श्लेष्मा का चय होता है ग्रीष्म मे वात का चय होता है, इत्यादि।[1] दोषो की प्राकृत और विकृत अवस्थाओ की विषमता दिखाते हुए चरक

---

[1] वही १ १७ ११२। इन पर चक्रपाणि की टीका भी देखिए। सुश्रुत सहिता १ २१ १८ पर व्याख्या करते हुए डल्हण कहते हैं कि दोष सचय का अर्थ सामान्य रूप से समूह रूप मे होने अथवा एकत्रित होने से है (देहऽतिरूपा वृद्धिश्चय) दोषो के प्रकोप का अर्थ यह है कि एकत्रित हुए दोष शरीर म फल गए हैं (विचयनरूपा वृद्धि प्रकोप)। वायु चय के बाह्य लक्षण स्तब्ध कोष्ठता और पूर्ण कोष्ठता है, पित्त का लक्षण पीला दीखना और म दोष्णता है कफ का लक्षण अगो का भारीपन और आलस्य भाव है। चय की सभी अवस्थाओ म जिन दोष विशेषो का चय हुआ हो उनको बनाने वाले कारणो के प्रति विद्वेष का भाव होता है (चयकारणविद्वेषश्च) चय काल रोगो की उत्पत्ति और उनके रोकने के लिए प्रथम क्रियाकाल है। यदि दोषो को इस काल म ही दूर कर दिया जाय या शान्त कर दिया जाय तो फिर आगे रोग नही होता। वायु के प्रकोप के सामान्य लक्षण आमाशय के विकार हैं। पित्त के प्रकोप के लक्षण अम्लता, प्यास और कफ के प्रकोप के लक्षण भोजन के प्रति अरुचि हृदय की धडकन (हृदयोत्क्लेद) आदि हैं। शोणित का प्रकोप सदा वात, पित्त और कफ के प्रकोप के कारण होता है। रोगो के अग्रसर होने का यह दूसरा क्रिया काल है। तीसरा क्रिया काल प्रसार कहलाता है। इस काल मे दोषो के उफान सा कुछ कुछ होता है (पर्यु-षितकिण्वोदकपिष्टसमवाय इव)। इसको वायु द्वारा गति प्रदान की जाती है, जो वायु अचेतन होने पर भी समस्त कार्यों का हेतु है। जब पानी की बडी मात्रा किसी स्थान पर जमा हो जाती है तो वह किनारे तोडकर वह निकलता है और अपने मार्ग की अन्य धाराओ से मिलकर सब दिशाओ म फैल जाता है, उसी प्रकार दोष भी कभी अकेले, कभी दो के जोडो म और कभी सभी साथ साथ फल जाते हैं। सम्पूर्ण शरीर मे, उसके आधे भाग मे अथवा जिस किसी भाग मे उत्तेजित दोष फैलें, वहा रोग के लक्षणो की बौछार मानो इस प्रकार होती है जैसे मेघो से पानी बरसता हो (दोषो विकार नभसि मेघवत् तत्र वर्षति)। जब एक दोष, उदाहरणार्थ वायु दूसरे दोष, यथा पित्त, के प्रकृति स्थान में अपना प्रसार कर देता है तो दूसरे का प्रतीकार पहले को भी दूर कर देता है (वायो पित्त-

का कथन है कि प्राकृत अवस्था में पित्ताग्नि पाचनकारक होती है। श्लेष्मा बल और ओज है, और वायु सारी क्रियाओं का तथा सारे जीवित प्राणियों के जीवन का स्रोत है, परन्तु विकृत अवस्था में पित्त अनेकों व्याधियाँ उत्पन्न करती है श्लेष्मा शरीर-यन्त्र का मैल है और अनेकों क्लेशों का कारण है, और वात भी अनेकों रोगों को उत्पन्न करता है और अन्तत मृत्युकारक है। जिन स्थानों पर वात, पित्त और कफ के विकारों का अधिकांश में पाया जाता है उनका वर्णन चरक ने इस प्रकार किया है वात के विकार के स्थान मूत्राशय गुदा कटि और पावों की अस्थियां है परन्तु पक्वाशय उसके विकार का विशेष स्थान है, पित्त के विकारों के स्थान स्वेद रुधिर और आमाशय हैं जिनमें अन्तिम सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं, श्लेष्मा विकारों के स्थान वक्ष, शिर, ग्रीवा, सन्धियाँ आमाशय और मेद हैं, जिनमें वक्ष सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। वात के अस्सी, पित्त के चालीस और श्लेष्मा के बीस विकार होते हैं।[1] परन्तु वात, पित्त और श्लेष्मा के इन विभिन्न विकारों में से प्रत्येक में सम्बद्ध दोषों के विशेष स्वरूप और लक्षण पाए जाते हैं। इस प्रकार १ २० १२ २३ में चरक ने कुछ ऐसे लक्षणों का वर्णन किया है जिनका परिणाम उन व्याधियों का निदान है जो वात, पित्त अथवा कफ के वैषम्य के कारण होती हैं। परन्तु यह प्रश्न उठ सकता है कि इस मत के अनुरूप वायु पित्त और कफ की प्रकृति का कैसा समझा जाय? क्या वे केवल काल्पनिक इकाइयां मात्र हैं जिनका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है और अनेकों लक्षणों के चिह्न स्वरूप अवस्थित हैं? ऐसी व्याख्या करने पर वास्तविकता लक्षणों की होगी और व्याधियों के कारण, अर्थात् दोष, एक नाम के आधीन कुछ लक्षणों के समूहों को इकट्ठा करने हेतु सुविधाजनक चिह्न मात्र बन जायेंगे। जहाँ कहीं भी लक्षणों का एक समुदाय विशेष हो वहाँ यह मानना होगा कि वायु का प्रकोप है जहाँ कहीं लक्षणों का दूसरा समुदाय हो वहाँ पित्त का प्रकोप है, इत्यादि। परन्तु ऐसी व्याख्या के विरुद्ध गम्भीर आपत्तियाँ हैं। क्योंकि जैसा कि हम ऊपर दिखा चुके हैं, कई ऐसे स्थल आते हैं जहाँ इन दोषों का 'मल' और 'किट्ट' सभा से वर्णन किया गया है जो अपने प्राकृत मन में शरीर तन्त्र को धारण करते हैं और उसका

स्थानगतस्य पित्तवत् प्रतीकार)। 'प्रकोप और प्रसार के मध्य के अन्तर का डल्हण ने इस प्रकार वर्णन किया है यथा जब घी को गरम किया जाता है तो वह थोड़ा चलायमान होता है यह थोड़ा सचलन प्रकोप है परन्तु जब इसको निरन्तर और तेजी से इतना उबाला जाय कि फेनमंडल से युक्त होकर बाहर निकलने लगे, तो उसे प्रसार' कहा जा सकता है (सुश्रुत संहिता १ २१ १४ ३२)। जब पूर्व रूप दिखाई देता है तो चौथा क्रियाकाल होता है और पाँचवा काल 'रूप' अथवा व्याधि (रोग) काल का है (वही ३८, ३९)।

[1] चरक संहिता, १ २० ११।

निर्माण करते हैं तथा विषमावस्था में व्याधियां उत्पन्न करते हैं और अन्त में देह भग कर देते हैं। उपर्युक्त अर्थ द्वारा इन स्थलों की संतापप्रद रूप से व्याख्या नहीं की जा सकती और फिर कई ऐसे स्थल हैं जिनमें पित्त और कफ का ऐसी पृथक् इकाइयों के रूप में वर्णन है जिनका विशेष रंग और पञ्चायतन घनत्व है, और यह भी कहा जाता है कि शरीर में कुछ विशेष स्थान हैं जहाँ वे संचित होते हैं और यह असम्भव होगा यदि इस अर्थ का ग्रहण किया जाय कि वे वास्तविक इकाइयाँ न होकर काल्पनिक इकाइयाँ हों है जिनका विभिन्न लक्षणों के सामूहिक बोध के लिए सुविधा जनक चिह्न होने के कारण केवल रीतिविधान सम्बन्धी महत्व ही है।[1]

दोषों में कुछ गुण विशेषों को बताए जाने का कारण यह विश्वास है कि कार्य के गुण कारण के गुणों के कारण होते हैं। अतः हमारे शरीर के विभिन्न गुणों को कार्य मान लेने पर, कारणों को भी उन गुणों से युक्त माना गया जिन से कार्यों को वे गुण प्राप्त हुए। इस प्रकार, वात के गुणों के वर्णन के संदर्भ में चरक का कथन है कि रौक्ष्य गुण के कारण वात प्रधान प्रकृति वाले (वातल) पुरुषों के शरीर रूखे, कृश और छोटे होते हैं और ऐसे लोगों की ध्वनियाँ कर्कश, क्षीण, घरघराती धीमी और

[1] दोषों की मलात्मकता ऐसे स्थलों द्वारा विशद रूप में प्रदर्शित की गई है जिनमें आहार सामग्री को पचाने के लिए वात, पित्त और श्लेष्मा के लिए आमाशय में कुछ स्थान की आवश्यकता मानी गई है, उदाहरणार्थ एवं पुनर्वातपित्त श्लेष्मणा (वही ३ २ ३), श्लेष्म हि स्निग्धश्लक्ष्णमृदुमधुरसारसान्द्रमन्दस्तिमितगुरुशीत विज्जलाच्छ (श्लेष्मा चिकनी, श्लक्ष्ण, मृदु, मधुर, सारमय, जड, सान्द्र, भारी शीत, पिच्छल और स्वच्छ होती है—वही ३ ८ १४ ७ ५), पित्तमुष्णं तीक्ष्णं द्रव विस्रमम्ल कटुकं च (पित्त गर्म, तीक्ष्ण, और द्रव, खट्टा और विस्र और कड़वा होता है—वही ३ ८ १४ ७ ६) वातस्तु रूक्षलघुचलबहुशीघ्रशीतपरुषविशद (वात रूखा, हलका, चल, बहुल, शीघ्र, शीत, कड़ा और विशद होता है।

—वही, ३ ८ १४ ७ ७।

कलकत्तावासी महामहोपाध्याय कविराज गणनाथ सेन ने दोषों का दो वर्गों में विभक्त करने का प्रयत्न किया है–अदृश्य (सूक्ष्म) और दृश्य (स्थूल)–सिद्धान्त निदान पृ० ६ ११। परन्तु यद्यपि ऐसा अन्तर निस्सन्देह किया जा सकता है, फिर भी चिकित्सा साहित्य में ऐसा नहीं किया गया है क्योंकि चिकित्सा के दृष्टि-कोण से ऐसा करना निरर्थक है, और यह हमें दोषों के वास्तविक स्वरूप को समझने में भी मदद नहीं देता। दोषों का स्वरूप और उनके कार्य उनकी सूक्ष्मता अथवा स्थूलता पर बिलकुल निर्भर नहीं करते और न स्थूल दोषों को सदा सूक्ष्म दोषों का परिणाम ही माना जा सकता है।

टूटी सी होती हैं और वे अच्छी तरह सो नही सकते (जागरूक), पुनश्च, वायु के लघुता के गुण के कारण वातल मनुष्य की चाल भी फुर्तीली और तेज होगी, और ऐसे ही आहार भाषण आदि की उसकी सारी चेष्टाएँ होगी। यह आसानी से देखा जा सकता है कि वायु के गुणो का शरीर के गुणो से सादृश्य औपचारिक ही है फिर भी, क्योकि किसी व्यक्ति के शरीर के विशेष गुण और लक्षण का कारण एक या दूसरा धातु माना जाता था इसलिए इन लक्षणो का उनके औपचारिक सादृश्य से सम्बद्ध कर दिया गया।

दोषो के गुणो की गणना करने के सम्बन्ध मे एक दूसरी बात ध्यान देने योग्य है। किसी दोष के प्रकोप का यह अर्थ होना आवश्यक नही है कि इसके सारे गुण पूरी शक्ति से प्रदर्शित कर दिए गए हो, यह सभव है कि दोष के एक अथवा अनेक गुणो का आधिक्य हो जाय और अन्य यथापूर्व ही रहे। इस प्रकार वायु को निम्न गुणो वाला बताया जाता है रूक्ष लघु चल बहु शीघ्र, शीत इत्यादि और यह सभव है कि किसी विशेष दशा मे शीत गुण का आधिक्य हो जाय और अन्य अकुपित ही रहें, अथवा इसी प्रकार शीत और रूक्ष अथवा शीत रूक्ष और लघु इत्यादि हो। अत चिकित्सक का यह कर्त्तव्य है कि वह न केवल यह ज्ञात करे कि कौन से दोष की प्रबलता हो गई है अपितु यह भी परीक्षा करे कि कौन से दोष के कौन से गुण प्रबल हो गए है। दोषो के गुण परिवर्तनीय हैं अर्थात् यह सभव है कि एक प्रकुपित दोष दोष ही रहे और इस पर भी उसके कुछ गुणो की वृद्धि हो जाय और अन्यो का ह्रास। किसी दोष के प्रकोप का स्वरूप उस दोष से सबद्ध गुणो के प्रकोप के स्वरूप (अंशांश विकल्प) के द्वारा निर्धारित किया जाता है।[1] ऐसे सिद्धान्त से स्वभावत यह अनुमान होता है कि क्योकि इस या उस गुण से युक्त इकाइया दोष की सघटक भाग होती है इसलिए दोष का उसके सारे अगों मे समरूप पूर्ण इकाई नही माना जा सकता। इस मत के अनुसार दोष एक विशेष प्रकार का मल प्रतीत होता है जो विभिन्न गुणो वाले कई भिन्न भिन्न मलो का मिश्रण है परन्तु जो एकमी व्यवस्थाओ के अनुसार काम करते है। जब कोई दोष अपनी स्वस्थ अवस्था मे होता है तो इसकी अग रूप इकाइया अपने और सम्पूर्ण दोष के एक निश्चित अनुपात मे होती हैं। परन्तु जब यह कुपित

---

[1] चरक सहिता २ १ १० ४। इस पर टीका करते हुए चक्रपाणि का कथन है 'तत्र दोषाणामशांशविकल्पो यथा वाते प्रकुपिते पि कदाचिद् वातस्य शीतांशो बलवान् भवति, कदाचिल्लध्वंश कदाचिद्रूक्षांश कदाचिल्लघुरूक्षांश। जो दोष प्रधान रूप से शरीर में कुपित होते हैं उन्हे 'अनुबन्ध्य' कहा जाता है, और जो दोष व्याधि के समय मुख्यत कुपित नही होते हैं उन्हे अनुबन्ध' कहा जाता है। जब तीन दोष सयुक्त रूप से कुपित होते हैं तो उसे सन्निपात कहते हैं और जब दो दोष कुपित होते हैं तो उसे 'ससर्ग कहते हैं। (वही ३ ६ ११)।

हो जाता है तो उसके कुछ अगभूत मल अनुचित मान मे बढ सकते हैं जबकि अन्य प्राकृत अवस्था मे ही रहे, यह अवश्य है कि सम्पूर्ण दोष का गुण प्रबल अथवा क्षीण हो जाय। अत दोष यथा कफ और पित्त को समरूप प्रकृति के एक मल की अपेक्षा मलो का सग्रह मानना चाहिए। यह आसानी से देखा जायगा कि किसी दोष के विभिन्न अगो की तुलनात्मक शक्तियो और अन्य दोषो के अन्य अगो की सम्बद्ध शक्तियो और अनुदाता पर ध्यान देवें तो समुदायो की सख्या अगणित हो जाती है और ऐसे समुदायो से उत्पन्न रोग भी अगणित हैं। चरक के विवेचन की सम्पूर्ण प्रणाली इन विकारो के स्वरूपो का निश्चित करने पर निर्भर करती है व्याधियो के नामो का उद्देश्य तो केवल एक विशेष प्रकार के अनेको विकारो का सामूहिक नामकरण मात्र से है।[1]

वायु पित्त और कफ के सृजनात्मक और नाशक कार्यों के विषय में जिस एक बात पर और ध्यान देना आवश्यक है वह यह है कि वे स्वतन्त्र हेतु हैं जो मनुष्य के कर्म के और मनुष्य के मन के साथ एक होकर काय करते हैं। वात पित्त और कफ द्वारा धातु रस रक्त आदि के द्रव्यो पर किए जाने वाले व्यापार के रूप में मानसिक व्यापार और शारीरिक व्यापार एक दूसरे के समानान्तर चलते हैं, क्योकि दोनो मानव कर्म का अनुसरण करते हैं परन्तु उनमे से किसी का भी दूसरे के द्वारा निर्धारण नही किया जाता है, हालाकि उनकी परस्पर घनिष्ठ अनुरूपता है। मनोभौतिक समरूपता का सकेत चरक की प्रणाली मे सर्वत्र मिलता है। इसका नियमन करते हुए चरक कहते हैं 'शरीरमपि सत्त्वमनुविधीयते सत्त्व च शरीरम्' (मन शरीर के और शरीर मन के अनुरूप है)। इस सम्बन्ध मे शायद यह याद हो कि 'धातुवैषम्य' अथवा 'अभिघात (दुर्घटना, गिरना आदि से उत्पन्न शारीरिक घात) का मूल कारण मूलत पूर्ण काय (प्रज्ञापराध) है। पुनश्च, वात, पित्त और कफ न केवल भौतिक व्यापारो का सम्पादन करते हुए पाए जाते हैं अपितु विभिन्न प्रकार के बौद्धिक व्यापार भी करते हुए देखे जाते हैं। परन्तु सारे बौद्धिक व्यापार वस्तुत मानसिक होते हैं। वात पित्त और कफ का बौद्धिक व्यापारो का कारण बताने का जो श्रम लिया गया है वह एक प्रकार की मनो भौतिक समरूपता है जिसमे मन शरीर के अनुरूप है और शरीर मनस के तथा दोनो कर्म के अनुरूप हैं।

शीर्ष और हृदय[2]

शरीर के मुख्यतम स्थान शीर्ष, हृदय और वस्ति हैं। प्राण और सारी

[1] यद् वातारब्धत्वादिनानमेव कारण रोगाणा, चिकित्सायामुपकारि नामज्ञान तु व्यवहारमात्रप्रयोजनार्थम् (चरक सहिता १ १८ ५३ पर चक्रपाणि की टीका)।

[2] चरक सहिता मे हृदय के विभिन्न नाम ये हैं, महत्, अर्थ हृन्य (१ ३० ३)।

ज्ञानेन्द्रियों का शीर्ष पर आश्रित (श्रिता) बताया है।[1] शीर्ष और मस्तिष्क का अन्तरअथर्ववेद काल जैसे प्राचीनकाल में भी ज्ञात था। इस प्रकार अ० वे० में शीर्ष शब्द का प्रयोग सिरा के अर्थ में हुआ है और उसी सूक्त के मंत्र ८ और २६ में 'मस्तिष्क' शब्द का प्रयोग दिमाग के अर्थ में किया है।[2] सिरोरोग का अ० वे० १ १२ ३ में शीर्षक्ति संज्ञा से वर्णन किया गया है। मस्तिष्क द्रव्य को चरक संहिता ८ ९ ४ में मस्तुलुंग' कहा है उसी अध्याय में 'मस्तिष्क' शब्द का प्रयोग मस्तिष्क द्रव्य के अर्थ में किया है (८ ९ ८०) जैसाकि चक्रपाणि द्वारा व्याख्या की गई है।[3] चरक ८ ९ ४ में से ऊपर उद्धृत अंश यह प्रदर्शित करता है कि कम से कम दृढबल के मत में शीर्ष इन्द्रियों और सारे इन्द्रिय एवं प्राण स्रोतों का स्थान है। इस अंश पर टीका करते हुए चक्रपाणि का कथन है कि यद्यपि इन्द्रिय वह और प्राण वह स्रोत शरीर के अन्य भागों से भी जाते हैं, फिर भी वे शीर्ष से विशेष रूप से सम्बद्ध हैं (शिरसि विशेषेण प्रबद्धानि) क्योंकि जब शिर पर कोई आघात होता है तो वे भी आहत होते हैं। चरक और दृढबल के अनुसार सारी इन्द्रियाँ और प्राण भी शिर में विशेष रूप में सबद्ध हैं परन्तु हृदय को प्राणों का और मन का भी केन्द्र बिन्दु माना गया है जसाकि मैं बाद में बताऊंगा। चरक के समान ही प्राचीन भेल का मत है कि मस्तिष्क मन का स्थान है जहाँ तक मेरा ज्ञान है यह मत संस्कृत साहित्य में

---

[1] तथापि चक्रपाणि इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं श्रिता इव श्रिता ' अर्थात् वे मानो आश्रित हैं (१ १७ १२) क्योंकि जब शीर्ष आहत होता है तो सारी इन्द्रियां भी आहत होती हैं। चरक ६ २६ १ में ऐसा कहा गया है कि एक सौ सात मर्म स्थान है और इनमें सबसे महत्वपूर्ण तीन स्थान शीर्ष, हृदय और वस्ति हैं। ८ ९ १६ में हृदि मूर्ध्नि च वस्तौ च नृणां प्राणाः प्रतिष्ठिता ' ८ ९ ४ में स्पष्ट रूप से कहा है कि सारी इन्द्रियां इन्द्रियवह और प्राणवह स्रोत शीर्ष पर उसी प्रकार आश्रित हैं जिस प्रकार सूर्य की किरणें सूर्य पर आश्रित हैं—शिरसि इन्द्रियाणि इन्द्रियप्राणवहानि च स्रोतांसिसूर्यमिवगभस्तय संश्रितानि)।

[2] वह कौनसा देवता था जिसने उसके मस्तिष्क, मस्तक शिर पृष्ठ (ककाटिका) की (रचना) की जिसने सबसे पहले कपाल रचा जिसने मनुष्य के जबड़ों में एकत्र करके स्वर्गारोहण किया (अ० वे० १० २ ८)। 'अथर्वा ने शुद्धिकारक मस्तिष्क के ऊपर अपने शिर (मूर्धानम्) को और हृदय को भी एकसाथ सीकर (उनको) शिर के बाहर आगे कर दिया (वही २६) (व्हिटनी का अनुवाद, हावर्ड ओरियण्टल सिरीज)।

[3] मस्तिष्क शिरामज्जा। चक्रपाणि चरक संहिता का ८ ९ ८०। मस्तिष्क शब्द का कभी कभी, यद्यपि विरल रूप में ही शिर के अर्थ में प्रयोग होता है जैसे चक्रपाणि द्वारा उद्धृत अंश ८ ९ ८० में–मस्तकेऽष्टांगुलं पट्टम्।

अद्वितीय है। उनका कथन है कि सारी इन्द्रियों में उत्कृष्ट मन का (सर्वेन्द्रियपरम्) स्थान सिर और तालु के बीच में है (शिरस्तात्व तरगतम्)। वहां स्थित होने के कारण यह इन्द्रियों के सारे विषयों का (विषयान् इन्द्रियाणाम्), समीपस्थ रसों का (रसादिकान् समीपस्थान्) ज्ञान प्राप्त करता है। मन और सारी इन्द्रियों की शक्ति का मूल कारण तथा सारे भावों और बुद्धियों का कारण चित्त हृदय में स्थित है। चित्त सारे गतिप्रद कार्यों और चेष्टाओं का भी कारण है, यहां तक कि जो शुभ चित्त से युक्त हैं वे सुपथ का अनुसरण करते हैं और जो अशुभ चित्त से युक्त हैं वे कुपथ का अनुसरण करते हैं। मन चित्त का नाम प्राप्त करता है और उसके फलस्वरूप कार्य चुना जाता है, तत्पश्चात् बुद्धि आती है जो कार्याकार्य का निश्चय करती है। कुछ कार्यों को शुभ और अन्य कार्यों को अशुभ जानने का कार्य बुद्धि कहलाता है।[1] यह स्पष्ट है कि भेल मनस, चित्त और बुद्धि को पृथक् पृथक् मानते हैं। इनमें से मन चित्त से बिल्कुल भिन्न है और जहां तक भेल के अल्पवर्णन से कुछ पता लगाया जा सकता है, उसे सब प्रकार के ज्ञान का कारण और मस्तिष्क में अपना स्थान ग्रहण किए हुए माना जाता है। चित्त को सब क्रियाओं भावों और निश्चयों का कारण और हृदय को चित्त का स्थान माना जाता था। संभवतः बुद्धि निर्धारक ज्ञान एवं निर्णय कहलाती थी जो केवल चित्त का कार्य था। भेल का कथन है कि मस्तिष्क के दोष मनस को विकृत कर देते हैं, और इसके परिणामस्वरूप हृदय विकृत हो जाता है और हृदय के विकार से बुद्धि विकृत होती है और यह उन्मादकारी है।[2] एक अन्य स्थल में चित्त के विभिन्न कार्यों का वर्णन करते हुए भेल कहते हैं कि एक विशेष प्रकार का आलोचक पित्त होता है जिसे 'चक्षुर्वैशेषिक' कहते हैं और जो मन का आत्मा से संपर्क स्थापित करके, बोध उत्पन्न करता है और उस बोध को चित्त तक पहुँचाकर उस निश्चयात्मक दृष्टि ज्ञान को उत्पन्न करता है जिसके द्वारा आंखें विभिन्न विषयों को ग्रहण करती हैं। तथापि निर्णायिका अवस्था भिन्न है और यह आलोचक पित्त के एक ऐसे विशेष प्रकार से उत्पन्न होती है जिस प्रकार को बुद्धि वैशेषिक कहते हैं तथा

---

[1] शिरस्तात्व तरगत सर्वेन्द्रियपर मन तत्रस्थ तद्धि विषयानिन्द्रियाणां रसादिकान्
कारण सर्वबुद्धीनां चित्त हृदयसंश्रित क्रियाणां चेतरासां च चित्त सर्वस्य कारणम्।
भेल का 'उन्मादचिकित्सितम्' शीर्षक अध्याय।

—कलकत्ता विश्वविद्यालय संस्करण, पृ० १४६।

[2] ऊर्ध्व प्रकुपिता दोषा शिरस्तात्व तरे स्थिता
मानस दूषयन्त्याशु ततश्चित्त विपद्यते,
चित्ते व्यापदमापन्ने बुद्धिर्नाश नियच्छति
ततस्तु बुद्धिव्यापत्तौ कार्याकार्य न बुध्यते
एव प्रवर्तते व्याधिरुन्मादो नाम दारुण। —वही, पृ० १४६।

जो माहा के बीच म स्थित है और यहाँ स्थित होने वाले सूक्ष्म आकाश को ग्रहण करते हैं (सूक्ष्मानर्थानात्मकृतान्) प्रस्तुत सामग्री को धारण करता है (धारयति), ऐसे ही अन्य ज्ञात तथ्यों का एकीकरण करता है (प्रत्यधारयति), भूत का स्मरण करता है और बाधात्मक और निर्णयात्मक रूपों मे हमारा ज्ञान उत्पन्न करके भविष्य में अनुभव करने के लिए इच्छा करता है निदेशात्मक क्रियाओं का उत्पन्न करता है और वह शक्ति है जो ध्यान एव धारणा मे क्रियाशील होती है।[1]

सुश्रुत ने मस्तिष्क के बारे मे कुछ भी महत्वपूर्ण बात नहीं कही है परन्तु इसमें कुछ भी सदेह नही प्रतीत होता है कि उन्हे इस बात का ज्ञान था कि शिर की कौनसी शिरा किस इन्द्रिय व्यापार से सम्बद्ध है। इस प्रकार ३ ६ २८ म उनका कथन है कि कर्णपृष्ठ के अधोभाग म दो शिराएँ हैं जिन्हें विधुरा' कहते हैं और जिन्हें यदि काट दिया जाय तो बधिरता उत्पन्न हो जायगी नासिका छिद्रों के दोनो ओर नासिका के अन्दर की ओर 'फण' सज्ञक दो शिराए हैं जो यदि कट जाएँ तो गंध का सवेदन नष्ट कर देंगी भोहो के पृष्ठ भाग मे आँखों के नीचे 'अपांग' सज्ञक दो शिराएँ हैं जिन्हें यदि काट दिया जाय तो अन्धता उत्पन्न होगी। ये सब बोध कराने वाली शिराएं अपने भाग म भौंह के केन्द्र भाग (शृ गाटक) म मिलती हैं।[2] उनका आगे कथन है कि शिराए मस्तक मे उसके उपरी भाग म मस्तिष्क स सबद्ध है (मस्तकाभ्यन्तरोपरिष्ठात् शिरासधिसन्निपात), और जिस स्थान को रोमावर्त कहते हैं वह सर्वोच्च अधिपति है। चरक का कथन है कि शिर इन्द्रियो का स्थान है। यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि इस कथन का उसने किसी गम्भीर अर्थ में लिया है अथवा उसका सीधा यही अर्थ है कि श्रवण चक्षु नासिका और रसना की इन्द्रिया शिर मे स्थित हैं।

चरक का मत है कि हृदय ही चेतना का स्थान मात्र है।[3] शिर, ग्रीवा, हृदय, नाभि गुदा मूत्राशय ओज शुक्र रक्त और मास के प्राणो का स्थान बताया है।[4] तथापि १ १९ ३ म चरक नाभि और मास को हटा देते हैं और उनके स्थान पर कनपटियां (शख) का सम्मिलित करते हैं। इस स्थल म प्राण के वास्तविक अर्थ का निर्धारण कठिन है। परन्तु सभावना यही है कि इस शब्द का यहाँ पर प्रयोग सामान्य रूप मे मर्म स्थानो का लक्षित करने के लिए किया गया है। १ ३० ४

---

[1] भेल का पुरुष निश्चय अध्याय, पृ० ८१।

[2] घ्राणश्रोत्राक्षिजिह्वासतर्पणीना शिराणा मध्ये शिरासन्निपात शृ गाटकानि।

—सुश्रुत सहिता, ३ ६ २८।

[3] चरक सहिता ४ ७ ८ हृदय चेतनाधिष्ठानमेकम्।

[4] वही ९।

अद्वितीय है। उनका कथन है कि सारी इन्द्रियों में उत्कृष्ट मन का (सर्वेन्द्रियपरम्) स्थान सिर और तालु के बीच में है (शिरस्ताल्वन्तरगतम्)। वहां स्थित होने के कारण यह इन्द्रियों के सारे विषयों का (विषयान् इन्द्रियाणाम्), समीपस्थ रसों का (रसादिकान् समीपस्थान्) ज्ञान प्राप्त करता है। मन और सारी इन्द्रियों की शक्ति का मूल कारण तथा सारे भावों और बुद्धियों का कारण, चित्त हृदय में स्थित है। चित्त सारे गतिप्रद कार्यों और चेष्टाओं का भी कारण है, यहाँ तक कि जो शुभ चित्त से युक्त हैं वे सुपथ का अनुसरण करते हैं और जो अशुभ चित्त से युक्त हैं वे कुपथ का अनुसरण करते हैं। मन चित्त का ज्ञान प्राप्त करता है और उसके फलस्वरूप कार्य चुना जाता है, तत्पश्चात् बुद्धि आती है जो कार्याकार्य का निश्चय करती है। कुछ कार्यों को शुभ और अन्य कार्यों को अशुभ जानने का कार्य बुद्धि कहलाता है।[1] यह स्पष्ट है कि भेल मनस, चित्त और बुद्धि को पृथक् पृथक् मानते हैं। इनमें से मन चित्त से बिल्कुल भिन्न है और जहां तक भेल के अल्पवर्णन से कुछ पता लगाया जा सकता है, उसे सब प्रकार के ज्ञान का कारण और मस्तिष्क में अपना स्थान ग्रहण किए हुए माना जाता है। चित्त को सब क्रियाओं, भावों और निश्चयों का कारण और हृदय को चित्त का स्थान माना जाता था। सम्भवतः बुद्धि निर्धारक ज्ञान एवं निर्णय कहलाती थी जो केवल चित्त का कार्य था। भेल का कथन है कि मस्तिष्क के दोष मनस को विकृत कर देते हैं, और इसके परिणामस्वरूप हृदय विकृत हो जाता है और हृदय के विकार से बुद्धि विकृत होती है और यह उन्मादकारी है।[2] एक अन्य स्थल में पित्त के विभिन्न कार्यों का वर्णन करते हुए भेल कहते हैं कि एक विशेष प्रकार का आलोचक पित्त होता है जिसे 'चक्षुर्वैशेषिक' कहते हैं और जो मन का आत्मा से सम्पर्क स्थापित करके, बोध उत्पन्न करता है और उस बोध को चित्त तक पहुँचाकर उस *निश्चयात्मक दृष्टि ज्ञान को उत्पन्न करता है जिसके द्वारा आँख विभिन्न* विषयों को ग्रहण करती है। तथापि निर्णायिका अवस्था भिन्न है और यह आलोचक पित्त के एक ऐसे विशेष प्रकार से उत्पन्न होती है जिस प्रकार को बुद्धि-वैशेषिक कहते हैं तथा

---

[1] शिरस्ताल्वन्तरगतं सर्वेन्द्रियपरं मनः तत्रस्थं तद्धि विषयानिन्द्रियाणां रसादिकान् कारणं सर्वबुद्धीनां चित्तं हृदयसंश्रितं क्रियाणां चेतरासां च चित्तं सर्वस्य कारणम्।
भेल का 'उन्मादचिकित्सितम्' शीर्षक अध्याय।

—*कलकत्ता विश्वविद्यालय संस्करण*, पृ० १४९।

[2] ऊर्ध्वं प्रकुपिता दोषाः शिरस्ताल्वन्तरे स्थिताः
मानसं दूषयन्त्याशु ततश्चित्तं विपद्यते
चित्ते व्यापदमापन्ने बुद्धिर्नाशं नियच्छति
ततस्तु बुद्धिव्यापत्तौ कार्याकार्यं न बुध्यते
एवं प्रवर्तते व्याधिरुन्मादो नाम दारुणः। —वही, पृ० १४९।

जो मोहा के बीच मे स्थित है और यहा स्थित होने वाले सूक्ष्म आकाश को ग्रहण करते हैं (सूक्ष्मानर्थानात्मकृतान्) प्रस्तुत सामग्री को धारण करता है (धारयति), ऐसे ही अन्य ज्ञात तथ्यों का एकीकरण करता है (प्रत्यधारयति) भूत का स्मरण करता है और बाधात्मक और निर्णयात्मक रूपो मे हमारा ज्ञान उत्पन्न करके भविष्य मे अनुभव करने के लिए इच्छा करता है निदेशात्मक क्रियाओ को उत्पन्न करता है और वह शक्ति है जो ध्यान एव धारणा में क्रियाशील होती है।[1]

सुश्रुत ने मस्तिष्क के बारे मे कुछ भी महत्वपूर्ण बात नहीं कही है, परन्तु इसमें कुछ भी सदेह नही प्रतीत होता है कि उन्हें इस बात का ज्ञान था कि शिर की कौनसी शिरा किस इन्द्रिय व्यापार से सम्बद्ध है। इस प्रकार ३ ६ २८ मे उनका कथन है कि कर्णपृष्ठ के अधोभाग म दो शिराएँ हैं जिन्हे विधुरा' कहते हैं और जिन्हे यदि काट दिया जाय तो बधिरता उत्पन्न हो जायगी, नासिका छिद्रा के दोनो ओर नासिका के अन्दर की ओर फण' सज्ञक दो शिराए हैं जो यदि कट जाएँ तो गध का सवेदन नष्ट कर देंगी माहो के पृष्ठ भाग मे आंखो के नीचे 'अपाग' सज्ञक दो शिराएँ हैं जिन्हें यदि काट दिया जाय तो अन्धता उत्पन्न होगी। ये सब बोध कराने वाली शिराए अपने भाग मे भौंह के केन्द्र भाग (शृ गाटक) मे मिलती हैं।[2] उनका आगे कथन है कि शिराएँ मस्तक मे उसके ऊपरी भाग म मस्तिष्क से सबद्ध है (मस्तकाभ्यन्तरापरिष्ठात् शिरासधिसन्निपात) और जिस स्थान को रोमावर्त कहते हैं वह सर्वोच्च अधिपति है। चरक का कथन है कि शिर इन्द्रियो का स्थान है। यह निश्चय नही किया जा सकता कि इस कथन को उसने किसी गम्भीर अर्थ में लिया है अथवा उसका सीधा यही अर्थ है कि श्रवण चक्षु नासिका और रसना की इन्द्रियां शिर मे स्थित हैं।

चरक का मत है कि हृदय ही चेतना का स्थान मात्र है।[3] शिर ग्रीवा, हृदय, नाभि गुदा मूत्राशय ओज, शुक्र रक्त और मास के प्राणो का स्थान बताया है।[4] तथापि १ १६ ३ म चरक नाभि और मास को हटा देते हैं और उनके स्थान पर कनपटियों (शख) को सम्मिलित करते हैं। इस स्थल म प्राण के वास्तविक अर्थ का निर्धारण कठिन है। परन्तु सभावना यही है कि *इस शब्द का यहाँ पर प्रयोग* सामान्य रूप मे मर्म स्थानो को लक्षित करने के लिए किया गया है। १ ३० ४

---

[1] भेल का पुरुष निश्चय अध्याय, पृ० ८१।

[2] घ्राणश्रोत्राक्षिजिह्वासतर्पणीना शिराणा मध्ये शिरासन्निपात शृ गाटकानि।
—सुश्रुत सहिता, ३ ६ २८।

[3] चरक सहिता ४ ७ ८, हृदय चेतनाधिष्ठानमेकम्।

[4] वही, ६।

अद्वितीय है। उनका कथन है कि सारी इन्द्रियों में उत्कृष्ट मन का (सर्वेन्द्रियपरम्) स्थान सिर और तालु के बीच में है (शिरस्ताल्व तरगतम्)। वहां स्थित होने के कारण यह इन्द्रियों के सारे विषयों का (विषयान् इन्द्रियाणाम्), समीपस्थ रसों का (रसादिकान् समीपस्थान्) ज्ञान प्राप्त करता है। मन और सारी इन्द्रियों की शक्ति का मूल कारण तथा सारे भावों और बुद्धियों का कारण, चित्त हृदय में स्थित है। चित्त सारे गतिप्रद कार्यों और चेष्टाओं का भी कारण है, यहाँ तक कि जो शुभ चित्त से युक्त हैं वे सुपथ का अनुसरण करते हैं और जो अशुभ चित्त से युक्त हैं वे कुपथ का अनुसरण करते हैं। मन चित्त का ज्ञान प्राप्त करता है और उसके फलस्वरूप कार्य चुना जाता है तत्पश्चात् बुद्धि आती है जो कार्याकार्य का निश्चय करती है। कुछ कार्यों का शुभ और अन्य कार्यों को अशुभ जानने का कार्य बुद्धि कहलाता है।[1] यह स्पष्ट है कि भेल मनस्, चित्त और बुद्धि को पृथक् पृथक् मानते हैं। इनमें से मन चित्त से बिल्कुल भिन्न है और जहां तक भेल के अल्पवर्णन से कुछ पता लगाया जा सकता है, उसे सब प्रकार के ज्ञान का कारण और मस्तिष्क में अपना स्थान ग्रहण किए हुए माना जाता है। चित्त को सब क्रियाओं, भावों और निश्चयों का कारण और हृदय को चित्त का स्थान माना जाता था। संभवतः बुद्धि निर्धारक ज्ञान एवं निर्णय कहलाती थी जो केवल चित्त का कार्य था। भेल का कथन है कि मस्तिष्क के दोष मनस् को विकृत कर देते हैं, और इसके परिणामस्वरूप हृदय विकृत हो जाता है और हृदय के विकार से बुद्धि विकृत होती है और यह उन्मादकारी है।[2] एक अन्य स्थल में पित्त के विभिन्न कार्यों का वर्णन करते हुए भेल कहते हैं कि एक विशेष प्रकार का आलोचक पित्त होता है जिसे 'चक्षुर्वैशेषिक' कहते हैं और जो मन का आत्मा से संपर्क स्थापित करके, बोध उत्पन्न करता है और उस बोध का चित्त तक पहुँचाकर उस निश्चयात्मक दृष्टि ज्ञान को उत्पन्न करता है जिसके द्वारा आंख विभिन्न विषयों को ग्रहण करती है। तथापि निर्णायिका अवस्था भिन्न है और यह आलोचक पित्त के एक ऐसे विशेष प्रकार से उत्पन्न होती है जिस प्रकार को बुद्धि-वैशेषिक कहते हैं तथा

---

[1] शिरस्ताल्वन्तरगतं सर्वेन्द्रियपरं मनः तत्रस्थं तद्धि विषयानिन्द्रियाणां रसादिकान्
कारणं सर्वबुद्धीनां चित्तं हृदयसंश्रितं क्रियाणां चेतरासां च चित्तं सर्वस्य कारणम्।
भेल का 'उन्मादचिकित्सितम्' शीर्षक अध्याय।

—कलकत्ता विश्वविद्यालय संस्करण, पृ० १४६।

[2] ऊर्ध्वं प्रकुपिता दोषाः शिरस्ताल्वन्तरे स्थिताः
मानसं दूषयन्त्याशु ततश्चित्तं विपद्यते
चित्ते व्यापदमापन्ने बुद्धिर्नाशं नियच्छति
ततस्तु बुद्धिव्यापत्तौ कार्याकार्यं न बुध्यते
एवं प्रवर्तते व्याधिरुन्मादो नाम दारुणः।

—वही, पृ० १४६।

जो मोहों के बीच में स्थित है और यहां स्थित होने वाले सूक्ष्म आकाशों को ग्रहण करते हैं (सूक्ष्मानर्थानात्मकृतान्), प्रस्तुत सामग्री का धारण करता है (धारयति), ऐसे ही अन्य ज्ञात तथ्यों का एकीकरण करता है (प्रत्यधारयति), भूत का स्मरण करता है, और बाधात्मक और निर्णयात्मक रूपों में हमारा ज्ञान उत्पन्न करके भविष्य में अनुभव करने के लिए इच्छा करता है निदेशात्मक क्रियाओं को उत्पन्न करता है और वह शक्ति है जो ध्यान एवं धारणा में क्रियाशील होती है।[1]

सुश्रुत ने मस्तिष्क के बारे में कुछ भी महत्वपूर्ण बात नहीं कही है परन्तु इसमें कुछ भी सदेह नहीं प्रतीत होता है कि उन्हें इस बात का ज्ञान था कि शिर की कौनसी शिरा किस इन्द्रिय व्यापार से सम्बद्ध है। इस प्रकार ३ ६ २८ में उनका कथन है कि कर्णपृष्ठ के अधोभाग में दो शिराएँ हैं जिन्हें विधुरा' कहते हैं और जिन्हें यदि काट दिया जाय तो बधिरता उत्पन्न हो जायगी नासिका छिद्रों के दोनों ओर नासिका के अन्दर की ओर फण' संज्ञक दो शिराए हैं जो यदि कट जाएँ तो गंध का सवेदन नष्ट कर देंगी भौंहों के पृष्ठ भाग में आँखों के नीचे 'अपाग संज्ञक दो शिराए हैं जिन्हें यदि काट दिया जाय तो अन्धता उत्पन्न होगी। ये सब बोध कराने वाली शिराए अपने भाग में भौंह के केन्द्र भाग (शृंगाटक) में मिलती हैं।[2] उनका आगे कथन है कि शिराएँ मस्तक में उसके ऊपरी भाग में मस्तिष्क से सबद्ध है (मस्तकाभ्यन्तरोपरिष्ठात् शिरासंधिसन्निपात), और जिस स्थान को रोमावर्त कहते हैं वह सर्वोच्च अधिपति है। चरक का कथन है कि शिर इन्द्रियों का स्थान है। यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि इस कथन को उसने किसी गम्भीर अर्थ में लिया है अथवा उसका सीधा यही अर्थ है कि श्रवण चक्षु नासिका और रसना की इन्द्रियाँ शिर में स्थित हैं।

चरक का मत है कि हृदय ही चेतना का स्थान मात्र है।[3] शिर, ग्रीवा, हृदय, नाभि गुदा मूत्राशय ओज शुक्र रक्त और मांस के प्राणों का स्थान बताया है।[4] तथापि १ १९ ३ में चरक नाभि और मांस को हटा देते हैं और उनके स्थान पर कनपटियां (शख) को सम्मिलित करते हैं। इस स्थल में प्राण के वास्तविक अर्थ का निर्धारण कठिन है। परन्तु सभावना यही है कि इस शब्द का यहाँ पर प्रयोग सामान्य रूप में मर्म स्थानों को लक्षित करने के लिए किया गया है। १ ३० ४

---

[1] भेल का पुरुष निश्चय अध्याय, पृ० ८१।

[2] घ्राणश्रोत्राक्षिजिह्वासंतर्पणीनां शिराणां मध्ये शिरासन्निपातः शृंगाटकानि।

—सुश्रुत सहिता, ३ ६ २८।

[3] चरक सहिता ४ ७ ८, हृदय चेतनाधिष्ठानमेकम्।

[4] वही ६।

और ५ मे चरक का कथन है कि सम्पूर्ण शरीर और उसके साथ साथ सामूहिक रूप में षडग नाम से विख्यात दो हाथ दो पैर, धड और सिर, विज्ञान, इन्द्रिया, इन्द्रिय विषय आत्मा मन और चिन्त्य विषय, ये सब हृदय म उसी प्रकार सश्रित हैं जिस प्रकार एक मकान खमा और शहतीरो पर टिका हुआ होता है।[1] जैसाकि चक्रपाणि ने व्याख्या की है, यह स्पष्ट है कि शरीर का हृदय मे निर्वाह नही हो सकता। अभिप्रेत अर्थ यह है कि जब हृदय बिलकुल स्वस्थ होता है, तो शरीर भी स्वस्थ होता है। चरक का मत है कि मन और आत्मा हृदय म निवास करते हैं और इसी प्रकार बोध हर्ष और दु ख भी हृदय मे निवास करते हैं, पर तु इस अर्थ मे नही कि हृदय ही वह स्थान है, जहा वे निवास करत हैं अपितु इस अर्थ म कि वे अपने उचित ढग से काय करने के लिए हृदय पर आश्रित हैं, अगर हृदय म कोई विकार आता है तो वे भी विकृत हो जाते हैं यदि हृदय ठीक रहता है तो वे भी ठीक ढग से काम करते हैं। जिस प्रकार शहतीरे खमा पर आश्रित होती हैं, उसी प्रकार व सब हृदय पर आश्रित हैं। पर‍तु चक्रपाणि चरक के इस मत से सहमत प्रतीत नही हाते, और उनका मत है कि क्योकि हृदय प्रबल विचारो हर्ष और दु ख द्वारा प्रभावित होता है इसलिए मन और आत्मा वस्तुत हृदय मे निवास करते हैं और इसी प्रकार हर्ष और दु ख भी हृदय मे निवास करते हैं। विषयो के सारे ज्ञान का कारण और शरीर तत्र को धारण करने वाला आत्मा (धारिन्) हृदय म निवास करता है। इसी कारण से जब कोई मनुष्य हृदय मे आहत होता है तो वह मूर्च्छित हो जाता है और यदि हृदय फट जाता है तो वह मर जाता ह। यह परम ओज का भी स्थान ह।[2] हृदय को वह स्थान भी माना गया है जहा सारी चेतना केद्रित है (तत्र चत‍यसग्रह) चरक का कथन है कि हृदय प्राण-वह स्रोतो का स्थान है प्राणवहाना स्रोतसा हृदय मूलम् (३ ५ ८) और मानसिक क्रियाओ का भी स्थान है (२ ७ ३)। अपस्मार निदान (२ ८ ४) मे चरक का कथन ह कि हृदय अ तरात्मा का श्रेष्ठ स्थान है (अ‍तरात्मन श्रेष्ठ मायतनम्)।

---

[1] चरक सहिता, १ ३० ५।

[2] चक्रपाणि का कथन है कि यहा परम आजस का उल्लेख यह सिद्ध करता है कि चरक अपरम् ओजस नामक अ‍य ओजस को भी मानते थ। शरीर मे अपरम् ओजस की कुल मात्रा आधी अजलि (अर्धांजलिपरिमाण) है जबकि परम् ओजस की कुल मात्रा हृदय मे श्वेत-रक्त और किंचित् पीत द्रव की केवल आठ बूदें ही हैं। हृदय की धमनिया मे अपरम् ओजस की मात्रा अर्धांजलि होती है और 'प्रमेह' (मूत्र राग) सज्ञक रोग मे इसी ओज की हानि होती है पर‍तु इस ओज की हानि होने पर भी मनुष्य जीवित रह सकता है जबकि परम् आजस' की लेशमात्र हानि से मनुष्य जीवित नही रह सकता। ओजस' को आठवी धातु

यहा यह प्रदर्शित करना अनुपयुक्त नही होगा कि तैत्तिरीय उपनिषद् मे ऐसा वर्णन है कि हृदय वह स्थान है जहाँ मनोमय पुरुष अर्थात् मनरूपी पुरुष निवास करता है। अन्य कई उपनिषदो में हृदय को नाडियो का स्थान बताया है।[1] शकर बृ० २ १ १९ की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि नाडियो अथवा शिराओ का 'हिता' कहा है, उनकी वृद्धि अन्न रस से होती है उनकी सख्या ७२,००० है और वे हृदय से उद्भूत होकर सम्पूर्ण शरीर मे फैली हुई हैं (पुरीतत्)।[2] बुद्धि हृदय में निवास करती है और वहा से बाह्य इन्द्रियो को नियन्त्रित करती है। इस प्रकार, उदाहरणार्थ, जाग्रत अवस्था मे सुनने के समय बुद्धि इन नाडियो में से होकर कान तक जाती है और वहा से श्रोत्रेन्द्रिय को विस्तृत करती है और उसका आधिपत्य करती है। जब बुद्धि का इस प्रकार विस्तार होता है तो हम जाग्रत अवस्था को प्राप्त करते हैं और जब इसका सकोच होता है तो गाढ निद्रा (सुषुप्ति) की अवस्था प्राप्त होती है।

रक्त परिवहन और नाडी सस्थान

ऐसा प्रतीत होता है कि शरीर की दो प्रकार की नाडियो के शिरा (हिरा) और 'धमनी' नामो का अथर्ववेद काल में भलीभाँति ज्ञान हो गया था।[3] बृहदारण्यक उपनिषद् म वर्णन है कि हृदय की हिता नाडियाँ केश के हजारवें भाग के समान सूक्ष्म हैं और उन्हें श्वेत, रक्त नील और हरे द्रवो की वाहिनी बताया गया है, शकर इस पर भाष्य करते हुए कहते हैं कि ये विभिन्न वर्ण नाडियो द्वारा वहन किए गए

नहीं मानना चाहिए, क्योकि यह शरीर को केवल धारण करता है, परन्तु उसका पोषण नही करता। तथापि 'ओजस' का प्रयोग कभी कभी इसके अर्थ म भी होता है (चरक सहिता १ ३० ६ पर चक्रपाणि की टीका) और भी देखिए वही, १ १७ ७४ और ७५ तथा चक्रपाणि की उस पर टीका। तथापि अथर्ववद २ १७ मे 'ओजस' का आठवीं धातु माना गया है।

[1] देखिए बृ० २ १ १९ ४ २ २ और ३ ४ ३ २०, ४ ४ ८ और ६ छान्दो० ८ ६ ६ कठ ४ १६ कौष ४ १६, मुण्ड २ २ ६ मत्री विब्लियोथेका इण्डिका १८७० ६ २१, ७ ११ प्रश्न ३ ६ और ७।

[2] पुरीतत् शब्द का अर्थ मुख्यत हृदय का परिच्छद है परन्तु शकर ने इसका अर्थ यहाँ सम्पूर्ण शरीर लिया है।

[3] शत हिरा सहस्र धमनीरुत। अथर्ववद ७ ३६ २। सायण ने हिरा की व्याख्या 'गर्भधारणार्थमन्तरवस्थिता सूक्ष्मा नाड्य' की है। अथर्ववेद १ १७ १ २ में भी 'हिरा और धमनी' में भेद किया प्रतीत होता है। १ १७ १ में हिराओ

वात, पित्त और श्लेष्मा के भिन्न भिन्न संयोगों के कारण होते हैं।[1] उनका कथन है कि सूक्ष्म शरीर सारी नैसर्गिक इच्छाओं का आश्रय है और ये नाडियाँ इस सूक्ष्म शरीर के सत्रह तत्वों (पांच भूत दस इन्द्रियाँ, प्राण और अन्तःकरण) का अधिष्ठान है। बृहदारण्यक ४ २ ३ में यह कहा गया है कि हृदय संपुट में अन्न रस का सूक्ष्मतम सार होता है, यही सार सूक्ष्मतम नाडियों में प्रवेश करके शरीर को धारण करने में सहायक होता है। यह नाडियों के जाल से परिवृत होता है। हृदय से यह अत्यन्त सूक्ष्म हिरा नाडियों से होकर ऊर्ध्व गति करता है ये हिराएं हृदय से उद्भूत हैं। छान्दोग्य ८ ६ ६ में हृदय से निकलने वाली १०१ नाडियों का उल्लेख है। इनमें से एक शिर को जाती है।[2] मुण्ड २ २ ६ में यह कहा गया है कि प्रहिये के आरा के समान नाडियाँ हृदय से सम्बद्ध हैं। प्रश्न ३ ६ और ७ में फिर भी यह कहा है कि हृदय में एक सौ नाडियाँ हैं, इनमें से प्रत्येक की बाईस सौ शाखाएँ हैं और व्यान वायु इनमें संचरण करता है। मैत्र्युपनिषद् में शिर की ओर ऊपर को जाने वाली सुषुम्णा नाडी का वर्णन है, जिसमें से होकर प्राण का प्रवाह होता है।[3] इनमें से

को रक्त वस्त्र धारण करने वाली (रक्तवासस) बताया है जिसकी सायण ने 'लोहितस्य रुधिरस्य निवासभूता हि' (रक्त का निवास) भाष्य किया है और उसकी व्याख्या रजोवहननाडय' की है। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि स्थूल वाहिनियों को धमनी कहा जाता था। १ १७ ३ में अथर्ववेद सैकडों धमनियों और सहस्रों हिराओं का वर्णन करता है।

[1] बृ० ४ ३ २० शांकरभाष्य सहित। आनन्दगिरि इस पर टीका करते हुए सुश्रुत का एक अंश उद्धृत करते हैं जो सुश्रुत संहिता ३ ७ १८ से वस्तुतः समानार्थक है और यह प्रदर्शित करते हैं कि वातवहा शिराएँ गुलाबी (अरुण) होती हैं, पित्तवहा शिराएं नीली, रक्तवहाशिराएँ लाल और श्लेष्मवहा शिराएँ गौरवर्ण होती हैं।

अरुणाः शिरा वातवहा नीलाः पित्तवहाः शिराः ।
असृग्वहास्तु रोहिण्यो गौर्य श्लेष्मवहाः शिराः ॥

[2] इस अंश को उत्तरकालीन साहित्य में यह प्रदर्शित करने के लिए कभी कभी उद्धृत किया जाता है कि ऊपर की ओर शिर को जाने वाली सुषुम्णा नाडी का ज्ञान छान्दोग्य उपनिषद् काल में भी था। कठ ६ १६ भी देखिए।

[3] ऊर्ध्वगा नाडी सुषुम्णाख्या प्राणसंचारिणी। मैत्री ६ २१। सायण अ० वे० १ १७ ३ पर अपने भाष्य में निम्न श्लोक को उद्धृत करते हैं —

मध्यस्थायाः सुषुम्णायाः पूर्वपंचकसम्भवाः
शाखोपशाखतां प्राप्ताः शिरा लक्षत्रयात्परम्
अर्धलक्षमिति प्राहुः शरीरार्थविचारकाः ।

कोई अंश भी हमें नाड़ियों के विषय में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं बताते हैं। इन अंशों से जो कुछ ज्ञात होता है वह यह है कि ये नाड़ियाँ किसी न किसी प्रकार की वाहिनियाँ हैं जिनसे होकर रुधिर और अन्य मल प्रवाहित होते हैं, और इनमें से कई अत्यंत सूक्ष्म हैं, यहाँ तक कि वे चौड़ाई में केश के हजारवें भाग के बराबर हैं। ऋग्वेद ८ १ ३३ में नड अर्थात् खोखली बेंत, को तालाबों में उत्पन्न होने वाला और अथर्ववेद ४ १९ १ में वार्षिक अर्थात् वर्षा में उत्पन्न होने वाला बताया गया है। इस शब्द का नाड़ी से कोई व्युत्पत्तिगत सम्बन्ध हो।[1] अन्य स्थल पर ऐसा कहा है कि स्त्रियाँ नड को पत्थर से तोड़कर उनकी चटाई बनाती हैं।[2] अथर्ववेद में 'नाड़ी' शब्द का प्रयोग 'स्रोत'[3] के अर्थ में भी किया गया है। अथर्ववेद ५ १८ ८ में नाडिका का वागिन्द्रिय द्योतक अर्थ में प्रयोग हुआ है। धमनी शब्द का प्रयोग ऋग्वेद २ ११ ८ में किया गया है और सायण ने इसकी व्याख्या 'शब्द' तथा मैक्डानेल ने 'नरकट अथवा नलिका' की है।[4] यदि सायण की व्याख्या स्वीकार कर

---

[1] मैक्डानल अपने Vedic Index, Vol I पृ० ४३३ में निम्न टिप्पणी करते हैं 'नड ऋग्वेद के अनेकों स्थलों में दृष्टिगत होता है (१ ३२ ८, १७९ ४ २ ३४ ३, ८ ६९ २, १० ११ २ १०५ ४) परन्तु इसका अर्थ अभी तक अस्पष्ट है। पिशेल ने (Zeitschrift der Deutschen Morgentandinches Gesellschaft ३५ ७१७ इत्यादि, Vedische Studien I १८३ इत्यादि) एक स्थल (१ ३२ ८) में व्याख्या करते हुए इसको और नड को एक ही बताया है। यहाँ कार्लो और हेनरी L Agnistoma पृ० ३१३, नलम् पाठ करते हैं। और भी देखिए Wackernagel (वाकेर नागेल) Altindische Grammatik I १७३, इसमें नड का अर्थ नरकट की नाव है जो चिरी हुई है और जिसके ऊपर पानी गमन करता है इत्यादि।

[2] यथा नड कशिपुने स्त्रियो भिन्दन्त्यश्मना (अथर्ववेद ६ १३८ ५)।

[3] अथर्ववेद ६ १३ ८ ४ में नाड़ियों का अण्डकोष के ऊपर के स्रोतों के अर्थ में वर्णन किया गया है जिनमें शुक्र बहता है ये ते नाड्यौ देवकृते ययोस्तिष्ठति वृष्ण्यं ते ते भिनद्मि (मैं पत्थर पर पत्थर से तुम्हारी वे दो देवनिर्मित अण्डकोष के ऊपर की नाड़ियाँ तोड़ता हूँ जिनमें से होकर तुम्हारा वीर्य बहता है)। १० ७ १५ और १६ में समुद्रों के अवकाश को नाड़ी कहा गया है (समुद्रो यस्य नाड्य) और इसी प्रकार आकाश के चतुर्दिक के मध्य के स्थान को भी नाड़ी कहा है (यस्य चतस्र प्रदिशो नाड्य)।

[4] 'ऋग्वेद के एक मंत्र २ ११ ८ और निरुक्त ६ २४ की एक उक्ति में 'धमनी' नरकट नली के द्योतक अर्थ में दृष्टिगत होता है। Vedic Index Vol I

ली जाय, तो ऋ० वे० २ ३२ ६ में आये 'स्नाव' शब्द का अर्थ सूक्ष्म शिराएँ और धमनी का अर्थ स्थूल वाहिनिया (धमनी शब्देन स्थूला) होगा। ६ १० ५ में कहा गया है कि शूल से पीडित मनुष्य के शरीर को एक सौ धमनिया घेरे हुए हैं और सायण यहाँ धमनी की व्याख्या 'नाडी' करते हैं। छान्दोग्य ३ १९ २ मे कहा है कि धमनिया नदिया हैं (या धमन्यस्ता नद्य) और शकर धमनी की व्याख्या शिरा से करते हैं। अथर्ववेद मे हिरा शब्द के प्रयोग का मैं पहले ही उल्लेख कर चुका हूँ, यह शब्द ऋग्वेद म भी प्रयुक्त हुआ है।[1]

उपर्युक्त सन्दर्भ यह प्रदर्शित करते हैं कि नाडिया, शिराएँ (अथवा हिराए) और धमनिया सब शरीर के अन्दर वाहिनिया थी, परन्तु कभी कभी नाडिया अथवा शिराओ का विशेष अर्थ सूक्ष्मवाहिनियाँ भी होता था जबकि धमनिया स्थूल वाहिनिया थी। अब मैं चरक पर आता हूँ, यह ज्ञात हो जाएगा कि इनके अन्तर और कार्यों के महत्व के सम्यक बोध मे कोई अधिक प्रगति नही हुई।

चरक धमनियो शिराओ और वाहिनिया (स्रावक धाराएँ) को नाडिया मानते हैं और उनका मत है कि इनके भिन्न भिन्न कार्यों के कारण इन्हे भिन्न भिन्न नाम दिए गए हैं। *उनका कथन है कि दस धमनियो का मूल हृदय मे है।* ये सारे शरीर मे ओज को प्रवाहित करती हैं, जिसके द्वारा मनुष्य जीवित रहते हैं और जिसके अभाव मे वे सब मर जाते हैं। यही वह सारतत्व है जिससे गर्भ का निर्माण होता है और जो बाद मे हृदय मे चला जाता है जब हृदय की रचना हो जाती है जब इसका लोप हो जाता है, तो जीवन का भी अस्तित्व समाप्त हो जाता है, यह शरीर का सार है और प्राणो का स्थान है। इन वाहिनिया को धमनिया कहते हैं *क्योकि वे बाह्य रस से पूरित होती हैं, उन्हें स्रोत कहा जाता है क्योकि* रस इत्यादि जो शरीर का पोषण करते है इनमे से बहते (स्रवणात्) हैं, और उन्हे शिरा कहते हैं क्योकि वे शरीर के विभिन्न भागो को जाती हैं (सरणात् शिरा)।[2] दस धमनिया सारे शरीर मे नानाविध शाखाओ मे फैली हुई हैं। चरक सहिता मे स्रोत का वास्तविक अर्थ उस भाग से है जिससे धातुओ के क्रमिक रूप मे विकासमान पदार्थ अथवा अन्य प्रकार के स्राव बहते हैं और अपने सदृश तत्वो से मिलकर जमा हो जाते हैं।[3] चक्रपाणि इसकी व्याख्या ऐसे करते हैं अन्न की रस से सम्बद्ध होकर रक्त मे

पृ० ३६०। शिरा चरक मे तालव्य 'श' से प्रयुक्त है और वेदो मे दन्त्य 'स' से, अत इस अध्याय म इसका प्रयोग अलग-अलग सदर्भ मे अलग रूप मे किया है।

[1] त्व वत्तमाशयान शिरासु महो वज्रेण सिष्वप—ऋ० वे० १ १२१ ११। चरक म धमनी शब्द 'ई' कार युक्त है और अथर्ववेद मे इकार युक्त।

[2] ध्मानाद् धमन्य स्रवणात् स्रोतासि, सरणात् शिरा। चरक सहिता १ ३० ११।

[3] वही, ३ ५ ३।

परिणति होती है। शरीर के एक पृथक भाग मे रस का रक्त से मिलन स्रोत सज्ञक सवाहन भाग के बिना नही हो सकता। अत धातुओ का रूपान्तरण इस सवाहन पथ के कार्य के माध्यम से होता है। इसलिए प्रत्येक प्रकार के परिणत पदार्थ के लिए एक पृथक 'स्रोत' है। ऐसा कहा जा सकता है कि वायु, पित्त और कफ सब स्रोतो से सचरण करते हैं यद्यपि निस्सन्देह तीनो मे से प्रत्येक के लिए विशेष भाग हैं।[1] गगाधर तो स्रोत का अर्थ उन द्वारो से लेते हैं जिनसे धातु और अन्य किट्ट प्रवाहित होते हैं।[2] किसी भी प्रकार से देखा जाए, स्रोत धमनियो की वाहिका के अतिरिक्त कुछ नही है। चरक उन लोगो के मत का विरोध करते हैं जिनका यह विचार है कि शरीर वाहिनियो के समूह के अतिरिक्त कुछ नही है। इसका सीधा सादा कारण यह है कि जो पदार्थ इन वाहिनियो मे से सचरण करते हैं और शरीर के जिन भागो मे वे पदार्थ जुडे हुए हैं व निश्चित रूप मे स्वय वाहिनियो से पृथक हैं। प्राण, जल, अन्न रस, रक्त, मास, मेद अस्थिमय पदार्थ, मज्जा शुक्र मूत्र, पुरीष और स्वेद इनके स्राव के लिए पृथक पृथक स्रोत हैं तथापि वात, पित्त और श्लेष्मा सारे शरीर और सारी नाडियो मे से होकर प्रवाहित होते हैं (सर्व स्रोतासि अयन भूतानि)। शरीर के अतीन्द्रिय तत्वो, यथा मन इत्यादि, के लिए सामग्री जुटाने के लिए सम्पूर्ण जीवमान शरीर स्रोत का काम करता है।[3] हृदय समस्त प्राणवह स्रोतो अर्थात् प्राण वायु के भागो का मूल है क्योकि सामान्यत वायु शरीर के सारे भागो मे विचरण करता है। जब ये दूषित होते है तो या तो अत्यधिक या अत्यल्प श्वसन होता है श्वसन अति मन्द अथवा अतितीव्र हो सकता है और इसके साथ शब्द और

---

[1] दोषाणा तु सर्वशरीरचरत्वेन यथास्थूलस्रोतोऽभिधानेऽपि सर्वस्रोतास्येव गमनाथ वक्ष्यन्ते वातादीनामपि प्रधानभूता धमन्य सन्त्येव चक्रपाणि की उसी पर टीका।

[2] आहारपरिमाणरसो हि स्रोतसा छिद्ररूप पन्थान बिना गन्तु न शक्नोति, न च स्रोतश्छिद्रपथेन गमन बिना तदुत्तरोत्तरधातुत्वेन परिणमति इत्यादि। उपर्युक्त पर गगाधर कृत जल्पकल्पतरु।

[3] इस अश (चरक सहिता ३ ५ ७) तद्वदतीन्द्रियाणा पुन सत्वादीना केवल चेतनावच्छरितमयनभूतमधिष्ठानभूत च पर टीका करते हुए गगाधर का कथन है मन आत्मा श्रोत्रस्पर्शननयनरसनघ्राणबुद्धयहकारादीना केवल चेतनावत् सजीव शरीर-स्रोतोऽयनभूतमधिष्ठानभूतच। चरक मे ऐसे कई स्थल हैं जहाँ हमे मनोवह स्रोतो (मन को ले जाने वाले पथ) का ज्ञान होता है, यदि मन, बुद्धि, अहकार आदि सब स्रोतो मे वहन किए जा सकते हैं तो यह मानना पडेगा कि उनका कोई भौतिक देशीय अस्तित्व है। ये मन, बुद्धि और अहकार अतीन्द्रिय हो सकते हैं, परन्तु उस कारण से वे अभौतिक नहीं हो सकते।

पीड़ा होती है। इन लक्षणों से कोई भी अनुमान लगा सकता है कि प्राण मार्गों में विकार आ गया है। जल मार्गों का मूल तालु है और पिपासा का स्थान हृदय (क्लोम) है।[1] जब ये दूषित होते हैं तो जिह्वा, तालु, ओष्ठ, कण्ठ और क्लोम सूख जाते हैं और बड़ी प्यास लगती है। सारे आहारवह स्रोतों का मूल आमाशय है और जब ये दूषित होते हैं तो भोजन के प्रति अरुचि, अजीर्ण, वमन आदि होते हैं। रसवह स्रोतों का हृदय मूल है और दस धमनियां भाग हैं। यकृत और प्लीहा रक्तस्रोतों के मूल हैं। स्नायु और त्वचा मांसवह स्रोतों के मूल हैं। वृक्क मेदवह स्रोतों के मूल हैं मेद और वस्ति अस्थिवह स्रोतों के, अस्थि और सन्धियां मज्जावह स्रोतों के, अण्डकोष और शिश्न शुक्रवह स्रोतों के, मूत्राशय और वंक्षण मूत्रवह स्रोतों के, पक्वाशय और मलाशय पुरीषवाही स्रोतों के और मेद और रोमकूप स्वेदवह स्रोतों के मूल हैं।[2] तथापि यह एक विलक्षण बात देखने में आती है कि सिराओं और धमनियों को पर्यायवाची मानने के उपरान्त भी, उनकी संख्या ७ ७ १३ में अलग अलग दी गई है जिसमें यह कहा गया है कि दो सौ धमनियाँ हैं और सात सौ सिराएँ हैं और इनके सूक्ष्मतर सिरों की संख्या २९९५६ है। अथर्ववेद में उपलब्ध संकेतों के अनुसार ऐसा सोचना युक्तिसंगत है कि यद्यपि चरक द्वारा धमनियों और सिराओं को सदृश कर्म वाला माना गया है फिर भी धमनियां सिराओं की अपेक्षा स्थूलतर हैं।[3] गंगाधर इस अंश पर टीका करते हुए कहते हैं कि सिराएँ धमनियां और स्रोत इस कारण भिन्न भिन्न है कि उनकी संख्या भिन्न भिन्न हैं, उनके कार्य भिन्न भिन्न हैं और उनके रूप भिन्न हैं। सुविदित है कि सुश्रुत ने शिरा और धमनियों का भेद किया है, जिसका मैं यहाँ उल्लेख करूँगा परन्तु चरक ने ऐसे विभेद का स्पष्ट रूप से अस्वीकार किया है और यह भेद चरक के टीकाकार चक्रपाणि ने भी स्वीकार किया है।[4]

---

[1] चरक संहिता ३ ५ १०। चक्रपाणि ने इसकी (क्लोम की) व्याख्या इस प्रकार की है 'हृदयस्थ पिपासास्थानम्' और गंगाधर ने इसे कण्ठ और हृदय का संधिस्थल (कण्ठोरसः संधि) बताया है।

[2] चरक द्वारा दिए गए 'स्रोतस' के पर्यायवाची हैं—शिरा, धमनी, रस वाहिनी, नाडी, पन्था मार्ग शरीर छिद्र, संवृतासंवृतानि (मूल में खुला हुआ परन्तु अन्त में बन्द स्थान) आशय और निकेत।

[3] इडवल का एक ऐसा स्थल (चरक संहिता ६ २९ २३) है जिससे प्रतीत होता है कि शिराओं और धमनियों में भेद किया गया है, क्योंकि वहाँ रोग के लक्षण के रूप में यह कहा गया है कि शिराएँ विस्तृत (आयाम) हो गई हैं और धमनियां अवच्छिन्न (संकोच) गई हैं।

[4] न च चरके सुश्रुत इव धमनीशिरास्रोतसां भेदो विवक्षित (चरक ३ ५ ३ इत टीका)।

गंगाधर चरक का कोई भी ऐसा स्थल प्रदर्शित करने में असमर्थ है जिससे वह अपने मत को सिद्ध कर सके या अधिक स्पष्ट रूप से यह बता सके कि धमनियों और शिराओं के कार्यों और रूपों में क्या अंतर है। वास्तव में गंगाधर का कथन सुश्रुत ३ ९ ३ से लिया गया है परन्तु ऐसा उसने स्वीकार नहीं किया है, और यह अत्यंत आश्चर्यजनक है कि उसको इस बात पर चरक और सुश्रुत के मतों के बीच का अंतर ज्ञात न हो और चरक के पक्ष की सुश्रुत के उद्धरण से उसी बात पर पुष्टि कर जिस पर उन दोनों का यथार्थ रूप में मतभेद है। सुश्रुत चरक के इस मत का उल्लेख करते हैं कि शिरा, स्रोत और धमनियां एक ही हैं और यह कह कर इसका विरोध करते हैं कि वे रूप संख्या और कार्यों के अनुसार भिन्न भिन्न हैं। इसकी व्याख्या करते हुए डल्हण का कथन है कि शिराएँ वात पित्त, श्लेष्मा रक्त इत्यादि का वहन करती हैं और गुलाबी, नीली, श्वेत और लाल होती हैं जबकि धमनियां शब्द इत्यादि इन्द्रिय रूपों का वहन करती हैं और उनका भेदकारक वर्णन नहीं है, और स्रोतों का वही वर्ण होता है जिस वर्ण की धातु का वे अपने में वहन करते हैं। पुनः मुख्य शिराएँ संख्या में चालीस हैं मुख्य धमनियां चौबीस हैं और मुख्य स्रोतों की संख्या बाईस है। शिराएं हमें हमारे अंगों का संकोच अथवा विस्तार करने देती हैं अथवा अन्य गतिप्रद कार्य करने देती हैं और वे मन और इन्द्रियों को अपने खुद के ढंग से कार्य करने देती हैं तथा जब वायु उनमें क्रियाशील होता है तो शीघ्रता से चलने के कार्य (प्रस्यन्दन) के सम्पादन में भी सहायक होती हैं। जब पित्त का शिराओं में वहन होता है तो वे दीप्तिमान प्रतीत होती हैं आहार में रुचि उत्पन्न करती हैं, जठराग्नि का और आरोग्य को बढ़ाती हैं। जब श्लेष्मा उनमें से प्रवाहित होती है तो वे शरीर का स्निग्ध आभा, संधियों का दृढ़ता और शक्ति प्रदान करती हैं। जब उनमें से रक्त का संचार होता है तो वे रंगीन हो जाती हैं और भिन्न भिन्न धातुओं से पूरित भी हो जाती हैं और स्पर्श का इन्द्रिय बोध भी उत्पन्न करती हैं। वायु पित्त श्लेष्मा और रक्त इनमें से कोई भी, किसी भी, और प्रत्येक शिरा में प्रवाहित हो सकता है।[1] धमनियां प्राणवहा नाड़ियों के अधिक समान हैं क्योंकि वे शब्द रूप, रस और गंध की संवेदना का वहन करती हैं (शब्दरूपरसगन्धवहत्वादिभिर् धमनीनाम्)। स्रोत प्राण, भोजन, उदक रस रक्त, मांस और मेद का वहन करते हैं।[2] यद्यपि उनके कार्य वास्तव में पृथक् पृथक् हैं फिर भी कभी कभी ऐसा माना गया है कि वे एक सा ही कार्य करती हैं इसका कारण है उनकी परस्पर अत्यधिक निकटता उनके सदृशकार्य, उनकी सूक्ष्मता और यह तथ्य भी कि आप्त पुरुषों ने उनके लिए समान शब्दों का प्रयोग किया है।[3] इसकी व्याख्या करते हुए डल्हण का कथन है कि जिस

---

[1] सुश्रुत संहिता ३ ७ ८ १७।

[2] डल्हण की सुश्रुत। ३ ९ ३ पर टीका।

[3] वही।

प्रकार घास के गट्ठर के जलने के समय घास के प्रत्येक पृथक पत्ते का उनकी निकटता के कारण पृथक रूप में जलना देखा नहीं जा सकता, उसी प्रकार शिरा धमनियां और स्रोत एक दूसरे के इतना निकट स्थित हैं कि उनकी पृथक क्रिया और कर्म को देखना अत्यन्त कठिन है। शिरा, धमनी और स्रोत शरीर की वाहिनियां अथवा नाड़ियां के वास्तव सामान्य नाम हैं।[1] इन सब नाड़ियां के सदृश कर्म के कारण ही कभी कभी उनके कार्यों के विषय में भ्रम हो जाता है।

धमनियां का मूल नाभि है, दस शरीर के ऊर्ध्व भाग को जाती हैं दस अधो भाग को और चार आड़ी (तिर्यग्गा)। जो दस शरीर के ऊर्ध्व भाग को जाती हैं, वे शाखाओं में विभक्त होकर तीन वर्गों में बँट जाती हैं और उनकी संख्या तीस है। इनमें से दस क्रमशः वात पित्त, कफ शोणित और रस का–प्रत्येक के लिए दो दो–वहन करती हैं आठ शब्द, रूप रस और गन्ध का–प्रत्येक के लिए दो दो–वहन करती हैं, दो वाक् इन्द्रिय के लिए, दो वाणी से भिन्न घोष उत्पन्न करने के लिए, दो निद्रा के लिए, दो जागृति के लिए, दो अश्रुओं को धारण करने के लिए दो स्त्रियों में दुग्ध को प्रवाहित करने के लिए हैं और यही दो धमनियां मनुष्यों में शुक्र का प्रवाहित करने के लिए हैं। इन धमनियों के द्वारा ही नाभि के ऊपर का शरीर (यथा पार्श्व पृष्ठ, वक्ष, कंधे, हाथ इत्यादि) अधोभाग से दृढ़ता से सम्बद्ध रहता है। वात आदि का वहन समस्त धमनियों का सामान्य गुण है।

जो धमनियां अधोभाग में शाखाओं में बँट जाती हैं उनकी संख्या तीस है। ये वात, मूत्र, मल, शुक्र आर्तव, इत्यादि का नीचे की ओर उत्सर्ग करती हैं। ये पित्ताशय से सम्बद्ध हैं, आत्मसात् करने के अयोग्य पदार्थों को नीचे की ओर ले जाती हैं और पाचन से उत्पन्न विशेष पदार्थों से शरीर को पुष्ट करती हैं। ज्यों ही भोजन उष्णता से पच जाता है, पित्ताशय से जुड़ी हुई धमनियां अन्न रस को ऊपरी प्रवाहिका धमनियां में पहुँचा देती हैं, उनमें से उसे 'रसस्थान' संज्ञक हृदय में पहुँचाती हैं और तब उस अन्न रस को सम्पूर्ण शरीर में वाहित करती हैं।[2] दस धमनियां वात,

---

[1] इस प्रकार डल्हण का कथन है

आकाशीयावकाशाना देहे नामानि देहिनाम्
शिरा स्रोतासि मार्गा ख धमन्य ।

[2] सुश्रुत शारीर अध्याय ९, श्लोक ७ और ८। इस पर डल्हण की टीका भी देखिए। शरीर में अन्न रस वाहिनी कुछ धमनियों के छिद्र कमल तन्तुओं के समान सूक्ष्म होते हैं और उनसे स्थूलतर कुछ धमनियों के छिद्र बिस के छिद्र के बराबर होते हैं। इस प्रकार कुछ धमनियों के अति सूक्ष्म छिद्र होते हैं और उनसे स्थूलतर छिद्र होते है—

पित्त, शोणित, कफ और रस का वहन करती है पक्वाशय से सम्बद्ध दो धमनियाँ अन्नरस का वहन करती हैं, दो जल का वहन करती हैं, दो मूत्र के वहन के लिए मूत्राशय से सम्बद्ध हैं, दो शुक्र के प्रादुर्भाव के लिए, दो शुक्र के विसर्ग के लिए और यही दो स्त्रियों के आर्तव शोणित का नियमन करती है, स्थूलान्त्र से सम्बद्ध दो पुरीष का निरसन करती है अन्य आठ स्वेद का वहन करती हैं। इन्हीं धमनियों के कारण ही पक्वाशय, कटि, मूत्र पुरीष, गुदा, मूत्राशय और शिश्न एक दूसरे से जुड़े रहते हैं।

आड़ी जाने वाली (तिर्यग्गा) चार धमनियों में से प्रत्येक की सैंकड़ों और हजारों शाखाएँ हैं, ये शाखाएँ असंख्य होने के कारण, सारे शरीर में अनेकों खिड़कियों के समान फैली हुई हैं उनके द्वार रोम कूपों पर स्थित हैं जिनमें से स्वेद निकलता है और जो रस द्वारा शरीर का पोषण करती हैं, और इनमें से होकर शरीर पर 'भ्राजक' (त्वचा की ऊष्मा) का कार्य होने के पश्चात् तैल, जल के अभिषेचन, अभ्यंग आदि का वीर्य शरीर में प्रवेश करता है।[1] पुन इन्हीं के द्वारा ही स्पर्श का सुखमय अथवा पीडामय इन्द्रियबोध होता है।[2] धमनियाँ इन्द्रिय विषयों के बोध के लिए इन्द्रियों का निर्देशन करती हैं। वही बोधकर्त्ता (मन्तृ) है और मन इन्द्रिया है, एक ओर जो धमनी मन से संबद्ध है और दूसरी ओर जो धमनिएं भिन्न भिन्न इन्द्रियों बोधों को वहन करती हैं वे दोनों इन्द्रिय सामग्री का आत्मा को बोध कराती हैं।[3] बोधकारी और चेष्टाकारी विभिन्न धमनियों के और आगे नाम सुश्रुत ३ ६ २८ में दिए गए हैं। कर्ण पृष्ठ के अधोभाग में विधुरा नामक दो धमनियाँ हैं जिनके आहत होने पर बाधिर्य उत्पन्न होता है, नासिका के अन्दर के भाग में फण नामक दो धमनियाँ हैं, जिनके

यथा स्वभावत खानि मृणालेषु बिसेषु च
धमनीनां तथा खानि रसो यैरुपचीयते ॥ —वही अ० ६ श्लो० १०।

[1] सुश्रुत शारीर अध्याय ६ श्लोक० ७ और ८ देखिए इस पर डल्हण की टीका।

[2] सुश्रुत ३ ६ ६ में इस स्थल पर टीका करते हुए डल्हण कहते हैं तैरेव मनोऽनुगत सुखासुखरूप स्पर्श कर्मात्मा गृह्णाति। (मन से सम्बद्ध होने के फलस्वरूप इन्हीं धमनियों के द्वारा सूक्ष्म शरीर से युक्त आत्मा स्पर्श के सुखासुख रूपों को ग्रहण करता है।

[3] पंचाभिभूतास्त्वथ पंचकृत्व
पंचेन्द्रियं पंचसु भावयन्ति
पंचेन्द्रियं पंचसु भावयित्वा
पंचत्वमायान्ति विनाशकाले। —सुश्रुत, ३ ६ ११।

उपर्युक्त पर टीका करते हुए डल्हण कहते हैं मन्ता हि शरीरे एक एव, मनो प्येकमेव, तेन मनसा यत्र धमनी शब्दादिवहासु धमनीष्वभिप्रपन्ना सैव धमनी स्वधर्म ग्राहयति मन्तारं नान्येति।'

आहत होने पर घ्राण की संवेदना रुक जाती है। नासा के दोनों पार्श्वों पर भौंहों के नीचे 'अपांग' नामक दो धमनियां हैं जिनके उपघात होने पर अन्धता उत्पन्न होती है। भौंहों के ऊपर और नीचे की ओर 'आवर्त' नामक दो धमनियां और भी हैं, जिनके आहत होने पर भी अन्धता उत्पन्न होती है। इस सम्बन्ध में मस्तिष्क के ऊर्ध्व भाग पर कपाल में जिस स्थान पर सारी शिरायें आपस में मिलती हैं सुश्रुत ने उस स्थान का भी वर्णन किया है और उसे अधीश्वर रूप में 'अधिपति' की संज्ञा दी है।

शिराओं (संख्या ७००) का वर्णन करते हुए सुश्रुत कहते हैं कि ये अनेकों कुल्याओं के समान हैं जो शरीर को सींचती हैं और जिनके संकोच और आयाम के कारण शरीर की चेष्टाएँ सम्भव होती हैं। वे नाभि से प्रारम्भ होती हैं और पत्ते के अनेकों तन्तुओं के समान विभक्त हो जाती हैं। मुख्य शिराएँ संख्या में चालीस हैं, इनमें से दस वात के, दस पित्त के, दस कफ के और दस रक्त के परिवहन के लिए हैं। वातवाहिनी शिराएँ फिर १७५ शिराओं में विभक्त हो जाती हैं और ऐसा ही विभाजन पित्त, कफ और रक्त वाहिनी शिराओं का भी है। इस प्रकार कुल ७०० शिराएं हमें उपलब्ध होती हैं। जब वात सम्यक रूप से शिराओं में प्रवाहित होता है तो बिना किसी अवरोध के हमारे अंगों की चेष्टाएँ और हमारे बौद्धिक कार्य सम्भव होते हैं। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि यद्यपि कुछ शिराओं को मुख्यतः वात, पित्त और कफ को वहन करने वाली ही माना गया है, फिर भी वे सब कम से कम कुछ मात्रा तक इन तीनों का वहन भी करती हैं।[1]

स्नायु ९०० हैं और इनमें भी छिद्र होते हैं (सुषिरा), और ये स्नायु तथा कण्डराएं भी जो केवल विशिष्ट प्रकार के स्नायु हैं शरीर की संधियों को उसी प्रकार बांधने का कार्य करती हैं जिस प्रकार नाव में तख्तों के कई टुकड़े आपस में जुड़े रहते हैं। सुश्रुत ने पांच सौ पेशियों का भी वर्णन किया है। मर्म मांस, शिराओं, स्नायुओं और अस्थियों के प्राणभूत स्थान हैं जो विशिष्ट रूप से प्राणों के स्थान हैं। जब मनुष्य इन स्थानों पर आहत होते हैं तो या तो वे अपने प्राण गवां देते हैं या उनमें अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न हो जाते हैं। सुश्रुत ने स्रोतों का भी वर्णन उन नाड़ियों के रूप में किया है जो शिराओं और धमनियों से पृथक हैं और जो हृदय विवर से प्रारम्भ होकर सम्पूर्ण शरीर में फैल गई हैं।[2] ये स्रोत प्राण, अन्नरस, उदक, रक्त, मांस, मेद, मूत्र, पुरीष, शुक्र और आर्तव का वहन करते हैं।

---

[1] न हि वातं शिराः काश्चिन्न पित्तं केवलं तथा।
श्लेष्माणं या वहन्त्यता अतः सर्ववहाः स्मृताः ॥ —सुश्रुत, ३. ७. १६।

[2] सुश्रुत, शारीर अध्याय ९ श्लोक १३।
मूलात्खादन्तरं देहे प्रसृतं त्वभिवाहि यत्
स्रोतस्तदिति विज्ञेयं शिराधमनीवर्जितम् ॥

तान्त्रिक नाडी संस्थान

तथापि तान्त्रिक नाडी संस्थान चरक और सुश्रुत के चिकित्सा सम्बन्धी नाडी संस्थान से पूर्णत भिन्न है। इसका प्रारम्भ मेरुदण्ड की धारणा से होता है जिसको पृष्ठमूल से ग्रीवामूल तक की एक अस्थि माना गया है। मेरुदण्ड के अन्दर के भाग म सुषुम्णा नामक एक नाडी है, जो स्वयं वास्तव म सुषुम्णा वज्रा और चित्रिणी इन तीन नाडियों से बनी है।[1] सारी नाडियाँ मेरुदण्ड के अन्त म स्थित काण्ड सनक मूल से प्रारम्भ होती हैं और वे 'सहस्रार' नामक मस्तिष्क के ऊर्ध्वतम नाडी तन्त्र की ओर ऊर्ध्वगमन करती है और उनकी संख्या बहत्तर हजार है। इन नाडियों (काण्ड) का मूल स्थान गुदा के एक इंच ऊपर और शिश्न मूल के एक इंच नीचे है। यदि सुषुम्णा मेरुदण्ड की मध्य नाडी है तो इसके पुर दक्षिण और इडा है और तत्पश्चात् इसके समानान्तर सुषुम्णा की ओर ये नाडियाँ हैं बाईं आँख के कोने से गए पैर तक फैली हुई गांधारी बाईं आँख से बाएं पैर तक फैली हुई हस्ति जिह्वा' बाईं ओर को शाखा रूप म निकली हुई 'शंखिनी' दूर (बाईं ओर की बस्ति प्रदेशीय नाडी)' और कटि प्रदेशीय नाडी 'विश्वोदरा। सुषुम्णा के पुर बाएं पार्श्व में पिंगला है और पिंगला और सुषुम्णा के मध्य म ये नाडियाँ हैं दक्षिणी आँख के कोने से उदर तक फैली हुई 'पूषा कर्ण प्रदेशीय शाखा अथवा प्रवेय नाडी तन्त्र पयस्विनी सरस्वती' और वारणा (त्रिकीय नाडी)। शंखिनी (बाईं ओर की कर्ण प्रदेशीय शाखा

---

[1] परन्तु तन्त्र चूडामणि के अनुसार सुषुम्णा मेरुदण्ड के अन्दर की ओर नहीं इसके बाहर की ओर है। इस प्रकार इसमें कहा है तद्बाह्ये तु तयामध्ये सुषुम्णा वह्निसंयुता। परन्तु यह 'षटचक्रनिरूपण' के मत के विरुद्ध है जिसके अनुसार सुषुम्णा रीढ के भाग के अन्दर है। 'निगमतत्त्वसारतन्त्र' के अनुसार 'इडा' और पिंगला दोनों रीढ के अन्दर हैं परन्तु यह स्वीकृत मत के बिल्कुल विरुद्ध है। डा० सर बी० एन० सील का मत है कि सुषुम्णा मेरुदण्ड का मध्य भाग या संचार भाग है, न कि पृथक नाडी (The positive Science of the Ancient Hindus पृ० २१६ २२६ २२७)। The Mysterious Kandaras नामक अपनी पुस्तक मे श्री रेले ने विचार प्रकट किया है कि यह केन्द्र स्थित एक नाडी है और मेरुदण्ड मे से होकर जाती है परन्तु रेले का विचार है कि यह सुषुम्णा नाडी मेरुदण्ड के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इनके इस निर्णय का आधार यह कथन है कि सुषुम्णा मेरुदण्ड के त्रिक से उद्भूत है। इस त्रिक से वह कपाल मूल तक ऊपर की ओर जाती है वहाँ यह ब्रह्मचक्र (कपाल कुहर स्थित मस्तिष्क) नामक सहस्र स्नायुओं के जाल म मिल जाती है और कण्ठ स्तर पर दोनों मोहों और मस्तिष्क छिद्र (ब्रह्मरंध्र) के बीच क्रमश अग्र भाग और पश्च भाग म विभक्त हो जाती है।

अथवा ग्रैवेय नाडी तन्त्र) 'सुषुम्णा' के समानान्तर जाती है, परन्तु ग्रीवा प्रदेश मे मुडकर बाए कर्ण छिद्र के मूल तक चली जाती है, इसकी एक दूसरी शाखा ललाट प्रदेश के आभ्यन्तर भाग मे से जाती है जहा यह 'चित्रिणी' नाडी से जुड जाती है और मस्तिष्क प्रदेश मे प्रवेश करती है। सुषुम्णा नाडी रीढ के अन्दर की ओर एक प्रकार की वाहिनी है जो अपने अन्दर 'वज्रा' नाडी को लपेटे हुए है और वह वज्रा नाडी अपने अन्दर 'चित्रिणी' नाडी को घेरे हुए है, जिसमे एक सूक्ष्म छिद्र इसके सम्पूर्ण भाग मे विद्यमान है, यह सूक्ष्म छिद्र सम्पूर्ण मेरुदण्ड मे से होकर बना हुआ है।[1] चित्रिणी नाडी का आभ्यन्तर भाग भी 'ब्रह्मनाडी' कहलाता है, क्योकि 'चित्रिणी' मे और आगे अन्य कोई भाग या नाडी नही है।[2] इस प्रकार यथासभव सुषुम्णा हमारा पृष्ठवंश है। तथापि ऐसा कहा जाता है कि सुषुम्णा मुड कर ललाट प्रदेश मे शखिनी से सम्बद्ध हो जाती है ललाट प्रदेश से शखिनी के छिद्र से (शखिनीनालमालम्ब्य) मिल जाती है और मस्तिष्क प्रदेश मे पहुँच जाती है। समस्त नाडिया सुषुम्णा से जुडी हुई हैं। 'कुण्डलिनी' सर्वोच्च शारीरिक शक्ति का एक नाम है और क्योकि सुषुम्णा के पथ 'ब्रह्मनाडी' से यह शक्ति धड के अधोभाग से मस्तिष्क के स्नायु जाल के प्रदेश म प्रवाहित होती है इसलिए सुषुम्णा को कभी कभी कुण्डलिनी कहा जाता है। परन्तु स्वय कुण्डलिनी को नाडी नही कहा जा सकता और जसाकि श्री रेले ने कहा है इसे कपाल की नाडी कहना, स्पष्टत गलत है।[3] रीढ के बाहर की ओर सुषुम्णा के बाई ओर स्थित 'इडा' नाडी ऊपर की ओर नासिका प्रदेश मे जाती है, और पिंगल भी दाई ओर ऐसा पथ ही ग्रहण करती है। इन नाडियो के अन्य वर्णनो मे कहा गया है कि 'इडा' दक्षिण अण्डकोश से और 'पिंगला' बाए अण्डकोश स निकलकर धनुष की आकृति मे (धनुराकारे) सुषुम्णा के बाए और दाए म चली जाती है। तो भी ये तीनो शिश्न मूल म मिल जाती हैं इस प्रकार इस स्थान का माना तीन नदिया सुषुम्णा (गगा नदी से उपमित) इडा (यमुना से उपमित) और पिंगला (सरस्वती से

---

[1] पूर्णानन्द यति ने षटचक्रनिरूपण पर अपनी टीका म 'नाडी' की व्युत्पत्ति 'नड' चलना धातु से मार्ग अथवा रास्ता' की है (नडगतौ इति धातोनड्यते गम्यतेऽनया पदव्या इति नाडी)। महामहोपाध्याय गणनाथ सेन ने अपने ग्रन्थ प्रत्यक्षशारीरक मे नाडियो को छिद्रहीन (नीरन्ध्र) मान कर बहुत गम्भीर गलती की ह। उनको आयुर्वेद म अथवा षटचक्र निरूपण तथा इसकी टीकाओ मे निश्चित रूप से ऐसा नही माना गया ह। योग और तन्त्र साहित्य म नाडी शब्द का प्रयोग चिकित्सा साहित्य के शिरा शब्द के स्थान पर प्राय किया गया ह।

[2] शब्दब्रह्मरूपाया कुण्डलिन्या परमशिवसन्निधिगमनपथरूपचित्रिणीनाडयन्तगत शून्यभाग इति। षटचक्रनिरूपण, श्लोक २ पर पूर्णानन्द की टीका।

[3] सुषुम्णायै कुण्डलिन्यै। —हठयोगप्रदीपिका ४ ६४।

उपमित) का सगम (त्रिवेणी) माना गया है। इडा और पिंगला इन दो नाडियों का क्रमश सूर्य और चन्द्रमा के रूप में और सुषुम्ना का अग्नि के रूप में वर्णन किया गया है।[1] इन नाडियों के अतिरिक्त 'योगी याज्ञवल्क्य' में 'अलुम्बुषा' नामक एक अन्य नाडी का भी उल्लेख है और इस प्रकार वे मुख्य नाडियों की सख्या चौदह कर देते हैं इनमे सुषुम्णा सम्मिलित है और सुषुम्णा को एक नाडी माना गया है (अर्थात् वज्रा और चित्रिणी इसमे सम्मिलित हैं) यद्यपि नाडियों की कुल सख्या बहत्तर हजार मानी जाती है। श्रीकण्ठ ने अपने 'नाडीविज्ञान' में नाडियों की सख्या तीन करोड पचास लाख दी है। परन्तु जहाँ षट्चक्रनिरूपण, ज्ञानसकलिनी योगी याज्ञवल्क्य आदि ग्रन्थो मे निरूपित तन्त्रसम्प्रदाय नाडियो का शिश्नमूल और गुदा के मध्यस्थित नातिनीतन्त्र से समुद्भूत मानता है और जहाँ चरक उनको हृदय से समुद्भूत मानते हैं, वहाँ श्रीकण्ठ का मत है कि वे नाभि (नाभि कद) से प्रादुर्भूत होकर वहा से ऊपर नीचे और पार्श्वों में गई हैं। तो भी श्रीकण्ठ ऐसा स्वीकार करके तन्त्रसम्प्रदाय से सहमत हो जाते हैं कि इन तीन करोड पचास लाख नाडियों मे से बहत्तर हजार नाडियाँ ऐसी हैं जिन्हे स्थूल माना जा सकता है और जिन्हे धमनी भी कहा जाता है तथा जो रूप, रस गध स्पर्श और शब्द के इन्द्रिय गुणों का वहन करती हैं (पचेन्द्रिय-गुणावहा)। सूक्ष्म छिद्रों से युक्त सात सौ नाडियाँ ऐसी हैं जो शरीर पोषक अन्नरस का वहन करती हैं। इनमे से भी चौबीस ऐसी हैं जो स्थूलतर हैं।

शरीर विज्ञान की तन्त्रशाखा की महत्वपूर्ण विशेषता उसका नाडी जाल (चक्र) का सिद्धान्त है। इन चक्रो म से प्रथम आधार चक्र है जिसका अनुवाद प्राय त्रिकानुत्रिकीय जाल किया जाता है। यह चक्र शिश्न और गुदा के मध्य स्थित है और इसके आठ उन्नत प्रदेश ह। यह सुषुम्णा के मुख के सस्पर्श में रहता है। चक्र के केन्द्र म स्वयभूलिंग नामक एक उन्नत प्रदेश है जो एक सूक्ष्म कलिका के समान है जिसके मुख पर एक छिद्र है। डोरे के समान एक सूक्ष्मतन्तु सर्पिल आकार का होता है और वह एक ओर स्वयभूलिंग के छिद्र से और दूसरी ओर सुषुम्णा के मुख से सम्बद्ध होता है। यह सर्पिल आकार का और कुण्डलीयुक्त तन्तु 'कुलकुण्डलिनी' कहलाता है इसका कारण यह है कि अपान वायु के नीचे की ओर के दबाव और प्राणवायु के अन्दर की ओर के दबाव की इसकी चेष्टा म प्रकट होने वाली प्रच्छन्न आधारशक्ति के कारण ही उच्छ्वास व नि श्वास सभव होते हैं व प्राण क्रियाएँ की जाती हैं। इसके बाद 'स्वाधिष्ठान चक्र', रीढ का त्रिक सम्बन्धी चक्र, आता है जो शिश्न मूल के पास है। उसके पश्चात् नाभिप्रदेश म स्थित कटिसबधी चक्र (मणिपूरचक्र) आता है। उससे आगे का हृदय प्रदेश मे स्थित बारह शाखाओं का हृदयचक्र (अनाहतचक्र

---

[1] षट्चक्रनिरूपण श्लो० १ और योगी याज्ञवल्क्य सहिता पृ० १८।

अथवा विशुद्ध चक्र) है। फिर मेरुदण्ड और मेरुशीर्ष के सधिस्थल पर स्थित 'भारती स्थान' नामक कण्ठनाली सबधी और अन्ननाली सबधी चक्र है। तत्पश्चात् 'अलिजिह्वा' के सामने का 'ललामचक्र' आता है। इससे आगे भौंहा के मध्य मे 'आज्ञा चक्र है, भौंहो के बीच म मनश्चक्र है, जो इद्रिय ज्ञान और स्वप्नज्ञान का स्थान है और मन इन्द्रिय का स्थान है। विज्ञानभिक्षु का अपनी 'योगवार्तिक' मे कथन है कि यहा से सुषुम्णा की एक शाखा ऊपर की ओर जाती है, यह शाखा मन के कार्यों को करने वाली नाडी है और मनोवहा नाडी कहलाती है, मानसकलनतन्त्र मे इसे ज्ञान नाडी कहा है। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि इसी नाडी के द्वारा मस्तिष्क स्थित आत्मा और मनश्चक्र स्थित मन के बीच सबध स्थापित किया जाता ह। वैशेषिक सूत्र ५ २ १४ और १५ पर अपने भाष्य में शकरमिश्र का तर्क है कि नाडिया स्वय स्पर्श रूप को उत्पन्न करने की क्षमता रखती ह, क्योकि यदि ऐसा नही होता तो खाना और पीना अपने सबद्ध भावो के अनुसार समव नही होता, क्योकि ये प्राणो के स्वचालित कार्यों के परिणामस्वरूप होते ह।[1] आज्ञाचक्र के ऊपर मस्तिष्क के मध्य मे सोमचक्र ह, और अन्तत ऊपरी मस्तिष्क में 'सहस्रार चक्र है जो आत्मा का स्थान है। (योग की प्रक्रिया इस बात में निहित है कि आधारचक्र में स्थित प्रच्छन्न शक्ति को उद्दीप्त किया जाय, इसको चित्रिणी अथवा ब्रह्मनाडी के छिद्र मे से होकर ऊपर ले जाया जाय, और उसे ब्रह्मरध्र अथवा सहस्रारचक्र मे पहुँचाया जाय। इस कुण्डलिनी का वर्णन विद्युत् रेखा के समान सूक्ष्म तन्तु के रूप म किया गया है (तडिदिव विलसत् तन्तुरूपस्वरूपा), जिससे यह प्रश्न उठता है कि क्या वास्तव मे यह एक भौतिक नाडी है अथवा केवल प्रच्छन्न शक्ति ही, जिसे ऊपरी मस्तिष्क तक 'सहस्रारचक्र' मे ऊपर की ओर ले जाया जाना चाहिए, और मेरे विचार मे यह सन्तोषप्रद रूप से अभी भी स्पष्ट नही किया जा सकता। परन्तु, ग्रन्था की विस्तृत तुलना के आधार पर निर्णय करने पर *ऐसा लगभग निश्चित प्रतीत होता ह कि यह कुण्डली शक्ति ही है जो ऊपर* की ओर ले जायी जाती है। यदि कुण्डली शक्ति अपने स्वभाव से ही अक्षम्य है, तो सर जोन कृत Serpent power पृ० ३०१–३२० मे उठाई गई यह सारी चर्चा सारहीन हो जाती है कि क्या आधारचक्र कभी रिक्त होता है या नहीं, अथवा क्या कुण्डलिनी स्वय ऊपर उठती है या इसका स्राव? यह अत्यन्त सदेहास्पद ह कि कहाँ तक चक्रो को नाडी चक्र कहा जा सकता है क्योकि सारे नाडीचक्र पृष्ठ रध्र से बाहर ह, परन्तु यदि कुण्डलिनी का चित्रिणी नाडी के रध्र मे से होकर जाना आवश्यक है और साथ ही चक्र में से होकर जाना भी आवश्यक है तो चक्रो या कमलो (पद्म) को अवश्य मेरुदण्ड के अन्तर्भाग मे स्थित होना चाहिए। परन्तु यह मानकर कि नाडी चक्र

[1] देखिए डा० बी० एन० सील कृत पाजिटिव सायसेज आफ द ऐन्श्येन्ट हिन्दूज, पृ० २२२–२२५।

उनसे सबद्ध मरुदण्ड के आभ्यन्तर चक्रो के द्योतक हैं और इस कारण से भी कि चक्रो को नाडी जाल के रूप म मानने की प्रथा बन गई है मैंने चक्रो का इस रूप मे वर्णन करने का साहस किया है। परन्तु यह याद रखना चाहिए कि जिस प्रकार कुण्डलिनी रहस्यमय शक्ति है उसी प्रकार चक्र भी कुण्डलिनी के ऊर्ध्व गमन के मार्ग के रहस्यमय स्थान हैं। नाडी चक्रो के रूप मे उनकी नाडी भौतिकी व्याख्या ग्रथ पाठो के प्रति अत्यत निष्ठाहीनता होगी। इन विषयो पर विस्तृत चर्चा इस कृति के बाद के एक खड मे तन्त्रदर्शन के विवेचन मे उपलब्ध होगी। इस विभाग की मुख्य रुचि केवल यही प्रदर्शित करना है *कि तन्त्र शारीर शास्त्र अपनी धारणा मे हमारे इस शोध के विषय, आयुर्वेद, के शारीर*-शास्त्र से पूर्णतया भिन्न है। इन विचारणाओं से एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य भी सामने आता है, *वह यह कि यद्यपि 'सिद्धिस्थान' मे दृढबल रचित परिशिष्ट भाग मे शिर को* सवेदनामय चेतना के स्थान से सबद्ध किया गया है फिर भी चरक के अपने भाग मे हृदय का आत्मा के केन्द्रीय स्थान के रूप में उल्लेख किया गया है।

रस और उनके रसायन का सिद्धान्त

आयुर्वेद म ओषधियो और आहार के चयन म तथा रोगो के निदान और उनके उपचार की व्यवस्था करने मे रस सिद्धान्त का महत्वपूर्ण स्थान है। चरक के १ २६ म हमे चैत्ररथ वन मे महर्षियो के समागम का उल्लेख मिलता है इसमे आहार और रस के प्रश्न पर चर्चा करने के उद्देश्य से आत्रेय, भद्रकाप्य शाकुन्तेय, पूर्णाक्ष मौद्गल्य, हिरण्याक्ष कौशिक कुमारशिरा भारद्वाज वार्योविद, विदेहराजनिमि, बडिश और बाह्लीक वद्य काकायन उपस्थित थे।

भद्रकाप्य का मत था कि रस वही है जिसका जिह्वा इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्षीकरण किया जा सके और यह एक है अर्थात् उदक। शाकुन्तेय का मत था कि रस दो हैं, पोषक (उपशमनीय) और क्षयकारक (छेदनीय)। पूर्णाक्ष का मत था कि रस तीन होते हैं उपशमनीय छेदनीय और साधारण। हिरण्याक्ष के मत मे चार रस होते हैं, हितकर स्वादु अहितकर स्वादु अहितकर अस्वादु हितकर अस्वादु। कुमारशिरा का कथन था कि रस पाँच होते हैं पार्थिव, जलीय आग्नेय वायव्य और आतरिक्ष। वार्योविद का मत है कि रस छ होते हैं गुरु लघु, शीत उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष। *निमि का कथन था कि रस सात हैं* मधुर अम्ल, लवण, कटु तिक्त कषाय और क्षार। बडिश ने उपयुक्त मे एक रस अव्यक्त और जोड दिया और उनका मत है कि रस आठ होते हैं। कांकायन का मत था कि रस जिन पदार्थों मे वे आश्रित हैं उनकी विभिन्नता, लघुता और गुरुता जसे उनके विशिष्ट गुणो, धातुओ की वृद्धि अथवा क्षय म उनके कर्मों और रसनेन्द्रिय को प्रतीत होने वाली उनकी विभिन्नता के कारण उनको गिना नहीं जा सकता। आत्रेय पुनर्वसु का मत था कि

रस केवल छः ही हैं, मधुर, अम्ल, लवण कटु, तिक्त और कषाय। उन सब रसों का मूल जल है। उपशमन और छेदन रस के दो कर्म हैं, जब उपयुक्त विपरीत कर्म वाले रसों का परस्पर मिश्रण किया जाता है तो उनका साधारणत्व प्राप्त हो जाता है। रस की स्वादुता और अस्वादुता रुचि अथवा अरुचि पर निर्भर करती है। रसों के आश्रय स्थान पंचमहाभूतों के विकार हैं (पंचमहाभूतविकारा), व आश्रय स्थान निम्न अवस्थाओं के वशीभूत हैं (१) प्रकृति–द्रव्य का विशिष्ट गुण (२) *विकृति–उष्मा अथवा अन्य कारकों द्वारा उन पर की गई क्रिया (३) विचार–अन्य* पदार्थों से योग (४) देश–द्रव्य का उत्पत्ति स्थान (५) काल–द्रव्य का उत्पत्ति काल।[1] गुरुता लघुता, शीतता, उष्णता, स्निग्धता तथा रूक्षता के गुण उन द्रव्यों पर आश्रित हैं जिन पर वे रस आश्रित होते हैं। क्षार को एक पृथक रस नहीं मानना चाहिए क्योंकि यह एक से अधिक रसों से निर्मित है और एक से अधिक इन्द्रियों को प्रभावित करता है, क्योंकि इसमें कम से कम दो महत्वपूर्ण रस (कटु और लवण) हैं और यह न केवल रसनेन्द्रिय को प्रभावित करता है अपितु स्पर्शेन्द्रिय को भी प्रभावित करता है, और स्वभावतः किसी द्रव्य पर आश्रित नहीं है अपितु कृत्रिम उपायों से इसे उत्पन्न करना पड़ता है। कोई ऐसा पृथक रस नहीं है जिसे 'अव्यक्त रस' कहा जा सके। जल सब रसों का मूल है, अतः सारे रसों को अव्यक्तावस्था में जल में विद्यमान माना जा सकता है। परन्तु इस कारण से हम यह नहीं कह सकते कि जल में 'अव्यक्त' नामक एक पृथक रस है और फिर जब किसी पदार्थ में दो रस, एक प्रबल और दूसरा अत्यन्त दुर्बल, होते हैं तो दुर्बल रस को अव्यक्त रस माना जा सकता है, अथवा, जब विभिन्न रसों के किसी मिश्रण, यथा आसव में किंचित कटु रस का मिश्रण किया जाता है, तो उसे 'अव्यक्त' माना जा सकता है, परन्तु यह निश्चित है कि ऐसा कोई रस नहीं है जिसे 'अव्यक्त' नाम दिया जा सके। यह मत अग्राह्य है कि रसों की संख्या अनन्त है, क्योंकि यद्यपि ऐसा आग्रह किया जा सकता है कि एक ही रस विभिन्न द्रव्यों में भिन्न भिन्न रूप से प्रकट हो सकता है तो भी उससे यही प्रदर्शित होगा कि प्रत्येक रस विशेष के स्वरूप के विभिन्न स्तर हैं और उससे यह सिद्ध नहीं होता कि एक रसविशेष के प्रत्येक प्रकार के साथ साथ रस स्वयं पूर्णतः भिन्न है। पुनः, यदि भिन्न रसों को परस्पर मिश्रित किया जाय तो, तो स्वयं रस मिश्रण को पृथक रस

---

[1] इस प्रकार मुद्ग (मूंग) एक भूतविकार है, इसमें कषाय और मधुर रस हैं, और फिर भी प्रकृति से लघु है हालांकि इसके मधुर और कषाय रस के कारण इसके गुरु होने की आशा की जाती है। विकृति का उत्कृष्ट उदाहरण सिके हुए धान हैं जो चावल से लघुतर होते हैं। यह सुविदित है कि यौगिकों के द्वारा उत्पन्न द्रव्य में पूर्णतः नए गुण उत्पन्न किए जा सकते हैं। वनौषधियां अपने चयन के काल के अनुसार भिन्न गुणों वाली होती हैं।

माना जाना चाहिए, क्योंकि इसके गुण इस मिश्रण के विभिन्न विधायक रसो के ो का कुल योग है और मिश्र रस का कोई स्वतन्त्र काय नहीं निर्दिष्ट किया जा ता है (न ससृष्टाना रमाना कर्मोपदिशन्ति वुद्धिमन्त) जैसाकि उपयुक्त दो या व द्रव्यो के यौगिको के विषय म होता है (विचार)।

यद्यपि एक अथवा दूसरे तत्व की प्रबलता के कारण उन्हे पार्थिव आप्य, आग्नेय, य अथवा आकाशात्मक कहा जाता है, फिर भी सारे पदाथ पच भूतो के योग से हैं। सारे सजीव अथवा निर्जीव पदार्थों को ऐसी अवस्था म ही औषधि मानना हिए जबकि उनका युक्ति और अर्थपूर्वक प्रयोग किया जाए। कोई पदाथ तभी धि बन सकता है जब उसका प्रयोग युक्ति से और अथ विशेष के लिए किया जाए, ई भी पदाथ निरपवाद रूप से औषधि नही माना जा सकता। औषधीय प्रभाव धी के द्रव्य प्रभाव और उसके गुण प्रभाव दोनो के कारण तथा उन दोनो के सयुक्त व के कारण होता है।[1] औषधि का काय कम', उसकी शक्ति वीय, उसके काय-न 'अधिष्ठान, उसका कायकाल 'काल, काय करने की अवस्था 'उपाय और लब्धि 'फल कहलाते हैं।

रसो के मूल के विषय म यह बताया जाता है कि पानी वायु म और पृथ्वी पर ने के पश्चात् पचभूतो से मिश्रित हो जाता है। ये रस समस्त वनस्पतियो और णियो के देहों को पुष्ट करते हैं। सारे रसो मे पाँचो तत्व विद्यमान हैं, परन्तु सी रस म किसी तत्व की प्रबलता होती है, और इस प्रबलता के अनुसार ही विभिन्न म भेद होता है। इस प्रकार से 'सोम की प्रबलता होने पर मधुर रस होता है, वी और अग्नि की प्रधानता होने पर 'अम्ल' रस होता है जल और अग्नि के ल होने पर 'लवण रस होता है वायु और अग्नि की प्रबलता होने पर 'कटु रस,

---

[1] पदार्थों के औषधीय प्रभाव का गुणो के औषधीय प्रभाव से अन्तर किया जा सकता है यथा जब किन्ही मणियो म द्वारा विष का उपशमन किया जाए अथवा विशिष्ट तावीजो के प्रयोग से रोगविशेषो का उपचार किया जाए। ऐसी अवस्थाएँ भी हो सकती हैं जहाँ तापधर्मा पदाथ की अपेक्षा किए बिना ही केवल ताप प्रयोग के द्वारा किसी रोगविशेष का उपचार हो जाए। ऐसा प्रतीत होता है कि केवल इन्द्रिय गुणो और मान्त्रिक गुणो की ही यहा गुण' के रूप मे गणना की गई है अन्य प्रकार के गुणो का स्वय द्रव्य के कारण होना माना गया था। क्योंकि इन्द्रिय गुणो के अतिरिक्त गुरु लघु शीत, उष्ण स्निग्ध रूक्ष, मन्द तीक्ष्ण, स्थिर सार मृदु कठिन विशद पिच्छिल, श्लक्ष्ण खर सूक्ष्म स्थूल सान्द्र और द्रव इन बीस गुणो को भी 'गुण के रूप मे गिना है।

(चरक सहिता १, १ ४८ १ २५ ३५ १ २६ ११)।

ायु और आकाश की प्रबलता होने पर 'तिक्त' और पृथ्वी और वायु की प्रबलता होने
र 'कषाय' रस होते हैं। रसों के निर्माण कर्त्ता विभिन्न भूतों को रसों का निमित्त
ारण कहा गया है, इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि अग्नि में कोई रस नहीं
फिर भी वह किस प्रकार एक रस विशेष के उत्पादन में योग दे सकता है।[1] दैव
। अज्ञात कारण (अदृष्ट) तो पानी के साथ महाभूतों के समुदय का सामान्य
ारण है।

चरक संहिता के पहले ही अध्याय में द्रव्यों की गणना इस प्रकार की गई है
ाकाश, वायु, अग्नि जल और पृथ्वी ये पाँच महाभूत, तथा आत्मा, मन, काल और
ा। इनमें से जिन द्रव्यों के इन्द्रियाँ हैं उनको 'चेतन' कहा गया है।[2] गुण ये हैं
ब्द, स्पर्श, रूप रस और गन्ध के इन्द्रिय गुण, समस्त महाभूतों में सामान्य पाए जाने
ाले कार्यशील और अन्य गुण यथा गुरु, लघु, शीत, उष्ण और स्निग्ध, रूक्ष, मन्द,
ीक्ष्ण स्थिर, सार, मृदु, कठिन विशद पिच्छिल, श्लक्ष्ण, खर सूक्ष्म, स्थूल सान्द्र,
, आदि, और इच्छा द्वेष सुख, दुःख और प्रयत्न, बुद्धि (स्मृति सहित), चेतना,
य अहंकार आदि, दूरी (पर), निकटता (अपर), समुदाय (युक्ति), संख्या संयोग,
िभाग, पृथक्त्व, परिमाण, संस्कार और अभ्यास। द्रव्य की परिभाषा यह है कि
्य वह है जिसमें गुण और कर्म समवायी सम्बन्ध में स्थित है और जो सारे कार्यों
ा समवायीकारण हो। गुण वे हैं जो स्वयं निश्चेष्ट होते हैं और द्रव्यों में समवायी
ूप से विद्यमान हों। गुण अन्य गुणों के आश्रय नहीं हो सकते।[3]

जब द्रव्य और गुणों का सिद्धान्त ऊपर लिखे अनुसार है तो प्रश्न उठता है कि
ानव शरीर में औषधियाँ किस प्रकार से काम करती हैं। विभिन्न औषधियों के
र्गीकरण की सर्वाधिक सामान्य और स्पष्ट रीति उनके विभिन्न रसों पर आधारित
। जसाकि बताया जा चुका है ये रस मुख्यतः छः माने जाते थे। इनमें से
त्येक रस को कुछ हितकारी अथवा अहितकारी दैहिक प्रभावों के उत्पादन में समर्थ
ाना जाता था। इस प्रकार मधुर रस को रक्त, मांस, मेद मज्जा, शुभ प्राण-

---

1. इह च कारणत्वं भूतानां रसस्य मधुरत्वादिविशेषे एव निमित्तकारणत्वमुच्यते।
—चरक १ २६ ३८ पर चक्रपाणि की टीका।
2. चरक संहिता १ १ ४७। वृक्षों को भी सेन्द्रिय माना जाता था और इस हेतु
वे चेतन माने जाते थे। चक्रपाणि का कथन है कि, क्योंकि सूर्यमुखी पुष्प सूर्य का
ओर मुख किए रहता है इसलिए इसे दर्शन इन्द्रिय युक्त माना जा सकता है
फिर चूंकि 'लवली' पौधा मेघगर्जन का शब्द सुनने से फलित होता है इसलिए
वनस्पतियों के श्रवणेन्द्रिय भी होती है।
3. वही १ १ ४७, ४८ और ५०, चक्रपाणि कृत टीकासहित।

, ष इन्द्रियों का हितकारी, शरीर मे शक्ति और वर्ण का उत्पादक, त्वचा और
का हितकारी, पित्त, विष और मारुत (वात व्याधि) का नाशक और स्निग्धता,
और गुरुत्व का उत्पादक आदि बताया गया है। 'अम्ल' को अग्निदीपक, शरीर-
क और वात अनुलोमक कहा है, यह लघु उष्ण, स्निग्ध आदि है। लवण रस
है, वात का नाशक है, कफ का विष्यन्दन करता है, और यह क्लिन्न, उष्ण
होता है। इसी प्रकार अन्य रसो के विषय मे भी समझें। परन्तु ये सब गुण
के नहीं हो सकते, जैसाकि पहले ही प्रदर्शित किया जा चुका है गुणो मे अन्य
गुण नहीं हो सकते, और रस स्वय गुण हैं अत जब कोई काय और गुण रसो
आश्रित माने जाते हैं, तो उन्हें उन द्रव्यो पर आश्रित मानना होगा जो उन विशिष्ट
से युक्त है (रसा इति रसयुक्तानि द्रव्याणि)।[1]

सुश्रुत के कथनो से ऐसा प्रकट होता है कि द्रव्य की अपेक्षाकृत उत्कृष्टता और
क गुणो के विषय में बहुत मतभेद हैं।[2] कुछ लोग ऐसे भी थे जिनके मत मे द्रव्य
महत्वपूर्ण है क्योंकि द्रव्य स्थायी रहता है, रस इत्यादि परिवर्तन करते रहते हैं,
द्रव्य अपेक्षाकृत उत्कृष्ट है। पुन द्रव्य पांच इन्द्रियो द्वारा ग्रहण किया जाता है,
उसके गुण। द्रव्य रसादिको का आश्रय भी है। सारे काय द्रव्य से ही करने
हैं और आगमो म भी द्रव्य से ही काय करने का वर्णन है और रस से नही,
अधिकांशत द्रव्यो की प्रकृति पर निर्भर करते हैं। दूसरे लोगो का मत है कि
सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं क्योंकि उनके वीय के ही कारण औषधियाँ काय करती हैं।[3]
वीय दो प्रकार का होता है उष्ण और शीत, कुछ का मत है कि वीय उष्ण,
य, रूक्ष, विशद, पिच्छिल मृदु और तीक्ष्ण इन आठ प्रकार का होता है। कभी कभी
अपने बल के कारण रस को दबा देता है और अपने कर्मों का अनुभव कराता है,
प्रकार यद्यपि अपनी मधुरता के कारण ईख को वात का नाश करना चाहिए,
वीय होने के कारण यह वात वधक है।[4] अन्यो का कथन है कि आमाशय द्वारा

चरक सहिता १ २६ ३६ चक्रपाणि की टीका।
सुश्रुत सूत्र स्थान, अ० ४०, श्लो० ३, सुश्रुत ने द्रव्य की परिभाषा ऐसे की है–
क्रियागुणवत् समवायिकारणम्।
इहौषधकर्माणि ऊर्ध्वाधोभागोभयभागसशोधनसशमनसग्राहकाग्निदीपनप्रपीडनलेखन-
बृहणरसायनवाजीकरणश्वयथुकरविलयनदहनदारणमादनप्राणघ्नविषप्रशमनानि वीय-
प्राधान्याद्भवन्ति। सुश्रुत १ ४० ५।
तानि खलु वीर्याणि स्वबलगुणोत्कर्षात् रसमभिभूयात्मकर्म कुर्वन्ति सुश्रुत वही।
द्रव्य और रस दोनो में वीय का होना कहा गया है। इस प्रकार सुश्रुत १ ४०
५–८ में कहा गया है कि यदि वातनाशक रसो म रौक्ष्य, लाघव और शैत्य हो तो
वे वातनाशक नही होंगे, इसी तरह यदि पित्तनाशक रसो मे तैक्ष्ण्य औष्ण्य और
लाघव हो तो वे पित्तनाशक नही होंगे, इत्यादि।

पाक को प्राप्त हुए रूप में रस सर्वप्रधान है क्योंकि वस्तुओं को जब पचाया जाता है तो वे हितकर या अहितकर प्रभाव उत्पन्न कर सकती हैं। कुछ का मत है कि प्रत्येक रस अपरिवर्तित रहता है, यद्यपि दूसरों का मत है कि पाक से मिलने वाले रस मधुर अम्ल और कटु केवल इन तीन प्रकारों के ही हैं, जबकि सुश्रुत का मत है कि पाक से उत्पन्न होने वाले केवल दो प्रकार के रस मधुर और कटु ही हैं, क्योंकि उनके विचार से अम्ल पाक का परिणाम नहीं है (अम्लो विपाको नास्ति)। सुश्रुत के अनुसार पित्त ही अम्ल में परिणत हो जाता है। जिन पदार्थों में पृथ्वी और जल की अधिकता होती है, वे मधुररस में परिवर्तित हो जाते हैं जबकि जिन पदार्थों में तेजस, वायु और आकाश का अंश होता है वे कटु रस में परिणत हो जाते हैं।

द्रव्य रस वीर्य और विपाक के आपेक्षिक महत्व के विषय में भिन्न भिन्न मतों का वर्णन करते हुए सुश्रुत का कथन है कि वे सब महत्वपूर्ण हैं क्योंकि कोई भी औषधि अपनी प्रकृति के अनुसार इन चारों प्रकारों से अपने प्रभाव उत्पन्न करती है।[1] चक्रपाणि द्वारा भानुमती में व्याख्यात सुश्रुत का मत यह प्रतीत होता है कि अन्न, पान, और औषधि सब पंच महाभूतों की उपज हैं और रस वीर्य तथा विपाक द्रव्य पर आश्रित हैं और जिस द्रव्य की शक्ति के माध्यम से यह द्रव्य कार्य करता है उस द्रव्य की शक्ति के अनुरूप वे होते हैं।[2] भानुमती में इस पर टीका करते हुए चक्रपाणि का कथन है कि जिन अवस्थाओं में रसों को किन्हीं दोष विशेषों का नाशक अथवा वर्धक बताया गया है, उन दशाओं में भी केवल उनके महत्व के कारण ही इस प्रकार वर्णन किया गया है सब दशाओं में वास्तविक कर्त्ता तो द्रव्य है क्योंकि रस आदि सदा द्रव्य पर निर्भर हैं। रसादिकों में दृष्टिगोचर होने वाली शक्ति के अतिरिक्त द्रव्य स्वयं भी अचिन्त्य प्रकारों से कार्य करता है, जिसे प्रभाव कहते हैं और जिसकी तुलना लोहे पर पड़ने वाली चुम्बक की आकर्षण शक्ति से की जा सकती है। इस प्रकार द्रव्य को स्वयं ही उसकी शक्ति से भिन्न माना गया है और यह कहा जाता है कि इसका कार्य करने का इसका अपना विशिष्ट ढंग है, जो शक्ति के कार्य करने के उस ढंग से भिन्न है जिसकी रस वीर्य और विपाक में दर्शन होता है और किस प्रकार से यह कार्य विधि काम करती है उस विधि को बिल्कुल अचिन्त्य माना गया है।[3] इस प्रकार कुछ औषधियाँ रस द्वारा कार्य करती हैं कुछ विपाक अर्थात् पाचन क्रम यथा शुण्ठी जो

---

[1] चतुर्णामपि सामग्र्यमिच्छन्त्यत्र विपश्चित —सुश्रुत १ ४० १३।

[2] द्रव्यशक्तिरूपका रसवीर्यविपाका यथायोग निमित्तकारणता समवायिकारणता वा भजन्तो न कर्तृतया व्यपदिश्यन्ते द्रव्यपराधीनत्वात्—भानुमती १ ४० १३।

[3] द्रव्यमात्मना शक्तया प्रभावाख्यया दोष हन्ति—अत्र द्रव्यशक्तिकार्योदाहरण यथा कर्षकमणिर्लोहशल्यमाकर्षति। —भानुमती १ ४० १३।

रस में कटु और उष्णवीय होने पर भी पाचन कम के पश्चात् मधुर हो जाती हैं) से उत्प न रस के द्वारा, कुछ वीय के द्वारा (यथा कुलत्थ कटु होने पर भी उष्ण वीय होने के कारण वायुनाशक है) कुछ रस और विपाक दोना के द्वारा, कुछ द्रव्य प्रभाव, वीय और रस द्वारा कुछ द्र य प्रभाव वीय, रस और विपाक द्वारा काय करती ह।

द्रव्य एव रस तथा वीय एव विपाक के इस मत पर चरक सुश्रुत से असहमत हैं क्योंकि उनके अनुसार रस, वीय और विपाक स्वय गुण होने के कारण और आगे गुणों के आश्रय नही हो सकते, वे द्रव्येतर शक्ति का भी स्वीकार नही करते हैं। अत प्रभाव के विषय मे जहा सुश्रुत का मत है कि प्रभाव एक विशिष्ट शक्ति है अर्थात् अवर्णनीय प्रकारो से काय करने वाली वस्तु है, वहाँ चरक का विचार है कि शक्ति स्वय वस्तु का स्वरूप है। इस प्रकार चक्रपाणि चरक सहिता १ २६ ७२ की टीका करते हुए कहते है 'शक्तिर्हि स्वरूपमेव भावाना, नातिरिक्त किंचिद् धर्मान्तर भावानाम् (शक्ति पदार्थों का ही स्वरूप है और उनसे भिन्न कोई धम नहीं है)। सामान्य अथ मे वीय का अथ शक्ति अर्थात् औषधियो की प्रभावकारिणी शक्ति है, और इसी अवस्था मे इसमे रस और विपाक दोनो का समावेश हो जाता है, परन्तु इन्ह विशेष नाम प्राप्त होने के कारण इनके लिए वीय' शब्द का प्रयोग नही होता।[1] इसके अतिरिक्त पारिभाषिक अथ मे एक विशेष वीय भी है। जिस मत के अनुसार इस वीय को दो प्रकार का स्निग्ध और सूक्ष्म, माना गया है उस मत के अनुसार इन प्रकारो को वीय के विशिष्ट धम के रूप म ग्रहण करना चाहिए, परन्तु जिस मत के अनुसार वीय आठ प्रकार का माना जाता है उसके अनुसार इनको द्रव्य के धर्मों के एक भिन्न समुदाय के रूप म ग्रहण करना चाहिए।[2] यह वीय रस से भी बलवत्तर माना जाता है, यहाँ तक कि जब किसी पदाथ के वीय और रस का विरोध होता है तो वीय ही का प्राधान्य होता है न कि रस का।

वाग्भट द्वितीय वीयनामधारी कर्मों के लिए प्रयुक्त 'वीय' सज्ञा के पक्ष मे कुछ टिप्पणी करते है। उनका कथन है कि पदार्थों का वीय धम पाचन के बाद भी अपरिवर्तित रहने और पदार्थों का प्रयोग मुख्यत चिकित्सा की उद्देश्यो के लिए होने तथा उनम से प्रत्येक मे अनेक द्रव्य और रस होने के कारण इस धम को वीय अथवा चिकित्सा सम्ब धी फल देने मे मुख्य शक्ति कहना न्यायसगत है।[3] उनका आगे कथन

---

[1] तस्य पाकस्य तद्रसस्यविपाकस्य च पृथग्निर्देशान्न वीयव्यवहार शास्त्रे—चरकेतु सामान्य वीय शब्देन तेऽपि गृहीता। वही १ ४० ५।

[2] यदा द्विविध वीय तदा स्निग्धरूक्षादीना—रसादिधर्मतयव कायग्रहण वक्ष्यति हि मधुरो रस स्निग्ध इत्यादि अष्टविधवीयपक्षे तु—बलवत् कायकर्तृत्वविवक्षया वीय त्वमिति स्थिति। वही १ ४० ४।

[3] अष्टांग हृदय १ ६ १५।

है कि इसका विपाक द्वारा, एक ही दिशा में कार्य करने पर रस और विपाक का वीर्य द्वारा और इन तीनों का प्रभाव द्वारा अवरोध हो सकता है। यह कथन केवल उन्हीं अवस्थाओं में सत्य है जहाँ रस, वीर्य और विपाक सम मात्रा में विद्यमान हों और यह स्मरणीय है कि कुछ पदार्थों में रस की इतनी प्रबलता हो सकती है कि यह विपाक अथवा वीर्य को अभिभूत कर दे।[1] जहाँ तक वीर्य और विपाक की अपेक्षाकृत प्रधानता का प्रश्न है, शिवदास चक्रपाणि के द्रव्यगुण संग्रह पर टीका करते हुए कहते हैं कि वीर्य की विपाक पर प्रधानता है और इसका अर्थ होगा कि जिस प्रकार वीर्य रस को अभिभूत कर सकता है उसी प्रकार विपाक भी वीर्य को अभिभूत कर सकता है।

यदि हम अथर्ववेद में चिकित्सा सम्बन्धी भारतीय विचारों के विकास के इतिहास की ओर मुड़ कर देखें, तो हम देखेंगे कि चिकित्सा के दो महत्वपूर्ण वर्ग थे रक्षा कवच (मणियां) और जल। अथर्ववेद १ ४ ४ १ ५, १ ६, १ ३३ ६ २४, ६ ९२ आदि सब में जल की औषधि के रूप में स्तुति की गई है और उनमें जल को सब रसों का स्रोत माना गया है। इनमें से मणियां न्यूनाधिक चमत्कारिक प्रभाव की होती थीं। यह निर्णय करना सम्भव नहीं था कि किस प्रकार की मणि किस प्रकार से कार्य करेगी उनके कार्य करने का ढंग अचिन्त्य था। यह आसानी से देखा जा सकता है कि औषधियों के कार्य करने का क्रम वही था जिसे चरक और सुश्रुत ने 'प्रभाव' माना है। उनके लिए प्रभाव का अर्थ था, एक अवर्णनीय प्रकार से काम करने वाली औषधि का रहस्यमय ढंग से कार्य करना ताकि दो औषधियों के रस, वीर्य और विपाक में बिलकुल सदृश होने पर भी अपने औषधीय प्रभाव के लिहाज से उनका कार्य भिन्न भिन्न हो।[2] इस प्रकार ऐसा प्रभाव स्वभावतः अचिन्त्य माना जाता था। परन्तु प्रभाव की धारणा करते समय इन चिकित्सा सम्बन्धी विचारकों के मस्तिष्क में प्राचीन मणियों का उदाहरण ताजा था, और वास्तव में यह तो औषधियों के अन्य अवर्णनीय प्रभावों तक उस विचार का प्रस्तार था।[3] मानव अवयवों पर औषधियों के किसी भी रासायनिक प्रभाव का (आधुनिक अर्थ में) ज्ञान

---

[1] वही १ २८।

[2] रसवीर्यविपाकानां सामान्यं यत्र लक्ष्यते विशेषः कर्मणां चैव प्रभावस्तस्य च स्मृतः —चरकसंहिता १ २६ ६९। इस पर टीका करते हुए चक्रपाणि का कथन है 'रसादिकार्यत्वेन यन्नावधारयितुं शक्यते कार्य तत्प्रभावकृतमिति सूचयति 'अत एवोक्तं प्रभावोऽचिन्त्यमुच्यते' रसवीर्यविपाकतया चिन्त्य इत्यर्थः।

[3] मणीनां धारणीयानां कर्म यद् विविधात्मकं, तत्प्रभावकृतं तेषां प्रभावोऽचिन्त्य उच्यते। मणियों के विभिन्न कर्म अचिन्त्य प्रभावों के कारण माने जाने चाहिए। वही १ २६ ७२।

नही था इसलिए रस का आधार ही ऐसा प्रत्यक्षतम साधन था जिससे जड़ी बूटिया मूल आदि के चिकित्सा सम्बन्धी प्रभाव का वर्गीकरण किया जा सकता था, और चरक और सुश्रुत द्वारा शरीर के विभिन्न दोषो वायु पित्त और कफ के विभिन्न रसो पर प्रभाव के बारे मे हमे बतलाया गया है। क्योकि सारी व्याधियो की मुख्य जड़ अनुचित मात्रा मे वायु पित्त और कफ का बढना अथवा घटना था इसलिए एक ऐसा वर्गीकरण विशेष उपयोगी था जिसमे रसो का इस प्रकार से वर्णन हो कि कोई व्यक्ति यह जान सके कि कौन से रस से शरीर का कौनसा दोष बढता है अथवा घटता है। परन्तु यह स्पष्ट है कि ऐसा वर्गीकरण चाहे सरल ही हो सर्वत्र सत्य नही हो सकता, क्योकि यद्यपि रस किसी द्रव्य के भैषजीय गुण का कुछ सूचक है फिर भी यह अचूक नही है। परन्तु वर्गीकरण का अन्य कोई प्रकार ज्ञात नही था, यह माना जाता था कि पाक के पश्चात् कि ही द्रव्यो का रस पूर्णत बदल जाता है और ऐसी अवस्थाओ मे पाक के बाद मे बदलने वाला रस ही क्रियाशील होता है। चक्रपाणि का कथन है कि जहाँ जिह्वा स्थित रस पाचन क्रिया के बाद उत्पन्न रस के समान होता है वहा उस दिशा मे उसका प्रभाव अति प्रबल हो जाता है, परन्तु जहाँ पाकजनित रस जिह्वा रस से पृथक होता है वहाँ रस की क्रिया स्वभावत क्षीण हो जाती है क्योकि विपाक की अन्तिम क्रिया द्वारा उत्पन्न रस की शक्ति स्वभावत बलशाली होती है।[1] चरक का विचार था कि पाचन के परिणामस्वरूप केवल तीन रस ही उपलब्ध होते हैं अर्थात् कटु मधुर और अम्ल सुश्रुत ने अन्तिम रस का अस्वीकार किया है, जैसाकि पहले ही वर्णन किया जा चुका है। परन्तु यह भी पर्याप्त नही था क्योकि औषधियो के अन्य कई ऐसे प्रभाव हैं जिनका उपयुक्त कल्पनाओ के आधार पर समझाया नही जा सकता। इसको समझाने के लिए वीर्य का सिद्धान्त प्रचलित किया गया। रसयुक्त होने के अतिरिक्त द्रव्य को अनुमानगम्य होने के कारण, शीत और उष्ण गुणयुक्त, पिच्छिल विशद, स्निग्ध और रूक्ष आदि सदृश गुणो से युक्त तथा गध से प्रकट होने वाले तीक्ष्ण आदि गुणो से युक्त भी माना जाता था और यह कल्पना की जाती थी कि ये गुण रस और विपाक को अभिभूत करके अपना प्रभाव उत्पन्न करते हैं। जहाँ किसी पदार्थ के भैषजीय गुणो की सूचक किसी प्रकार की बुद्धिगम्य सामग्री प्राप्त नहीं हो सकती थी केवल वही प्रभाव की परिकल्पना का आश्रय लिया

---

[1] चरक १ २६ ६५ पर चक्रपाणि की टीका। चक्रपाणि का कथन है कि कटु रस प्रारम्भ मे तो कण्ठ के कफ को साफ करने में उपयोगी है, परन्तु विपाक के बाद यह मधुर हो जाने के कारण पाचक (तृप्य) के रूप मे कार्य करता है। परन्तु ऐसे क्षेत्रीय कार्यों के अतिरिक्त यह समझना कठिन है कि जो रस विपाक द्वारा बदल गया हो उसका ऐसा प्रभाव हो जैसाकि चक्रपाणि बताते हैं (विषयम् दुर्बलमिति ज्ञेयम्)।

जाता था। द्रव्य और गुणों से सम्बद्ध आयुर्वेद के अध्यायों में प्रभाव का वर्णन है और जहाँ कहीं भी उनमें कोई विभिन्नता पाई जाती है वहाँ प्रयोग सिद्ध निरीक्षण के आधार पर रस, वीर्य और विपाक का भी वर्णन किया गया है। यह न केवल रोगों के उपचार में औषध और पथ्य के चयन के लिए ही अत्यन्त आवश्यक है अपितु रोग निरोध के लिए भी आवश्यक है। यह स्मरण रखना ठीक होगा कि कई रोगों के उत्पन्न होने का कारण परस्पर विरोधी रस, विपाक अथवा वीर्य वाले पदार्थों का साथ साथ खाना माना जाता था।

मनोवैज्ञानिक मत और अन्य सत्तामूलक पदार्थ सूत्रस्थान के आठवें अध्याय में चरक ने इन्द्रियों की संख्या पाँच बताई है। आयुर्वेद अपने दार्शनिक विचारों के लिए सांख्य और वैशेषिक दर्शन का पर्याप्त मात्रा में ऋणी है यद्यपि इन दोनों दर्शनों में मन को एक पृथक इन्द्रिय स्वीकार किया गया है, फिर भी आयुर्वेद उनसे इस बात में मतभेद रखता है और, जैसाकि चक्रपाणि का कथन है मन को सामान्य इन्द्रियों से पृथक करता है, इसका कारण यह तथ्य है कि मन के अन्य कई ऐसे कार्य हैं जिनसे अन्य इन्द्रियाँ युक्त नहीं है (चक्षुरादिभ्योऽधिकधर्मयोगितया)।[1] मधुर रस के वर्णन के सन्दर्भ में तो एक अन्य स्थल पर स्वयं चरक भी प्रसंगतः छठी इन्द्रिय (षडिन्द्रिय) का उल्लेख करते हैं।[2] परन्तु मन को यहाँ इन्द्रियों से बढ़कर (अतीन्द्रिय) बताया गया है। मन के अतीन्द्रिय स्वरूप की व्याख्या करते हुए चक्रपाणि का कथन है कि मन को अतीन्द्रिय इसलिए कहा गया है कि यह अन्य इन्द्रियों की भांति बाह्य विषयों के ज्ञान का हेतु नहीं है। यह अवश्य है कि मन सुख और दुःख का प्रत्यक्ष कारण है परन्तु यह सब इन्द्रियों का अधिष्ठायक भी है। मन को सत्व और चेत भी कहा गया है। आत्मा को तो सारे चेतनात्मक कार्यों का कर्त्ता (चेतनाप्रतिसंधाता) माना गया है। जब मन अपने विषयों हर्ष अथवा विषाद् अथवा चिन्त्य विषयों के सम्पर्क में आता है और जब आत्मा उन विषयों को ग्रहण करने का प्रयत्न करता है, तब मन चेष्टा करता है जिसके द्वारा यह हर्ष अथवा विषाद का अनुभव करता है अथवा चिन्त्य विषयों का विचार करता है अथवा इन्द्रियों को चेष्टावान् करता है। इस प्रकार जब आत्मा प्रयत्नशील होता है और जब हर्ष अथवा विषाद अथवा चिन्तन के विषय विद्यमान होते हैं तो इनको अपना विषय मानकर मन इनकी ओर प्रवृत्त होता है और इन्द्रियों को चेष्टावान् करता है और इन्द्रियाँ इससे निर्देशित होकर, अपने सम्बद्ध विषयों को ग्रहण करती है तथा उनका बोध कराती हैं।

---

[1] चरक संहिता १. ८. ३ पर चक्रपाणि की टीका।

[2] चरक संहिता १. २६. ४१। तत्र मधुरो रसः ... षडिन्द्रियप्रसादनः।

एक मन अनेकरूपा प्रतीत होता है इसका कारण है चिन्त्य विषयों की विविधता (यथा कभी मन जब धार्मिक भाव ग्रहण करता है तो धार्मिक प्रतीत होता है, और अन्य समय में जब वासनामय विचारों का ग्रहण करता है तो वासनामय प्रतीत होता है), जिन इन्द्रिय विषयों से मन सबद्ध होता है उनकी विविधता (उदाहरणार्थ मन रूप, गंध और शब्द आदि को ग्रहण कर ले) और कल्पना के विविध प्रकार (यथा यह मेरे हित में होगा, अथवा यह मेरा अहित करेगा आदि) एक ही मनुष्य में मन कभी कभी क्रुद्ध अज्ञानी अथवा गुणी प्रतीत हो सकता है। परन्तु वास्तव में मन एक है और प्रत्येक व्यक्ति के लिए भी एक ही है, ये सब भेद एक ही व्यक्ति में एक साथ प्रकट नहीं होते, जैसाकि यदि एक ही आदमी में अनेक मन होने पर होता। फिर मन आण्विक भी है अन्यथा एक ही मन द्वारा अनेकों भिन्न भिन्न विषयों अथवा कार्यों का सम्पादन एक ही समय पर किया जाता।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि एक ही मन, सत्व, रजस और तमस इन भिन्न भिन्न प्रकार के नैतिक गुणों का प्रदर्शन कर सकता है तो किसी पुरुष को सात्विक, राजसिक अथवा तामसिक कैसे माना जा सकता है? इसका उत्तर यह है कि कोई मनुष्य इन गुणों में से उस एक या अन्य गुण की प्रधानता के अनुसार ही सात्विक, राजसिक अथवा तामसिक कहा जाता है जिस गुण की प्रधानता उस मनुष्य में परिलक्षित होती है।

मन को आकाश, वायु तेज, जल और पृथ्वी से निर्मित इन्द्रियों का चालक माना गया है और इन्द्रियों के अधिष्ठान चक्षु श्रोत्र, नासा, जिह्वा, और त्वचा के भौतिक सपुट हैं। पाच इन्द्रियबोध इन्द्रियो, इन्द्रिय विषयों, मन और आत्मा के सानिध्य से उत्पन्न होते हैं। ये अल्पजीवी (क्षणिक) हैं परन्तु ठीक एक क्षण भर तक रहने वाले नहीं हैं जैसाकि बौद्धों की मान्यता है।[1] वे निश्चयात्मक (निश्चयात्मका) भी हैं। जैसा चक्रपाणि का कथन है क्षणिक इन्द्रिय बोधों के लिए इन्द्रिय विषयों का निश्चित विवरण देना बिल्कुल सभव है। यद्यपि सारी इन्द्रियां पंच महाभूतों से निर्मित हैं, फिर भी जिन इन्द्रियों में जो भूत अधिकांश मात्रा में होता है, उनको उसी भूत से निर्मित माना गया है। जिस इन्द्रिय में जो भूत विशेष प्रबल मात्रा में होता है, उसके कारण उस इन्द्रिय को उस भूत विशेष को ग्रहण करने की विशेष क्षमता से युक्त माना जाता है।[2]

---

[1] चरक सहिता १ ८ ११ पर चक्रपाणि की टीका। क्षणिका इत्याशुतरविनाशिन्य न तु बौद्धसिद्धान्तवदेकक्षणावस्थायिन्य।

[2] तत्र यद् यद् आत्मकमिन्द्रियविशेषात्तत्तदात्मकमेवार्थमनुगृह्णाति तत्स्वभावाद् विभुत्वाच्च (चरक १ ८ १४)।

शरीर, इन्द्रिया, मन और आत्मा का संयोग आयु (जीवित) कहलाता है।[1] आत्मा को चेतनाशील कर्मों का संयोजक (ज्ञानप्रतिसंघाता) कहा जाता है। चक्रपाणि का कथन है कि शरीर क्षणिक है (शरीरस्य क्षणिकत्वेन), इसलिए यह तर्क किया जा सकता है कि शरीर के साथ आत्मा का संयोग भी क्षणिक ही है। इस प्रकार की आपत्ति का चक्रपाणि यह उत्तर देते हैं कि यद्यपि शरीर क्षणिक है फिर भी क्षणिक शरीरों की शृंखलाबद्ध आवृत्ति के कारण सम्पूर्ण शृंखला को एक ही माना जा सकता है, और, यद्यपि शृंखला के प्रत्येक काल के साथ आत्मा का सम्बन्ध क्षणिक है फिर भी आत्मा के साथ शृंखला का सम्बन्ध भी एक माना जा सकता है क्योंकि शृंखला को एक माना जा सकता है (संतानान्यवस्थितोऽयमेकतया उच्यते)।[2] अन्य स्थल पर चरक कहते हैं कि मन, आत्मा और शरीर एक दूसरे से तिपाए के समान संयुक्त हैं जिस पर आयु स्थित है यदि कोई भी अंग लुप्त होगा तो ऐक्य भंग हो जाएगा।[3]

यह पहले ही बताया जा चुका है कि चरक के अनुसार आत्मा चेष्टावान् है और उसकी चेष्टा से मन चेष्टा करता है, और मन के कार्य करने से ही इन्द्रिया चेष्टाशील होती हैं। आत्मा को चेतन भी माना जाता है। परन्तु यह चेतना आत्मा की अपनी नहीं है यह तो केवल मन के माध्यम से आत्मा के इन्द्रिया के साथ संयोग से प्राप्त की जाती है।[4] तो भी यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि आत्मा के अतिरिक्त, चरक के अनुसार एक अन्य पर आत्मा और है जो शरीर और इन्द्रियों के संयोग में भाग लेने वाले आत्मा से भिन्न है (जिसे पारिभाषिक शब्दावली में संयोगी पुरुष' कहते हैं)।[5] सूक्ष्मतर, या पर आत्मा निर्विकार है। ज्ञान में प्रक्रिया और विकार का भाव निहित है और यह आत्मा चेतनत्व को उन्हीं भागों में प्रदर्शित करता है जहाँ यह मन और इन्द्रिया से संबद्ध हो जाता है। इस प्रकार यद्यपि आत्मा नित्य है, फिर भी इसमें चेतनत्व का उत्थान सामयिक ही है। आत्मा की अविकारिता इस बात में है कि यह अपनी पूर्व और अपर अवस्थाओं को अपने से संयुक्त करने में

---

[1] चरक १ १ ४१ जीवित के अन्य पर्यायवाची धारी नित्यग और अनुबन्ध है।

[2] वही, १ १ ४१।

[3] सत्वमात्मा शरीरञ्च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत्।
लोकस्तिष्ठति संयोगात् तत्र सर्व प्रतिष्ठितम्॥ —वही, १ १ ४५।

[4] इदमेव चात्मनश्चेतनत्व यदिन्द्रियसंयोगे सति ज्ञानशालित्व न निकृष्टस्यात्मन श्चेतनत्वम्। —चरक १ १ ४७ पर चक्रपाणि कृत टीका।

[5] निर्विकार परस्त्वात्मा सत्वभूतगुणेन्द्रियैः। चरक १ १ ५५। तेन सत्वशरीरात्म मेलकरूपो ■ आत्मश देन उच्यते त व्यावर्तयति। उपर्युक्त पर चक्रपाणि कृत टीका।

समय हैं ।[1] यदि आत्मा स्थायी नहीं होता तो वह अपने सारे अतीत अनुभवों को संयुक्त नहीं कर पाता। क्लेश एवं राग के हमारे विकार को आत्मा के कारण नहीं, अपितु मन के कारण मानना चाहिए (दृश्यमानरागादिविकारस्तु मनसि)।

आत्मा के बारे में इस दृष्टिकोण की विशेष बात यह है कि यह आत्मा सनातन और अविकारी है, यह आत्मा अपने में उन सब व्यक्तिगत अहम् को धारण किए प्रतीत होता है जो अपने संघटन इन्द्रियों, मन और शरीर के साहचर्य से काम करते हैं। इन्द्रियों के साहचर्य में ही यह चेतनत्व प्राप्त करता है। विचार प्रक्रियाओं में होने वाले सुख दुःख और चेष्टाएं मन के धर्म हैं यद्यपि मन की क्रियाओं का आत्मा से उद्भूत होना माना गया है। चेतनत्व की जो अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं, वे सब आत्मा में संयुक्त हो जाती हैं। इस प्रकार अपने सूक्ष्मतर स्वरूप में इन्द्रियों और मन से विमुक्त हुआ आत्मा शाश्वत और अविकारी है, मन और इन्द्रियों के सम्पर्क जनित अपने स्वरूप में वह विकार और चेतनत्व के क्षेत्र में होता है। अतः यह मत भारतीय दर्शन के आस्तिक मत से भिन्न है।

इस संदर्भ में यह ध्यान रखना उपयुक्त होगा कि चरक संहिता वैशेषिक यथार्थों की गणना से आरंभ होती है, और वर्णिक दृष्टिकोण से इसके विभेद होने पर भी इसका प्रारम्भ वैशेषिक से होता हुआ प्रतीत होता है। यह महाभूतों, मन, काल देश और आत्मा की गणना द्रव्यों के रूप में करती है। इसमें गुणों की गणना की गई है यथा इन्द्रिय गुण, गुरु (गुर्वादय) बुद्धि से प्रारंभ होने वाली सूची में दिए गए मानसिक या भौतिक गुण तथा 'पर' से प्रारंभ होकर प्रयत्न में अन्त होने वाले गुण। परन्तु यह गुर्वादि सूची क्या है? वैशेषिक सूत्रों में ऐसी कोई सूची नहीं है। चक्रपाणि ने चरक द्वारा बाद के एक अध्याय (१ २५ ३५) में दी गई गणना का उल्लेख किया है, इस अध्याय में इन गुणों का सब द्रव्यों के गुण होना नहीं बताया गया है परन्तु केवल जिस अन्न और पान का हम ग्रहण करते हैं उसी के गुणों को बताया है।[2] परन्तु परादि (पर से प्रारंभ होने वाला) और प्रयत्नान्त ('प्रयत्न में अन्त होने वाली) सूची चरक संहिता में कहीं भी नहीं दृष्टिगोचर होती है। संभव है यहाँ वैशेषिक सूत्र १ १ ६ की ओर संकेत हो।[3] परन्तु यदि ऐसा ही है तो वैशेषिक

---

[1] नित्यत्वं चात्मनः पूर्वापरावस्यानुभूतार्थप्रतिसंधानात्। चरक १ १ ५८ पर चक्रपाणि की टीका।

[2] आहारत्वमाधारस्यैकविधमर्थाभेदात् स पुनः विंशतिगुणो गुरुलघुशीतोष्णस्निग्ध-रूक्षमन्दतीक्ष्णस्थिरसरमृदुकठिनविशदपिच्छिलश्लक्ष्णखरसूक्ष्मस्थूलसान्द्रद्रवानुगमात्।
—चरक संहिता १ ५ ३८।

[3] परत्वापरत्वे बुद्धयः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नश्च गुणाः वैशेषिक सूत्र १ १ ६।

सूत्र मे गिनाए गए कई ऐसे गुणो का छोड दिया गया है जिनकी गणना परादि सूची मे की गई है।[1] चरक स्वय परादि गुणो की सूची देते हैं जिसमें पूव उल्लिखित वैशषिक सूत्र के तथा कुछ अन्य गुण भी सम्मिलित हैं। जिन गुणो की गणना की गई है व ये हैं पर, अपर, युक्ति, सयाग, विभाग पृथक्त्व सस्कार और अभ्यास।[2] पर का है अर्थ प्रधानता है 'अपर का अर्थ 'अप्रधानता है। प्रधानता अथवा अप्रधानता देश, काल, अवस्था, परिणाम, पाकजनित रस वीय और रस पर निभर करती है। इस प्रकार सूखा देश पर' और अनूप देश अपर हाता है शरत् और हेमन्त की वर्षा (विसग) पर' कहलाती है जबकि शिशिर, बसन्त और ग्रीष्म की ऋतुएँ 'अपर' कहलाती हैं, पाक, वीय और रस के सदभ म पर और अपर का अर्थ 'उपयोगिता और अनुपयोगिता' है—जो वस्तु किसी के लिए उपयागी है वह पर है और जो इसके लिए अनुपयोगी है वह 'अपर' है। युक्ति का अर्थ है रोग विशष के सदभ म उचित भेषज की कल्पना (दोषाद्यपेक्षया भेषजस्य समीचीनकल्पना) सख्या का अर्थ गिनती है 'सयोग का अर्थ दो अथवा अधिक द्रव्यो का मिश्रण अथवा योग 'विभाग का अर्थ अलग करना, पृथक्त्व का अर्थ भेद करना है। हिमालय और मेरुपवत पृथक हैं, क्योकि व भिन्न स्थानो म स्थित हैं और एक नही हा सकते, पुन यद्यपि एक सूअर और भैसा आपस मे एकत्र हा जाए फिर भी व सदा एक दूसरे से पृथक रहते हैं और फिर, एक ही जाति मे यथा मूग के ढेर मे, प्रत्येक मूग अपने स्वरूप मे अन्य से पृथक है अन्तिम उदाहरण मे सख्या की पृथकता क कारण स्वरूप की पृथकता है, इस प्रकार जहा भी अनेकता हा वहा स्वरूप म पृथकता है। इस प्रकार पृथक्त्व का अर्थ तीन प्रकार की पृथकता है दशज पृथकता प्रकृतिज पृथकता और व्यक्तिगत स्वरूप की पृथकता। परिमाण का अर्थ तोल द्वारा माप है, सस्कार का अर्थ है नए गुणा का उत्पादन, और 'अभ्यास का अर्थ है सतत् क्रिया द्वारा प्राप्त स्वभाव। उपयु क्त से यह स्पष्ट है कि यद्यपि यहाँ पर प्रयुक्त सज्ञाएँ वशेषिक सूत्र मे कणाद द्वारा प्रयुक्त सज्ञाओ के समान ही हैं, फिर भी उनका प्रयोग सम्भवत चिकित्सा परम्परा के अनुसार भिन्न अर्थों मे हुआ है परन्तु इस सूची का अन्त प्रयत्न मे ही नही हाता अत ऐसा प्रतीत होता है कि परादि और प्रयत्नान्त' का प्रयाग दो पृथक सूचियो के लिए हुआ है और दोनो का एकसाथ मिलाना नही चाहिए। उपयु क्त सूची परादि सूची है। 'प्रयत्नान्त' सूची गुणो की पृथक सूची है। जैसाकि चक्रपाणि का कथन है 'प्रयत्नान्त सूची मे इच्छा द्वेष सुख, दुख और प्रयत्न

---

[1] रूपरसगन्धस्पर्शाः सख्यापरिमाणानि पृथक्त्व सयोगविभागौ परत्वापरत्वे –वही।

[2] परापरत्वे युक्तिश्च सख्या सयोग एव च।
विभागश्च पृथक्त्व च परिमाणमथापि च।
सस्काराभ्यास इत्यते गुणा ज्ञेया परादय ॥ –चरक सहिता १ २६ २७–२६।

सम्मिलित हैं। 'प्रयत्न' का अर्थ उस विशेष गुण से है जिसके आत्मा में उदय होने से मन सक्रिय हो जाता है।

कर्म का वर्णन 'प्रयत्नादिचेष्टितम्' अर्थात् चेतनायुक्त प्रयत्न के प्रकार की चेष्टा, किया गया है, 'प्रयत्नादि' के 'आदि' शब्द की व्याख्या चक्रपाणि ने 'के प्रकार का' इस अर्थ में की है।[1]

'समवाय' का अर्थ है अयुक्तसिद्ध संबंध, जैसा गुणों और द्रव्यों में होता है। 'समवाय' के स्वरूप की व्याख्या करते हुए चक्रपाणि का कथन है कि यह नित्य है, तथापि, यदि किसी अवस्था में इसका लोप हो जाय तो यह दूसरी अवस्थाओं में विद्यमान रहता है। इसका कभी नाश नहीं होता और न कभी नव जन्म ही होता है। परन्तु अवस्था विशेष में ही इसकी प्रतीति व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप में होती है।[2] *'सामान्य' और 'विशेष' को भी चरक नया अर्थ प्रदान करते हैं।* वैशेषिक दर्शन में 'सामान्य' का अर्थ 'जाति प्रत्यय' है, परन्तु यहाँ इसका अर्थ स्थूल पदार्थों से है जिनके एक से विधायक अथवा धर्म होते हैं। 'सामान्य' और 'विशेष' का महत्व उससे बिल्कुल भिन्न है जो इन शब्दों को वैशेषिक सूत्र में प्राप्त है। 'सामान्य' और 'विशेष' का सिद्धान्त आयुर्वेद का मुख्य सहारा है, क्योंकि यही सिद्धान्त भेषजों के प्रयोग और पथ्य चर्या का आधार है। जिन द्रव्यों में सदृश विधायक अथवा धर्म होंगे वे ही एक दूसरे की अभिवृद्धि करेंगे, और जिन द्रव्यों के विधायक अंग अथवा धर्म असदृश होंगे वे परस्पर क्षयकारी होंगे। इस प्रकार वात प्रधान द्रव्य वात बढ़ाएगा और अवात सदृश श्लेष्मा वात घटाएगा, इत्यादि। इस प्रकार 'सामान्य' की परिभाषा तुल्यार्थता अर्थात् सदृश उद्देश्य का संपादन है। केवल धारणात्मक महत्व रखने के बजाय यहाँ सामान्य और विशेष को आयुर्वेद के लिए सर्वोच्च महत्व का व्यावहारिक कार्य करते हुए देखा जाता है। द्रव्यों के सिद्धान्त के विषय में भी यद्यपि चरक ने पदार्थ की गणना का आहरण किया था, फिर भी चक्रपाणि का कहना है कि स्थूलतर भूत जटिलतर भूतों के अंग थे (भूतान्तरानुप्रवेशक) और इस कथन की पुष्टि के लिए वह न्याय सूत्र का एक सूत्र उद्धृत करते हैं, जो वहाँ पर एक विपक्षी के मत के रूप में प्रकट होता है क्योंकि भूतानुप्रवेश के सिद्धान्त में न्याय-वैशेषिक शाखा द्वारा विश्वास नहीं किया जाता था, उस शाखा के अनुसार कोई भी भूत किसी अन्य भूत में प्रवेश नहीं करता है और उनके गुण उनमें ही स्थिर रहते हैं। फिर भी इन विकारों के उपरान्त भी चरक का न्याय वैशेषिक से निकटतर सम्बन्ध प्रतीत होता है। परन्तु जैसाकि इस पुस्तक के प्रथम खंड में सांख्यविषयक अध्याय में पहले ही वर्णन

---

[1] आदि शब्द प्रकारवाची। चरक संहिता १ १ ४८ पर चक्रपाणि की टीका।
[2] वही १ १ ४६।

किया जा चुका है और समझाया जा चुका है, ४ १ म साख्य नाया का विस्तृत वर्णन आयुर्वेद से कुछ अधिक सबध रखता प्रतीत नहीं होता, और इस हेतु वह सारा अध्याय शेष पुस्तक से मेल खाता प्रतीत नहीं होता और इसका चरक संहिता के अन्य भागों म उल्लेख नहीं किया गया है। यह असमव नहीं है कि यह अध्याय इस ग्रन्थ में किसी अन्य पुस्तक से जोडा गया हो।

चरक के समान सुश्रुत वैशेषिक पदार्थों की गणना नहीं करते हैं और साख्य विषयक उनका वर्णन साख्य सूत्र और ईश्वर कृष्ण की 'कारिका मे दिये गए परम्परागत वर्णन का यथातथ्य रूप है। साख्य सिद्धा त का वर्णन करने के बाद सुश्रुत कहते हैं कि चिकित्साशास्त्र के अनुसार पदार्थों के कारण छ प्रकार के होते हैं अर्थात् (१) स्वभाव, (२) ईश्वर, (३) काल, (४) यदृच्छा (५) नियति और (६) परिणाम।[1] जैसा डल्हण ने प्रदर्शित किया है, सुश्रुत ने इन सब कारणों के काय का कई स्थानों पर उल्लेख किया है। इस प्रकार गर्भावस्था म शरीर के अगो की सरचना स्वभाव के कारण बताई गई है, अग्नि के रूप म ईश्वर को आमाशय म पाचक अग्नि के रूप मे क्रियाशील और पाचन म सहायक बतलाया गया है, काल' को ऋतुओ के रूप म दोषो के वृद्धि और क्षय का कारण बताया गया है, नियति का अथ पुण्य और पाप है और व्याधियो तथा उनसे आरोग्य लाभ का कारण कभी कभी इन्ही को बताया गया है। सुश्रुत पर टीका करते हुए जेज्जट कहते हैं (जैसाकि डल्हण का कथन है) कि ईश्वर के अतिरिक्त ये सब वहां 'कारण' 'प्रकृति' के भिन्न-भिन्न नाम हैं। तथापि गयी का विचार है कि उपर्युक्त छ कारण निमित्त कारण हैं, यद्यपि प्रकृति को भी उपादान कारण माना जा सकता है।

जसाकि डल्हण और गयी का मत है कि यह मानने का कोई कारण नहीं है कि सुश्रुत ने साख्य के मत का वर्णन किया है क्योंकि छ प्रकार के कारणों का वर्णन करने के तत्काल पश्चात् वे महाभूतो का वर्णन त्रिगुण सत्व, रजस और तमस से निर्मित होने के रूप मे करते हैं। इन्द्रियो का भी भौतिक होना माना गया है। आयुर्वेद के अनुसार आत्माए नित्य हैं, यद्यपि वे अपने देहो तक ही सीमित हैं और सवव्यापी नहीं है। जब शुक्र और शोणित का सयोग होता है तब उनकी व्युत्ति होती है, और धम और अधम के कारण पुनज म को भोगने वाला यही दैहिक आत्मा (जिसे कम पुरुष कहते हैं) चिकित्सा विज्ञान का विषय है। जब आत्मा मन के ससग मे हाता है, तो इसके निम्न गुण होते हैं सुख दुख, इच्छा, द्वेष प्रयत्न, प्राण और अपान (श्वास की ऊर्ध्वगत धारा और गुदा की दिशा म काय करने वाली नीचे की ओर काय करने वाली शक्ति) उन्मेष और निमेष, बुद्धि (निश्चय) सकल्प, विचारणा,

---

[1] सुश्रुत संहिता, ३ १ ११।

स्मृति, विज्ञान, अध्यवसाय और विषयोपलब्धि। मन के गुणों को सात्विक, राजस और तामस इन तीन वर्गों में विभक्त किया गया है, इनमें से सात्विक गुण हैं आनृशंस्य, संविभाग रुचिता, तितिक्षा, सत्य धर्म, आस्तिक्य, ज्ञान, मेधा, बुद्धि, धृति और अनभिषंग, राजस गुण है दुःख, अधृति, अहंकार आनृतिकत्व, अकारुण्य, दम्भ, मान, हर्ष, काम और क्रोध, तामस गुण हैं मूढता, अधर्मशीलता, दुर्मेधता, अकर्मशीलता और निद्राशीलता।

तर्क संबंधी विवेचना और सैद्धान्तिक विवाद संबंधी संज्ञाएँ

पदार्थ या तो सत् होते हैं या असत् और उनका ज्ञान आप्तोपदेश प्रत्यक्ष, अनुमान और युक्ति के इन चार प्रमाणों द्वारा हो सकता है।[1]

जिनके मन अपने तपोबल द्वारा रजस और तमस के दोषों से मुक्त हैं, जिनके पास भूत वर्तमान और भविष्यत् तक व्याप्त होने वाला असीम ज्ञान है, उन्हें 'आप्त' मानना चाहिए। ऐसे व्यक्तियों में ज्ञान की कमी नहीं होती और न वे जानबूझ कर कोई असत्य भाषण करते हैं। उन्हें पूर्णरूपेण आप्त मानना चाहिए और उनका प्रमाण सत्य माना जा सकता है।[2]

आत्मा इन्द्रियों, मन और विषयों के सन्निकर्ष से उत्पन्न सम्यक और निश्चित ज्ञान को 'प्रत्यक्ष' कहा जाता है। चक्रपाणि ने विषयों के साथ इन्द्रियों के इस संपर्क को पंचविध माना है (१) द्रव्य का सन्निकर्ष जिसे 'संयोग' कहा जाता है (२) समवाय सम्बन्ध से समवेत गुण वाले पदार्थों के (संयुक्त समवाय) माध्यम से, गुणों का सन्निकर्ष (३) समवाय सम्बन्ध में गुणों में विद्यमान रूपत्व आदि उन गुणों के विश्वव्यापी रूप में गुणों के साथ जातिगत प्रकार का सन्निकर्ष (यथा रूप आदि), इसे 'संयुक्तसमवेतसमवाय' कहा जाता है क्योंकि आँख पदार्थ के सम्पर्क में होती है और रूप समवाय सम्बन्ध द्वारा पदार्थ में विद्यमान है और उस रूप विशेष में समवाय संबंध के द्वारा विश्वव्यापी रूप अथवा रूप का जातिगत स्वरूप विद्यमान है। (४) 'समवाय' संज्ञक सन्निकर्ष जिसके कारण श्रोत्र द्वारा शब्दों का प्रत्यक्षीकरण होना बताया जाता है, श्रवणेन्द्रिय 'आकाश' है और 'शब्द' आकाश में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान है और इस प्रकार श्रवणेन्द्रिय शब्द का प्रत्यक्षीकरण एक विशिष्ट प्रकार के संपर्क द्वारा ही कर सकती है जिसे 'समवेतसमवाय' कहते हैं, (५) शब्द के जातिगत स्वरूप का विश्वव्यापी शब्द (शब्दत्व) के रूप में प्रत्यक्षीकरण समवेतसमवाय संज्ञक सन्निकर्ष के प्रकार से होता है। इस प्रकार के सन्निकर्ष से सद्यः प्राप्य (तदात्व) बोध ही

---

[1] चरक संहिता, १ ११ १७।

[2] वही १ ११ १८ १९।

किया जा चुका है और समझाया जा चुका है, ४ १ मे साख्य शाखा का विस्तृत वर्णन आयुर्वेद से कुछ अधिक सबध रखता प्रतीत नहीं होता और इस हेतु यह सारा अध्याय शेष पुस्तक से मेल खाता प्रतीत नही होता, और इसका चरक सहिता के अन्य भागो मे उल्लेख नही किया गया है। यह असभव नही है कि यह अध्याय इस ग्रन्थ में किसी अन्य पुस्तक से जोडा गया हो।

चरक के समान सुश्रुत वैशेषिक पदार्थों की गणना नही करते हैं और साख्य विषयक उनका वर्णन साख्य सूत्र और ईश्वर कृष्ण की 'कारिका' मे दिये गए परम्परागत वर्णन का यथातथ्य रूप है। साख्य सिद्धान्त का वर्णन करने के बाद सुश्रुत कहते हैं कि चिकित्साशास्त्र के अनुसार पदार्थों के कारण छ प्रकार के होते हैं, अर्थात् (१) स्वभाव, (२) ईश्वर, (३) काल, (४) यदृच्छा, (५) नियति और (६) परिणाम।[1] जैसा डल्हण ने प्रदर्शित किया है, सुश्रुत ने इन सब कारणो के कार्य का कई स्थानो पर उल्लेख किया है। इस प्रकार गर्भावस्था मे शरीर के अगो की सरचना स्वभाव के कारण बताई गई है, अग्नि के रूप मे ईश्वर को आमाशय मे पाचक अग्नि के रूप मे क्रियाशील और पाचन में सहायक बतलाया गया है, 'काल' को ऋतुओ के रूप मे दोषो मे वृद्धि और क्षय का कारण बताया गया है, 'नियति' का अर्थ पुण्य और पाप है और व्याधियो तथा उनसे आरोग्य लाभ का कारण कभी कभी इन्ही को बताया गया है। सुश्रुत पर टीका करते हुए जेज्भट कहते हैं (जसाकि डल्हण का कथन है) कि ईश्वर के अतिरिक्त अन्य सब यहा 'कारण' 'प्रकृति' के भिन्न भिन्न नाम हैं। तथापि गयी का विचार है कि उपर्युक्त छ कारण निमित्त कारण हैं, यद्यपि प्रकृति को भी उपादान कारण माना जा सकता है।

जसाकि डल्हण और गयी का मत है कि यह मानने का कोई कारण नही है कि सुश्रुत ने साख्य के मत का वर्णन किया है, क्योकि छ प्रकार के कारणो का वर्णन करने के तत्काल पश्चात् वे महाभूतो का वर्णन त्रिगुण, सत्व रजस और तमस से निर्मित होने के रूप मे करते हैं। इन्द्रियो का भी भौतिक होना माना गया है। आयुर्वेद के अनुसार आत्माए नित्य हैं, यद्यपि वे अपने देहो तक ही सीमित हैं और सर्वव्यापी नही है। जब शुक्र और शोणित का सयोग होता है तब उनकी उत्पत्ति होती है, और धर्म और अधर्म के कारण पुनर्जन्म को भोगने वाला यही दैहिक आत्मा (जिसे कर्म पुरुष कहते हैं) चिकित्सा विज्ञान का विषय है। जब आत्मा मन के ससर्ग में होता है तो इसके निम्न गुण होते हैं सुख दु ख, इच्छा, द्वेष प्रयत्न, प्राण और अपान (श्वास की ऊर्ध्वगत धारा और गुदा की दिशा मे कार्य करने वाली नीचे की ओर कार्य करने वाली शक्ति) उन्मेष और निमेष, बुद्धि (निश्चय), सकल्प विचारणा,

[1] सुश्रुत सहिता, ३ १ ११।

स्मृति, विज्ञान अध्यवसाय और विषयोपलब्धि। मन के गुणों को सात्विक, राजस् और तामस इन तीन वर्गों में विभक्त किया गया है, इनमें से सात्विक गुण हैं आनृशंस्य, संविभाग रुचिता तितिक्षा, सत्य धम, आस्तिक्य ज्ञान, मेधा, बुद्धि, धृति और अनभिषग, राजस गुण हैं दुःख, अधृति, अहंकार आनतिकत्व, अकारुण्य, दम्भ, मान, हर्ष, काम और क्रोध, तामस गुण हैं मूढता, अधर्मशीलता, दुर्मेधता, अकर्मशीलता और निद्राशीलता।

तर्क संबंधी विवेचना और सैद्धान्तिक विवाद संबंधी संज्ञाएँ

पदार्थ या तो सत् होते हैं या असत् और उनका ज्ञान आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष अनुमान और युक्ति से इन चार प्रमाणों द्वारा हो सकता है।[1]

जिनके मन अपने तपोबल द्वारा रजस और तमस के दायरे से मुक्त हैं जिनके पास भूत वर्तमान और भविष्यत् तक व्याप्त होने वाला असीम ज्ञान है, उन्हें 'आप्त' मानना चाहिए। ऐसे व्यक्तियों में ज्ञान की कमी नहीं होती और न वे जानबूझ कर कोई असत्य भाषण करते हैं। उन्हें पूर्णरूपेण आप्त मानना चाहिए और उनका प्रमाण सत्य माना जा सकता है।[2]

आत्मा, इन्द्रिया, मन और विषयों के सन्निकर्ष से उत्पन्न सम्यक और निश्चित ज्ञान को 'प्रत्यक्ष' कहा जाता है। चक्रपाणि ने विषयों के साथ इन्द्रियों के इस संपर्क को पंचविध माना है (१) द्रव्य का सन्निकर्ष जिसे 'संयोग' कहा जाता है, (२) समवाय सम्बन्ध से समवेत गुण वाले पदार्थों के (संयुक्त समवाय) माध्यम से गुणों का सन्निकर्ष (३) समवाय सम्बन्ध से गुणों में विद्यमान रूपत्व आदि उन गुणों के विश्वव्यापी रूप में गुणों के साथ जातिगत प्रकार का सन्निकर्ष (यथा रूप आदि), इसे संयुक्तसमवेतसमवाय कहा जाता है क्योंकि आँख पदार्थ के सम्पर्क में होती है और रूप समवाय सम्बन्ध द्वारा पदार्थ में विद्यमान है और उस रूप विशेष में समवाय संबंध के द्वारा विश्वव्यापी रूप अथवा रूप का जातिगत स्वरूप विद्यमान है। (४) 'समवाय' संज्ञक सन्निकर्ष जिसके कारण श्रोत्र द्वारा शब्दों का प्रत्यक्षीकरण होना बताया जाता है, श्रवणेन्द्रिय 'आकाश' है और 'शब्द' आकाश में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान है और इस प्रकार श्रवणेन्द्रिय शब्द का प्रत्यक्षीकरण एक विशिष्ट प्रकार के संपर्क द्वारा ही कर सकती है जिसे 'समवेतसमवाय' कहते हैं (५) शब्द के जातिगत स्वरूप का विश्वव्यापी शब्द (शब्दत्व) के रूप में प्रत्यक्षीकरण 'समवेतसमवाय' संज्ञक सन्निकर्ष के प्रकार से होता है। इस प्रकार के सन्निकर्ष का सदा प्राप्य (वदात्व) बोध ही

---

[1] चरक संहिता, १ ११ १७।

[2] वही, १ ११ १८ १९।

प्रत्यक्ष' कहलाता है, क्योंकि अनुमान, स्मृति आदि भी इस प्रकार के बोध के परिणाम स्वरूप अन्य क्रमिक प्रक्रियाओं (पारम्पर्य) के द्वारा बाद में प्रवेश कर सकते हैं। चक्रपाणि का आगे कथन है कि उक्त चार प्रकार के सम्पर्क प्रत्यक्ष ज्ञान के वास्तविक कारण हैं, वास्तव में जो ज्ञान इन्द्रिय सम्पर्क के कार्य के परिणाम स्वरूप प्राप्त होता है वही प्रत्यक्ष' की उचित परिभाषा होगी, अतः सुख के प्रत्यक्षीकरण में यद्यपि इनमें से किसी भी सन्निकर्ष का होना आवश्यक नहीं है, फिर भी इसे सीधे प्रत्यक्ष का एक सही उदाहरण माना जाता है। हाँ, सब प्रकार के बोध के लिए आत्मा के साथ सम्पर्क आवश्यक है।[1] यहाँ आसानी से देखा जा सकता है कि प्रत्यक्षीकरण का उपर्युक्त सिद्धान्त उसी प्रकार का है जिस प्रकार का न्याय दर्शन में उपलब्ध होता है। *निर्विकल्प प्रत्यक्षीकरण पर विचार नहीं किया गया है,* क्योंकि न्यायसूत्र में 'अव्यप-देश्य' के सदृश कुछ भी नहीं है।[2] अनुमान प्रत्यक्ष पर आधारित होना चाहिए, जिसके द्वारा हेतु की व्याप्ति का निरीक्षण पहले हो सके। अनुमान के तीन प्रकार हैं, कार्य से कारण की प्राप्ति, यथा गर्भ से मैथुन का अनुमान, कारण से कार्य यथा अन्य सहकारी कारणों, जल सेचन आदि, से युक्त बीज से भावी फल का अनुमान, और कारण और कार्य के अतिरिक्त अन्य सम्बन्धों द्वारा अनुमान यथा धूम से अग्नि का अनुमान।[3]

किसी भी अन्य भारतीय दर्शन में युक्ति को पृथक प्रमाण के रूप में गणना नहीं की गई है। जिन अनेक हेतुओं कारणों और विचारणाओं के माध्यम से कोई मनुष्य अपने जीवन में सब इष्ट पदार्थों को प्रायः प्राप्त कर लेता है उन्हीं अनेकों हेतुओं, कारणों और विचारणाओं का मन में जटिल तोल करके जब हमारी बुद्धि किसी भाव का धर्म, धन अथवा फल के रूप में निर्णय करती है तब उसे युक्ति कहा

---

[1] चरक संहिता १ ११ २० पर चक्रपाणि की टीका।

[2] चरक संहिता १ ११ २० में प्रत्यक्ष की परिभाषा इस प्रकार दी गई है

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्तते
व्यक्ता तदात्वे या बुद्धिः प्रत्यक्षं सा निरुच्यते।

न्याय सूत्र में प्रत्यक्ष की परिभाषा निम्न है

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारी व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।

इस पर विवेचन के लिए प्रथम खंड, पृ० ३३३–३४३ देखिए।

[3] प्रत्यक्षपूर्वं त्रिविधं त्रिकालं चानुमीयते
वह्निर्निगूढो धूमेन मैथुनं गर्भदर्शनात्
एवं व्यवस्यन्त्यतीतं बीजात्फलमनागतं
दृष्ट्वा बीजात्फलं जातमिहैव सदृशं बुधाः। —चरक संहिता, १ ११ २१ २२।

जा सकता है।[1] जैसाकि चक्रपाणि ने प्रदर्शित किया है, युक्ति वास्तव में कोई पृथक् प्रमाण नहीं है, परन्तु यह प्रमाण की सहायक है, इसलिए इसकी प्रमाण रूप में गणना की गई है। युक्ति के उदाहरण के रूप में पृथ्वी की दशा, वर्षा की सम्भावित मात्रा, जलवायु सम्बन्धी दशाओं, आदि से अच्छी या बुरी खेती की सम्भावना का चरक उल्लेख करते हैं। चक्रपाणि ने ठीक ही कहा है कि इस प्रकार की अवस्था को, जहाँ अनेक तर्कों के संयुक्त प्रयोग से किसी परिणाम पर पहुँचा जाय, ऊहा कहना उचित है, और यह जन समुदाय में इसी नाम से प्रचलित है। यहाँ इसकी पृथक् प्रमाण के रूप में गणना की गई है। वास्तव में यह कारण से कार्य का अनुमान ही है, और इसका प्रयोग वर्तमान काल में नहीं किया जा सकता, और इसे त्रिकाल भूत वर्तमान और भविष्य तीनों कालों में सत्य नहीं माना जा सकता, जैसाकि चरक ने कहा है।

शान्तरक्षित युक्ति को पृथक् प्रमाण मानने के चरक के सिद्धान्त का विवेचन करते हुए लिखते हैं, कि बौद्धों का मत है कि युक्ति इस बात के निरीक्षण में निहित है कि क्योंकि 'जब यह होता तब वह भी होता है' और चूँकि 'जब यह नहीं होता है तो वह भी नहीं होता है', इसलिए 'यह उसका' कारण है। यह तर्क दिया जा सकता है कि यह अनुमान की अवस्था नहीं है क्योंकि न्याय के अनुमान में कमलशील की व्याख्या के अनुसार कोई ऐसी प्रतिज्ञा नहीं है जो दृष्टान्त युक्त प्रतिज्ञा के तुल्य हो (यथा, जो कुछ भी धूममय है वह अग्निमय होगा, जैसे रसोई)। यह मत व्यक्त किया जाता है कि कारण कार्य के विचार का मूल 'यह होने पर वह होगा' यह विचार है और कार्यकारण सम्बन्ध की धारणा का अन्य कोई अर्थ नहीं, यदि किसी अवस्था में कोई दृष्टान्त विशेष दिया जाता है, तो अन्य दृष्टान्त भी अपेक्षणीय हो सकता है, और उसके बाद दूसरा और हमें इस प्रकार अनवस्था दोष प्राप्त होगा।[2] यह होने पर

---

[1] बुद्धिः पश्यति या भावान्बहुकारणयोगजान्
युक्तिस्त्रिकाला सा ज्ञेया त्रिवर्गः साध्यते यया। —वही, १ ११ २५।

[2] दृष्टान्तेऽप्यत एव तद्भावभावित्वात् कार्यताप्रतिपत्तिः तत्रापि दृष्टान्तोऽन्योऽन्वेषणीय, तत्राप्यपर इत्यनवस्था। चरक संहिता १ ११ २५ की टीका में चक्रपाणि द्वारा कमलशील का उद्धरण।

शान्तरक्षित ने चरक के दृष्टिकोण का एक विलक्षण प्रकार से गलत रूप में प्रस्तुत किया है। उनका कथन है कि इस तथ्य से कि जिन सब दशाओं में जब 'क' विद्यमान है तो उनमें 'ख' भी विद्यमान है और जिन सब दशाओं में 'क' अविद्यमान है तो उनमें 'ख' भी अविद्यमान है' जब कोई 'क' को 'ख' का कारण मानता है तो चरक के अनुसार इसे युक्ति का नया प्रमाण माना जाता है। शान्तरक्षित के असली शब्द ये हैं

वह होता है' इस सम्बन्ध से उत्पन्न कारण कार्य सम्बन्ध के परिणाम को युक्ति मानने वाले मत के पक्ष में दिए गए तर्कों का शान्तरक्षित और कमलशील ने खण्डन किया है जिन्होंने यह प्रदर्शित किया है कि 'यह होने पर वह होगा' के सम्बन्ध को कारण कार्य के सम्बन्ध से जोड़ने वाली कोई बोध प्रक्रियाएं नहीं हैं, क्योंकि इन दोनों से एक ही धारणा का ग्रहण होता है। कारण कार्य सम्बन्ध और 'यह होने पर वह होगा' यह सम्बन्ध, ये दोनों एक ही हैं। यह तर्क दिया जा सकता है कि जब कभी कोई चीज किसी अन्य चीज के घटित होने पर नित्य और अन्यथा रूप से घटित होती है, तब दोनों को कारण और कार्य रूप में उसी प्रकार सम्बद्ध माना जाता है, जिस प्रकार कि कुलाल और चक्र के उचित कार्यों के पश्चात् सदा घट आदि प्रकट होते हुए देखे जाते हैं। यदि यही 'युक्ति' है तो यह ज्ञान का कोई पृथक् स्रोत नहीं है।

फिर भी चक्रपाणि का कथन है कि ये सब आलोचनाएँ वास्तविकता से दूर हैं, क्योंकि चरक के अनुसार, कार्यकारणता तद्‌भवभाविता का परिणाम नहीं है, यह तो तर्क शृंखला के परिणामस्वरूप किसी निर्णय पर पहुँचना मात्र है। परन्तु इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि चरक ३ ४ ६ और ७ में *प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द*, इन तीन प्रकार के प्रमाणों का वर्णन करते हैं और अनुमान का वर्णन युक्ति पर आश्रित तर्क के रूप में करते हैं। चक्रपाणि ने 'तर्क' उसे बतलाया है जिसका प्रत्यक्षीकरण न हो सके (तर्कोऽप्रत्यक्षज्ञानम्) और यहाँ युक्ति का अर्थ 'अविनाभाव' का सबंध बताया है। इस सबंध में यह कहा गया है कि किसी व्याधि का निर्णय प्रत्यक्ष, आप्तोपदेश और अनुमान द्वारा करना चाहिए। परन्तु ३ ८ ६ ३३ और ३४ में चरक ने 'ऐतिह्य' की गणना 'आप्तोपदेश' में की है, यद्यपि भारतीय दर्शन में ऐतिह्य का सामान्यतः आप्तोपदेश से

अस्मिन्सति भवत्येव न भवत्यसतीति च
तस्मादतो भवत्येव युक्तिरेषाऽभिधीयते
प्रमाणान्तरमेवेयम् इत्याह चरको मुनिः
नानुमानमियं यस्माद् दृष्टान्तोऽत्र न लभ्यते। —तत्व संग्रह पृ० ४८२।

जैसाकि चक्रपाणि ने चरक संहिता पर अपनी टीका में प्रदर्शित किया है, जो चरक ने कहा है उससे यह बिलकुल भिन्न है। युक्ति के विषय में चरक का भाव सम्भाव्यता का तर्क है अर्थात् जब कई घटनाओं, परिस्थितियों और निरीक्षणों के आधार पर कोई व्यक्ति किसी निर्णय विशेष को सम्भव मानने लगता है तो उसे 'युक्ति' कहते हैं और यह अनुमान अथवा किसी भी अन्य स्वीकृत प्रमाण से भिन्न है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, भारतीय विचारधारा में सम्भाव्यता के तर्क का यही एकमात्र उदाहरण है।

भिन्न 'परम्परा' अथवा दीर्घकाल से प्रचलित लोक विश्वास माना गया है, 'औपम्य' नाम से भी आप्तोपदेश का उल्लेख है।

यहाँ यह ध्यान में रखना असंगत नहीं होगा कि सांख्यकारिका में वर्णित सारी प्रत्यक्ष की बाधाओं का इसमें भी उल्लेख है। इस प्रकार यह कहा जाता है कि जिन पदार्थों में रूप होता है वे भी यदि आवरणयुक्त हों अथवा यदि इन्द्रियाँ दुर्बल हों या वे अपने में अभिन्न किसी एकरूप माध्यम से मिले हुए हों, अथवा जब अल्पप्रकाश वाले पदार्थ अधिकतर प्रकाशमान् पदार्थों से अभिभूत हों अथवा जब वे अत्यन्त सूक्ष्म और बारीक हों तो उनका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।[1]

भारतीय चिकित्सकों के लिए तर्कशास्त्र न केवल व्याधि के निदान हेतु ही अपितु परस्पर होने वाली चर्चाओं में भी उपयोगी था। धनी रोगियों के रोगों का उपचार करने के अवसरों पर होने वाली चर्चाओं में विरोधी चिकित्सकों को अपने कौशल और ज्ञान का प्रदर्शन करना होता था। किसी विवाद के सफलतापूर्वक प्रणयन की कला चिकित्सकों की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि मानी जाती थी। इस प्रकार हम विवादों से संबद्ध पारिभाषिक शब्दों का एक ऐसा पूर्ण समुदाय उपलब्ध होता है जैसाकि न्याय सूत्र के अतिरिक्त अन्य किसी भी साहित्य में कभी भी नहीं देखने को मिलता है। चरक संहिता में 'रोगभिषग्जितीय विमान' (३ ८) शीर्षक वाला अध्याय लगभग पूरा का पूरा इसी प्रयोजन में प्रयुक्त हुआ है। यह याद रखना उचित होगा कि न्याय सूत्र में विभिन्न प्रकार के वादों और हेत्वाभासों का उल्लेख है और चरक संहिता अथवा सुश्रुत संहिता के ऐसे ही विषयों की चर्चा करते समय उनका उल्लेख करना उपयुक्त होगा।

वादों के संदर्भ में तर्क, वाद, जल्प और वितण्डा इन चार शब्दों का प्रयोग हुआ है। तर्क और ऊहा को एक ही कहा गया है और इसका अर्थ बताया गया है किसी यथार्थ परिणाम पर पहुँचने से पहले की मन में होने वाली तर्क की प्रक्रिया। किसी निर्णय पर पहुँचने के पहले, शंका होने के अवसर पर विभिन्न विकल्पों पर कर्ता की जाँच का एक नाम तर्क है। विवाद तीन प्रकार के बताए गए हैं वाद जल्प और वितण्डा। वाद का अर्थ है सत्य निर्धारण के लिए वाद विवाद, विरोधी को उचित या अनुचित प्रकार से परास्त कर देना जिसका मुख्य उद्देश्य हो वह विवाद जल्प है, वह विवाद वितण्डा है जिसमें विरोधी के पक्ष की त्रुटियाँ प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया गया हो परन्तु जिसका कोई विकल्प प्रस्तुत नहीं किया गया हो। इस प्रकार जल्प और वितण्डा से वाद पृथक् है क्योंकि वाद शिष्यों, आचार्यों, सहपाठियों और निर्णयफलार्थी पुरुषों के साथ होने वाली शास्त्रसम्बन्धी न कि ख्याति और लाभ के लिए होने वाली चर्चा है।[2] दूसरी ओर जल्प वह विवाद है जिसमें मनुष्य यह

---

[1] चरक संहिता १ ११ ८।

[2] वाद च निर्णयफलार्थिभिरेव शिष्यसब्रह्मचारिगुरुभि सह वीतरागै न ख्यातिलाभ-रभसप्रतिबध्यमानस्पर्धानुबन्धविधुरात्मभिरारभेत। न्याय मजरी पृ० ५९४।

जानते हुए भी कि वह गलत है अथवा छल अथवा तर्क के अन्य अनुचित उपायों के अतिरिक्त अन्य उपायों द्वारा विरोधी से अपनी उचित प्रकार से रक्षा करने में असमर्थ है, विवाद को जारी रखता है।

विमान स्थान, अध्याय ८ में चरक कहते हैं कि भिषक को अन्य भिषकों से सम्भाष करना चाहिए। सम्भाष ज्ञान के हेतु उत्साह (सद्गुण) की वृद्धि करता है, ज्ञान को निर्मल करता है, वाकशक्ति की और यश प्राप्ति की शक्ति की वृद्धि करता है पूर्व प्राप्त ज्ञान के भ्रमों का उच्छेद करता है और अध्यवसाय को प्राप्त कराता है। इन सम्भाषणों के दौरान कई नई बातें सीखी जा सकती हैं और जोश में आकर कोई विरोधी अपने गुरु से प्राप्त गूढ़तम शिक्षाओं को भी प्रायः प्रकट कर देते हैं। सम्भाषण दो प्रकार के होते हैं मैत्रीपूर्ण (सधायसभाषा) और शत्रुतापूर्ण (विगृह्य सभाषा)। जो मनुष्य परास्त होने अथवा अपने तर्कों के हेत्वाभासों के प्रकट हो जाने के भय से रहित होकर प्रश्नों की स्पष्ट रूप से और निष्ठा से चर्चा करते हैं और उन पर अपना मत प्रकट करते हैं ऐसे बुद्धिमान् और ज्ञानी पुरुषों के बीच में 'सधाय सभाषण' होता है क्योंकि ऐसे सम्भाषणों में यद्यपि हेत्वाभासों का वर्णन हो सकता है, फिर भी कोई भी दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न नहीं करता, कोई भी दूसरे की पराजय पर हर्षित नहीं होता और दूसरे के विचारों का गलत अर्थ लगाने अथवा उनको गलत समझने का कोई प्रयत्न नहीं करता है।

तत्पश्चात् चरक आगे यह उपदेश करते हैं कि जिस सभा में 'विगृह्य सभाषण' चल रहा हो वहाँ किसी को कैसा आचरण करना चाहिए। किसी विरोधी के विगृह्य सम्भाषण में अपने को लीन करने से पहले मनुष्य के लिए यह आवश्यक है कि वह ध्यानपूर्वक यह देखें कि क्या उसका विरोधी उससे हीन (पर) है? और जिस परिषद् में सम्भाषण हो रहा है उसका स्वरूप कैसा है? परिषद् ज्ञानवान् अथवा मूढ हो सकती है, और ये परिषदें सुहृत् उदासीन अथवा प्रतिनिविष्ट हो सकती हैं। जब किसी विरोधी की जाँच करनी हो तो उसकी बौद्धिक और नैतिक दोनों दृष्टियों से जाँच करनी चाहिए। इस प्रकार एक ओर तो यह देखना होगा कि क्या वह शिक्षित और बुद्धिमान् है? क्या उसको शास्त्र याद हैं उनको वह शीघ्रता से प्रस्तुत कर सकता है और उसमें वचन शक्ति है? और दूसरी ओर यह देखना कि क्या उसका स्वभाव चिड़चिड़ा है अथवा वह भीरू स्वभाव का है, आदि? मनुष्य यह ध्यानपूर्वक विचार करे कि क्या उसका विरोधी उससे इन गुणों में हीन अथवा अधिक है? प्रतिनिविष्ट परिषत् में सम्भाषण नहीं करना चाहिए क्योंकि उत्कृष्टतम तर्कों का गलत अर्थ लगाया जा सकता है। मूढ, सुहृत् अथवा उदासीन परिषत् में अपने उस विरोधी को बुद्धिमत्तापूर्ण व्यवहार से शास्त्रार्थ में पराजित करना सम्भव है, जो यशस्वी और अन्यथा महान् पुरुषों द्वारा तिरस्कृत हो। ऐसे व्यक्तियों के साथ सभाषण

पण प्रारम्भ करते समय यह प्रयत्न करना चाहिए कि वे लम्बे सूत्रों के उच्चारण द्वारा उलझ जाएं और वे हतोत्साह हो जाएं, तथा उपहास, कटाक्ष अथवा इंगितों द्वारा तथा व्यंग्यभरी भाषा के प्रयोग द्वारा वह उनको स्तब्ध कर दे।

जब किसी मनुष्य को अपने समान विरोधी के साथ सम्भाषण करना हो तो उसको विरोधी जिस बात में विशेष रूप से हीन है उसको ज्ञात करे और उसके उसी स्थान पर आक्रमण करने का प्रयत्न करे और उसको ऐसी अवस्थाओं में डालने का प्रयत्न करे जो जनसाधारण को प्रायः अमान्य हों। तत्पश्चात् चरक इस प्रकार के सभाओं से संबद्ध कई पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करते हैं। न्याय के समान चरक भी इन वादों को जल्प और वितण्डा इन दो श्रेणियों में विभक्त करते हैं। साध्य वचन का कथन 'प्रतिज्ञा' कहलाता है यथा 'पुरुष नित्य है'। हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन सहित प्रतिज्ञाओं से युक्त न्यायसंगत हेतुओं द्वारा किसी प्रतिज्ञा को सिद्ध करना 'स्थापना' कहलाता है। इस प्रकार उपर्युक्त प्रतिज्ञा 'पुरुष नित्य है' की पुष्टि हेतु 'क्योंकि वह अकृत है' द्वारा, दृष्टान्त 'आकाश अकृत है और वह नित्य है' द्वारा, दृष्टान्त के कर्त्ता और प्रतिज्ञा के कर्त्ता (उपनय) के बीच सादृश्य प्रदर्शित करने वाले वाक्य 'जैसे कि आकाश नित्य है उसी तरह पुरुष भी नित्य है' द्वारा और अन्त में प्रतिज्ञा की सिद्धि (निगमन) 'इसलिए पुरुष नित्य है' द्वारा की जाती है।[1]

विरोधी द्वारा प्रस्तुत किए गए वचन अथवा प्रतिज्ञा के विरुद्ध वचन सिद्ध करने के प्रयत्न को 'प्रतिष्ठापना' कहते हैं। इस प्रकार जब स्थापना की प्रतिज्ञा 'पुरुष नित्य है' हो, तो प्रतिष्ठापना वाक्य होगा 'पुरुष अनित्य है, क्योंकि यह इन्द्रियगोचर है' और 'घट जो इन्द्रियगोचर है वह अनित्य है' और 'पुरुष घट के सदृश है इसलिए 'पुरुष अनित्य है'।

चरक 'हेतु' की परिभाषा 'ज्ञान के कारण' के रूप में करते हैं, (हेतुर्नाम उपलब्धि कारणम्), और ज्ञान का कारण है प्रत्यक्ष अनुमान ऐतिह्य एवं औपम्य के प्रमाण। न्याय सूत्रों तगत हेतु की परिभाषा में अनुमान द्वारा स्थापित संबंध से युक्त साधर्म्य और वैधर्म्य के माध्यम से केवल अनुमान विषयक प्रत्यक्ष हेतु का ही उल्लेख है।[2] यहाँ चरक यह बतलाते हैं कि हेतु प्रत्यक्ष अनुमान अथवा औपम्य अथवा ऐतिह्य कोई भी हो सकता है परन्तु किसी भी साधन से इसकी प्राप्ति हो जब इसका परिणाम ज्ञात होता है तो इसे हेतु कहते हैं। इस प्रकार जब मैं कहता हूँ 'पर्वत वह्निमान् है

---

[1] यह सरलता से देखा जा सकता है कि चरक ने तर्कवाक्य में उन पाँचों वाक्यों को स्वीकार किया है जो न्यायसूत्र में स्वीकृत हैं।

[2] उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः तथा वैधर्म्यात्।

—न्यायसूत्र १ १ ३४, ३५।

क्योंकि इससे धूम उठ रहा है (पर्वतो वह्निमान् धूमवत्वात्), धूम हेतु है और इसका आँख द्वारा सीधा प्रत्यक्षीकरण होता है। परन्तु जब मैं कहता हूँ 'वह बीमार है, क्योंकि उसके मन्दाग्नि है' हेतु का सीधा प्रत्यक्ष नहीं होता है केवल अनुमान ही होता है क्योंकि किसी के मन्दाग्नि होने के तथ्य का सीधा प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। पुन, जब यह कहा जाता है 'पुरुष नित्य है, क्योंकि वह अकृत है' (नित्य पुरुष, अकृतकत्वात्) अकृतकत्व हेतु है परन्तु इसका न तो प्रत्यक्ष होता है और न अनुमान ही, अपितु शास्त्रों के प्रमाण से इसे स्वीकार किया जाता है। पुन 'उसका मुख कान्तितम है क्योंकि उसकी उपमा चन्द्रमा से दी गई है' (अस्य मुखं कान्ततमं चन्द्रोपमत्वात्) वाक्य मे चन्द्रमा की उपमा देने का तथ्य हेतु है और उसे 'उपमा की संज्ञा दी जाती है।'[1] इस प्रकार चरक की हेतु की परिभाषा का गौतम की परिभाषा से वस्तुत संघर्ष नहीं होता, उनका तो केवल यह कथन है कि हेतु की उपलब्धि किसी भी प्रमाण से हो सकती है, और किसी भी प्रमाण से इसकी उपलब्धि हो यह हेतु कहा जा सकता है, यदि यह सदा और अविनाभाव से साध्य से सबद्ध हो।[2]

तत्पश्चात् चरक उत्तर का वर्णन करने को अग्रसर होते हैं, यथा जो न्यायसूत्र के जाति के समान ही है। जब कोई विरोधी हेतु के साथ प्रतिज्ञा के विषय की साधर्म्यता के आधार पर प्रतिज्ञा को सिद्ध करना चाहता है तो उसकी प्रतिज्ञा के हेतु के साथ वैधर्म्यता प्रदर्शित करके प्रतिज्ञा में विपर्यय लाने का प्रयत्न करना आवश्यक है। इस प्रकार कोई मनुष्य कहे कि मनुष्य मे शीत का अनुभव अवश्य उसके हिम, ओस अथवा शीत वायु से पीडित होने के कारण हुआ होगा क्योंकि सदृश कारणों से सदृश कार्य उत्पन्न होते हैं तो उत्तर में यह कहा जा सकता है कि कार्य अपने कारणों के असदृश होते हैं, क्योंकि तापज्वर शीत के प्रकोप के कारण हो सकता है।[3] जातियों की जो लम्बी सूची न्यायसूत्र मे दी गई है और जिसकी व्याख्या

---

[1] देखिए गगाधर कृत 'जल्पकल्पतरु' ३ ८ १२२।

[2] हेतुश्चाविनाभावलिंगवचन यद्यपि तथापीह लिंगग्राहकाणि प्रत्यक्षादिप्रमाणान्येव यथोक्तहेतुमूलत्वेन हेतुशब्देनाह।

—चरक ३ ८ ६ २५ पर चक्रपाणि की टीका।

[3] साधर्म्यवैधर्म्याभ्या प्रत्यवस्थान जाति —न्यायसूत्र १ २ १८। इस जाति के चौबीस प्रकार हैं यथा (१–२) साधर्म्यवैधर्म्यसम (३–८) उत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्य-विकल्पसाध्यसम (९–१०) प्राप्त्यप्राप्तिसम (११–१२) प्रसगप्रतिदृष्टान्तसम (१३) अनुत्पत्तिसम, (१४) सशयसम (१५) प्रकरणसम (१६) अहेतुसम, (१७) अर्थापत्तिसम, (१८) अविशेषसम (१९) उपपत्तिसम (२०) उपलब्धिसम, (२१) अनुपलब्धिसम (२२) नित्यसम (२३) अनित्यसम (२४) कार्यसम।

भाष्य एव टीकाओ म तथा न्याय मजरी में की गई है, उसका चरक द्वारा उल्लेख नहीं किया गया है, और न 'जाति' के पारिभाषिक नाम को चरक के वर्णन मे स्थान ही मिला

'साधर्म्यवैधर्म्यसम' वह है जिसम किसी हेतु ने सादृश्य अथवा असादृश्य के आधार पर किसी तर्क के प्रस्तुत करने पर यह प्रदर्शित किया जाय कि अन्य हेतुओ के सादृश्य अथवा असादृश्य की अन्य बातो से बिलकुल विपरीत निष्कर्ष निकाला जा सकता है। इस प्रकार जब यह कहा जा सकता है 'शब्द अनित्य है क्योकि यह प्रयत्न द्वारा उत्पन्न होता है और जो कुछ भी प्रयत्न द्वारा उत्पन्न होता है वह अनित्य है यथा घट' तो यह उत्तर दिया जा सकता है शब्द नित्य है क्योकि वह अवयवहीन है अवयवहीन इकाई यथा आकाश, नित्य दिखाई देती हैं कोई विशेष-कारण नहीं है कि घट के साथ अपने सादृश्य के कारण शब्द को अनित्य क्या माना जाय और आकाश के साथ इसके सादृश्य के कारण इसे नित्य क्या नही माना जाय। इस दुविधापूर्ण तर्क से मुक्ति यह जानने से हो सकती है कि अविनाभाव युक्त और अव्यभिचारी सादृश्य किस मे निहित है।

'उत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यसम' वह है जिसमे सादृश्य पर अधिक बल दिया जाता है। इस प्रकार यह प्रस्तुत किया जाता है कि क्योकि घट के समान शब्द अनित्य है, अत शब्द घट के समान द्रव्य भी होना चाहिए और यदि ऐसा नही है तो यह घट के समान अनित्य नहीं हो सकता। फिर यह भी कहा जा सकता है जिस कारण से शब्द के अनित्य होने की आशा की जाती है वह कारण यह है कि शब्द प्रयत्न से उत्पन्न (प्रयत्ना तरीयक) है। परन्तु प्रयत्न से उत्पन्न वस्तुएँ अपने कई गुणो से भिन्न होती हैं, इस प्रकार वस्त्र मृदु है और घट कठोर, यद्यपि दोनो प्रयत्न द्वारा उत्पन्न हैं, इसी प्रकार यह तर्क किया जा सकता है कि यद्यपि शब्द भी घट के समान ही प्रयत्न का फल है फिर भी अनित्य होने मे शब्द का घट से साम्य नही है। फिर शब्द भी घट के समान है ऐसा तर्क देने के स्थान पर यह भी तर्क दिया जा सकता है कि घट शब्द के समान है, ताकि घट की स्थिति भी वैसी ही अनिश्चित हो जाती है जैसीकि स्वय शब्द की (यदि यथा घटस्तथा शब्द प्राप्त तर्हि यथा शब्द तथा घट इति शब्दश्चानित्यतया साध्य इति घटोऽपि साध्य एव स्यात् अन्यथाहि न तेन तुल्या भवेत्--न्याय मजरी, पृ० ६२४। इस प्रकार के दोष प्रदर्शना के उत्तर मे सम्यक तर्क यह है कि किसी सादृश्य का उसकी सीमाओ से परे विस्तार नही होना चाहिए, और किसी भी दृष्टान्त को ऐसा नही मानना चाहिए कि उसकी स्थिति साध्य के समान ही है क्योंकि दृष्टान्त वह है जिस पर विवादी पक्ष और सामान्य लोग पहले से ही सहमत हैं (लौकिकपरीक्षकाणा यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्य स दृष्टान्त)।

है। यदि जाति के ये विशद विवरण चरक को ज्ञात होते, तो यह असम्भव प्रतीत होता है कि उनका उल्लेख किए बिना ही चरक उनको टाल जाते।

'प्राप्त्यप्राप्तिसम' वह है जिसमें यह प्रस्तुत किया जाय कि यदि हेतु और साध्य साथ साथ हों तो उनका एक दूसरे से भेद नहीं किया जा सकता, यदि वे पृथक् हों तो हेतु से हम साध्य पर नहीं पहुँच सकते। इसका उत्तर यह है कि हेतु या तो सीधे सम्पर्क द्वारा (यथा रस्सी और डण्डा मिट्टी के संपर्क से घट उत्पन्न करते हैं) या दूर से ही (यथाश्येन यज्ञ से दूरस्थ शत्रु का नाश हो सकता है) कार्य की उत्पत्ति कर सकता है।

'प्रसंगसम' वह है जिसमें हेतु का कारण पूछा जाय। इस प्रकार, यदि किसी प्रयत्न के सद्य अनुसरण का धर्म (प्रयत्नान्तरीयकत्व) अनित्यता का हेतु हो, तो घट का प्रयत्नान्तरीयकत्व किससे सिद्ध हो सकता है, आदि? इसका उत्तर यह है कि केवल उसी चीज के लिए हेतु आवश्यक है जो स्वतः प्रमाण रूप में सीधा अनुभव में न आए। इस बात का सीधा अनुभव होता है कि घट उनके उत्पादक प्रयत्नों का सद्य अनुसरण करता है, और इसे सिद्ध करने के लिए किसी तर्क या हेतु की वैसे ही आवश्यकता नहीं है जैसे जलते हुए दीपक को देखने के लिए किसी प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती है।

'दृष्टान्तसम' वह है जिसमें एक ही हेतु से दो पृथक् पृथक् निष्कर्ष निकलते हुए दीखते हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि घट और आकाश दोनों में प्रयत्नान्तरीयकत्व है (यथा खनन के प्रयत्न से पहले आकाशहीन ठोस मिट्टी के रूप में विद्यमान भूमिगत कूपों के खनन से नया आकाश उत्पन्न हो जाता है—कूपखनन-प्रयत्नानन्तर तदुपलम्भात्, और इस धर्म को इसलिए प्रयत्नान्तरीयक माना जाना चाहिए), फिर भी जिस प्रकार घट अनित्य है और आकाश नित्य उसी प्रकार शब्द प्रयत्नान्तरीयक होने पर भी नित्य है। इसका उत्तर यह है कि, यदि ऐसा प्रतिकूल निष्कर्ष निकाला जाय तो एक पृथक् हेतु देना पड़ेगा जो वर्तमान अवस्था में नहीं दिया गया है।

यदि शब्द अनित्य है तो इसमें प्रयत्नान्तरीयकत्व होना आवश्यक है परन्तु इसके उत्पन्न होने अथवा अस्तित्व में आने से पहले उसमें वह धर्म कैसे आ सकता है? यदि उसमें उस काल में वह धर्म नहीं आ सकता है तो वह अवश्य ही नित्य होगा क्योंकि इसकी अनित्यता के हेतु अविद्यमान हैं। इस आपत्ति को अनुत्पत्तिसम कहते हैं। इसका उत्तर यह है कि जबतक शब्द का अस्तित्व नहीं है तबतक उसकी नित्यता अथवा अनित्यता की चर्चा नहीं की जा सकती। यदि वह अस्तित्व-हीन है, तो विपक्ष द्वारा किसकी नित्यता का प्रतिपादन किया जा सकता है।

'दृष्टान्त' वह है जिस पर जनसाधारण और पंडितों का मतैक्य हो, क्योंकि दृष्टान्तों मे वे तथ्य होते हैं जो सबको प्रत्यक्ष हैं और सबको ज्ञात हैं यथा अग्नि उष्ण

पुन यह तर्क किया जा सकता है कि शब्द मे प्रयत्नान्तरीयकत्व है और इसलिए इसके अनित्य होने की आशा की जा सकी है, इसके इन्द्रिय गोचर होने के कारण अन्य इन्द्रियगोचर विषयों की तरह इसके भी नित्य होने की आशा की जा सकती है। इस शंका को 'संशयसम' कहते हैं। जबतक किसी बात के शंका निवारक विशेष गुणों का ज्ञान नहीं होता, केवल तबतक ही कोई शंका शंका बनी रहती है। मनुष्य के और स्तम्भ के कई गुण समान होने पर भी, जब मनुष्य को विशेष लक्षणों (यथा उसका सिर हाथ और पैर से युक्त होना) का ज्ञान हो जाता है तो शंका नहीं रह सकती।

'प्रकरणसम' वह है जिसमें कोई इकाई हेतुओं के समान रूप से सबद्ध होती है ताकि कोई एक निश्चय सम्यक् रूप से नहीं निकाला जा सके। इस प्रकार शब्द में प्रयत्नान्तरीयकत्व और निरवयवत्व दोनों ही हैं। यद्यपि प्रथम के अनुसार उसे अनित्य कहा जा सकता है, फिर भी दूसरे के अनुसार उसे नित्य कह सकते हैं, इसलिए वह नित्य है। इसका उत्तर यह है कि प्रथम हेतु की भी सत्ता स्वीकार कर लेने के कारण, दूसरे हेतु को निश्चय तक पहुँचाने वाला नहीं कहा जा सकता।

किसी हेतु से किसी तर्क की उत्पत्ति नहीं हो सकती ऐसी आपत्ति को 'अहेतुसम' कहते हैं, क्योंकि यदि साध्य ही विद्यमान नहीं है, तो हेतु से किस चीज की उत्पत्ति होती है और फिर साध्य से पहले कोई हेतु विद्यमान नहीं है, तो साध्य की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? अत हेतु साध्य का केवल व्याप्तिकारक मात्र होने के कारण उससे कोई अनुमान सम्भव नहीं है। उत्तर यह है कि ऐसा पूर्णत सभव है कि पहले से ही विद्यमान हेतु से अविद्यमान साध्य की उत्पत्ति हो जाय। जहाँ उदाहरण के तौर पर, शब्द के निरवयव होने के तथ्य के कारण शब्द आकाश के सदृश प्रतीत हो और इस हेतु से वह नित्य प्रतीत हो वहाँ 'अर्थापत्तिसम' होता है। यह इस पूर्व प्रतिज्ञा के विरुद्ध है कि शब्द प्रयत्नान्त-रीयक होने के कारण अनित्य है। 'अविशेषसम' वह आपत्ति है कि यदि प्रयत्नान्त-रीयकत्व के समान धर्म से युक्त होने के कारण शब्द और घट दोनों को समान रूप से अनित्य मान लें तो सब पदार्थों के सत्तायुक्त होने के समान गुण के कारण वे सब पदार्थ एक से ही होंगे। इसका उत्तर यह है कि एक प्रकार की समानता का अर्थ सब प्रकार की समानता नहीं है।

जहाँ घट के प्रयत्नान्तरीयकत्व के कारण उसके अनित्य होने और आकाश के समान उसके निरवयव होने के कारण उसके नित्य होने की आशा की जाय वहाँ

है जल द्रव है, पृथ्वी कठोर है। सिद्धान्त वह है जिसको कोई पुरुष सम्यक् परीक्षा और उचित हेतुओं के निश्चय के पश्चात् प्राप्त करे। इस सिद्धान्त के चार प्रकार हैं (१) सर्वतन्त्र सिद्धान्त' अर्थात् सब मनुष्यों द्वारा स्वीकृत सिद्धान्त, यथा व्याधियों के कारण होते हैं, व्याधियां हैं साध्य व्याधियों का उपचार किया जा सकता है, (२) प्रतितन्त्रसिद्धान्त अर्थात् वे सिद्धान्त जो सबमान्य तो नहीं हैं परन्तु विशिष्ट पुस्तकों और व्यक्तियों तक ही सीमित है, यथा कुछ लोगों का कथन है कि रस आठ होते हैं, अन्यों का मत है कि रस छः हैं, कुछ का कथन है कि इन्द्रियां पांच हैं अन्यों का मत है कि इन्द्रियां छः हैं (३) अधिकरणसिद्धान्त अर्थात् वे सिद्धान्त जिनके सिद्ध अथवा स्वीकृत होने पर अन्य सिद्धान्त भी सिद्ध और स्वीकृत हो जाते हैं यथा यदि यह सिद्ध हो जाय कि निष्काम होने के कारण मुक्त आत्माओं को कर्मफल नहीं भोगने पड़ते हैं, तो कर्मफल भोग मुक्ति, आत्मा की सत्ता और मृत्यु के पश्चात् अस्तित्व के सिद्धान्तों को भी खण्डित मानना होगा, (४) अभ्युपगम सिद्धान्त अर्थात् व सिद्धान्त

उपपत्तिसम होता है। उपलब्धिसम वहां होता है जहां यह प्रस्तुत किया जाय कि शक्तिशाली तूफान में वृक्ष के टूटने पर होने वाला शब्द प्रयत्नान्तरीयकत्व का परिणाम नहीं होने पर भी अनित्य है, पुनः विद्युत मानव प्रयत्न का परिणाम न होने पर भी अनित्य है। इसका उत्तर यह है कि व्याप्ति प्रयत्नान्तरीयकत्व और अनित्यता के बीच है न कि अनित्यता और प्रयत्नान्तरीयकत्व के बीच ताकि मानव प्रयत्न से उत्पन्न सब कुछ अनित्य है परन्तु इसके विपरीत अवस्था में नहीं। यह और ध्यान रखना चाहिए कि प्रयत्नान्तरीयकत्व के द्वारा इस बात पर बल दिया गया है कि इस धर्म से युक्त सब पदार्थ उत्पन्न किए जाते हैं। अनित्यसम' वह आपत्ति है जिसमें उदाहरण के तौर पर यह कहा जाय कि यदि शब्द और घट की समानता के कारण शब्द अनित्य है तो जगत् में सारे पदार्थों का घट से कुछ न कुछ सादृश्य होने के कारण, सारे पदार्थ अनित्य होंगे। नित्य सम आपत्ति निम्न है शब्द की अनित्यता क्या अनित्य है या नित्य ? यदि नित्य है तो घट में नित्यता का गुण स्थिर रहने के लिए स्वयं घट का भी नित्य होना आवश्यक है।

कार्यसम आपत्ति में यह बताया गया है कि प्रयत्नान्तरीयकत्व दो प्रकार से उत्पत्ति का कारण है या तो सत्ताहीन को सत्ता में लाने के द्वारा, या आवरण से युक्त किसी पदार्थ से आवरण हटाने के द्वारा, और यह अनिश्चित रहता है कि शब्द के लिए किस प्रकार का प्रयत्नान्तरीयकत्व प्रयोजनीय है।

—उपर्युक्त सारी व्याख्या जयन्त कृत न्याय मंजरी पर आधारित है।

जिन्हें तर्क के लिए ही स्वीकार किया जाय और जिनकी न तो आलोचनात्मक रूप से परीक्षा की जाय और न जिन्हें सिद्ध ही माना जाय।[1]

वर्णसमाम्नाय का नाम 'शब्द' है, वह चार प्रकार का होता है अर्थात् (१) दृष्टार्थ–प्रत्यक्ष अर्थ का बोधक (यथा तीन हेतुओं से दोष कुपित हो जाते हैं) (२) अदृष्टार्थ–अप्रत्यक्ष अर्थ का बोधक (यथा पुनर्जन्म होता मोक्ष प्राप्ति), (३) सत्य अर्थात् जो तथ्यों से मेल खाता है, यथा "आयुर्वेद का अस्तित्व, उपचार साध्य रोगों का उपचार' (४) अनृत सत्य का उलटा।[2] संदिग्ध अर्थों के संदर्भ में 'संशय' का प्रयोग होता है। इस प्रकार अस्वस्थ और निष्क्रिय मनुष्य अकाल मृत्यु को प्राप्त होते हैं, जबकि स्वस्थ और चेष्टावान् मनुष्य दीर्घायुष्य को प्राप्त करते हैं। अतः इसमें संशय है कि क्या मृत्युकाल आने पर होती है अथवा अकाल ही। 'प्रयोजन' वह है जिसके लिए किसी काम को आरम्भ किया जाय। इस प्रकार कोई यह सोच ले कि यदि अकाल मृत्यु होती है तो मैं स्वास्थ्यकर आदतों को ग्रहण करूँगा और अस्वास्थ्यकर का त्याग करूँगा, ताकि अकाल मृत्यु मुझे स्पर्श न कर सके।[3] 'सव्यभिचार' का अर्थ है अस्थिरता, यथा इस व्याधि के लिए यह औषधि हो सकती है या नहीं हो सकती।[4] जिज्ञासा का अर्थ है परीक्षण किसी औषधि की उसकी सम्यक जिज्ञासा के पश्चात् ही सलाह देनी चाहिए। 'व्यवसाय' का अर्थ है निश्चय, यथा 'यह व्याधि वात की प्रधानता के कारण है इस व्याधि के लिए यह औषधि है'। अर्थप्राप्ति' सुविदित 'अर्थापत्ति' ही है। जब कुछ कहने पर कोई अन्य अनुक्त अर्थ भी कथित हो जाता है, उस समय अर्थप्राप्ति होती है यह अर्थप्राप्ति की अवस्था है जैसे इस कथन में रोगी को मात्रा व अन्नपान का प्रयोग करने देने से इस रोग का उपचार नहीं हो सकता– अन्तर्निहित अर्थ यह है कि इस रोग का उपवास के द्वारा

---

[1] ये सब सिद्धान्त न्यायसूत्र, १ १ २८ २९ ३० ३१ में इन्हीं नामों से मिलते हैं।

[2] 'दृष्टार्थ' और 'अदृष्टार्थ' ये पृथक् नाम न्यायसूत्र १ १ ८ में उपलब्ध होते हैं। स द्विविधो दृष्टादृष्टार्थत्वात्।

[3] सुख और दुःख के अर्थ के द्योतक प्रयोजन का न्यायसूत्र १ १ १ में उल्लेख है यद्यपि इसकी आलोचनात्मक परीक्षा कहीं भी नहीं की गई है। वात्स्यायन ने इसकी व्याख्या कम में मनुष्यों की प्रवृत्ति करने वाले के रूप में (येन प्रयुक्त प्रवर्तते) की है। उद्योतकर ने इसकी व्याख्या सुख प्राप्ति और दुःख हानि के अर्थ में की है। (सुखप्राप्ति दुःखहानि)।

[4] अनैकान्तिक सव्यभिचार न्यायसूत्र १ २ ५। उदाहरणार्थ, 'शब्द नित्य है क्योंकि यह अस्पृश्य है परन्तु अस्पृश्यता से नित्यता की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि स्पृश्य अणु नित्य है जबकि अस्पृश्य विचार अल्पायु है।

उपचार किया जा सकता है, अथवा यदि यह कहा जाय 'वह दिन में न खाये' तो उसका अर्थ होगा कि वह रात्रि में न खाये'।[1] जिस स्रोत से किसी चीज का उद्भव हो उसे 'सम्भव' कहते हैं, उदाहरणस्वरूप षड्धातुओं को गर्भ का सम्भव माना जा सकता है, अयुक्त आहार को रोग का और सम्यक चिकित्सा को स्वास्थ्य का।

'अनुयोज्य' का अर्थ दोषयुक्त उत्तर है जिसमें उन विवरणों को छोड़ दिया हो जिनका समावेश उत्तर में होना चाहिए, यथा यह रोग संशोधक उपायों द्वारा साध्य है' ऐसा कथन सदोष है क्योंकि इसमें यह नहीं कहा गया है कि संशोधन वमन द्वारा करना अथवा रेचन द्वारा। अनुयोज्य से जो भिन्न है वह अननुयोज्य होता है। किसी सम्भाषण में एक पंडित द्वारा अपने अन्य सहयोगी पंडित की प्रतिज्ञा के हेतु के विषय में जानकारी के लिए पूछा गया प्रश्न 'अनुयोग' होता है, यथा कोई पंडित कहे, 'पुरुष नित्य है' और अन्य पंडित पूछे 'इसका हेतु क्या है?' इस प्रकार का प्रश्न अनुयोग कहलाता है। इस प्रश्न के जवाब में अन्य प्रश्न यथा 'तुम्हारे इस प्रकार के प्रश्न पूछने का क्या हेतु है'? 'प्रत्यनुयोग' कहलाता है।

'वाक्यदोष' अर्थात् दोषपूर्ण कथन पांच प्रकार का होता है : न्यून, अधिक, अनर्थक, अपार्थक और विरुद्ध। न्यून अर्थात् अभाव का दोष वह होता है जिसमें तर्कवाक्य के लिए आवश्यक पांच वचनों में से किसी का अभाव हो। इसका प्रयोग उन अवस्थाओं में भी हो सकता है जिनमें किसी कथन की पुष्टि के लिए अनेकों हेतुओं की अपेक्षा होने पर केवल एक हेतु ही प्रस्तुत किया जाय और अन्यों को छोड़ दिया जाय और इस प्रकार मूल कथन के पक्ष का बल वास्तविक रूप से प्रमाणित हो। इस प्रकार पुरुष की नित्यता के पक्ष में उसका अनादित्व, अप्रयत्नान्तरीयकत्व, निर्विकारत्व, आदि कई हेतु दिए जाते हैं। इन सब हेतुओं का ऐसे का प्रस्ताव करना और केवल एक ही हेतु देना 'न्यून' का उदाहरण है। 'अधिक' वहाँ होता है जहाँ आयुर्वेद सम्बन्धी सम्भाषण के समय विपक्षी राजनीति अथवा दण्डनीति के पाण्डित्यपूर्ण उद्धरणों के असंगत संदर्भों का उल्लेख करता है। इसका अर्थ वे कथन भी हैं सकेत हैं, जिनमें शब्दों अथवा वाक्यों का अनावश्यक रूप से बार बार कहा जाय। इस प्रकार की पुनरुक्ति दो प्रकार की होती है, शब्द पुनरुक्ति और अर्थपुनरुक्ति। किसी एक ही शब्द का बार बार कथन, शब्द पुनरुक्ति होता है जबकि अर्थपुनरुक्ति वह है जहाँ भिन्न भिन्न शब्दों का प्रयोग करके भी केवल एक ही अर्थ का बार बार कहा जाय।

---

[1] चक्रपाणि का कथन है कि अर्थप्राप्ति को चरक पृथक् प्रमाण नहीं मानते हैं। उनके अनुसार यह अनुमान का ही एक रूप है, और इसलिए इसे प्रमाणों की सूची में सम्मिलित किया गया है।

'अनर्थक' और अपार्थक' का अर्थ है अर्थहीन और असम्बद्ध शब्दों अथवा वाक्यों का प्रयोग। 'विरुद्ध' का अर्थ है दृष्टान्त विरुद्ध' अथवा सिद्धान्त विरुद्ध कथन की उक्ति, यथा शीत जल उष्ण है, क्योंकि ज्वर भी उष्ण है, अथवा जब कोई वैद्य यह कहे कि औषधि रोगों का उपचार नहीं करती है।

'समयविरुद्ध' वह है जिसमें किसी शास्त्रविशेष के सिद्धान्तों के विरुद्ध कोई कथन किया जाय। इस प्रकार उदाहरणार्थ, यदि कोई मीमांसक कहे कि पशुओं की बलि न दी जाय तो यह कथन इस सिद्धान्त के विरुद्ध होगा कि पशु बलि दी जाय। अथवा, यदि किसी मोक्ष शास्त्र संबंधी किसी दर्शन में यह कहा जाय कि प्राणि हिंसा उचित है, तो यह उस शास्त्र के सिद्धान्तों के विरुद्ध होगा। वाक्यप्रशंसा ऐसे कथन को कहते हैं, जिसमें वाक्य दोष के अन्तर्गत वर्णित उपयुक्त दोष न हों।

छल' का अर्थ उस प्रत्युत्तर से है जिसमें विपक्षी के कथन का जानबूझकर गलत अर्थ लगाया जाय। इसके दो प्रकार हैं वाक्छल और सामान्य छल। 'नव' शब्द का अर्थ है नौ और नया' और यदि कोई अपने विपक्षी के बारे में कहे 'वह वैद्य नवतन्त्र है' (अपने शास्त्र का उसका अध्ययन नया नया ही है) और विपक्षी उत्तर दे 'मैंने नौ तन्त्रों का अध्ययन नहीं किया, मैंने तो एक तन्त्र का ही अध्ययन किया है, पूर्वपक्ष वाला आपत्ति करे मैं यह नहीं कहता कि आपने नौ तन्त्रों का अध्ययन किया, मैं तो यह कहता हूँ कि आप नवाभ्यस्ततन्त्र हैं (आपका शास्त्र का अध्ययन नया ही है), तो नवाभ्यस्ततन्त्र का अर्थ नौ बार पढ़ा हुआ भी हो सकता है और तब विपक्षी अच्छी तरह से कह सकता है मैंने तन्त्र का अध्ययन कई बार किया, न कि नौ बार, जैसा आप कहते हैं। यह 'वाक्छल' का उदाहरण है।

पुनः किसी वैद्य के यह कहने पर कि औषधि रोगों का उपशमन करती है विपक्षी वाक्य के सामान्यतम धर्मों का ग्रहण करके यह कहे कि इसका तो अर्थ यह निकलता है कि सत् अन्य सत् का ही उपचार करता है, और यदि यह ऐसा है तो कास के सत् होने (सत् कास) और क्षय के सत् (सत् क्षय) होने के कारण सत् कास को अन्य सत् क्षय का उपशमन अवश्य करना चाहिए। इसे सामान्य छल कहते हैं।[1]

---

[1] न्यायसूत्र में 'छल' का ठीक उसी प्रकार से वर्णन किया गया है जिस प्रकार यहाँ वर्णन किया गया है। न्यायसूत्र (१ २ १०) में 'छल' की परिभाषा की गई है 'वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्याछलम्' (किसी के वचन पर जानबूझकर गलत अर्थ लगाने के द्वारा किया गया विघात 'छल' होता है)। यह तीन वर्गों में विभक्त है वाक्छल सामान्यछल और उपचार छल, इनमें से वाक्छल ठीक चरक संहिता के वाक्छल के समान है और सामान्य छल भी उसी प्रकार चरक संहिता के सामान्य छल के समान है (ब्राह्मण भी किसी न किसी अर्थ में ब्राह्मण ही है, अब क्योंकि

'अहेतु' तीन प्रकार के होते हैं प्रकरणसम, संशयसम और वर्ण्यसम।[1] 'प्रकरणसम' वहां होता है जहां हेतु रूप में प्रस्तुत किसी चीज का सिद्ध करना शेष रह जाय।

ब्राह्मणशास्त्रों का सुविज्ञ है इसलिए व्रात्य भी शास्त्रों का सुविज्ञ है)। वाक्छल से ही सादृश्य रखने वाले उपचारछल का चरक संहिता में उल्लेख नहीं है। न्याय सूत्र १ २ १४ में इसकी परिभाषा की गई है धर्मविकल्पनिर्देशेऽर्थसद्भावप्रतिषेध उपचारछलम् (किसी कथन के एक ही अर्थ द्वारा यथा गौण अर्थ ग्राह्य होने पर, मुख्य अर्थ ग्रहण करना उस कथन का प्रतिषेध करना)। इस प्रकार यदि यह कहा जाय यह कुली गया है तो इसमें आपत्ति उठाई जा सकती है कि कुली मनुष्य होने के साथ साथ गधा नहीं हो सकता। फिर भी गौतम प्रायोगिक रूप में यह आपत्ति उठाते हैं कि छल की संख्या तीन माननी चाहिए न कि उपचारछल की सामान्य छल में गिनती करके दो ही माना जाय। इसका अर्थ है चरक द्वारा छल का दो वर्गों में विभक्त मानने के दृष्टिकोण की आलोचना। गौतम का तर्क है कि यदि कुछ सादृश्य के कारण उपचार छल को सामान्य छल में सम्मिलित किया जाय और छल को तीन की बजाय दो प्रकार का ही माना जा सकता है। अतः छलों में विद्यमान विशेष विभिन्नताओं को ध्यान में रखकर उनको तीन प्रकार का ही मानना चाहिए।

[1] न्यायसूत्र १ २ ४ में हेत्वाभास को पांच प्रकार का बताया गया है सव्यभिचार विरुद्ध प्रकरणसम, साध्यसम और कालातीत।

'सव्यभिचार' हेतु वह है जिसकी साध्य के साथ कोई अव्यभिचारी व्याप्ति न हो उदाहरणार्थ शब्द नित्य है क्योंकि इसे छूआ नहीं जा सकता, और जिसे छूआ जा सकता वह घट के समान अनित्य है। परन्तु अस्पृश्यता की नित्यता के साथ कोई अव्यभिचारी व्याप्ति नहीं है, क्योंकि अणु स्पृश्य भी है और साथ साथ नित्य भी और बुद्धि अस्पृश्य भी है और साथ साथ अनित्य भी।

'विरुद्ध हेतु' वहां होता है, जहां हेतु उस सिद्धान्त का ही खंडन कर दे जिस पर उसकी रक्षा आधारित है यथा यह विकारी जगत् अव्यक्त हो जाता है (विकारो व्यक्तेरपैति) क्योंकि यह अनित्य है (नित्यत्वप्रतिषेधात्), परन्तु इसके अव्यक्त होने पर भी यह विद्यमान है (अपेतोऽप्यस्ति) क्योंकि इसका विनाश नहीं होता (विनाशप्रतिषेधात्)। अब जो पदार्थ अनित्य है उसका विनाश हुए बिना रह नहीं सकता। नश्वरता और नित्यता साथ साथ नहीं रह सकती।

'प्रकरणसम' वहां होता है जहां एक ही पदार्थ में दो विरोधी हेतु विद्यमान हों ताकि उनमें से किसी एक द्वारा कुछ भी निश्चित रूप से कहा नहीं जा सके।

इस प्रकार जब यह कहा जाता है कि आत्मा अनित्य है क्योंकि वह शरीर से पृथक है, और शरीर अनित्य है क्योंकि यह अचेतन है तो यह आग्रह किया जा सकता है (दार्शनिकों की चार्वाक शाखा के अनुसार) कि हेतु रूप में प्रस्तुत स्वयं दोनों विषयों अर्थात् आत्मा का शरीर से पृथक्त्व और शरीर का अचेतनत्व को सिद्ध किया जाय, क्योंकि चार्वाकों के अनुसार शरीर चेतन और अनित्य है। नीचे दी गई टिप्पणी का अवलोकन यह प्रदर्शित करेगा कि यह 'प्रकरणसम न्यायसूत्र के प्रकरण सम' से पृथक् है। 'संशयसम' वह है जिसमें संशय के हेतु को किसी सिद्धान्त विशेष के हेतु के रूप में प्रस्तुत किया जाय, यथा यह मनुष्य आयुर्वेद के अंग का कथन करता है—क्या यह वैद्य है या नहीं ? वैद्य न होकर भी किसी मनुष्य ने कहीं पर आयुर्वेद के अंश को सुनकर यहाँ उसका कथन कर दिया हो। अतः अब आयुर्वेद के अंश का कथन उस मनुष्य के वैद्य होने अथवा न होने के विषय में हमें संशय में डाल देता है। यदि इसी का ही सिद्धान्त विशेष के हेतु के रूप में प्रस्तुत किया जाय और यदि यह कहा जाय

इस प्रकार यह उतने ही बलपूर्वक कहा जा सकता है कि 'शब्द नित्य है क्योंकि उसमें नित्य पदार्थों के गुण हैं जितने बल से यह कि शब्द अनित्य है क्योंकि इसमें अनित्य पदार्थों के गुण हैं' अतः इन हेतुओं में से किसी एक के द्वारा कोई भी निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता।

साध्यसम वहाँ होता है जहाँ स्वयं हेतु का ही सिद्ध करना पड़े। इस प्रकार इस तर्क में कि 'छाया चलती है इसलिए पदार्थ है छाया का चलत्व संशयग्रस्त विषय है और स्वयं इसको सिद्ध करने की आवश्यकता है। क्या छाया मनुष्य के समान चलती है अथवा ऐसा इस कारण होता है कि आवरण करने वाली ईकाई के चलने से विभिन्न स्थानों पर प्रकाश आवृत्त हो जाता है और उसके कारण विभिन्न स्थानों पर छायाओं का निर्माण होता है ?

कालातीत वहाँ होता है जहाँ स्वीकृत दृष्टान्त और साध्य के हेतुओं में अन्तर हो क्योंकि साध्य के हेतु के विषय में हेतु वस्तुतः हेतु नहीं है, क्योंकि हेतु और साध्य दो अनुक्रम क्षणों में विद्यमान होने के कारण अन्यापन्न हैं स्वीकृत दृष्टान्त के हेतु के विषय में वे व्यापन्न और युगपत् हैं यथा वाक्य नित्य है क्योंकि रूप के समान यह भी दण्ड और मृदंग के सम्पर्क से प्रकट होने वाले संबंध विशेष यथा प्रकाश, के कारण उसी प्रकार प्रकट होता है जिस प्रकार प्रकाश और किसी वस्तु के संपर्क के कारण रूप प्रकट होता है। परन्तु सादृश्य असफल हो जाता है, क्योंकि जहाँ रूप प्रकाश और वस्तुओं के सम्पर्क के साथ युगपत् भाव से प्रकट होता है, वहाँ शब्द दण्ड और मृदंग के सम्पर्क के वास्तविक समय से पृथक समय पर सुनाई देता है।

'यह वैद्य है क्योंकि उसने आयुर्वेद के एक अंश का कथन किया है,' तो यह 'संशयसम' की अवस्था होगी। गौतम ने 'संशयसम' का कथन जाति के उदाहरण के रूप में किया है, परन्तु पूर्वपक्ष एक ऐसी दशा है जिसमें संशय का निवारण नहीं किया गया है क्योंकि साध्य विषय के दो विरोधी गुणों से युक्त होने के कारण, इन गुणों में से किसी एक के बल पर कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। तथापि 'संशयसम' का प्रयोग यहां इस अर्थ में किया गया है कि जो स्वयं संशयपन्न है उसी का ही किसी सिद्धान्तविशेष के हेतु के रूप में प्रस्तुत किया जाय।

'वर्ण्यसम' वहां होता है, जहां एक वस्तु के बारे में किसी वचन को ऐसे किसी अन्य वचन के बल पर कहा जाय जो स्वयं असिद्ध होने के कारण पूर्ववचन की समान अवस्था में हो, यथा 'अस्पर्शत्व के कारण शब्द के समान, बुद्धि भी अनित्य है'। परन्तु शब्द की अनित्यता को भी बुद्धि की अनित्यता के समान ही प्रमाण की अपेक्षा है और पूर्ववचन का कथन उत्तरवचन के आधार पर नहीं किया जा सकता। यह अहेतु साध्यसम' नामक जाति और पृष्ठ ३८६ के पादटिप्पण में वर्णित गौतम के साध्यसम हेत्वाभास के सदृश है।

'अतीत काल' वह है जिसमें पहले कही जाने वाली बात बाद में कही जाय, यथा प्रतिज्ञा पहले कही जानी चाहिए और निगमन बाद में यदि इसके स्थान पर निगमन का कथन पहले हो और प्रतिज्ञा का बाद में तो यह कालातीत दोष होगा।

'उपालम्भ (आलोचना) हेतुओं में दोष प्रदर्शित करने को कहते हैं, इसे ऊपर वर्णित 'अहेतु अथवा हेत्वाभास भी कहते हैं। विपक्षी द्वारा प्रस्तुत आपत्तियों के उत्तर को परिहार' कहते हैं। यथा आत्मा नित्य है क्योंकि जबतक यह शरीर में निवास करता है, तबतक यह जीवन के चिह्न प्रदर्शित करता है, और शरीर के विद्यमान होते हुए भी जब यह अलग हो जाता है तो जीवन का कोई चिह्न शेष नहीं रहता, अतः आत्मा शरीर से भिन्न है और नित्य है। प्रतिज्ञा हानि (अपनी प्रतिज्ञा का त्याग करना) वहां होता है जहां कोई मनुष्य विपक्षी द्वारा अभिभूत होकर अपनी मूल प्रतिज्ञा का त्याग करने के लिए बाध्य हो। इस प्रकार कोई इस प्रतिज्ञा से आरम्भ करे कि 'पुरुष नित्य है, परन्तु अभिभव को प्राप्त होकर वह इस प्रतिज्ञा को त्याग दे और कहे कि पुरुष अनित्य है। 'प्रत्यभिज्ञा' (प्रत्यारोपण करना) वह होती है जिसमें कोई विवादी विरोधी द्वारा अपने पर लगाए गए आरोपों का खंडन करने के स्थान पर विरोधी पर ही उन्हीं दावों का आरोपण करे।[1] हेत्वन्तर' (गलत हेतु द्वारा टालना) उसे कहते हैं जहां प्रकृति हेतु के पूछे जाने पर प्रकृति के विकार हेतु का

---

[1] यह न्यायसूत्र ५ १ ४२ की 'मतानुज्ञा के अनुरूप है।

वर्णन किया जाय।[1] 'अर्थान्तर' (गलत उत्तर) वह होता है जहां एक वस्तु (ज्वर के लक्षण पूछने पर दूसरी वस्तु (प्रमेह) के लक्षण कहे जायें।[2] 'निग्रह स्थान' उ कहते हैं जहां पंडित सभा में किसी वाक्य का तीन बार कथन करने पर भी विरोध उसका अर्थ न समझ पाए। चरक ने निग्रह स्थान में ऐसी कई बातों का समावे किया है जिनको पहले ही गिनाया एवं वर्णित किया जा चुका है। इस प्रकार उन्हों प्रतिज्ञा हानि, अभ्यनुज्ञा, कालातीत अहेतु न्यून, अतिरिक्त व्यर्थ अपार्थक, पुनरु विरुद्ध, हेत्वन्तर, अर्थान्तर का निर्देश किया है।[3]

इसके पश्चात् चरक आगे उन दस प्रकरणों का वर्णन करते हैं जिनका ज्ञा आयुर्वेद के प्रतिपाद्य विषय में पारंगत होने के लिए उनके विचार में आवश्यक है वे हैं, कारण (कर्त्ता अथवा प्रयोजक), करण (किसी प्रयत्न को कार्यरूप देने के लि कर्त्ता के लिए आवश्यक साधन) कार्य योनि (उपादान कारण, जिसके विकार से का उत्पन्न होता है) कार्य (जिसके उत्पादन के लिए कर्त्ता प्रयत्न करे), कार्यफल (जिसं प्रयोजन के लिए कर्त्ता किसी कार्य विशेष के संपादन की इच्छा करे), अनुबन्ध (का सम्पादन के पश्चात् कर्त्ता को अपने से बांधने वाला शुभ अथवा अशुभ फल), दे (स्थान), काल (ऋतु, दिन आदि), प्रवृत्ति (कार्य की उत्पत्ति के लिए आवश्य प्रयत्न और कर्म), और उपाय (कार्य के संपादन में समर्थ कर्त्ता की सहनशीलता औ

---

[1] न्यायसूत्र ५. २. ६ में हम हेत्वन्तर का उल्लेख मिलता है, परन्तु वह इस 'हेत्वन्तर से पृथक प्रतीत होता है। न्यायसूत्र में वर्णित हेत्वन्तर का अर्थ निम्न प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है। कोई सांख्यानुयायी यह कहे कि यह सम्पूर्ण पदार्थम जगत एक मूल कारण (प्रकृति) से उद्भूत है क्योंकि ये सब पदार्थ अवच्छिन्न हैं और जो अवच्छिन्न है वह एक ही मूल कारण (प्रकृति) से उद्भूत होता है इसका खंडन यह प्रदर्शित करके किया जा सकता है कि एकाधिक मूल कारण से उद्भूत कई अवच्छिन्न पदार्थ हैं। इसके उत्तर में सांख्यानुयायी यह कहता है कि केवल सुख दुःख और अज्ञान से युक्त पदार्थ ही एक मूल कारण से प्रादुर्भूत माने जाने चाहिए परन्तु यह बाद में जोड़ा गया है यह मूल प्रतिज्ञा में सम्मिलित नहीं था।

[2] न्यायसूत्र ५. २. ■ में इसका भी वर्णन है।

[3] न्यायसूत्र ५. २. १ में वर्णित निग्रह स्थान निम्न हैं प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर प्रतिज्ञा विरोध प्रतिज्ञासंन्यास हेत्वन्तर अर्थान्तर निरर्थक, अविज्ञातार्थ, अपार्थक, अप्राप्तकाल, न्यून, अधिक पुनरुक्त अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप मतानुज्ञा पर्यनुयोज्योपेक्षण निरनुयोज्यानुयोग अपसिद्धान्त हेत्वाभास। इनमें से कई का चरक ने भी उल्लेख नहीं किया है।

विशेष प्रवृत्ति, करण और उपादान कारण)। चिकित्सक 'कारण' है, औषधियां 'करण' है, धातुसाम्य का अभाव 'कार्य योनि' है धातुसाम्य का पुनःस्थापन 'कार्य' है शरीर और मन की प्रसन्नावस्था 'कार्यफल' है, आयु की दीर्घता 'अनुबन्ध' है, स्थान और रोगयुक्त मनुष्य 'देश' है वय और रोगी की अवस्था 'काल' है चिकित्सक के प्रयत्न 'प्रवृत्ति' हैं, चिकित्सक की योग्यता औषधियों के गुण आदि 'उपाय' हैं।

इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि विरोधी आलोचकों के खंडन करने और अपने मत को स्थापित करने में भिषजों के सहायक 'तन्त्रयुक्ति' नामक बत्तीस पारिभाषिक शब्दों का सुश्रुत के 'उत्तरतन्त्र' में भी उल्लेख है।[1] वे इस प्रकार हैं अधिकरण, योग, पदार्थ, हेत्वर्थ, उद्देश, निर्देश, उपदेश, अपदेश, प्रदेश, अतिदेश, अपवर्ग, वाक्यशेष, अर्थापत्ति, विपर्यय, प्रसंग, एकान्त, अनेकान्त, पूर्वपक्ष, निर्णय, अनुमत, विधान, अनागतावेक्षण, अतिक्रान्तावेक्षण, संशय, व्याख्यान, स्वसंज्ञा, निर्वचन, निदर्शन, नियोग, समुच्चय, विकल्प और ऊह्य। परन्तु ये पारिभाषिक शब्द शास्त्रीय विषयों की व्याख्या के लिए मीमांसा युक्तियों के समान युक्तियां हैं न कि विवादग्रस्त अथवा तर्क प्रकरणों के विषय। ऐसा कहा गया है कि ये युक्तियां कमल के लिए सूर्य के समान अथवा घर में दीपक के समान ही इस तन्त्र के विषय को प्रकाशित अथवा व्यक्त करने के लिए हैं।[2] यह कथन वात्स्यायन के इस कथन के सदृश है कि आन्वीक्षिकी सब विद्याओं की प्रकाशक है (प्रदीपः सर्वविद्यानाम्)। परन्तु तन्त्रयुक्ति और आन्वीक्षिकी के बीच में यह अन्तर है कि जहां आन्वीक्षिकी सम्यक् विचार के नियमों से सम्बद्ध है वहां तन्त्रयुक्ति चिकित्साविज्ञान की सामान्य रूप से और सुश्रुत संहिता की विशेष रूप से पारिभाषिक वर्णन शैली से सम्बद्ध हैं। इसलिए उनका सम्बन्ध उनके अभिव्यक्ति के संक्षिप्त रूपों से चिकित्साशास्त्र के गूढ़ अर्थों अथवा आशयों को जानने के तरीकों से है। इस प्रकार जब कोई शास्त्र में यह पढ़ता है रस अथवा दोष के विषय में और अन्य कुछ भी न कहा गया हो तो कोई भी यह समझ लेता है कि इस वर्णन शैली का अर्थ यह है कि यह 'अधिकरण' (व्याख्यान का विषय) है, और रस अथवा दोष के विषय में कुछ वर्णन किया जाने वाला है चाहे ऐसा स्पष्टतः वर्णन न किया गया हो। योग की तन्त्रयुक्ति का अर्थ है कि वाक्य के किसी भाग में स्थित क्रिया को वाक्य के अन्य भाग में स्थित उसके उपयुक्त पद से

---

[1] असद्वादिप्रयुक्तानां वाक्यानां प्रतिषेधानां स्ववाक्यसिद्धिरपि च क्रियते तन्त्रयुक्तितः।
—सुश्रुत संहिता उत्तरतन्त्र ६५.५।

[2] यथाम्बुजवनस्यार्कः प्रदीपो वेश्मनो यथा।
प्रबोध्यस्य प्रकाशार्थास्तथा तन्त्रस्य युक्तयः॥
—सुश्रुत संहिता उत्तर तन्त्र अ० ६५ श्लो० ७।

जोड़ा जाय।[1] 'पदार्थ' की तन्त्रयुक्ति का अर्थ है कि अनेकार्थ शब्द के प्रयुक्त होने पर केवल उसी अर्थ को ग्रहण करना चाहिए जो पूर्व और पर सदर्भों के अनुरूप हो। इस प्रकार जब चिकित्साशास्त्र मे यह कहा जाय कि अब हम वेदोत्पत्ति का व्याख्यान करेंगे तो वहाँ केवल आयुर्वेद अर्थ का ही ग्रहण होना चाहिए, न कि ऋक यजु अथवा अथर्व का। हेत्वर्थ' की तन्त्रयुक्ति अदृश्य वस्तुओं की अवस्था को दृश्य और ज्ञात दृष्टान्तो द्वारा प्रदर्शित करती है। यथा, यह कहा जाय कि जिस प्रकार मिट्टी का ढेला पानी के द्वारा घुल जाता है और चिपचिपा हो जाता है उसी प्रकार दूध और अन्य औषधियां अपने प्रयोग के द्वारा व्रण को घोल देती हैं। किसी विषय के विस्तार मे न जाकर सक्षेप मे उसका कथन करने की विधि उद्देश तन्त्र युक्ति होती है। यथा, जब कोई कहे शल्य,' तो उसका अर्थ होगा निर्विशेष रूप से आभ्यन्तर और बाह्य व्याधियां। किसी वस्तु के विस्तार से वर्णन करने की विधि निर्देश तन्त्र युक्ति होती है। सामान्य उपदेश देने की विधि को उपदेश तन्त्र युक्ति कहते हैं। यथा यह कहा जाय कि कोई मनुष्य रात को न जागे और दिन मे न सोए। यह तो केवल सामान्य उपदेश है इसके भी अपवाद हैं। वस्तुओं के कारण को प्रदर्शित करने की विधि को 'अपदेश' तन्त्र युक्ति कहते हैं। जैसे यह कहा जाय कि मधुर वस्तुओं के सेवन से श्लेष्मा बढ़ती है (मधुरेण श्लेष्माभिवर्धते)। प्रदेश' तन्त्रयुक्ति उस उदाहरण को कहते हैं जिसके द्वारा भूतकाल की कठिनाई को हल करने के क्रम के अनुसार ही वर्तमान की कठिनाई को हल किया जाय (प्रकृतस्यातिक्रान्तेन साधन प्रदेश)। यथा यह कहा जाय कि क्योंकि भूतकाल मे इसने इस प्रकार से देवदत्त का उपचार किया था तो अब यह उसी प्रकार यज्ञदत्त का भी उपचार करेगी। वर्तमान सकेत अथवा लक्षण से किसी भावी घटना का पूर्वाभास 'अतिदेश' तन्त्रयुक्ति होती है। जैसे किसी मनुष्य के शरीर मे ऊर्ध्ववायु की वृद्धि मे यह भविष्यवाणी की जाय कि उसे एक विशिष्ट प्रकार का आन्त्ररोग (उदावर्त) होगा। सामान्य निर्देशों मे अपवादों को स्वीकार करने पर अपवर्ज' तन्त्रयुक्ति होती है (जैसे, कीटों के दंश से विषाक्त होने के अतिरिक्त अन्य विषोपसृष्टि की दशाओं मे स्वेदन नहीं करना चाहिए)। सदर्भ द्वारा सकेतित परन्तु व्यक्त रूप मे अवर्णित भाव का ग्रहण करने मे वाक्यशेष' तन्त्रयुक्ति

[1] तलपिबेच्चामृतवल्लिनिम्ब
हिंसाभयावृक्षकपिप्पलीभि
सिद्ध बलाभ्या च सदेवदारु
हिताय नित्य गलगण्ड रोगे। —वही श्लोक ६, १०।

उपर्युक्त श्लोक म यह कहा गया है कि कई औषधियों को उबाल कर (सिद्धम्) एक विशेष प्रकार का काढा बनाया जाय और फिर उसे पीया जाय। परन्तु 'पिबेत्' शब्द प्रथम पक्ति मे और सिद्धम् शब्द तृतीय पक्ति म है और इन दोनो दूरस्थ पदो को युक्त करने (योग) की अनुमति है।

होती है। जैसे, जब यह कहा जाय 'सिर, हाथ, पैर पार्श्व पृष्ठ, उदर, हृदय व तो सदर्भ मे स्पष्टत प्रयुक्त होने पर भी सम्पूर्ण मानव का ग्रहण किया जाय। स रूप मे वर्णित न होने पर भी जिसे तात्पर्य से ग्रहण किया जाय उसे 'प्रर्थापत्ति त युक्ति कहते हैं। यथा, कोई मनुष्य कहे 'मैं चावल खाऊँगा, तो उससे यह सम जाता है कि वह भूखा है न कि प्यासा। 'विपर्यय' तन्त्रयुक्ति वह है जिसके कार किसी कथन के स्वीकार या निषेध करने से उसके विपरीत अर्थ का कथन हो जाता है यथा जब यह कहा जाय कि कृश, दुर्बल और भीरु स्वभाव के मनुष्य दु साध्य होते हैं 'प्रसग' तन्त्रयुक्ति वह है जिसके कारण अन्य अध्यायो मे बारबार वर्णित वस्तुओ ओर सकेत हो। 'एकान्त' तन्त्रयुक्ति म किसी वस्तु के एक विशिष्ट कर्म को अनपव रूप से मान लिया जाय (यथा मदन फल वमनकारी है अर्थात् सभी अवस्थाओ म) 'अनेकान्त' तन्त्रयुक्ति वह है जिसके कारण कोई यह जान सके कि अमुक विषय बारे म मतवैभिन्य विद्यमान है। यथा कुछ आचार्यों का विचार है कि द्रव्य सव अधिक महत्वशाली है, जबकि अन्यो के विचार म रस, अन्य और आचार्यों के विच म विपाक अधिक महत्वशाली है। 'पूर्वपक्ष' और 'उत्तरपक्ष की तन्त्रयुक्तियो किसी विषय की प्रश्नोत्तर रूप में चर्चा करने की अनुमति होती है। 'अनुमत' तन्त्र युक्ति वह है जिसके कारण यह समझा जाय कि अन्य आचार्यों के मत का उल्ले करने पर उसका विरोध न होना उसकी स्वीकृति का सूचक है। 'विधान तन्त्रयुक्ति वह है जिसके कारण कोई यह जान पाता है कि किन्ही विषयो की गणना का वर्णन द्वारा अनुसरण करने पर वर्णनो को उसी क्रम म ग्रहण करना चाहिए, जिस क्रम में विषयो की गणना की गई है। 'अनागतावेक्षण' तन्त्रयुक्ति म किन्ही वस्तुओ के भविष्य मे वर्णन एव व्याख्या करने के लिए छोडने की अनुमति होती है और 'अति क्रान्तावेक्षण मे पूर्ववर्णित वस्तुओ की ओर सकेत करने की छूट होती है (यथा श्लोक स्थान मे कहा गया है कि इस विषय का वर्णन 'चिकित्सा अध्याय' में होगा और म य चिकित्सा अध्याय म यह कहा जाय कि इसका वर्णन श्लोक स्थान म हो चुका है)। सशय तन्त्रयुक्ति मे इस प्रकार के कथन किया जा सकता है जिससे पाठक के मन मे शका और सभ्रम उत्पन्न हो जाय। विस्तृत विवरण की विधि को व्याख्यान कहते हैं। अन्य साहित्यो म ग्राह्य अर्थ से भिन्न अर्थ मे शब्दो के प्रयोग की विधि को 'स्वसज्ञा अर्थात् पारिभाषिक प्रयोग कहते हैं (यथा आयुर्वेद म मिथुन का अर्थ मधु और घृत है)। निश्चित वचन को 'निर्वचन' कहते हैं। 'निदर्शन तन्त्रयुक्ति के अनुसार किसी वस्तु का अन्य वस्तुओ के दृष्टान्त के आधार पर वर्णन किया जा सकता है। जैसे यह कहा जाय कि जिस प्रकार किसी कमरे मे लगी आग हवा के कारण उत्तरोत्तर बढती ही जाती है उसी प्रकार किसी व्रण की वृद्धि भी, वात, पित्त और कफ के कारण होती है। 'नियोग' का अर्थ है आदेश (यथा पथ्य का ही सेवन करना चाहिए)। समुच्चय का अर्थ है दो या अधिक वस्तुओ को समान महत्वशाली रूप

मे ग्रहण करना । एकान्तर अथवा वकल्पिक निर्देशो को देने की विधि का ही 'विकल्प' कहते हैं । 'ऊह्य' वह तन्त्रयुक्ति है जिसके द्वारा सन्दर्भ से प्रत्यक्ष दीखने वाली वस्तुओं को समझा जाय ।

यह सरलता से देखा जा सकता है कि इन बत्तीस तन्त्रयुक्तियो मे कुछ तो भावों की व्याख्या करने के साधन हैं, अन्य शास्त्रीय शब्दो और उनके सम्बन्धो की व्याख्याओं और विधियो की व्याख्या करने के साधन हैं, जबकि अन्य और ऐसे भी हैं, जो शैली की विशेष विलक्षणताओ के वर्णन मात्र हैं । सकलनकर्त्ता (नागार्जुन) का कथन है कि मैंने इन सब तन्त्रयुक्तियो का सग्रह शास्त्रबोध के सामान्य सिद्धान्तो के रूप मे किया है और उन्होने इनको शब्दन्यायार्थ अर्थात् शाब्दिक व्याख्या के न्यायो का अर्थ कहा है ।

क्या तर्कशास्त्र आयुर्वेदीय चिकित्सकों के सभापण से उद्भूत है ?

अपने ग्रन्थ History of Indian Logic मे डा० महामहोपाध्याय विद्याभूषण ने बिना किसी कारण को प्रस्तुत किए यह मान लिया है कि चरक सहिता मे आन्वीक्षिकी के मुख्य सिद्धान्तो को सभवत मेधातिथि गौतम द्वारा प्रतिपादित रूप म सक्षेप म दे दिया गया है । उनका आगे कथन है कि आन्वीक्षिकी के सिद्धान्त प्रत्यक्षत पुनर्वसु-आत्रेय रचित मूल आयुर्वेद के अग नहीं थे और चरक काल मे पर्याप्त रूप म प्रचलित और प्रथित इन सिद्धान्तो का चरक सहिता मे समावेश सग्रहकर्त्ता चरक द्वारा किया गया प्रतीत होता है । डा० विद्याभूषण का मत है कि चरक और अक्षपाद दोनो ने न्याय सिद्धान्तो को मेधातिथि गौतम से ग्रहण किया, परन्तु जहाँ चरक ने उनको अपने प्राकृत रूपो मे अगीकार किया वहाँ अक्षपाद ने उनको न्यायसूत्र म आत्मसात् करने से पूर्व पूरी तरह से परिष्कृत कर लिया था ।[1]

परन्तु डा० विद्याभूषण का मेधातिथि गौतम न्यूनाधिक एक पौराणिक व्यक्ति ही है और ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि उन्होंने कभी कुछ लिखा हो अथवा चरक किसी बात के लिए मेधातिथि गौतम के ऋणी हैं अथवा चरक सहिता में उपलब्ध न्याय सिद्धान्त इस समय अप्राप्य अग्निवेशकृत मूल सहिता म नहीं थे । आन्वीक्षिकी के स्थापक के रूप मे गौतम का उल्लेख करने वाले कुसुमांजलि, नैषधचरित और न्यायसूत्रवृत्ति जैसे कई ग्रन्थो के साक्ष्य का उल्लेख किया है । परन्तु इन ग्रन्थो में से कोई भी दसवी शती ई० पू० से पहले का नही है । उन्होंने पद्मपुराण, स्कन्दपुराण और गन्धर्वतन्त्र

---

[1] महामहोपाध्याय सतीशचन्द्र विद्याभूषण द्वारा रचित History of Indian Logic पृ० २५-२६ कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९२१ ।

के वचनो का भी उल्लेख किया है पर तु इनमें से किसी को भी पर्याप्त प्राचीन ग्र थ नही माना जा सकता। स्वय वात्स्यायन ने अक्षपाद का उस व्यक्ति के रूप मे वर्णन किया है जिसको स्वय न्याय ने दर्शन दिए।[1] उद्योतकर और वाचस्पति भी अक्षपाद को न्यायसूत्र का प्रवक्ता बताते हैं।[2] अत अक्षपाद के विरुद्ध गौतम को न्याय का मूल-कर्तृ त्व ऐसे प्रमाण पर प्रदान करने का पूर्णत कोई कारण विद्यमान नही है जिस प्रमाण का चिह्न दशम शती के किसी पूववर्ती काल म नहीं मिलता और जो प्राचीन-तम न्याय ग्रथकारो द्वारा नियमित पौराणिक स्रोतो से सीधा सगृहीत है। अत प्राचीनतम याय आचार्यों के साक्ष्य के आधार पर यायशास्त्र के चिह्न किसी प्राचीन तर गौतम में खोजे नही जा सकते क्योकि यदि ऐसा होता तो वात्स्यायन, उद्योतकर अथवा वाचस्पति मे से किसी एक द्वारा निश्चय ही इसका वर्णन होता। जय त ने तो विशद यायशास्त्र को भी अक्षपाद कृत बताया है और ऐसा प्रतीत होता है कि इस विशद ग्र थ यायसूत्र, के किसी प्राचीनतर आचाय के प्रवचन पर आधारित होने का उ हें ज्ञान था।[3] यदि उ हे ऐसे कि ही आचार्यों का ज्ञान होता तो वे शास्त्र की प्रतिष्ठा और सम्मान के लिए उनका निश्चय ही वर्णन करते। गौतम एक प्राचीन नाम है और हम इसे ऋग्वेदीय ऋषियो म से एक के साथ (ऋक् १ ६२ ७८ ८५, ४ ४) सम्बद्ध पाते हैं, उनका वर्णन शतपथ ब्राह्मण (१ ४ १ १० ११ ४ १६ आदि) तत्तिरीय प्रातिशाख्य(१ ५) आश्वलायन श्रौतसूत्र (१ ३ २ ६ आदि) और अन्य ऐसे ही ग्र थो मे मिलता है, पर तु कही भी उनका वर्णन यायसूत्र के कर्त्ता के रूप में नही किया गया है। महाभारत के जिस अश के आधार पर डा० विद्याभूषण 'मेधातिथि गौतम का अपना सिद्धा त स्थापित करते हैं उसमे यह नहीं कहा गया है

---

[1] योऽक्षपादमृषिं न्याय प्रत्यभाद् वदता वर।
तस्य वात्स्यायन इद भाष्यजातमवतयत्।
—वात्स्यायन भाष्य, २ २४ ई० ४००।
उपयु क्त का डा० विद्याभूषण द्वारा लगाया यह अथ न्याय दर्शन ने अपने आपको अक्षपाद से पहले प्रदर्शित किया' अशुद्ध है।

[2] यदक्षपाद प्रवरो मुनीना
शमाय शास्त्र जगतो जगाद
उद्योतकर (ई० ६००) कृत यायवार्तिक की प्रारभिक पक्तिया।
'अथ भगवताक्षपादेन नि श्रेयसहेतौ शास्त्रे प्रणीते। वाचस्पतिकृत्त यायवार्तिक तात्पय टीका। न्यायवार्तिक के शब्द शास्त्र का डा० विद्याभूषण द्वारा किया गया अनुवाद 'व्यवस्थित रूप म न्यायशास्त्र भी अशुद्ध है।

[3] अक्षपादप्रणीतो हि विततो न्यायपादप
जय त भट्ट (ई० प ८८०) कृत न्याय मजरी की प्रारभिक पक्तियाँ।

कि मेधातिथि ग्रान्वीक्षिकी ग्रथवा याय के कर्त्ता थे ग्रौर न उसमे यह कहा गया है कि मेधातिथि ग्रौर गौतम एक ही व्यक्ति थे।[1] गौतम नाम गोत्रवाची नाम है, ग्रौर डा० विद्याभूषण द्वारा उल्लिखित महाभारतीय ग्रश का स्पष्ट ग्रथ यह है कि गौतम गोत्रीय महाप्राज्ञ मेधातिथि तपश्चर्या के व्रत म लीन थे। इस कथन की इस तथ्य से भी पुष्टि होती है कि डा० विद्याभूषण द्वारा उद्धत भास के ग्रश मे मेधातिथि का न्याय शास्त्र के ग्राचाय के रूप मे वणन है ग्रौर उसम उन्हें गौतम नही कहा गया है, ग्रौर न उन्हें न्यायशास्त्र का स्रष्टा ही कहा है।[2] ग्रत मेधातिथि के न्यायशास्त्र का प्रवतक होने का डा० विद्याभूषण का सिद्धान्त ताश के महल के समान धराशायी हो जाता है। डा० विद्याभूषण का मिथिला को मेधातिथि गौतम का जन्मस्थान बताना, मेधातिथि का कालनिणय, मेधातिथि गौतम सबधी फारसी उल्लेखो की ग्रगुत्तरनिकाय तथा ब्रह्मजालसुत्त के तथाकथित मेधातिथि गौतम सबधी उल्लेखो से एकात्मकता स्थापित करना भी कम कपोलकल्पना नही है।[3] न्याय की गौतम परम्परा का ग्रनुसरण करना ग्रावश्यक नही है, परन्तु प्रसगत यह वणन किया जा सकता है कि व्याधियो के कारण ग्रौर उपशमन का विचार करने के लिए एकत्रित ऋषि मडली म, साख्य (सभवत बुद्धिमान, दाशनिक ग्रथवा पडित के ग्रथ में) के रूप में ग्रात्रेय गौतम की भी गणना की गई है इन ग्रात्रेय के साथ साथ ही, एक ग्रन्य ग्रात्रेय का भी भिक्षु ग्रात्रेय[4] के नाम से वणन किया गया है। व्याधियाँ उत्पन्न होने ग्रौर उनके उपशमन से सबद्ध समस्याग्रो की चर्चा करने वाले ग्रनेको ऋषियो का चरक सहिता में उल्लेख है। इनमें से भारद्वाज ने ग्रायुर्वेद सीखने के हेतु इन्द्र के पास जाने के लिए ग्रपने ग्रापको प्रस्तुत किया था। व्याधियो के हेतु लिंग ग्रौर भेषज इन तीनो विषयो के ज्ञाता होने के कारण इन्द्र ने भारद्वाज को उक्त विषय का उपदेश दिया। भारद्वाज ने तीनो विभागो मे इस विशद शास्त्र का ग्रध्ययन करके इसे ऋषियों के सामने ठीक उसी रूप मे दुहराया है जिस रूप म उन्होने इसे सीखा था। ऐसा कहा जाता है कि इसके पश्चात् पुनवसु ने ग्रग्निवेश भेल ग्रादि ग्रपने छ शिष्यो को ग्रायुर्वेद की शिक्षा दी।

---

[1] मेधातिथिमहाप्राज्ञो गौतमस्तपसि स्थित ।
विमृश्य तेन कालेन पत्न्या सस्थाव्यतिक्रमम् ॥
—महाभारत, शान्तिपव, ग्र २६५ श्लोक ४५—वगवासी सस्करण।

[2] मेधातिथेर्न्यायशास्त्रम् (मेधातिथि से न्यायशास्त्र का ग्रध्ययन करके) —भास कृत प्रतिमानाटक' ग्रक ५ पृ० ७९ म० म० गणपति शास्त्री का सस्करण।

[3] डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण कृत History of Indian Logic पृ० १७–२१।

[4] ग्रात्रेयो गौतम साख्य। इस ग्रश मे ग्रात्रेय को प्राज्ञ गौतम से पृथक् मनुष्य के रूप मे ग्रहण किया जा सकता है।

चक्रपाणि का कथन है कि पुनर्वसु भारद्वाज के शिष्य थे और प्रमाण के रूप में हारीत के एक वचन को उद्धृत करते हैं। परन्तु इस विषय पर स्वयं चरक चुप हैं।

परन्तु आयुर्वेद के उद्गम के इस अर्धपौराणिक वर्णन के विषय में एक बात उभर कर सामने आती है वह यह कि आयुर्वेद व्याधियों के कारण की जाँच पड़ताल और उनके लक्षणों तथा चिह्नों को समझने से सम्बद्ध न्यायसंगत अनुमानों के लिए हेतु और लिंग के स्वरूप के अन्वेषण में प्रारम्भ से ही व्यस्त था। चरक के निदान स्थान में हेतु के आठ पर्यायवाची दिए गए हैं, अर्थात् हेतु, निमित्त, आयतन, कर्तृ, कारण, प्रत्यय, समुत्थान और निदान। यह पर्याप्त रूप से विस्मयकारक है कि 'प्रत्यय' और 'आयतन' शब्दों का प्रयोग किया गया है जो कि शायद बौद्ध शब्द हैं। बौद्धमत के अतिरिक्त, भारतीय दर्शन में 'प्रत्यय' शब्द का प्रयोग शायद ही कहीं पाया जाय। हेतु के द्योतक इतने पदों का प्रयोग प्रत्यक्षतः यह बताता है कि चरक के संकलन से पहले हेतु के द्योतक इन शब्दों का प्रयोग करने वाले एक विस्तृत साहित्य का अस्तित्व अवश्य था। वास्तव में, चरक संहिता में प्रत्यय शब्द की हेतु के पर्यायवाची के रूप में गणना होने पर भी, इस शब्द का उसमें हेतु के अर्थ में शायद ही कहीं प्रयोग हुआ हो। इसका स्वाभाविक आशय यही है कि 'प्रत्यय' शब्द का प्रयोग किसी ऐसे पूर्ववर्ती साहित्य में हुआ होगा जहाँ से चरक ने उसका संग्रह किया, ऐसे ही समुत्थान, आयतन आदि उन अन्य शब्दों के विषय में भी कहा जा सकता है जिनकी हेतु के पर्यायवाचियों में गणना तो की गई है परन्तु संहिता के कलेवर में वस्तुतः प्रयोग नहीं किया गया है। इससे हम यह सोच सकते हैं कि विभिन्न नामों के आधीन हेतु की चर्चा चरक से पूर्व विद्यमान उस आयुर्वेद साहित्य का पुराना विषय था, जिसमें से चरक ने उनका संग्रह किया है।

हम जानते हैं कि आयुर्वेद का सम्बन्ध मुख्यतः तीन प्रश्नों से था अर्थात् व्याधियों की उत्पत्ति कैसे होती है उनको कैसे जाना जाय और उन्हें शान्त कैसे किया जाय? इस सम्बन्ध में ही व्यावहारिक आवश्यकता के कारण कारणता के सिद्धान्त का सर्वप्रथम आयुर्वेद में प्रयोग किया गया। इस प्रकार यदि यह ज्ञात हो जाय कि किसी व्यक्ति को अकस्मात् ठंड लग गई है अथवा उसने किसी भोज का आनन्द लिया है तो शीत से ज्वर का और अतिभोजन से अजीर्ण का होना ज्ञात होने के कारण कोई भी मनुष्य प्रथम चिह्नों में ही एक दम यह अनुमान लगा सकता है कि रोगी को संभवतः ज्वर हो जाय अथवा अतीसार हो जाय अथवा गंभीर मन्दाग्नि हो जाय। अथवा यदि यह ज्ञात हो कि कोई रोगी कठिन अतीसार से पीड़ित हो तो यह अनुमान किया जा सकता है कि उसने अपथ्य पदार्थों का सेवन किया है। इस प्रकार आयुर्वेद चिकित्सकों के लिए व्यावहारिक महत्व के दो मुख्य प्रकार के अनुमान थे, व्याधि के हेतुओं की विद्यमानता के ज्ञान से किसी रोग के होने का अनुमान अर्थात् कारण से

काय का अनुमान, और रोगी के विशिष्ट प्रकार के रोग से विशिष्ट प्रकार की अस्वास्थ्यकर अनियमितता का अनुमान अर्थात् काय से कारण का अनुमान। अन्य और तीसरे प्रकार का अनुमान रोग के पूर्व रूप से ही रोग का अनुमान कर लेना है। रोगों के विशिष्ट पूर्वरूपों के आधार पर विशिष्ट रोगों के अनुमान की संभावना पर टीका करते हुए चक्रपाणि इस अनुमान की तुलना काले बादलों की घटाओं से वर्षा होने के अनुमान से अथवा कृत्तिका के पूर्वगामी रोहिणी नक्षत्र के उदय से कृत्तिका नक्षत्र के भविष्य में उदय होने के अनुमान से तुलना करते हैं। ये दोनों कारणत्व अथवा सहअस्तित्व की भावी घटनाओं के अनुमान की अवस्थाएँ हैं। फिर भी पूर्वरूप रोग के प्रकट होने पर पूर्णरूप से समाप्त हो जाने वाले सद्य तथा सदा संबद्ध रहने वाले पूर्वलक्षण के प्रकार का हो सकता है। जैसे, तीव्र ज्वर से पूर्व रोगी के रोम खड़े हो जाय यह रोमों का विशिष्ट प्रकार से खड़ा हो जाना न तो ज्वर का कारण है और न इसका उससे सह अस्तित्व ही है क्योंकि ज्वर के यथार्थ में आ जाने पर यह लुप्त हो जाय। तो भी इसका एक विशिष्ट प्रकार के ज्वर से ऐसा सम्बन्ध है कि इससे उस ज्वर का अनुमान लगाया जा सकता है।[1] फिर, रोग के अनेकों कारणों में से वास्तविक कारण के बारे में संशय होने पर चिकित्सक को कारण के सम्यक निर्धारण के लिए विभेद की विधि, उपशय की विधि का प्रयोग करना पड़ता है। सदृश वस्तुएँ एक ही प्रकार के कार्यों का कारण होती हैं और विपरीत वस्तुएँ विपरीत परिणाम को उत्पन्न करती हैं ये चरक संहिता में 'सामान्य' और 'विशेष' के नियम के दो सवमान्य स्वयसिद्ध प्रमाण हैं।[2] अब इन सिद्धान्तों का प्रयोग करते हुए यह कहा गया है कि किसी विशिष्ट प्रकार की अनियमितता के किसी विशिष्ट रोग का कारण होने के विषय में शंका होने पर परीक्षा द्वारा यह ज्ञात करना चाहिए कि आशंकित कारण (यथा शीत) से रोग (यथा ज्वर) बढ़ता है या नहीं, यदि इससे बढ़ता हो, और यदि इसके विपर्यय (यथा, उष्मा) के प्रयोग से रोग घटता हो, तो शीत को रोग का कारण मानना चाहिए। यदि किसी तत्व विशेष के प्रयोग से काय (रोग विशेष) की वृद्धि हो और उसका विपर्यय उसका ह्रास करे, तो उस तत्व विशेष को उस काय विशेष का कारण मान सकते हैं। चरक का मत है कि पूर्व घटित अथवा निकट भविष्य में घटित होने वाली व्याधियों के स्वरूप निर्धारण में निदान पूर्वरूप और अनुपशय सहित उपशय इन तीन प्रकारों का पृथक रूप से अथवा सम्मिलित रूप से

---

[1] चरक संहिता २ १ ७ पर अपनी टीका में चक्रपाणि ने इन दो प्रकार के पूर्व रूपों का इस प्रकार वर्णन किया है तच्च पूर्वरूप द्विविधमेकं भाविव्याध्यव्यक्त लिंगम् द्वितीय तु दोषदूष्यसम्मूर्च्छनाजन्यमव्यक्तलिंगादन्यदेव यथा ज्वरे बालप्रद्वेषरोम-हर्षादि।

[2] चरक संहिता १ १ ४४।

प्रयोग करना चाहिए।[1] इस प्रकार चरक का निर्देश है कि चिकित्सक को इन तीनों प्रकारों के प्रयोग द्वारा व्याधियों के कारणों की ध्यानपूर्वक परीक्षा करनी चाहिए ताकि उनके प्रत्यक्ष कार्यों के आधार पर उनका निर्धारण हो सके। तत्पश्चात् चरक ने अनेकों व्याधियों के और उनके स्वरूप निर्धारण में सहायक कारणों अथवा पूर्व रूपों के दृष्टान्त दिए हैं। इसके बाद उनका कथन है कि प्रारम्भ में किसी कारण को केवल कार्य रूप में प्रकट होने वाली कोई व्याधि अन्य व्याधियों का कारण बन सकती है और इस प्रकार उसे कार्य और कारण दोनों माना जा सकता है। अतः कारण और कार्य में कोई परम अन्तर नहीं है और कोई भी कारण कार्य हो सकता है तथा कोई कार्य भी कारण रूप में बदल सकता है। कभी कभी कोई व्याधि अन्य व्याधियों का कारण बन जाता है और तत्पश्चात् स्वयं समाप्त हो जाती है, जबकि पुनः एक व्याधि अपने द्वारा उत्पादित अन्य व्याधि के साथ विद्यमान रह सकती है और अपने कार्य को गंभीर बना देती है। पुनः यथा एक व्याधि (कारण) अन्य व्याधि (कार्य) को उत्पन्न कर दे और यह कार्यभूत व्याधि अन्य व्याधि को उत्पन्न कर दे। इस प्रकार एक कारण एक तथा उसी प्रकार के अनेक कार्यों को उत्पन्न कर सकता है, और एक कार्य एक अथवा अनेक कारणों का कारण हो सकता है, और फिर अनेकों कारण सम्मिलित रूप से अनेकों कार्यों को उत्पन्न कर सकते हैं। यथा, ज्वर, अपस्मार आदि सब रूक्षता से उत्पन्न होने पर भी विशेष परिस्थितियों में इससे केवल ज्वर ही उत्पन्न हो सकता है। पुनः ज्वर ऐसे अनेकों कारणों के समुदाय से भी उत्पन्न हो सकता है जिनके सम्मिलित रूप से अन्य परिस्थितियों में अनेक व्याधियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। अतः एक इकाई एक अथवा अनेक घटनाओं का लिंग हो सकती है और एक घटना के अनेक लिंग भी हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, स्वास्थ्य सम्बन्धी अनियमितताओं का ज्वर सामान्यतः लिंग है और सब प्रकार के ज्वरों का लिंग ताप है। कुछ निश्चित प्रकार के विकारों से ज्वर का अनुमान हो सकता है परन्तु वे अन्य अनेकों व्याधियों से सम्बद्ध हो सकते हैं।[2]

अतः यह स्पष्ट है कि रोगों के निदान और उनके कारण तथा उपशमन के सदर्भ में कारण और कार्य के स्वरूप का विनिश्चय तथा अव्यभिचारी व्याप्ति के तथ्यों अथवा घटनाओं का अनुमान आयुर्वेद चिकित्सकों के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक थे। इसी हेतु से चरक ने अनुमान को तीन वर्गों में विभक्त किया, कारण से कार्य, कार्य से कारण, और अन्य प्रकार के लिंगों के सबंध से। अक्षपाद के न्यायसूत्र में

---

[1] अन्य दो प्रकारों सम्प्राप्ति और रूप की इस सम्बन्ध में चर्चा करना आवश्यक नहीं है।

[2] देखिए चरक संहिता २. ८. २२-२७।

ऐसे पद हैं जो नागार्जुन की 'माध्यमिक कारिका' से और लंकावतार-सूत्र तथा बौद्ध विज्ञानवाद के सिद्धान्तों से लिए गए प्रतीत होते हैं, और इस हेतु यह सामान्य धारणा है कि न्यायसूत्र की रचना द्वितीय या तृतीय शती ई० प० में हुई।[1] न्यायदर्शन के इस मौलिक तथा प्राचीनतम ग्रन्थ में अनुमान को तीन प्रकार का बताया गया है, पूर्ववत्—कारण से कार्य, शेषवत्—कार्य से कारण और सामान्यतोदृष्ट—कार्यकारण संबंध के अन्तर्गत ग्रहण न होने पर सादृश्य पर आधारित अनुमान। अब अनुमान के ठीक इन्हीं तीन प्रकारों का चरक संहिता में वर्णन है, और, जहाँ तक इस लेखक को ज्ञात है, अनुमान का ऐसे व्यवस्थित ढंग से वर्णन करने वाला प्राचीनतम ग्रन्थ यही है, अतः इसको स्वभावतः वह स्रोत माना जा सकता है जहाँ से अक्षपाद ने अपने विचारों को ग्रहण किया। अब चरक की कृति को अग्निवेश की कृति का संशोधित रूप माना जा सकता है, अग्निवेश का ग्रन्थ अत्रि की शिक्षाओं पर आधारित था, और अत्रि की शिक्षाएँ भारद्वाज के उपदेशों पर आधारित थीं। इस समय अग्निवेश का ग्रन्थ अप्राप्य है और यह ज्ञात नहीं कि अग्निवेश की कृति के संशोधन में चरक का अपना अंशदान ठीक कितना था परन्तु चूंकि चरक संहिता में उपलब्ध न्याय विषयों का वर्णन करने वाला इससे प्राचीनतर समय का कोई हिन्दू बौद्ध अथवा जैन ग्रन्थ हमें प्राप्त नहीं है तथा चूंकि रोगों के निदान और उनके कारणों के निर्धारण हेतु होने वाले भिषक् सम्भाषणों का इन नैयायिक सम्भाषणों के साथ अच्छेद्य सम्बन्ध है, इसलिए यह मानना अत्यन्त स्वाभाविक प्रतीत होता है कि चरक ने अपनी सामग्री अग्निवेश से प्राप्त की, और अग्निवेश ने उसे संभवतः अपने पूर्ववर्ती स्रोतों से प्राप्त किया। प्रसंगवश यह कहा जा सकता है कि अक्षपाद ने जिन स्रोतों से संभवतः अपनी सामग्री प्राप्त की उनके प्रश्न की चर्चा करते हुए जयन्त ने न्याय मंजरी में संकेत किया है कि अक्षपाद ने संभवतः कुछ अन्य स्रोतों से एकत्रित सामग्री से (शास्त्रान्तराभ्यासात्) अपने ग्रन्थ का

---

[1] एच० यू० कृत Vaisesika Philosophy पृ० १६। L. Suali कृत Philosophia Indiana पृ० १४। J. A. O. Society खंड ३१ पृ० २९ १९११ में याकोबी का लेख।

नागार्जुन कृत प्रमाण विध्वंसन पर प्रमाण विध्वंसन संभाषित वृत्ति नामक टीका में नागार्जुन की पदार्थ की परिभाषा को ज्यों का त्यों उद्धृत किया गया है, नागार्जुन का पदार्थ अक्षपाद कृत न्यायसूत्र के प्रथम सूत्र में दी गई परिभाषा के समान ही है। परन्तु जैसाकि वालेसम ने अपनी पुस्तक Life of Nagarjun from Tibetan and Chines Sousces में प्रदर्शित किया है नागार्जुन के काल को निश्चित रूप से निर्धारित करना असंभव है। नागार्जुन दूसरी और चौथी शती ई० प० के मध्य किसी काल में रहे होंगे। अतः इस प्रकार के विमर्श से कोई फलप्रद परिणाम प्राप्त नहीं किया जा सकता।

विशदीकरण किया है परन्तु यह कहना कठिन है कि 'शास्त्रान्तर' से जयन्त का अर्थ आयुर्वेद से है। तथापि न्यायसूत्रों में वेदांग आयुर्वेद की प्रामाणिकता की उपमा से वेदों की प्रामाणिकता सिद्ध की है।[1]

न्यायसूत्र की द्रव्य की परिभाषा और चरक की परिभाषा का सादृश्य अत्यन्त स्पष्ट है, क्योंकि जहां न्यायसूत्र की परिभाषा 'तत्पूर्वक त्रिविध' (जहां 'तत्पूर्वक' का अर्थ 'प्रत्यक्षपूर्वकम्' है) से प्रारम्भ होती है वहां चरक संहिता की परिभाषा 'प्रत्यक्ष पूर्वक त्रिविध त्रिकाल' से प्रारम्भ होती है। परन्तु जहां चरक को अनुमान के केवल तीन प्रकार ही ज्ञात थे, वहां उन्हें इन तीन प्रकारों के नाम नहीं ज्ञात थे, जबकि अक्षपाद ने उनको प्रदान किए हैं, यथा पूर्ववत् (पूर्व अर्थात् कारण से संबद्ध) शेषवत् (शेष अर्थात् कार्य से संबद्ध) और सामान्यतोदृष्ट (भूत वर्तमान और भविष्य के दृष्ट सादृश्य से, जिस पर चरक ने भी उसी प्रकार बल दिया है)।[2] पूर्व पादटिप्पण में

---

[1] मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्। —न्यायसूत्र २. १. ६८।

यह सिद्ध करने की चेष्टा करते हुए कि चरक अपनी सर्वज्ञता के ही कारण अपना ग्रंथ लिख सके और कि उन्होंने शास्त्र को न तो अनुमान पद्धति से जाना और न उन्होंने उसे पूर्ववर्ती परम्परागत स्रोतों से ही प्राप्त किया जयन्त अपनी न्याय मंजरी में एक लम्बी चर्चा में उलझ गए हैं।

[2] एवं व्यवस्यन्त्यतीतं बीजात्फलमनागतम्।
दृष्ट्वाबीजात्फलं जातमिहैव सदृशं बुधाः॥ —चरक संहिता १. ११. २२।

न्यायसूत्र पर अपनी टीका में वात्स्यायन ने पूर्ववत् (कारण से कार्य) का उदाहरण घटा के उदय से वर्षा के अनुमान के रूप में दिया है शेषवत् (कार्य से कारण) का उदाहरण निम्न प्रदेश में आई बाढ़ से ऊँचे स्थानों में वर्षा के अनुमान के रूप में दिया है और सामान्यतोदृष्ट (व्यापार सादृश्य से) का उदाहरण भिन्न भिन्न कालों में आकाशीय पिण्डों के आकाश में अपने स्थान परिवर्तन से उनकी गति के अनुमान के रूप में दिया है। परन्तु उन्होंने पूर्ववत् शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट इन तीनों संज्ञाओं का एक अन्य अर्थ भी दिया है। यहां वे पूर्ववत् का अर्थ लगाते हैं सह अस्तित्व के भूतकालीन व्यापार की उपमा के आधार पर धूम से वह्नि का अनुमान, शेषवत् का अर्थ इस तथ्य का अनुमान कि शेष की विधि द्वारा शब्द न तो द्रव्य और न कर्म ही होने के कारण शब्द गुण है और सामान्यतोदृष्ट का अर्थ गुणत्व के हेतु से आधार रूप में किसी द्रव्य की अपेक्षा होने के कारण इच्छा के अस्तित्व से आत्मा के अस्तित्व का अनुमान। यह व्यापार सादृश्यजनित अनुमान नहीं है, अपितु एक वस्तु का दूसरी वस्तु के सादृश्य का (यथा इच्छा का अन्य गुणों से सादृश्य) दूसरी वस्तु (द्रव्य समवाय) के संबंध को पहली वस्तु (इच्छा) तक

वर्णित विमर्शों से यह अच्छी तरह मान लिया जा सकता है कि अनुमान की परिभाषा मे अक्षपाद का अगादान यह है कि उन्होने चरक संहिता मे वर्णित ऊपरी स्तर पर स्थित अनुमान के प्रकारों का नामकरण किया। यह असभव नहीं कि पांच वचनों का सिद्धान्त और वस्तुत अधिकांश अपने अन्य न्याय सम्बन्धी सिद्धान्तों को न्यायसूत्र

बढाने का अनुमान है अर्थात् यह अनुमान की इच्छा का भी द्रव्य म समवायी होना आवश्यक है।

पूर्ववत् और शेषवत् सज्ञाओं की व्याकरणानुसार द्विविध व्याख्या सम्भव होने के कारण (मतुप प्रत्यया त होने से 'उसका यह है' अर्थ मे और 'वति' प्रत्ययान्त होने से व्यापार सादृश्य के अर्थ म) और पूर्व' और शेष' शब्दों का भी दो अर्थों म प्रयोग सभव होने के कारण पूर्ववत् और शेषवत् सज्ञाओं की व्याख्या वात्स्यायन ने दो भिन्न भिन्न प्रकार से की है और यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि इन दोनो अर्थों मे उनको अनुमान का प्रकार प्रमाणित किया जा सकता है। यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि चरक द्वारा वर्णित त्रिविध अनुमानों का पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट ऐसा पहली बार नामकरण होना इन सज्ञाओं को निश्चित अर्थ प्रदान करने म वात्स्यायन द्वारा अनुभव की गई कठिनाई को स्पष्ट कर देता है क्योंकि उनका प्रचलन न तो परम्परागत और न ही वात्स्यायन के समकालीन साहित्य मे था। वात्स्यायन पर अपनी वृत्ति म, उद्योतकर इस विषय मे बिलकुल मौलिक विचारों को ही प्रस्तुत करते हैं। वे अक्षपाद के इस सूत्र, 'अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टं च' को लेते हैं और इसके अर्थ तत्पूर्वकम्, त्रिविधमनुमानम् और पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्ट च ये तीन खड कर देते हैं, प्रथम त्रिविध से उनका अर्थ विद्यमान उदाहरणों (अन्वयी), अभावयुक्त उदाहरणों (व्यतिरेकी) और दोनों के सयुक्त रूप (अन्वयव्यतिरेकी) से उत्पन्न अनुमान से है। उन्होंने पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट को दो सम्भव अर्थ दिए हैं, जिनम से एक के अनुसार पूर्ववत का अर्थ कारण से कार्य का तर्क शेषवत का अर्थ कार्य से कारण का तर्क, और सामान्यतोदृष्ट का अर्थ कारणता से भिन्न अन्य सम्बन्धों पर आधारित अनुमान है। सांख्यकारिका म इन अनुमानों का वर्णन है। माठर वृत्ति मे भी अनुमान के त्रिविध रूपों का दो प्रकार से अर्थ किया गया है, उसम कहा है, प्रथमत 'त्रिविध' का अर्थ यह है कि एक अनुमान म तीन वचन होते है और द्वितीयत इसके तीन प्रकार होते हैं यथा पूर्ववत (कार्य जैसे नदी की बाढ से कारण, यथा ऊपरी प्रदेश मे वर्षा, का अनुमान) शेषवत (अंश से सम्पूर्ण का अनुमान यथा कोई समुद्र-जल की बूंद को लवणयुक्त देखकर, सारे समुद्र के लवणयुक्त होने का अनुमान कर लेता है) और सामान्यतोदृष्ट (सामान्य सम्बन्ध) साहचर्य से अनुमान (यथा एक स्थान म आमों की मजरी

ने चरक से लिया हो, क्योंकि उससे पूर्ववर्ती कोई ऐसा ग्रन्थ नहीं है जिसमें उसके अवशेष ढूंढे जा सकें।[1] आत्मा, इन्द्रियों, मन और विषयों के सम्पर्क से उत्पन्न ज्ञान के रूप में चरक द्वारा दी गई 'प्रत्यक्ष' की परिभाषा अक्षपाद द्वारा दी गई प्रत्यक्ष की उस परिभाषा के लिए पूर्ववर्ती आदर्श के अत्यधिक सदृश प्रतीत होती है, जिसमें ग्रन्थ को अधिक जटिल और निश्चित करने के लिए तीन अन्य विशेषताओं को और जोड़ दिया है।[2] प्रारम्भ में प्रत्यक्ष के अनिश्चयात्मक (निर्विकल्प अथवा अव्यपदेश्य) होने का भाव परकालीन विकास है और न्यायसूत्रों से पूर्ववर्ती हिन्दू दर्शन में इसका पता नहीं चल सकता।[3] चरक में गिनाए गए वाद, जल्प, वितण्डा, छल, जाति, निग्रह स्थान आदि का न्यायसूत्र के पदार्थ के साथ सादृश्य इससे पहले विभाग में सम्यक् रूप से प्रदर्शित किया जा चुका है। दोनों समुदायों की गणनाओं और उनके विस्तार में एकमात्र अन्तर यह है कि चरक का वर्णन पूर्ववर्ती होने के कारण अक्षपाद के वर्णन की अपेक्षा अपूर्ण और कम जटिल है।

देखकर कोई यह अनुमान करे कि अन्य स्थानों पर भी आम मंजरीयुक्त होंगे)। यह पर्याप्त विस्मय की बात है कि माठर वृत्ति में सामान्यतोदृष्ट का एक ऐसा अन्य उदाहरण दिया गया है जो सामान्यतोदृष्ट के अब तक विचार किए गए उदाहरणों से बहुत भिन्न है। इस प्रकार इसमें कहा है कि जब कोई यह कहे 'बाहर प्रकाश है' तो दूसरा उत्तर देता है 'चांद अवश्य निकल आया होगा।

[1] न्यूनाधिक कपालकल्पित कारणों से श्री ध्रुव का विचार है कि पूर्ववत् और शेषवत् पद मीमांसासूत्रों से न्यायसूत्रों में लिए गए हैं और यह सूत्र इसलिए अवश्य ही अतिप्राचीन होगा (Proceedings and Transactions of the First Oriental Conference, Poona 1922) यह तर्क एकाधिक कारणों से अग्राह्य है। प्रथम यदि यह मान भी लिया जाए कि मीमांसासूत्र अतिप्राचीन है (जिसमें संदेह है) तो भी इन दो न्याय सम्बन्धी पदों का उससे गृहीत होना यह प्रदर्शित नहीं करता है कि यह अति प्राचीन ग्रन्थ होगा क्योंकि आधुनिक ग्रन्थ भी अपनी पदावली को प्राचीन ग्रन्थ से ग्रहण कर सकता है। दूसरा, कि इन तीन पदों के प्राचीन स्रोतों से गृहीत होने का तथ्य यह प्रदर्शित नहीं करता कि न्यायसूत्र का त्रिविध अनुमान का सिद्धान्त स्वयं इसका अपना योगदान है अथवा अतिप्राचीन है। माध्यवृत्ति के वात्स्यायन भाष्य से बाद की होने के श्री ध्रुव के तर्क भी अत्यन्त दुर्बल हैं और आलोचना की कसौटी पर टिक नहीं पाते हैं।

[2] इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारी व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।
—न्यायसूत्र, १ १ ४।

[3] चरक ने २ १ १० ४ में 'विकल्प' शब्द का प्रयोग 'उत्कर्ष' और 'अपकर्ष' (उत्कर्षप्रकर्षरूप) के भेद के अर्थ में किया है।

चरक संहिता के अत्यन्त साधारण अध्ययन से भी यह तथ्य अत्यधिक मात्रा मे स्पष्ट हो जाता है कि व्याधियो के सैद्धान्तिक कारणो और उनके उपशमन तथा व्यक्तिगत रोगो मे उनके वस्तुत व्यावहारिक ज्ञान दोनो के विषय मे सही निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए चिकित्सक लोग मन्त्रणा के समय गम्भीरतापूर्वक आपस मे सभाषण करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि सम्पूर्ण ग्रन्थ अत्रि की अध्यक्षता मे विद्वान वैद्यो के सभाषण का सग्रह है। जहाँ अधिक मत वैभिन्य है वहाँ उन सब मतो को लिख दिया गया है और उन पर स्वय अत्रि के मत को भी दे दिया गया है और, जहाँ न्यूनाधिक मात्रा मे मतैक्य था अथवा जहाँ अत्रि ने विशिष्ट समस्याओ पर प्रवचन किया वहाँ केवल उन्ही के मत का ही दिया गया है। यह भी वर्णन किया गया है कि विवाद मे किस प्रकार एक अच्छा और कुशल वक्ता अपने प्रतिपक्षी को न केवल न्याययुक्त और शास्त्रीय तरीको से अपितु पाडित्यपूर्ण प्रलाप एव अनुचित तर्क सबधी छलो द्वारा भी हरा सकता है। तीव्र प्रतिस्पर्धा के सम्मुख होने के कारण वैद्यो के लिए अजीविका उपार्जन करना एक व्यावहारिक आवश्यकता थी, और यह सरलता से देखा जा सकता है कि किस प्रकार—छल जाति, निग्रह स्थान आदि की नैयायिक चालो का न केवल सदा सत्यान्वेषण के लिए ही अपितु विपक्षी पर विजय प्राप्त करने के लिए भी शास्त्रार्थ की नियमित कला के रूप मे विकास हुआ। हमे शास्त्रार्थो, सभाषणो अथवा नैयायिक विवादो का चरक से कही अधिक प्राचीन साहित्य मे उल्लेख मिलता है परन्तु कही भी इस कला की प्राप्ति जीविका उपार्जन के लिए चिकित्सको के समान व्यावहारिक रूप से इतनी आवश्यक नही समझी जाती थी और अन्य किसी पूर्ववर्ती साहित्य मे इसके विकास का कोई उल्लेख न होने के कारण यह मानना तर्कसगत प्रतीत होता है कि वादविवाद की कला और उसकी सहकारी कलाओ का विकास चिकित्सा की परम्परागत उन शाखाओ मे प्राचीन काल से ही हुआ जिनमे से चरक ने उन्हे अपने ग्रन्थ मे सकलित किया। आयुर्वेद की शाखाओ मे वादविवाद की तर्कसगत कला का उद्गम इतना स्वाभाविक है और शास्त्रार्थ की कला के वर्गों को चिकित्सा क्षेत्र मे इतना बार बार लिया जाता है कि इस सदेह का कोई कारण नही है कि चरक संहिता के न्याय शाखा सम्बन्धी अशो को चरक ने चिकित्सेतर साहित्य से ग्रहण करके अपने ग्रन्थ मे जोड दिया होगा।

आयुर्वेदीय आचारशास्त्र

हमारे इस कलिकाल में मनुष्य का जीवन काल सामान्यत सौ वर्ष निर्धारित किया गया है। परन्तु अधर्म से युक्त पाप कर्मों के कारण सामान्य काल किसी भी सीमा तक घट सकता है। सामान्य अधार्मिक कर्म तो आयु के मान को केवल तभी घटा सकते हैं जब मृत्यु के भौतिक कारण जैसे विषप्रयोग व्याधियाँ आदि विद्यमान

हो। यदि इन भौतिक कारणों का निवारण हो सके तो मनुष्य अपनी आयु के सामान्य मान, सौ वर्ष, तक जीवित रह सकता है, जब शरीररूपी यन्त्र का लम्बे समय तक काम करते रहने के कारण स्वतः ह्रास होने लगता है। जो घोर अधम के पाप करने के कारण अभिशप्त नहीं हुए हैं उनके आयुष्य के सामान्य मान को तो औषधि बढ़ा सकती है। इसी स्थान पर चरक और उसके अनुयायियों का भारत भूमि पर पनपने वाले कर्म सम्बन्धी अन्य सब सिद्धान्तों से मतभेद है। चरक के अतिरिक्त अन्य किसी विचारधारा में इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया गया है। इन सिद्धान्तों में प्रचलित अनेकों मतभेदों के उपरान्त भी उन्हें मोटे तौर पर चार वर्गों में बाँटा जा सकता है। इस प्रकार सर्वप्रथम 'पुरुषवादिन्' आते हैं, यथा वे लोग जो योगवाशिष्ठ दर्शन शाखा के अनुयायी हैं और जो हमारे सारे अनुभवों को इच्छा के दृढ़ निश्चयात्मक प्रयत्नों द्वारा नियन्त्रण में रखने योग्य मानने एवं पूर्व-जन्म, दैव तथा भाग्य के किसी भी बन्धन को इसके द्वारा अनियन्त्रण के योग्य और अनतिक्रम्य न मानने के कारण परले सिरे के अध्यात्मवादी हैं। मानव इच्छा सर्वशक्तिमान् है और इसके द्वारा हम अपने भावी कल्याण के विकास में किसी प्रकार का कोई भी परिवर्तन उत्पन्न कर सकते हैं। पुनः यह मत भी है कि हमारे सम्पूर्ण कर्मों के लिए परमात्मा ही उत्तरदायी है, और वही उनका निर्णय करता है जिससे वह अच्छे कार्य करवाना चाहता है और जिनको वह पतित करना चाहता है उनसे पापकर्म करवाता है। एवं यह मत भी है कि परमात्मा हम अपने शुभ और अशुभ कर्मों का फल देता है अथवा उनके लिए यथा प्रपत्र्य लेता है, और केवल हम ही अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी हैं तथा अपनी इच्छानुसार कर्म करने में स्वतन्त्र हैं। पातंजल योगसूत्र में वर्णित एक मत और भी है कि हमारे जन्म की योनि-विशेष हमारा आयुष्य और हमारे सुख दुःख का स्वरूप सब हमारे कर्मों द्वारा निर्धारित होते हैं। साधारणतः पूर्वजन्म के कर्मों के फलों को इस जन्म में भोगना पड़ता है और इस जन्म के कर्मों के परिपाक के अनुसार ही भावी जन्म का स्वरूप, आयुष्य और सुख दुःख का निर्धारण होता है जबकि अत्यन्त शुभ अथवा अशुभ कर्मों का फल इसी जन्म में मिल जाता है। इन मतों में से किसी एक मत में भी हम चरक के समान इस प्रकार का व्यावहारिक बुद्धिगम्य कथन उपलब्ध नहीं होता, क्योंकि इसके अनुसार केवल घोर अशुभ कर्मों के फल को ही सदाचार के सामान्य प्रयत्नों द्वारा नहीं रोका जा सकता। सम्यक् सतुलित आचरण और उचित औषधियों के प्रयोग आदि के सामान्य भौतिक साधनों द्वारा सब साधारण कर्मों के फलों को रोका जा सकता है। इसका आशय यह है कि अपने स्वास्थ्य की उचित देखभाल में बरते गए सामान्य आचारविहीन कर्म, उचित वाजीकरण, औषधि आदि का सेवन, हमारे कर्म के मार्ग को अवरुद्ध कर सकते हैं अथवा बदल सकते हैं। जैसे अपने सामान्य कर्मों के फल से मुझे रोगी हो जाना चाहिए परन्तु यदि मैं उचित ध्यान रखूँ तो मैं ऐसे कर्म फलों से बच सकता हूँ और

स्वस्थ भी रह सकता हूँ। अन्य मतों के अनुसार कर्म के विधान अपरिवर्तनीय हैं। केवल अपरिपक्व कर्म के फल ही यथार्थ ज्ञान द्वारा नष्ट किए जा सकते हैं। पक्व कर्म के फलों को तो हर अवस्था में भोगना ही होगा, चाहे यथार्थ ज्ञान ही क्यों न प्राप्त हो जाए। चरक के सिद्धान्त की विशेषता इस बात में है कि उन्होंने परिपक्व कर्मों की इस अपरिवर्तनीयता का समावेश नहीं किया। अत्यन्त शक्तिशाली कर्मों के अतिरिक्त अन्य सब कर्मों के फलों से युक्त आचरण को प्रत्यक्ष अनैतिक क्रम द्वारा सुधारा जा सकता है। साधारण तौर पर कर्म के विधान का तात्पर्य प्राणी के स्वकर्मज शुभाशुभ फलों के अनुसार विश्व के नैतिक शासन का सिद्धान्त है। हम अपनी इच्छानुसार कर्म करने में स्वतन्त्र भले ही हों, परन्तु घोर अधर्मों के अतिरिक्त, इह जन्म के हमारे कर्मों से ही हमारे भावी जीवन के भोगों का निर्धारण होता है, और इसलिए इह जन्म में किसी कर्म से इस जन्म के ऐसे किन्हीं दुःखों के निवारण की सामान्यतः आशा नहीं की जा सकती, जिनका भोग किसी मनुष्य के लिए उसके पूर्व-जन्म के कर्मों के अनुसार पहले से ही नियत हो चुका है। फिर कर्मों की नैतिकता अथवा अनैतिकता से ही उन कर्मों के भले या बुरे फलों का, उनकी सफलता और विफलता का निश्चय होता है। इसका आशय है हमारे अपने प्रयत्नों द्वारा अपने भाग्य के सीधे नियन्त्रण करने की हमारी शक्ति में अविश्वास। कर्म के सिद्धान्त में इस प्रकार यह विश्वास सन्निविष्ट है कि अपनी परिपक्वावस्था में फल देने में एक मात्र समर्थ हमारे कर्मों के अधार्मिक और धार्मिक तत्वों का रहस्यमय अस्तित्व है और उन कर्मों का परिपाक होता है। यदि यह सिद्धान्त स्वीकार कर लिया जाए कि अधर्म के अहितकारी और धर्म के हितकारी परिणाम स्वतः हो जाते हैं, तो इसके तर्कसंगत परिणाम इस संभावना को अस्वीकार करने के लिए हमें प्रेरित करते हैं कि केवल दैहिक कर्मों से ही कर्मों के फलों का संशोधन हो सकता है। इसलिए कर्मों के नैतिक गुणों की स्वीकृति हम उनके सीधे भौतिक परिणामों को अस्वीकार करने के लिए प्रेरित करती है। यदि किन्हीं सत्प्रयत्नों द्वारा मैं प्रमादावस्था प्राप्त करने में सफल हो जाता हूँ, तो यह तर्क किया जाता है कि मेरी सफलता मेरे वर्तमान प्रयत्नों के कारण नहीं है अपितु यह तो पूर्वनियत ही था कि मैं अपने पूर्वजन्म के शुभ कर्मों के परिणाम स्वरूप प्रसन्न होऊं। इसका कारण यह है कि यदि फल मेरे सामान्य प्रयत्नों का फल हो, तो यह सिद्धान्त धराशायी हो जाएगा कि सारे सुखों और दुःखों का अनुभव पूर्वजन्म के कर्मों के परिपाक के कारण होता है। दूसरी ओर यदि सारी सफलता या विफलता हमारे उचित अथवा अनुचित प्रयत्नों के कारण हो तो दुःख और सुख उत्पादन की अधर्म और धर्म की क्षमता स्वभावतः संदिग्ध हो जाती है और जिन दशाओं में हमारे उत्कृष्टतम प्रयत्न भी विफल हो जाते हैं उनका समाधान नहीं होता। परन्तु यदि हमारे सामान्य प्रयत्न जरा भी फलीभूत नहीं होते हैं और यदि हमारे अनुभव के प्रकार हर्ष और विषाद, और हमारा आयुष्य पूर्व निर्धारित ही हैं

तो हमारा कोई प्रयत्न भी जीवन के कष्टों के निवारण में समर्थ नहीं है, और इस प्रकार आयुर्वेद का प्रयोजन ही निरर्थक हो जाता है। सामान्य बुद्धि के विश्वास के अनुसार कोई मनुष्य भाग्य अथवा 'नियति' का केवल तब ही उल्लेख करता है, जब उत्कृष्ट प्रयत्न भी विफल हो जाते हैं और जब वह यह सोचने लगता है कि यदि कोई परम नियति नहीं हो तो उचित दिशा में किए गए प्रयत्न अवश्य ही सफल होंगे। चरक के सिद्धान्त में ऐसा ही व्यवहार बुद्धि का दृष्टिकोण समाविष्ट प्रतीत होता है। परन्तु प्रश्न उठता है कि यदि ऐसा है तो कर्म के विधान की अपरिवर्तनीयता कैसे सुरक्षित रह सकती है? चरक के विचार में केवल अत्यन्त शुभ अथवा अशुभ कर्म अपरिवर्तनीय स्वभाव के होते हैं। साधारण कर्मों के अन्य सब प्रभावों का हमारे प्रयत्नों द्वारा ठीक किया जा सकता है या रोका जा सकता है। चरक के मत में धर्म और अधर्म अस्पष्ट और रहस्यमय सिद्धान्त नहीं हैं कर्म के भौतिक पक्ष उनके उपदेशों में उपलब्ध नहीं होते हैं।[1]

ऐसा प्रतीत होता है कि चरक किसी कर्म के हितकारी होने को ही उसकी परीक्षा मानते हैं। मनुष्य को कर्म करने के पहले अपने कर्म के 'हित' का ध्यानपूर्वक निर्णय करना और अनुमान करना चाहिए अर्थात् यह ज्ञात करना कि यह उसके हित में होगा या नहीं, यदि फल उसके हित में हो, तो वह उसको करे और यदि फल उसके अहित के हो तो वह उसे न करे।[2] शुभ कर्मों का हमारा अन्तिम मान हमारे अपने हित में साधन में निहित है और इसी लक्ष्य की ओर हमारे मन और इन्द्रियों का सम्यक् निर्देशन और पथप्रदर्शन परमावश्यक है। यहाँ पर भी चरक अपने मध्यम मार्ग के सिद्धान्त का प्रयोग करते हैं और कहते हैं कि मन को अपने सही मार्ग पर रखने के उचित साधन अत्यधिक चिन्तन से बचना, आम्यमाण विषयों का चिन्तन न करना और मन को कमरत रखना है। विचार और भाव मन के विषय हैं और जैसाकि अभी अभी कहा गया है सब विचारों के अतियोग मिथ्यायोग और अयोग को दूर रखना चाहिए। हमारे सारे कार्यों के लक्ष्य आत्महित का वर्णन न केवल हमें हर्ष देने वाले तथा हमारी सुख सुविधा की सामग्री, मन की प्राकृतिक अवस्था और दीर्घायुष्य को प्राप्त कराने वाले के रूप में अपितु हमारे भावी जीवन में हितकारी के भी रूप में किया गया है। सद्वृत्त शरीर और मन के लिए आरोग्यकारी और हितकारी है और इन्द्रिय विजय प्राप्त कराता है।

---

[1] चरक संहिता ३ ३ २८-३८।

[2] बुद्ध्या सम्यगिदं मम हितमिदम् ममाहितमित्यवेक्ष्यावश्य कर्मणां प्रवृत्तीनां सम्यक् प्रतिपादेन इत्यहितकर्मपरित्यागेन हितकर्माचरणेन च।

—चरक १ ८ १७ पर चक्रपाणि की टीका।

कम से तीन स्रोत हैं (१) प्राणैषणा–आत्मरक्षा के लिए हमारी इच्छा, (२) धनैषणा–सुख सामग्री के लिए हमारी इच्छा, और (३) परलोकैषणा–भावी जन्म में सुख प्राप्ति की हमारी इच्छा। हम अपना हित न केवल इस जीवन में अपितु परलोक में भी चाहते हैं, और ये दोनों प्रकार के आत्महित हमारी त्रिविध एषणाओं–प्राणैषणा, धनैषणा और परलोकैषणा–में समाविष्ट हैं। सद्वृत्त न तो वेदविहित प्रेरणा के अनुसार वृत्त है और न वह वृत्त है जिसके कारण समस्त कामनाओं के निरोध के द्वारा अथवा सम्यक ज्ञान की प्राप्ति और मिथ्या ज्ञान की हानि के द्वारा अन्ततोगत्वा सारे शोक समाप्त हो जाएं, अपितु वह है जिसके कारण इन तीन एषणाओं की पूर्ति हो। पापों का कारण धर्मग्रन्थों के आदेशों का अतिक्रमण नहीं है अपितु सम्यक निर्णय में अथवा सम्यक विचार में त्रुटि होना (प्रज्ञापराध) है। सर्वप्रथम प्राणैषणा है अर्थात् आरोग्य और दीर्घायुष्य की कामना है, क्योंकि अन्य सब हितकारी पदार्थों के लिए प्राण पहली शर्त है। प्राणैषणा के बाद धनैषणा और जीवन के ऐसे कार्यों का संपादन है जिनसे इसकी पूर्ति हो। तीसरी आनन्दमय परलोक की एषणा। इस संबंध में चरक ने परलोक के अस्तित्व के विषय में एक संभाषण का समावेश किया है। उनका कथन है कि बुद्धिमान मनुष्य को परलोक के अस्तित्व के बारे में शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि ऐसी शंकाएं सद्वृत्त के अनुष्ठान में बाधक हो सकती हैं। अपनी इन्द्रियों द्वारा उसके अस्तित्व को न अनुभव करने में हमारे असमर्थ होने का तथ्यमात्र पर्याप्त मात्रा में बाधक प्रमाण नहीं है। कारण यह है कि इन्द्रियों द्वारा कभी भी ग्राह्य न हुई वस्तुएँ अनेकों हैं। जिन इन्द्रियों से हम अन्य वस्तुओं को ग्रहण करते हैं, वे स्वयं इन्द्रियग्राह्य विषय नहीं हो सकतीं।[1] यदि इन्द्रिय ग्राह्य वस्तुएँ अत्यधिक निकट अथवा दूर हों, अथवा ढकी हुई हों, यदि इन्द्रियाँ दुर्बल अथवा रोगग्रस्त हों, यदि मन अन्यत्र लीन हो, यदि मन सदृश वस्तुओं से मिश्रित हो, यदि उनका प्रकाश उनसे तीव्रतर प्रकाश से तिरोहित हो अथवा यदि वे अत्यन्त सूक्ष्म हों तो भी उनका ग्रहण नहीं किया जा सकता।[2] अतः यह कहना गलत है कि जो इन्द्रियग्राह्य नहीं है उसकी सत्ता ही नहीं है। फिर यदि यह तर्क किया जाए कि गर्भ में आत्मा का माता पिता से आना आवश्यक है तो यह कहा जा सकता है कि यदि गर्भ का आत्मा माता पिता में से किसी एक से प्रेषित हुआ तो आत्मा के निरवयव होने के कारण अवयवों में प्रेषित नहीं हो सकता और ऐसे पूर्ण प्रवास का अर्थ यह होगा कि माता पिता आत्माविहीन हो जाएंगे और मर जाएँगे। जैसेकि आत्मा

---

[1] यदेव तावदिन्द्रियं प्रत्यक्षमुपलभ्यते तान्येव सन्ति चाप्रत्यक्षाणि।

—चरक १ ११ ७।

[2] सतां च रूपाणामतिसन्निकर्षादतिविप्रकर्षादावरणात् करणदौर्बल्यान्मनोऽनवस्थानात् समानाभिहारादभिभावादतिसौक्ष्म्याच्च प्रत्यक्षानुपलब्धिः। वही, ११ ८।

माता पिता से बच्चे में प्रापित नहीं होता, उसी प्रकार न तो मन और न बुद्धि को ही प्रोषित हुआ कहा जा सकता है, और फिर यदि समस्त जीवों का अ य आत्माओं के स्थानान्तरण से उत्पन्न होना आवश्यक हो, तो माता पिता के बिना कीटों का प्रादुर्भाव किस प्रकार हो जाता है, जबकि अनेकों कीड़े बिना माता पिता के उत्पन्न होते हैं।[1] चेतना एक पृथक् और अनादि इकाई के रूप में विद्यमान है, और यह किसी अन्य द्वारा उत्पन्न नहीं की जा सकती। यदि फिर भी पृथक आत्मा को इसका कारण माना जाए, तो उस अन्य में ही इसे आत्मा से उत्पन्न माना जा सकता है।[2] चरक के अनुसार परलोक का सिद्धान्त मुख्यतः इस मत में सन्निहित है कि आत्मा का अस्तित्व है और यह अकृत है, और गर्भाशय में गर्भशुद्धि के एक निश्चित काल में आत्मा गर्भ से सबद्ध हो जाता है। सतान की माता पिता से भिन्नता में अन्य कारणों के न्यूनाधिक समान होने पर भी दो बच्चों के रग, आवाज रूप बुद्धि और भाग्य में भिन्न होने में, कुछ के सेवक होने और अन्यों के उनके धनी स्वामी होने में कुछ के सहज ही स्वस्थ होने और अन्यों के रोगी होने अथवा आयुष्य में भिन्न होने में, बिना किसी पूर्व शिक्षण अथवा अनुभव के बच्चों के रोना हसना अथवा डरना जानने से एक ही प्रकार के प्रयत्न से दो पृथक मनुष्यों को दो पृथक फल की प्राप्ति से, कुछ के किन्हीं विषय विशेष में सहज निपुण और अन्यों में मन्द होने से और अपने पूर्वजन्म को याद रखने वाले कम से कम कुछ व्यक्तियों के विद्यमान होने में हम उपलब्ध पुनर्जन्म के साक्ष्यों का चरक ने भी उल्लेख किया है, क्योंकि इन तथ्यों के आधार पर जो एकमात्र परिकल्पना की जा सकती है वह यह है कि ये भिन्नताएँ मनुष्य के पूर्व जन्म के उन कर्मों के कारण हैं जिन्हें अन्यथा 'दैव' भी कहा जाता है और यह कि इस जन्म के शुभाशुभ कर्मों के फल दूसरे जन्म में भोगने होंगे। एक पूर्ववर्ती विभाग में यह भी बताया जा चुका है कि बच्चा अपने बौद्धिक अंगों के लिए माता या पिता का ऋणी नहीं होता है। ये तो बच्चे के आत्मा के वरदान हैं अतः ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है कि बौद्धिक रूप से हीन किसी मनुष्य का पुत्र होने के कारण कोई बच्चा अवश्य ही मन्दबुद्धि होगा।

चरक का आगे और कथन है कि पुनर्जन्म के सत्य को सब सम्भव प्रमाणों द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है। वे प्रथम वेद वाक्यों का और दार्शनिकों के उन मतों का उल्लेख करते हैं जो लोक हित के लिए लिखे गए हैं और जो बुद्धिमान और धार्मिक पुरुषों के मतों के अनुकूल हैं और धर्म के उपदेशों के प्रतिकूल नहीं हैं।

---

[1] सस्वेदजानां मशकादीनां तथाद्भिज्जानां गण्डूपदादीनां चेतनानां मातापितरौ न विद्येते ततस्तेषामचेतन्य स्यान्मातापितरावचेतनकारणयोरभावात्।
—चरक २ ११ पर चक्रपाणि कृत टीका।

[2] इस विषय पर चक्रपाणि ने १ ११ १३ में भिन्न व्याख्या की है।

ऐसे लेखों में सदा दान, तप, हवन सत्यवादिता समस्त प्राणियों के प्रति अहिंसा और संयम का स्वर्ग के सुख और मोक्ष के साधन के रूप में उपदेश किया गया है। ऋषियों का कथन है कि मोक्ष अथवा पुनर्जन्म से छुटकारा केवल उनके लिए है जिन्होंने अपने सारे मानसिक और शारीरिक दोषों का पूर्ण रूप से परिमार्जन कर दिया है। इसका आशय यह है कि इन ऋषियों ने पुनर्जन्म के सिद्धान्त को सत्य मान लिया था, अन्य ऐसे भी ऋषि हुए हैं जिन्होंने पुनर्जन्म के सत्य की स्पष्ट रूप से घोषणा की थी। वेदों और ऋषियों के प्रमाण के अतिरिक्त प्रत्यक्ष भी पुनर्जन्म के सत्य को सिद्ध करता है। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि सन्तान प्रायः अपने माता पिताओं से बहुत भिन्न होती है, और एक ही माता पिता से उत्पन्न बच्चे भी रंग आवाज शारीरिक आकार मानसिक वृत्ति, बुद्धि और भाग्य में प्रायः बहुत भिन्न भिन्न होते हैं जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है। प्रत्यक्षतः अनुभूत इस सामग्री पर आधारित स्वाभाविक अनुमान यह है कि कोई भी अपने किए कर्मों के फल से बच नहीं सकता, और इसलिए पूर्वजन्म में जो किया गया है वह अविनाशी है और वह सदा वर्तमान जन्म में मनुष्य का उसके दैव या कर्म के रूप में अनुसरण करता है, जिसके फल उसके इस जन्म में प्रकट होते हैं। इस जन्म के कर्म पुनः फलों का संचय करते हैं जिन्हें अगले जन्म में भोगना होगा। सुखमय अथवा दुःखमय अनुभवों के वर्तमान फलों से भूतकाल के कर्मों के रूप में भूतकाल के बीजों का अनुमान होता है और वर्तमान बीज के रूप में वर्तमान के कर्मों से अन्य जन्म में सुखमय अथवा दुःखमय अनुभवों के रूप में उनके भावी फलों का भी अनुमान किया जा सकता है। इस अनुमान के अतिरिक्त अन्य हेतुओं से भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। इस प्रकार जीवमान गर्भ छः तत्वों के समुदाय से उत्पन्न होता है, जिसके साथ पारलौकिक आत्मा का सम्बन्ध अपरिहार्य है इसी प्रकार फल भी तभी भोग जा सकते हैं जब कर्म किए गए हों और तब नहीं जबकि कर्म न किए गए हों—बीज के अभाव में अंकुर नहीं हो सकते। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि भारतीय विचारधारा की अन्य किसी भी प्रणाली में पुनर्जन्म के सिद्धान्त को सिद्ध करने का ऐसा कोई प्रयत्न नहीं किया गया है, जैसा यहाँ किया गया है। न्याय दर्शन में इस सिद्धान्त को सिद्ध करने का किंचित् प्रयत्न इस आधार पर किया गया था कि बच्चों का रोना, दूध पीना और सहज भय में आशयगत रूप से पूर्व अनुभव विद्यमान है। परन्तु चरक एक व्यवस्थित ढंग से कई और बातों का लेते हैं और यथासम्भव विभिन्न तर्कसंगत प्रमाणों का सहारा लेते हैं। पुनः पातंजल योगसूत्र पर व्यास भाष्य में हमें कर्मफल के स्वरूप की चर्चा मिलती है। योगसूत्र २ १३ में यह कहा है कि पूर्वजन्म के कर्मों से किसी व्यक्ति के अच्छे अथवा बुरे अथवा दीन अथवा धनी कुल में जन्म विशेष आयुष्य और सुख दुःखों का निर्धारण होता है। परन्तु शरीर के भौतिक विभेद, वर्ण, शब्द स्वभाव, मानसिक वृत्ति और विशिष्ट बौद्धिक गुणों का पूर्वजन्म के कर्मों के कारण होना एक पूर्णतः नवीन विचार प्रतीत

होता है। फिर भी चित्ताकर्षक बात है कि बुद्धि में भिन्नता का कारण पूर्वजन्म के कर्मों को बताने पर भी चरक उन्हें नैतिक इच्छा के बल अथवा निर्बलत्व का कारण नहीं बताते हैं।

आगे चरक एक विशिष्ट जनपद में रहने वाले लोगों के दुष्कर्मों के सामूहिक युफ्ला का उल्लेख करते हैं जिनके कारण प्रायः महामारियाँ फूट सकती हैं। महामारियों का वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि ये वायु और जल के अनारोग्यकर हो जाने के कारण और देश और जलवायु की विगुणता के कारण होती है। वायु का ऋतु के अनुकूल न होना, मन्द और स्थिर होना, अत्यधिक तेज, अत्यधिक रूक्ष, अत्यधिक शीत, अत्यधिक उष्ण, परुष, अतिकुण्डली, अतिक्लिष्ट, पांशुयुक्त, धूमयुक्त अथवा दुर्गंधयुक्त होना वायु का अनारोग्य तत्व है। जल का अप्राकृतिक वर्णयुक्त दुर्गंधयुक्त अस्वादु प्रायः जलचर पक्षियों द्वारा उपेक्षणीय, मलों से युक्त (जब इसके स्वाभाविक गुणों का अभाव हो), अप्रीतिकर और क्षीण जलाशय होना पानी का अनारोग्यत्व है। देश अनारोग्यत्व तब होता है जब यह सरीसृप वन्य पशु मशक, शलभ मक्षिका, कीट मूषक, उलूक, श्माशानिक अथवा शृगालों से युक्त हो अथवा जब वन्यलताओं, तृण आदि से आच्छादित हो, अथवा जब खेती सूख जाय, वायु धूमयुक्त हो जाय आदि। काल का अनारोग्यत्व, जलवायु का अप्राकृतिक अवस्थाएं उत्पन्न होने पर होता है। महामारी की इन अवस्थाओं का कारण पूर्वजन्म के उन दुष्कर्मजनित अधर्मों को बताया गया है जो पुनः पूर्वजन्म के कुकर्मों के कारण किए जाते हैं। जब किसी देश, नगर अथवा जनपद के प्रधान पुरुष सद्वृत्त का उल्लंघन करते हैं और देश के लोगों को असद्वृत्त की ओर ले जाते हैं तो प्रजाजन भी अपने आचरण में अधर्मयुक्त और पापी हो जाते हैं और जनपदों के जनसाधारण के कुकर्मों के परिणाम स्वरूप, देवता उन स्थानों को त्याग देते हैं यथासमय वर्षा नहीं होती वायु, जल आदि सम्यक अवस्था में नहीं रहते और सम्पूर्ण देश विकारयुक्त हो जाता है और महामारियाँ फूट पड़ती हैं। इस प्रकार चरक के मत के अनुसार लोगों के कुकर्म सारे प्रदेश को विकारग्रस्त कर देते हैं और अन्ततोगत्वा उसका विनाश कर देते हैं। जब किसी देश का नाश अन्तःकलह के कारण होता है तब वह कलह भी अत्यधिक लोभ, क्रोध, मान और अज्ञान से वृद्धि को प्राप्त हुए लोगों के अधर्म के कारण होता है। महामारियां किसी प्रदेश विशेष के पौरजनों के संयुक्त अधर्मों के कारण होती हैं। परन्तु जिन्होंने ऐसे कुकर्म नहीं किए हैं कि उनको उनका दण्ड भुगतना पड़े वे मनुष्य महामारियां के फलने पर भी सम्यक औषधि सेवन द्वारा और धार्मिक जीवनयापन द्वारा अपने को उनसे बचा सकते हैं। अधर्म के कारण ही समस्त जलवायु संबंधी और अन्य प्राकृतिक विपदाओं के होने के अपने सिद्धान्त की स्थापना का प्रयत्न करते हुए चरक आगे कहते हैं कि प्राचीनकाल में मनुष्य धार्मिक वृत्ति के, हृष्ट पुष्ट शरीर के और अत्यन्त दीर्घायु होते थे और उनके जीवन की धार्मिक वृत्तियों के कारण ही

जलवायु सम्बन्धी विकार नहीं होते थे और न अकाल, शुष्कधा यता, अनावृष्टि तथा महामारी अथवा रोगों को उत्पन्न करने वाले अनारोग्यत्व ही होते थे। परन्तु सत्य-युग के अन्त मे कुछ धनी मनुष्य अति भोजन के कारण अति मोटे हो गए, अत वे जल्दी से श्रान्त हो जाते थे, और इसी हेतु वे आलसी हो गए और आलस्य के कारण उनमे सचय की वृत्ति आ गई उससे उनमे परिग्रह शीलता आई, और उससे लाभ आया। अगले युग त्रेता मे लाभ से अभिद्रोह का उदय हुआ, अभिद्रोह से अनतवचन, अनतवचन से काम, क्रोध, मान, द्वेष पारुष्य, अभिघात, भय, शोक और चित्तोद्वेग प्रवृत्त हुए। इस प्रकार त्रेतायुग में धर्म एक पाद से हीन हो गया और इसी हेतु कृषि आदि के पार्थिव उत्पान्नो मे भी एक पाद की न्यूनता आ गई और सजीव प्राणियो के शरीर उसी अनुपात म अपनी प्राण शक्ति से हीन हो गए उनका आयुष्य क्षीण हो गया और व्याधियो की वृद्धि होने लगी। इसी प्रकार द्वापर युग म पार्थिव पदार्थों की मात्रा म और आगे ह्रास हुआ और मानव शरीर की और आगे क्षीणता तथा अल्पायुता हुई।

यह स्मरण होगा कि सुश्रुत ३ १ मे ऐसा कहा गया है कि चि तन की चिकित्सा शाखा के कई व्यक्तियो की यह धारणा है कि यह जगत् या तो नियति के प्राकृतिक क्रम म 'काल' के कारण या स्वभाव, यदृच्छा अथवा ईश्वर की इच्छा के 'परिणाम के कारण अस्तित्व मे आया, और उन सबने इसे प्रकृति' अर्थात् जगत् का मूल कहा है।[1] परन्तु सांख्य 'प्रकृति के भाव म इन सब धारणाओ का अपने मे समावेश हो जाता है और इसलिए एक प्रकृति को जगत् के समव हेतु के रूप मे स्वीकार करना अधिक उचित है। इसकी व्याख्या करते हुए गयी का कथन है कि प्रकृति को परिणामशाली उपादान कारण मानना चाहिए जबकि काल, स्वाभाविक प्रक्रिया, आदि को जगदुत्पत्ति का नमित्तिक कारण मानना चाहिए। सुश्रुत के अनुसार

---

[1] प्रकृति के मूल प्रयोजन का कारण जगत् के मूल और उद्गम के विषय म जिज्ञासा का भाव हो सकता है। 'प्रकृति' का शाब्दिक अर्थ है उद्गम अथवा 'मूल'। इसलिए सांख्य सज्ञा के रूप म प्रकृति का पारिभाषिक प्रयोग होने से पहले, इस सज्ञा का प्रयोग सभवत जगदुत्पत्ति विषयक अन्य विवेचनो के सदर्भ म होता था। ऐसा प्रतीत होता है कि सांख्य प्रकृति की धारणा को ग्रहण कराने के लिए स्वभाव काल आदि के भावो को मिला दिया गया है और सांख्य की दो शाखाओ, कापिल शाखा और पातजल शाखा, का इस विवाद से जन्म हुआ कि प्रकृति 'यदृच्छा का परिणाम है अथवा ईश्वरेच्छा का परिणाम। पूर्वकाल मे विद्यमान जगदुत्पत्ति के सब वकल्पिक स्रोतो वे समुदाय द्वारा प्रकृति के भाव को प्राप्त किया गया और इस प्रकार वे सब प्रकृति के भाव में समाहित है।

चिकित्सा दर्शन में आत्माओं (क्षेत्रज्ञ) को सांख्य दर्शन के समान सर्वव्यापी नहीं (प्रसवगत) माना जाता है। ये क्षेत्रज्ञ अपने धर्म अथवा अधर्म के कारण मनुष्य अथवा अन्य भिन्न पशु के रूप में एक शरीर से अन्य शरीर में जन्मान्तर प्राप्त करते हैं क्योंकि सर्वव्यापी न होने पर भी वे नित्य हैं और मृत्यु द्वारा नष्ट नहीं होते। सांख्य अथवा वेदान्त के समान आत्माओं को स्वतः प्रकाश्य नहीं मानना चाहिए परन्तु उनका सुख दुःख के लिंगों से युक्त द्रव्य अथवा इकाई के रूप में अनुमान किया जा सकता है और वे सदा चेतना युक्त होते हैं, चाहे स्वयं उनको शुद्ध चेतन प्रकृति का न माना जाय। वे चेतनावन्त (चेतनायुक्त) है न कि चित्स्वरूप (चेतना के स्वरूप) हैं। वे 'परम सूक्ष्म' हैं और डल्हण इस विशेषण की व्याख्या इस अर्थ में करते हैं कि क्षेत्रज्ञ अणु जितने छोटे होते हैं। परन्तु नित्य चेतनायुक्त होने के कारण प्रत्यक्ष के द्वारा भी उनके अस्तित्व का ग्रहण हो सकता है। इन क्षेत्रज्ञों का जन्मान्तरण उनके कर्मों के धर्म अथवा अधर्म के आधार पर नियमित होता है। डल्हण का कथन है कि अति अधर्म के कारण उनका पशु योनि में जन्म होता है धर्म और अधर्म के सम्मिश्रण से वे मनुष्य योनि को प्राप्त होते हैं और धर्म प्राधान्य से वे देवयोनि को प्राप्त होते हैं। परन्तु चरक के अनुसार मनुष्य के जन्मान्तरण का धार्मिक अथवा अधार्मिक कर्मों से न केवल नियन्त्रण होता है अपितु प्रकृति की उत्पादनशीलता और उसके आरोग्यत्व अनारोग्यत्व भी नियन्त्रित होते हैं और जिन सहस्रों बातों में प्रकृति मनुष्य के हित में या अहित में होती है वे धर्म और अधर्म से ही निर्धारित होती हैं। इसलिए जीवन की मानवी दशाओं और वातावरण की सांसारिक दशाओं के अधिकांश के निर्धारण में धर्म और अधर्म को सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग माना जाता है। इस प्रकार का दृष्टिकोण जगत्सृष्टि के सांख्य सिद्धान्त के प्रतिकूल नहीं है क्योंकि इसमें भी यही कहा गया है कि प्रकृति का परिणाम मनुष्य के धर्म अथवा अधर्म से निर्धारित होता है, परन्तु ऐसा आशय होने पर भी मानव प्राणियों के धर्माधर्म के आधार पर जगत् दशाओं और जगत् परिणति का इतना स्पष्ट और विशिष्ट निर्धारण किसी भी सांख्य ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता है। मानव इच्छा की स्वतन्त्रता चरक ने प्रायः पूर्ण रूप से स्वीकार की है, और जहाँ पूर्व कर्मों के फल किसी परिपक्व प्रकार के नहीं हैं उनको हमारे प्रयत्नों द्वारा टाला या सुधारा जा सकता है। इस प्रकार हमारे प्रयत्नों का एक ओर तो भौतिक जगत् के विकास की अवस्थाओं के निर्धारक के रूप में ब्रह्माण्डीय अथवा विश्वजनीन प्रभाव होता है, और दूसरी ओर, व्यक्ति के भाग्य को निर्धारित करते हैं। हमारे कर्मों के फल हमारे जन्म हमारे अनुभव और बौद्धिक विशेषताओं को निर्धारित कर सकते हैं, परन्तु वे हमारी इच्छा के स्वरूप को निर्धारित नहीं करते है अथवा दिशा विशेष में प्रयोग करने के उसके बल को प्रभावित नहीं करते हैं।

चरक-संहिता में कर्म के स्रोत

चरक के कर्म स्रोतों की मुख्य विशेषता यह है कि उन्होंने तीन मूल एषणाओं को हमारे समस्त कर्मों के प्रेरक कारण माने हैं। जैसाकि पहले कहा जा चुका है ये स्रोत हैं प्राणैषणा, धनैषणा और परलोकैषणा। इस बात में चरक का मत उन अधिकांश दर्शन शास्त्रों से अद्वितीय रूप से भिन्न प्रतीत होता है जिनमें अनेका संवेगों का हमें कर्मों में प्रेरित करने वाले मूल कारणों के रूप में उल्लेख है। इस प्रकार वैशेषिक सुख के प्रति आकर्षण का और दुःख के प्रति विद्वेष का हमारे कर्मों का कारण माना गया है। सुख का लक्षण ऐसे प्रकार का भाव है जिसका अनुमोदन किया जाय और स्वागत किया जाय तथा जिसके प्रति स्वभावतः आकर्षण का अनुभव किया जाय। अतः जब सुखों का उदय होता है तब सदा उनका अनुभव होना आवश्यक है और अननुभूत सुख जैसी कोई वस्तु नहीं हो सकती। इंद्रिय सुखों के अतिरिक्त न्यायकन्दली में श्रीधर अन्य प्रकार के सुखों की चर्चा करते हैं जो अतीत की बातों को स्मरण करने में अथवा मानसिक शान्ति और सन्तोष से अथवा आत्मज्ञान से मिलते हैं। फिर भी सुखों को पूर्वजन्म के धर्म का फल माना गया है। सुख विपरीत दुःख का लक्षण ऐसा अनुभव है जिससे हमें ग्लानि होती है और जो पूर्वजन्म के अधर्म का परिणाम है। अप्राप्त के प्राप्ति की इच्छा (अप्राप्तप्रार्थना), काम, अपने लिए (स्वार्थ) अथवा दूसरे के लिए (परार्थ) हो सकता है। ऐसी इच्छाएँ इनमें से किसी के भी द्वारा प्रेरित हो सकती हैं इहलोक अथवा परलोक सुख की इच्छा (काम), अभिलाषा, सुखदायी विषयों के उपभोग के चालू रहने अथवा बार बार मिलने की इच्छा, करुणा सांसारिक भोगों के प्रति अप्रवृत्ति (वैराग्य), दूसरों को छलने का इरादा (उपधा), अचेतन प्रेरक (भाव)। तथापि प्रशस्तपाद भोगेच्छा और कर्मेच्छा में अन्तर करते हैं। परन्तु वे मैत्री और दूसरों के हर्ष में हर्ष होने के अनुभव (मुदिता) के विध्यात्मक बौद्ध गुणों को सम्मिलित नहीं करते हैं और वे करुणा के केवल निषेधात्मक गुण से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं। वे क्रोध द्रोह दबी प्रतिशोध की भावना (मन्यु) अन्यों के सद्गुणों के प्रति ईर्ष्या (अक्षमा) और अपनी हीनता की भावना से उत्पन्न विद्वेष (अमर्ष) का भी वर्णन करते हैं। परन्तु इस विशद वर्गीकरण के उपरान्त भी प्रशस्तपाद वस्तुतः दो बड़े विभाग करते हैं अर्थात् सुखों के प्रति राग से उत्पन्न इच्छाएँ और दुःख के प्रति विद्वेष से उत्पन्न इच्छाएं। जितना सुख विध्यात्मक अनुभव है उतना ही दुःख भी निषेधात्मक अनुभव है और इसको सुख का अभावमात्र नहीं माना जा सकता। यह जानते हुए भी कि कार्य करने की इच्छा जैसी कोई वस्तु है प्रशस्तपाद ने इस पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया है, कर्मों के स्रोतों के उनके वर्गीकरण का शुद्ध परिणाम यह है कि वे उनके विचार में सारी इच्छाएँ सुख के प्रति राग और दुःख के प्रति विद्वेष से प्रेरित होती

है। अतः अनुभवों को ही यहाँ सारी इच्छाओं और उनके माध्यम से सारे कर्मों का मूल रूप से निर्धारक मानना चाहिए।

नैयायिकों का विचार है कि राग और विद्वेष का एक अधिक मौलिक आधार है अर्थात् मोह। इस प्रकार राग और विद्वेष को मोह पर आधारित मानने के द्वारा वात्स्यायन प्रशस्तपाद के मनोवैज्ञानिक आधार को बौद्धिक रूप देते दृष्टिगोचर होते हैं। क्योंकि मोह का अर्थ होगा ज्ञान का अभाव और यदि राग और द्वेष ज्ञान के अभाव के कारण हों, तो कोई यह नहीं कह सकता कि अनुभव ही अन्ततः हमारे कर्मों का निर्धारण करते हैं क्योंकि सम्यक् ज्ञान का अभाव ही अन्ततः अनुभवों और भावनाओं के उदय का निर्धारक पाया जाता है। तथापि न्याय मंजरी में जयन्त मोह, राग और द्वेष की गणना हमारे प्रयत्नों के प्रेरक तीन समानान्तर दोषों के रूप में करते हैं।[1] राग के अन्तर्गत उन्होंने यौन वासनावृत्ति (काम), दूसरों के साथ हिस्सा बँटाने से जो न घटे उससे अलग न होने की वृत्ति (मत्सर), ईर्ष्या (स्पृहा), पुनः पुनः जन्म की प्रवृत्ति (तृष्णा) और निषिद्ध पदार्थों को ग्रहण करने की वृत्ति (लोभ) की गणना की है। द्वेष के अन्तर्गत उन्होंने दह्यमान शारीरिक दशाओं सहित क्रोध का भावावेश में फूट पड़ना, ईर्ष्या, दूसरों के सद्गुणों से जलन (असूया) दूसरों को क्लेश पहुँचाना (द्रोह) और छिपे हुए द्वेष (मन्यु) की गणना की है। मोह के अन्तर्गत उन्होंने मिथ्याज्ञान, अनिश्चयजनित दुविधा (विचिकित्सा), मिथ्या महत्ता के भाव (मद) और निर्णय की त्रुटियों (प्रमाद) की गणना की है। परन्तु उनका आगे कथन है कि राग, द्वेष और मोह इन तीन दोषों में से मोह सबसे बुरा है क्योंकि अन्य दो इससे ही उत्पन्न होते हैं। केवल मोहयुक्त पुरुष ही राग और द्वेष के वशीभूत होते हैं। उस दशा में मोह को स्वयं एक दोष न मानकर अन्य दो दोषों का स्रोत मानने की इस आपत्ति का जयन्त यह उत्तर देते हैं कि यद्यपि यह अन्य दो दोषों का स्रोत है, फिर भी यह स्वयं भी मनुष्यों को कर्म के लिए प्रेरित करता है और इस हेतु से स्वयं उसको एक दोष मानना चाहिए। निःसन्देह यह सत्य है कि सब दोषों का कारण मिथ्याज्ञान और यथार्थ ज्ञान से वे दोष नष्ट हो जाते हैं फिर भी दोषों को मिथ्याज्ञान का केवल एक प्रकार मानना गलत होगा क्योंकि मनोवैज्ञानिक रूप में तीनों दोषों का तीन भिन्न भिन्न लक्षणों से पृथक् ग्रहण किया जाता है। राग अथवा द्वेष की अनुभूति को मोह जनित स्वीकार करते हुए भी जयन्त उन्हें मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इतना महत्त्वपूर्ण मानते हैं कि उनको कर्म का स्वतन्त्र स्रोत माना जाता है। इस प्रकार जहाँ वे राग अथवा द्वेष को मोहजनित मानने में वात्स्यायन से नाममात्र को सहमत थे वहाँ उन्होंने उनके

---

[1] तेषां दोषाणां त्रयो राशयो भवन्ति रागो द्वेषो मोह इति।

—न्यायमंजरी पृ० ५००।

स्वतंत्र मनोवैज्ञानिक महत्व को अनुभव किया और उन्हें हमारे कर्मों के प्रेरक समानान्तर दोषों के रूप में माना।

पतंजलि हमारे समस्त कर्मों का क्लिष्ट और 'अक्लिष्ट' दो वर्गों में विभक्त करते हैं। 'अक्लिष्ट' कर्म हमारी मोक्षाभिमुख सहज प्रवृत्ति द्वारा प्रेरित होते हैं जबकि 'क्लिष्ट' कर्म अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश द्वारा प्रेरित होते हैं। अंतिम चार के अनुभूति स्वरूप भी उन्हें अविद्या के वृद्धि और विकास की वृत्तियां मात्र माना गया है। सांख्य दर्शन की यह विलक्षण विशेषता है कि उसमें विचारों और अनुभूतियों को आभ्यंतर रूप में पृथक् पृथक् नहीं माना गया है, क्योंकि गुण विचारों और अनुभूतियों के उपादान हैं। जो एक दृष्टि से विचार है वही दूसरी दृष्टि से अनुभूति है। इसी कारण से मिथ्याज्ञान को अस्मिता, राग और द्वेष की अनुभूतियों का रूप धारण किया हुआ माना गया और उसी पदार्थ से निर्मित माना जा सका जिससे मिथ्याज्ञान निर्मित है। न्याय मनोविज्ञान में विचारों और अनुभूतियों को आभ्यन्तर रूप में पृथक् माना गया है इसलिए इस तथ्य में सामंजस्य स्थापित करने में कठिनाई अनुभव की गई कि जहाँ मोह को राग और द्वेष की अनुभूति का कारण माना जा सकता है वहाँ राग द्वेष की अनुभूति को और मोह का एक ही नहीं माना जा सकता। अत जयन्त जहाँ राग और द्वेष को मोहमूलक मानते हैं वहाँ उनको सत्तामूलक दृष्टि से हमारे कर्मों को मनोवैज्ञानिक रूप में निर्धारण करने वाले समानान्तर कारण मानते हैं। सांख्य योग तत्वज्ञान में इस कठिनाई को दूर किया जा सका, क्योंकि उस शाखा में विचारों को अनुभूति विषयों द्वारा ही निर्मित मानने के कारण अनुभूतियों का विचारों से पृथक् नहीं माना गया है इसलिए अविद्या को भी पूर्ण रूप से बौद्धिक तत्व मानना आवश्यक नहीं है क्योंकि यह स्वयं भी अनुभूति विषय गुणों का फल है।

भारतीय चिन्तन की अन्य धाराओं के कर्म स्रोतों का यहाँ विस्तार से वर्णन करना आवश्यक नहीं है। जो कुछ पहले कहा जा चुका है उससे यह प्रकट होगा कि भारतीय दर्शन की अधिकांश शाखाएं मिथ्याज्ञान का राग द्वेष और आत्मरति की अनुभूतियों के माध्यम से हमारे समस्त सांसारिक कर्मों का मूल मानती हैं। अपने को सामान्यत मिथ्याज्ञान के दुष्प्रभावों के वशीभूत और अधम और क्लेश की ओर पत नोन्मुख मानने वाली अधिकांश भारतीय विचारधारा में समवायी रूप में एक नैराश्यवाद विद्यमान है। उसका यह भी मत है कि समस्त राग हमें वासनाओं के बंधन और दासता में डाल देते हैं और इस कारण मोक्ष मार्ग से दूर हटा देते हैं। कर्मों का अच्छा और बुरा होना उनके मोक्षकारक अथवा बंधनकारक होने के आधार पर निर्धारित किया जाता है। उनकी प्रभावोत्पादकता परमार्थ की अलौकिक अनुभूति और पुनर्जन्म के निरोध अथवा सत्य के स्वरूप की निष्प्रभता और पुनर्जन्म के दुखों के प्रकटीकरण की उपलब्धि में है।

रन्तु चरक हमें जीवन की एक ऐसी परियोजना प्रदान करते हैं जिसमें उन्होंने मस्त कर्मों के स्रोतों का प्राणैषणा, धनैषणा और परलोकैषणा के तीन मूल अथवा दैहिक मूल प्रवृत्तियों से उत्पन्न बताया है। उनके अनुसार संक्षेप में मूलभूत इच्छाओं में हमारे कर्मों के समस्त स्रोतों का समावेश हो जाता है। ष्टिकोण में इच्छा-भाव अथवा ज्ञान की अपेक्षा अधिक मूलभूत प्रतीत होती है। स प्राचीन और पुराने ढर्रे के विचार से प्रारम्भ करते प्रतीत नहीं होते कि न जगत् का आदि स्रोत है। उनकी परियोजना एक ऐसे सुसंतुलित जीवन जना है जिसका इन तीन मूलभूत इच्छाओं के सम्यक् कार्यों के द्वारा मार्ग- ता है और पूर्ण प्रज्ञा एवं निर्दोष अवधारणा द्वारा निर्देशन होता है। इन की समरूपता भंग करने वाले 'प्रज्ञापराध' के कारण जीवन में दोषों और का प्रवेश होता है। समस्त प्रकार के अधर्मों को राग द्वेष से नहीं अपितु ध अथवा मूढ़ता से उत्पन्न बताया गया है। इस प्रज्ञापराध की तुलना वा योग के 'मोह अथवा अविद्या' से की जा सकती है। परन्तु जहाँ न्याय में इस 'मोह अथवा अविद्या' का उल्लेख हमारी मन संरचना में अन्तर्निहित दोष के और रचनाकारक तत्व के रूप में इसके व्यापारों के निर्धारक के रूप गया है वहाँ चरक के प्रज्ञापराध का निर्माण किसी तात्विक स्थिति का रने के लिए किया गया है परन्तु वह निर्णय की व्यक्तिगत त्रुटियों में ही केवल ता है।

तथापि, चरक ने अपने काल में प्रचलित आचार शास्त्र सम्बन्धी और दर्शन म्बन्धी मतों के साथ संघर्ष मोल लेने का साहस नहीं किया और हम देखते हैं र-स्थान के अध्याय १ में उन्होंने परम्परागत मतों का पर्याप्त मात्रा में किया है। उनका कथन है कि भूतात्मा अथवा 'संयोग पुरुष' ही सुख दुःखों व करता है और व्याधियों से उत्पन्न समस्त भौतिक क्लेशों के निवारण के के कर्तव्य के सम्बन्ध में उनका कथन है कि उपादान (उपधा) के निवारण वेदना की स्थायी निष्ठिकी (निवारण) में ही समस्त वेदना की परम चिकित्सा ।[1] उसमें उन्होंने कहा है कि उपादान (उपधा) स्वयं दुःखमय है और सारे आश्रय है। सारी उपधा वृत्तियों के हनन द्वारा सारे दुःखों का नाश किया है। जिस प्रकार रेशम का कीड़ा अपने रेशम के धागे को अपने नाश के ता है उसी प्रकार अज्ञ आतुर मनुष्य विषयों से इच्छा और तृष्णा का उपादान ता है। जब वह सब विषयों को अग्नि मानकर उनसे हट जाता है तब

णि ने 'उपधा' का अर्थ 'तृष्णा' किया है परन्तु मुझे इसका बौद्ध 'उपादान' में अर्थ करना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

—चरक ४ १ ९३ पर चक्रपाणि की टीका।

ही वह बुद्धिमान् है। कर्मों से विरत (अनारम्भ) होने और विषयों से असयोग होने पर दु खो से और अधिक पीडित होने का भय नही रहता। पुन अनित्य वस्तुओं को नित्य मानने की गलत धारणा (बुद्धि विभ्रश), अवाछनीय मार्गों से मन को रोकने से शक्ति का अभाव (धृति विभ्रश) सम्यक् ज्ञान के स्वरूप की विस्मृति (स्मृति विभ्रश) और अस्वास्थ्यकर मार्गों का ग्रहण (असात्म्य अर्थागम), इन चार कारणों से दु खो का होना कहा गया है। यहाँ प्रज्ञापराध का लक्षण उस गलत कर्म को बताया गया है जो बुद्धि के सभ्रम, अधृति और असम्यक्ज्ञान (धृतिस्मृतिविभ्रश) के कारण किया जाता है और इसे सारे रोगों और दोषों का उद्दीप्त करने वाला (सर्वदोषप्रकोपण) माना गया है। प्रज्ञापराध के अन्तर्गत गिनाए जाने योग्य कुछ अपराध ये हैं उदीरण गतिमान वस्तुओं का निग्रह वस्तुओं के काम करने के काल का अतिपात, कर्मों का मिथ्यारम्भ लोकाचार के अनुसार आचरण न करना विनयाचार का लोप, पूज्यों का अभिधर्षण अकाल और अदेश में सचरण ज्ञात अहित अर्थों का सेवन चरक सहिता १ १ ८ में वर्णित सद्वृत्त का वर्जन, ईर्ष्या मान, भय क्रोध लोभ मोह, मद और भ्रम की वासनाएँ इनके द्वारा प्रेरित समस्त कर्म और अन्य सब कुछ जो मोह और रज द्वारा प्रेरित हो। प्रज्ञापराध की आगे परिभाषा असम्यक् ज्ञान अथवा सदोष निर्णय से उत्पन्न निर्णय की त्रुटि (विषम विज्ञान) और अशुद्ध प्रवृत्ति (विषम-प्रवर्तन) के रूप में की गई है। इस प्रकार यह प्रकट होगा कि प्रज्ञापराध को सब प्रकार के नैतिक पतन अस्वस्थ और अनारोग्यकर स्वभावों और सब प्रकार के आकस्मिक आघातों का कारण मानकर निर्णय की त्रुटि अथवा असम्यक् बुद्धि प्रयोग के विस्तृत अर्थ में 'प्रज्ञापराध' का ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि चरक ने आत्मा की सत्ता और पुनर्जन्म को स्वीकार किया है और क्योंकि धर्म और अधर्म को सारे मानव सुखों और दु खों का भूमि की सारी उत्पादकता तथा अनुत्पादकता का और जलवायु और ऋतुओं की आरोग्यकारी अथवा अनारोग्यकारी दशाओं का कारण माना है इसलिए उन्हें अधर्मकारी और पापकारी कारणों को प्रज्ञापराध में सम्मिलित करना पड़ा। सब दु खो के कारण हैं प्रथम बुद्धि विभ्रश द्वितीय, धृति विभ्रश और तृतीय स्मृति

कुछ अधिक है और उसका 'निर्णय की त्रुटि' के अधिक विस्तृत अर्थ में ग्रहण करना चाहिए। निःसंदेह चरक ईर्ष्या, मान, क्रोध, लोभ, मोह आदि को अशुभ कर्म का उत्पादक मानते हैं परंतु वे इनके अतिरिक्त अन्य कई कारणों को भी स्वीकार करते हैं। परंतु शब्द के विस्तृत अर्थ में ग्रहण करने पर इन सब सहायक कारणों का एक परम कारण प्रज्ञापराध है। अतः यह मानना गलत नहीं होगा कि चरक के अनुसार सब सम्यक कर्म प्राणैषणा, धनैषणा और परलोकैषणा, इन तीन एषणाओं की प्रेरणा से किए जाते हैं। परंतु सारे अनुचित कार्य असम्यक ज्ञान, बुद्धिभ्रंश और प्रज्ञापराध द्वारा होते हैं। इस प्रकार प्रज्ञापराध से असंयुक्त तीन मूल एषणाओं को सारे सम्यक कर्मों का मूल कारण माना जा सकता है। अतः जबतक मूल एषणाओं को असम्यक मार्ग पर डालने के लिए प्रज्ञापराध का अभाव है, तबतक उन मूल एषणाओं को कार्य के लिए खुला छोड़ देने में कोई हानि नहीं है। राग और द्वेष के भावों को कर्म के स्रोत मानने के अन्य ज्ञानशास्त्रों के मत से चरक सहमत नहीं प्रतीत होते हैं। कर्म तीन मूल एषणाओं की सामान्य कर्मशील प्रवृत्तियों से प्रेरित होते हैं, और जब हमारी शक्तियाँ बुद्धिहीनता के कारण गलत मार्ग की ओर उन्मुख हो जाती हैं तो वे कर्म अशुभ हो जाते हैं। यद्यपि चरक को भारतीय दर्शन के इस मान्य दृष्टिकोण से मेल बैठाना पड़ा कि समस्त दुःखों का अन्त समस्त कर्मों के अन्त से होता है, फिर भी ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि जिस प्रकार के आचारण को उन्होंने मान्यता दी है वह प्रज्ञापराधरहित मूलएषणाओं के सामान्य प्रयोग के आचरण में निहित है। इस प्रकार चरक न तो इच्छाओं, राग, भावों और सब प्रकार के कर्मों के त्याग का उपदेश करते हैं और न ही वे अनासक्त रूप में कर्म करने के गीता के आदर्श का ही पक्ष प्रतिपादन करते हैं। उनका आदर्श एक ऐसे प्रकार से *मनुष्य जीवनयापन करने का आदर्श है जो आरोग्य, दीर्घायुष्य और सम्यक* उपभोगों को प्राप्त कराने वाला हो। हमारी एकमात्र चिन्ता यह होनी चाहिए कि हम खाने, पीने और जीवन के अन्य कर्मों में ऐसी कोई गलती न करें जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से (अधर्म के उत्पादन द्वारा) व्याधियों और दुःखों को जन्म दें अथवा हमारे जीवन और सुख को किसी प्रकार से संकटापन्न कर दें। चरक की आचार-संबंधी स्थिति का यह अद्वितीय स्वरूप चरक द्वारा विशद रूप में प्रतिपादित आचार संहिता, सद्गुणों और सद् जीवनयापन की विधियाँ हैं। निःसन्देह वे संन्यास के आदर्श के साथ ऊपरी सहानुभूति दिखलाते हैं परंतु उनकी वास्तविक सहानुभूति जीवन की उस सामान्य परियोजना के साथ प्रतीत होती है जिसमें इच्छाओं के सामान्य उपभोग और उनके फल भी सम्मिलित हैं। सामान्य जीवन धार्मिक जीवन भी होना चाहिए, क्योंकि अधर्म और पाप इहलोक और परलोक में दुःख, क्लेश और व्याधियों के कारण हैं।

चरक में हितायु

प्रारम्भ में ही यह बता देना उचित है कि चरक के अनुसार हितायु का अर्थ न केवल नैतिक रूप से धार्मिक आयु है अपितु एक ऐसा आयु जो व्याधियों से मुक्त हो और जो इस प्रकार व्यतीत किया जाए कि वह सामान्य मान को प्राप्त होवे। इस प्रकार नैतिक आयु का अर्थ प्रज्ञापराध दोष से मुक्त आयु है। इसका अर्थ बुद्धिमान् और विवेकशील आयु है, क्योंकि बुद्धि और विवेक का अभाव ही समस्त भौतिक, सामाजिक, दैहिक नैतिक और आध्यात्मिक दोषों का कारण है। सज्जन होने के लिए किसी का नैतिक धर्मों का पालन करना ही पर्याप्त नहीं, उसका भौतिक, दैहिक और सामाजिक धर्मों का भी पालन करना चाहिए। उसे रोग और दुःखों से मुक्त तथा किसी भी प्रकार के अपयशों से हीन, स्वस्थ और दीर्घायु होने का प्रयत्न करना चाहिए। यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि भौतिक जीवन के मानसिक और नैतिक जीवन से बलात् पृथक्करण में चरक का विश्वास नहीं है। आधिभौतिक व्याधियां औषधि सेवन से शान्त होती हैं, जबकि आध्यात्मिक व्याधियाँ वस्तुओं के यथार्थ और सम्यक् ज्ञान, आत्मसंयम और ध्यान द्वारा शान्त होती हैं। शरीर और मन का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध प्राचीन काल से सुविदित था, और महाभारत (१२ १६) का भी कथन है कि शरीर से आध्यात्मिक और मन से आधिभौतिक व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। चरक का मत है कि वैद्य को न केवल शारीरिक व्याधियों को अपितु मानसिक व्याधियों का भी शान्त करना चाहिए। उसी अध्याय में महाभारत का आगे कथन है कि शरीर में तीन प्रकार के तत्व ऊष्मा शीत और वायु होते हैं जब वे साम्यावस्था में होते है तो शरीर स्वस्थ रहता है और जब उनमें से कोई एक प्रबल हो जाता है तो रोग होता है। मन सत्व रजस और तमस से बना है, जब वे साम्यावस्था में हो तो मन स्वस्थ रहता है और इनमें से कोई जब प्रबल हो जाता है तो वह अस्वस्थ हो जाता है। तथापि चरक का विचार है कि केवल रजस और तमस के प्रबल होने पर ही मन अस्वस्थ हो जाता है। परन्तु ये मतभेद चाहे जैसे हों, यह स्पष्ट है कि, चरक जीवन के विषय में कथन करते समय मन और शरीर दोनों को सम्मिलित रूप से ग्रहण करते हैं और दोनों का हित ही वैद्य का चिन्ता का मुख्य विषय है। चरक के ये विधि आदेश और निषेध मन और शरीर के इस द्विविध हित पर ही आधारित है जिनको लक्ष्य में रखना चाहिए।

कुछ शारीरिक वेगों को धारण करने के प्रयत्न की हानियों का वर्णन करने के पश्चात् वे कुछ अन्य मानसिक और शारीरिक आवेगों को धारण करने का उपदेश देते हैं। इस प्रकार वे सब पुरुषों का मन, वाक और कर्मों के अप्रशस्त साहसिक वेगों में प्रवृत्त होने का निषेध करते हैं। मनुष्य को लोभ, शोक, भय, क्रोध, मान, निर्लज्जता,

ईर्ष्या, अतिराग और अभिध्याओं के अपने वेगों का निर्धारण करना चाहिए। उसको परुष वचन, अतिवचन, निन्दात्मक वचन अनृतवचन निरर्थक वचन और अकालयुक्त वचन नहीं बोलना चाहिए। परपीडन की उसकी देह प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए उसको अबाध स्त्री-भोग नहीं करना चाहिए और चोरी नहीं करनी चाहिए। जीव हिंसा को पाप माना गया है और उससे मनुष्य के दीर्घायुष्य पर प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार अहिंसा को आयुष्य वृद्धि का सर्वोत्तम साधन माना जाता है (अहिंसा प्राणवर्धनानाम्)। जो मनुष्य जीवन के उपयुक्त सम्यक मार्ग का अनुसरण करता है वही धार्मिक है वह धन का उपभोग करता है अपनी इच्छाओं की पूर्ति करता है, हितायु के धर्मों का पालन करता है और सुखी होता है। नैतिक कार्यों के उचित और सुनियन्त्रित अभ्यास के साथ साथ चरक लोगों को सुनियन्त्रित व्यायाम का भी उपदेश करते हैं। सामर्थ्यानुसार किया हुआ व्यायाम लाघव, कर्मसामर्थ्य, स्थैर्य और दुःख-सहिष्णुता प्रदान करता है। अविवेकपूर्ण कार्यों से बचना और प्रज्ञापराध का त्याग, इन्द्रियोपशम, स्मृति देशकाल और आत्मा का उचित ज्ञान और सद्वृत्त आगन्तुक मानसिक एवं शारीरिक व्याधियों को रोकते हैं, क्योंकि ये ही हितायु के मुख्य तत्व हैं और प्रज्ञावान् मनुष्य सदा आत्महित की बात करता है। चरक आगे यह उपदेश करते हैं कि मनुष्य को पापपूर्ण वृत्त वचन और मन वाले अथवा कलह प्रिय, लोभी, परवृद्धि के द्वेषी शठ, मर्मोपहासी अथवा परापवाद में लीन अथवा शत्रु से सम्बन्ध रखने वाले मनुष्यों का संग नहीं करना चाहिए। परन्तु मनुष्य को सदा बुद्धि, विद्या, वय शील धैर्य, समाधि से युक्त वृद्धोपसेवी स्वभावज्ञ और व्यथाहीन सन्मार्ग के वक्ता सर्वभूतों के हित करने वाले, शंसितव्रत, प्रशान्त और आत्मसंतापी पुरुषों की संगति करनी चाहिए। मनुष्यों को एक ओर तो इन साधनों से अपने नैतिक जीवन को विशृंखल करने वाले आगन्तुक मानसिक क्लेशों से अपनी रक्षा करने का प्रयत्न करना चाहिए और दूसरी ओर यथाकाल योग्य आहार के ग्रहण द्वारा अपने शारीरिक हित साधन का तथा भौतिक हितों के अन्य कार्यों के सम्पादन का प्रयत्न करना चाहिए।[1]

सद्वृत्त के नियमों का चरक ने इस प्रकार से विस्तार में वर्णन किया है[2] मनुष्य देवता, गौ ब्राह्मण गुरु वृद्ध सिद्ध और आचार्यों की पूजा करे, प्रशस्त औषधियों को धारण करे, दोनों समय स्नान करे और शरीर के समस्त छिद्रों को और पैरों को विमल करे और केश, दाढ़ी तथा नखों को एक पक्ष में तीन बार काटे। वह साधुवेश हो, अपने सिर कान, नाक और पैरों में नित्य तेल लगाए अपना केश प्रसाधन करे सुगंध धारण करे और धूम्रपान करे (धूमपा)। वह सुमुख हो दूसरा

---

[1] देखिए—चरक संहिता १ ७।

[2] वही, १ ८।

के कष्ट मे सहायता करे हवन करे दान करे प्रसन्नता से, सुन्दरता से और परहित के लिए बोले (पूर्वाभिभाषी हो), वश्यात्मा हो और धर्मात्मा हो। वह दूसरा की समृद्धि के प्रति अपने सत्स्वभाव रूप मे तथा वैयक्तिक समृद्धि के अन्य हेतुओं के प्रति स्पर्धा करे ((हेत्वीर्ष्य), परन्तु किसी मनुष्य की समृद्धि अथवा सम्पत्ति के रूप मे इनके फल के प्रति ईर्ष्यालु न हो (फल नेर्ष्य)। वह निश्चित, निर्भीक, धीमान् ह्रीमान्, महोत्साही दक्ष क्षमावान् धार्मिक और आस्तिक होवे। वह छत्र, दण्ड उष्णीष और जूता धारण करे और चलते समय चार हाथ जमीन अपने आगे देखे, वह अपवित्र अस्वच्छ और मलिन स्थानों से बचे क्षुधा को शान्त करने का यत्न करे, भयत्रस्तो का भय दूर करे दीनो की सहायता करे सत्य सन्ध हो, परुषवचनसहिष्णु हो आत्मवान् होवे, राग और द्वेष के कारणों का निवारण करे और सब प्राणियो का मित्र हो। पुन मनुष्य अनृत भाषण नही करे अथवा परस्व का ग्रहण न करे। पराई स्त्री की अभिलाषा न करे अथवा दूसरे के धन से ईर्ष्या न करे अन्यो के साथ वैर की इच्छा न करे, पाप न करे अथवा पापी के प्रति भी पापी न होवे अथवा दूसरो के दोषो का वर्णन न करे अधार्मिको अथवा राजद्वेषियो अथवा उन्मत्त, पतित, क्षुद्र, दुष्ट अथवा भ्रूणहन्ताओ की सगति न करे। कोई दुष्ट यान की सवारी न करे कठिन अथवा आच्छादन तथा तकिए रहित बिस्तर का सेवन न करे विषम पर्वतो पर अथवा वृक्षो का आरोहण न करे अथवा अतिवेगवान् चढी हुई नदी मे स्नान न करे ऐसे स्थानो मे विचरण न करे जहा आग लग रही हो जोर से न हसे अथवा असवृत मुख होकर न तो जम्हाई ले और न हसे और न दातो को कुरेदे। पुन बहुजन द्वारा प्रतिपादित धर्मों का और सामान्यत अन्य धर्मों का अतिक्रमण न करे, असेव्य स्थानो मे रात्रि मे विचरण न करे अथवा बाल वृद्ध अथवा लोभी पुरुषो के साथ मित्रता न करे अथवा कोई मनुष्य द्यूत वेश्या मे रुचि न रखे गुह्य विषयो को प्रकट न करे किसी की अवज्ञा न करे, अहम्मन्य अथवा आत्मश्लाघी न हो वृद्ध गुरु, राजा और गणो की निन्दा न करे अथवा अति भाषण न करे मनुष्य बान्धव, अनुरक्त और गुह्यजनो का बहिष्कार न करे। कार्यकाल का अतिपात न करे, किसी अपरीक्षित काम को हाथ मे न ले अथवा दीर्घसूत्री भी न हो अथवा क्रोध और हर्ष का वशानुगामी न हो, मनुष्य कठिनाइयो मे शोकग्रस्त न हो सिद्धि मे अतिप्रमत्त न हो अथवा असिद्धि मे दैन्य को प्राप्त न हो ब्रह्मचर्य का अभ्यास करे ज्ञानी होने का प्रयत्न करे दान करे सबके प्रति मैत्री और कारुण्य से युक्त होवे और सदा सन्तोषी होवे। यहाँ पर उन समस्त गुणो की गणना चालू रखना आवश्यक है जिनका सामान्यत हितायु के आवश्यक तत्वो मे समावेश होता है। इनमे चरक पूर्णत एक नए मार्ग का प्रणयन करते प्रतीत होते हैं और भारतीय विचार की अन्य किसी शाखा मे हम विभिन्न प्रकार के सब गुणो का ऐसा सग्रह कही नही देख पाते हैं जो न केवल धार्मिक जीवन के लिए ही आवश्यक है अपितु नागरिक के स्वस्थ और सफल जीवन के लिए भी आवश्यक है।

यह पहले ही बताया जा चुका है कि किसी भी क्षेत्र मे किया गया प्रज्ञापराध सारे अधर्मो और क्लेशो का मूल कारण है और चरक इसका प्रदर्शन जीवन के सारे विविध क्षेत्रो और विषयो मे योग्य व्यवहारो की सद्वृत्त की सूची मे गणना करके करते हैं। चरक के लिए आयु की धारणा नैतिक अथवा अनैतिक नही है अपितु हित अथवा अहित है। निस्स देह यह सत्य है कि चरक संहिता मे इधर उधर ऐसे छुटपुट वर्णन दृष्टिगोचर होते है, जिनमे सब दु खो की शान्ति को आयु का परमार्थ माना गया है, पर तु यह स्पष्ट है कि चरक का विषय के प्रति मुख्य दृष्टिकोण प्रतिस्पष्ट रूप से यह प्रदर्शित करता है कि यद्यपि नैतिक गुणो की सदा अत्यधिक प्रशसा की गई है फिर भी अनैतिक गुणो यथा अपने शरीर के हितसाधन के प्रति सावधान रहने अथवा सामाजिक आचरण सबधी नियमो का पालन करने अथवा विवेकशील नैतिक व्यवहार, को भी हितायु के स्थिर रखने के लिए समान रूप से आवश्यक माना गया है। अति क्रमण और अधम मानसिक चिन्ताओ क्लेशो तथा अनेको मानसिक और शारीरिक व्याधियो के कारण हैं अत मनुष्य को जागरूक रहना चाहिए कि उनका उसके जीवन मे प्रवेश न हो और यह कहा गया है कि प्रबल अधार्मिक कर्मो से उत्पन्न व्याधियो को औषधि प्रयोग आदि के सामान्य साधनो द्वारा तबतक शान्त नही किया जा सकता जबतक कि व अपने दु ख भोग क उचित काल के साथ स्वय ही शान्त नहीं हो जाएँ। पर तु अधम और अतिक्रमण ही केवल हमारी इच्छाओ आकस्मिक घटनाओ और अन्य घरेलू, सामाजिक और राजनैतिक विपत्तियो के कारण नही हैं। जिस प्रकार हमारे अन्य अधम और अनैतिक कर्म प्रज्ञापराधजनित हैं उसी प्रकार प्रज्ञा पराधजनित हमारे अविवेकपूर्ण व्यवहार और आचरण से ही हमारे समस्त शारीरिक और मानसिक क्लेश हम प्राप्त होते है। प्रत्येक मनुष्य की आदर्श हितायु शान्ति, सन्ताप और सुख से युक्त तथा सब प्रकार की इच्छाओ और क्लेशो से मुक्त आयु है। यह विवेकपूर्ण और सुसतुलित नियम की आयु है जिसमे प्रत्येक कर्म उसके भावी परिणाम को ध्यान मे रखकर किया जाता है और जिसमे दु खकारी और क्लेशकारक सब चीजो का सावधानी से दूर रखा जाता है। केवल ऐसी आयु अच्छी कही जा सकती है और आदर्श माना जा सकता है। जो प्रत्येक दृष्टि से अच्छी हो ऐसी नैतिक अथवा धार्मिक आयुमात्र हमारा आदर्श नहीं है। कोई भी अतिक्रमण चाहे वह स्वास्थ्य के नियमो का हो शिष्ट समाज का हो या अच्छी नागरिकता के नियमो का हो अथवा विवेक या प्रज्ञा द्वारा निर्दिष्ट बुद्धिमत्तायुक्त मार्ग से च्युत होना हो आयु की शान्ति को भग कर सकता है। इस प्रकार हितायु की परियोजना का अर्थ बुद्धिमत्तापूर्ण आयु है और नैतिकता का पालन उन अनेक प्रकारो म से एक प्रकर मात्र है जिनमे विवेक का प्रदर्शन किया जा सके।

आयुर्वेद का मुख्य विषय आयु को हित, अहित, सुखी अथवा दु खी बनाने वाले

साधन हैं। सुख आयु उसे बताया है जो मानसिक और शारीरिक व्याधियों से अनाक्रान्त हो, यौवन तथा सम्यक् बल, वीर्य, पौरुष पराक्रम से युक्त, ज्ञान विज्ञान और इन्द्रिय बल से युक्त हो—समस्त इन्द्रियार्थ भोगों से युक्त हो और जिसमें सब समारम्भ सफल हों। इसका विपर्यय दुःखी आयु है। इस प्रकार सुखी आयु वह आयु है जो सुखयुक्त और भोगने योग्य हो तथा हमें संतोष प्रदान करे। सुखी आयु हमारे सद्वृत्त द्वारा निर्मित और विकसित आयु है। एक प्रकार से हितायु ही सुखी आयु का निर्माण करती है। हितायु के चाहने वालों को परस्व ग्रहण करने से बचना चाहिए और सत्यवादी तथा शमपरायण होना चाहिए। वे परीक्ष्यकारी हों वे क्षिप्रकारी न हों अथवा प्रमादवश त्रुटियाँ न करें, धर्म, अर्थ और काम में से किसी एक को अनुचित महत्ता प्रदान न करके त्रिवर्ग का उपसेवन करें पूजार्हों की पूजा करें ज्ञानी, विज्ञानी और उपशमशील हों और राग क्रोध, ईर्ष्या और मान के वेगों को सुनियत करें सदा दानशील हों, तपोयुक्त जीवन यापन करें और ज्ञान प्रशम और अध्यात्म ज्ञान (अध्यात्मविद) को प्राप्त करें और अतीत के अनुभवों की शिक्षाओं को स्मरण रखते हुए इस प्रकार से जीवनयापन करें कि इहलोक के वर्तमान जीवन और परलोक के जीवन दोनों के हित की सावधानी से एवं निश्चयपूर्वक हित साधन हो।[1] अब यह स्पष्ट हो जाता है कि चरक के अनुसार हितायु का आदर्श उन विभिन्न दर्शनशास्त्रों के समान नहीं है जिन्हें पारिभाषिक रूप से मोक्ष शास्त्र कहा जाता है। हितायु का मूलभूत भाव यह है कि आयु इस प्रकार नियमबद्ध हो कि शरीर और मन व्याधिमुक्त रहें कि यह प्रमादवश भय के अनावश्यक संकटों में न पड़े, कि यह धार्मिक, शुद्ध और नैतिक हो कि यह विवेकयुक्त और ज्ञानयुक्त आयु हो जो विचार और कर्म में अत्यधिक सावधानी का प्रदर्शित करते हुए और अपने ही हित—जीवन शरीर और आत्मा के अर्थों का हित—में सतत प्रवृत्त होकर शिष्ट समाज के और अच्छे तथा निष्ठावान् नागरिक के धर्मों का पालन करे।

आयुर्वेद-साहित्य

भारतीय चिकित्सा का व्यवस्थित विकास प्रधानतः दो मार्गों पर अग्रसर हुआ अर्थात् एक सुश्रुत के मार्ग पर और दूसरा चरक के मार्ग पर। सुश्रुत की महान् कृति सुश्रुत संहिता में यह कहा गया है कि मानव प्राणियों के सजन से पहले ही एक सहस्र अध्यायों में विभक्त एक लाख श्लोक वाले आयुर्वेद की रचना ही मूलतः ब्रह्मा ने की और बाद में मनुष्य के अल्पायुत्व और हीनबुद्धित्व का ध्यान करके उन्होंने इसको शल्य शालाक्य आदि उन आठ भागों में विभक्त कर दिया जिनका एक पूर्व विभाग में

[1] चरक संहिता, १. ३०. २२।

प्रकट किया जा चुका है। परन्तु यह अधिकांशतः पौराणिक प्रतीत होता है। इसी प्रसंग में सुश्रुत संहिता १. १ में यह और कहा गया है कि औपधेनव, वैतरण, औरभ्र, पौष्कलावत, करवीय, गोपुरक्षित सुश्रुत और अन्य ऋषि धन्वन्तरि अथवा काशी नरेश दिवोदास के पास चिकित्सा संबंधी उपदेश के लिए उपस्थित हुए। अतः सुश्रुत संहिता धन्वन्तरि शाखा की संहिता कहलाती है। यद्यपि बाद में नागार्जुन ने इसका संशोधन किया था, फिर भी सुश्रुत स्वयं एक प्राचीन लेखक हैं। जातकों के अध्ययन से प्रकट होता है कि जीवक के अध्यापक, महाभिषक आत्रेय, बुद्ध से कुछ ही पहले तक्षशिला में निवास करते थे।[1] एक पूर्ववर्ती विभाग में यह कहा जा चुका है कि अस्थिगणना में सुश्रुत का अस्थिविज्ञान का आत्रेय प्रणाली का ज्ञान था। हार्नले ने अपने 'अस्थि-विज्ञान' के अनुच्छेद ४२, ५६, ६० और ६१ में यह और प्रदर्शित किया है कि कम से कम छठी शती ई० पू० जितने प्राचीन ब्राह्मण में अस्थि गणना के सौश्रुत दृष्टिकोण के ज्ञान का परिचय मिलता है। हार्नले का अनुमान है कि सुश्रुत आत्रेय के शिष्य अग्निवेश के समकालीन अवश्य होंगे।[2] परन्तु हार्नले के मुख्य तर्क को मान लेने पर भी यह कहा जा सकता है कि सुश्रुत संहिता ३. ५. १८ के 'वेदवादिन' पद से सुश्रुत ने आत्रेय से पूर्ववर्ती उन आचार्यों का संकेत किया हो जिनसे आत्रेय ने भी अपनी सामग्री इकट्ठी की हो। तब इस दृष्टिकोण के आधार पर सुश्रुत की मृत्युकाल की निम्नतर सीमा छठी या सातवीं शती ई० पू० निश्चित होती है जो शतपथ ब्राह्मण का काल है जबकि ऊपरी सीमा के विषय में लगभग कुछ नहीं कहा जा सकता।

परन्तु यह प्रायः निश्चित है कि आजकल जो ग्रन्थ सुश्रुत संहिता के नाम से प्रचलित है वह ठीक वही ग्रन्थ नहीं है जिसे वृद्ध सुश्रुत ने रचा था। डल्हण संभवतः ग्यारहवीं या बारहवीं शती ई० पू० में हुए थे भी अपने निबन्ध संग्रह में कहते हैं कि नागार्जुन सुश्रुत संहिता के संशोधक थे[3] और स्वयं सुश्रुत संहिता में भी कल्प स्थान के पश्चात् उत्तरतन्त्र (बाद की कृति) नामक एक परिशिष्ट है। फर्रुखनगर निवासी पं० मुरलीधर द्वारा संपादित संस्करण में प्रारम्भ में एक ऐसा श्लोक है जिसमें कहा गया है कि लोकहित के लिए महर्षि धन्वन्तरि ने सुशिष्य सुश्रुत को जिसका उपदेश दिया वह समस्त संसार में 'सुश्रुत संहिता' नाम से प्रसिद्ध हुआ और त्रिविध आयुर्वेद साहित्य में उसे श्रेष्ठ और उत्तम माना जाता है और उसे नागार्जुन के अतिरिक्त

---

[1] राकहिल कृत Life of the Buddha पृ० ६५ और ६६।

[2] हार्नले कृत Medicine of Ancient India खंड १ Osteology पृ० ७ और ८।

[3] प्रतिसंस्कर्तापीह नागार्जुन एव।
—डल्हण कृत निबंध संग्रह १. १. १

किसी ग्रन्थ ने सूत्रबद्ध नहीं किया।[1] चक्रपाणि ने भी अपनी पुस्तक 'भानुमति' में एक संशोधक (प्रतिसंस्कर्तृ) का उल्लेख किया है, परन्तु उन्होंने उसके नाम का उल्लेख नहीं किया है। सुश्रुत पर गयदास कृत पंजिका, सुश्रुत चन्द्रिका अथवा न्याय चन्द्रिका, में निदान स्थान के तृतीय अध्याय के अष्टम श्लोक पर टिप्पणी मिलती है जिसमें उन्होंने नागार्जुन द्वारा प्रस्तुत उस भिन्न पाठ का दिया है जो सम्बद्ध प्रसंग में सुश्रुत के आधुनिक पाठ के समान ही है।[2] पुनः भट्ट नरहरि मूढगर्भ निदान की चर्चा करते हुए अष्टांगहृदय-संहिता पर रचित अपनी 'वाग्भटखण्डन मण्डन' नामक टिप्पणी में वाग्भट्ट द्वारा उद्धृत करते समय सुश्रुत के 'वस्तिमारविपन्नाया' (२ ८ १४) पाठ के परिवर्तितरूप 'वस्तिद्वारे विपन्नाया' पाठ पर टिप्पणी करते हैं और कहते हैं कि 'वस्तिद्वारे' पाठ नागार्जुन का है।[3] ग्रन्थों के अपने संशोधनों में परिशिष्ट जोड़ने के नागार्जुन के स्वभाव का प्रमाण इस तथ्य से भी मिलता है कि नागार्जुन रचित बताए जाने वाले 'योगशतक' नामक ग्रन्थ में भी इसके अन्य अध्याय कायचिकित्सा, शालाक्य-तन्त्र शल्यतन्त्र, विषतन्त्र, भूतविद्या कौमार तन्त्र, रसायनतन्त्र और वाजीकरण तन्त्र के अतिरिक्त उत्तरतन्त्र नामक एक परिशिष्ट और है। इससे यह अत्यधिक स्पष्ट हो जाता है कि 'सुश्रुत संहिता' नाम से जो ग्रन्थ प्रचलित है वह या तो सुश्रुत के परम्परागत उपदेशों में पूर्णतया ग्रथित किया गया था या नागार्जुन को उपलब्ध सुश्रुत के के प्रभूत ग्रन्थ के आधार पर नागार्जुन द्वारा पूर्णतया संशोधित एवं परिवर्धित किया गया था। परन्तु क्या नागार्जुन ही अकेला व्यक्ति था जिसने सुश्रुत संहिता का संशोधन किया? नागार्जुन के ही इस ग्रन्थ के संशोधक होने के (प्रतिसंस्कर्तापीह नागार्जुन एव) डल्हण के कथन की मुरलीधर-संस्करण के श्लोक (नागार्जुनेनैव ग्रथित) द्वारा पुष्टि होती है, परन्तु दोनों में बल सूचक 'एव' शब्द का प्रयोग इस बात का द्योतक है कि अन्य लेखकों द्वारा भी सुश्रुत के अन्य संस्करण अथवा संशोधन विद्यमान रहे होंगे। विभिन्न संस्करणों में पाठों अध्याय विभाजन और अध्यायों में

---

[1] उपदिष्टा तु या सम्यग्धन्वन्तरिमहर्षिणा
सुश्रुताय सुशिष्याय लोकानां हितवाञ्छया
सर्वत्र भुवि विख्याता नाम्ना सुश्रुतसंहिता
आयुर्वेदत्रयीमध्ये श्रेष्ठा मान्या तथोत्तमा
सा च नागार्जुनेनैव ग्रथिता ग्रन्थरूपतः ॥

[2] नागार्जुनस्तु पठति, शर्करा सिकता मेहो भस्माख्योऽश्मरीवैकृतमिति। सन् १९१५ के निर्णय सागर संस्करण में यह २ ३ १३ है जबकि जीवानन्द के संस्करण में यह २ ३ ८ है। और देखिए डॉ० कौर्दिये कृत Recentes Decouvertes des Mss Medicaux Sanscrits dans L'Inde पृ० १३।

[3] अतएव नागार्जुनैर्वस्तिद्वार इति पठ्यते।

पाठ क्रमा की ऐसी अत्यधिक आशाहीन बुरी दशा है कि इसमे कोई सन्देह नही रह सकता कि इस महान् कृति पर समय समय पर कई हाथ पडते रहे हैं। यह सोचना भी उचित नही है कि सुश्रुत के परिष्करण का काय पूव चक्रपाणि काल तक ही सीमित था। कम से कम एक ऐसा उदाहरण बताया जा सकता है जिसमे यह लगभग निश्चित रूप से प्रमाणित किया जा सकता है कि चक्रपाणि के बाद भी सुश्रुत सहिता में नए अश जोडे गए थे अथवा डल्हण को ज्ञात सुश्रुत का पाठ चक्रपाणि को ज्ञात नही था। इस प्रकार ४ ३८ मे मूत्र माग शोधक मत्र के प्रयाग का और गुदा माग से औषधियो के प्रयोग (वस्तिक्रिया) का वणन करते समय, डल्हण द्वारा टीका कृत सुश्रुत सहिता के पाठ कई एसे रोचक विवरणो को प्रकट करते हैं जिनका चरक सहिता के वस्तिविषयक अध्याय (उत्तरवस्ति, सिद्धिस्थान ७) मे स्पष्ट तय नहीं किया गया है। चरक सहिता का यह अध्याय दृढबल द्वारा जोडा गया था जो सम्भवत *आठवीं या नवी शती ई० प० मे काश्मीर अथवा पजाब मे निवास करते थे।* जब ग्यारहवीं शती मे चक्रपाणि ने अपनी टीका लिखी, उस समय उन्होने सुश्रुत सहिता मे पाई जाने वाली सामग्री का कोई उल्लेख नही किया और न उन्होने उसका अपने 'चक्रदत्त' नाम से विख्यात चिकित्सा विषयक सग्रह में ही समावेश किया। चक्रपाणि अपने काल की सुश्रुत सहिता से भलीभाँति परिचित थे क्योकि उन्होने स्वय उस पर टीका की है और यह अत्यन्त असभव सा प्रतीत होता है कि यदि वे इस पाठ मे वस्तिक्रिया विषयक किसी रोचक विवरण को पाते तो वे उसका अपने चिकित्सा विषयक टीका अथवा अपने निजी चिकित्सा विषयक ग्रथ में प्रयोग न करते। अत यह अनुमान लगभग अपरिहाय है कि सुश्रुत सहिता के नवीं और ग्यारहवी शती के पाठ मे अनुपलब्ध वस्तिक्रिया सबधी कई रोचक विवरणो का इसमें समावेश बारहवी शती मे किया गया था। फिर भी यह अनुमान लगाना कठिन है कि सुश्रुत सहिता के सपादक अथवा परिष्कर्त्ता कौन से नागार्जुन थे, यह अधिक सभव प्रतीत नही होता कि शून्यवाद के महान् आचाय और माध्यमिककारिका के रचयिता विख्यात नागार्जुन ही वह सपादक या परिष्कर्त्ता थे, क्योकि चीनी और तिब्बती सूत्रो से उपलब्ध इन नागार्जुन के जीवन विवरणो म कही भी ऐसा सकेत नहीं मिलता कि *उन्होने सुश्रुत सहिता का सशोधन अथवा सपादन किया था।* अलबेरुनी सोमनाथ (गुजरात) निकटवर्ती दीहक ग्राम मे उत्पन्न नागार्जुन को अपने से लगभग सौ वष पूववर्ती अर्थात् नवी शती का मध्यवर्ती बताते हैं और उनको अपने समय म अति विरल कीमियागिरी के सम्पूण साहित्य के सार से युक्त कीमियागिरी के एक उत्कृष्ट ग्रथ का लेखक बताते हैं। यह असभव नहीं कि यही नागार्जुन उस कक्षपुटतत्र के रचयिता हो जिसे विभिन्न धार्मिक सप्रदायो के कीमियाई ग्रथो से सगृहीत सामग्री से लिखा गया माना जाता है और जिसमे अष्ट सिद्धियो का वणन है। परन्तु वृन्द अपने 'सिद्धियोग' म नागार्जुन रचित एक ऐसे योग का उल्लेख करते हैं, जिसको

पाटलीपुत्र के एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण बताया जाता है।[1] इस योग को चक्रपाणिदत्त, बंगसेन तथा नित्यनाथ सिद्ध ने अपने 'रसरत्नाकर' में ज्यों का त्यों दिया है। परन्तु क्योंकि इनमें से प्राचीनतम, वृंद का काल आठवीं या नवीं शती माना जाता है और क्योंकि उनका योग एक शिलालेख से गृहीत है इसलिए यह असंभव नहीं कि इन नागार्जुन का काल उनके काल से कुछ शती पूर्व का हो।

सुश्रुत संहिता की आजकल प्रचलित टीकाओं में सर्वाधिक महत्वपूर्ण टीका डल्हण कृत 'निबन्धसंग्रह' है। डल्हण ने ई० प० १०६० कालीन चक्रपाणि का उद्धरण दिया है और स्वयं उनका उद्धरण हेमाद्रि १२६० ई० प० ने दिया है। अतः उनका काल ग्यारहवीं और तेरहवीं शती ई० प० के मध्य का है। यह बताया जा चुका है कि चक्रपाणि और डल्हण के काल के मध्य में सुश्रुत संहिता के पाठों में पर्याप्त परिवर्तन हो चुके थे और इसमें कम से कम सौ वर्ष लगे होंगे। इसलिए मेरा मत है कि डल्हण बारहवीं शती के अन्त में अथवा तेरहवीं शती के प्रारम्भ में महाराज सहपालदेव की सत्ता में विद्यमान रहे होंगे। चक्रपाणि ने भी 'भानुमती नामक 'सुश्रुत संहिता' पर टीका लिखी थी, जिसका प्रथम खण्ड कविराज गंगाप्रसाद सेन ने प्रकाशित कर दिया है। डा० कॉर्डिये का कथन है कि इसकी एक सम्पूर्ण पाण्डुलिपि वाराणसी में विद्यमान है। निश्चलकर और श्रीकण्ठदत्त कभी-कभी चक्रपाणि कृत सुश्रुत संहिता की टीका में से उद्धरण देते हैं। डल्हण कृत टीका 'निबन्धसंग्रह' कहलाती है जिसका अर्थ है कि ग्रंथ अनेकों टीकाओं का संग्रह है और वे स्वयं उत्तर तन्त्र के अन्त में पुष्पिका में कहते हैं कि भरतात्मज वैद्य डल्हण ने कई अन्य टीकाओं का वीक्षण करके इस ग्रंथ की रचना की।[2] 'निबन्धसंग्रह' के प्रारम्भ में उन्होंने जयन्त, गयदास, भास्कर कृत 'पंजिका, श्री माधव और ब्रह्मदेव का उल्लेख किया है। आगे अपने ग्रंथ में उन्होंने चरक हारीत जतूकर्ण काश्यप कृष्णात्रेय, भद्रशौनक, नागार्जुन, दोनों वाग्भट्ट विदेह, हरिश्चन्द्र भोज कार्तिक कुण्ड और अन्यों का भी वर्णन किया है। हरिश्चन्द्र चरक संहिता के एक टीकाकार थे। फिर भी यह विलक्षण बात है कि अपनी टीका के प्रारम्भ में भास्कर और श्रीमाधव का उल्लेख करने पर भी, डल्हण ग्रंथ के कलेवर में उनका उल्लेख नहीं करते हैं। फिर भी हूनले भास्कर और कार्तिक कुण्ड का एक ही व्यक्ति मानने के लिए कटिबद्ध प्रतीत होते हैं। माधवीय निदान के टीकाकार विजयरक्षित और श्रीकण्ठदत्त सुश्रुत संहिता की ओर अपने

---

[1] नागार्जुनेन लिखिता स्तम्भे पाटलिपुत्र के ५ १४९।

[2] निबन्धान् बहुशो वीक्ष्य वैद्य श्रीभरतात्मजः
उत्तरस्थानमकरोत् सुस्पष्टं डल्हणो भिषक्॥
—सुश्रुत के उत्तरतन्त्र अध्याय ६६ पर डल्हण कृत टीका का अन्तिम श्लोक।

सकेतो के सदर्भ में कार्तिक कुण्ड का उल्लेख करते है परन्तु भास्कर का उल्लेख नहीं करते। पटना के एक शिलालेख (E I I ३४० ३४५) मे कहा गया है कि महाराजा भोज ने भास्कर भट्ट को 'विद्यापति' की उपाधि प्रदान की थी। हूनले का विचार है कि भास्कर और भास्कर भट्ट एक ही थे। हूनले का यह भी सकेत है कि वृन्द माधव और डल्हण द्वारा वर्णित श्रीमाधव एक ही थे। माधव ने अपने 'सिद्धयोग' मे सुश्रुत के कथनो म प्राय सुधार किया है। शायद ये सुधार ही माधव कृत 'टिप्पण' के नाम से प्रचलित हो गए हो। चूकि गयदास और चक्रपाणि दोनो भोज का उल्लेख करते हैं और परस्पर एक दूसरे का उल्लेख नही करते हैं इसलिए सभव है कि गयदास चक्रपाणि के समकालीन हो। हूनले का विचार है कि डल्हण द्वारा उल्लिखित ब्रह्मदेव ई० प० ११११ मे 'साहसाङ्कचरित' के रचयिता महेश्वर के पिता श्रीब्रह्म ही थे। महेश्वर हरिश्चन्द्र को अपना प्राचीन पूर्वज बताते है। यह असभव नही कि यह हरिश्चन्द्र चरक के एक टीकाकार थे। कवि महेश्वर स्वय एक कविराज भी थे और हेरम्बसेन कृत 'गूढबोधकसग्रह' अधिकतर महेश्वर के ग्रन्थ पर आधारित था। जेज्झट कृत टीका 'बृहल्लघुपञ्जिका' नाम से विख्यात थी गयदास कृत टीका को 'सुश्रुत चन्द्रिका' अथवा 'न्यायचन्द्रिका' कहा जाता था, और श्रीमाधव अथवा माधवकर कृत 'टिप्पणी' को श्लोकवार्तिक कहा जाता था। गयदास भोज सुरनन्दी और स्वामी दास का उल्लेख करते हैं। गयदास कृत पञ्जिका की केवल निदान स्थान तक ही खोज हुई है, जिसमे ३००० 'ग्रन्थ' हैं। सुश्रुत के अन्य टीकाकारो में हम गोमिन्, आषाढवर्मन्, जिनदास, नरदत्त, गदाधर बाष्पचन्द्र साम, गोवर्धन और प्रश्ननिधान के नाम सुनते हैं।

यहाँ इस तथ्य का उल्लेख करना अनुपयुक्त न होगा कि सुश्रुत के शारीर स्थान मे सारबद्ध साख्यदर्शन निश्चय ही ईश्वर कृष्ण का साख्य दर्शन है, जो जैसाकि मैं अन्यत्र पहले ही बता चुका हूँ चरक सहिता मे इतने विशद रूप से प्रतिपादित साख्य दर्शन से अपेक्षाकृत बाद के समय का है।[1] यह तथ्य इस बात का भी सकेत देता है कि सुश्रुत का सशोधन ईश्वर कृष्ण के उस ग्रन्थ की रचना (लगभग ई० प० २००) के पश्चात् समाप्त हुआ, जोकि ऊपर व्यक्त इस दृष्टिकोण से मेल खाता है कि सुश्रुत का सशोधन चतुर्थ अथवा पचम शती ई० प० काल में विद्यमान नागार्जुन का कार्य था। परन्तु यह अत्यन्त असम्भव सा प्रतीत होता है कि छठी शती ई० पू० जितने प्राचीन काल मे विद्यमान एक लेखक के चिकित्सा विषयक विशद सिद्धान्त सात आठ या नौ वर्ष बाद तक बिखरी हुई दशा मे विद्यमान रहें। अत यह बहुत सम्भव है कि सुश्रुत के ग्रन्थ का मुख्य आधार अतिप्राचीन काल से सहिताबद्ध और सुव्यवस्थित रूप मे विद्यमान था। सम्पादक अथवा सशोधक का कार्य 'उत्तरतन्त्र' जसे तथा उपयुक्त

---

[1] भारतीय दर्शन का इतिहास खण्ड १, पृ० ३१३ मे ३२२।

अवसरों पर ऐसे ही अन्य परिशिष्टों के समावेश में निहित था। यह असम्भव प्रतीत नहीं होता कि सुश्रुत संहिता के कई प्रकाशित ग्रन्थों तथा अप्रकाशित पाण्डुलिपियों का गहन आलोचनात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन भावी विद्यार्थी को मूल अंगों को परिशिष्ट के अंगों से पृथक् करने में शायद क्षमता प्रदान कर सके। तथापि, यह कार्य इस तथ्य के कारण क्लिष्टतर बना दिया गया है कि सुश्रुत संहिता में परिवर्धन सम्भवतः एक ही काल तक सीमित न था, जैसाकि पहले ही ऊपर बताया जा चुका है।

यह सुविदित है कि अग्निवेश ने अत्रि के चिकित्सा सम्बन्धी उपदेशों का संकलन अपनी 'अग्निवेश संहिता' में किया है जो कम से कम चक्रपाणि के समय तक विद्यमान थी, ये अत्रि के उपदेश ही कनिष्क के समकालीन बताए जाने वाले चरक द्वारा रचित और 'चरक-संहिता' के नाम से विख्यात एक संशोधन ग्रन्थ के आधार थे।[1] अब यह भी सुविदित है कि चरक ने अपना कार्य पूरा नहीं किया था अपितु इसे चिकित्सित-स्थान के उस स्थल तक अपूर्ण अवस्था में छोड़ दिया था जिसमें नवीं शती ई० पू० में 'पाचनद' नगरवासी कपिल बल के पुत्र दृढबल ने 'सिद्धि-स्थान' और 'कल्प स्थान' सहित 'चिकित्सित स्थान' के सत्रह अध्यायों को जोड़ा था। दृढबल द्वारा उपर्युक्त प्रकार से इस ग्रन्थ के परिवर्धित किए जाने का वर्णन आजकल प्रचलित चरक-संहिता में मिलता है।[2] निश्चलकर अपनी रत्नप्रभा में दृढबल को 'चरकपरिशिष्ट' का रचयिता बताते हैं और चक्रपाणि, विजयरक्षित और श्रीकण्ठदत्त (ई० प० १२४०) जब कभी दृढबल के परिशिष्ट भाग से उद्धरण देने का अवसर प्राप्त करते हैं तो वे सब दृढबल को उस उद्धरण का रचयिता बताते हैं। डा० उ० च० दत्त ने अपने Meteria Medica में पचनद नगर का तादात्म्य पंजाब से स्थापित किया है इस तादात्म्य को डॉ कौदिये ने स्वीकार किया था और उन्होंने पंजाब में अटक के उत्तर में एक कल्पित आधुनिक नगर 'पंजपुर' की ओर संकेत किया है। भारत के विभिन्न भागों में कई पंचनद हैं और उनमें से एक का उल्लेख 'काशी खंड' के उनसठवें अध्याय में आता है। अपनी टीका में गंगाधर इसका तादात्म्य वाराणसी से करते हैं परन्तु इसके लिए कोई कारण नहीं देते हैं। फिर भी हर्नले का विचार है कि यह पंचनद आधुनिक ग्राम 'पंतैनोर' (काश्मीर स्थित 'पांचधाराएँ') है और उनका मत है कि दृढबल इस स्थान के निवासी थे। चरक में कई ऐसे स्थल हैं जिनको टीकाकार काश्मीर पाठ के 'क्षेपक' मानते हैं। माधव ने चिकित्सित स्थान के तृतीय अध्याय के ज्वरविषयक ऐसे कई श्लोकों का उद्धरण दिया है जिनमें लगभग चौवीस पंक्तियाँ छोड़ दी गई हैं। माधव के निदान

---

[1] चरक के कनिष्क का राजवैद्य होने के लिए Journal Asia Tigue पृ० ४८४ पर एस० लेवी का लेख देखिए।

[2] चरक संहिता ६ ३० और सिद्धि स्थान ७ ८।

पर अपनी टीका में विजयरक्षित का कथन है कि ये पंक्तियाँ काश्मीर पाठ की हैं। इन पंक्तियों के बारे में वर्तमान पाण्डुलिपियों में अत्यधिक असमानता है, क्योंकि कुछ में ये पंक्तियाँ है तो अन्यों में नहीं। इसी अध्याय में ऐसे अन्य स्थल भी हैं, जिनका चक्रपाणि दत्त ने स्पष्ट रूप से काश्मीर पाठ बताया है और उन पर उन्होंने टीका नहीं की है। अन्य उदाहरण भी हैं। हर्नले बताते हैं कि जीवानन्द का १८७७ का संस्करण काश्मीरी पाठ प्रस्तुत करता है जबकि उनके अपने १८९६ के संस्करण और गंगाधर, सेनद्वय और अविनाश के संस्करणों में चरक का मूलपाठ है। माधव कभी भी काश्मीरी पाठ से उद्धरण नहीं देते हैं। हर्नले इन चार बातों को एकत्रित करते हैं अर्थात् चरक के ग्रन्थ का दृढबल ने संशोधित और पूर्ण किया था चरक संहिता का एक काश्मीरी पाठ विद्यमान था, दृढबल अपने को पंचनद नगर निवासी बताते हैं और काश्मीर में इस नाम का एक तीर्थ विद्यमान था, और उनका तर्क है कि तथाकथित काश्मीर पाठ 'दृढबल रचित 'चरक संहिता' के संस्करण को प्रस्तुत करता है। काश्मीर पाठ के पाठों की ओर माधव के ध्यान न दिए जाने के तथ्य से निर्णय करके वे यह तर्क देते हैं कि दृढबल माधव के समय विद्यमान नहीं थे और इसलिए माधव का काल दृढबल से पूर्व का होना चाहिए।

परन्तु दृढबल ने चरक संहिता में कौन से अंश जोड़े थे? स्पष्ट कल्पना यह है कि उन्होंने चिकित्सित-स्थान के सत्रह अध्याय और सिद्धि स्थान तथा कल्प स्थानों को जोड़ा था।[1] परन्तु ऐसी कल्पना टिक नहीं सकती क्योंकि भिन्न भिन्न पाण्डुलिपियों में अध्यायों की संख्या की गणना में अत्यधिक अन्तर है। इस प्रकार जहाँ जीवानन्द के संस्करण में अर्शस् अतिसार, विसर्प, मदात्यय और द्विव्रणीय को चिकित्सा का नवम, दशम एकादश द्वादश और त्रयोदश अध्याय माना गया है और इसलिए उनको मूल चरक का ही माना गया है वहाँ गंगाधर संस्करण में नवम, दशम एकादश, द्वादश और त्रयोदश अध्यायों को उन्माद अपस्मार, क्षतक्षीण श्वयथु और उदर विषयक बताया गया है। इसके परिणामस्वरूप दृढबल रचित बताए जाने वाले सत्रह अध्यायों के गंगाधर और जीवानन्द संस्करणों में भिन्न भिन्न शीर्षक हैं। हर्नले ने इन पाठ विषयक समस्याओं की बड़ी आलोचनात्मक रूप से चर्चा की है और चरक अथवा दृढबल रचित अध्यायों के निरूपण में महत्वपूर्ण परिणाम उपलब्ध किए हैं।[2] परन्तु इन चर्चाओं में प्रवेश करना हमारे लिए अनावश्यक है।

---

[1] अस्मिन् सप्तादशाध्या कल्पा सिद्धय एव च
नासाद्यन्तेऽग्निवेशस्य तन्त्रे चरकसंस्कृते
तानेतान् कापिलबल शेषं दृढबलोऽकरोत्
तन्त्रास्यास्य महार्थस्य पूरणार्थं यथायथम्।　　　　—६ ३० २७४।

[2] ज० रा० ए० सो० १९०८ और १९०९।

राजतरंगिणी' के इस विषय पर मौन होने के तथ्य[1] के बल पर केवल महा महोपाध्याय कविराज गणनाथ सेन इस परम्परागत चीनी कथन का प्रतिवाद करते हैं कि चरक कनिष्क के राजवैद्य थे। पतंजलि के किसी चिकित्सा ग्रन्थ का रचयिता होने के कारण पतंजलि और चरक को एक मानने की उस परम्परा को वेदवाक्य मानने का कोई आधार नहीं है जो भोज से पूर्व किसी अन्य आचार्य में उपलब्ध नहीं होती। चरक (४ १) के कुछ स्थलों की पतंजलि के कुछ सूत्रों के साथ उनके द्वारा की गई तुलना मुश्किल से उपयुक्त प्रतीत होती है और अपने तादात्म्य के लिए अन्ततः उन्हें पतंजलि को एक चिकित्सा ग्रन्थ का रचयिता मानने वाले रामभद्र दीक्षित के साक्ष्य का सहारा लेना पड़ा है। उनको यह ज्ञात होना चाहिए कि एक से अधिक पतंजलि हो चुके हैं और कीमियागर तथा चिकित्सक पतंजलि वैयाकरण पतंजलि से पूर्णतः भिन्न व्यक्ति थे।

आजकल समग्र रूप में हम उपलब्ध सर्वाधिक महत्वपूर्ण टीका चक्रपाणिदत्त रचित 'आयुर्वेददीपिका अथवा चरकतात्पर्यटीका' है। दूसरी महत्वपूर्ण टीका स्वामीकुमार कृत 'चरक पंजिका' है। वे बौद्ध धर्मानुयायी थे और उन्होंने टीकाकार हरिश्चन्द्र का उल्लेख किया है। परवर्ती काल में 'चरकतत्वदीपिका' शिवदास सेन द्वारा लिखी गई थी जिन्होंने 'चक्रदत्त' पर तत्वचन्द्रिका नामक टीका भी लिखी थी। चरक पर बाष्पचन्द्र अथवा बाप्यचन्द्र, ईशानदेव ईश्वरसेन, वकुलकर, जिनदास, मुनिदास गोवर्धन, सध्याकर, जयनन्दी कृत अन्य टीकाओं और गयदास कृत 'चरक चन्द्रिका' का भी हमें ज्ञात होता है।

अन्य प्राचीन संहिताओं में हम काश्यप संहिता का उल्लेख कर सकते हैं जो काठमाण्डू में मिली थी और जिसमें आचार्य काश्यप और शिष्य मागध के बीच चिकित्सा विषयक संवाद का उल्लेख है। एक बड़ी रोचक बात दृष्टिगोचर होती है कि इसमें कुछ श्लोक (पाडु, पृ० १०५ से ११०) चरक के सूत्र स्थान के पंचम अध्याय के एक भाग से मिलते जुलते हैं। एक अन्य महत्वपूर्ण पांडुलिपि 'भारद्वाज संहिता' के नाम से विख्यात है जिसमें भेषजकल्प नामक वेंकटेश कृत टीका का एक लघुग्रन्थ भी सम्मिलित है।[2] चरक के संशोधन का आधार अग्निवेश कृत मूल ग्रन्थ अग्निवेश संहिता कम से कम चक्रपाणि के समय तक विद्यमान था, विजयरक्षित और श्रीकण्ठ दत्त भी इसमें से उद्धरण देते हैं।[3] जतूकर्ण का ग्रन्थ भी इन्हीं लेखकों के समय तक

---

[1] प्रत्यक्षशारीरम्–आमुख।

[2] डा० कार्दिये कृत Recentes De couvertes des Mss Medicaux Sanscrits dans L Inde (१८९८ १९०२) देखिए।

[3] देखिए चरक संहिता २ ? पर चक्रपाणि कृत टीका और सिद्धयोग ज्वराधिकार पर श्रीकण्ठ की टीका।

विद्यमान था क्योंकि वे समय समय पर 'जतुकर्ण संहिता' से उद्धरण देते हैं।[1] 'पराशर संहिता' और 'क्षीरपाणिसंहिता' भी श्रीकण्ठदत्त के समय तक अथवा शिवदास के समय तक भी प्राप्य थी। 'हारीत संहिता' (मुद्रित और अपेक्षाकृत आधुनिक ग्रंथ से भिन्न) भी चक्रपाणि और विजयरक्षित के समय तक उपलब्ध थी, जैसाकि उनकी कृतियों में इसके उद्धरणों से प्रकट होता है। भेल की कृति 'भेल संहिता' का कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशन हो चुका है। यह स्मरणीय है कि अग्निवेश भेल, जतुकर्ण, पराशर, हारीत और क्षीरपाणि सब एक ही आचार्य आत्रेय पुनर्वसु के अधीन अध्ययन करने वाले चिकित्साशास्त्र के सहपाठी शिष्य थे। इनमें सर्वाधिक बुद्धिमान् होने के कारण अग्निवेश ने सर्वप्रथम अपने ग्रंथ की रचना की, परन्तु भेल और उसके अन्य सहपाठियों ने भी स्वतंत्र संहिताओं की रचना की जिनका वैद्य-परिषद् के सामने पाठ किया गया था और जिनको उनके द्वारा समर्थन मिला था। चक्रपाणि और अन्य टीकाकारों ने अपनी टीकाओं में इसी शाखा के 'खरणाद संहिता' नामक अन्य ग्रंथ तथा 'विश्वामित्र संहिता' इन दोनों का प्रयोग किया है, ये दोनों ग्रंथ आजकल अप्राप्य हैं। तो भी, 'संहिता' का नाम इन ग्रंथों की प्राचीनता का कोई प्रमाण नहीं है क्योंकि वाग्भट्ट द्वितीय की रचना का भी नाम 'अष्टांग हृदय संहिता' है। हमारे पास वररुचि कृत 'वररुचि संहिता' नामक पाण्डुलिपि है और दुर्गागुप्त के पुत्र रविगुप्त कृत 'सिद्धसार संहिता' भी है जो अपेक्षाकृत आधुनिक काल की है। ब्रह्मवैवर्तपुराण में अनेक प्राचीन चिकित्सा ग्रंथों का उल्लेख है यथा—धन्वन्तरिकृत 'चिकित्सातत्त्व विज्ञान' दिवोदास कृत 'चिकित्सा दर्शन' काशिराज कृत 'चिकित्सा कौमुदी' 'अश्विनी कृत 'चिकित्सा सारतन्त्र' और 'ब्रह्मघ्न,' नकुल कृत 'वैद्य सर्वस्व,' सहदेव कृत 'व्याधि सिन्धु विमर्दन,' यम कृत 'ज्ञानार्णव' च्यवन कृत 'जीवादान,' जाबाल कृत 'तन्त्रसार' जनक कृत 'वैद्य संदेह भंजन' चन्द्रसुत कृत 'सर्वसार,' जाजलि कृत 'वेदांगसार,' पैल कृत 'निदान' करठ कृत 'सर्वधर' और अगस्त्य कृत 'द्वैध निर्णयतन्त्र'।[2] परन्तु इन ग्रंथों के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है और यह कहना कठिन है कि वास्तव में वे विद्यमान भी थे।

यह सुविदित है कि वाग्भट्ट (जिसे कभी कभी 'वाहट' लिखा जाता है) दो थे। प्रथम वाग्भट्ट चरक और सुश्रुत को जानते थे। इनके और अन्यों का यह अनुमान है

---

[1] २.२ और २.५ पर चक्रपाणि की टीका और निदान (क्षुद्ररोग) पर श्रीकण्ठ की टीका।

[2] यह अजीब बात देखने में आती है कि ब्रह्मवैवर्तपुराण में धन्वन्तरि, काशिराज दिवोदास को पृथक पृथक् व्यक्ति माना गया है यह कथन सुश्रुत के उपर्युक्त कथन के विपरीत है।

कि इत्सिंग (ई० प० ६७५–८५) का यह कथन कि पहले आठ अंग आठ खण्डों में विद्यमान थे और एक आदमी ने उन्हें कुछ समय पूर्व संक्षिप्त करके संगृहीत कर दिया और भारत के पांचों भागों के समस्त चिकित्सक इस ग्रन्थ के अनुसार चिकित्सा करते थे वृद्ध वाग्भट्ट कृत अष्टांग संग्रह की ओर संकेत करता है। ऐसी अवस्था में वाग्भट्ट प्रथम अवश्य छठी शती ई० प० के अंतिम काल में अथवा सातवीं शती ई० प० के प्रारम्भ में जीवित होंगे क्योंकि इत्सिंग का कथन है कि उन्होंने ग्रन्थ का कुछ समय पूर्व संक्षिप्त किया था, परन्तु दूसरी ओर ऐसे ग्रन्थ के भारत के पांचों भागों में प्रचार के लिए समय भी दिया जाना चाहिए। सुश्रुत और वाग्भट्ट प्रथम की तुलना यह प्रकट करती है कि वाग्भट्ट के समय में शारीर शास्त्र का अध्ययन प्रायः रुक चुका था। यह बहुत सम्भव है कि वाग्भट्ट बौद्ध थे। अष्टांग संग्रह पर इन्दुकृत एक टीका है परन्तु इन्दु से पहले अन्य टीकाएँ विद्यमान थीं जिनकी दुर्व्याख्याओं का उन्होंने खण्डन किया था।[1]

माधव, दृढबल और वाग्भट्ट द्वितीय सब वाग्भट्ट प्रथम को जानते थे। माधव नाम लेकर उनका उल्लेख करते हैं और समय समय पर 'सिद्धयोग' और 'निदान' दोनों में उनसे उद्धरण देते हैं और हॉर्नले भी ऐसा ही करते हैं।[2] हॉर्नले ने यह प्रदर्शित किया है कि दृढबल के ९६ नेत्र रोग वाग्भट्ट के ९४ नेत्र रोगों पर आधारित हैं। अपने अष्टांग हृदय के 'उत्तर स्थान' के लगभग अन्त में वाग्भट्ट द्वितीय वाग्भट्ट प्रथम के प्रति अपने ऋण को निश्चित रूप से व्यक्त करते हैं। परन्तु वे सब चक्रपाणि से पहले विद्यमान होंगे, जो दृढबल और वाग्भट्ट द्वितीय का प्रायः उल्लेख करते हैं। माधव के दृढबल से पहले होने का हॉर्नले का तर्क इस तथ्य पर आश्रित है कि सुश्रुत ७४ प्रकार के नेत्र रोगों की गणना करते हैं जहाँ वाग्भट्ट प्रथम ९४ रोगों की गणना करते हैं। दृढबल वाग्भट्ट प्रथम के ९४ नेत्र रोगों को माधव द्वारा जोड़े गए दो और नेत्र रोगों के अतिरिक्त योग के साथ स्वीकार करते हैं और इस प्रकार अपनी सूची में नेत्र रोगों की संख्या ९६ कर देते हैं। माधव ने सुश्रुत के ७६ नेत्र रोग स्वीकार किए थे और उनमें अपने दो का और योग कर दिया।[3] हॉर्नले के तर्क की दूसरी बात यह

[1] दुर्व्याख्याविषसुप्तस्य वाहटस्यास्मदुक्तयः सन्तु संवित्तिदायिन्यस्सदागमपरिष्कृता।
—इन्दु कृत टीका १. १।

[2] सिद्धयोग १. २७ अष्टांग संग्रह २. १ निदान २. २२ और २३ संग्रह १. २६६ चरक संहिता (जीवानन्द, १८९६) चिकित्सास्थान १६. ३१ संग्रह २. २६। पुनश्च चिकित्सास्थान १६. ५३ आदि संग्रह २. २७ आदि।

[3] हॉर्नले का विचार है कि माधवकृत निदान के मुद्रित संस्करण में उपलब्ध नेत्र रोगों की कुल संख्या ७६ शुद्ध नहीं है क्योंकि माधव द्वारा दिए गए नेत्र रोगों के वर्णन से उनका वास्तव में मेल नहीं बैठता है और उनमें 'पक्ष्मकोप' और 'पक्ष्मशात' भेद सम्मिलित नहीं हैं। हॉर्नले कृत Osteology पृ० १३।

है कि माधव चरक से उद्धृत अपने अंशों में विजयरक्षित द्वारा काश्मीरी पाठ बताए गए उन अंशों को सदा छोड़ देते हैं, जिनको हर्नले दृढ़बल का संशोधन कार्य बताते हैं। हर्नले के ये तर्क अत्यन्त अनिर्णायक प्रतीत होते हैं, क्योंकि यदि तथाकथित काश्मीरी पाठ की दृढ़बल के संशोधन के साथ एकरूपता स्थापित की जा सके तो दृढ़बल का काश्मीरी होना एवं उनका माधव का परवर्ती होना दोनों सिद्ध हो सकते हैं परन्तु यह मत सिद्ध नहीं हुआ है। दूसरी ओर चक्रपाणि काश्मीरी पाठ के साथ साथ दृढ़बल संस्कार का भी वर्णन करते हैं, और इससे ज्ञात होता प्रतीत होता है कि दोनों एक नहीं हैं।[1] माधव द्वारा ७८ नेत्र रोगों की गणना किए जाने के आधार पर उनके पहले होने का सुझाव कहीं अधिक दूर तक खींचा गया है। अतः माधव का काल निश्चित रूप से निर्धारित नहीं किया जा सकता है। सम्भवतः हर्नले का यह मत ठीक है कि दृढ़बल वाग्भट्ट से पूर्ववर्ती हैं।[2] फिर भी इन तीन लेखकों की सापेक्ष पूर्ववर्तिता अथवा परवर्तिता का वास्तव में कोई महत्व नहीं है क्योंकि वे एक दूसरे से थोड़े थोड़े अन्तराल में विद्यमान थे और उनका काल मोटे तौर पर आठवीं और नवीं शती ई० पू० के मध्य का काल बताया जा सकता है।

वाग्भट्ट द्वितीय की 'अष्टांग हृदय संहिता' की कम से कम पाँच टीकाएँ हैं वे हैं अरुणदत्त (सर्वांगसुन्दरी), आशाधर, चन्द्रचन्दन (पदार्थ चन्द्रिका), रामनाथ और हेमाद्रि (आयुर्वेद-रसायन) कृत टीकाएँ। इनमें से सम्भवतः अरुणदत्त ई० पू० १२२० में जीवित थे। माधव कृत रोग निदान सम्बन्धी संग्रह, 'रुग्विनिश्चय' भारतीय चिकित्सा का अत्यन्त लोकप्रिय ग्रन्थ है। इस पर कम से कम सात टीकाएँ हैं, वे हैं विजयरक्षित (मधुकोश), वाचस्पति (आतंकदीपिका), रामनाथ वैद्य, भवानीसहाय, नागनाथ (निदानप्रदीप), गणेशभिषज की टीकाएँ और नरसिंह कविराज कृत 'सिद्धान्त चन्द्रिका' अथवा 'विवरण सिद्धान्त चन्द्रिका' नाम से विख्यात टीका।[3] परन्तु विजय रक्षित कृत टीका तैंतीसवें अध्याय के साथ समाप्त हो जाती है और शेष ग्रन्थ उनके

---

[1] चक्रपाणि कृत टीका १ ७ ४६–५०।

[2] देखिए हर्नले कृत Osteology पृ० १४–१६।

[3] नरसिंह कविराज नीलकण्ठभट्ट के पुत्र और रामकृष्णभट्ट के शिष्य थे। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने 'मधुमती' नामक ग्रन्थ चिकित्सा ग्रन्थ लिखा था। उनकी 'विवरण सिद्धान्त चन्द्रिका' विजय कृत 'मधुकोश' पर आधारित होने पर भी एक उत्कृष्ट टीका है और उसमें शिक्षात्मक और नवीन बातें पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं। इसकी एकमात्र उपलब्ध पाण्डुलिपि सम्भवतः इस पुस्तक के लेखक के पारिवारिक ग्रन्थालय में प्राप्य प्रति है जो इसके प्रकाशन हेतु उसका संस्करण तैयार कर रहा है।

शिष्य श्रीकण्ठदत्त ने सम्पूर्ण किया था। वृन्द (जो सम्भवत माधव हो सकते है) ने चिकित्सा सम्बन्धी योगो का ग्रन्थ 'सिद्धयोग' लिखा था, जो चिकित्साविषयक लेखको मे सुविख्यात है।

भारतीय चिकित्सा ग्रथो के इस सक्षिप्त विवरण के सदर्भ मे 'नवनीतक' और मध्य एशिया मे खोज से प्राप्त हुए 'बोवर पाडुलिपि' के नाम से विख्यात ग्रन्थ जीर्ण शीर्ण चिकित्साविषयक ग्रन्थो की अवहेलना नही की जा सकती। यह पाडुलिपि भूर्जपत्र पर गुप्त लिपि म लिखी हुई है और सम्भवत पाचवी शती जितनी पुरानी है। यह एक बौद्ध कृति है और इसम चरक, सुश्रुत तथा अन्य अज्ञात लेखको से लिए गए कई योग हैं। फिर भी यह ज्ञात हो जाएगा कि वर्तमान ग्रन्थ जैसे ग्रथ मे भारतीय चिकित्साविषयक ग्रन्थो के कालक्रम का विशद विवेचन अथवा विस्तृत वर्णन अनुपयुक्त होगा। आयुर्वेद साहित्य और विशेषत चिकित्सा सम्बन्धी योगो और कल्प वैद्यक-निघण्टु आदि के वर्णन से युक्त भाग अपार है। आउफरेष्ट के सूचीपत्र मे लगभग १५०० हस्तलिखित ग्रथो के नाम हैं जिनम से अधिकाश अभी तक प्रकाशित नहीं हुए हैं और कई ऐसी पाडुलिपिया भी है जिनका उल्लेख आउफरेष्ट के सूचीपत्र मे नही है। आजकल अधिक प्रयोग मे आने वाली पुस्तको मे चौदहवी शती के शाङ्गधर के ग्रथो का पन्द्रहवी शती के शिवदास द्वारा चक्रपाणि पर रचित टीका का, और सोलहवी शती के भावमिश्र द्वारा रचित भावप्रकाश का उल्लेख किया जा सकता है। वगसेन का ग्रथ भी काफी प्रचलित है। शारीर विषयक ग्रथो मे भोज के ग्रन्थ और भास्कर भट्ट कृत शारीरपद्मिनी उल्लेखनीय है। डल्हण ने औपधेनव तन्त्र पौष्कलावततन्त्र, वैतरणतन्त्र और भोजतन्त्र की ओर सकेत किया है। चक्रपाणि ने अपनी भानुमती टीका मे भालुकीतन्त्र और कपिलतन्त्र का उल्लेख किया है। शारीर ग्रन्थो के विषय मे इतना ही पर्याप्त है। माधवीय निदान पर श्रीकण्ठ कृत टीका म नेत्र रोगो पर विदेहतन्त्र, निमितन्त्र, काकायनतन्त्र सात्यकितन्त्र, करालतन्त्र और कृष्णात्रेयतन्त्र का सकेत मिलता है। चक्रपाणि और डल्हण की टीकाओ म नेत्र रोगो पर 'शौनकतन्त्र, का नाम लिया गया है। डल्हण ने जीवकतन्त्र पर्वतकतन्त्र' और बधकतन्त्र का सूतिका कर्म विषयक ग्रन्थो के रूप म सकेत किया है। इसी विषय पर हिरण्याक्षतन्त्र' का नाम श्रीकण्ठ ने लिया है जबकि श्रीकण्ठ ने विषविद्या पर काश्यप सहिता और 'आलम्बायन सहिता' का उल्लेख किया है। 'उशनस सहिता' सनक सहिता और लाटयायन सहिता का भी विषविद्या विषयक ग्रन्थो के रूप मे उल्लेख किया गया है।

कुछ अन्य महत्वपूर्ण तन्त्रो म भारतीय चिकित्सा पद्धति के नियमित 'आठो अगो से युक्त नागार्जुन कृत 'योगशतक' का और 'जीवसूत्र' भेषज कल्प' का उल्लेख किया जा सकता है। उन सबका तिब्बती मे अनुवाद हो चुका था। अष्टाग हृदय पर 'अष्टागहृदयनामविदूयकभाष्य,' पदार्थचन्द्रिकाप्रभासनाम' अष्टाग हृदय वृत्ति' नामक

तीन ग्रन्थों का और 'वैद्यकाष्टाग हृदयवर्तिभेषजनामसूची' का भी तिब्बती मे अनुवाद हुआ था।

'आयुर्वेद सूत्र' योगानन्द नाथ कृत ग्रन्थ है जो इसी लेखक कृत टीका व डॉ शामशास्त्री की भूमिका सहित मैसूर विश्वविद्यालय सस्कृत माला के अन्तर्गत १६२२ मे प्रकाशित हुआ था। भूमिका मे यह ठीक ही प्रदर्शित किया गया है कि यह अति आधुनिक ग्रन्थ है, जो सभवत सोलहवी शती मे 'भाव प्रकाश' के आदर्श पर लिखा गया था। इसमे सोलह अध्याय हैं और इसमे आयुर्वेद का पतजलि के योगदर्शन से सबद्ध करने का यत्न किया गया है। इसमे यह दिखलाने का प्रयत्न किया गया है कि किस प्रकार भिन्न भिन्न प्रकार के अन्न, सत्व रजस और तमस के गुणों की वृद्धि करते हैं तथा किस प्रकार से उपवास आदि की यौगिक क्रियाए शारीरिक दशाओं को प्रभावित करती हैं। चाहे आयुर्वेद ग्रन्थ के रूप में अथवा दर्शन ग्रन्थ के रूप मे इसका योगदान बहुत अल्प है। इसमे योग को आयुर्वेद से सबधित करने की प्रवृत्ति दिखाई देती है जबकि 'वीरसिंहावलोकित' ऐसा ग्रन्थ है जिसमें फलित ज्योतिष को आयुर्वेद से सबद्ध करने का प्रयत्न किया गया है।

अध्याय ४

भगवद् गीता दर्शन

गीता साहित्य

हिन्दुग्रा के प्राय समस्त वर्गों द्वारा गीता एक पवित्रतम धार्मिक ग्रथ माना जाता है एव विभिन्न विचार धाराग्रा के अनुयायिया द्वारा इस पर कई भाष्य लिखे गए हैं जिनमे से प्रत्येक ने अपने अपने पक्ष में गीता की व्याख्या की है। सभवत शकर भाष्य प्राचीनतम भाष्य है जो अभी उपलब्ध है परन्तु उसमे प्राप्त प्रसगों एव विवेचना के आधार पर इस बात मे किञ्चित सन्देह नही रह जाता कि इसके पूर्व भी भाष्य थे जिनका खण्डन उन्होने करना चाहा।

गीता की व्याख्या करते हुए शकर ने इस मत पर मुख्यतया जोर दिया है कि यथार्थ ज्ञान वैदिक कर्तव्यो अथवा धर्मशास्त्रोक्त कर्तव्या के साथ सम्मिश्रित नही किया जा सकता। यदि अज्ञानवश अथवा आसक्तिवश एक व्यक्ति श्रुति में बताए गए कर्तव्या का पालन करता रहता है और यदि यज्ञ, दान और तप (धार्मिक तपस्या) के परिणाम स्वरूप उसका मन पवित्र हो जाता है और परम तत्व के स्वरूप के बारे मे इस यथार्थ ज्ञान का प्राप्त कर लेता है कि निष्क्रिय ब्रह्मन् ही सर्वत्र व्याप्त है तथा क्रिया विधि के सब नियमा के समाप्त होने पर भी जो साधारण व्यक्तिया की तरह निर्धारित कर्तव्या का पालन करता है तथा दूसरा को भी उसी दिशा मे कार्य करने का प्रोत्साहित करता है तब उसे कर्म यथार्थ ज्ञान के विपरीत होते हैं। जब कोई व्यक्ति बिना किसी इच्छा एव प्रयोजन के कर्म करता है तो उसे कर्म नही कहा जा सकता। कर्त्ता केवल वही है जिसे कर्म मे कामना हो। परन्तु हृदय म कामना रहित बुद्धिमान मनुष्य वस्तुत कर्म नहीं करता यद्यपि बाह्य दृष्टि से वह केवल साधारण व्यक्ति की तरह कर्म करे। अत शकर के अनुसार गीता का मुख्य सिद्धान्त यह है कि मोक्ष प्राप्ति यथार्थ ज्ञान द्वारा ही सम्भव है ज्ञान तथा नित्यनमित्तिक कर्मों का एकसाथ होना सम्भव नही। शकर के अनुसार केवल अज्ञान की अवस्था मे ही हमारे लिए कर्म करना आवश्यक हो सकता है, ज्ञान की अवस्था में नही। जिस समय ब्रह्म तादात्म्य का यथार्थ ज्ञान उदित होता है तथा अज्ञान का नाश होता है। उस स्थिति म द्वैतभाव नष्ट हो जाते हैं क्याकि कर्तव्य पालन के लिए अपने उत्तरदायित्व का अगीकार करना ही द्वैतभाव का पूर्व प्रमाण है।[1]

---

[1] शाकर गीता भाष्य २ ६९ योगाश्रम आवृत्ति, बनारस १९१९।

गीता के तीसरे अध्याय के पहले श्लोक की व्याख्या करते हुए शंकर ने उन कुछ पूर्व भाष्यकारों के मत की आलोचना की है जिनके मतानुसार यथार्थ ज्ञान होने के पश्चात् भी नित्य नैमित्तिक कर्म अनिवार्य है। अपने मत की पुष्टि में शंकर स्मृति शास्त्र की ओर संकेत करते हुए अधिकारपूर्वक यह कहते हैं कि चाहे कैसे ही अनिवार्य कर्तव्य क्यों न हों, उनके केवल न करने में ही कोई अशुभ परिणाम नहीं निकल सकता क्योंकि अकर्म अभावात्मक मात्र है और केवल अभाव का परिणाम भाव नहीं हो सकता। आवश्यक कर्तव्य न करने का अशुभ परिणाम केवल उन लोगों के लिए है जो पूर्णरूपेण संन्यासी न हों। परन्तु जिन्होंने तत्त्वज्ञानी होने के परिणामस्वरूप सब कर्मों का त्याग कर दिया है, वे वेदों के विधि निषेधों के अतीत चले गए हैं और उन पर स्मृतिशास्त्र का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता है। केवल कर्तव्य पालन से ही मोक्ष प्राप्ति नहीं हो सकती। परन्तु ज्ञान उससे सत्त्वशुद्धि होती है जिसके द्वारा यथार्थ ज्ञान का उदय होता है तथा जिसके साथ ही सब कार्य समाप्त हो जाते हैं।[1] गीता के भावार्थ पर अपना विशद विवेचन प्रस्तुत करते हुए (१८ ६७) शंकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि कर्तव्य का अर्थ भासित जगत् के नानात्व की अनुमिति करना है जो माया अथवा अविद्या का कार्य है। अतएव एकमात्र परम तत्त्व ब्रह्मन् का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेने पर उसके लिए कोई कार्य शेष नहीं रहता। *परम मुक्ति की प्राप्ति केवल यथार्थ ज्ञान द्वारा ही होती है न कि कर्म सहित ज्ञान द्वारा।* ज्ञानी के लिए किसी भी प्रकार के कर्म की विधि नहीं है। शंकर ने गीता की व्याख्या इस आशय से की है कि उसका और गीता का दर्शन सम्बन्धी मतैक्य है। उनके भाष्य का ढंग गीता के श्लोकों के तुलनात्मक विवेचना पर इतना अधिक आधारित नहीं है जितना कि वेदांत दर्शन के विवेचन के औचित्य पर है और उसी सिद्धान्त को वह गीता का तात्पर्य समझते हैं। गीता दर्शन के बारे में ग्रन्थकार का मत शंकर के सिद्धान्त के पूर्णतया विरुद्ध है। इस ग्रन्थ के बारे में यह बार बार बताया गया है कि गीता इस बात पर जोर देती है कि ज्ञानी को भी अपने निर्धारित कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिए चाहे उसे ऐसे कर्त्तव्यों के पालन से तनिक भी लाभ क्यों न हो। श्रीकृष्ण के रूप में स्वयं भगवान् आप्त काम होते हुए भी अपने स्वतः आरोपित कर्तव्य लोक संग्रह हेतु एवं इस बात का उदाहरण प्रस्तुत करने हेतु किए कि ज्ञानी को भी निर्धारित कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिए।[2]

श्री आनन्दज्ञान ने शंकर भगवद्गीता भाष्य पर भगवद्गीता भाष्य विवरण नाम की टीका लिखी एवं श्री रामानंद ने भगवद्गीता भाष्य व्याख्या नाम का एक और

---

[1] वही, ३ ४।

[2] *गीता*, ३ २२।

ग्रन्थ लिखा। ऐसा भी कहा जाता है कि उन्होंने गीतार्थ नाम का एक और भी ग्रन्थ लिखा है। ऐसा प्रतीत होता है कि शंकर युग के पश्चात् कुछ समय तक गीता पर कोई भाष्य नहीं लिखा गया। यामुनाचार्य नामक दो व्यक्तियों ने गीता पर पृथक् पृथक् एक गद्य और दूसरा पद्य दो भाष्य लिखे हैं। गद्य भाष्यकार यामुनाचार्य यद्यपि विशिष्टाद्वैतवादी थे परन्तु वह रामानुज के गुरु यामुन से भिन्न थे। कञ्जीवरम् में सुदर्शन प्रेस द्वारा प्रकाशित उसका भाष्य अत्यन्त सुबोध है जिसमें मुख्यतया गीता के श्लोकों का सम्बन्ध है। उसके विचार से गीता के प्रथम ■ अध्यायों में भक्ति के साधन स्वरूप ईश्वर के यथार्थ ज्ञान का वर्णन है। मध्य के छः अध्यायों में भक्ति एवं पूजा से प्राप्य ईश्वर के स्वरूप का वर्णन है और अन्तिम छः अध्यायों में उन्हीं विषयों की पुनरावृत्ति उनमें निहित समस्याओं के स्पष्टीकरण हेतु की गई है।

रामानुज के महान् गुरु श्री यामुन का जन्म ९०६ ई० में बताया जाता है, उन्होंने गीतार्थ संग्रह नामक ग्रन्थ में गीता की विषयवस्तु का सार प्रस्तुत किया जिस पर निगमान्त महादेशिक ने 'गीतार्थ संग्रह रक्षा' नाम का भाष्य लिखा। चौदहवीं शताब्दी में वरवर मुनि ने भी इस पर गीतार्थ संग्रह दीपिका नाम की एक टीका लिखी जिसका प्रकाशन कञ्जीवरम् के सुदर्शन प्रेस ने किया। औफेक्ट (Aufrect) ने लिखा है कि भगवद् गीतार्थ संग्रह टीका नाम के एक दूसरे और ग्रन्थ की रचना प्रत्यक्ष देव यथाचार्य ने की। श्री यामुन का मत है कि गीता का उद्देश्य इस बात की पुष्टि करना है कि नारायण ब्रह्म है जो वैराग्य यथार्थ ज्ञान एवं स्वधर्म रूपी साधन सहित भक्ति द्वारा प्राप्य है। यह कहा जा सकता है कि गीता के प्रथम छः अध्याय में आत्मज्ञान की प्राप्ति का विवरण दिया गया है जो अन्य विषयों से विरक्ति सब कर्मों को ईश्वरार्पण करना, प्रपत्ति ज्ञान एवं क्रिया योग द्वारा प्राप्य है। निगमान्त महादेशिक की राय में परोक्ष रूप में ज्ञानोत्पादन द्वारा अथवा अपरोक्ष रूप में स्वयं कर्म मुक्ति का साधन बन सकता है। सात से बारहवें अध्याय में ज्ञान एवं कर्म द्वारा भक्ति योग की प्राप्ति का वर्णन है और उनके विचार से ईश्वर के यथार्थ ज्ञान की उपलब्धि केवल इस प्रकार की भक्ति योग से ही सम्भव है। तेरह से अठारह अध्याय में भक्ति ज्ञान एवं कर्म सहित पुरुषोत्तम, पुरुष तथा प्रधान के स्वरूप का अन्तर एवं विवरण है। श्री यामुनाचार्य तदनन्तर गीता के एक एक अध्याय का वर्णन करते हैं। इस प्रकार दूसरे अध्याय में स्थितप्रज्ञ के स्वरूप का वर्णन है। ऐसी स्थिति (ब्राह्मी स्थिति) अनासक्त होकर कर्म करने की आदत एवं आत्मा को अविनाशी समझने से प्राप्त होती है। तीसरे अध्याय में यह कहा गया है कि मनुष्य को लोक रक्षा हेतु अनासक्त होकर कर्मफल को ईश्वरार्पण करके तथा यह समझकर कि गुणों के द्वारा ही कर्म होता है एवं अहंकारवश स्वयं को कर्ता समझने की मूढ़ता न करके कर्तव्य कर्म करना चाहिए। चौथे अध्याय में ईश्वरीय स्वरूप, कर्म में अकर्म देखने की विधि (अनासक्ति के कारण) तथा भिन्न भिन्न कर्तव्य एवं ज्ञान के माहात्म्य का वर्णन है। पाँचवें

अध्याय मे कर्म योग के लाभ एवं कर्त्तव्य मार्ग को पृथक विधियां तथा ब्रह्मानुभूति की स्थिति के स्वरूप का वर्णन है। छठे अध्याय में योग साधना का स्वरूप, चार प्रकार के योगी योग की विधियां तथा योग की उपलब्धि और योग को जीवात्मा एवं परमात्मा का मिलन समझकर परम पुरुषार्थ मानने का वर्णन है। सातवें अध्याय में प्रकृति अथवा गुणों द्वारा ईश्वर के स्वरूप का आवृत्त होना भगवत् अनुग्रह प्राप्ति के साधन विभिन्न भक्तों के प्रकार तथा ज्ञानी की महत्ता एवं ईश्वरीय सत्ता का वर्णन है। आठवें अध्याय मे ईश्वरीय योग और उसके अविकृत एवं अविकारी स्वरूप का वर्णन है। यहाँ शरणागत जन के कर्त्तव्य एवं यथार्थ ज्ञान के स्वरूप का भी वर्णन है। नवम् अध्याय मे परमात्मा की महिमा का वर्णन तथा मनुष्य रूप मे अवतीर्ण होने की अवस्था मे भी परम ऐश्वर्य तथा भक्ति योग का वर्णन है। दसवें अध्याय में ईश्वर की अनन्त विभूतियों भक्ति की दीप्ता एवं वृद्धि हेतु सब वस्तुओं का ईश्वर पर निर्भर होने का विशद वर्णन है। ग्यारहवें अध्याय में ईश्वर के वास्तविक अर्थात् विश्वरूप का वर्णन है और उसमे प्रत्यक्ष रूप से प्रमाणित किया गया है कि केवल भक्ति द्वारा ही तत्त्व ज्ञान एवं ईश्वर प्राप्ति सम्भव है। बारहवें अध्याय मे भक्ति को पर बताया गया है तथा उसकी प्राप्ति के साधन एवं उसके भिन्न भिन्न प्रकार बताए गए हैं। आगे चलकर यह भी व्यक्त किया गया है कि ईश्वर की उच्चतम प्रसन्नता केवल अपने भक्तों की भक्ति मे ही है। तेरहवें अध्याय मे शरीर का स्वरूप, साक्षात्कार के लिए आत्मशुद्धि, बंधन का कारण एवं विवेक का वर्णन है। चौदहवें अध्याय मे बताया गया है कि किस प्रकार गुण (सत्व, रज एवं तम) कर्म बंधन के कारण हैं। हम गुणातीत कैसे बन सकते हैं और किस प्रकार ईश्वर ही दैव का प्रतिष्ठान है। पन्द्रहवें अध्याय में बताया गया है कि किस प्रकार पुरुषोत्तम, सर्व व्यापक महेश्वर एवं सर्वाधार होने के कारण पुरुषों से एवं प्रकृतस्थ पुरुषों से भिन्न है। सोलहवें अध्याय मे दैवी एवं आसुरी सम्पदा के विभाग तथा हमारे कर्त्तव्य कर्मों के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान की दृढ़ आधारशिला की स्थापना करने वाले शास्त्रों का वर्णन है। सत्रहवां अध्याय शास्त्र एवं अशास्त्र मे अन्तर बताता है। अठारहवें अध्याय में ईश्वर को सब कर्मों का परम कर्त्ता कहा गया है। इसके साथ साथ आत्म शुद्धि की आवश्यकता व्यक्ति के कर्मों के फल का स्वरूप वर्णित है। यामुनाचार्य के मतानुसार कर्म योग में यज्ञ दान तप, तीर्थयात्रा निहित है, ज्ञान योग के अन्तर्गत आत्म निग्रह एवं चित्त शुद्धि आते है तथा भक्ति योग मे ईश्वरीय मिलन से उत्पन्न प्रेमानन्द से प्रेरित परमात्म चिन्तन निहित है। ये तीनों मार्ग परस्पर एक दूसरे की ओर उन्मुख करते हैं क्योंकि तीनों ही ईश्वरोपासना के ही स्वरूप है चाहे इन्हें नित्य अथवा नैमित्तिक समझा जाय, ये आत्मा के यथार्थ स्वरूप की शोध मे सहायक हैं। जब ब्रह्मानुभूति द्वारा अविद्या का पूर्ण रूप से नाश हो जाता है और जब मनुष्य ईश्वर का परम भक्त बन जाता है तब परम सत्ता में वह विलीन हो जाता है।

विख्यात वैष्णव आचार्य एवं ब्रह्मसूत्र के टीकाकार श्री रामानुज ने, जिनका जन्म १०१७ ई० में हुआ था, विशिष्टाद्वैत दर्शन की दृष्टि से गीता पर भाष्य लिखा। वेदान्ताचार्य वैंकटनाथ ने उस पर एक तात्पर्य चन्द्रिका नामक उप भाष्य लिखा। श्री रामानुजाचार्य ने अपने आचार्य श्री यामुन द्वारा लिखित संक्षिप्त भाष्य का ही अनुसरण किया। वर्ण धर्मों की अनिवार्यता के प्रश्न पर श्री रामानुज कहते हैं कि गीता के अनुसार प्रत्येक वर्ण द्वारा निर्धारित कर्त्तव्य किए जाने चाहिए क्योंकि शास्त्र ईश्वर के वचन हैं तथा कोई भी उसकी आज्ञा का उल्लंघन करने में समर्थ नहीं है। अतः शास्त्रों द्वारा निर्धारित नित्य नैमित्तिक सबके लिए अनिवार्य हैं। अतः कर्त्तव्यों का पालन बिना फल की कामना के केवल इसीलिए होना चाहिए कि वे शास्त्र के विधि निषेध हैं। मनुष्य ज्ञानमार्ग के योग्य उसी समय होता है जब वह केवल ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए ही कर्त्तव्य करता है, उसकी पूजा समझ कर करता है, मन की अशुद्धियों का त्याग करता है तथा इन्द्रियों को बिल्कुल अपने नियन्त्रण में रखता है। अपनी उन्नति की किसी भी स्थिति में मनुष्य ईश्वरोपासना के कर्त्तव्य को नहीं मिटा सकता एवं ईश्वर की भक्ति के द्वारा अनादि काल से चले आ रहे पापों से उसे छुटकारा मिल सकता है तथा वह ज्ञान मार्ग के लिए योग्य बन सकता है।[1] तृतीय, ८ की व्याख्या करते हुए श्री रामानुज कहते हैं कि कर्मयोग ज्ञानयोग से बढ़कर है। कर्मयोग में आत्म ज्ञान होता है अतः आत्म ज्ञान भी इसी क्षेत्र के अन्तर्गत आता है। केवल ज्ञानयोग हमें कहीं भी ले जाने में समर्थ नहीं है क्योंकि कर्म के बिना शरीर भी जीवित नहीं रह सकता। ज्ञान योगी के लिए भी नित्य नैमित्तिक कर्म करना आवश्यक है और इसी मार्ग (कर्म योग) के विकास द्वारा आत्म ज्ञान संभव है। आत्मावलोकन के समय तक कर्म मार्ग का अनुसरण करना चाहिए जिसके द्वारा मोक्ष प्राप्ति होती है। परन्तु मनुष्य का प्रधान कर्त्तव्य परम भक्ति के साथ ईश्वर में आसक्त रहना है।

तेरहवीं शताब्दी के पहले तीन चतुर्थांशों में रहने वाले मध्वाचार्य अथवा आनन्द तीर्थ ने गीताभाष्य नामक भगवद्गीता पर एक भाष्य लिखा जिस पर जयतीर्थ ने प्रमेय दीपिका में टीका की है। उन्होंने एक भगवद् गीता तात्पर्य निर्णय नामक एक अलग लेख भी लिखा जो गीता के मुख्य तात्पर्य को बताता है। इस ग्रंथ पर टीका जयतीर्थ ने अपनी न्याय दीपिका में की है। उसने इस तथ्य पर मुख्य बल दिया है कि ईश्वर प्रत्येक वस्तु से भिन्न है और परम लक्ष्य की प्राप्ति का एक मात्र साधन प्रेमा भक्ति ही है। व्याख्या करते हुए उन्होंने लम्बे वाद विवाद द्वारा शंकराचार्य के अद्वैतवाद का

---

[1] अनभिसंहितफलेन केवलपरमपुरुषाराधनरूपेणानुष्ठितेन कर्मणा विध्वस्तमनोमलोऽव्याकुलेन्द्रियो ज्ञाननिष्ठायाम् अधिकरोति। गीता ३ ३ पर रामानुज की

खंडन किया है। मनुष्य को सांसारिक वस्तुओं में आसक्ति नहीं रखना चाहिए क्योंकि प्रत्येक वस्तु हरि इच्छा से ही प्रभावित होती है। कर्म प्रत्येक व्यक्ति का करना ही है। चौदहवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में रहने वाले मध्व के छठे शिष्य कृष्णभट्ट विद्याधिराज ने गीता टीका नामक ग्रन्थ लिखा है। सत्रहवीं शताब्दी में रहने वाले सुधी द्र यती के शिष्य राघवेन्द्र स्वामी ने गीता पर गीताविवृत्ती गीतार्थ संग्रह और गीतार्थ विवरण नामक तीन ग्रंथ लिखे हैं। वल्लभाचार्य, विज्ञानभिक्षु एवं निम्बार्क मत के केशव भट्ट ने भी (गीता तत्व प्रकाशिका) नामक आजनेय ने हनुमद् भाष्य, कल्याणभट्ट ने रसिक रंजिनी, जगद्धर ने भगवद्गीता प्रदीप, जयराम ने गीता सारार्थ संग्रह, बलदेव विद्याभूषण ने गीता भूषण भाष्य, मधुसूदन ने गूढार्थ दीपिका, ब्रह्मानंद गिरि, मथुरानाथ ने भगवद् गीता प्रकाश दत्तात्रेय ने प्रबोध चन्द्रिका, रामकृष्ण, मुकुन्ददास रामनारायण, विश्वेश्वर शंकरानंद शिवदयालु श्रीधर स्वामी ने सुबोधिनी, सदानंद व्यास ने भाव प्रकाश सूर्य पंडित ने परमार्थ प्रपा नीलकंठ के भाव दीपिका और शैव दृष्टिकोण से राजानक और रामकंठ ने सर्वतोभद्र नामक ग्रन्थ लिखे। गीता के सामान्य तात्पर्य पर कई ग्रंथ लिखे गए जैसे अभिनव गुप्त और नरसिंह ठाक्कुर द्वारा भगवद्गीतार्थ संग्रह गोकुलचंद्र द्वारा भगवद्गीतार्थ सार वादिराज द्वारा भगवद्गीता लक्षा भरण कैवल्यानंद सरस्वती द्वारा भगवद्गीता सार, नरहरि द्वारा भगवद्गीता सार संग्रह विठल दीक्षित द्वारा भगवद्गीता हेतु-निर्णय। उपरोक्त ग्रंथों में अधिकतर भाष्य या तो शांकर भाष्य पर आधारित है जो एक ही विचार को दूसरी भाषा में दोहराते हैं और या वैष्णव ग्रंथों पर आधारित है जो मानव जीवन की प्रत्येक अवस्था में नित्य नैमित्तिक कर्मों का मंडन करते हैं और कभी-कभी वे ईश्वर के स्वरूप तथा जीव के साथ उसके सम्बन्ध के बारे में मतभेद रखते हैं। युक्ति अथवा मत की दृष्टि से इनमें मौलिकता नहीं है अतः हम अपने वर्तमान हेतु के लिए इन्हें छोड़ देते हैं।

गीता और योग

गीता चाहे किसी ने ही क्यों न लिखी हो, संभवतः यह प्रतीत होता है कि गीता के लेखक का पतंजली द्वारा अपने योग सूत्र १–१ में प्रयुक्त चित्तवृत्ति निरोध के अर्थ में योग शब्द का पारिभाषिक अर्थ ज्ञात नहीं था—मैं यह बता चुका हूँ कि योग शब्द की व्युत्पत्ति तीन धातु शब्दों से हुई है—युजिर् योग और युज-समाधौ अर्थात् युजिर का अर्थ है मिलाना और युज चित्तवृत्ति निरोध के अथवा एक दिशा में उन्मुख युज संयमाने अर्थात् युज् नियंत्रण के अर्थ में। गीता में योग शब्द का प्रयोग कई अर्थों में हुआ है जो एक दूसरे से असम्बन्धित सा जान पड़ता है। फिर भी उनके पारस्परिक सम्बन्ध की खोज करना असम्भव नहीं है। गीता में योग के प्रारम्भिक अर्थ की

व्युत्पत्ति धातु युजिर योगे अथवा युज है जिसका अर्थ है मिलाना-जो निषेधात्मक रूप में नियंत्रण अथवा निरोध के अर्थ में युज् धातु से सम्बन्धित है। मिलने का अर्थ किसी वस्तु से सम्पर्क स्थापित करना है तो किसी अन्य से विच्छेद करना भी है। जब कभी किसी विशिष्ट मानसिक दृष्टिकोण अथवा कर्म करने को कहा जाता है तो बुद्धि योग शब्द का प्रयोग होता है जिसका अर्थ यह है कि व्यक्ति को किसी विशिष्ट प्रकार की बुद्धि और मानसिक दृष्टिकोण को अपनाना है। इसी प्रकार कर्म योग शब्द का अर्थ नित्य नैमित्तिक कर्मों के साथ सम्बन्ध स्थापित करना है। इसके अतिरिक्त योग शब्द का अर्थ आत्मा अथवा ईश्वर पर चित्त को स्थिर करना है। उपरोक्त सब विभिन्न अर्थों में मुख्य अर्थ मिलन से है। इस मिलन में वियोग अर्थात् विच्छेद भी अन्तर्निहित है और मूलभूत तथा आवश्यक विच्छेद का अर्थ है भोगेच्छा त्याग तथा फल त्याग। इसी कारण से ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है जहां योग का अर्थ कर्मफल त्याग हो। इस प्रकार गीता के ६ २ में कहा गया है—हे पांडव! संन्यास को योग कहा गया है। संकल्प त्याग के बिना कोई मनुष्य योगी नहीं बन सकता।'[1] इच्छा त्याग के इस अभावात्मक सामान्य विचार को कहने का तात्पर्य यह है कि इस प्रकार के इच्छा त्याग के बिना उच्च प्रकार का ऐक्य सम्भव नहीं है। परन्तु इस प्रकार के फलेच्छा त्याग (संयम) के साथ साथ प्रारम्भ में नित्यनैमित्तिक कर्म करना आवश्यक है और यह केवल उच्चतर स्तर में जब वह योगारूढ़ होता है तब ही सम्भव है। योगारूढ़ होने के लिए विषयों एवं कर्मों में आसक्ति को जीतना एवं कर्मफलेच्छा को छोड़ना आवश्यक है। नित्य नैमित्तिक कर्म करते हुए तथा भोगासक्ति से मन को हटाने का प्रयास करते हुए धीरे धीरे हम स्वाभाविक रूप से भोग, आनन्द तथा स्वार्थ के उद्देश्य से अलग होने में सफल होते हैं। इस स्तर पर ही मनुष्य योगारूढ़ कहलाता है। इस समय परमात्मा एवं आत्मा अथवा यथार्थ एवं मिथ्या आत्मा के बीच संघर्ष होता है। क्योंकि आत्मा का झुकाव हमेशा स्वार्थ तथा सुख एवं रोग लक्षण निदान एवं काम चिंता से सम्बन्धित प्रयोजनों की तरफ रहता है परन्तु इसके अन्दर ही उच्चतर आदर्श रहता है जो इस ऊंचा उठा सकने में समर्थ है। मनुष्य अपना ही मित्र है और अपना ही शत्रु है। यदि वह अपने स्वाभाविक स्वभावों तथा विषयानन्द के प्रलोभनों का अनुसरण करे तो वह बुराई का निम्न मार्ग अपनाता है तथा वह अपने उच्चतर मूल्यों का शत्रु है। जबकि उसका स्पष्ट कर्त्तव्य है कि वह अपने आपको ऊंचा उठावे तथा ऐसा प्रयास करे कि वह नीचा नहीं गिरे तथा विषयों में अनासक्ति के स्तर तक पहुँच जावे। मित्र एवं शत्रु विजेता एवं जित,

---

[1] असंन्यस्तोऽपरित्यक्त फल विषय संकल्पो भिसंधिर्येन सोऽसंन्यस्त संकल्प। शांकर-भाष्य ६ २ न संन्यस्त फल संकल्पा येन। उपरोक्त पर श्रीधर भाष्य। योगाश्रम संस्करण, बनारस १९१९।

ऊँचा उठाने वाली शक्ति एवं आकर्षित करने वाली शक्ति का द्वैत परमात्मा एवं आत्मा का अन्तर बताता है। जब परमात्मा आत्मा को जीत लेता है तब आत्मा अपना ही मित्र है। जब व्यक्ति अपनी वासनाओं तथा आसक्तियों को जीतने में असफल होता है तो व्यक्ति अपना ही शत्रु है। बुराई की तरफ आकर्षित होती हुई आत्मा में भी आत्मोद्धार की शक्ति निहित रहती है। यह आत्मोद्धार की शक्ति बाह्य नहीं है, यह तो आत्मा में ही निवास करती है और गीता इस भाना में दृढ़ है–तुम्हें अपना उन्नयन करना चाहिए, अपने आपको पतनो मुख नहीं करना चाहिए क्योंकि आत्मा ही आत्मा का मित्र एवं शत्रु है।[1]

जब इस प्रकार आत्मा निम्न प्रवृत्तियों को जीत लेती है और उदात्त भूमि पर आ जाती है तब ही आत्मा और परमात्मा का मिलन होता है। परमात्मा में सदैव उत्थान का आदर्श रहता है। इस प्रकार योग के दो कार्य हैं–एक तो स्वाभाविक झुकाव वाली इन्द्रिय आसक्ति से अलग करने का प्रयास एवं दूसरी ओर अपना उन्नयन करना तथा परमात्मा से सस्पर्श का प्रयास। प्रथम स्तर पर मनुष्य शास्त्र के विधि निषेध के अनुसार कर्म करता है तदनन्तर स्वार्थोद्देश्य से तथा भोगासक्ति से अलग करने का प्रयत्न करता है एवं दूसरे स्तर पर वह निम्न प्रयोजनों को जीतने में एवं परमात्मा से सस्पर्श करने में सफल होता है। उस स्थिति में भी वह अपना कर्त्तव्य केवल कर्त्तव्य के लिए करता रहता है अथवा परमात्मा से सस्पर्श एवं ध्यानोपासना में उसका समय बीतता है। इस प्रकार गीता की मान्यता है कि जिस मनुष्य ने अपने आपको जीत लिया है तथा जो अपने आप में शान्त है वह परमात्मा से मिलता है। वही व्यक्ति सच्चा दार्शनिक है क्योंकि उसे केवल सत्य का ज्ञान ही नहीं वरन् आत्मानुभूति के कारण वह प्रसन्न भी है और उसने ऐसे सत्यों का प्रत्यक्ष साक्षात्कार कर लिया है। उसे कोई डिगा नहीं सकता। वह इन्द्रियजित् स्वर्ण और लोष्ठ में शत्रु एवं मित्र में पापी एवं सदाचारी में समानता देखता है। ६–८, ६–१०। उसका परमात्मा के साथ मिलन होता है एवं वह योगी कहलाता है।[2] कई गद्यांशों से

---

[1] ६ ५।

[2] युक्त इति उच्यते योगी समलोष्ठाश्मकाचन ६ ८। शंकर इसे निम्न प्रकार से स्वतन्त्र वाक्यों में विभाजित करते हैं –य ईदृशो युक्त समाहित इति स उच्यते कथ्यते, स योगी समलोष्ठाश्मकाचन। श्रीधर का मत इससे बिल्कुल भिन्न है। उनकी राय में यह योगारूढ स्थिति की परिभाषा है एवं युक्त का अर्थ योगारूढ से है जो मेरी राय में अनुचित है। मेरी व्याख्या सरलतर एवं उपरोक्त दोनों परिभाषाओं से अधिक अपरोक्ष है तथा छठे अध्याय के सातवें और दसवें श्लोकों के प्रसंग में उचित ठहराए जा सकते हैं।

(जहाँ इस प्रसग म क्रिया युज का प्रयोग हुआ है) यह स्पष्ट है कि योगी शब्द की व्युत्पत्ति युज्' धातु से हुई है।[1]

गीता के मत म ईश्वर अथवा परमात्मा से ऐक्य स्थापित करने के इच्छुक योगी का अपने मन एव शरीर को नियन्त्रण म रखकर निराश रहते हुए अपरिग्रही एव एकाकी रहना चाहिए।[2] योगी शुद्ध एव समभूमि पर अपना स्थिर आसन लगावे, उस पर पहल दम फिर मृगछाला और फिर कोमल वस्त्र बिछावे, वहाँ अपने विचारों, इन्द्रियो एव क्रिया व्यापारो को नियन्त्रित करे तथा मन को भगवान के एकाकी बिन्दु पर केन्द्रित करे, आत्मशुद्धि के लिए आसन पर बैठ कर योग का अभ्यास करे तथा इस प्रकार स्वय को पवित्र करे।[3] योगी को न तो अतिशय खाना चाहिए और न बिल्कुल कम ही खाना चाहिए तथा न खूब सोना चाहिए और न जागरण ही करना चाहिए। इस प्रकार उसे जीवन का मध्यम मार्ग अपनाना चाहिए एव अतिशय से बचना चाहिए। पतजलि द्वारा उपदिष्ट योग क्रिया से यह अतिशयता से बचाव बिल्कुल भिन्न है। पातजल योग ने एक ऐसी विधि का वर्णन किया है जिसके द्वारा योगी शन शन अपने जीवन की ऐसी अवस्था म अभ्यस्त हो जाता है कि अन्ततोगत्वा वह खाना पीना पूर्णरूप से छोड सकता है एव शरीर और मन को निश्चल बना सकता है। मन को एकाग्र करने म योगी का अन्तिम लक्ष्य मन की चचलता को समाप्त करना है। पतजलि के अनुसार योगी के समक्ष चित्तवृत्ति निरोध के रूप मे उत्थान का एक उद्देश्य रहता है। पूर्ण निरोध शरीर की सम्पूर्ण गतियो को रोके बिना सम्भव नही है। अतएव इच्छाओ एव वासनाओ का मूलोच्छेदन केवल इसीलिए आवश्यक नही है कि वे मन को विभिन्न विषयो की ओर उडा ले जाती हैं बल्कि इसलिए भी है कि वे शरीर की गति को आवश्यक बना कर पुन मन को क्षुब्ध बना

---

[1] योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थित गीता—६–१०।
उपविश्यासने युञ्ज्याद् योगमात्म विशुद्धये—६–१२।
युक्त आसीत मत्पर —६–१४।
युञ्जनेव सदात्मान योगी नियत मानस ६–१५।

[2] एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रह ६ १५ शकर, श्रीधर एव अन्य लेखको के अनुसार—यत्त चित्तात्मा' मे आत्मा' शब्द देहार्थ मे प्रयुक्त हुआ है।

[3] शकर एव श्रीधर 'तत्र' का प्रयोग 'आसने के विशेषणार्थ म करते हैं। आसने का यह विशेषण केवल व्यर्थ ही नही होगा अपितु एकाग्रम् बिना किसी क्रम के रह जाएगा। युञ्ज्यात् क्रिया को (जिसका शाब्दिक अर्थ जोडना चाहिए) पर श्रीधर ने अभ्यास करना चाहिए' कह कर टीका की है जो सगत प्रतीत नही होती (६ १२)।

देगी। अत योगी को मन एव शरीर की द्विविध गतियो के नियत्रण का अभ्यास करना है। सब प्रकार के सुखो के अभाव म तथा जलवायु की शीतोष्ण सम्बधी असुविधाओ में अभ्यस्त होकर उसे सम्पूर्ण प्रकार की शारीरिक गतियो को रोकने की तैयारी म उसे खाने पीने की आवश्यकता से मुक्त होने की आदत डालना है। परन्तु जबतक व्यक्ति का श्वासोच्छ्वास चालू है तबतक यह सफलतापूर्वक नही किया जा सकता अत उसे घटो एव दिनो तक ही नही बल्कि कई मास एव वर्षों तक पूर्ण श्वास नियत्रण हेतु प्राणायाम म अभ्यस्त होना है। योग मे नैतिक उत्थान को केवल इसीलिए आवश्यक माना गया है कि इच्छाओ एव वासनाओ का पूर्ण निरोध किए बिना शरीर एव मन की गतियो को पूर्णरूप से नही रोका जा सकता। योगी को शरीर एव मन मे गति पैदा करने वाली सब नई बाधाओ को ही दूर नही करना पडता अपितु सूक्ष्मतर विषयो पर मन की एकाग्रता का अभ्यास करना पडता है ताकि उसके परिणामस्वरूप मन की अवचेतन शक्तियो को भी नष्ट किया जा सके। इस प्रकार मन की शक्ति को क्षीण करने के लिए हम इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि नए इन्द्रिय विषय नए सकल्प विचार भाव इत्यादि उस (मनको) प्राप्त न कर सके एव दूसरी ओर मन को एकाग्र करने वाली क्रियाए करते रहना चाहिए जिनके द्वारा अवचेतन पूर्वानुभूतियो का महान् कोष विलीन हो जाय। दोनो ओर से बाहर निकाला हुआ मन पूर्णरूप से रिक्त एव विलीन हो जाता है। पातजल-योग का आदर्श शरीर एव मन के समस्त व्यापारो का पूरा निरोध करने वाला पूर्ण अतिशयतावाद (Extremism) है।

गीता दूसरी ओर युक्ताहार पान निद्रा तथा शरीर की सामान्य गतियो का एक स्वर्णिम मध्यम मार्ग निर्धारित करती है। गीता के योगी का उद्देश्य मन का पूर्ण रूप से निरोध नही है बल्कि मन अथवा आत्मा का ईश्वर के साथ एकत्व स्थापित करना है। ध्यानाभ्यास करने वाले योगी को आसन करने के लिए गीता का उपदेश है। इसका कहना है कि योगी शरीर मस्तक और गदन को सम करके स्थिर होना हुआ इधर उधर न देखे और अपनी नाक की नोक पर दृष्टि जमावे। गीता का प्राणायाम एव श्वासोच्छ्वास की प्रक्रिया ज्ञान है। परन्तु आश्चर्य है कि ध्यान योग के छठे अध्याय मे इसका कुछ भी प्रसग नही है जहाँ प्राय सम्पूर्ण अध्याय योगाभ्यास एव योगियो के आचरण से परिपूरित है। पाँचवें अध्याय के सत्ताईसवें श्लोक मे कहा गया है कि कुछ लोग सम्पूर्ण इन्द्रियो तथा प्राणो के सब कर्मों को आत्म सयम रूपी अग्नि मे हवन किया करते हैं। उसी अध्याय के दो अस्पष्ट श्लोको (५ २६ और ३०) मे कहा गया है कि कुछ लोग प्राणवायु का अपान मे एव अपानवायु का प्राण मे हवन किया करते है और इस प्रकार प्राण और अपान की गति को रोककर प्राणायाम किया करते हैं और कुछ लोग अल्पाहारी होकर प्राणो मे प्राणो का ही

विस्तृत एव सार्वभौमिक हो जाती है तथा स्वार्थ परमार्थ में परिवर्तित हो जाता है। इस दृष्टिकोण से योग को गीता ने कही कही समत्व की संज्ञा दी है।[1]

गीता मे पतञ्जलि योग सूत्र जैसा योग का कोई निश्चित एव विशेष अर्थ नहीं माना गया है जिसके फलस्वरूप योग की परिभाषा एक नही अनेक की गई हैं। इस प्रकार, योग का कर्म योग कहा गया है (५–१) और इसे सांख्य योग अर्थात् ज्ञान योग से भिन्न समझा गया है (२, ३९)। कर्मयोग को योगियो का मार्ग (३–३) (३,७) (५,२) (१३,२४) मे बताए जाने का प्रसग है। बुद्धियोग का भी प्रयोग कम से कम तीन स्थानो पर (२–४९, १० १० १८ ५७) और भक्तियोग का प्रयोग एक स्थान पर (१४ २६) किया गया है। इन सभी प्रसगो मे योग का जो अर्थ अनुकूल प्रतीत होता है वह 'सयुक्त होना'। यह कहा ही जा चुका है कि योग का उपरोक्त व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ गीता का मुख्य विषय है। गीता का एक मुख्य उपदेश यह है कि मनुष्य को अपने नित्य कर्म करने चाहिए और इसी कर्तव्य परायणता को ही कर्म योग कहा गया है। परन्तु स्वार्थलाभ अथवा सुख की भावना से प्रेरित होकर किए जाने की अवस्था में कर्म परम लाभ की प्राप्ति के हेतु नही हो सकते। अत किसी लाभ अथवा सुख से प्रेरित हुए बिना कर्म करने की सलाह दी गई है। अतएव कर्म करते हुए शुभ एव अशुभ फलो से, सुख एव दु ख से तथा अपने ही कर्मों से उत्पन्न निन्दा और स्तुति से निष्कलंकित रहना फल म अनासक्ति रखने से सम्भव है और मनुष्य के लिए कर्म करने का यही उचित ढग है। निष्काम्य कर्म करना ही कर्म मे कुशलता है क्योकि इसी मार्ग द्वारा मनुष्य योग युक्त होने अथवा आत्म लाभ मे समर्थ हो सकता है। यहाँ योग को कर्म करने मे कुशलता कहा गया है (योग कर्मसु कौशलम् २ ५०) केवल कर्म करने की अथवा अनासक्ति रहने की कला ही योग नही कही जा सकती। इसे योग इसलिए कहा गया है क्योकि यह परम तत्व की प्राप्ति म एक आवश्यक साधन है। अत यह स्पष्ट है कि योग श ब्द का क्रमश उच्चतर भावार्थों मे रूपा तर हुआ है जिसका आधार निस्सदेह 'युज' धातु है।

इस सम्ब ध मे यह बात ध्यान मे रखना महत्वपूर्ण है कि पातजल योग म वर्णित प्राणायाम की प्रक्रिया गीता के कर्मयोग, बुद्धियोग अथवा परमयोग की आवश्यक अग नही मानी गई है। यह कहा जा चुका है कि प्राणायाम का प्रयोग प्रतीकोपासना के प्रसग मे ही हुआ है जिसका गीता के योग सम्ब धी सामा य विचार से कोई सम्ब ध नही है। गीता मे समाधि श द का प्रयोग सज्ञारूप मे तीन बार (२ ४४,५३,५४) और क्रियारूप म तीन बार (६ ७, १२ ६ १७ २) किया गया है परन्तु क्रिया रूप का प्रयोग पतजलि के विशेष अर्थ में नही हुआ है अपितु साधारण धात्वर्थ मे अर्थात्

[1] समत्व योग उच्यते २ ४८।

धा=(अर्पण या स्थापन)। दो स्थानों पर (२४४ तथा ५३) सज्ञा रूप धि शब्द का अर्थ श्रीधर और शंकर ने मन का अधिष्ठान अथवा मन अर्थात् ईश्वर बतलाकर किया है।[1] गीताकार को मानव के आंतरिक का भली भाँति ज्ञान था। उसके मतानुसार हम अपने आत्म तत्व से संपर्क हो अपनी वासनाओं की तुच्छता के, कर्म फलेच्छा के, एवं निकृष्ट अपेक्षाकृत अधिक आदर देने का परित्याग कर सकते हैं। क्योंकि सम्पर्क स्थापित करना ही ईश्वर से सामीप्य स्थापित करना है। इस अवस्था में जगत् में मानव के स्थान तथा उसके भविष्य के बारे में उसका विस्तृत तथा उच्चतर दृष्टिकोण बन जाता है इसलिए वह ब्रह्म के साथ एकत्व स्थापित करता है जिसके फलस्वरूप उसका व्यक्तिगत स्वार्थ समाप्त हो जाता है। वह नीच ऊँच में एवं पापी और पुण्यवान् में समदर्शी हो जाता है। वह ईश्वर को सब भूतों में तथा सब प्राणियों को ईश्वर में देखता है और यही स्थिति गीता के अनुसार वास्तविक योग है। इस स्थिति में जाति, धर्म, उच्च पद पाप, पुण्य एवं ऊँच नीच की सब विषमताएँ समाप्त हो जाती हैं और इस सार्वलौकिक समानता की श्रेष्ठानुभूति को भी योग कहा गया है। केवल इस स्थिति को ही योग की संज्ञा नहीं दी गई है अपितु स्वयं ईश्वर को भी योगेश्वर कहा गया है। इस योग के फलस्वरूप योगी को परम शांति तथा परमानंद की प्राप्ति होती है तथा उसे तनिक मात्र भी भौतिक दुःख दर्द स्पर्श तक नहीं कर सकते। दुःख अथवा आनन्द की अवस्था में यह पूर्ण स्वतंत्रता योग का फल होने के कारण स्वयं योग कही गई है। उपर्युक्त सर्वेक्षण से यह स्पष्ट है कि गीता का योग पतंजलि के योग से सर्वथा भिन्न है और गीताकार पातंजल योग अथवा उसके द्वारा प्रयुक्त विशिष्ट पदों से परिचित रहा होगा—ऐसी सम्भावना प्रतीत नहीं होती।[2]

गीता में योग का विश्लेषण भी उपनिषदों में वर्णित योग से सर्वथा भिन्न है। कठोपनिषद् में इन्द्रिय दमन को योग कहा गया है परन्तु गीता में दम को योग न मान कर उसको केवल प्रारम्भिक अवस्था ही माना गया है। अन्य उपनिषदों में वर्णित बहुत सी यौगिक प्रक्रियाओं में पतंजलि के मत की तरह योग को षडांगयोग अथवा अष्टांगयोग

---

[1] २४४ में शंकर ने अंतःकरण अथवा बुद्धि को मनस् का कर्म माना है। परन्तु श्रीधर इस कर्म को ईश्वर मानते हैं एवं २५३ में शंकर और श्रीधर में मतैक्य है कि कर्म अथवा योगारूढ़ता अथवा मिलन का आधार ईश्वर है।

[2] परन्तु में योगमैश्वरम् ९.५, एवं विभूति योगञ्च १०.७, उपर्युक्त दोनों स्थलों पर योग का विभिन्न अर्थ है क्योंकि वह अलौकिक शक्तियों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है परन्तु टीकाकार शंकर एवं श्रीधर वहाँ भी उसका अर्थ 'युक्ति' के अर्थ में तथा 'ऐश्वर योग' की व्याख्या 'अलौकिक शक्तियों से युक्त' के अर्थ में करते हैं।

की संज्ञा दी गई है। उसमें केवल प्राणायाम का ही नहीं अपितु षट्चक्र तन्त्र के अर्वाचीन ग्रन्थों में शरीर के नाडी तन्त्र इडा पिंगला, सुषुम्ना, नाडी तन्तुओं का जाल, मूलाधार एवं अन्य समान विषय का विस्तृत विवरण है। उदाहरणार्थ, अमृतनाद भी पतंजलि की तरह योग के षडांग, प्रत्याहार ध्यान, प्राणायाम, धारणा, तर्क, समाधि का वर्णन करते हैं तथा कैवल्य स्थिति को ही योग का अन्तिम लक्ष्य मानते हैं। अमृत बिन्दु का मत है कि सर्वव्यापी ब्रह्म (विभु) ही एकमात्र सत् है और उसके मतानुसार मनस ही बंध एवं मोक्ष का कारण होने से योगी के लिए सर्वश्रेष्ठ उपाय यही है कि वह उसको विषय विहीन तथा क्रियाहीन करे और इस प्रकार मन का विलीनीकरण करके ब्रह्मभूत हो जाय। ब्रह्म को यहाँ पूर्ण निर्गुण, अनानुमेय अनन्त और अनादि की संज्ञा दी गई है। क्षुरिक प्राणायाम, ध्यान, धारणा और समाधि का वर्णन सुषुम्ना, पिंगला नाडी तन्तुओं के जाल इत्यादि के साथ साथ वर्णन करता है। तेजोबिंदु नामक एक वेदान्तिक उपनिषद् है जो अद्वैतवाद के भी आगे है। उसने योग को अद्वितीय एवं शुद्ध चैतन्य स्वरूप ब्रह्म के साक्षात्कार का साधन एवं जगत् को मिथ्या माना है। उसमें योग के निम्नलिखित पंचदशांग बताए गए है यम, नियम, त्याग मौन, एकान्त, आसन ध्यान शरीर का सीधा रखना दृक् स्थिति, प्राण संयमन्, प्रत्याहार, धारणा, आत्मोपासना और ब्रह्मानुभूति। योग की यह व्याख्या पातंजल योग एवं गीता के योग से सर्वथा भिन्न है। त्रिशिक ब्राह्मण ग्रन्थ में वर्णित अष्टांगयोग और पातंजल योग के आठ अंगों में नाम में समानता होते हुए भी अर्थ में भिन्नता है। जैसेकि यहाँ यम का अर्थ वैराग्य नियम का अर्थ परम तत्व में अनुरक्ति, आसन का अर्थ सब वस्तुओं के प्रति उदासीनता, प्राण संयम का अर्थ जगत् के मिथ्यात्व की अनुभूति, प्रत्याहार का अर्थ मन का अन्तर्मुखी होना धारणा का अर्थ मन की निश्चलता, ध्यान का अर्थ स्वयं को शुद्ध चैतन्य समझना, समाधि का अर्थ ध्यान विहीन अर्थात् निर्विकल्पता है। फिर भी पतंजलि द्वारा वर्णित यम नियम के प्रायः सभी गुण इसमें वर्तमान है। इसमें हठयोग की तरह कई आसनों की, नाडी तन्तुओं के जाल में प्राण की गति, नाडी शुद्धि के तरीके एवं प्राणायाम की प्रक्रियाओं का वर्णन है। यहाँ भी योग का लक्ष्य मन का विलीनीकरण एवं कैवल्य की प्राप्ति है। दर्शन ग्रन्थ में पतंजलि की तरह ही यम, नियम, आसन प्राणायाम प्रत्याहार, धारणा, ध्यान समाधि इत्यादि अष्टांग योग के साथ ही साथ नाडियों का अध्ययन और उनमें प्राण एवं अन्य वायु के प्रकार की गति का वर्णन है। यहाँ योग का अन्तिम उद्देश्य ब्रह्मभूत की प्राप्ति एवं जगत् को माया और मिथ्या समझना है। ध्यानबिंदु ने आत्मा को सब वस्तुओं की बड़ी तथा आवश्यक सार बताया है जैसेकि पुष्पों में गन्ध, माला में सूत्र, एवं तिल में तेल। इसमें आसन, प्राण संरोध, प्रत्याहार धारणा, ध्यान, समाधि षडांग योग का वर्णन है। इसमें चतुर्दल कुण्डलिनी एवं मुद्राभ्यास की क्रिया का वर्णन है। इसमें प्राण और अपान के ऐक्य को योग

की प्राप्ति का साधन बताया है।[1] इस योग का लक्ष्य परमात्मा का साक्षात्कार अथवा मोक्ष की परावस्था को प्राप्त करना है। अन्य उपनिषदों के प्रसंग की ओर जाना व्यर्थ है क्योंकि जो कुछ अबतक बताया गया है उससे स्पष्ट है कि गीता मे वर्णित योग का सिद्धान्त उन योग उपनिषदों के सिद्धान्त से सर्वथा भिन्न है जिनमे अधिकतर आपेक्षित रूप से अर्वाचीन काल की तिथि के है तथा सम्भवतः जो गीता से भिन्न परम्पराओं के साथ संबद्ध हैं।

गीता में सांख्य और योग

गीता में कहीं कहीं सांख्य और योग को भिन्न और कहीं कहीं एक ही माना गया है। यद्यपि गीता का आधार गुण, प्रकृति और उसके विकार हैं फिर भी सांख्य शब्द का प्रयोग गीता में ज्ञान मार्ग के अर्थ मे किया गया है। गीता के २ ३९ श्लोक मे ज्ञान योग को कर्म योग से पृथक माना गया है यहा श्रीकृष्ण ने कहा है कि अभी मैंने सांख्य-योग का वर्णन किया है और अब मैं योग का वर्णन करता हूँ। इससे सांख्य योग के अर्थ का पता चलता है। यह ज्ञान आत्मा के अमरत्व तथा उससे सम्बन्धित पूर्वजन्म के सिद्धान्त के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसके अतिरिक्त यह सिद्धान्त भी प्रतिपादित किया गया है कि जन्म, वृद्धि एवं विनाश आदि परिवर्तन शरीर के धर्म होते हुए भी आत्मा पूर्ण रूप से अविकारी रहता है। आत्मा सनातन, विभु (सर्वव्यापी), अविकारी अनिर्वचनीय एवं अचिन्त्य होने के कारण शस्त्र उसका छेदन नही कर सकते एवं अग्नि उसे जला नही सकती। गीता के १३–२५ मे यह कहा गया है कि कई लोग आत्मा को सांख्य योग के अनुसार समझते हैं एवं शंकर इस श्लोक की विवेचना करते हुए कहते हैं कि सत्व, रज और तम गुणों से पूर्णतया भिन्न आत्मानुभूति का नाम ही योग है। परन्तु यह अर्थ मान लेने पर सांख्य शब्द के साथ जुड़े हुए योग शब्द का अर्थ स्पष्ट नही होता। शंकर ने योग शब्द के अर्थ की व्याख्या न करते हुए केवल सांख्य शब्द का अर्थ बताया है और दोनों का अर्थ एक ही किया है जो पलायन प्रतीत होता है। श्रीधर, शंकराचार्य द्वारा मान्य सांख्य की व्याख्या का अनुसरण तो करते हैं परन्तु उनके लिए सांख्य एवं योग को समानार्थ समझना कठिन है। उसने योग की व्याख्या पतंजलि के समान, आठ अंगों वाले योग के अर्थ मे की है परन्तु उन्होंने यह स्पष्ट नही किया है कि अष्टांग योग को किस प्रकार सांख्य के अर्थ मे लिया जा सकता है। निस्सन्देह यह सत्य है कि ठीक पूर्वोक्त श्लोक मे यह

---

[1] तत्र प्राणापानयो ऐक्यं कृत्वा, ध्यानबिंदु देखिए ९३–८ (एडयर लाइब्रेरी संस्करण १९२०)। यह गीता के 'प्राणापानौ समौ कृत्वा' के सादृश्य प्रतीत होता है।

कहा गया है कि मनुष्य का व्यवहार चाहे जैसा हो, यदि वह त्रिगुणमयी प्रकृति एवं पुरुष के भेद को जान लेता है तो उसका पुनर्जन्म नहीं होता। परन्तु यह मानना निराधार है कि पूर्वोक्त श्लोक में प्रयुक्त 'सांख्येन योगेन' का ज्ञानार्थ में प्रयुक्त किया गया है क्योंकि इस श्लोक में आत्मसाक्षात्कार के विभिन्न मार्गों का संक्षिप्त वर्णन करते हुए भगवान कृष्ण ने कहा है कि कुछ लोग आत्मा का आत्मा में आत्मा के द्वारा साक्षात्कार, *ध्यान योग द्वारा, कुछ सांख्य योग द्वारा और कुछ कर्मयोग द्वारा* करते हैं। दूसरे श्लोकार्ध (३ ३) में कहा गया है कि दो प्रकार की निष्ठाएँ हैं—ज्ञानयोग से सांख्यों की और कर्मयोग से योगियों की। यदि योग शब्द का अर्थ जैसा कि कई प्रसंगों में प्रयुक्त हुआ है—जुड़ना लिया जाय तो सांख्य और सांख्य योग का प्रायः एक ही अर्थ होगा। क्योंकि सांख्य योग का अर्थ सांख्य के साथ जुड़ना होगा और सांख्येन योगेन का अर्थ या तो सांख्य के साथ जुड़ना या सांख्य के साथ योग होगा। यह कहा जा चुका है कि गीता के मतानुसार २ ३९ सांख्य का अर्थ आत्मा की अमरता सर्वव्यापकता अविकार्यता और अनन्तता का यथार्थ ज्ञान है। यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि यह ज्ञान सम्बन्धित नैतिक उत्थान सहित आत्मा के परमात्मा के साथ मिलने का कारण बन सकता है। इस प्रकार एक ओर तो सांख्य के इस अर्थ का प्रयोजन सांख्य की कर्मयोग से भिन्नता और साथ ही साथ सांख्य की योग से एकता प्रकट करना है। इस प्रकार गीता (५ ४ ५) के अनुसार मूर्ख ही सांख्य और योग को अलग अलग मानते हैं पंडित ऐसा नहीं मानते। क्योंकि दोनों में से किसी एक का ज्ञान होने पर दोनों का फल प्राप्त हो जाता है। ज्ञानयोगियों द्वारा जो परम धाम प्राप्त किया है निष्काम कर्मयोगियों द्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है। जो व्यक्ति ज्ञान योग और निष्काम कर्मयोग को (फलरूप से) एक देखता है वही उन्हें सही सन्दर्भों में समझता है। प्रसंग से ऐसा प्रतीत होता है कि श्लोकों में सांख्य और योग का क्रमशः कर्म संन्यास और योग के अर्थ में प्रयोग किया गया है। यहाँ सांख्य का गौण अर्थ कर्म फल संन्यास है। अविकारी एवं अनन्त आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानने वाला ज्ञानी अपने कर्मफल में आसक्त नहीं हो सकता तथा सांसारिक तृष्णा एवं वासनाओं से प्रभावित नहीं हो सकता। जैसा कि योग शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है इसी तरह से सांख्य का अर्थ यहाँ भी मुख्यतया 'ज्ञानार्थ' के अतिरिक्त कर्म संन्यास किया गया है और चूंकि कर्मयोग का अर्थ निष्काम अर्थात् फलत्याग है अतः सांख्य और योग का व्यावहारिक अर्थ एक ही है और इसीलिए इनका तादात्म्य भी है, और दोनों का फल एक ही है। योग का योगयुक्त के अर्थ में लेने पर भी फल एक ही होगा कर्त्तव्यपरायण होने की भावना में ईश्वरार्पण बुद्धि एक आवश्यक अंग है क्योंकि बिना ईश्वरार्पणबुद्धि के निष्काम कर्त्तव्य परायणता स्थिर नहीं रह सकती। उपर्युक्त बात की पुष्टि में सांख्य योग का एकत्व स्थापित करने के लिए गीता के दो श्लोकों में (५ ६ ७) में कहा गया है कि निष्काम कर्मयोग

के बिना संन्यास प्राप्त होना कठिन है (और) निष्काम कर्मयोगी परब्रह्म परमात्मा को शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है। वश में किया हुआ है शरीर जिसके ऐसा जितेन्द्रिय (और) विशुद्ध अन्तःकरण वाला (एवं) संपूर्ण प्राणियों के आत्म रूप परमात्मा में एकीभाव हुआ निष्काम कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता।

उपर्युक्त विवेचना से यह सार निकलता है कि गीता में इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि शंकराचार्य के अनुसार सांख्य का अर्थ प्रकृति और गुणों का पुरुष से अन्तर बताना है (गीता १३ २५) अथवा इसका सम्बन्ध कपिल के सांख्ययोग के पुरुष प्रकृति एवं उनके विकारों के सृष्टि रचना सम्बन्धी सिद्धान्त एवं सत्तामूलक अथवा तत्त्वार्थ सिद्धान्त से है। निस्सन्देह पुरुष एवं प्रकृति के दर्शन एवं सिद्धान्त से गीताकार भली-भाँति विज्ञ था परन्तु इसे सांख्य की संज्ञा कहीं भी नहीं दी गई है। गीता में सांख्य का अर्थ तत्व ज्ञान अथवा आत्म बोध है। शंकर अपने गीता भाष्य (१८ १३) में सांख्य का वेदान्त बतलाते हैं यद्यपि १३ २५ में सांख्य की परिभाषा पुरुष और प्रकृति में भेद ज्ञान कहकर की गई है जिससे गीता के सांख्य का कपिल के सांख्य के साथ समानार्थ होता है।

महाभारत में भी सांख्य एवं योग का कई स्थानों पर वर्णन है। परन्तु प्रायः सभी स्थलों में उसका प्रयोग परम्परागत कपिल सांख्य अथवा अन्य कोई वैसे ही मत के अर्थ में है। योग का भी प्रयोग या तो पतञ्जलि योग अथवा कोई पूर्व प्रचलित योग सूत्रों के अर्थ में है। एक स्थान पर योग एवं सांख्य का एक अर्थ में प्रयोग हुआ है जो गीता के अर्थों से अक्षरशः मिलता जुलता है। परन्तु महाभारत एवं गीता के सांख्य अथवा योग के प्रयोग का कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। जैसाकि पहले कहा ही जा चुका है कि गीता में योग का प्रयोग तीन अलग अलग अर्थों में किया गया है ईश्वरार्पण कर्मफल त्याग, और परम प्रभु एवं विभु ईश्वर से युक्त होना। महाभारत के उपर्युक्त अध्याय में इन्द्रियों को मन में मन को अहंकार में अहंकार को बुद्धि में और बुद्धि को अव्यक्त (प्रकृति) में लय करने का एवं प्रकृति को विकारों सहित समाप्त करके पुरुष का ध्यान करने का वर्णन है। इससे यह स्पष्ट है कि इस योग दर्शन का कपिल के सांख्य दर्शन से निश्चित रूप से सादृश्य है।[1] महाभारत में (१२ ३०६) योग का मुख्यतः प्रयोग 'ध्यानार्थ' में किया गया है जिसके अंग हैं मनस एकाग्रता एवं प्राणायाम। यह कहा जाता है कि योगी को मनस द्वारा अपनी इन्द्रियों का एवं बुद्धि द्वारा अपने मनस का निरोध करना चाहिए। ऐसी स्थिति में वह युक्त एवं शान्तिपूर्ण स्थान में गतिहीन दीपशिखा की तरह है।[2] यह श्लोक स्वभावतः

---

[1] यदेव योगाः पश्यन्ति तत् सांख्यैरपि दृश्यते
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स तत्त्ववित् ॥

[2] गीता ६ १९ यथा दीपो निवातस्थो।

गीता के ध्यान योग की याद दिलाता है (६ ११–१३ १६–१६ और २५,२६) परन्तु कमफल मे ईश्वरार्पण करना एव उससे युक्त होने का योग का मूलभूत विचार इसमे नही है।

यहाँ पर यह बताना अनावश्यक है कि गीता के योग का बौद्ध धर्म के योग से कोई सम्बन्ध नही है। बौद्ध धर्म मे योगी प्रथमत शील एव चित्त निरोध (मनस नियन्त्रण) मे अभ्यस्त होकर मनस का समाधान उपधारण एव प्रतिष्ठा की तैयारी करता है। इस समाधि का अर्थ प्रयत्न एव उसके एकारम्मन पर मन की एकाग्रता से है ताकि मन की अवस्थाए डॉवाडोल न हो और एक स्थान पर स्थायी रहे। मुनि को प्रथमत खान पान की तृष्णाओ से इन भावनाओ द्वारा घृणा होनी चाहिए कि अन्तत व मल, मूत्र, कफ इत्यादि दुर्गन्धित पदार्थो मे परिवर्तित होगी। जब कोई व्यक्ति उपरोक्त प्रतिषेध की भावनाओ मे अभ्यस्त होता है तो उनमे उसका वैराग्य उत्पन्न हो जाता है तथा उन्हे अपरिहार्य दोष समझता है और उसमे की प्रतीक्षा करता है जब दु खो का पूर्णरूपेण अन्त हो जाएगा। आगे जाकर मुनि को अपने मन को इन भावो से पूरित करते रहना चाहिए कि उसके सारे अवयव पृथ्वी, जल वायु अग्नि इन चार तत्वो से बने हुए है जिसकी तुलना मास विक्रेता की दुकान मे रखे हुए गाय के शव से की जा सकती है। अन्ततोगत्वा उसे बुद्ध, सघ देवता एव बुद्ध के नियम की महानता अथवा गुणो पर शीलव्रत के सुप्रभाव एव दान मरण के स्वरूप एव दृश्य जगत् के अन्तिम विनाश, पर मनन करने की आदत डालनी चाहिए। उसे विभिन्न चित्त शुद्धि की प्रक्रियाएँ करनी चाहिएँ। उसे श्मशान भूमि म जाकर स्वय आखो से देखना चाहिए कि मानव शव कितना भयानक दुर्गन्धयुक्त घृणित अशुद्ध एव अरुचिकर है। इस प्रकार तात्विक दृष्टि से वह मानव शरीर को भी उपयुक्त शव के समान समझकर घृणित समझेगा। उसे मानव शरीर रचना सम्बधी अवयव तथा उनकी क्रियाओ के विषय म विचार करना चाहिए जिससे उसको देह भाव छोडकर ध्यान मग्न होने मे सहायता मिलेगी। एकाग्रता के लिए एकान्त स्थान मे आसन लगाकर मुनि को श्वास निश्वास पर ध्यान लगाना चाहिए ताकि अचेतन रूप से श्वास लने के बजाय उसे यह ज्ञान हो जाय कि उसका सास धीरे चल रहा है अथवा तीव्र गति से। साँस की इस गति का गिनती द्वारा ध्यान रखना चाहिए ताकि सख्या पर ध्यान द्वारा श्वास निश्वास की प्रक्रियाओ को पूर्णरूप से सम्पूर्ण परिस्थितियो म समझा जा सके। इसके उपरान्त मैत्री करुणा, मुदिता एव उपेक्षा के चतुष्ट ध्यान ब्रह्मविहार का प्रसग आता है। विश्व मैत्री भाव के ध्यान म अभ्यस्त होने के हेतु मनुष्य को प्रारम्भ मे यह विचार करना चाहिए कि वह किस प्रकार सब प्रकार के दु खो से छूटकर सुखी रहे, किस प्रकार वह मृत्यु को जीतकर प्रसन्न चित्त रहे फिर यही विचार आत्मोपम्य द्वारा दूसरो पर लागू करे। इस प्रकार उसे ऐसा विचार करने की आदत डालनी चाहिए कि उसके शत्रु, मित्र तथा अन्य लोग जिएँ सुखी रहे।

इस प्रकार की धारणा मे उसे ऐसा दृढ होना चाहिए कि उसके लिए अपने तथा दूसरा के सुख एव सुरक्षा मे कोई भेद न रह जाय। ध्यान के विषय पृथ्वी, जल अग्नि वायु रग इत्यादि हो सकते हैं। विषय के ध्यान की प्रथम अवस्था म विषय के नाम रूप का ज्ञान होता है, तदुपरान्त मर्म्वा घत गति समाप्त होकर मन विषय के अन्तर तम म स्थिर हो जाता है। अगली दो अवस्थाओ म प्रसन्नवदनाप्रति एव अखड अन्तरानद की प्राप्ति होती है तथा आग की ओर ले जाने वाली इस ध्यानोत्पन्न एकाग्रता के फलस्वरूप चित्त विमुक्ति अर्थात् निर्वाण प्राप्ति होती है।

यह स्पष्ट है कि इस बौद्ध योग का पातजल योग पर बहुत ऋण है परन्तु गीता के योग का उससे कोई सरोकार नही। बौद्ध योग के नैराश्यवाद का कुप्रभाव केवल पातजल योग पर ही नही अपितु अर्वाचीन हिन्दू विचारधाराओ पर भी प्रतिपक्षी भावनाओ के चिन्तन का प्रोत्साहन देने के रूप मे पडा, ये भावनाएँ साधारणत आत्मपक्ष प्रतीत होती हैं।[1] पतजलि ने और तदनन्तर हिन्दू ग्रन्थो ने मैत्री इत्यादि की भावनाए भी बौद्ध दर्शन से अगीकार की। विभिन्न साधारण विषयो पर ध्यान करने के ढग भी गीता के ध्यान योग स असमान हैं। बौद्ध योग का नैराश्य का अशमात्र भी गीता मे नही है। यह यही भी सब वस्तुओ के जुगुप्सामय पक्ष पर ध्यान करने को नहीं कहती जिससे कि हमारे मन मे सभी सासारिक वस्तुओ के प्रति घृणा की भावना उत्पन्न हो जाए। यह प्राणिमात्र के प्रति मैत्री अथवा करुणा की भावना के आदर्श तक नही पहुँचती। इसका एक मात्र उद्देश्य मनुष्य का समत्व योग सिखाना है जिससे कि भक्त अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता के परे चला जाय तथा जिससे दुराचारी और सदाचारी तथा स्व एव पर का भेद नष्ट हो जाय। प्रपत्ति योग एव निष्काम कर्मयोग का दर्शन बौद्ध धर्म म नही पाया जाता। यह प्रपत्ति अथवा न्याय पातजल योग मे भी मिलता है परन्तु वहाँ इसका प्रयोग चित्तवृत्ति के निरोध के विशिष्ट अर्थ म नही किया गया है। पतजलि के सूत्रो म यह विचार एक स्थान पर ही उपलब्ध है एव बाद के काल के अध्यायो म वर्णित योगिक क्रियाओ की सम्पूर्ण विधि म इसका ज्ञान नही है। सम्भवत ऐसा प्रतीत होता है कि पतजलि के सूत्र उपर्युक्त विचार के लिए गीता के ऋणी हैं जहाँ प्रपत्ति एव ईश्वर युक्त का योग कहा गया है तथा यही गीता का मुख्य विषय है जो पुन पुन गीता मे दोहराया गया है।

इस प्रकार योग उपनिषद् पतजलि योग-सूत्र बौद्ध-योग अथवा महाभारत (जिसमे योग विषय का वर्णन है) को गीता के निरूपण का स्रोत निश्चित करने म हम असफल हुए हैं। केवल पचरात्र ग्रन्थो म ही गीता के समान योग का अर्थ ब्रह्म समर्पण माना

[1] न्याय मजरी वैराग्य शतक शान्ति शतक, देखो।

गया है। उदाहरणार्थ अहिर्बुध्न्य संहिता में योग का प्रयोग हृदयाराधन, हवि तथा भगवते आत्म समर्पण के अर्थों में किया गया है और योग की परिभाषा जीवात्मा का परमात्मा से संयोग कहकर दी गई है।[1] अत यह निश्चय नहीं प्रतीत होता है कि पंचरात्र ग्रन्थों के एवं गीता के योग के परम्परागत स्रोत एक ही है।

गीता मे सांख्य दर्शन

यह पहले ही कहा जा चुका है कि इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि गीता मे सांख्य शब्द का अर्थ परम्परागत साम्य दर्शन से है। फिर भी प्रकृति एवं पुरुष का प्राचीन दर्शन गीता के दर्शन का आधार है। इस दर्शन का संक्षिप्त निरूपण इस प्रकार है गीता म प्रकृति का महद् ब्रह्म (अर्थात् योनि के रूप मे महान् रचयिता) कहा गया है (गीता १४ ३)।[2] गीता म कहा गया है कि प्रकृति को गीता म योनि बताया गया है जिसम सृष्टि रचना के हेतु ईश्वर गर्भ धारण का हेतु है नाना प्रकार की सब योनियों मे जितनी मूर्तियाँ अर्थात् शरीर उत्पन्न होते है उन सबकी त्रिगुणमयी माया गर्भ को धारण करने वाली माता है (और) ब्रह्म बीज को स्थापन करने वाला पिता है। तीनों गुण–सत्त्व रजस एवं तमस प्रकृति स उत्पन्न कर गए है[3]—जो मुक्त जीवात्मा का शरीर म बाँधते हैं। उन तीनों गुणों मे प्रकाश करने वाला निर्विकार सत्त्व गुण तो निर्मल होने के कारण सुख एवं ज्ञान की आसक्ति से अर्थात् ज्ञान के अभिमान से बाधता है। यह कहा जाता है कि पृथ्वी म या स्वर्ग के देवताओं मे ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है, जो इन प्रकृति से उत्पन्न हुए तीनों गुणों से रहित हो।[4] (क्योंकि यावन्मात्र सब जगत् त्रिगुणमयी माया का ही विकार है) चूंकि प्रकृति के द्वारा ईश्वर से गर्भित होने से गुण उत्पन्न होते हैं अत ईश्वर को गुणों का कर्त्ता कहा गया है यद्यपि ईश्वर सदा गुणातीत है। जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है—सत्वगुण सुख एवं ज्ञान के साथ जीवात्मा को बाधता है। रजोगुण क्रिया का कारण है एवं कामना और आसक्ति से उत्पन्न हुआ वह (इस) जीवात्मा (देही) को कर्मों से

---

[1] अहिर्बुध्न्यसंहिता में नाडी एवं वायु के सम्बन्ध म कई बातें लिखी गई हैं जिनका सम्बन्ध सम्भवत उत्तरकाल मे पंचरात्र परम्परा से हो गया।

[2] ममयोनिमहद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भ दधाम्यहम्–१४ ३।
श्रीधर एवं अन्य टीकाकारों का अनुसरण करते हुए मैंने प्रकृति को महद्ब्रह्म कहा है। शंकर मम' एवं 'योनि के मध्य 'माया शब्द का रहस्यमय ढंग से कथन करते हैं जो सम्पूर्ण अर्थ को बदल देते हैं।

[3] गीता १४ ५।

[4] गीता १८ ४०।

और उनके फल की आसक्ति से बाँधता है। तमोगुण ज्ञान के प्रकाश को आच्छादित कर देता है और उससे कई दोष उत्पन्न होते हैं। क्योंकि तमोगुण अज्ञान से उत्पन्न होता है अतः वह जीवधारियों को अंधा बना देता है और उन्हें प्रमाद आलस्य और निद्रा में बाँधता है। इन तीनों गुणों की वृद्धि भिन्न भिन्न समय में भिन्न भिन्न तरह से होती है। जिस समय इस देह में सब इन्द्रियों और अन्तःकरण में चेतनता और बोधशक्ति उत्पन्न होती है उस काल में ऐसा जानना चाहिए कि सत्वगुण बढ़ा है। रजो गुण के बढ़ने पर लोभ (और) प्रवृत्ति अर्थात् सांसारिक चेष्टा (तथा) सब प्रकार के कर्मों का (स्वार्थ बुद्धि से) आरम्भ (एवं) अशान्ति अर्थात् मन की चंचलता (और) विषय भोगों की लालसा उत्पन्न होती है। तमोगुण की वृद्धि होने पर (अन्तःकरण और इन्द्रियों में) अप्रकाश (एवं) कर्त्तव्य कर्मों में अप्रवृत्ति और प्रमाद —व्यर्थ चेष्टा और मोह उत्पन्न होते हैं।

विभिन्न तत्व अव्यक्त प्रकृति बुद्धि अहंकार, मन और दस ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ हैं। मन इन्द्रियों से परे अर्थात् अधिक सूक्ष्म एवं बलवान है। बुद्धि मन से परे है एवं बुद्धि से भी अत्यंत परे वह (आत्मा) है। मन को विभिन्न इन्द्रियों का नियामक कहा गया है। यह उन पर अधिकार जमाकर विषय भोग करता है। बुद्धि और अहंकार के सम्बन्ध का निश्चित रूप से कहीं नहीं बताया गया है। इन विकारों के अतिरिक्त पाँच महाभूत है।[1] यह कहना कठिन है कि गीता में पंच महाभूतों को प्रकृति का विकार बताया गया है अथवा उनका अलग ही अस्तित्व है। यह आश्चर्य जनक है कि उपर्युक्त तत्व गीता में सांख्यदर्शन की भाँति कहीं भी प्रकृति के विकार नहीं बताए गए हैं अपितु पंचमहाभूत, मन, बुद्धि एवं अहंकार को आठ प्रकार की ईश्वरीय प्रकृति बताया गया है।[2] यह भी कहा गया है कि ईश्वर की अपरा एवं परा—दो प्रकार की प्रकृति है। उपर्युक्त आठ प्रकार की प्रकृति अपरा कही गई है तथा जीवभूत उसकी परा प्रकृति कही गई है।[3] तीसरे अध्याय के ५वें २७वें तथा २९वें श्लोक में तेरहवें अध्याय के २१वें श्लोक में, चौदहवें अध्याय के पाँचवें श्लोक में, अठारहवें अध्याय के चालीसवें श्लोक में गुणों का प्रकृति से सम्बन्ध बताया गया है तथा उपर्युक्त सब स्थलों में प्रकृति को गुणों की जननी कहा गया है यद्यपि महाभूतों को प्रकृति से उत्पन्न नहीं बताया गया है। गीता के नवम् अध्याय के दसवें श्लोक में कहा गया है कि ईश्वर के अधिष्ठान द्वारा माया (प्रकृति) चराचर सहित सबजगत् को रचती है। प्रकृति शब्द (परा एवं अपरा) ईश्वरीय परम भाव

---

[1] गीता ३ ४२ १३ ६ एवं ७ ४/ ६।

[2] गीता ७ ४।

[3] गीता ७ ५।

गया है। उदाहरणार्थ अहिर्बुध्न्य संहिता में योग का प्रयोग हृदयाराधन, हवि तथा भगवत आत्म समर्पण के अर्थों मे किया गया है और योग की परिभाषा जीवात्मा का परमात्मा से संयोग कहकर दी गई है।[1] अत यह निश्चय नही प्रतीत होता है कि पचरात्र ग्रथो के एव गीता के योग के परम्परागत स्रोत एक ही है।

गीता मे सांख्य दर्शन

यह पहले ही कहा जा चुका है कि इस बात का कोई प्रमाण नही है कि गीता म साख्य शब्द का अर्थ परम्परागत साख्य दर्शन से है। फिर भी प्रकृति एव पुरुष का प्राचीन दर्शन गीता के दर्शन का आधार है। इस दर्शन का सक्षिप्त निरूपण इस प्रकार है गीता म प्रकृति को महद् ब्रह्म (अर्थात् योनि के रूप म महान् रचयिता) कहा गया है (गीता १४ ३)।[2] गीता म कहा गया है कि प्रकृति को गीता म योनि बताया गया है जिसम सृष्टि रचना क हेतु ईश्वर गर्भ धारण का हेतु है नाना प्रकार की सब योनियों म जितनी मूर्तियाँ अर्थात् शरीर उत्पन्न होते है उन सबकी त्रिगुणमयी माया गर्भ का धारण करने वाली माता है (और) ब्रह्म बीज को स्थापन करने वाला पिता है। तीनो गुण—सत्व रजस एव तमस, प्रकृति स उत्पन्न कहे गए हैं[3]—जो मुक्त जीवात्मा को शरीर म बाँधते हैं। उन तीनो गुणो म प्रकाश करने वाला निर्विकार सत्व गुण तो निर्मल होने के कारण सुख एव ज्ञान की आसक्ति से अर्थात् ज्ञान के अभिमान से बाधता है। यह कहा जाता है कि पृथ्वी मे या स्वर्ग के देवताओ मे ऐसा कोई भी प्राणी नही है जो इन प्रकृति से उत्पन्न हुए तीनो गुणो से रहित हो।[4] (क्योंकि यावन्मात्र सब जगत् त्रिगुणमयी माया का ही विकार है) चूकि प्रकृति के द्वारा ईश्वर से गर्भित होने से गुण उत्पन्न होते हैं अत ईश्वर को गुणो का कर्ता कहा गया है यद्यपि ईश्वर सदा गुणातीत है। जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है—सत्वगुण सुख एव ज्ञान के साथ जीवात्मा को बाधता है। रजोगुण क्रिया का कारण है एव कामना और आसक्ति से उत्पन्न हुआ वह (इस) जीवात्मा (देही) को कर्मों स

---

[1] अहिर्बुध्न्यसहिता मे नाडी एव वायु के सम्बन्ध म कई बातें लिखी गई हैं जिनका सम्बन्ध सम्भवत उत्तरकाल में पचरात्र परम्परा से हो गया।

[2] ममयोनिमहद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्—१४ ३।
श्रीधर एव अन्य टीकाकारो का अनुसरण करते हुए मैंने प्रकृति को महद्ब्रह्म कहा है। शकर 'मम' एव 'योनि' के मध्य 'माया' शब्द का रहस्यमय ढग से कथन करते हैं जो सम्पूर्ण अर्थ को बदल देते हैं।

[3] गीता १४ ५।

[4] गीता १८ ४०।

और उनके फल की आसक्ति से बाँधता है। तमोगुण ज्ञान के प्रकाश को आच्छादित कर देता है और उससे कई दोष उत्पन्न होते हैं। क्योंकि तमोगुण अज्ञान से उत्पन्न होता है अत: वह जीवधारियों का अंधा बना देता है और उन्हें प्रमाद, आलस्य और निद्रा में बाँधता है। इन तीनों गुणों की वृद्धि भिन्न भिन्न समय में भिन्न भिन्न तरह से होती है। जिस समय इस देह में सब इन्द्रियों और अन्त:करण में चेतनता और बोधशक्ति उत्पन्न होती है उस काल में ऐसा जानना चाहिए कि सत्वगुण बढ़ा है। रजो गुण के बढ़ने पर लोभ (और) प्रवृत्ति अर्थात् सांसारिक चेष्टा (तथा) सब प्रकार के कर्मों का (स्वार्थ बुद्धि से) आरम्भ (एवं) अशांति अर्थात् मन की चंचलता (और) विषय भोगों की लालसा उत्पन्न होती है। तमोगुण की वृद्धि होने पर (अन्त:करण और इन्द्रियों में) अप्रकाश (एवं) कर्त्तव्य कर्मों में अप्रवृत्ति और प्रमाद व्यर्थ चेष्टा और मोह उत्पन्न होते हैं।

विभिन्न तत्व अव्यक्त प्रकृति बुद्धि अहंकार मन और दस ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ हैं। मन इन्द्रियों से परे अर्थात् अधिक सूक्ष्म एवं बलवान है। बुद्धि मन से परे है एवं बुद्धि से भी अत्यंत परे वह (आत्मा) है। मन को विभिन्न इन्द्रियों का नियामक कहा गया है। वह उन पर अधिकार जमाकर विषय भोग करता है। बुद्धि और अहंकार के सम्बन्ध का निश्चित रूप से कहीं नहीं बताया गया है। इन विकारों के अतिरिक्त पाँच महाभूत हैं।[1] यह कहना कठिन है कि गीता में पंच महाभूतों को प्रकृति का विकार बताया गया है अथवा उनका अलग ही अस्तित्व है। यह आश्चर्यजनक है कि उपर्युक्त तत्व गीता में सांख्यदर्शन की भाँति कहीं भी प्रकृति के विकार नहीं बताए गए हैं अपितु पंचमहाभूत मन, बुद्धि एवं अहंकार को आठ प्रकार की ईश्वरीय प्रकृति बताया गया है।[2] यह भी कहा गया है कि ईश्वर की अपरा एवं परा—दो प्रकार की प्रकृति है। उपर्युक्त आठ प्रकार की प्रकृति अपरा कही गई है तथा जीवभूत उसकी परा प्रकृति कही गई है।[3] तीसरे अध्याय के ५वें २७वें तथा २९वें श्लोक में तेरहवें अध्याय के २१वें श्लोक में चौदहवें अध्याय के पाँचवें श्लोक में, अठारवें अध्याय के चालीसवें श्लोक में गुणों का प्रकृति से सम्बन्ध बताया गया है तथा उपर्युक्त सब स्थलों में प्रकृति को गुणों की जननी कहा गया है यद्यपि महाभूतों का प्रकृति से उत्पन्न नहीं बताया गया है। गीता के नवम् अध्याय के दसवें श्लोक में कहा गया है कि ईश्वर के अधिष्ठान द्वारा माया (प्रकृति) चराचर सहित सर्वजगत् को रचती है। प्रकृति शब्द (परा एवं अपरा) ईश्वरीय परम भाव

---

[1] गीता ३ ४२ १३ ६ एवं ७ १५ ६।

[2] गीता ७ ४।

[3] गीता ७ ५।

के स्वरूप के भिन्न भिन्न दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। सम्भवत गीता मे प्रकति का मूलअर्थ ईश्वरीय स्वभाव है प्रकृति का दूसरा अर्थ है वह प्रधान सिद्धान्त जिससे गुण उत्पन्न होते हैं। यह अर्थ ईश्वरीय स्वभाव की केवल पुनरुक्ति ही है। पचमहाभूत, अहङ्कार, बुद्धि, अव्यक्त दस इन्द्रियाँ, एक मन पाँच इन्द्रियों के विषय अर्थात् शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध (तन्मात्र) इच्छा द्वेष सुख दुख और स्थूलदेह का पिंड एव चेतनता (और) धृति को विकार सहित क्षेत्र कहा गया है। अन्य स्थल पर केवल शरीर का ही क्षेत्र कहा गया है।[1] अत ऐसा प्रतीत होता है कि क्षेत्र शब्द का विस्तृत अर्थ केवल (स्थूल) शरीर से ही नही अपितु पूर्ण सूक्ष्म शरीर से है जिसके अन्तर्गत चित्त की वृत्तियाँ शक्तियाँ सामर्थ्य एव अव्यक्त तथा उपचेतन तत्व है। इस प्रसग मे यह स्पष्ट कर दिया जाय कि क्षेत्र शब्द का प्रयोग विशेष रूप से शरीर एव भावो के सघात सहित मन रूप किया गया है परन्तु जिसमे चेतन आत्मा क्षेत्रज्ञ अथवा क्षेत्री को पृथक् रखा गया है। यह कहा गया है कि जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है। उसी प्रकारक्षत्रिन् सम्पूर्ण क्षेत्र का प्रकाशित करता है।[2]

जसाकि कहा जा चुका है कि गीता मे ईश्वर की अपरा एव परा दो प्रकार की भिन्न प्रकृति है, अपरा के अन्तर्गत पचमहाभूत, अहङ्कार बुद्धि इत्यादि एव दूसरी में जीवभूत आते हैं। यह भी कहा जा चुका है कि प्रकृति मे ईश्वर के चेतन रूप बीज को स्थापित करने से उस जड चेतन के सयोग से गुण उत्पन्न होते हैं जो प्राणिमात्र मे व्याप्त हैं। अत त्रिगुण विभिन्न गतिशील प्रवृत्तियो के रूप मे अहङ्कार बुद्धि इन्द्रिया चेतना इत्यादि के सम्पूर्ण लिंग शरीर को बनाते हैं, जो क्षेत्र का आध्यात्मिक रूप है। क्षेत्रज्ञ अथवा क्षेत्री सम्भवत आकाश तुल्य सूक्ष्म सर्वव्यापी पुरुष ही हैं जो सब भूतो मे स्थित होते हुए भी उनके गुणो से अलिप्त है। यह कहना कठिन है कि गीता के अनुसार ईश्वरीय सयोग से पूर्व प्रकृति स्वय क्या है। प्रकृति का एव ईश्वर का एक समझना युक्तिसगत नही है। अनादि प्रकृति का ईश्वर के साथ सहअस्तित्व है एव वह उससे अलग नही हो सकती। गीता मे ऐसा कोई प्रसग नही मिलता जिससे ईश्वर की अष्टधा अपरा प्रकृति एव परा प्रकृति का एक ही माना जाय क्योंकि प्रकृति को सब स्थलो पर गुण एव उसके विकार की योनि बताया गया है। गीता मे प्रकृति अहङ्कार इन्द्रिय आदि के गुणो द्वारा उत्पन्न होने का भी कोई प्रसग उपलब्ध नही है। गुण शब्द का अर्थ भोगात्मक भावात्मक नैतिक अथवा अनैतिक गुणो से है। ये गुण ही हमे प्रवृत्ति मे लगाते हैं सग एव इच्छा उत्पन्न करते हैं, सुख दुख देने वाले है, तथा

[1] गीता १३ २।
[2] गीता, १३ ३४।

शुभ और अशुभ कर्म करवाता है। प्रकृति को उन भावात्मक, मोहात्मक एवं रागात्मक प्रवृत्तियों का जननी कहा गया है जो गुणों की यथाक्रम अधिकता से उत्पन्न होते हैं। चेतनमय जगत् का निर्माण करने वाले लिंग शरीर एवं पंचमहाभूत के विकार गुण अथवा प्रकृति द्वारा उत्पन्न नहीं प्रतीत होते। ऐसा प्रतीत होता है कि इन आठों को ईश्वर की परा प्रकृति अर्थात् जीव भूत सहित इन अष्टधा विकारों को समूह मानकर अपरा प्रकृति बताया गया है। क्षेत्र को शरीर मन एवं गुणों का संघात कहा गया है। अतः अपरा प्रकृति परा प्रकृति अथवा पुरुष एवं प्रकृति—इस प्रकार तीन परम तत्व माने गए हैं। प्रकृति गुणों को उत्पन्न करती है जो अनुभूतमय या संस्कारात्मक है। अपरा प्रकृति के अन्तर्गत पंच महाभूतमय जगत् आता है जिसके विकार शरीरेन्द्रिय तथा मन इत्यादि है। अतः सम्भवतया सांख्य के उत्तरार्द्ध विकास में इन दो प्रकृतियों को एक ही बताकर ऐसा माना गया है कि गुण केवल हमारी अनुभूतियों को ही नहीं पैदा करते अपितु सब मन की वृत्तियाँ इन्द्रियाँ इत्यादि एवं पंचमहाभूत एवं उनके विकार भी उनसे ही उत्पन्न हुए हैं। अतः गुण प्रकृति के द्वारा उत्पादित फल नहीं है अपितु साम्यावस्था में वे स्वयं प्रकृति ही है। गीता के अनुसार ईश्वरीय बीजरूपी संयोग द्वारा ही गुणों की उत्पत्ति होती है। साम्यावस्था में वे स्वयं प्रकृति नहीं हैं। अपरा प्रकृति प्रकृति एवं गुणों का सम्बन्ध समझना कठिन है। इस सम्बन्ध की कल्पना के गर्भदाता एवं दोनों का धारण करने वाले ईश्वर के माध्यम द्वारा ही की जा सकती है। केवल एक पुरुष ही मूल जीव भूत विभु के रूप में है जो उत्पत्तिकर्ता एवं संयोग के कारण सुख दुःख भोक्ता होते हुए भी गुणों के परिणाम से लिप्त नहीं होता। इसका स्वाभाविक परिणाम यह निकलता है कि उत्तम और अनुत्तम पुरुष भी दो प्रकार के है जिनमें उत्तम पुरुष सदा गुणातीत एवं गुणों से अलिप्त रहता है जबकि विभिन्न भूतों में विभक्त अनुत्तम पुरुष अर्थात् जीवात्मा प्रकृति एवं गुणों से सदैव संयुक्त रहता है तथा उनके कार्यों से निरंतर प्रभावित होता रहता है। पुरुष प्रकृति में अधिष्ठित होकर प्रकृति के गुणों का उपभोग करता है और प्रकृति के गुणों का यह संयोग पुरुष का भली बुरी योनियों में जन्म लेने का कारण होता है।[1] (प्रकृति के गुणों के) उपद्रष्टा अर्थात् समीप बैठकर देखने वाले अनुमोदन करने वाले, भर्ता अर्थात् (प्रकृति के गुणों को) बढ़ाने वाले और उपभोग करने वाले को ही इस देह में पर पुरुष महेश्वर और परमात्मा कहते हैं।[2] गीता में पुरुष शब्द का प्रयोग चार भिन्न

---

[1] गीता, १३.२१।

[2] उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥

—वही, १३.२२।

के स्वरूप के भिन्न भिन्न दो अर्थों मे प्रयुक्त हुआ है। सम्भवत गीता मे प्रकृति का मूलअर्थ ईश्वरीय स्वभाव है, प्रकृति का दूसरा अर्थ है वह प्रधान सिद्धान्त जिससे गुण उत्पन्न होते हैं। यह अर्थ ईश्वरीय स्वभाव की केवल पुनरुक्ति ही है। पचमहाभूत, अहकार, बुद्धि, अव्यक्त दस इन्द्रियाँ एक मन, पाँच इन्द्रियों के विषय अर्थात् शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध (तन्मात्र) इच्छा द्वेष सुख, दुख और स्थूलदेह का पिंड एव चेतनता (और) धृति का विकार सहित क्षेत्र कहा गया है। अन्य स्थल पर केवल शरीर को ही क्षेत्र कहा गया है।[1] अत ऐसा प्रतीत होता है कि क्षेत्र शब्द का विस्तृत अर्थ केवल (स्थूल) शरीर से ही नही अपितु पूर्ण सूक्ष्म शरीर से है जिसके अन्तर्गत चित्त की वृत्तियाँ शक्तियाँ सामर्थ्य एव अव्यक्त तथा उपचेतन तत्व है। इस प्रसग म यह स्पष्ट कर दिया जाय कि क्षेत्र शब्द का प्रयोग विशेष रूप से शरीर एव माया के सघात सहित मन रूप किया गया है परन्तु जिसम चेतन आत्मा क्षेत्रज्ञ अथवा क्षेत्री को पृथक रखा गया है। यह कहा गया है कि जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण क्षेत्र का प्रकाशित करता है। उसी प्रकारक्षेत्रिन् सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है।[2]

जसाकि कहा जा चुका है कि गीता में ईश्वर की अपरा एव परा दो प्रकार की भिन्न प्रकृति है, अपरा के अन्तर्गत पचमहाभूत, अहकार बुद्धि इत्यादि एव दूसरी मे जीवभूत आते हैं। यह भी कहा जा चुका है कि प्रकृति मे ईश्वर के चेतन रूप बीज को स्थापित करने से उस जड चेतन के सयोग से गुण उत्पन्न होते हैं जो प्राणिमात्र म व्याप्त हैं। अत त्रिगुण विभिन्न गतिशील प्रवृत्तियो के रूप मे अहकार बुद्धि इन्द्रिया चेतना इत्यादि के सम्पूर्ण लिंग शरीर को बनाते हैं जो क्षेत्र का आध्यात्मिक रूप है। क्षेत्रज्ञ अथवा क्षेत्री सभवत आकाश तुल्य सूक्ष्म सर्वव्यापी पुरुष ही ह जो सब भूतो म स्थित होते हुए भी उनके गुणो से अलिप्त है। यह कहना कठिन है कि गीता के अनुसार ईश्वरीय सयोग से पूर्व प्रकृति स्वय क्या है। प्रकृति का एव ईश्वर को एक समझना युक्तिसगत नहीं है। अनादि प्रकृति का ईश्वर के साथ सहअस्तित्व है एव वह उससे अलग नही हो सकती। गीता मे ऐसा कोई प्रसग नही मिलता जिससे ईश्वर की अष्टधा अपरा प्रकृति एव परा प्रकृति का एक ही माना जाय क्योकि प्रकृति को सब स्थलो पर गुण एव उसके विकार की योनि बताया गया है। गीता म प्रकृति अहकार इन्द्रिय आदि के गुणो द्वारा उत्पन्न होने का भी कोई प्रसग उपलब्ध नही है। गुण शब्द का अर्थ भौतिक भावात्मक नतिक अथवा अनतिक गुणो स है। ये गुण ही हमे प्रवृत्ति मे लगाते हैं सग एव इच्छा उत्पन्न करते हैं, सुख दुख देने वाले हैं तथा

---

[1] गीता १३ २।
[2] गीता, १३ ३४।

शुभ और अशुभ कर्म करवाते हैं। प्रकृति को उन नानात्मक, मोहात्मक एवं रागात्मक प्रवृत्तियों की जननी कहा गया है जो गुणों की यथाक्रम अधिकता से उत्पन्न होते हैं। चेतनमय जगत् का निर्माण करने वाले लिंग शरीर एवं पंचमहाभूत के विकार गुण अथवा प्रकृति द्वारा उत्पन्न नहीं प्रतीत होते। ऐसा प्रतीत होता है कि इन आठों को ईश्वर की परा प्रकृति अर्थात् जीव भूत सहित इन अष्टधा विकारों को समूह मानकर अपरा प्रकृति बताया गया है। क्षेत्र को शरीर मन एवं गुणों का संघात कहा गया है। अतः अपरा प्रकृति परा प्रकृति अथवा पुरुष एवं प्रकृति—इस प्रकार तीन परम तत्व माने गए हैं। प्रकृति गुणों को उत्पन्न करती है जो अनुभूतमय या संस्कारात्मक है। अपरा प्रकृति के अन्तर्गत पंच महाभूतमय जगत् आता है जिसके विकार शरीरेन्द्रिय तथा मन इत्यादि हैं। अतः सम्भवतया सांख्य के उत्तरार्द्ध विकास में इन दो प्रकृतियों को एक ही बताकर ऐसा माना गया है कि गुण केवल हमारी अनुभूतियों को ही नहीं पैदा करते अपितु सब मन की वृत्तियाँ इन्द्रियाँ इत्यादि एवं पंचमहाभूत एवं उनके विकार भी उनसे ही उत्पन्न हुए हैं। अतः गुण प्रकृति के द्वारा उत्पादित फल नहीं हैं अपितु साम्यावस्था में वे स्वयं प्रकृति ही हैं। गीता के अनुसार ईश्वरीय बीजरूपी संयोग द्वारा ही गुणों की उत्पत्ति होती है। साम्यावस्था में वे स्वयं प्रकृति नहीं हैं। अपरा प्रकृति, प्रकृति एवं गुणों का सम्बन्ध समझना कठिन है। इस सम्बन्ध की कल्पना के गर्भदाता एवं दोनों को धारण करने वाले ईश्वर के माध्यम द्वारा ही की जा सकती है। केवल एक पुरुष ही मूल जीव भूत विभु के रूप में है जो उत्पत्तिरहित एवं संयोग के कारण सुख दुःख भोक्ता होते हुए भी गुणों के परिणाम से लिप्त नहीं होता। इसका स्वाभाविक परिणाम यह निकलता है कि उत्तम और अनुत्तम पुरुष भी दो प्रकार के हैं जिनमें उत्तम पुरुष सदा गुणातीत एवं गुणों से अलिप्त रहता है जबकि विभिन्न भूतों में विभक्त अनुत्तम पुरुष अर्थात् जीवों का प्रकृति एवं गुणों से सदैव संयुक्त रहता है तथा उनके कार्यों से निरंतर प्रभावित होता रहता है। पुरुष प्रकृति में अधिष्ठित होकर प्रकृति के गुणों का उपभोग करता है और प्रकृति के गुणों का यह संयोग पुरुष का भली-बुरी योनियों में जन्म लेने का कारण होता है।[1] (प्रकृति के गुणों का) उपद्रष्टा अर्थात् समीप बैठकर देखने वाले, अनुमोदन करने वाले भर्ता अर्थात् (प्रकृति के गुणों का) धारने वाले और उपभोग करने वाले का ही इस देह में पर पुरुष महेश्वर और परमात्मा कहते हैं।[2] गीता में पुरुष शब्द का प्रयोग चार भिन्न

---

[1] गीता, १३ २१।

[2] उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥

—वही, १३ २३।

अर्थों में किया गया है–(१) पुरुषोत्तम अथवा ईश्वरार्थ में[1] (२) व्यक्ति के अर्थ में,[2] (३) क्षर पुरुष और (४) अक्षर पुरुष। सब भूत क्षर एवं जीवात्मा अक्षर कहलाते हैं। यह उत्तम पुरुष क्षर और अक्षर दोनों से भिन्न है उसको परमात्मा कहते हैं। वही अव्यय ईश्वर त्रैलोक्य में प्रविष्ट होकर (त्रैलोक्य) का पोषण करता है।[3] परन्तु ईश्वर क्षर से परे और अक्षर से उत्तम (पुरुष) होने से लोक-व्यवहार में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध है।[4] दोनों प्रकृति और परमात्म पुरुष अनादि है। परमात्म पुरुष गुणातीत एवं अक्षर होने से शरीरस्थ होने पर भी न तो कर्त्ता है और न गुणों से लिप्तमान होता है। प्रकृति को काय (अर्थात् देह का) और कारण (अर्थात् इन्द्रियों के कर्तृत्व) का हेतु कहा गया है। प्रकृति सर्वप्रवृत्तियों, प्रेरणा एवं क्रियाओं का मूलभूत तत्व है तथा (कर्त्ता न होने पर भी) सुख दुःखों को भोगने के लिए पुरुष हेतु कहा गया है।[5] परमात्म पुरुष सर्वव्यापी होने पर भी पर पुरुष के रूप में शरीर के सुख दुःख एवं रागादि अनुभवों से वियुक्त होकर प्रत्येक व्यक्ति के शरीर में स्थित है। जीवात्मा ही सदैव गुणों से प्रभावित होकर सुख दुःखों को भोगता है। गुणातीत इच्छा एवं रागरहित सुख दुःख से परे होने का किंचित् मात्र प्रयत्न भी जीवात्मा को शुद्ध एवं अमर परमात्मा के अधीन करता है। इस दिशा में प्रत्येक प्रयत्न का अर्थ परमात्मा के साथ अस्थाई योग है। यह कहा जा चुका है कि गीता परमात्मा एवं जीवात्मा में संघर्ष मानती है एवं परमात्मा द्वारा जीवात्मा के उद्धार की सम्मति देती है। हमारी सब साधनाओं में एक ओर उत्तम पुरुष हमें ऊपर खींचता है और गुण नीचे खींचते हैं फिर भी उत्तम पुरुष स्वयं अकर्त्ता है। हमारा पतन करने वाली शक्ति गुणों से उत्पन्न होती है एवं जीवात्मा उसका प्रयोग करता है। इन सब प्रयत्नों में उत्तम पुरुष सुख दुःख एवं शुभाशुभ में स्थितप्रज्ञ निश्चल तथा अविकारी अनुद्विग्न आदर्श के रूप में स्थित रहता है। कई लोग सांख्य एवं कर्मयोग से अपने आप में ही ध्यान से आत्मा को देखते हैं। प्रत्येक निष्काम कर्म करने का अर्थ परमात्मा अथवा ईश्वर के साथ अस्थाई योग है। ज्ञानयोग का अर्थ ब्रह्मानुभूति है जिसके द्वारा त्रिगुणमयी प्रकृति ही सब कर्मों की कर्त्ता मानी जाती है तथा जिसके द्वारा आत्मा के अनासक्त स्वरूप का ज्ञान कर्म एवं ईश्वर के साथ सम्बन्ध का दार्शनिक विश्लेषण,

---

[1] गीता, ११ १८ सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे।
वही, ११ ३८ त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणः।
पुरुषोत्तम के लिए द्र० वही ८ १, १० १५ ११ ३, १५ १८ तथा १५ १९।

[2] वही, २ १५, २ २१, २ ६० ३ ४ इत्यादि।

[3] वही, १५ १६ तथा १७।

[4] वही १५ १५ तथा १८।

[5] गीता, १३–२०।

परमात्मा जीवात्मा एवं प्रकृति के सम्बन्ध का ज्ञान ईश्वर की सगुण उपासना का ध्यान एवं सब कर्मों को उसके अर्पण करने एवं साक्षात्कार के परमानन्द की अनुभूति होती है अतः वे सब योग ही है।[1]

यहाँ सरलतापूर्वक ध्यान में आता है कि अन्य दार्शनिकों के द्वारा उपरोक्त विषय परम्परागत सांख्य दर्शन में परिवर्द्धित कर दिया जा सकता था। यह पहले ही कहा जा चुका है कि प्रकृतियों का विवेचन ही सांख्य की एक प्रकृति के रूप में हो जाता। परमात्मा एवं जीवात्मा का वर्णन जिसमें जीवात्मा सुख एवं दुःख का अनुभव करता है जबकि परमात्मा जीवात्मा के सुख दुःखों का उपदृष्टा होते हुए भी अलिप्त रहता है–सहज ही एक ही शाख पर बैठे हुए दो पक्षियों की औपनिषदिक उपमा को याद दिलाता है जिसमें से एक स्वादिष्ट फलों को खाता है जबकि दूसरा उनके बिना ही सन्तुष्ट रहता है।[2] परमात्मा एवं जीवात्मा के निश्चित सम्बन्ध के स्वरूप को गीता स्पष्ट नहीं करती। यह निश्चित रूप से नहीं बताती कि जीवात्मा एक है या अनेक न इनकी सत्तामूलक अवस्थाओं को ही बताती है। यह सुगमतापूर्वक समझा जा सकता है कि कैसे इन दो अस्पष्ट रूप से सम्बंधित दिखाई देने वाले पुरुषों को समन्वित करने का आत्मानुरूप एवं बुद्धिगम्य सामान्य विचार का प्रयत्न अन्ततः असीम शुद्ध सर्वव्यापी पुरुषों के सिद्धान्त में फलित होता है और जिसके परिणामस्वरूप क्षर पुरुष पुरुष एवं प्रकृति के मिथ्या एवं भ्रमात्मक परस्पर प्रतिबिम्ब का फल हो जाता है। गीता ने तीन प्रसंगों में माया शब्द का प्रयोग किया है (७–१४ और १५–१८–६१) परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह शब्द दुर्बोध शक्ति अथवा अविद्या के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है न कि भ्रमात्मक अथवा चमत्कारी रचना के अर्थ में। गीता ने किसी भी स्थल पर जगत् को मानसिक अथवा आध्यात्म तत्वों का केवल प्रतीति मात्र नहीं माना है। अतः यह ध्यान में भी नहीं आ सकता कि हमारे प्रति दिन के अनुभव के विवेचन के लिए क्षर पुरुष को केवल भ्रमात्मक माना जाय। परन्तु यह कहना कठिन है कि प्रकृति के गुणों का भोक्ता इस क्षेत्रज्ञ पुरुष का पर पुरुष (जो गुणातीत है) से पृथक् अस्तित्व किस प्रकार हो सकता है जबतक कि क्षेत्रज्ञ पुरुष को पर पुरुष की शक्ति का परिणाम न समझा जाय। इसे सिद्धान्त से स्वभावतः (केवल) इस बात की पुष्टि होती है कि क्षेत्रज्ञ पर पुरुष का त्रिगुणमयी प्रकृतिरूप प्रतिबिम्ब है। स्वतन्त्र पर पुरुष गुणों से परे शुद्धावस्था में है। परन्तु अपने शुद्ध सत्व एवं निर्लिप्त स्वभाव से शून्य हुए बिना ही गुणों में प्रतिबिम्बित जीव अथवा क्षर के रूप में अपने आपको

---

[1] ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥

[2] मुण्डक उपनिषद् ३ १ १। श्वेताश्वतर ४६।

प्रकृति व गुणों का भोक्ता समभन लगता है एवं पुरुषोत्तम को अपना परम तत्व मानता है। यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि गीता का पुरुष तत्व उत्तरकाल के साख्य सिद्धान्त से अधिक अस्पष्ट है परन्तु उससे क्षर से अक्षर का सम्पर्क स्थापित करने में उपरोक्त सिद्धान्त अधिक लचीला होने के कारण लाभप्रद है क्योंकि इसके द्वारा क्षर पुरुष में परपुरुष तक पहुँचने की शक्ति आ जाती है।

सत्वगुण रजोगुण एवं तमोगुण सब प्रकार की मानसिक प्रवृत्तियों के भाव व लक्षण समझे जाते थे एवं सब प्रकार के कर्मों के प्रकार भी सत्व रजस और तमस ही समझे जाते थे। तदनुसार मानसिक भावों को भी सात्विक, राजसिक तथा तामसिक कहा गया है। इस प्रकार श्रद्धा भी तीन प्रकार की बताई गई है। जो पुरुष सात्विक है अर्थात् जिनका स्वभाव सत्वगुण प्रधान है वे देवताओं का यजन करते हैं। राजस पुरुष यक्षों और राक्षसों का यजन करते हैं एवं इनके अतिरिक्त जो तामस पुरुष हैं, वे प्रेतों और भूतों का यजन करते हैं। परन्तु जो लोग दम्भ और अहंकार से युक्त होकर काम एवं आसक्ति के बल पर शास्त्र के विरुद्ध घोर तप किया करते हैं तथा जो न केवल शरीर में पंचभूतों के समूह को ही वरन् शरीर के अन्तर्गत रहने वाले अपने शरीर एवं आत्मा को कष्ट देते हैं, वे अविवेकी और आसुरी बुद्धि के माने जाते है। फलाशा की आकांक्षा छोड़कर अपना कर्तव्य समझ करके शास्त्र की विधि के अनुसार शान्तचित्त से जो यज्ञ किया जाता है वह सात्विक यज्ञ है। जो फल की इच्छा से अथवा दंभ के हेतु अर्थात् ऐश्वर्य दिखलाने के लिए किया जाता है वह राजस यज्ञ है। शास्त्र विधि रहित अन्नदान विहीन बिना मन्त्रों के बिना दक्षिणा का और श्रद्धा से शून्य यज्ञ तामस यज्ञ कहलाता है। तप भी शरीर अर्थात् कायिक वाङ्मय एवं मानस कहे गए हैं। देवता ब्राह्मण गुरु और विद्वानों की पूजा, शुद्धता सरलता ब्रह्मचर्य और अहिंसा को शरीर अर्थात् कायिक तप कहते हैं। (मन को) उद्वेग न करने वाले सत्य प्रिय और हितकारक सम्भाषण को तथा स्वाध्याय अर्थात् अपने कर्म के अभ्यास को वाङ्मय (वाचिक) तप कहते है। मन का प्रसन्न रखना, सौम्यता, मौन अर्थात् मुनियों के समान वृत्ति रखना मनोनिग्रह और शुद्ध भावना—इनको मानस तप कहते हैं। उपरोक्त त्रिविध तप यदि फल की आकांक्षा न रखकर किए जाएँ तो वे सात्विक तप कहलाते है। परन्तु जो तप (अपने) सत्कार मान या पूजा के लिए अथवा दंभ से किया जाता है वह तप राजस कहा जाता है ऐसे तप का फल चंचल एवं अस्थिर होता है। मूढ़ आग्रह से स्वयं कष्ट उठाकर अथवा (जारण मारण आदि कर्मों के द्वारा) दूसरों को सताने के हेतु से किया हुआ तप तामस कहलाता है। वह दान सात्विक कहलाता है कि जो कर्तव्य बुद्धि से किया जाता है, जो (योग्य) स्थल काल और पात्र का विचार करके किया जाता है एवं जो अपने ऊपर प्रत्युपकार न करने वाले को दिया जाता है। परन्तु (किए हुए) उपकार के बदले में अथवा

किसी फल की आशा रख, बडी कठिनाई से जो दान दिया जाता है वह राजस दान है। पुन अयोग्य स्थान में, अयोग्य काल मे, अपात्र मनुष्य को, बिना सत्कार के अथवा अवहेलनापूर्वक जो दान दिया जाता है वह तामस दान कहलाता है। सासारिक अथवा स्वर्गिक फल की आशा न रखकर मोक्षार्थी लोग यज्ञ, दान तप आदि अनेक प्रकार की क्रियाएँ किया करते हैं। ज्ञान भी सात्विक, राजसिक एव तामसिक है। जिस ज्ञान से यह मालूम होता है कि विभक्त अर्थात् भिन्न सब प्राणियो मे एक ही अविभक्त और अव्यय भाव अथवा तत्व है उसे सात्विक ज्ञान कहते हैं। जिस ज्ञान से पृथक्त्व का बोध होता है कि समस्त प्राणिमात्र मे भिन्न भिन्न प्रकार के अनेक भाव हैं उसे राजस ज्ञान कहते है। जो निष्कारण और तत्वार्थ को बिना जाने-बूझे सकीर्ण एव असत्य मे यह समझकर आसक्त रहता है कि यही सब कुछ है वह अल्प ज्ञान तामस कहा गया है। फलप्राप्ति की इच्छा न करने वाला मनुष्य न तो प्रेम और न द्वेष रखकर, बिना आसक्ति के (स्वधर्मानुसार) कर्म करता है उस (कर्म) को सात्विक कहते है। परन्तु काम अर्थात् फलाशा की इच्छा रखने वाला अथवा अहकार बुद्धि का (मनुष्य) बडे परिश्रम से जो कर्म करता है उसे राजस कहते हैं। तामस कर्म वह है कि जो मोह से बिना इन बातो का विचार किए आरम्भ किया जाता है कि अनुबन्धक अर्थात् आगे क्या होगा पौरुष यानी अपनी सामर्थ्य कितनी है और (होनहार मे) नाश अथवा हिंसा होगी या नही। जिसे आसक्ति नही रहती जो 'मैं' और मेरा' नही कहता, कार्य की सिद्धि हो या न हो (दोनो परिणामो के समय) जो (मन से) विकार रहित होकर धृति और उत्साह के साथ कर्म करता है उसे सात्विक (कर्ता) कहते हैं। विषयासक्त लोभी (सिद्धि के समय) हर्ष और (असिद्धि के समय) शोक से युक्त कर्मफल पाने की इच्छा रखने वाला हिंसात्मक और अशुचि कर्ता राजस् कहलाता है। अयुक्त अर्थात् चचल बुद्धिवाला असभ्य, गर्व से फूलने वाला ठग नैष्कृतिक यानी दूसरो की हानि करने वाला आलसी अप्रसन्न चित्त और दीर्घसूत्री अर्थात् घडी भर के काम को महीने भर म करने वाला कर्ता तामस कहलाता है। जो बुद्धि प्रवृत्ति (अर्थात् किसी कर्म के करने) और निवृत्ति (अर्थात् न करने) को जानती है एव यह जानती है कि कार्य अर्थात् करने के योग्य क्या है और अकार्य अर्थात् करने के अयोग्य क्या है किससे डरना चाहिए और किससे नहीं किससे बन्धन होता है और किससे मोक्ष प्राप्त होता है—यह बुद्धि सात्विक है। वह बुद्धि राजसी है जिससे धर्म और अधर्म का अथवा कार्य और अकार्य का यथार्थ निर्णय नही होता। वह बुद्धि तामसी है जो तम से व्याप्त होकर अधर्म को धर्म समझती है और सब बातो मे विपरीत यानी उलटी समझ कर देती है। जिस अव्यभिचारिणी अर्थात् इधर उधर न डिगने वाली धृति से मन प्राण और इन्द्रियो के व्यापार (कर्म फल त्याग रूपी) योग के द्वारा (पुरुष) करता है वह धृति सात्विक है। जो आरम्भ मे (तो) विष के समान दु खदायी परन्तु परिणाम में अमृततुल्य है जो आत्मनिष्ठ बुद्धि की

प्रसन्नता से प्राप्त होता है उस (आध्यात्मिक) सुख को सात्विक कहते हैं। इन्द्रियों और उनके विषयों के संयोग से होने वाला (अर्थात् आधिभौतिक) सुख राजस कहा जाता है जो पहले तो अमृत के समान आवश्यक होता है परन्तु अन्त में विष के समान दुःखदायी रहता है। जो आरम्भ एवं अन्त में मनुष्य को मोह में फँसाता है और जो निद्रा आलस्य तथा प्रमाद अर्थात् कर्त्तव्य की भूल से उपजता है उसे तामस सुख कहते हैं। आयु सात्विक वृत्ति बल, आरोग्य सुख एवं प्रीति की वृद्धि करने वाले रसीले, स्निग्ध शरीर में भेदकर चिरकाल तक रहने वाले और मन के लिए आनन्ददायक आहार सात्विक मनुष्य को प्रिय होते हैं। कटु अर्थात् चरपरे, खट्टे, खारे, अत्युष्ण तीखे, रूखे दाहकारक तथा दुःख शोक और रोग उपजाने वाले आहार राजस मनुष्य को प्रिय होते हैं। कुछ काल का रखा हुआ अर्थात् ठंडा, नीरस, दुर्गंधित, बासी, झूठा तथा अपवित्र भोजन तामस पुरुष को अच्छा लगता है। उपर्युक्त विवेचन से यह विदित होता है कि तीनों गुण ही हमारे नैतिक, अनैतिक, सुखात्मक अथवा दुःखात्मक भावों के निर्धारक हैं। सतोगुण नैतिक एवं परनैतिक स्थिति के, रजोगुण, सामान्य मिश्रित एवं साधारण अवस्था के और तमोगुण निकृष्ट एवं अनैतिक स्थिति के लक्षण हैं।

अव्यक्त और ब्रह्म

अव्यक्त शब्द गीता में अगोचर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। व्युत्पत्तिलभ्य दृष्टि से यह शब्द 'अ' व्यक्त शब्दों से बना हुआ है, जिसमें 'अ' शब्द नकारात्मक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है एवं 'व्यक्त' शब्द का अर्थ गोचर अर्थात् नामरूपात्मक भेद युक्त है। यह शब्द विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। समान वर्ग के रूप में यह शब्द नपुंसकलिंग में प्रयुक्त हुआ है। उदाहरणार्थ प्रथम अर्थ में गीता के अध्याय दूसरे का पच्चीसवाँ श्लोक अथवा अध्याय आठवें का इक्कीसवाँ श्लोक है। इस प्रकार दूसरे अध्याय के पच्चीसवें श्लोक में आत्मा को अव्यक्त, अचिन्त्य एवं अविकार्य बताया गया है। उपनिषदों में आत्मा को अव्यक्तार्थ में लक्षित करना ठीक नहीं है, क्योंकि वहाँ आत्मा को शुद्ध चैतन्य एवं स्वयं प्रकाश माना गया है। अर्वाचीन सम्पूर्ण वेदान्त ग्रन्थों में आत्मा को अनुभूति स्वभाव के रूप में वर्णित किया गया है। परन्तु गीता में आत्मा का प्रधान लक्षण अमरत्व एवं अविकार्य समझा गया है, इसके बाद इसे अचिन्त्य एवं अव्यक्त समझा गया है। परन्तु ऐसा प्रतीत नहीं होता कि गीता में आत्मा का शुद्ध-चैतन्य सिद्धान्त के रूप में निरूपण है। गीता आत्मा का केवल अव्यक्त ही नहीं बताती अपितु शुद्ध चैतन्य के रूप में भी कभी प्रयोग नहीं करती। चेतना शब्द क्षेत्रज्ञ का नहीं बल्कि विकारी क्षेत्र का एक भाग है।[1] इस प्रसंग में यह प्रश्न उठना

[1] गीता १३ ७।

स्वाभाविक है कि यदि आत्मा को चेतन नहीं माना जाय तो वह क्षेत्रज्ञ कैसे हो सकता है ? परन्तु इसका उत्तर यही होगा कि आत्मा को क्षेत्र के रूप में ही क्षेत्रज्ञ कहा गया है जिसका तात्पर्य यह है कि आत्मा स्वयं प्रकाश नहीं है परन्तु इसका प्रकाश क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का प्रतिबिंब मात्र है। क्षेत्र में चैतन्य अन्तर्निहित है एवं आत्मा के संयोग से ही वह क्षेत्रज्ञ प्रतीत होता है।

यहाँ पर यह कहना अप्रासाङ्गिक नहीं होगा कि उपनिषदों में कहीं पर भी क्षेत्र शब्द का प्रयोग गीता के क्षेत्रार्थ में नहीं हुआ है। परन्तु क्षेत्रज्ञ शब्द श्वेताश्वतर एवं मैत्रायण के क्रमशः ६ १६ तथा २ ५ में गीता के पुरुष के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। गीता ने जिस अर्थ में 'क्षेत्र' शब्द का प्रयोग किया है उसी अर्थ में चरक ने अपनी चरक संहिता ३ १ ६१ ६३ में सांख्य शब्द का प्रतिपादन करते हुए किया है। चरक ने अव्यक्त' को क्षेत्र का अंग नहीं माना है जैसाकि गीता ने माना है। आगे चलकर चरक अव्यक्त (जिसके अनुसार जिसका अर्थ सांख्य प्रकृति एवं पुरुष से है) को क्षेत्रज्ञ मानता है जबकि गीता केवल पुरुष को ही क्षेत्रज्ञ मानती है। गीता का 'पुरुष' से तात्पर्य जीवभूत (७ ५ एवं १५ ७) से है जिसके द्वारा सम्पूर्ण जगत् धारण किया हुआ है। परन्तु गीता यह नहीं बताती कि जीवभूत जगत् का आधार किस प्रकार से है। चरक ने भी आत्मा को जीवभूत माना है और उसमें यह भी बताया गया है कि यही बुद्धि इन्द्रियाँ, मन एवं विषय का आधार है। शुभ अशुभ सुख दुःख बंध-मोक्ष एवं वस्तुतः सम्पूर्ण विश्व के व्यापार इसी के हेतु है। चरक संहिता में पुरुष को चेतना धातु माना गया है फिर भी पुरुष स्वयं शुद्ध चैतन्य नहीं है। उसमें चेतना केवल मन, इन्द्रियाँ विषय इत्यादि के संयोग मात्र से आती है। गीता में पुरुष का चेतना धातु नहीं माना गया है परन्तु चेतना क्षेत्र का अंग ही है जिसकी अध्यक्षता पुरुष करता है। इस प्रकार पुरुष का क्षेत्रज्ञ के रूप में भान केवल अपने क्षेत्र के साथ संयोग होने से होता है। यह धारणा की जा सकती है कि पुरुष क्षेत्रज्ञ अथवा जीवभूत के रूप में क्षेत्र का धारण करता है और यह भी सम्भव है कि पुरुष में ज्ञातृत्व क्षेत्र के संयोग से आता है।

पुरुष के ज्ञातृत्व स्वरूप का विचार करते समय एक अन्य सम्बन्ध की बात भी कही गई है कि पुरुष कर्त्ता भी है। अन्य प्रसंग में कर्मफल का अधिष्ठान (स्थान)—कर्त्ता, भिन्न भिन्न कारण अर्थात् साधन (कर्त्ता की) अनेक प्रकार की पृथक् पृथक् चेष्टाएँ और दैव के समूह से सम्भव माना गया है इस सिद्धान्त को सांख्य सिद्धान्त माना गया है यद्यपि शंकर के अनुसार यह वेदान्त मत है। परन्तु दोनों सांख्य एवं वेदान्त के सिद्धान्त सत्कार्यवाद है। परम्परागत सांख्य दर्शन के सत्कार्यवाद के सिद्धान्त के अनुसार कर्मफल अव्यक्त सत् से व्यक्त विकृत विकास का स्वाभाविक परिणाम है। वेदान्त के सत्कार्यवाद मत के अनुसार कार्य केवल प्रतीति मात्र है एवं कारण ही एक मात्र सत्य है। इन दोनों में से कोई उस कारण के सिद्धान्त को नहीं मानता जिसकी

यह मान्यता थी कि कई एक तत्वो के संयुक्त होने से कोई भी कार्य सम्भव है। जिसका प्रभाव हो, वह केवल कारणों के संयुक्त प्रभाव अथवा समूह से नहीं उत्पन्न किया जा सकता। ✓यह स्मरणीय है कि गीता सत्कार्यवाद के आधारभूत सिद्धांत का स्पष्टतया प्रतिपादित करती है कि जो सत् है उसका अभाव नही है एवं असत् का अस्तित्व नही है। आत्मा के अमरत्व को सिद्ध करने के लिए इस सिद्धान्त का लागू किया गया।✓ प्रत्येक व्यक्ति को यह बात आश्चर्यजनक लगेगी कि गीता आत्मा के अमरत्व को स्थापित करने के लिए सत्कार्यवाद को मानती है और साथ ही साथ कर्म सम्भव के बारे मे असत्कार्यवाद के सिद्धान्त को स्वीकार करती है। यह बात भी प्रभावी है कि चरक भी अपने सांख्य निरूपण म मानता है कि सब कर्म अनेक कारणो के परिणाम हैं अर्थात् कर्म कर्त्ता[1] के साथ अन्य अनेक तत्वो के संयोग का परिणाम है।

गीता मे (२ २८) अव्यक्त शब्द अज्ञेयता और अदृश्यता के अर्थ म प्रयुक्त हुआ है। सब भूत प्रारम्भ मे अव्यक्त मध्य में व्यक्त, और मरण समय मे फिर अव्यक्त होते हैं। परन्तु अब नपुंसकलिंग अव्यक्त शब्द ईश्वर के अंग के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है जिससे इस नाना रूपात्मक जगत् की उत्पत्ति हुई है। ✓अव्यक्त शब्द प्रकृति अथवा ईश्वर की प्रकृति भी ह जो अध्यक्ष होकर प्रकृति से सब चराचर सृष्टि उत्पन्न करवाता है।[2]✓परन्तु कभी-कभी ईश्वर स्वयं अव्यक्त कहा गया है (सम्भवत अगोचर होने के कारण), अव्यक्त से परे दूसरा सनातन पदार्थ जिसके द्वारा इस जगत् की उत्पत्ति हुई है।[3] यह अव्यक्त ईश्वर ही ह जिसे अक्षर भी कहते हैं एवं वो सम्पूर्ण प्राणियों की चरम अर्थात् उत्कृष्ट या अन्त की गति कहा गया है। इस प्रकार एक सनातन अव्यक्त है जो ईश्वर का पर तत्व ह एवं दूसरा (निम्न कोटि का) अव्यक्त है जिससे सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति हुई है। इन दो अव्यक्तों के अतिरिक्त एक प्रकृति भी है जिसे अनादि तत्व एवं माया अथवा अविद्या कहते हैं तथा जिससे गुण उत्पन्न होते है।

ब्रह्मन्' दो अथवा तीन भिन्न भिन्न अर्थों म प्रयुक्त हुआ है। जैसे एक प्रकृति के अर्थ मे जिससे गुण उत्पन्न होते हैं—दूसरे, ईश्वर को आवश्यक स्वरूप के अर्थ मे, तीसरे वेदो के अर्थ में। इस प्रकार गीता मे (३ १५ में) कर्म की उत्पत्ति ब्रह्म से अर्थात् प्रकृति से हुई है और यह ब्रह्म ही यज्ञ मे अधिष्ठित रहता है।[4] उसका तात्पर्य यह

---

[1] चरक संहिता ४ १ ५४।

[2] *गीता ६, १०, मयाध्यक्षेण प्रकृति सूयते सचराचरम्।*

[3] गीता ८ २०,२१, ६ ४ जहा कहा गया है— सम्पूर्ण जगत् मेरे अव्यक्त रूप मे व्याप्त है। सब वस्तुएँ एवं प्राणी मेरे अन्दर हैं परन्तु मैं उनमे नही हूँ।'

[4] वही ३ १५।

है कि चूंकि सनातन ब्रह्म से वेदों की उत्पत्ति हुई है इसलिए कर्म भी सर्वगत एवं सनातन है। सर्वगत शब्द का कर्म के अर्थ मे उपयोग इसलिए हुआ है कि कर्म करने वालो को विविध प्रकार से लाभ होता है। गीता के ४ ३२ म ब्रह्मणो मुखे' मे व ब्रह्मन वेदार्थ म प्रयुक्त हुआ है। परन्तु अ ४ २४ एव २५ में अर्पण अथवा हवन करने की क्रिया ब्रह्म है, हवि अर्थात् अर्पण करने का द्रव्य ब्रह्म है ब्रह्माग्नि मे ब्रह्म ने हवन किया है, इस प्रकार जिसकी बुद्धि मे (सभी)कर्म ब्रह्ममय है, उसको ब्रह्म ही मिलता है। कोई कोई योगी देवता आदि के उद्देश्य से यज्ञ किया करते हैं और कोई ब्रह्माग्नि म यज्ञ से ही यज्ञ का यजन करते हैं। इसमे 'ब्रह्मन् ईश्वर के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।[1] पाचवें अध्याय के ६ १०,१६ श्लोक मे भी तथा और कई स्थलो मे ब्रह्मन् ईश्वरार्थ' म प्रयुक्त हुआ है परन्तु गीता के अनुसार सगुण ईश्वर पर तत्व है एव उपनिषदो मे उपदिष्ट निर्गुण एव निर्विशेष पर तत्व होते हुए भी सगुण ईश्वर द्वारा धारण किया जाता है। यद्यपि अ ८ ३ एव १० १२ श्लोक मे ब्रह्म भेद रहित पर तत्व कहा गया है फिर भी अ १४ २७ म ईश्वर को इस पर तत्व ब्रह्म का भी आधार कहा गया है। कई श्लोको मे ब्रह्मभूत (अ ५ २४ अ ६ २७ अ १८ ५४) अथवा ब्रह्मभूय (अ १४ २६) एव ब्रह्म निर्वाण प्राप्ति (अ २ ७२, अ ५ २४ २५ और २६) का वर्णन है। गीता म ब्रह्मभूत का अर्थ शाकर वेदान्त की सायुज्य मुक्ति नही है यह कहना दोषयुक्त होगा कि ब्रह्मन् का प्रयोग उसी अर्थ मे किया गया है जिस अर्थ मे शकर ने किया है। उपनिषदो में 'ब्रह्मन् पर भेद रहित तत्व के अर्थ म प्रयुक्त हुआ है एव उपनिषद् हिन्दू दर्शनो द्वारा सब शास्त्रो का भण्डार माना गया है। अधिकतम दर्शनो ने अविकारी परम धाम की प्राप्ति को ब्रह्मानुभूति का चरम लक्ष्य माना है। इस सम्बन्ध में चरक द्वारा प्रतिपादित साख्यशास्त्र में कहा गया है कि जब मनुष्य आसक्ति एव मानसिक और शारीरिक क्रियाओ को छोड देता है तब उसकी सब भावनाओ एव ज्ञान की पूर्ण निवृत्ति हो जाती है। इस अवस्था में वह ब्रह्मभूत हो जाता है एव आत्मा की स्थिति अव्यक्त हो जाती है। यही अवस्था अखिल जगत् से परे एव सब प्रकार से अनुमान तथा चिह्न से रहित है।[2] यह स्थिति निर्वाण होते हुए भी ब्रह्मभूत कहलाती है। ब्रह्मन् उपनिषदो में से लिया गया एव पर स्वानुभूति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ तथा जिसके स्वरूप के सबध मे भिन्न भिन्न दर्शनो के अनेक मत हैं। गीता में भी 'ब्रह्मन् शब्द का प्रयोग हुआ है जिसे ब्रह्मानुभूति की उच्च अवस्था माना गया है जिसमें मनुष्य पूर्ण अनासक्ति द्वारा अपने आप में तुष्ट

---

[1] इस श्लोक (४ २४) की व्याख्या करते हुए श्रीधर ने इसे इस प्रकार व्याख्यायित किया है तदेवम् परमेश्वराधनलक्षण कर्म ज्ञानहेतुत्वेन बन्धकत्वाभावात्कर्मैव।

[2] नि सृत सर्वभावेभ्यश्चिह्न यस्य न विद्यते।

—चरक सहिता ४ १ १५३।

रहता है एव जो स्थित प्रज्ञ है। गीता ५.१९ में ब्रह्म को निर्दोष एव सम माना गया है। इसी प्रसग के अन्य श्लोकों में राग द्वेष से वियुक्त स्थित प्रज्ञ मुनि को ब्रह्म में स्थित कहा गया है क्योंकि ब्रह्म का अर्थ ही समता की स्थिति है। गीता में (अ १३.१३) ब्रह्म को ज्ञेय, अनादि एव न सत् तथा न असत कहा गया है। उसके सब ओर हाथ पैर है, सब ओर आँखें, सिर और मुख है। सब ओर कान है और वही इस श्लोक मे सबको व्याप रहा है। (उसमे) सब इन्द्रियों व गुणों का आभास है पर उसके कोई इन्द्रिय नही है वह सबसे असक्त अर्थात् अलग होकर भी सबका पालन करता है और निर्गुण होने पर भी सब गुणों का उपभोग करता है। (वह) सब भूतों के भीतर भी है और बाहर भी है अचर है और चर भी है, सूक्ष्म होने के कारण वह अविज्ञेय है और दूर होकर भी समीप है। (वह) तत्वत अविभक्त *अर्थात् अखण्डित होकर भी सब भूतों में नाना (नानात्व से) विभक्त हो रहा है और (सब) भूतों का पालन करने वाला, ग्रसने वाला और उत्पन्न करने वाला भी उसे ही* समझना चाहिए। उसे ही तेज का भी तेज और अधकार से परे कहते हैं। ज्ञान जो जानने योग्य है वह (ज्ञेय) और ज्ञानगम्य अर्थात् ज्ञान से ही विदित होने वाला भी (वही) है सबके हृदय में वही अधिष्ठित है। उपयुक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि ब्रह्म का सामान्य प्रत्यय उपनिषदों में से अपरोक्ष रूप से लिया गया है। इस अध्याय के अन्त में कहा गया है कि जब सब भूतों का पृथक्त्व अर्थात् नानात्व एकता में (दीखने लगे) और इसे (एकता में ही सब) विस्तार दीखने लगे तब ब्रह्म प्राप्त होता है। परन्तु अगले अध्याय में कृष्ण भगवान् कहते है कि अमृत और अव्यय ब्रह्म का शाश्वत धर्म का एव एकान्तिक अर्थात् परमावधि के अत्यंत सुख का अन्तिम स्थान मैं ही हूँ। गीता के १४.२६ यह कहा गया है कि 'जो (मुझे ही सब कर्म अर्पण करके) अव्यभिचार अर्थात् एकनिष्ठ भक्तियोग से मेरी सेवा करता है वह इन तीन गुणों को पार करके ब्रह्मभूत अवस्था पा लेने मे समर्थ हो जाता है। यह कहा जा चुका है कि गीता के अनुसार दो विभिन्न प्रकार के अव्यक्त है। ईश्वर की अपरा प्रकृति ही जगत् के रूप में व्यक्त होती है, परन्तु एक उच्चतर अव्यक्त है जो नित्य *एव अविकारी तथा सबका आधार है। अत यह सम्भव प्रतीत होता है कि ब्रह्मन्* और पर अव्यक्त एक ही है परन्तु यद्यपि यह क्षर से भी परे का और अक्षर से भी उत्तम (पुरुष) है यह पुरुषोत्तम के नाम से प्रसिद्ध है।

गीता वेदान्त या साख्य का ग्रन्थ है अथवा प्रारम्भ में साख्य ग्रन्थ था जो बाद में वेदान्तिक दृष्टिकोण से परिवर्तित, परिवर्धित अथवा सशोधित कर दिया गया—इस प्रश्न का विस्तारपूर्वक विवेचन यहा पर करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि गीता पर इस ग्रन्थ में किए गए भाष्य को यदि स्वीकार कर लिया जाय तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि गीता न तो साख्य का और न वेदान्त का ही ग्रन्थ है। यह पहले ही

बताया जा चुका है कि गीता का सांख्य ईश्वरकृष्ण की कारिका मे प्रतिपादित परम्परागत सांख्य दर्शन नही है। परन्तु निस्सन्देह यहाँ वही प्राचीन दर्शन के तत्व मिलते हैं जिनके विकसित रूप केवल ईश्वरकृष्ण का सांख्य अथवा षष्टि तन्त्र है (जिसका ईश्वरकृष्ण ग्रन्थ एक संक्षिप्त ग्रन्थ ही नही है बल्कि चरक के ग्रन्थ म उपलब्ध पूर्वकथन भी इसके ही विकसित रूप हैं)। इसमे कोई सन्देह नही कि गीता के सांख्य और षष्टि तन्त्र अथवा ईश्वरकृष्ण के सांख्य मे, चरक के सांख्य म महाभारत में पञ्चशिख शास्त्र में तथा व्यास सांख्य और पतंजलि के सांख्य मे बडा महत्वपूर्ण भेद है। सामान्यतया पतंजलि के सांख्य को सेश्वर सांख्य कहा गया है। परन्तु पतंजलि योग दर्शन म प्रतिपादित सांख्य ईश्वर को स्पष्टतया नही मानता। ईश्वर उपरोक्त योग मे केवल पुरुष विशेष है जो अपने नित्य सकल्प द्वारा कर्म विधान के अनुसार प्रकृति के विकास के पथ की बाधाओ को हटाता है। इस प्रकार वह (ईश्वर) अपनी प्रकृति के उद्देश्य की पूर्ति में सहायक होता है। परन्तु गीता के दोनो पुरुष और उनकी महद्ब्रह्म प्रकृति पुरुषोत्तम ईश्वर के अंग हैं। आत्मगत लक्षण वाले गुणो को उत्पन्न करने वाली प्रकृति को ईश्वर की माया अथवा उसकी वधू कहा गया है जो उसके सकल्प से गर्भित होकर गुण उत्पन्न करती है। गीता के दर्शन एव सांख्य की अनेक शाखाओ म अन्तर स्पष्ट है। सांख्य की एक प्रकृति के बजाय यहाँ पर ईश्वर की तीन प्रकृतियाँ हैं। यहा गुण जगत् सम्बन्धी न होकर आत्मगत अथवा मनोवैज्ञानिक है। इसका कारण यह है कि गीता की प्रकृति आत्मगत ईश्वरीय सकल्प से गुण उत्पन्न करती है जो सस्कारो से युक्त होकर पुरुषो को बाधते हैं। उसी प्रकृति को गुणमयी माया कहा गया है। पुरुष अनेक होते हुए भी ईश्वरीय प्रकृति से प्रकट होते हैं। सांख्य की तरह गीता मे पुरुषो को शुद्ध चैतन्य स्वरूप नही कहा गया है। परन्तु चेतना की चित् शक्ति का स्रोत ईश्वर की अन्य प्रकृति से है जो पुरुष स सयुक्त है। यह भी बताया जा चुका है कि कर्मफल के अथवा चेतना के प्रसग म नही अपितु आत्मा के अमरत्व के बारे मे गीता सत्कार्यवाद के सिद्धान्त को मानती है। गीता म सांख्य की तरह तन्मात्र का विवरण नहीं है। सांख्य की प्रकृति का स्थान गीता म पुरुषोत्तम ने लिया है जो अपने सकल्प द्वारा अपने अन्दर धारण किए हुए विभिन्न तत्वो म एकत्व एव हेतु स्थापित करता है। पतंजलि एव कपिल के सांख्य का ज्ञान अथवा यौगिक क्रियाओ द्वारा पुरुषो के परम पुरुषार्थ अर्थात् मुक्ति प्राप्ति लक्ष्य है। गीता का उद्देश्य मन का राग द्वेष से वियुक्त करके सत्ता की समता एव मन की परम शाति प्राप्त करवाना है। जिस स्थिति में उपरोक्त समता एव तुष्टि की उपलब्धि हो जाती है तब मुनियो सेत गुणासक्ति के बन्धन से मुक्त अर्थात् गुणातीत अथवा ब्रह्मभूत हो जाता है। इस प्रकार गीता दर्शन परम्परागत सांख्य दर्शन से प्रत्येक विषय मे महत्वपूर्ण रूप स भिन्न है। कुछ गौण विषयो मे (उदाहरणार्थ तन्मात्र की अनुपस्थिति, ज्ञान एव कर्मेन्द्रियो का स्वरूप इत्यादि)

गीता दर्शन की चरक संहिता ४१ (इस ग्रन्थ के प्रथम खंड में जैसा वर्णित है)[1] में दिए गए सांख्य दर्शन के साथ समानता है।

गीता वेदान्त द्वारा प्रभावित हुई या नहीं—इस प्रश्न का उत्तर उस समय तक नहीं दिया जा सकता जबतक वेदान्तिक प्रभाव का ठीक ठीक अर्थ नहीं समझा जाय। यदि वेदान्तिक प्रभाव का अर्थ उपनिषदों के प्रभाव के अर्थ में लिया जाय तो यह मानना पड़ेगा कि गीता ने प्राचीन समय से अपने ज्ञान के लिए सम्मानित उपनिषदों से स्वतन्त्रतापूर्वक सामग्री ली है और यदि वेदान्तिक प्रभाव का तात्पर्य शंकर एवं उनके अनुयायियों द्वारा उपदिष्ट वेदान्त दर्शन से हो तो यह निश्चित है कि गीता दर्शन उनसे अत्यधिक भिन्न है। यह भी कहा जा चुका है कि उपनिषदों में जो ब्रह्म ईश्वर का पर तत्व कहा गया है वह वस्तुतः पुरुषोत्तम है। गीता कहीं पर भी इस बात पर जोर नहीं देती कि ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है एवं इतर जगत् मिथ्या है अर्थात् ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या को नहीं मानती। 'निस्संदेह माया तीन स्थलों में प्रयुक्त हुआ है। परन्तु उस अर्थ में नहीं जिस अर्थ में शंकर ने अपनी वेदान्तिक टीका में प्रयोग किया है। इस प्रकार गीता में (७ १४) माया को गुणमयी बताया गया है और यह कहा गया है कि जो ईश्वर की शरण जाते हैं वे इस माया को पार कर जाते हैं। गीता में (७ १५) माया शब्द सम्भवतः उसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है क्योंकि यह कहा गया है कि माया ने जिनका ज्ञान नष्ट कर दिया है ऐसे मूढ़ और दुष्कर्मी नराधम आसुरी बुद्धि में पड़कर ईश्वर की शरण में नहीं आते। निश्चित तौर पर यहाँ पर भी माया का तात्पर्य रजस एवं तमस के प्रभाव से है। क्योंकि गीता में यह बार बार कहा गया है कि रजस एवं तमस के अत्यधिक प्रभाव से (आधिक्य से) आसुरी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। गीता में (१८ ६१) कहा गया है कि ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में रहकर (अपनी) माया से प्राणि मात्र को (ऐसे) घुमा रहा है मानो सभी (किसी) यन्त्र पर चढ़ाए गए हों। यह कहा जा चुका है कि मानसिक कर्म में प्रवृत्त करने वाली वृत्तिए एवं नैतिक और अनैतिक प्रवृत्तियाँ गुणों के प्रभाव द्वारा उत्पन्न होती हैं एवं ईश्वर प्रकृति के गुणों का सनातन बीज है। अतएव गीता में (७ १४) माया का तात्पर्य गुणों से है। श्रीधर इसे ईश्वर की शक्ति मानते हैं। गुण दूरवर्ती अर्थ में निस्संदेह ईश्वर की शक्तियाँ हैं। परन्तु शंकर का माया को छल के रूप में कहना अयथार्थ है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि गीता के मत में जगत् का माया स्वरूप अर्थात् मिथ्या नहीं माना गया है। यह भी कहा जा चुका है 'ब्रह्मन्' गीता में वेदों के अर्थ में, निर्दोष समता के अर्थ में, प्रकृति के परम तत्वार्थ में प्रयुक्त हुआ है जिससे यह स्पष्ट है कि शंकर के दर्शन की तरह इसका प्रयोग स्पष्ट विशिष्टार्थ अथवा

---

[1] भारतीय दर्शन का इतिहास खंड १, १९२२ पृ० २१३–२२२।

दार्शनिक ग्रंथ में नहीं हुआ है। गीता में व्यवहृत 'माया' शब्द औपनिषद् परम्परा का लचीलापन लिए हुए हैं। शंकर के वेदान्त दर्शन में विख्यात अविद्या शब्द गीता में कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुआ है। अज्ञान शब्द की पुनरावृत्ति हुई है (अ० ५ १५,१६, १०,११, १३ ११, १४ ८ १६ १७ १६ ४) परन्तु इनमें से किसी भी स्थल पर उपरोक्त शब्द कोई विशिष्टार्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। यहाँ इसका अर्थ है तमस से उत्पन्न अज्ञान (अज्ञान तमस फलम् १४-१६) और जो स्वयं तमस उत्पन्न करता है (तमस्त्वज्ञानजं विद्धि अ० १४ ८)।

गीता में यज्ञों का निरूपण

शंकर द्वारा प्रतिपादित वेदान्त के सिवाय प्रायः सभी हिन्दू मत यज्ञ और याग उपासना आदि वैदिक नैमित्तिक कर्म द्वारा ज्ञात प्राप्त है। मीमांसा दर्शन में विधि के विश्लेषण में कर्मों की नैमित्तिकता अत्युत्तम रीति से की गई है। विधि का अर्थ है वेदाज्ञा जैसे 'तुम्हें अमुक अमुक यज्ञ करने चाहिए। कहीं कहीं ये अर्थों की प्राप्ति के लिए होते हैं जैसे जो लोग स्वर्ग प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें अमुक अमुक यज्ञादि करने चाहिए। कहीं कहीं ये अनिवार्य होते हैं जैसे तुम्हें तीन प्रार्थनाएं करनी चाहिए। मीमांसा के विभिन्न मतों में इस धर्म की बाध्यता का भिन्न रूप से प्रतिपादन किया गया है। प्रख्यात भाष्यकार कुमारिल ने जैमिनी द्वारा दी गई धर्म की परिभाषा (अभीष्ट अर्थ अथवा शुभ जो वैदिक कर्म हैं) (चोदना लक्षणार्थो धर्म मीमांसा सूत्र १ १) पर टीका करते हुए कहते हैं-वैदिक यागादि का पालन ही धर्म है। अतः धर्म की परिभाषा के अन्तर्गत वह अभीष्ट अर्थ दुःख से सम्वर्धित सुख की मात्रा के आधिक्य के कारण आता है जो वैदिक विधान द्वारा उपदिष्ट है। वैदिक यज्ञ भी धर्म कहलाते हैं क्योंकि इनसे भविष्य में सुखात्मक अनुभवों की उपलब्धि होती है। अतः वैदिक विधान द्वारा निषिद्ध कर्मों का त्याग भी धर्म कहलाता है क्योंकि इसके द्वारा विधि के उल्लंघन के फलस्वरूप अनीप्सित प्रभाव एवं दुःख यातनाओं को टाला जा सकता है। ऐसे यज्ञों को अन्ततोगत्वा अर्थ कहते हैं क्योंकि इनसे सुखात्मक भावों की प्राप्ति होती है। वैदिक विधि का प्रभाव दो प्रकार से पड़ता है-प्रथमतः शाब्दि भावना के पालन में ऐच्छिक प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव द्वितीय आर्थी की भावना में क्रियात्मक संकल्प का प्रादुर्भाव। शाब्दि भावना का प्रवर्तक भौतिक अथवा शारीरिक प्रवर्तक नहीं है। ऐसी प्रवृत्ति की उत्पत्ति केवल इसी विचार के परिणामस्वरूप होती है कि कर्म करने से उसे श्रेयस्कर अर्थोपलब्धि होगी।[1] इसलिए वैदिक विधान में निहित दो प्रकार की भावनाओं में वैदिक आज्ञा द्वारा कार्य करने की प्रवृत्ति को

---

[1] अदृष्ट तु विषये श्रेय साधनाधिगम नान्यैक निब धन इति तद् अधिगमा पाय शब्द

शाब्दि भावना कहते हैं। इसके परिणामस्वरूप मनुष्य कार्य करने के लिए वास्तविक प्रयत्न करता है।[1] क्रिया के अर्थ को दृष्टि में लाने के पूर्व ही विधि का अपरोक्ष ज्ञान क्रिया के उपसर्ग लिङ् से हो जाता है। यदि ऐसी बात है तो प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या वैदिक विधि द्वारा उपदिष्ट लिङ् केवल आकृत मात्र माना ही है अर्थात् उसमें सामग्री नहीं है ? उपरोक्त बात भट्ट मत का मान्य है जिसके अनुसार यद्यपि प्रथम अवस्था में वदिक विधि भले ही केवल आकृत मात्र हो परन्तु आनुक्रमिक अवस्थाओं में व्यक्त प्रसंग के अपरोक्ष सम्बन्ध से पूर्ति हो जाती है जैसाकि क्रिया के लिङ् के साथ संयोग से संकेत मिलता है।[2] अतः सामग्रीरहित कर्तव्य का कथन एवं उसके साकार क्रिया के अर्थ का सम्बन्ध दो भिन्न अर्थों में नहीं है अपितु कथन की एक ही क्रिया का विस्तार है जैसे, रसोई बनाने की क्रिया में आग जलाने एवं आग पर बर्तन रखने इत्यादि की प्रक्रियाएं अन्तर्निहित हैं।[3] अतः उपरोक्त दो भावनाओं का अर्थ संकल्प का तर्क एवं उसका निश्चित प्रक्रिया में परिणित होना है जैसे यज्ञ यागादि की क्रिया इत्यादि। यहाँ विधि का अर्थ प्रेरणा रूप व्यापार है। वह ऐसी प्रेरणा है जो कर्त्ता में आगे चलकर क्रियात्मक रूप में परिणित होने वाले संकल्प को जन्म देती है।

एक अन्य मीमांसा मत इस द्वैत भावना के सिद्धान्त की आलोचना करता हुआ कहता है कि 'लिङ् प्रत्यय प्रेरणात्मक है मानो वेदों का हमारे साथ सम्बन्ध स्वामी एवं

एव प्रवर्त्तक अतएव शब्दोऽपि न स्वरूपमात्रेण प्रवर्त्तको वायु आदि तुल्यत्व प्रसंगात् अर्थ प्रतीतिम् उपजनयत शब्दस्य प्रवर्त्तकत्व।

—न्याय मंजरी, पृ० ३४२ विजियन ग्राम संस्कृत सिरीज बनारस, १८९५।

[1] लिङ् आदे शब्दस्य न प्रतीति मानमात्रे व्यापार किन्तु पुरुष प्रवर्तौ अपि, स चायं लिङ् आदि व्यापार शब्द भावना नामधेयो विधि इति उच्यते स एव च प्रवर्त्तक। यो भवन क्रिया कर्तृ विषय प्रयोजकव्यापार पुरुषस्थो यत्र भवनक्रियाया कर्ता स्वर्गादिकमर्थं आप्यते सोऽर्थ भावना शब्देन उच्यते।

[2] यद्यप्यंशत्रसपृष्टा विधि स्पृशति भावनाम्
तथाप्यशक्तितो नासौ तन्मात्रे पर्यवस्यति
अनुष्ठेये हि विषये विधि पुंसा प्रवर्तक
अंश त्रयेण चापूर्णा नानु तिष्ठति भावनाम्
तस्मात् प्रकारान्त रूपाऽपि विधिस्तावत् प्रतीक्षते
यावद् योग्यत्वमापन्ना भावनाऽन्या न पेक्षिणी।

[3] यथाहि स्थाल्यधिश्रयणात् प्रभृत्या निराकाङ्क्षौदन–निष्पत्ते रेकवेय पाकक्रिया सलिलावसकतडुलावपनदर्वीविघट्टनाश्रावणाद्यनेकक्षणसमुदायस्वभावा तथा प्रथम पद ज्ञानात् प्रभृति आ निराकाङ्क्षवाक्यार्थपरिच्छेदाद् एकवेय शाब्दी प्रमिति।

—न्याय मंजरी, पृ० ३४५।

भृत्य का हो एव लिङ् प्रत्यय म वदिक विधि प्रभुत्व सूचक है। विधि हमे कम करने की प्रेरणा देती है एव उसके द्वारा प्रेरित होकर हम कम सपादन म प्रवृत्त होते हैं। शारीरिक दृष्टि से यह हम कम करने को विवश नही करती परन्तु इससे हमार अन्दर यह भावना रहती है कि हमे कोई कम करने की आज्ञा दे रहा है और यही वह प्रेरक शक्ति है। कम विधि ज्ञान इस प्रकार हम वैदिक कम करने की प्रेरणा देती है। जब मनुष्य कोई आज्ञा सुनता है तो वह अनुभव करता है कि उसे आज्ञा दी गई है तब वह कम म प्रवृत्त होता है। यह कम प्रवृत्ति नियोग एव नियोजित के सम्बन्ध से बिल्कुल भिन्न होती है एव उसके बाद ही आती है। वेद वाक्य का तत्व नियोग है। एक मनुष्य जिसने पहले कुछ वस्तुओ के लाभ अथवा तज्जन्य आनन्द का रसास्वादन कर लिया है वह स्वभावत उन्हे पुन प्राप्त करना चाहता है। यहाँ भी उत्सुकता, इच्छा अथवा आकूट का विशिष्ट मानसिक अनुभव होता है जो उसे वदिक नियोग के आज्ञा पालन म प्रवृत्त करता है। यह आकूट पूर्ण रूप से स्वगत अनुभव है अत अन्य लोग इसका अनुभव नही कर सकते। यद्यपि इसके अस्तित्व का इस बात से अनुमान किया जा सकता है कि जबतक इनका मानसिक अनुभव नही होगा तबतक कम सपादन की प्रेरणा नही होगी।[1] सम्पूर्ण विधियो का अथ नियोग अथवा प्रेरणा है एव यही हमे नियोगानुसार कम करने की प्रेरणा देता है। कम सम्पादन आकूट का अन्य रूप मात्र है जो स्वागत रूप म विधि की प्रेरक शक्ति अथवा नियोग द्वारा उत्पन्न हुआ सा अनुभूत होता है। यह मत कुमारिल के मत से इस बात मे भिन्न है कि वैदिक नियोग के अनुसार कमविचार एव सम्पादन की सम्पूर्ण प्रक्रिया द्वारा वैदिक नियोग दो प्रकार की भावना म परिणित होता है। हम कम मे प्रवृत्त करने मे एव हमारे अन्दर नियोग पालन का आकूट उत्पन्न करने म नियोग की शक्ति समाप्त हो जाती है। वास्तविक कम सम्पादन स्वाभाविक अथ के रूप मे प्राप्त होता है। विधि का शक्ति केवल उस समय ही काय करती है जब हमारे सामान्य रुझान हमे कम करने मे प्रवृत्त नही करते। अत विधि केवल नियोग के नियम के रूप म काय करती है जिसका पालन केवल नियम के लिए ही होता है एव यह नियम के पालन का मनोवैज्ञानिक तत्व आकूट ही है जिससे कम सपादित होता है।

मडन अपने विधि विवेक म विधि के महत्व पर विभिन्न मतो की परीक्षा करते हैं। वह विधि की व्याख्या करते हुए इसे विशिष्ट प्रकार की प्रवतना बताते हैं। वह लक्ष्य की प्राप्ति के आतरिक ऐच्छिक प्रयोजन एव शारीरिक मासपेशियो को

---

[1] अयमपि भौतिकव्यापारहेतुरात्माकूतविशेषो न प्रमाणान्तरवेद्यो भवति न च न वेद्यते तत्संवेदने सति चेष्टा यद्वन्त दृष्ट्वा तस्यापि तादृक्प्रेरणावगमोऽनुमीयते।

— न्याय मजरी, पृ० ३४८।

गतियों में परिणत होने वाले क्रियात्मक प्रयत्न में भेद करते हैं। यहाँ प्रवर्तना का तात्पर्य कर्म संपादन के प्रति मन की आन्तरिक ऐच्छिक प्रेरणा से तथा उससे संबंधित वास्तविक नाडी मंडल पर प्रभाव डालने वाले परिवर्तन से है।[1] वेदों के आदेश के साथ स्वभावतः कर्त्तव्यता का भाव आता है एवं यही कर्त्तव्यता का भाव लोगों को निष्काम कर्म करने को प्रेरित करता है। नैतिक औचित्य (Oughtners) से संबंधित इस मनोवैज्ञानिक अवस्था का स्वरूप प्रतिमा (instines) जैसा है। नैतिक औचित्य (Oughtners) से उत्पन्न कार्य करने की प्रतिमात्मक उत्तेजना द्वारा कर्म संपादित होता है।

विधि से निरुपाधिक आज्ञा के उपयुक्त मत से न्यायदर्शन का मतभेद है। उसके मत में वैदिक नियोग पालन का शक्तिस्थान हमारी वह लाभ प्राप्ति की इच्छा है जो लाभ हम वेदाज्ञा के अनुसार कर्म करने के फलस्वरूप प्राप्त होते हैं। अतः कर्म करने का चरम प्रेरक सुख प्राप्ति एवं दुःख त्याग है एवं अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ही मनुष्य वैदिक नियोग का पालन करने तथा उसे संपादित करने को प्रेरित होता है। अतः इस मत के अनुसार प्रेरणा में शुद्ध आदेश का वक्तृनिष्ठ प्रयोजन अथवा आदेश के प्रभाव द्वारा ऐच्छिक प्रवृत्ति का उत्पन्न करना निहित नहीं है। अनुभूत प्रेरणा का कारण लक्ष्य प्राप्ति की इच्छा का उत्पन्न होना है।

विधि की उपयुक्त व्याख्याओं में अधिकांश व्याख्याएँ गीता के उत्तरकाल की हैं। विधि के स्वरूप का कोई व्यवस्थित विषय अथवा वाद विवाद अब उपलब्ध नहीं है जिसे गीताकाल का समकालीन अथवा पूर्वकालीन कहा जा सके। परन्तु वाद के भाष्य भी गीता में आदेश विचार की शक्ति के महत्व को समझने में उपयोगी हैं। उपरोक्त तर्क से यह स्पष्ट है कि विधि आदेश का विचार हमारे अर्थ के अनुसार नैतिक नहीं कहा जा सकता जैसाकि हिन्दू आचार शास्त्र ग्रंथ में किया गया है?[2] क्योंकि विधि के आदेश वैदिक विधि निषेध तक ही सीमित हैं जो किसी प्रकार से भी हमारे नैतिकता सम्बन्धी सामान्य विचार के साथ एक ही स्थान पर व्यापक नहीं है। उपयुक्त वर्णित मीमांसा मतों के अनुसार वैदिक विधि निषेध का पालन ही धर्म है। धर्म वैदिक विधि है एवं अधर्म वैदिक निषेध है तथा जो न तो वैदिक विधि है और न

---

[1] भावधर्म एव कश्चित् समीहितसाधनानुगुणो व्यापार पन्थ, तद्यथा आत्मनो बुद्ध्यादिजननप्रवृत्तस्य मनःसंयोग एवास्य भावधर्म तद्वद् अत्रापि स्व दस्तदितरो वा भावधर्म प्रवृत्तिजननानुकूलतया व्यापार विशेष प्रवर्तना।

—विधि विवेक पर वाचस्पति की न्यायकणिका पृ० २४३-४४।

[2] स० क० मित्रा द्वारा लिखित—हिन्दू आचारशास्त्र जो डा० सील के सान्निध्य में तथा व्यक्तिगत निरीक्षण में लिखा गया।

वैदिक निषेध है वह तटस्थ है।[1] अतः धर्म पद का तात्पर्य वैदिक विधि तक ही सीमित है यद्यपि ऐसे कर्मों का परिणाम कुछ अवस्थाओं में बुरा हो सकता है जिसके फलस्वरूप कुछ अन्य वैदिक नियमों का उल्लंघन करने के कारण दंड भी मिल सकता है। यहाँ निरपेक्ष आदेश शास्त्रोक्त है अतः पूर्णतया बाह्यात्मक है। कर्म का धार्मिक स्वरूप उनके स्वतः स्वरूप पर नहीं वरन् वैदिक विधि की बाह्यात्मक नैतिक शक्ति पर अवलम्बित है। जो वैदिक विधि एवं निषेध नहीं है वह केवल तटस्थ है। अतः यह स्पष्ट है कि धर्म शब्द का अनुवाद सद्गुण (Virtue) के रूप में केवल विशिष्ट अर्थ में ही हो सकता है एवं धर्म और अधर्म के प्रत्यय का नैतिक अथवा अनैतिक से कोई सम्बन्ध नहीं है।

गीता के अनुसार यज्ञ सम्पादन के दो प्रकार के प्रेरकों में भेद है। प्रथम प्रेरक लाभ एवं स्वार्थ का है तथा द्वितीय कर्तव्य भावना का है। वैदिक विधि के बारे में की गई न्याय-दर्शन की व्याख्या तथा विधि को कर्तव्य भावना बताने वाली मीमांसा की व्याख्या के अनुरूप यज्ञ सम्पादन में विशिष्ट प्रेरक गीता में वर्णित है। इस प्रकार गीता उन मूर्खों की निन्दा करती है जो वैदिक मत के अतिरिक्त किसी में भी विश्वास नहीं करते। वे लोग इच्छाओं से परिपूर्ण हैं एवं स्वर्ग प्राप्ति के उत्सुक हैं। वे उन कर्मों के सम्पादन में लगे रहते हैं जिनके द्वारा उनका पुनर्जन्म हो तथा सांसारिक भोगों का भान एवं प्राप्ति हो। भौतिक विषयों की उपलब्धि हेतु यज्ञ करने वाले भोगासक्त एवं कामासक्त लोग निम्न स्तर पर घूमते रहते हैं जो निश्चयात्मिका बुद्धि द्वारा ईश्वर भक्ति के उच्चतर स्तर में जीवन के उपयुक्त नहीं है।[2] वेदों का लौकिक तीन

[1] कुमारिल के विचार में अपने शत्रु की हत्या करने हेतु सपादित यज्ञ भी दोषरहित है क्योंकि वे भी वैदिक विधि के अन्तर्गत हैं। प्रभाकर के मतानुसार इस प्रकार के यज्ञ मनुष्यों की स्वाभाविक बुरी प्रवृत्तियों के कारण किए जाते हैं अतः उनका सम्पादन कर्तव्य की भावना से प्रेरित होकर वैदिक विधि के पालन से सम्बन्धित नहीं माना जा सकता। कुमारिल के अनुसार यद्यपि श्येन यज्ञ का परिणाम बुरा होता है फिर भी कर्ता का सम्बन्ध बुरे परिणाम से न होकर वेदाज्ञा पालन सम्बन्धी अपने कर्तव्य से होता है एवं उसके शुभ यज्ञ-ज्ञान का कारण वैदिक विधि निषेध का पालन है यद्यपि जीव हिंसा का दंड भी अवश्य मिलेगा। श्येन यज्ञ में हिंसा निहित होने के कारण वह सांख्य एवं न्याय लेखकों ने उसकी निन्दा की है।

[2] व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते गीता २.४४। श्रीधर ने समाधौ शब्द की निम्न प्रकार से व्याख्या की है—समाधिश्चित्तैकाग्र्यं परमेश्वराभिमुखत्वमितियावत् तस्मिन् निश्चयात्मिका बुद्धिस्तु न विधीयते। इस प्रकार यहाँ समाधि शब्द का तात्पर्य ईश्वर के प्रति चित्त की एकाग्रता से है। परन्तु शंकर ने समाधि की व्याख्या अन्तःकरण अथवा बुद्धि बताकर की है। जो न्यायसंगत नहीं है। इस

गतियों में परिणत होने वाले क्रियात्मक प्रयत्न में भेद करते हैं। यहाँ प्रवर्तना का तात्पर्य कर्म संपादन के प्रति मन की आन्तरिक ऐच्छिक प्रेरणा से तथा उससे संबंधित वास्तविक नाड़ी मंडल पर प्रभाव डालने वाले परिवर्तन से है।[1] वेद के आदेश के साथ स्वभावतः कर्त्तव्यता का भाव आता है एवं यही कर्त्तव्यता का भाव लोगों को निष्काम कर्म करने को प्रेरित करता है। नैतिक औचित्य (Oughtners) से संबंधित इस मनोवैज्ञानिक अवस्था का स्वरूप प्रतिमा (instines) जैसा है। नैतिक औचित्य (Oughtners) से उत्पन्न कार्य करने की प्रतिमात्मक उत्तेजना द्वारा कर्म संपादित होता है।

विधि से निरुपाधिक आज्ञा के उपर्युक्त मत से न्याय दर्शन का मतभेद है। उसके मत में वैदिक नियोग पालन की शक्ति अंततः हमारी यह लाभ प्राप्ति की इच्छा है जो लाभ हमें वेदाज्ञा के अनुसार कर्म करने के फलस्वरूप प्राप्त होते हैं। अतः कर्म करने का चरम प्रेरक सुख प्राप्ति एवं दुःख त्याग है एवं अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ही मनुष्य धार्मिक नियोग का पालन करने तथा यज्ञ संपादित करने को प्रेरित होता है। अतः इस मत के अनुसार प्रेरणा में शुद्ध आदेश का स्वतःसिद्ध प्रयोजन अथवा आदेश के प्रभाव द्वारा ऐच्छिक प्रवृत्ति का उत्पन्न करना निहित नहीं है। अनुभूत प्रेरणा का कारण लक्ष्य प्राप्ति की इच्छा का उत्पन्न होना है।

विधि की उपर्युक्त व्याख्याओं में अधिकांश व्याख्याएं गीता के उत्तरकाल की हैं। विधि के स्वरूप का कोई व्यवस्थित विषय अथवा वाद विवाद अब उपलब्ध नहीं है जिसे गीताकाल का समकालीन अथवा पूर्वकालीन कहा जा सके। परन्तु बाद के भाष्य भी गीता में आदेश विचार की शक्ति के महत्व को समझने में उपयोगी हैं। उपरोक्त तर्क से यह स्पष्ट है कि विधि आदेश का विचार हमारे अर्थ के अनुसार नैतिक नहीं कहा जा सकता जैसाकि हिन्दू आचार शास्त्र ग्रंथ में किया गया है?[2] क्योंकि विधि के आदेश वैदिक विधि निषेध तक ही सीमित हैं जो किसी प्रकार से भी हमारे नैतिकता सम्बन्धी सामान्य विचार के साथ एक ही स्थान पर व्यापक नहीं हैं। उपर्युक्त वर्णित मीमांसा मतों के अनुसार वैदिक विधि निषेध का पालन ही धर्म है। धर्म वैदिक विधि है एवं अधर्म वैदिक निषेध है तथा जो न तो वैदिक विधि है और न

---

[1] भाव धर्म एव कश्चित् समीहितसाधनानुगुणो व्यापार पर्याय, तद्यथा आत्मनो बुद्ध्यादिजननप्रवृत्तस्य मन संयोग एवास्य भावधर्म तद्वद् अत्रापि स्य दस्तदितरो वा भावधर्म प्रवृत्तिजननानुकूलतया व्यापार विशेष प्रवर्तना।

—विधि विवेक पर वाचस्पति की न्यायकणिका, पृ० २४३–४४।

[2] स० क० मित्रा द्वारा लिखित–हिन्दू आचारशास्त्र जो डा० सील के सान्निध्य मे तथा व्यक्तिगत निरीक्षण मे लिखा गया।

वैदिक निषेध है वह तटस्थ है।[1] अत धर्म पद का तात्पर्य वैदिक विधि तक ही सीमित है यद्यपि ऐसे कर्मों का परिणाम कुछ अवस्थाओं म बुरा हो सकता है जिसके फलस्वरूप कुछ भय वैदिक नियोग का उल्लंघन करने क कारण दड भी मिल सकता है। यहाँ निरपेक्ष आदेश शास्त्रोक्त है अत पूर्णतया बाह्यात्मक है। धर्म का धार्मिक स्वरूप उनके स्वत स्वरूप पर नहीं वरन् वैदिक विधि की आज्ञात्मक नैतिक शक्ति पर अवलम्बित है। जो वैदिक विधि एव निषेध नहीं है वह केवल तटस्थ है। अत यह स्पष्ट है कि धर्म शब्द का अनुवाद सद्गुण (Virtue) के रूप म केवल विशिष्ट अर्थ म ही हो सकता है एव धर्म और अधर्म के प्रत्यय का नैतिक अथवा अनैतिक से कोई सम्बन्ध नहीं है।

गीता के अनुसार यज्ञ सपादन के दो प्रकार के प्रेरकों म भेद है। प्रथम प्रेरक लाभ एव स्वार्थ का है तथा द्वितीय कर्त्तव्य भावना का है। वैदिक विधि के बारे म की गई न्याय दर्शन की व्याख्या एव विधि को कर्त्तव्य भावना बताने वाली मीमांसा की व्याख्या के अनुरूप यज्ञ सम्पादन के विशिष्ट प्रेरक गीता में वर्णित है। इस प्रकार गीता उन मूर्खों की निन्दा करती है जो वैदिक मत के अतिरिक्त किसी म भी विश्वास नहीं करते। वे लोग इच्छाओं से परिपूर्ण हैं एव स्वर्ग प्राप्ति क उत्सुक हैं। वे उन कर्मों के सम्पादन म लगे रहते है जिनके द्वारा उनका पुनर्जन्म हो तथा सांसारिक भोगों का ध्यान द प्राप्त हो। भौतिक विषयों की उपलब्धि हेतु यज्ञ करने वाले लाभासक्त एव कामासक्त लोग निम्न स्तर पर घूमते रहते हैं जो निश्चयात्मिका बुद्धि द्वारा ईश्वर भक्ति क उच्चतर स्तर क जीवन के उपयुक्त नहीं है।[2] वेदों का लौकिक लाभ

---

[1] कुमारिल के विचार म अपने शत्रु की हत्या करने हेतु सपादित यज्ञ भी दोषरहित है क्योंकि वे भी वैदिक विधि क अन्तर्गत हैं। प्रभाकर के मतानुसार इस प्रकार के यज्ञ मनुष्यों की स्वाभाविक बुरी प्रवृत्तियों क कारण किए जाते हैं अत उनका सपादन कर्त्तव्य की भावना से प्रेरित होकर वैदिक विधि के पालन स सम्बन्धित नहीं माना जा सकता। कुमारिल क अनुसार यद्यपि श्येन यज्ञ का परिणाम बुरा होता है फिर भी कर्त्ता का सम्बन्ध बुरे परिणाम से न होकर वेदाज्ञा पालन सम्बन्धी अपने कर्त्तव्य स होता है एव उसके शुभ कहलाने का कारण वैदिक विधि निषेध का पालन है यद्यपि जीव हिंसा का दड भी अवश्य मिलेगा। श्येन यज्ञ म हिंसा निहित होने के कारण कई सांख्य एव न्याय लेखकों ने उसकी निन्दा की है।

[2] व्यवसायात्मिका बुद्धि समाधौ न विधीयते, गीता २ ४४। श्रीधर ने समाधौ' शब्द की निम्न प्रकार से व्याख्या की है–समाधिश्चित्तैकाग्र्य परमेश्वराभिमुखत्वमितियावत तस्मिन् निश्चयात्मिका बुद्धिस्तु न विधीयते। इस प्रकार यहाँ समाधि शब्द का तात्पर्य ईश्वर के प्रति चित्त की एकाग्रता से है। परन्तु शकर ने समाधि की व्याख्या अन्त करण अथवा बुद्धि बताकर की है। जो न्यायसगत नहीं है। इस

अभिलाषाओं एवं कामनाओं के प्रभाव में माना गया है तथा वासनाओं एवं घृणा द्वारा तथा कामनाओं एवं अनिच्छा द्वारा युक्त होकर लोग वैदिक यज्ञादि किया करते हैं और इनसे बढ़कर किसी और को नहीं मानते। अतः मनुष्य को स्वार्थ से प्रेरित होकर किए गए वैदिक यज्ञों के क्षेत्र से परे जाना चाहिए। परन्तु यज्ञ संपादन भी यदि केवल कर्त्तव्य भावना से प्रेरित होकर किया जाय तो गीता वैदिक यज्ञों के सम्पादन के विरुद्ध नहीं है। यज्ञ संपादन में अपने व्यक्तिगत लाभ को देखने वाला एवं अपने सुखात्मक लक्ष्यों की प्राप्ति में उत्सुक निम्न स्तर का व्यक्ति है। अतः यज्ञों का संपादन पवित्र कर्त्तव्य समझकर बिना किसी व्यक्तिगत आसक्ति के करना चाहिए। प्रजापति ने मानव रचना के साथ साथ यज्ञों की रचना की एवं कहा, 'यज्ञ तुम्हारे कल्याण के लिए होंगे। यज्ञों के द्वारा तुम देवताओं को प्रसन्न करो और देवता तुम्हारी उन्नति एवं वृद्धि में सहायता करेंगे। जो व्यक्ति देवताओं को आहुति समर्पित किए बिना अपने स्वयं के लिए ही जीता है वह देवताओं के भाग का दुरुपयोग करता है।

गीता का यह मत उत्तर मीमांसा से भिन्न है जिसकी परम्परा सम्भवतः पूर्वतर थी। कुमारिल के अनुसार धर्म अथवा वैदिक यज्ञों का अंतिम आत्मपक्ष समर्थन यह था कि उसके द्वारा अर्थ के रूप में हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति हुई और हमें सुख प्राप्त हुआ। निस्सन्देह यज्ञ वैदिक नियोग के प्रति आदर के कारण संपादित किए जाते थे परन्तु यह तो प्रश्न की केवल मनोवैज्ञानिक दृष्टि ही हुई। होता के लिए सुखोत्पत्ति एवं अभीष्ट विषयों की उपलब्धि द्वारा कामनापूर्ति वैदिक यज्ञों के संपादन का वाह्यात्मक कारण था। इसी मत के आधार पर न्याय ने समस्त वैदिक यज्ञों के प्रेरक को निश्चित करने का प्रयत्न किया। नैयायिकों का विश्वास था कि वैदिक क्रियाओं द्वारा हमें केवल अपने अभीष्ट विषयों की ही प्राप्ति नहीं होती बल्कि यज्ञ संपादन का यह भी प्रेरक था। गीता का उपर्युक्त मत ज्ञात था जिसका उसने खंडन किया है। गीता के मत में यज्ञ विश्व के कल्याणकारक हैं परन्तु इसका संपूर्ण दृष्टिकोण भिन्न है क्योंकि गीता के अनुसार यज्ञ देवताओं एवं मनुष्यों में एकता का बंधन स्थापित करते हैं। यज्ञों द्वारा परस्पर सद्भावना में सुधार हुआ तथा यज्ञों द्वारा ही देवताओं की सहायता हुई एवं देवताओं ने फिर मनुष्यों की सहायता की। इस प्रकार देवता एवं मनुष्यों ने उन्नति की। यज्ञों द्वारा पर्जन्य हुआ एवं पर्जन्य द्वारा अन्न सम्भव हुआ तथा मानव जीवन भी अन्न पर ही आधारित था। अतः यज्ञों का

प्रकार वह कहते हैं—समाधीयतेऽस्मिन् पुरुषोपभोगाय सर्वमिति समाधिरन्तःकरणं बुद्धि। टीकाकारों ने २४१ व २४४ पर व्यवसायात्मिका शब्द की व्याख्या निश्चयात्मिका (उपर्युक्त प्रमाणों द्वारा सही निर्णय लेना) कहकर की है। मैं इस शब्द का अर्थ सही निश्चय अधिक अच्छा समझता हूँ।

व्यक्तिगत हित के साधन से अधिक सार्वजनिक हित का साधन समझा गया। जो व्यक्ति यज्ञ को अपनी स्वार्थ पूर्ति का साधन मानता है वह आवश्यक रूप से निकृष्ट है। परन्तु जो यज्ञ नहीं करते वे भी समान रूप से लम्पट हैं। वेदों की उत्पत्ति नित्य अमर से हुई है तथा यज्ञों की उत्पत्ति के कारण वेद हैं, एवं इस प्रकार अमर सर्वव्यापी ब्रह्म की स्थिति यज्ञों में निर्धारित की गई है।[1] गीता का उपलक्षित विश्वास है कि मनुष्यों के कल्याण का आधार उपजाऊ भूमि है जिसका आधार वर्षा है वर्षा का आधार देवताओं का अनुग्रह है, एवं यज्ञों के सम्पादन में ही देवताओं का कल्याण निहित है, यज्ञों की उत्पत्ति वेदों से हुई वेदों की उत्पत्ति सर्वव्यापी ब्रह्म से हुई एवं ब्रह्म ही वेदों का प्रधान प्रतिपाद्य विषय है। इस प्रकार ब्रह्म से यज्ञ यज्ञों से देवताओं का कल्याण तथा देवताओं के कल्याण से मनुष्यों के कल्याण एवं उन्नति का सम्पूर्ण चक्र हुआ। इस प्रकार चलाए हुए कर्म या यज्ञ के चक्र को जो इस जगत में आगे नहीं चलाता उस पापरूप लम्पट का जीवन व्यर्थ है।[2] इस बात में मीमांसा का आदर्श गीता के आदर्श से भिन्न है कि मीमांसा का लक्ष्य व्यक्तिगत कल्याण है एवं गीता का लक्ष्य सार्वजनिक हित है। मीमांसा ने अपने कर्म का प्रेरक वैदिक नियोग माना जबकि गीता ने यज्ञ चक्र की प्रक्रिया को चालू रखने के नियम के आज्ञापालन में यज्ञ सम्पादन के आदर्श को मूल्यवान माना है जिसके द्वारा देवताओं एवं मनुष्यों का संसार उन्नति की उचित अवस्था में रह सके। यज्ञ के लिए किए गए कर्मों के फल मनुष्य को नहीं बाँधते। जब कर्म आसक्तियुक्त प्रेरणा से प्रेरित होकर किए जाते हैं तब मनुष्यों को शुभाशुभ फलों से बाँधते हैं।[3]

गीता में धर्म शब्द का प्रयोग जैमिनि द्वारा प्रयुक्त धर्म शब्द से भिन्न है अर्थात् अभीष्ट लक्ष्य अथवा यज्ञों द्वारा निर्दिष्ट मंगल (चोदना लक्षणार्थो धर्म)। ऐसा प्रतीत होता है कि यह शब्द गीता में मुख्यतया अपरिवर्तनीय प्रचलित वर्ण धर्म अथवा वर्ण धर्म के अर्थ में एवं लोगों के लिए सामान्य अनुमोदित आचार शास्त्र के अर्थ में तथा आचार शास्त्र की व्यवस्थित योजना के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। धर्म शब्द का 'प्राचीन प्रचलित नियम' के रूप में सम्भवतः प्राचीनतम अर्थ है जैसाकि अथर्ववेद १८ ३ १ में भी पाया जाता है (धर्म पुराणं अनुपालयन्ति)[4] मैक्डोनल ने मैत्रायणी ४ १ ६ काठक ३१ ७ एवं तैत्तिरीय ३ २ ८ उप्र २, के प्रसंग में बताता है कि शारी

---

[1] गीता, ३ १५।

[2] गीता, ३ १६।

[3] गीता ३ ६।

[4] धर्म, एवं धर्मन् शब्द। धर्मन् ऋग्वेद में एवं दोनों उत्तरकाल में नियम अथवा 'रीति' के अर्थ में नियमानुसार प्राप्य है। मैक्डानल की वैदिक सूची देखिए, –पृ० ३६०।

रिक दोष (बुरे नख एव मालिन दात) एव ज्येष्ठ अविवाहिता भगिनि की उपस्थिति मे कनिष्ठ पुत्री के साथ शादी करना यद्यपि हत्या के सम नही होते हुए भी उससे सयुक्त अवश्य होता है तथा वास्तविक अपराध एव काल्पनिक शारीरिक दोषो म अथवा केवल लौकिक रीति जय काय म सैद्धान्तिक रूप से कोई अन्तर नही है। शतपथ ब्राह्मण म १४ ४,२ २६) भी क्षात्र धम को क्षत्रिय[1] का मुख्य कम कहा गया है। धम शब्द का गीता मे मुख्य अथ प्राचीनतम वैदिक ग्रथ है जो कि मीमासा मे उपलब्ध वाद के विशिष्ट अथ से पूवतर है। मीमासा की तरह गीता म धम का अथ यम अथवा बाह्य लाभ से नही होकर विशिष्ट वण धम एव वण विभाग युक्त परम्परागत किए जाने वाले कर्मों के सम से है। तदनुसार यज्ञ सम्पादन उन लोगो के लिए धम का विषय है जिनके लिए यज्ञ नियत कम है। वदो म अभिचार का धम नाश मानकर पाप समझा गया है एव इसी प्रकार का प्रसग गीता म भी (धम नष्टे १ ३९) प्राप्य है। गीता मे (२ ७) अजुन अपने क्षात्र धम एव अपने सबधियो की हिंसा करने के पाप युक्त पथ के बारे म किंकर्त्तव्यविमूट हो गया (धम सम्मूढ चेता)। धम एव अधम के बारे मे व्याकुलता का प्रसग गीता मे मिलता है। गीता म १८ ३१,३२ गीता म (४ ७,८) धम शब्द का अथ चारो वर्णों की परम्परागत लौकिक रीतियो से है। (२ ४० म) सुख दुख मे अनासक्त होकर अपने कर्त्तव्य करने को सामान्य धम से भिन्न विशिष्ट प्रकार का धम कहा गया है (अस्य धमस्य)।

यज्ञ कई प्रकार के कहे गए हैं जस जिस यज्ञ म हवि देवताओ को अर्पित की जाती है वह देव-यज्ञ कहलाता है, यह ब्रह्म यज्ञ से भिन्न है जिसके अन्तगत मनुष्य अपने आपको ब्रह्म मे समर्पित करता है जहाँ अपण अथवा हवन करने की क्रिया ब्रह्म है हवि अर्थात् अपण करने का द्रव्य ब्रह्म है, ब्रह्माग्नि मे ब्रह्म ने हवन किया है—(इस प्रकार) जिसकी बुद्धि म (सभी) कम ब्रह्ममय है उसको ब्रह्म ही मिलता है।[2] पुन इन्द्रिय निग्रह को भी एक प्रकार का यज्ञ कहा गया है एव यह कहा गया है कि कई लोग इन्द्रियो का सयम रूप अग्नि म होम करते है और कुछ लोग इन्द्रिय रूप अग्नि म शब्द आदि विषयो का हवन करते हैं। और कुछ लोग इन्द्रियो के तथा प्राणो के सब कर्मों को अर्थात् व्यापारो का ज्ञान से प्रज्वलित आत्म सयम रूपी योग की अग्नि म हवन किया करते हैं। पाँच प्रकार के निम्नलिखित यज्ञो में भेद किया गया है—हवन की वास्तविक सामग्री से किया गया यज्ञ द्रव्य यज्ञ इन्द्रिय-निग्रह का यज्ञ तपोयज्ञ जीवात्मा का परमात्मा स मिलन योग यज्ञ शास्त्रो का पठन पाठन का यज्ञ स्वाध्याय यज्ञ एव ज्ञान, ज्ञान रूप यज्ञ कहलाता है।[3] यह

---

[1] तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्र यद् धम तस्मात धर्मात् पर नास्ति।
—शा० ऐतब्रेक्ट वबर का सस्करण—१९२४।

[2] गीता, ४ २४,२५।

[3] गीता, ४ २६—२८ २९ और ३०।

समझना सुलभ है कि वास्तविक भौतिक यज्ञ से अन्य आत्मोन्नति की पूर्णतया भिन्न विधियों तक यज्ञ शब्द की व्यापकता जो कुछ आत्मोन्नति में सहायक हो उसे यज्ञ समझने का स्वाभाविक परिणाम है। यज्ञ शब्द के साथ कई पवित्र एवं उच्च सम्बन्ध जुड़े हुए हैं एवं आत्मोन्नति के लिए खोजे गए कई नए धार्मिक प्रयत्नों को नए प्रकार का यज्ञ बताया गया है जैसे प्रतिकोपासना को भी एक नए प्रकार का यज्ञ माना गया है। यद्यपि यह सत्य है कि विचारों की उन्नति के साथ साथ आत्म बोध के नए नए साधन विकसित होने लगे फिर भी प्राचीन समुदायों के प्रति उच्च सम्मान होने के कारण प्राचीनतर यज्ञ शब्द नए प्रकार के धार्मिक अनुशासन के सम्बन्ध में प्रयुक्त होने लगा।

परन्तु यज्ञ चाहे कितने ही विभिन्न अर्थों में गीता में प्रयुक्त हुआ हो यहाँ धर्म शब्द का प्रयोग मीमांसा के विशिष्ट अर्थ में नहीं हुआ है। गीता के अनुसार ब्राह्मणों के लिए यज्ञ करना एवं क्षत्रियों के लिए युद्ध करना आवश्यक है ताकि धर्म अर्थात् परम्परागत कर्म निरंतर गतिशील रहे। परन्तु इसके साथ ही गीता आसक्ति वासना अथवा किसी प्रकार के स्वार्थ से युक्त कर्म की निंदा करती है। मनुष्य को अपने परम्परागत प्रचलित कर्तव्यों को धर्म मानकर बिना किसी आसक्ति के पालन करना चाहिए। मनुष्य जब फलाशा रहित होकर अपना कर्तव्य करता है तब वह कर्म उसे बन्धन में नहीं डालता। गीता एक ओर न तो इह लौकिक एवं पारलौकिक सुखों की प्राप्ति के लिए प्राचीन कर्म आदर्श का अनुसरण करती है और न दूसरी ओर वेदान्त दर्शन अथवा दर्शन में अन्य सिद्धान्तों को ही मानती है जिसके अनुसार मन को अशुद्धियों से पूर्णतया शुद्ध करने के लिए इच्छा त्याग एवं इन्द्रिय निग्रह आवश्यक है ताकि आत्मा की एकरूपता के ज्ञान की अनुभूति हो जाय तथा कर्म के क्षेत्र से भी परे जाना संभव हो जाय। गीता के अनुसार मनुष्य को यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना चाहिए तथा मन से सम्पूर्ण इच्छाओं का त्याग कर देना चाहिए परन्तु इसके साथ साथ स्वधर्म के प्रति श्रद्धा रखकर अपने वर्णाश्रम धर्म का पालन करना आवश्यक है। परम्परागत वर्णाश्रम धर्म अथवा शास्त्र द्वारा निर्दिष्ट कर्म के प्रसंग में प्रवृत्त करने वाली शक्ति अपने स्वयं के कर्तव्य के आतरिक नियम के अतिरिक्त कोई नहीं होनी चाहिए।

गीता में इन्द्रिय-निग्रह

कठोपनिषद् में इन्द्रियों की तुलना घोड़ों से करके उन्हें (इन्द्रियों) दुर्निग्रह बताया गया है। गीता कहती है कि (विषयों में) संचार अर्थात् व्यवहार करने वाली इन्द्रियों के पीछे पीछे मन जो जाने लगता है वही पुरुष की बुद्धि का ऐसे हरण किया करता है जैसेकि पानी में नौका का वायु खींचती है। (इन्द्रियों के दमन करने के लिए) प्रयत्न करने वाले विद्वान् के भी मन को ये प्रबल इन्द्रियाँ बलात्कार से विषयों की ओर खींच लेती है। विषयों का चिंतन करने वाले पुरुष का इन विषयों में

संग बढ़ाया जाता है। फिर इस संग में यह वासना उत्पन्न होती है कि हमें काम (अर्थात् वह विषय) चाहिए और (इस काम की तृप्ति होने में विघ्न होने से) उस काम से ही क्रोध की उत्पत्ति होती है। क्रोध से संमोह अर्थात् अविवेक होता है, संमोह से स्मृति भ्रम स्मृति भ्रंश से बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से (पुरुष का) सर्व स्वनाश हो जाता है।[1] इन्द्रिय और उसके (शब्द स्पर्श आदि) विषयों में प्रीति एवं द्वेष व्यवस्थित है अर्थात् स्वभावतः निश्चित है। प्रीति और द्वेष के वश में न जाना चाहिए (क्योंकि) ये मनुष्य के शत्रु हैं। प्रत्येक विशिष्ट इन्द्रिय अपने अपने राग और द्वेष के रूप में दो शत्रु हैं। गीता बार बार नरक के तीन दरवाजों के रूप में काम क्रोध और लोभ के दुष्परिणाम को घोषित करता है। जिस प्रकार धुएँ से अग्नि धूलि से दर्पण और झिल्ली से गर्भ ढका रहता है उसी प्रकार उपर्युक्त तीनों से (काम क्रोध और लोभ) यह सब ढका हुआ है।[2] इन्द्रिय निग्रह की कठिनाई का अर्जुन ने श्रीकृष्ण के समक्ष इस प्रकार प्रस्तुत की—"हे कृष्ण! मेरा मन चंचल हठीला, बलवान और दृढ़ है। वायु के समान अर्थात् हवा की गठरी बाधने के समान इसका निग्रह करना मुझे अत्यन्त दुष्कर दिखाई देता है।[3] जबतक इन्द्रियाँ वश में नहीं कर ली जाती तबतक यथार्थ योगोपलब्धि नहीं हो सकती।

पाली भाषा के धम्मपद ग्रन्थ में भी काम एवं क्रोध को जीतने के बारे में इसी प्रकार के विचार पाए जाते हैं। उदाहरणार्थ अमुक ने मुझे गाली दी है, मुझे पीटा है, मुझे परास्त किया है मुझे लूट लिया है—जो लोग इस विचारों पर चिन्तन नहीं करते, वे द्वेष मुक्त हैं। द्वेष की समाप्ति द्वेष द्वारा नहीं अपितु प्रेम द्वारा होती है, यह प्राचीन विधि है। जिस प्रकार वायु निर्बल वृक्ष को गिरा देता है उसी प्रकार मार उस व्यक्ति को दबा लेता है जो सुखों के पीछे दौड़ता है जिसकी इन्द्रियाँ उसके वश में नहीं है, जो अयुक्ताहारी है जो प्रमादी है, एवं स्त्री संगी है। जैसे टूट फूटे छप्पर वाले मकान से वर्षा का जल टपकता रहता है उसी प्रकार अनियन्त्रित मस्तिष्क में कुभावों का प्रादुर्भाव होता है।[4] आगे चलकर मन के सम्बन्ध में यह लिखा है जिस प्रकार तीर बनाने वाला अपने तीर में समता स्थापित करता है उसी प्रकार बुद्धिमान् मनुष्य अस्थिर, चंचल मन का शमन करता है जिसे रोकना और नियन्त्रित करना कठिन है। बुद्धिमान मनुष्य अपने अचिन्त्य, सूक्ष्म एवं इधर-उधर भटकने वाले मन को जीते। जित मन वरदान स्वरूप है।'[5] पुनश्च—'न तो दिगम्बर रहने से, न जटा

---

[1] गीता २ ६०,६२,६३।

[2] गीता ३ ३४,३७ ३८ ३९, १६ २१।

[3] गीता ६ ३४।

[4] धम्मपद (पूना, १९२३) १,४,५,७,१३।

[5] धम्मपद, ३ ३ ३६ ३८।

धारण करने से न मल अथवा गदे रहने से, न अन्न रखने में न धरती पर सोने से, न भस्म रमाने से और न हठयोग से काम निर्मुक्त मनुष्य की शुद्धि हो सकती है।'[1] पुनश्च—राग से शोक एवं शोक से भय उत्पन्न होता है। जो राग से वियुक्त है उसे न तो शोक एवं न भय ही लगता है। मोह (पमातो) से शोक एवं भय उत्पन्न होता है। जो निर्मोही है उसे न तो शोक है एवं न भय है। रति से शोक एवं भय उत्पन्न होता है। जो अरति है उसे शोक एवं भय नहीं है। काम से शोक और भय उत्पन्न होते हैं। जो कामजित है उसे शोक एवं भय नहीं है। तृष्णा (तण्हा) से शोक एवं भय उत्पन्न होते हैं। जो तृष्णा रहित है वह निडर एवं अशोक है।[2]

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि गीता एवं धम्मपद इन्द्रिय निग्रह की प्रशंसा करते हैं तथा तृष्णा, राग, क्रोध एवं शोक को महाशत्रु मानते हैं। परन्तु गीता की शैली धम्मपद से इस अर्थ में भिन्न है कि धम्मपद में तो विभिन्न विषयों पर पृथक नैतिक उपदेश हैं जबकि गीता मनोविग्रह को शान्ति, तुष्टि एवं निष्कामता का साधन मानती है जिससे मनुष्य अपने सत्कर्मों को ईश्वरार्पण करने में एवं निष्काम कर्म करने में समर्थ होता है। गीताकार जानता है कि इन्द्रियों को, मन को और बुद्धि को (काम एवं क्रोध का) अधिष्ठान अर्थात् घर या गढ़ कहते हैं। इनके आश्रय से ज्ञान को लपेट कर (ढककर) यह मनुष्य को भुलावे में देते हैं।[3] शीतोष्ण या सुख-दुःख देने वाले मात्राओं अर्थात् बाह्य सृष्टि के पदार्थों के (इन्द्रियों से) जो संयोग हैं उनकी उत्पत्ति होती है और नाश होता है। (अतएव) वे अनित्य अर्थात् विनाशवान् हैं इसलिए उन्हें चुपचाप सहन करना चाहिए।[4] सामान्य एवं अध्यात्मज्ञान को विरूप करने वाले वासना रूपी दैत्य का मनोनिग्रह द्वारा ही नष्ट किया जा सकता है। परन्तु इस वासना रूपी दैत्य को मारना अत्यन्त दुष्कर है क्योंकि वह सदा नए नए रूपों में प्रकट होता है। हमारी बुद्धि से परे आत्मा की अपने अन्तर अनुभूति करके ही मनुष्य श्रेष्ठतर आत्मा के द्वारा निम्नात्मा को नियन्त्रित कर सकता है एवं अपनी इच्छाओं को निर्मूल कर सकता है। आत्मा ही आत्मा का बन्धु है और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है। मनुष्य को सदा अपने द्वारा अपना उत्थान करना चाहिए न कि पतन। सब प्रकार के मनोनिग्रह का परम् लक्ष्य मनुष्य को स्थित प्रज्ञ बनाना है ताकि वह ब्रह्मात्मैक्य रूप हो जाय।[5]

---

[1] वही, १० १४१।
[2] वही, १६ २१२–२१६।
[3] गीता ३–४०।
[4] वही २ १४।
[5] गीता २ ६१ ३ ४१,४३, ६ ५ ६।

सग बढ़ाया जाता है। फिर इस सग से यह वासना उत्पन्न होती है कि हम काम (अर्थात् वह विषय) चाहिए और (इस काम की तृप्ति होने में विघ्न होने से) उस काम से ही क्रोध की उत्पत्ति होती है। क्रोध से संमोह अर्थात् अविवेक होता है संमोह से स्मृति भ्रम स्मृति भ्रंश से बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से (पुरुष का) सर्वस्वनाश हो जाता है।[1] इन्द्रिय और उसके (शब्द स्पर्श आदि) विषयों में प्रीति एवं द्वेष व्यवस्थित है अर्थात् स्वभावतः निश्चित है। प्रीति और द्वेष के वश में न जाना चाहिए (क्योंकि) ये मनुष्य के शत्रु हैं। प्रत्येक विशिष्ट इन्द्रिय अपने-अपने राग और द्वेष के रूप में दो शत्रु है। गीता बार बार नरक के तीन दरवाजों के रूप में काम क्रोध और लोभ के दुष्परिणाम को घोषित करता है। जिस प्रकार धुएँ से अग्नि धूलि से दर्पण और झिल्ली से गर्भ ढका रहता है उसी प्रकार उपर्युक्त तीनों से (काम क्रोध और लोभ) यह सब ढका हुआ है।[2] इन्द्रिय निग्रह की कठिनाई को अर्जुन ने श्रीकृष्ण के समक्ष इस प्रकार प्रस्तुत की—हे कृष्ण ! मेरा मन चचल, हठीला, बलवान और दृढ़ है। वायु के समान अर्थात् हवा की गठरी बांधने के समान इसका निग्रह करना मुझे अत्यन्त दुष्कर दिखाई देता है।[3] जबतक इन्द्रियाँ वश में नहीं कर ली जाती तबतक यथार्थ योगोपलब्धि नहीं हो सकती।

पाली भाषा के धम्मपद ग्रन्थ में भी काम एवं क्रोध को जीतने के बारे में इसी प्रकार के विचार पाए जाते हैं। उदाहरणार्थ 'अमुक ने मुझे गाली दी है, मुझे पीटा है, मुझे परास्त किया है, मुझे लूट लिया है—जो लोग इस विचारों पर चिन्तन नहीं करते, वे द्वेष मुक्त है। द्वेष की समाप्ति द्वेष द्वारा नहीं अपितु प्रेम द्वारा होती है, यह प्राचीन विधि है। जिस प्रकार वायु निर्बल वृक्ष को गिरा देता है उसी प्रकार मार उस व्यक्ति को दबा लेता है जो सुखों के पीछे दौड़ता है जिसकी इन्द्रियाँ उसके वश में नहीं है जो अयुक्ताहारी है जो प्रमादी है, एवं स्त्री संगी है। जैसे टूटे फूटे छप्पर वाले मकान से वर्षा का जल टपकता रहता है उसी प्रकार अनियंत्रित मस्तिष्क में कुभावों का प्रादुर्भाव होता है।[4] आगे चलकर मन के सम्बन्ध में यह लिखा है जिस प्रकार तीर बनाने वाला अपने तीर में समता स्थापित करता है उसी प्रकार बुद्धिमान् मनुष्य अस्थिर, चंचल मन का शमन करता है जिसे रोकना और नियंत्रित करना कठिन है। बुद्धिमान मनुष्य अपने अचिन्त्य सूक्ष्म एवं इधर उधर भटकने वाले मन को जीते। जित मन वरदान स्वरूप है।'[5] पुनश्च—'न तो दिगम्बर रहने से, न जटा

---

[1] गीता, २ ६०,६२,६३।

[2] गीता, ३ ३४,३७,३८,३९, १६ २१।

[3] गीता, ६ ३४।

[4] धम्मपद (पूना १९२३) १,४,५,७,१३।

[5] धम्मपद २ ३ ३६ ३८।

धारण करने से न मल अथवा गंदे रहने से, न व्रत रखने से, न धरती पर सोने से, न भस्म रमाने से और न हठयोग से काम निमुक्त मनुष्य की शुद्धि हो सकती है।'[1]
पुनश्च–राग से शोक एवं शोक से भय उत्पन्न होता है। जो राग से वियुक्त है उसे न तो शोक एवं न भय ही लगता है। मोह (पमोतो) से शोक एवं भय उत्पन्न होता है। जो निर्मोही है उसे न तो शोक है एवं न भय है। रति से शोक एवं भय उत्पन्न होता है। जो अरति है उसे शोक एवं भय नहीं है। काम से शोक और भय उत्पन्न होते हैं। जो कामजित है उसे शोक एवं भय नहीं है। तृष्णा (तण्हा) से शोक एवं भय उत्पन्न होते हैं। जो तृष्णा रहित है वह निडर एवं अशोक है।[2]

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि गीता एवं धम्मपद इन्द्रिय निग्रह की प्रशंसा करते हैं तथा तृष्णा, राग, क्रोध एवं शोक को महाशत्रु मानते हैं। परन्तु गीता की शैली धम्मपद से इस अर्थ में भिन्न है कि धम्मपद में तो विभिन्न विषयों पर पृथक् नैतिक उपदेश हैं जबकि गीता मनोनिग्रह को शान्ति, तुष्टि एवं निष्कामता का साधन मानती है जिससे मनुष्य अपने सत्कर्मों को ईश्वरार्पण करने में एवं निष्काम कर्म करने में समर्थ होता है। गीताकार जानता है कि इन्द्रियों को, मन को और बुद्धि को (काम एवं क्रोध का) अधिष्ठान अर्थात् घर या गढ़ कहते हैं। इनके आश्रय से ज्ञान को लपेट कर (ढककर) यह मनुष्य को भुलावे में डाल देते हैं।[3] शीतोष्ण या सुख-दुःख देने वाले मात्रास्पर्श अर्थात् बाह्य सृष्टि के पदार्थों के (इन्द्रियों से) जो संयोग हैं उनकी उत्पत्ति होती है और नाश होता है। (अतएव) वे अनित्य अर्थात् विनाशवान् हैं इसलिए उन्हें चुपचाप सहन करना चाहिए।[4] सामान्य एवं अध्यात्मज्ञान को विलुप्त करने वाले वासना रूपी दैत्य का मनोनिग्रह द्वारा ही नष्ट किया जा सकता है। परन्तु इस वासना रूपी दैत्य को मारना अत्यन्त दुष्कर है क्योंकि वह सदा नए-नए रूपों में प्रकट होता है। हमारी बुद्धि से परे आत्मा की अपने अन्दर अनुभूति करके ही मनुष्य श्रेष्ठतर आत्मा के द्वारा निम्नात्मा को नियंत्रित कर सकता है एवं अपनी इच्छाओं को निर्मूल कर सकता है। आत्मा ही आत्मा का बन्धु है और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है। मनुष्य को सदा अपने द्वारा अपना उत्थान करना चाहिए न कि पतन। सब प्रकार के मनोनिग्रह का परम् लक्ष्य मनुष्य को स्थितप्रज्ञ बनाना है ताकि वह ब्रह्मात्मक्य रूप हो जाय।[5]

---

1. वही १० १४१।
2. वही, १६ २१२–२१६।
3. गीता ३–४०।
4. वही २ १४।
5. गीता, २ ६१ ३ ४१,४३, ६ ५ ६।

संग बढाया जाता है।[1] फिर इस संग मे यह वासना उत्पन्न होती है कि हम काम (अर्थात् वह विषय) चाहिए और (इस काम की तृप्ति होने मे विघ्न होने से) उस काम से ही क्रोध की उत्पत्ति होती है। क्रोध से संमोह अर्थात् अविवेक होता है, संमोह से स्मृति भ्रम स्मृति भ्रंश से बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से (पुरुष का) सर्वस्वनाश हो जाता है।[1] इन्द्रिय और उसके (शब्द स्पर्श आदि) विषयों मे प्रीति एवं द्वेष व्यवस्थित है अर्थात् स्वभावतः निश्चित है। प्रीति और द्वेष के वश में न जाना चाहिए (क्योंकि) ये मनुष्य के शत्रु हैं। प्रत्येक विशिष्ट इन्द्रिय अपने अपने राग और द्वेष के रूप मे दो शत्रु है। गीता बार बार नरक के तीन दरवाजों के रूप में काम क्रोध और लोभ के दुष्परिणाम को घोषित करती है। जिस प्रकार धुएँ से अग्नि धूलि से दर्पण और भिल्ली से गर्भ ढका रहता है उसी प्रकार उपयुक्त तीनों से (काम क्रोध और लोभ) यह सब ढका हुआ है।[2] इन्द्रिय निग्रह की कठिनाई को अर्जुन ने श्रीकृष्ण के समक्ष इस प्रकार प्रस्तुत की—'हे कृष्ण ! मेरा मन चचल, हठीला बलवान और दृढ है। वायु के समान अर्थात् हवा की गठरी बाँधने के समान इसका निग्रह करना मुझे अत्यन्त दुष्कर दिखाई देता है।[3] जबतक इन्द्रियाँ वश मे नही कर ली जाती तबतक यथार्थ योगोपलब्धि नहीं हो सकती।

पाली भाषा के धम्मपद ग्रन्थ मे भी काम एवं क्रोध को जीतने के बारे मे इसी प्रकार के विचार पाए जाते हैं। उदाहरणार्थ 'अमुक ने मुझे गाली दी है, मुझे पीटा है मुझे परास्त किया है मुझे लूट लिया है—जो लोग ऐसे विचारों पर चिन्तन नही करते, वे द्वेष मुक्त है। द्वेष की समाप्ति द्वेष द्वारा नही अपितु प्रेम द्वारा होती है, यह प्राचीन विधि है। जिस प्रकार वायु निर्बल वृक्ष को गिरा देता है उसी प्रकार मार उस व्यक्ति को दबा लेता है जो सुखों के पीछे दौड़ता है, जिसकी इन्द्रियाँ उसके वश मे नही है जो अयुक्ताहारी है जो प्रमादी है, एवं स्त्री संगी है। जैसे टूटे फूटे छप्पर वाले मकान से वर्षा का जल टपकता रहता है उसी प्रकार अनियन्त्रित मस्तिष्क मे कुभावों का प्रादुर्भाव होता है।[4] आगे चलकर मन के सम्बन्ध मे यह लिखा है जिस प्रकार तीर बनाने वाला अपने तीर मे समता स्थापित करता है उसी प्रकार बुद्धिमान् मनुष्य अस्थिर, चचल मन का शमन करता है जिसे रोकना और नियन्त्रित करना कठिन है। बुद्धिमान मनुष्य अपने अचिन्त्य, सूक्ष्म एवं इधर उधर भटकने वाले मन को जीते। जित मन वरदान स्वरूप है।'[5] पुनश्च—'न तो दिगम्बर रहने से, न जटा

---

[1] गीता २ ६०,६२,६३।
[2] गीता, ३ ३४,३७,३८,३६, १६ २१।
[3] गीता, ६ ३४।
[4] धम्मपद (पूना, १६२३) १,४,५,७,१३।
[5] धम्मपद, २ ३ ३६ ३८।

धारण करने से न मल अथवा मदे रहने से न व्रत रखने से, न धरती पर सोने से न भस्म रमाने से और न हठयोग में काम निर्मुक्त मनुष्य की शुद्धि हो सकती है।"[1] पुनश्च—राग से शोक एवं शोक से भय उत्पन्न होता है। जो राग से वियुक्त है उसे न तो शोक एवं न भय ही लगता है। मोह (पेमातो) से शोक एवं भय उत्पन्न होता है। जो निर्मोही है उसे न तो शोक है एवं न भय है। रति से शोक एवं भय उत्पन्न होता है। जो अरति है उसे शोक एवं भय नहीं है। काम से शोक और भय उत्पन्न होते हैं। जो कामजित है उसे शोक एवं भय नहीं है। तृष्णा (तण्हा) से शोक एवं भय उत्पन्न होते हैं। जो तृष्णा रहित है वह निडर एवं अशोक है।[2]

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि गीता एवं धम्मपद इन्द्रिय निग्रह की प्रशंसा करते हैं तथा तृष्णा, राग, क्रोध एवं शोक को महाशत्रु मानते हैं। परन्तु गीता की शैली धम्मपद से इस अर्थ में भिन्न है कि धम्मपद में तो विभिन्न विषयों पर पृथक नैतिक उपदेश हैं जबकि गीता मनोविग्रह को शान्ति, तुष्टि एवं निष्कामता का साधन मानती है जिससे मनुष्य अपने सत्कर्मों का ईश्वरार्पण करने में एवं निष्काम कर्म करने में समर्थ होता है। गीताकार जानता है कि इन्द्रियों को, मन को और बुद्धि को (काम एवं क्रोध का) अधिष्ठान अर्थात् घर या गढ़ कहते हैं। इनके आश्रय से ज्ञान को लपेट कर (ढककर) यह मनुष्य को भुलावे में देते हैं।[3] शीतोष्ण या सुख दुःख देने वाले मात्राओं अर्थात् बाह्य सृष्टि के पदार्थों के (इन्द्रियों से) जो संयोग हैं उनकी उत्पत्ति होती है और नाश होता है। (अतएव) वे अनित्य अर्थात् विनाशवान् हैं इसलिए उन्हें चुपचाप सहन करना चाहिए।[4] सामान्य एवं आध्यात्मज्ञान को विरूप करने वाले वासना रूपी दैत्य को मनोनिग्रह द्वारा ही नष्ट किया जा सकता है। परन्तु इस वासना रूपी दैत्य को मारना अत्यन्त दुष्कर है क्योंकि वह सदा नए नए रूपों में प्रकट होता है। हमारी बुद्धि से पर आत्मा की अपने अन्दर अनुभूति करके ही मनुष्य श्रेष्ठतर आत्मा के द्वारा निम्नात्मा को नियन्त्रित कर सकता है एवं अपनी इच्छाओं को निर्मूल कर सकता है। आत्मा ही आत्मा का बन्धु है और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है। मनुष्य को सदा अपने द्वारा अपना उत्थान करना चाहिए न कि पतन। सब प्रकार के मनोनिग्रह का परम् लक्ष्य मनुष्य को स्थित प्रज्ञ बनाना है ताकि वह ब्रह्मात्मैक्य रूप हो जाय।[5]

---

[1] वही, १० १४१।
[2] वही, १६ २१२–२१६।
[3] गीता ३–४०।
[4] वही २ १४।
[5] गीता २ ६१, ३ ४१ ४३ ६ ५ ६।

गीता में इन्द्रियाँ मन को अपने साथ खींचने वाली कही गई हैं। इन्द्रियाँ निरंतर अस्थिर एवं चंचल हैं एवं वे मन को भी वैसा ही बना देती हैं। जिसके परिणामस्वरूप तूफान के सामने समुद्र में नौका की तरह मन इधर उधर भटक जाता है तथा चित्त एवं प्रज्ञा की स्थिरता नष्ट हो जाती है। गीता में प्रज्ञा का अर्थ चित्त, बुद्धि अथवा मानसिक वृत्तियों से है। प्राय इसी अर्थ में बृहदारण्यक उपनिषद् में (४.४.२१) तथा माण्डूक्योपनिषद् (७) में कुछ कुछ भिन्नार्थों में प्रज्ञा का अर्थ उपनिषद् एवं गीता से बिल्कुल भिन्न है। उदाहरणार्थ पतंजलि मन को किसी विषय पर स्थिर करने से उत्पन्न अपरोक्षानुभूति में चित्शक्ति के विशेषार्थ में 'प्रज्ञा' को प्रयुक्त करते हैं एवं योगारूढ के अनुरूप सात अवस्थाओं का वर्णन करते हैं। जैसा कि कहा जा चुका है गीता में प्रज्ञा का अर्थ विचार अथवा मानसिक प्रवृत्ति है। इसका अर्थ ज्ञान अथवा विज्ञान नहीं है। इसका तात्पर्य ज्ञान के संकल्पात्मक पहलू से है। जयाख्य संहिता के पंचरात्र ग्रन्थ में यम नियम इत्यादि के क्रियान्वयन के अर्थ में यह शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है। उसका अर्थ उस बौद्धिक दृष्टिकोण से है जो मानसिक प्रवृत्तियों अथवा झुकाव से समग्र रूप से संबंधित है एवं निर्णायक है। जिन जिन विषयों में इन्द्रियाँ उन्मत्त की भाँति विषयों में नृत्य करती हुई जाती हैं मन उनका अनुकरण करता है। तब मन को दिशा बताने वाली प्रज्ञा का भी हरण हो जाता है। जबतक बुद्धि व्यवसायात्मिका नहीं होती तबतक मन निश्चल होकर अपने कर्त्तव्य कर्मों में प्रवृत्त नहीं होता। इन्द्रियों को वश में करने का मुख्य उद्देश्य प्रज्ञा को स्थिर करना है (वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञाप्रतिष्ठिता)। प्रज्ञा एवं धी दोनों ही गीता में समानार्थक माने गए हैं। दोनों का अर्थ मानसिक झुकाव है। इस मानसिक झुकाव में सम्भवतः बौद्धिक दृष्टिकोण एवं उसी के अनुरूप संकल्पात्मक प्रवृत्ति निहित है। मनोनिग्रह से प्रज्ञा स्थिर होती है। और गीता 'स्थित प्रज्ञ' एवं 'स्थित धी' (अर्थात् जिनकी भावनाएँ एवं चित्त स्थिर हो गए हैं)[1] की प्रशंसा से भरी पड़ी है। निरंतर विषयों का चिंतन करने से उनमें संग उत्पन्न होता है, संग से काम एवं काम से क्रोध उत्पन्न होता है इत्यादि इत्यादि। इस प्रकार सब दुर्गुण इन्द्रियों के संग से उत्पन्न होते हैं और जो व्यक्ति विषय भोग में निरत रहता है वह वासनाओं द्वारा आगे (पतन की ओर) धकेला जाता है। अतः जिस प्रकार कछुआ अपने (हाथ पैर आदि) अवयव सब ओर से सिकोड़ लेता है उसी प्रकार जब कोई पुरुष इन्द्रियों के (शब्द स्पर्श आदि) विषयों से (अपनी) इन्द्रियों को खींच लेता है, तब (कहना चाहिए कि) उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है। मनोनिग्रह का प्रत्यक्ष परिणाम संकल्प मानसिक भावनाओं एवं प्रज्ञा की स्थिरता है। दुःख में जिसके मन को खेद नहीं होता सुख में जिसकी आसक्ति नहीं और प्रीति भय एवं

---

[1] २.५४–५६।

क्रोध जिसके छूट गए हैं उसको स्थित प्रज्ञ मुनि कहते हैं।[1] सब बातों में जिसका मन निःसंग हो गया है और यथा प्राप्त शुभ अशुभ का उसे आनंद या विषाद भी नहीं है।[2] केवल उसे ही (सच्ची) शांति मिलती है, जिसकी चारों ओर से (पानी) भर जाने पर भी नहीं डिगती ऐसे समुद्र में जिस प्रकार सब पानी चला जाता है उसी प्रकार उस पुरुष में समस्त विषय प्रवेश करते हैं। विषयों की इच्छा करने वाले को (यह शांति) नहीं (मिलती)। जो पुरुष सब काम अर्थात् आसक्ति छोड़कर और निस्पृह होकर (व्यवहार में) बर्तता है एवं जिसे ममत्व एवं अहंकार नहीं होता उसे ही शांति मिलती है। जिसका आत्मा अर्थात् अंतःकरण अपने आधीन है वह (पुरुष) प्रीति और द्वेष से छूटी हुई अपनी स्वाधीन इन्द्रियों से विषय भोग करते हुए भी प्रसन्न चित्त रहता है। चित्त प्रसन्न रहने से उसके सब दुःखों का नाश हो जाता है क्योंकि जिसका चित्त प्रसन्न है उसकी बुद्धि भी तत्काल ही स्थिर हो जाती है (बुद्धिपर्यवतिष्ठते)।[3] इस प्रकार मनोनिग्रह से एक ओर तो मन शांत, स्थिर एवं संतुष्ट होता है और दूसरी ओर इसके परिणामस्वरूप योग को प्राप्त करना संभव हो जाता है। (साधक के लिए) योगारूढ़ के लिए इन्द्रियों का संयम अनिवार्य है। उसकी प्राप्ति हो जाने पर निरंतर अभ्यास से (इस योग का) प्राप्त होना सम्भव है।[4] इस प्रकार मनोनिग्रह से संकल्प और चित्त को स्थिर करके संतोष एवं शांति प्राप्त की जा सकती है तथा मन योग के लिए समर्थ बनता है।

गीता के अध्ययन में जिस तथ्य विशेष पर ध्यान आकर्षित होता है, वह यह है कि गीता में आत्म नियंत्रण का लक्ष्य विमुक्त एकात्मकता अथवा सभी मानसिक व्यापारों की समाप्ति नहीं है अपितु चित्त की स्थिरता अधिक बुद्धिगम्य तथा सामान्य ज्ञान विषयक आदर्श है। अतएव, आत्म नियंत्रण के लक्ष्य का यह विचार पतंजलि तथा अन्यों के दर्शनों में प्रशंसित विचार से सर्वथा भिन्न है। गीता हमसे यह चाहती है कि हम अपनी इन्द्रियों तथा मन पर नियंत्रण करें तथा इन्द्रिय विषयों के पास इस प्रकार के नियंत्रित मन तथा इन्द्रियों के साथ जाएँ क्योंकि इस साधन द्वारा ही हम अपने कार्यों को शांत तथा संतुष्ट मन द्वारा संपादित कर सकते हैं तथा ईश्वर के प्रति शुद्ध तथा शांत चित्त के साथ उन्मुख हो सकते हैं।[5] इस आत्म नियंत्रण या

---

[1] गीता, २ ५६।

[2] वही, २ ५७।

[3] गीता २ ६५,८८ ६४,६८,७०,७१।

[4] वही ६ ३६।

[5] रागद्वेषविमुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥ —गीता २ ६४।

मुख्य बल केवल बाह्य इन्द्रियों के नियन्त्रण पर न होकर इन इन्द्रियों के पीछे स्थित मन के नियन्त्रण पर है। केवल शारीरिक इन्द्रियों को वश में करते हुए मन द्वारा उन पर विचार करने वाला मिथ्याचारी होता है। वास्तविक आत्मनियन्त्रण केवल इन्द्रियों के बाह्य कार्यव्यापारों की समाप्ति न होकर मन का नियन्त्रण है। मनुष्य को केवल आत्म सन्तुष्टि के लिए लाभ तथा इच्छा द्वारा प्रेरित कर्मों से निवृत्त ही नहीं होना चाहिए अपितु उसके मन को पूर्णतया शुद्ध तथा इन्द्रिय इच्छाओं की कलुषताओं से सर्वथा मुक्त होना चाहिए। मन के नियन्त्रण तथा इच्छाओं की समाप्ति के बिना केवल शारीरिक कर्म का निरोध कुत्सित मार्ग है।[1]

गीता का नीति शास्त्र एवं बौद्ध नीति शास्त्र

इन्द्रिय निग्रह का विषय स्वभावतः बौद्ध दर्शन की याद दिलाता है। वैदिक धर्म में यज्ञ यागादि का पालन प्रधान कर्त्तव्य समझा जाता था। वैदिक विधि निषेध के पालन तथा उल्लंघन से क्रमशः पुण्य एवं पाप समझा जाता था। यह बताया जा चुका है कि इन विधि निषेधों में विधि का अर्थ निहित था जिसका पालन आवश्यक समझा जाता था। परन्तु यह नियम मानव के अन्दर रहने वाली आत्मा का आन्तरिक नियम नहीं है प्रत्युत एक बाह्य नियम मात्र है जिसका अर्थ नैतिकता के आधुनिक नियम से भिन्न है। इसका क्षेत्र प्राय पूर्णतया यज्ञकाण्डमय था और इसके अन्तर्गत कहीं कहीं इस प्रकार के आदेश हैं 'कोई किसी की हिंसा नहीं करे।' यद्यपि मानव हिंसा का दण्ड तो प्रत्येक को भुगतना ही पड़ता है फिर भी शत्रुओं के नाश के हेतु अनुष्ठान रूपी कुछ यज्ञ यागादि में हिंसा होते हुए भी उसमें कल्याण है। आगे चलकर यद्यपि पश्चात्वर्ती सांख्य टीकाओं और संग्रहीत ग्रन्थों में यह कहा गया है कि किसी भी प्रकार की जीव हिंसा का दण्ड तो भुगतना ही पड़ता है। फिर भी यह संदेहास्पद है कि हिंसा मत करो की वेदाज्ञा सब प्राणी मात्र पर लागू होती है या नहीं क्योंकि बिना पशु बलि के कोई यज्ञ सम्भव नहीं। उपनिषदों ने यज्ञ यागादि के स्थान पर उपासना एवं आत्म ज्ञान की एक पूर्णतया नई विधि प्रारम्भ की। औपनिषद विचारधाराओं की प्राथमिक अवस्था में इस सिद्धान्त का विकास होने लगा कि यज्ञ यागादि के बजाय विचार द्वारा किसी विशिष्ट वस्तुओं की अन्य वस्तुओं से (जैसे अश्वमेध में अश्व के बजाय उषा) अथवा प्रतीकात्मक वर्ण ग्राम इत्यादि से

---

[1] द्र० धम्मपद १ २। सभी जागतिक प्रपंचों का स्रोत मन है वे मन पर निर्भर होते हैं तथा मन द्वारा निर्मित होते हैं। शुद्ध मन के साथ बोलने तथा कर्म करने वाले व्यक्ति को सदैव प्रसन्नता की प्राप्ति होती है ठीक वैसे ही जैसेकि छाया सदैव मनुष्य का अनुगमन करती है।

एवम स्थापित करके निश्चित उपासना की रीति अपनाई जा सकती थी। औपनिषद् संस्कृति की अधिक विकसित अवस्था में परतत्व अथवा ब्रह्म की खोज के लिए नया सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया और ब्रह्म ज्ञान के मानव एवं प्रकृति का परम सार समझकर उसकी खोज करना परम ज्ञान अथवा परलक्ष्य समझा गया है तथा बाकी सब पुरुषार्थ उसके गौण समझे गए हैं। उपनिषदों में कोई नैतिक नियम नहीं है और नैतिक संघर्ष एवं नैतिक प्रयत्नों का सम्पूर्ण विषय ही या तो निकाल दिया गया है और या कहीं प्रसंग है भी तो उस पर अधिक जोर नहीं दिया गया है। तैत्तिरीयोपनिषद् १ ११ में वेद शिक्षा के पश्चात् शिष्य को नैतिक शिक्षा देना गुरु का कर्त्तव्य बताया गया है–सत्य बोलो, धर्म का पालन करो, स्वाध्याय का मन छोड़ो (शिक्षा की समाप्ति पर) शिष्य गुरु को नियत दक्षिणा देने के पश्चात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे। उसे सत्य, धर्म अथवा शुभ से विचलित नहीं होना चाहिए। उसे परहित स्वाध्याय एवं *शिक्षा देना बन्द नहीं करना चाहिए। उसे गुरु एवं माता पिता का आदर करना* चाहिए और दोषरहित कर्म करना चाहिए। उसे केवल सुचरित का ही सेवन करना चाहिए दूसरों का नहीं। उसे श्रद्धायुक्त होकर दान देना चाहिए न कि अश्रद्धा से (गौरव से) लोक लाज से भय से एवं ज्ञानाभिमान से। यदि कर्त्तव्य अथवा आचरण के विषय में कोई मतभेद हो तो जिस पथ से बुद्धिमान ब्राह्मण (महाजन) गए हों वही पथ स्वीकार करना चाहिए। परन्तु इस प्रकार की नैतिक शिक्षाएँ कोई एक उपनिषद् ही देते हैं एवं सदाचार के सम्बन्ध में अथवा परतत्व की प्राप्ति के हेतु नैतिक प्रयत्न पर जोर देने के सम्बन्ध में उपनिषदों में बहुत कम सामग्री मिलती है। उपनिषद् रहस्यवादी उपासनाओं एवं आत्म ज्ञान के दर्शन के प्रतिपादन शास्त्र में प्राय लीन है। फिर भी बृहदारण्यक उपनिषद् ४ ४ २७ में आत्म साक्षात्कार के हेतु इन्द्रियनिग्रह कामनाओं का शमन एवं निरोध तितीक्षा एवं एकाग्रता को आवश्यक साधन माना गया है।[1] कठोपनिषद् ६ ११ में इन्द्रिय धारण को योग कहा गया है एवं मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि सकाम कामनाओं से मनुष्य का आवागमन होता रहता है परन्तु वह लोक में ही जिसने आत्म साक्षात्कार कर लिया है और आत्मा में ही तुष्ट है वह सर्वकामना शून्य हो गया है।[2] ज्ञान मार्ग कर्मकाण्ड से भिन्न है इसकी जानकारी उपनिषत्कारों को थी और यह निश्चित धारणा थी कि विद्याभीप्सित वासनाओं से कभी आकृष्ट नहीं होता।[3]

---

[1] शान्तो दान्त उपरत, स्तितिक्षु समाहितो भूत्वात्मन्येव आत्मानं पश्यति।

—बृहदारण्यक ४ ४ २३।

[2] कामान् य कामयते मन्यमान सकामभिर्जायते तत्र-तत्र पर्याप्त कामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामा (मुण्डक ३ २ २)।

[3] कठ, २ ४।

इस सम्बन्ध में मुख्य बात यह देखने की है कि गीता का प्रधान विषय मनोनिग्रह एवं विषयकर आसक्ति और वासनाओं का नियन्त्रण उपनिषदों से लिया गया है अथवा बौद्ध दर्शन से। यह कहा जा चुका है कि उपनिषद् जितना जोर पर तत्व ब्रह्म एवं नाना रूपात्मक जगत् पर देते हैं उतना नैतिक पक्ष एवं नैतिक प्रश्नों पर नहीं देते। परन्तु वेदिक ज्ञान के लिए वासनाओं एवं इन्द्रियों के नियमन (दम) एवं मन की तुष्टि व शान्ति को आवश्यक माना गया है। उपनिषदों के प्रख्यात भाष्यकार शंकर ने ब्रह्मसूत्र १ १ १ पर टीका करते हुए लिखा है नित्यानित्य वस्तु विवेक एवं इस जगत् तथा परलोक के फलभोग में विरक्ति होने के पश्चात् ही मनुष्य ब्रह्मजिज्ञासा के योग्य बनता है। इस प्रकार की जिज्ञासा के लिए मनुष्य को समर्थ बनाने के लिए शम (सांसारिक भोगों में विरक्ति) दम (मन को वश में करना ताकि वह दर्शन की ओर प्रवृत्त हो जाय) विषय तितीक्षा (सहन करने की शक्ति) उपरति, (कर्मशून्यता) तत्व श्रद्धा (पर तत्व के दर्शन में विश्वास) के लिए आवश्यक तत्व समझे गए हैं। अतः यह मान लेना युक्ति संगत है कि उपनिषदों में दम एवं शम के रूप में नैतिक विकास उच्च स्थिति पर पहुँच चुका था। अनासक्ति गीता का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय है और मुण्डक ३ २ २ के उपरोक्त सिद्धान्त की प्रतिध्वनि गीता में २ ७० सुनाई देती है जहाँ यह बताया गया है कि जिस प्रकार शान्त सागर में जल समा जाता है (नदियों द्वारा लगातार डाले जाने पर भी) उसी प्रकार जिस मनुष्य में समस्त वासनाएं शान्त हो जाती हैं उसे शान्ति प्राप्त होती है काम कामी को नहीं। गीता बार बार भोगासक्ति एवं दुःख द्वेष को निर्मूल करने की आवश्यकता पर एवं काम नियन्त्रण पर अधिक जोर देती है। परन्तु यद्यपि इस सिद्धान्त पर उपनिषदों ने बार बार जोर नहीं दिया है फिर भी यह सिद्धान्त उनमें वर्तमान है तथा सम्भवतः गीता ने यह सिद्धान्त उपनिषदों से लिया। हिन्दू धर्म के अनुसार भी गीता का स्रोत उपनिषद् है। इस प्रकार गीता माहात्म्य में उपनिषदों को गाय बताया गया है जिससे ग्वाले श्रीकृष्ण ने दुग्ध गीता अमृत निकाला।[1]

✓ परन्तु बौद्ध नीति सिद्धान्तों का गीता के सिद्धान्तों से अत्यधिक सादृश्य है। यदि विशिष्ट बौद्ध उपदेश गीता में न होते तो यह धारणा केवल पुष्ट हो जाती कि वासनाओं को वश में करने एवं आसक्ति को निर्मूल करने के सिद्धान्त गीता ने बौद्ध ग्रन्थों के लिए। तचीबन ने बौद्ध दोषों की एक निम्नलिखित दीर्घ सूची संगृहीत की है[2]—

---

[1] सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दन।

[2] एम० ताचीबना कृत दी एथिक्स आफ बुद्धिज्म, पृ० ७३।

अणगनम्	अपवित्रता वासना सुना० ५१७	
अहंकारा	स्वार्थ अहङ्कार	
मामंकारा,	इच्छा	
{ममयितम् (ममत्तम)	स्वार्थ	
ममत्तम्	स्वायात्त करना अहंकार	
अपेक्खा	इच्छा कामना, स्नेह	
इच्छा	इच्छा लाभ	
इजा (ईहा)	इच्छा कामना लाभ	
आसा,	इच्छा	
पिपासा	प्यास	
इसा, एषणा	इच्छा चाह प्यास	
आकांखा,	आकांक्षा	
विद्धनम्	लगाव	
गंथो,	बांधना	
आदना गंथा	आसक्ति बंधन	
गिद्धि	लाभ, इच्छा	
गधो	लाभ इच्छा	
ग्रहनम्	ग्रहण करना	
गाहा	आसक्ति मोह	
जालिनि	इच्छा काम अधिग्रहण	
परिग्गाहो	आसक्ति महानिद ५७	
चादो	इच्छा कामना अभिप्राय सु० ना० १७१,२०३ आदि	
जाता	कामना, वासना, सु० ना० १ १३	
जिगिमिश्नाता	लोभ, इच्छा, विभगा ३५३	
निजिगिमिश्नाता,	लाभ	
तण्हा, तसिना	अतृप्ति वासना	
उपादाणम्	आसक्तिपूर्ण ग्रहण	
पणिधि	इच्छा, अभीप्सा सु० ना० ८०१	
पिहा,	स्पृहा	
पेमम्	प्रेम	अघातो, क्रोध
बंधो	बंधन	पाटिघो, क्रोध

बधनम्,	बधन	दासो क्रोध, घृणा
निबधा	आग्रह	विद्देसो, विद्वेष
विनिबन्धनम्	ब धन	धूमो, क्रोध
अनुबन्धा,	अनुब ध	उपनाहो, शत्रुता
उपनिबधो,	उपोद्घात्	व्यापादो, प्रहारेच्छ, घृणा
परिब धो,	याान	
रागो	मानवीय वासना, बुराई, वासना, पैस्सिम	
सरागा,	सराज्जना साराजितत्तम् स्नेह, वासना महानिद २४२	
रति	वासना, भोगवृत्ति	अनाभिरद्धि क्रोध
मनोरथो	मनोरथ	
रुचि	इच्छा रुझान सुना ७८१	वरम् शत्रुता
अभिलासो,	इच्छा, कामना	विरोधो, विरोध
लालसा	लालसा	
आलयो	कामना, वासना	रोसा क्रोध
लोभो	कामना	
लोभनम्	लुभाना	रोसनम् क्रोध
लुभाना, लोभितत्तम्, लोभित्व		व्यारोसनम् क्रोध
वनम्,	इच्छा वासना	अप्पानम् उपेक्षा
वनथो,	प्रेम, वासना	मोहो मोह मूर्च्छा
नवेस्सनम्,	अधीष्ठित करना	
सङ्गो,	बडी, बध, लगाव	मोहनम्, अविद्या सुना ३६६,७७२
आसत्ति	आसक्ति सटकना अधिष्ठित होना, लगाव।	
विसट्टिका	विपासता, इच्छा	अभिज्जा अज्ञान
सथवम्,	मित्रता, लगाव	भ्रम, वासना
उस्सदा,	उत्सव	
स्नेह सिनेहो	नेहवासना	
असायो,	आसन, अभिप्राय, रुझान	
अनुसायो,	झुकाव	
सिब्बाणि,	कामना	
कोपो,	क्राध	
कापो,	क्रोध	

यह एक रोचक बात है कि लोभ द्वेष, अविद्या—इन तीन दुर्गुणों का, विशेषतया लोभ को अनेक नाम दिए गए हैं एवं विभिन्न उपायों द्वारा उनको विनाश करने पर बल दिया गया है। उपरोक्त तीनों (लोभ, द्वेष और अविद्या) सम्पूर्ण पापों के मूल हैं। निस्सन्देह उन ग्रन्थों में कुछ सरलतर अंश भी पाए जाते हैं उदाहरणार्थ हिंसा स्तेय व्यभिचार असत्य एवं नशा नहीं करना तथा इनमें से स्वर्ण की चोरी, नशा करना, गुरु पत्नि सभोग एवं ब्रह्म हत्या के निषेध का छान्दोग्य उपनिषद् ५ १० ९–१० में उल्लेख है।[1] परन्तु छान्दोग्य न केवल ब्रह्म हत्या को पाप मानता है जबकि बौद्ध जीव मात्र की हिंसा या निवध करते हैं। शेष इन दुर्गुणों का एवं अष्टांगशील तथा दशकुशल कर्म के विरुद्ध दुर्गुणों का लोभ द्वेष एवं अविद्या में समावेश है। गीता के नीतिशास्त्र का आधार मुख्यतया संग एवं कामना से छुटकारा पाना है जिनसे लोभ आशाएं एवं तत्पश्चात् क्रोध उत्पन्न होते हैं। परन्तु बौद्ध दर्शन में अविद्या को सम्पूर्ण दोषों का स्रोत कहा है जबकि गीता में इस शब्द का उल्लेख भी नहीं है। बौद्ध दर्शन के द्वादश निदान चक्र में यह कहा गया है कि अविद्या से संस्कार उत्पन्न होते हैं तथा संस्कार से विज्ञान विज्ञान से नाम रूप, नाम रूप से षडायतन, इन्द्रिय स्पर्श, स्पर्श से भाव भाव से तृष्णा तृष्णा से उपादान (वस्तुओं से चिपके रहना) उपादान से भव भव से जाति (जन्म) एवं जाति जरा व्याधि एवं मृत्यु उत्पन्न होती है। यदि अविद्या समाप्त कर दी जाय तो उसके साथ ही साथ पूरे भव चक्र की समाप्ति हो जाती है। यद्यपि भव-चक्र में अविद्या एवं तृष्णा अत्यन्त दुःस्थ हैं तथापि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से तृष्णा अविद्या से ही तुरन्त उत्पन्न होती है एवं तृष्णा की पूर्ति नहीं होने से क्रोध और द्वेष उत्पन्न होता है। गीता में आरम्भ ही राग एवं काम से होता है। बौद्ध शब्द तृष्णा (तन्हा) का उल्लेख गीता में नहीं के बराबर है। जबकि औपनिषद् शब्द काम गीता में तृष्णा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। गीता कोई दार्शनिक ग्रन्थ नहीं है जो आसक्ति के कारणों का गम्भीरतापूर्वक शोध करने का प्रयत्न करे अथवा आसक्तिरहित होने का कोई व्यावहारिक पथ प्रदर्शन ही करे। शंकर द्वारा प्रतिपादित वेदान्त दर्शन में सर्वदोषमय जगत् के मूल को अनिर्वचनीय अविद्या माना गया है। योग ने पांच क्लेशों को हमारे सब सांसारिक अनुभवों का स्रोत माना है। अज्ञान, अहंकार वासना राग द्वेष एवं अभिनिवेश तथा पिछले चार का मूल स्रोत अज्ञान है।

---

[1] अष्टांग अशील की एक अन्य सूचि भी है बौद्ध ग्रन्थ में है। हिंसा नहीं करना, चोरी नहीं करना काम स्त्री सम्बन्ध नहीं करना, असत्य नहीं बोलना, नशा नहीं करना निषिद्ध समय पर खाना, नृत्य एवं संगीत से तथा इत्रादि तथा मालाओं से शरीर को विभूषित करना। एक और दूसरी सूचि है जिसे दशकुशल काम कहते हैं हिंसा नहीं करना, चोरी नहीं करना। स्त्री सम्बन्ध नहीं बोलना, गाली नहीं निकालना मूर्खतावश नहीं बोलना लोभ नहीं करना, कशयात्मक और द्वेषात्मक।

गीता में वासना आदि (आसक्ति, मोह) का स्रोत कोई उच्चतर तत्व नहीं बताया गया है। गीता में शब्द अज्ञान का प्रयोग छः सात स्थानों पर नानाभाव के अर्थ में किया गया है। परन्तु इस 'अज्ञान' का तात्पर्य कोई तात्विक सिद्धान्त अथवा कार्य कारण शृंखला के चरम सिद्धान्त से नहीं है बल्कि इसका प्रयोग तो वस्तु के यथार्थ ज्ञान के विरुद्ध मिथ्या ज्ञान अथवा अज्ञान के अर्थ में हुआ है। इस प्रकार एक स्थल पर यह कहा गया है कि ज्ञान पर अज्ञान का पर्दा पड़ा रहने के कारण (अर्थात् माया से) प्राणी मोहित हो जाते हैं।[1] आगे चलकर कहा गया है कि ज्ञान से जिनका अज्ञान नष्ट हो जाता है उनके लिए[2] उन्हीं का ज्ञान परमार्थ तत्व को सूर्य के समान, प्रकाशित कर देता है। एक अन्य स्थल पर ज्ञान और अज्ञान दोनों की परिभाषा दी गई है। अध्यात्म ज्ञान को नित्य समझा गया है एवं तत्व ज्ञान के सिद्धान्तों के परिशीलन को ही ज्ञान कहा गया है। इसके अतिरिक्त जो कुछ है वह सब अज्ञान है।[3] दूसरे स्थल पर अज्ञान को तमस का परिणाम कहा गया है एवं दो अन्य स्थलों पर तमस को अज्ञान की परिणति कहा गया है। दूसरी ओर कहा गया है कि लोग अज्ञान से मोहित हो जाते हैं तथा सोचते हैं 'मैं धनवान हूँ मैं कुलीन हूँ मेरे समान दूसरा कौन है? मैं यज्ञ यागादि करूँगा दान दूँगा एवं आनन्द भोगूँगा।'[4] एक दूसरे स्थल पर अज्ञान को तमोत्पादक कहा है तथा कृष्ण का गीता प्रवचन अज्ञान के उत्पन्न अर्जुन के मोह को दूर करने वाला है।[5] इससे यह स्पष्ट है कि यद्यपि अज्ञान विविध प्रसंगों में प्रयुक्त हुआ है—या तो साधारण अज्ञान और या यथार्थ पूर्ण अध्यात्म ज्ञान का अज्ञान। अज्ञान को कहीं भी आसक्ति अथवा वासनाओं का स्रोत नहीं कहा गया है। इसका यह अर्थ नहीं है कि गीता का इस सिद्धान्त से विरोध है कि अज्ञान द्वारा राग एवं वासना उत्पन्न होते हैं। परन्तु इसका अर्थ यह प्रतीत होता है कि गीता को राग एवं वासना के मूल स्रोत को जानने में कोई रुचि नहीं है बल्कि उनके अस्तित्व में विश्वास व्यक्त किया गया है। शान्ति तथा समत्व बुद्धि के लिए उनके (राग एवं वासना) नाश की आवश्यकता समझी गई। बौद्ध हीनयान नीतिशास्त्र एवं व्यावहारिक अनुशासन के अन्तर्गत शील समाधि प्रज्ञा आते हैं। शील का अर्थ सुचरित्र का पालन एवं निषिद्ध कर्मों का त्याग है।[6] शील का

---

[1] अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ५ १५।

[2] ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ५ १६।

[3] अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा। —१३ १२।

[4] गीता, १४ १६,१७ १० ११,१४ ८।

[5] वही ५ १६।

[6] गीता, ४ ४२, १८ ७२।

तो पथ उन विशिष्ट मानसिक एवं सकल्पात्मक धारणाओं आदि से है जिनके द्वारा मनुष्य अधर्म के पथ से हटकर सदाचार में स्थित रहता है। इस प्रकार शील का अर्थ (१) चेतना (२) चैतसिक (३) संवर और (४) उपरोक्त तीन शीलों के अनुसार मन में पहले से उत्पन्न सदाचरण की भावना का (शरीर एवं वाणी द्वारा) क्रियात्मक अनोल्लंघन जिसे अवतिक्रम कहते हैं। संवर पाँच प्रकार का होता है उदाहरणार्थ–(१) प्रतिमोक्षसंवर निग्रह जो पालन करता की रक्षा करता है। (२) स्मृति संवर (सावधानी युक्त निग्रह) (३) ज्ञान संवर (ज्ञान का संवर) (४) क्षान्ति संवर (धैर्य का संवर) (५) वीर्य संवर (संयम का संवर) प्रातिमोक्ष संवर का अर्थ सामान्य रूप से मनोनिग्रह है। स्मृति संवर का अर्थ अपनी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा सावधानीपूर्वक सम्यक एवं शुभ संस्कारों को प्राप्त करना है। प्रलोभन के सम्मुख होते हुए भी सावधानी के कारण मनुष्य उनके प्रलोभनात्मक स्वरूप की उपेक्षा करता हुआ एवं उससे परे सदाचार प्रवर्त्तक स्वरूप पर ध्यान देता हुआ समाहित होने से रुकेगा। क्षान्ति संवर उसे कहते हैं जिससे मनुष्य शीत एवं उष्ण में सम रह सकता है। शील के उचित पालन द्वारा हमारी सम्पूर्ण शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक क्रियाएं व्यवस्थित, संगठित एवं स्थिर हो जाती है। शील का अभ्यास ध्यानाभ्यास के लिए है। प्रारम्भ में मनुष्य को खान पान की खोज करने में उत्पन्न अनेक प्रकार के दुःख एवं उनके विविध प्रकार के दुर्गन्धयुक्त शारीरिक तत्वों के रूप में अन्तिम घृणात्मक विकार के रूप में (रक्त, मल, मूत्र मज्जा इत्यादि के रूप में) खान पान की तृष्णा को निरंतर घृणा की दृष्टि से देखने की आदत डालनी चाहिए। उसे अपने मन को इस विचार से अभ्यस्त करना चाहिए कि हमारे शरीर के भाग चार तत्वों से बने हुए हैं जैसे क्षिति जल इत्यादि। उसे शील के दान मृत्यु के स्वरूप एवं निर्वाण के गुण एवं महान स्वरूप के शुभ परिणामों पर विचार करना चाहिए तथा सब मैत्री सर्वदया सर्वसुख एवं उन्नति में सुख मानना चाहिए तथा स्वयं के अपने मित्र के अपने शत्रु के अथवा तीसरे दल के पक्षपात से उदासीन रहने की चतुर्विध उपासना के द्वारा ब्रह्म विहार का अभ्यास करना चाहिए।[1]

गीता दर्शन न किसी यम नियम का विवेचन नहीं करती। यह न तो सब हितवाद का ही उपदेश करती है और न महायान नीति शास्त्र की तरह विश्वास करती है कि मनुष्य केवल परहित के लिए ही जिए। साना पथ के गुणों में शुभ शक्ति में एवं सब वस्तुओं के निस्सार होने के यथार्थ ज्ञान एवं उपासना में विश्वास नहीं करती। जो व्यक्ति साधु जीवन व्यतीत करने का व्रत धारण करता है वह परहित जीवन का व्रत लेता है जिसके हेतु वह अपने निज सब सुख की बलि देने को तत्पर

---

[1] एस० एन० दास गुप्ता कृत भारतीय दर्शन का इतिहास जि० १ पृ० १०३।

रहता है। उसका परहित व्रत केवल सहधर्मियों अथवा पथ विशेष तक ही सीमित नहीं रहता अपितु जाति धर्म वर्ण इत्यादि का ओर ध्यान दिए बिना मनुष्य मात्र पर अथवा प्राणी मात्र तक फैला हुआ है। महायान नैतिक ग्रन्थ जैसे बोध चर्यावतार पंजिका अथवा शिक्षा समुच्चय केवल सिद्धान्तों का ही विवेचन नहीं करते प्रत्युत भिक्षुक के बनने के लिए क्रियात्मक उपदेश भी देते हैं। भिक्षुक की जीवन यात्रा में आने वाली क्रियात्मक बाधाओं का वे विवेचन करते हैं तथा प्रलोभनों से बचने के लिए अपने कर्तव्य मार्ग में अडिग रहने के लिए एवं क्रमश उत्तरोत्तर उन्नतावस्था को प्राप्त करने के लिए व्यावहारिक सम्मति देते हैं।

गीता न तो नैतिक प्रयत्नों का व्यावहारिक पथ प्रदर्शक ग्रन्थ है एवं न अनैतिक प्रवृत्तियों के मूल का विवेचन करने वाली तथा विशिष्ट तात्त्विक सिद्धान्तों का उद्गम स्थान बताने वाला दार्शनिक ग्रन्थ है। आसक्ति एवं वासना के साधारण दोषों से प्रारम्भ करके गीता यह बताने का प्रयास करती है कि नित्य नैमित्तिक कर्त्तव्यों का पालन करता हुआ मनुष्य किस प्रकार शान्त, तुष्ट स्थित प्रज्ञ एवं योगस्थ रह सकता है। महाभारत के महान् संग्राम में गीता स्थित है। कृष्ण को ईश्वर का अवतार माना गया है एवं महान् पाण्डव वीर अर्जुन के सखा एवं सम्बन्धी, स्वयं अर्जुन का सारथी भी है। पाण्डव वीर जन्म से क्षत्रिय था एवं वह अपने चचेरे भाई एवं शत्रु दुर्योधन राजा से लड़ने के लिए कुरुक्षेत्र के महान् युद्ध क्षेत्र में आया था जिसने अर्जुन के बन्धु वृहत् सेनाओं के प्रमुख महान् योद्धाओं को इकट्ठा किया था। गीता के प्रथम अध्याय में कुरुक्षेत्र के धर्मक्षेत्र में आमने सामने खड़ी हुई दोनों सेनाओं का वर्णन है। दूसरे अध्याय में अपने स्वजनों से लड़ने एवं अन्त में उनकी हत्या करने के विचार से अर्जुन को विषाद होने का वर्णन है। वह कहता है कि अपने पूजनीय सम्बन्धियों को मारने से तो भीख मांगकर खाना अधिक श्रेयस्कर है। कृष्ण अर्जुन के इस मनोभाव पर गहरी आपत्ति उठाते है और उसे उपदेश करते हैं कि आत्मा अमर है एवं उसे कोई मार नहीं सकता। परन्तु इस तात्त्विक दृष्टिकोण के अतिरिक्त साधारण दृष्टि से भी एक क्षत्रिय को युद्ध करना चाहिए क्योंकि वह उसका धर्म है तथा क्षत्रिय के लिए युद्ध से श्रेयस्कर कोई अन्य कार्य नहीं है। गीता का मौलिक विचार यह है कि मनुष्य को अपने वर्णाश्रम धर्म अर्थात् स्वधर्म का पालन करना चाहिए। क्योंकि मनुष्य को स्वधर्म निकृष्ट होने पर भी उसे नहीं छोड़ना चाहिए क्योंकि अपना स्वधर्म विगुण होने पर भी दूसरों के गुणमय धर्म से श्रेष्ठ है। स्वधर्म का पालन करते हुए मर जाना भी अच्छा है क्योंकि दूसरों का वर्ण धर्म भयावह है।[1] गुण कर्म के विभागानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र—इन चारों वर्णों के स्वाभाविक कर्म

---

[1] गीता, अ० ३-३५।

निर्धारित किए गए है। इस प्रकार ब्राह्मण का स्वभाव जन्य कर्म शम, दम, तप, पवित्रता, शांति (क्षमा), सरलता (आर्जव), ज्ञान अर्थात् अध्यात्म ज्ञान, विज्ञान अर्थात् विविध ज्ञान और आस्तिक्य बुद्धि है। शूरता, तेजस्विता, धैर्य, दक्षता युद्ध से न भागना, दान देना और प्रजा पर शासन करना क्षत्रियो का स्वाभाविक कर्म हैं। कृषि अर्थात् खेती, गोरक्ष यानी पशुओ को पालने का उद्यम और वाणिज्य अर्थात् व्यापार वश्यो का स्वभाव जन्य कर्म है और इसी प्रकार सेवा करना शूद्रो का स्वाभाविक कर्म है। अपने अपने (स्वभावजन्य गुणो के अनुसार प्राप्त होने वाले) कर्मो मे नित्य रत (रहने वाला) पुरुष (उसी से) परम सिद्धि पाता है। प्राणि मात्र की जिससे प्रवृत्ति हुई है और जिसने सारे जगत् का विस्तार किया है अथवा जिससे सब जगत् व्याप्त है, उसका अपने (स्वधर्मानुसार प्राप्त होने वाले) विशिष्ट कर्मों के द्वारा (केवल वाणी अथवा पुष्पो से ही नही) पूजा करने से मनुष्य को सिद्धि प्राप्ति होती है। अपने स्वधर्म का पालन करने वाले को कोई दोष नहीं लगता। चाहे किसी का वर्ण धर्म दोषयुक्त भी हो, तो भी उसके लिए अपने धर्म का पालन करना अनुचित नहीं है। क्योकि सम्पूर्ण आरम्भ अर्थात् उद्योग (किसी न किसी) दोष से वैसे ही व्याप्त रहते हैं जैसेकि धुएँ से आग घिरी रहती है।[1] अर्जुन को क्षत्रिय होने के कारण अपने स्वधर्म के पालन रूप रणक्षेत्र मे शत्रुओ से युद्ध करने की प्रेरणा दी जाती है। यदि वह अपने शत्रुओ को युद्ध मे जीत लेगा तो पृथ्वी का राज्य भोगेगा एव यदि युद्ध मे मर जाएगा तो अपने स्वधर्म पालन के कारण स्वर्ग प्राप्त करेगा। यदि वह युद्ध नही करेगा (जो उसका कर्तव्य है) तो उसकी केवल अपकीर्ति ही नहीं होगी अपितु उसके स्वधर्म का उल्लघन भी होगा।

इस आदेश के विरुद्ध यह स्वाभाविक आपत्ति उठती है कि युद्ध मे हिंसा तो अनिवार्य है। परन्तु इसके उत्तर मे कृष्ण इस प्रकार कहते हैं कि अनासक्त होकर कर्म करना ही कर्म करने का सही तरीका है। जब मनुष्य आसक्ति, लोभ एव स्वार्थ परता से रहित होकर केवल अपनी कर्तव्य भावना से युक्त होकर कर्म करे तो उसे कर्म का दोष नही लग सकता। मनुष्य को कर्मों का पाप तभी लगता है जबकि वह स्वार्थ बुद्धि से प्रेरित होकर कर्म करे। परन्तु यदि वह स्वार्थ भावना न रखे, सुख में हर्षित न हो एव दुःख मे उद्विग्न न हो तो उसके कर्म उसे बन्धन में नही डाल सकते। अत मनुष्य को अपनी सम्पूर्ण स्वार्थयुक्त इच्छाएँ त्याग कर अपने कुल कर्मों को ईश्वरार्पण करके योग युक्त होना चाहिए, तथा इसके उपरान्त उसे अपने वर्णानुकूल स्वाभाविक कर्तव्यो का पालन करते रहना चाहिए। जबतक हम शरीर युक्त हैं तबतक स्वभाव के कारण कर्म तो करना ही पडेगा अत हमारे लिए सब कर्म त्याग

---

[1] गीता, १८–४४–४८।

असम्भव है। कर्मत्याग महत्वपूर्ण हो सकता है यदि उसका अर्थ कर्मफल त्याग हो। कर्म फल त्याग होने पर कर्म बन्धन नहीं होता प्रत्युत् शान्ति एवं तुष्टि की प्राप्ति होती है। इस प्रकार पूर्ण स्थित प्रज्ञ योगी अपनी यथार्थ बुद्धिमत्ता में अटल एवं अडिग रहता है तथा उसे संसार की कोई वस्तु विचलित नहीं कर सकती। यह स्थिति या तो आध्यात्म ज्ञान से अथवा ईश्वर भक्ति से सम्भव है। उपरोक्त दोनों मार्गों में भक्ति मार्ग सुगमतर है। ईश्वर अपने अनुग्रह से भक्त की अपने मन में सपूर्ण अशुद्धताओं को दूर करने में सहायता करता है एवं उसकी कृपा से मनुष्य लोभ एवं स्वार्थ प्रेरका से अपने मन को हटा लेता है तथा योगारूढ़ हो जाता है। इस प्रकार बिना किसी लाभ की इच्छा किए अपने वर्ण द्वारा निर्धारित कर्मों को कर सकता है।

गीता का कर्मयोग सिद्धान्त कर्मकाण्ड के आदर्श से इस प्रकार भिन्न है कि यज्ञ यागादि किसी स्वर्गिक स्थान के लक्ष्य की प्राप्ति अथवा किसी अन्य सांसारिक लाभ के लिए नहीं किए जाने चाहिए प्रत्युत् केवल कर्त्तव्य भावना से ही किए जाने चाहिए क्योंकि यज्ञ यागादि ब्राह्मणों के लिए अनिवार्य है। अतः उनका पालन केवल कर्त्तव्य परायण होकर ही किया जाना चाहिए। गीता के नीति शास्त्र में तथा वेदान्त अथवा पातंजल योग के दर्शन में अन्तर है। जैसे कि इन दर्शनों का लक्ष्य मनुष्य को मानसिक एवं शारीरिक क्रिया शून्य अर्थात् समाधि की स्थिति तक पहुँचाने के हेतु सम्पूर्ण क्रियाओं से परे ले जाना है जबकि गीता का प्रतिपाद्य विषय कर्मयोग का सिद्धान्त है। जैसा कहा जा चुका है गीता किसी विषय में उग्रता (Extremions) की समर्थक नहीं है। ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् भी मनुष्य को अपने सामान्य वर्णोचित एवं सामाजिक कर्त्तव्यों का पालन करते रहना चाहिए।[1] प्राचीन बौद्ध दर्शन में जिस नैराश्यवाद का वर्णन है वह गीता में नहीं पाया जाता। बौद्ध दर्शन के शील समाधि एवं प्रज्ञा के अनुरूप गीता में हृप एवं आसक्ति में अरुचि ईश्वर पर एकाग्रता तथा स्थित प्रज्ञ होने के अभ्यास के विषय में उपदेश पाए जाते हैं। परन्तु गीता में इनका महत्व बौद्ध दर्शन से पूर्णतया भिन्न है। गीता का विधि निषेध मान्य नहीं है क्योंकि उनका समावेश वर्णोचित स्वधर्म में एवं सामाजिक नैतिकता में पूर्ण निहित हैं। गीता इस बात पर जोर देती है कि मनुष्य का परं कर्त्तव्य आसक्ति वासना एवं तृष्णा की अशुद्धियों से मन को शुद्ध करना है। गीता में वर्णित समाधि का अर्थ केवल किसी विषय पर मन को एकाग्र करना ही नहीं है प्रत्युत इसका अर्थ ब्रह्मात्मऐक्यता हैं। गीता में प्रयुक्त प्रज्ञा आत्म ज्ञान की प्राप्ति नहीं है अपितु मन को स्थिर एवं शान्त करना है जिससे कि अनासक्त होकर सुख दुःख से अविचलित स्थित प्रज्ञ की स्थिति

---

[1] गीता की इस व्याख्या में श्री शंकराचार्य निस्सन्देह सहमत नहीं हैं जो आगे बताया जाएगा।

प्राप्त करके कर्त्तव्यपरायणता में बुद्धि और संकल्प स्थिर रहें अर्थात् बुद्धि व्यवसाया त्मिका हो जाय।

इस प्रसंग में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि हिन्दू आचार शास्त्र का सामान्य दृष्टिकोण क्या है? हिन्दू सामाजिक व्यवस्था चार वर्णों के विभाजन पर आधारित है। गीता के मत में विशिष्ट स्वभाव एवं आचरणानुसार ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य शूद्र—इन चार वर्णों को स्वयं ईश्वर ने उत्पन्न किया। इन चार वर्णों एवं उनके अनुरूप अधिकारों एवं कर्त्तव्यों के अतिरिक्त ब्रह्मचर्य गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास—ये चार आश्रम भी बनाए गए और प्रत्येक आश्रम के अनुरूप कर्त्तव्य भी निर्धारित किए गए। हिन्दुओं के आचार शास्त्र चार वर्णाश्रम धर्मों के कर्त्तव्यों का समूह है। इनके अतिरिक्त कुछ निश्चित कर्त्तव्य ऐसे हैं जो सब पर लागू होते हैं तथा जिन्हें साधारण धर्म कहते हैं। उदाहरणार्थ मनु ने धैर्य क्षमा, दम, चौर्याभाव, शौच, इन्द्रिय निग्रह, धी विद्या सत्य अक्रोध साधारण धर्म बताए हैं। प्रशस्तपाद ने धर्म श्रद्धा, अहिंसा भूतहितत्व, सत्य वचन अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अनुपधा, क्रोधवर्जन, अभिषेचन, शुचि, द्रव्य सेवन, विशिष्ट देवता भक्ति एवं अप्रमाद साधारण धर्म बताए हैं। वर्ण धर्म साधारण धर्मों से पृथक हैं। जैसे—तीन उच्चवर्ण ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य के लिए यज्ञ, स्वाध्याय एवं दान समान हैं। ब्राह्मण की विशिष्ट वृत्ति दान लेना, विद्या दान, यज्ञादि हैं—क्षत्रिय की विशिष्ट वृत्ति प्रजा की रक्षा करना दुष्टों का दण्ड देना, रण एवं कर्त्तव्य से पलायन न करना है—वैश्य की विशिष्टवृत्ति क्रय, विक्रय, कृषि, गोरक्षा इत्यादि है एवं शूद्र की वृत्ति तीनों उच्च वर्णों की सेवा करना है।[1]

वर्ण धर्म एवं साधारण धर्म के संबंध के विषय में एक आधुनिक लेखक का कहना है कि साधारण धर्म वर्ण धर्मों की आधार शिलाएँ हैं जिनकी (साधारण धर्म) सीमाओं के अन्दर रहकर वर्ण धर्मों का पालन एवं अनुसरण होना चाहिए। उदाहरणार्थ यज्ञ करने हेतु ब्राह्मण को दूसरे का द्रव्य नहीं हरना चाहिए क्योंकि अस्तेय एक साधारण धर्म है। इस रीति से वह अपने वर्ण की सेवा के साथ साथ वर्ण का सामान्य हित भी (यद्यपि नकारात्मक ढंग से) सम्पादित करता है। अतः परोक्ष रूप से वह मानव मात्र का सामान्य हित सम्पादित करता है। इस प्रकार वर्ण विशेष का कोई व्यक्ति जो अपने वर्ण धर्म का पालन करता है वह केवल अपनी जाति का ही हित नहीं करता, बल्कि उसी क्रिया से दूसरे वर्णों का उनके पुण्य एवं आवश्यकतानुसार अर्थात् मानव जाति का हित सम्पादित करता है। यह स्पष्ट है कि प्लेटो का भी

---

[1] गीता के अनुसार शम, दम, शौच, क्षान्ति आर्जव, ज्ञान, विज्ञान आस्तिक्य ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं। क्षत्रिय के सहज कर्म शौर्य, तेजस धृति, दाक्ष्य, युद्ध में अपलायन, दान एवं ईश्वर भाव हैं। वैश्य के सहज कर्म कृषि एवं गोरक्षा है। गीता १८ ४२ ४४।

यही मत है जिसके अनुसार न्याय का गुण सवभूत हित है जो प्रत्येक वर्ग अपने विशिष्ट कर्मों के द्वारा संपादित करता है। परन्तु हिन्दू वर्गीकरण के साधारण धर्म के लक्ष्य सदभूत हित से यह मत भिन्न है। हिन्दुओं के इन सामान्य साधारण धर्मों का उद्देश्य केवल सवभूत हित नहीं है जो विशिष्ट वर्णों के धर्म पालन में समाविष्ट है प्रत्युत सामान्य हित को विशिष्ट हित का आधार एवं पूर्वावस्था कहा गया है। यह साधारण धर्म व्यक्ति को समाज का अंग समझकर उसका हित करना नहीं है प्रत्युत व्यक्ति के हित का आधार है। अतः साधारण धर्म मनुष्य मात्र के लिए अनिवार्य है चाहे व्यक्ति की कैसी ही सामाजिक प्रतिष्ठा अथवा व्यक्तिगत सामर्थ्य क्या न हो।[1] साधारण धर्म को वर्ण धर्म की आधार शिला मानने का अर्थ यह है कि यदि साधारण धर्म एवं वर्ण धर्म में विरोध हो तो साधारण धर्म मान्य होना चाहिए। यह अर्थ उचित नहीं है। क्योंकि ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता जहाँ पर दोनों धर्मों की विरोधावस्था में साधारण धर्म को अधिक शक्तिशाली माना गया हो। जैसा कि अहिंसा को साधारण धर्म माना गया है परन्तु यज्ञ यागादि में पशुबलि निहित है और ब्राह्मणों के लिए यज्ञ करना अनिवार्य था। युद्ध में मनुष्य की अत्यधिक हिंसा होती थी परन्तु क्षात्रधर्म युद्ध से अपलायन था और उसके अनुसार युद्ध करना उसके लिए अनिवार्य था। रामायण महाकाव्य में शम्बूक नामक एक शूद्र मुनि का वर्णन है। वह जंगल में घोर तप कर रहा था जो वर्ण धर्म का उल्लंघन था क्योंकि शूद्र के लिए तप वर्जित है तथा जो उच्च वर्ण के लिए स्वीकृत है। अतः शूद्र मुनि शम्बूक ने व्रत तप को अधर्म समझा जिसके परिणामस्वरूप ब्राह्मण के छोटे शिशु की मृत्यु के रूप में राम के राज्य में विपत्ति आई थी। राजा राम ने अपने रथ में जाकर वर्ण धर्म का पालन नहीं करने के कारण शम्बूक के सिर को काट दिया। ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है जिससे पता चलता है कि साधारण धर्म एवं वर्ण धर्म के बीच संघर्ष के अवसर पर वर्ण धर्म अधिक शक्तिशाली समझा गया है। जब दोनों के बीच किसी प्रकार का संघर्ष नहीं होता तब ही साधारण धर्म शक्तिशाली समझा जाता था। गीता में भी वर्ण धर्म को साधारण धर्म से अधिक प्रभावशाली समझा गया है। कुरुक्षेत्र के युद्ध में अर्जुन को अपने निकट के सम्बन्धियों को मारने में हिचकिचाहट होते हुए भी कृष्ण ने उसको युद्ध करने के लिए प्रेरित किया एवं उसे बताया कि क्षत्रिय होने के नाते युद्ध करना उसका परम कर्त्तव्य है। अतः यह मान लेना उचित है कि साधारण धर्म का प्रभाव सामान्य ही था एवं दोनों के बीच धर्म संकट के समय वर्ण धर्म साधारण धर्म के प्रभाव को वृथा कर देता था।

---

[1] हिन्दुओं का आचार शास्त्र एस० के० मैत्रा द्वारा डॉ० सील के निरीक्षण में लिखित —पृ० ३४।

गीता मे साधारण धर्म की कोई समस्या नही है क्योंकि निवृत्ति एव प्रवृत्ति के समन्वय के कारण साधारण धर्म की पुष्टि की कोई ग्रावश्यक्ता ही नही समझी गई है। स्वार्थ बुद्धि सुखलालसा एव स्वार्थपरता के प्रेरका म अनासक्त होकर निष्काम कर्म करने के उसके उपदेश से उसकी योजना उच्च स्तर पर पहुँच जाती है जिसके फलस्वरूप साधारण नैतिक गुणो के अभ्यास की आवश्यक्ता नही रहती।

गीता के सिद्धान्त के अनुसार अनासक्त होकर कर्म करने वाले व्यक्ति का दोष नही लगता। इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि शुभ एव अशुभ कर्म का आधार वाह्य क्रिया नही है अपितु अन्तरवृत्ति है। यदि सुख अथवा स्वार्थपरता की भावना नही हो तो कर्त्ता के लिए कर्म बधक नही हो सकता। क्योंकि आसक्ति एव अहभाव के कारण ही कर्त्ता का कर्त्तापन का भाव होता है जिसके परिणामस्वरूप वह शुभाशुभ फल भोगता है। इस दृष्टिकोण से नैतिकता आत्मगत (Subjective) समझी जाती है। गीता का विशिष्ट लक्षण यह है कि वह कर्त्ता का कर्म से सब सम्बन्धो का विच्छेद करके वाह्य कर्मों को नैतिकता के प्रभाव से परे ले जाती है। ऐसी परिस्थितियों म शकर द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त अधिक युक्तिसगत प्रतीत होता है जिसके अनुसार वासनाओ एव इच्छाओ से रहित पुरुष (जीवमुक्त) नैतिकता कर्त्तव्य एव उत्तरदायित्व से परे होता है। गीता वस्तुगत निवृत्ति अथवा कर्म निरोध का पोषण नही करती। इसका पूर्ण लक्ष्य आत्मगत निवृत्ति अथवा इच्छानिवृत्ति है। यह किसी को अपने वर्ण धर्म का छोडने की स्वीकृति नही देती। परन्तु लाभ सुख अथवा स्वार्थपरता की कामना से शून्य वर्ण धर्म का पालन कर्त्ता फल के प्रभाव से पूर्णत मुक्त होता है एव स्थित प्रज्ञ होने के कारण कर्म फल से अतीत हो जाता है। यदि अर्जुन ने अपने वर्ण धर्म (क्षात्र धर्म) के पालनार्थ अपने सैकडो स्वजनो से युद्ध किया एव मार डाला फिर भी उसके कर्म हानिप्रद होने पर भी उसके लिए बधक नही हो सके। युद्ध के पश्चात् स्वजनो की हत्या के पाप के प्रायश्चित हेतु युधिष्ठिर ने पश्चाताप दान, तप, तीर्थ यात्रा इत्यादि की जिससे महाभारत मे प्रचलित एक अन्य विचारधारा का पता चलता है कि जब वर्ण धर्म के पालन से मानव हिंसा हुई तो उन कर्मों के पापो का प्रायश्चित उपरोक्त प्रकार के साधनो द्वारा हो सकता था।[1] युधिष्ठिर की यह मान्यता थी कि तप, त्याग एव अवधि (तत्वज्ञान) मे त्याग तप से श्रेयस्कर एव त्याग से अवधि श्रेयस्कर है। अत उनके विचार से सब कर्मों एव उत्तरदायित्वो को छोडकर सन्यासी होना श्रेष्ठतम है। जबकि अर्जुन के अनुसार राजा के लिए राजकीय जीवन मे साधारण उत्तरदायित्व को स्वीकार करना एव उसके

---

[1] महाभारत १२ ७ ३६ और ३७।

साथ साथ उस जीवन के सुखों से अनासक्त रहना श्रेष्ठतम है।[1] अर्जुन के मतानुसार अहिंसा आदि नियम पालन में अति करना अनुचित है। व्यक्ति चाहे वानप्रस्थी हो अथवा संन्यासी हो उसके लिए हिंसा स्वरूपतः त्याग करना असम्भव है। जलपान में, फलाहार में, श्वास क्रिया में एवं उन्मेषण में कई अच्छे सूक्ष्मतम जीवों की हिंसा होती है। अतः अहिंसा इत्यादि सब नियमों का पालन मर्यादित होना चाहिए और उनकी विधि का तात्पर्य यह है कि साधारण स्तर की दृष्टि के अनुरूप ही उनका पालन किया जा सकता है (अर्थात् अति सर्वत्र वर्जयेत्)। अहिंसा एक अच्छा नियम है परन्तु कुछ परिस्थितियों में इस नियम का पालन करने से हिंसा हो जाती है। उदाहरणार्थ यदि एक चीता गौशाला में प्रवेश करे तो उसका न मारने से गो हिंसा होगी। अतः समस्त धार्मिक विधि विधान समाज की सुव्यवस्था एवं लोक संग्रह हेतु बनाए जाते हैं इसलिए उनके कर्मों के फल (अर्थात् लक्ष्य की पूर्ति) को दृष्टि में रखते हुए उनका पालन किया जाना चाहिए। हमारा (हिन्दू धर्म का) मुख्य लक्ष्य समाज को सुव्यवस्थित रखना तथा समाज का कल्याण करना है।[2] अतः यह स्पष्ट है कि जब युधिष्ठिर ने सब कर्म त्याग की बात कही तो उसका वास्तविक तात्पर्य यह था कि मनुष्य का स्वधर्म, वर्ण धर्म एवं आश्रम धर्म अपने कर्त्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों को निभाने के लिए करने चाहिए। गीता निरन्तर इस बात पर जोर देती है कि त्याग का तात्पर्य स्वरूपतः कर्मत्याग नहीं है अपितु कर्मफल त्याग की मनोवृत्ति है।

यद्यपि सुख एवं विषय भोग की वासनाओं से रहित अभ्यासयुक्त जीवन का आवश्यक परिणाम सब दोषनाश तथा मन को उच्च एवं श्रेष्ठ स्थिति में पहुँचाना है तो भी कुछ स्थानों पर गीता में कुछ आचरणों की कटु आलोचनाएँ की गई हैं। उदाहरणार्थ, गीता के सोलहवें अध्याय में आसुरी सम्पदा का वर्णन करते हुए यह कहा गया है कि आसुरी लोग कहते हैं कि यह जगत असत्य है और इसीलिए वे इस जगत को अप्रतिष्ठ भी कहते हैं अर्थात इसकी न प्रतिष्ठा है और न आधार। इस प्रकार की दृष्टि को स्वीकार करके ये अल्पबुद्धि वाले नष्टात्मा और दुष्ट लोग क्रूर कर्म करते हुए जगत का क्षय करने के लिए उत्पन्न हुआ करते हैं। (और) कभी भी

---

[1] अर्जुन ने कहा — अनासक्त आसक्तवद् गच्छन् निःसंगो मुक्तबन्धन
सम शत्रौ च मित्रे च स वै मुक्तो महीपते।
युधिष्ठिर ने कहा — तपस्त्यागोऽवधिरिति निश्चयस्त्वेष धीमताम्
परस्परं ज्यायः एषाम् येषां नैःश्रेयसी मतिः।
—वही, १२, १८.३१ और १२.१९, ६।

[2] लोक यात्रार्थम् एवेदम् धर्मप्रवचनं कृतम्। अहिंसा साधु हिंसेति, श्रेयान् धर्म परिग्रहे नात्यन्त गुणवत् किंचिन्न चापि अत्यन्त निर्गुणम्। उभयं सर्वकार्येषु दृश्यते साध्वसाधु वा। —महाभारत, १२.१५,४९ और ५०।

पूर्ण न होने वाले काम अर्थात् विषयोपभोग की इच्छा का आश्रय करके ये (आसुरी लोग) दम्भ, मान और मद से व्याप्त होकर मोह के कारण झूठ मूठ विश्वास अर्थात् मनमानी कल्पना करके गंदे काम करने के लिए प्रवृत्त रहते हैं। इसी प्रकार आमरणान्त (सुख भोगने की) अगणित चिन्ताओं से ग्रसे हुए कामोपभोग में डूबे हुए और निश्चयपूर्वक उसी को सर्वस्व मानने वाले सैकड़ों आशापाशों से जकड़े हुए काम क्रोध परायण सुख लूटने के लिए अन्याय से बहुत सा अर्थ संचय करने की तृष्णा करते हैं। मैंने आज यह प्राप्त कर लिया, (कल) उस मनोरथ को सिद्ध करूँगा, यह धन (मेरे पास) है और फिर वह भी मेरा होगा। इस शत्रु को मैंने मार लिया एवं औरों को भी मारूँगा, मैं ईश्वर, मैं (ही) भोग करने वाला, मैं सिद्ध बलाढ्य और सुखी हूँ, मैं सम्पन्न और कुलीन हूँ मेरे समान और कौन है? मैं यज्ञ करूँगा दान दूँगा मौज करूँगा। इस प्रकार अज्ञान से मोहित अनेक प्रकार की कल्पनाओं में भूले हुए मोह के फंदे में फँसे हुए और विषयोपभोग में आसक्त (ये आसुरी लोग) अपवित्र नरक में गिरते हैं। आत्म प्रशंसा करने वाले, ऐंठ से बर्तने वाले, धन और मान के मद से संयुक्त ये (आसुरी) लोग दम्भ से शास्त्र विधि छोड़कर केवल नाम के लिए यज्ञ किया करते हैं।[1] अहंकार से, बल से, दर्प से, काम से और क्रोध से फूलकर अपनी और पराई देह में वर्तमान मेरा (परमेश्वर का) द्वेष करने वाले निन्दक और अशुभ कर्म करने वाले (इन) द्वेषी और क्रूर अधम नरों को मैं (इस) संसार की आसुरी अर्थात् पाप योनियों में ही सदैव पटकता रहता हूँ। अहंभाव, काम क्रोध, लोभ, गर्व इत्यादि मुख्य दोषों को छोड़ देना चाहिए। इनमें से काम एवं क्रोध को बार-बार नरक का द्वार बताया गया है।[2]

गीता में दैवी सम्पदा के मुख्य गुण अभय (निडरता), शुद्ध सात्विक वृत्ति ज्ञान योग व्यवस्थिति अर्थात् ज्ञान (मार्ग) और (कर्म) मार्ग की तारतम्य से व्यवस्था, दान दम, यज्ञ, स्वाध्याय अर्थात् स्वधर्म के अनुसार आचरण, तप, सरलता, अहिंसा सत्य अक्रोध, कर्मफल का त्याग, शान्ति, अपैशुन्य अर्थात् क्षुद्र दृष्टि छोड़कर उदार भाव रखना सब भूतों में दया, तृष्णा न रखना, मृदुता (बुरे काम की) लाज, अचपलता अर्थात् व्यर्थ के कामों का छूट जाना, तेजस्विता, धृति क्षमा, शुद्धता, द्रोह न करना अतिमान न रखना, बताए गए हैं। (इनमें से) दैवी सम्पत्ति (परिणाम में) मोक्षदायक और अतिमान, क्रोध निर्दयता एवं अज्ञान हमें बाँधते हैं और पराधीन बनाते हैं।[3] ईश्वर से प्रेम करने वाले मनुष्य को किसी प्राणी को नहीं सताना

---

[1] गीता, १६ ८ १८।

[2] वही, १६ २१।

[3] गीता १६, १ ५।

चाहिए। उनके प्रति मित्रतापूर्ण एवं सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करते हुए भी ममत्व बुद्धि और अहंकार से रहित रहना चाहिए। सुख दुःख में समान रहना चाहिए एवं क्षमाशील होना चाहिए। उसे निश्चय बुद्धि वाला आत्म विनिग्रही तथा संतुष्ट रहना चाहिए। उसे शुद्ध अनासक्त, समभाव स्वार्थ रहित, तथा निर्भय होना चाहिए। वह शत्रु मित्र शीतोष्ण सुख दुःख में मान और अपमान तथा निन्दा स्तुति में समभाव रखता है तथा जो कुछ मिल जाय उसमें संतुष्ट रहता है। उसका चित्त स्थिर है एवं पूर्णरूप से वह अनासक्त रहता है।[1] उपरोक्त गुणों की सूचि की ओर ध्यान देने से ऐसा लगता है कि ये गुण नकारात्मक हैं जैसे अस्वार्थ, अद्वेष्य निरहंकार, अदम्भी, निस्वार्थ निर्द्वंद (अर्थात् सुख दुःख एवं शीतोष्ण) एवं अनासक्त। कुछ स्वीकारात्मक गुणों के अन्तर्गत हृदय की पवित्रता क्षमाशीलता मृदुता सब भूतों के साथ मित्रता, करुणा दक्षता एवं सहानुभूति मुख्यतम प्रतीत होते हैं। मैत्री एवं करुणा नामक शब्द उपनिषदों में न मिलने के कारण यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यह स्वभावतः बौद्ध ग्रंथों से लिए गए हैं।[2] परन्तु गीता में भी केवल एक बार ही इनका प्रयोग ऐसे सामान्य प्रसंग में होने के कारण इन दो गुणों का कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया गया है। उनका तात्पर्य कोई विश्व मैत्री के अथवा सर्वभूत दया के अथवा लोकहितार्थ सहानुभूतिपूर्ण एवं मित्रतापूर्ण तीव्र भाव करने के अथवा प्राणि मात्र के हित में रत रहने के रूप में विशिष्ट प्रकार के ध्यान से नहीं है। उनका तात्पर्य केवल मित्रतापूर्ण मानसिक प्रवृत्ति से है जो मानव मात्र के प्रति अहिंसात्मक सफल व्यवहार का आवश्यक अंग है। गीता क्रियात्मक मित्रता का पोषण नहीं करती अपितु दूसरों को कष्ट न पहुँचाने की प्रवृत्ति के साधन रूप में मित्रता की भावना को प्रोत्साहित करती है। जिस जिस जीवन की गीता प्रशंसा करती है वह जीवन अनासक्त शान्त, तुष्ट, स्थित प्रज्ञ एवं सुख दुःख में अविचल जीवन है। जिन अवगुणों की निन्दा की गई है वे आसक्ति एवं वासनाओं से उत्पन्न होते हैं। उदाहरणार्थ अहंकार, मान दम्भ क्रोध लोभ आदि। कुछ अन्य गुणों की भी प्रशंसा की गई जैसे शौच निष्कपटता दक्षता एवं आर्जवता। इन्द्रिय निग्रह का नकारात्मक गुण एवं मन को सही दिशा में लगाने की शक्ति की उपलब्धि का स्वीकारात्मक प्रारूप भाग गीता की सम्पूर्ण आचार संहिता की आधार शिला है।

समत्वयोग एक महान् आदर्श है जिसे गीता ने पुनः पुनः दोहराया है। इस समत्व (योग) की तीन स्थितियाँ हैं—आत्मगत समत्व अथवा स्थित प्रज्ञता अथवा सुख-दुःख में, निन्दा स्तुति की प्रत्येक परिस्थिति में संतुलन रखना, वस्तुगत समत्व

---

[1] गीता—१२ १३ १९ गीता १३ ८ ११।

[2] 'मैत्र' सिर्फ एक बार मुक्तिकोपनिषद् २ ३४ में प्रयुक्त हुआ है और 'मुक्तिक' संभवतः परवर्ती उपनिषदों में से एक है।

अर्थात् अच्छे बुरे उदासीन मित्र अथवा शत्रु मे निष्पक्ष समदृष्टि रखना इस समत्व स्थिति की अन्तिम अवस्था वह है जब मनुष्य गुणातीत हो जाता है अर्थात् सासारिक वस्तुओ से पूर्णतया अविचलित होता है। गीता मे (२ १५) कहा गया है कि जिस मनुष्य को इन्द्रिय स्पर्श तथा शारीरिक कष्ट किसी भी तरह प्रभावित नहीं करते तथा जो अविचाल्य एव सुख दु ख म सम है वही अमरत्व प्राप्त करता है। २ ३८ म कृष्ण अर्जुन को सुख दु ख लाभ अलाभ जय पराजय को समान समझकर युद्ध करने को कहते हैं क्योकि ऐसा करने मे उसे पाप नही लगेगा। २ ४७ म कृष्ण अर्जुन को कहते हैं कि उसका कर्म करने मे ही अधिकार है उसके फल म नही। कर्मफल को हेतु समझना अथवा अकर्म म सग होना अनुचित है। ६ ४८ म सुख दु ख म समत्व को योग कहा गया है तथा आगे चलकर कहा गया है कि मनुष्य को पराजय में अविचल रहना चाहिए। इसी सिद्धान्त को २ ५५ ५६,५७ म दोहराया गया है एव यह कहा गया है कि सच्चे योगी को सुख से प्रसन्न तथा दु ख से दु खी नही होना चाहिए तथा उसे सर्वत्र अनासक्त रहना चाहिए एव सुख का अभिनन्दन तथा दु ख से द्वेष किए बिना निस्पृह रहना चाहिए। ऐसा व्यक्ति आत्मा म ही रत रहता है और आत्मा मे ही तृप्त रहता है। वह उपलब्धि अथवा अनुपलब्धि मे सम रहता है। विश्व म उसका कोई व्यक्तिगत स्वार्थ नही होता।[1] ऐसे योगी के लिए मिट्टी एवम् कचन, अनुकूल और प्रतिकूल निन्दा और स्तुति मान अपमान एव शत्रु मित्र सब समान होते हैं।[2] ऐसे योगी की दृष्टि म शत्रु मित्र म तथा पुण्यात्मा तथा पापात्मा में कोई भेद नहीं रहता।[3] ऐसा योगी सुख अथवा दु ख म अपनी उपमा देकर दूसरों के सुख के लिए प्रयत्न करता है क्योकि उसके विचार मे प्रत्येक व्यक्ति सुख का अभिनन्दन अथवा दु ख से द्वेष करता है और इसी कारण से वह विद्या और विनय से सम्पन्न ब्राह्मण, गाय, हाथी कुत्ता अथवा चाडाल मे समदर्शी होता है।[4] वह योगी सब भूतों मे ईश्वर का दर्शन करता है और नाशवानो मे अविनाशी एव अमर तत्व का दर्शन करता है। वह योगी जानता है कि उस सम्पूर्ण ब्रह्माड म ईश्वर व्याप्त है इसलिए वह सबके प्रति समदर्शी है वह अपने आत्म तत्व का नाश नही करता एव पर तत्व प्राप्त करता है।[5] विकास की इस चरम अवस्था मे वह त्रिगुणात्मक, ऐन्द्रिक एव भौतिक पदार्थों के परे जाकर जन्म मृत्यु जरा व्याधि से विमुक्त होकर अमरत्व प्राप्त करता है। उसे ज्ञान है कि त्रिगुणात्मक अनात्म पदार्थ अर्थात् प्रपच आत्म स्वरूप म

---

[1] गीता, ३–१७,१८।

[2] गीता, १४–२४ २५।

[3] गीता ६–९।

[4] गीता, अ ६–३१, अ ५–१८।

[5] गीता, १३–२८।

निम्न अथवा बाह्य है और ऐसी अनुभूति के द्वारा वह गुणातीत होकर ब्रह्मभूत हो जाता है।[1]

✓ कामनारहित होकर किए जाने वाले वर्ण धर्म एवं अन्य नित्य कर्मों के अतिरिक्त गीता के अनुसार कई स्थलों पर यज्ञ, दान एवं तप क्रियाओं का ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् भी अनिवार्य समझा गया है अर्थात् उपरोक्त क्रियाएँ त्याज्य नहीं हैं। यह बता देना उचित है कि गीता फल प्राप्ति की इच्छा से अथवा दंभ अथवा दिखावे के लिए किए गए यज्ञों को निन्दनीय समझती है। यज्ञ कर्त्तव्य की भावना से अथवा लोक हितार्थ करने चाहिए क्योंकि यज्ञों के द्वारा ही देवता वर्षा करते हैं और जिसके द्वारा अन्न प्रचुर मात्रा में सम्भव होता है। देवताओं की, ब्राह्मणों की, गुरुओं की एवं ज्ञानियों की पूजा, शौच, निष्कपटता, ब्रह्मचर्य एवं अहिंसा कायिक तप कहलाते हैं। मृदु एवं हितकर सत्य तथा प्रिय वचन एवं स्वाध्याय, वाचिक तप कहलाते हैं। मन प्रसाद, (चित्त को प्रसन्न रखना) सौम्यत्व, मौन, आत्म विनिग्रह तथा चित्त की निष्कपटता मानसिक तप कहलाते हैं। और उच्चतर तप का पालन बिना किसी लाभ अथवा सिद्धि प्राप्ति (कोई अन्य लक्ष्य हेतु) के हेतु किया जाता है।[2] दान शुभ पथ पर कर्त्तव्य की भावना से दिया जाना चाहिए। दान की उपरोक्त व्याख्या महायान में वर्णित बिना किसी प्रकार की रोक के सर्वभूत हितार्थ दिए गए दान की व्याख्या से अधिक संकुचित है। जैसाकि शिक्षा समुच्चय ग्रन्थ में कहा गया है कि बोधि सत्व को शेर एवं अन्य जंगली जानवरों से नहीं डरना चाहिए क्योंकि उसने भूत हितार्थ सर्वस्व त्याग दिया है। उसका यही विचार होना चाहिए कि यदि उसका भक्षण कोई जंगली जानवर कर लेगा तो उसका अर्थ यही होगा कि विश्व हितार्थ दान देने के व्रत की पूर्ति में उसने अपने शरीर का भी दान कर दिया है। बोधिसत्व का सर्व भूत हितार्थ दान देने का व्रत है।[3]

इस प्रकार गीता की मूलभूत शिक्षा बिना इन्द्रिय तृप्ति की इच्छा अथवा बिना स्वार्थ प्रेरणा के वर्ण धर्म का पालन है। तप एवं दान के सामान्य धर्म के पालन का विधान सबके लिए है क्योंकि वे वैशेषिक एवं स्मृति साहित्य के साधारण धर्मों के समकक्ष समझे गए हैं। परन्तु यदि वर्ण धर्म अथवा कुल धर्म का अहिंसा के साधारण धर्म से विरोध हो तो वर्ण धर्म का पालन श्रेष्ठतर है। ऐसा प्रतीत नहीं होता कि किन्हीं अन्य नित्य नैमित्तिक साधारण धर्मों का विरोध स्व धर्म से हो सकता है। क्योंकि उनमें से कई आंतरिक नैतिक विकास के लिए हैं जिनके साथ सम्भवतः किन्हीं

[1] गीता अ० १४—२०, २३,२६।

[2] वही, १६,११ १७।

[3] शिक्षा सामुच्चय अ० १६ पृ० ३४६।

वर्ण धर्मों का विरोध नहीं हो सकता। परन्तु गीता का इस विषय में स्पष्ट आदेश नहीं है। फिर भी यह सोचा जा सकता है कि यदि शूद्र यज्ञ, दान, तप अथवा वेदाध्ययन करने का विचार करे तो गीता का इससे विरोध होगा क्योंकि वह नियत वर्ण धर्म के विपरीत होगा। अतः यद्यपि अहिंसा गीता द्वारा उपदिष्ट विशिष्ट गुण है फिर भी जब एक क्षत्रिय खुले स्वतन्त्र युद्ध में अपने शत्रुओं को मारता है तब वह युद्ध धर्मयुद्ध कहलाता है एवं क्षत्रिय के लिए अपने शत्रुओं को मारना कोई पाप नहीं है। यदि एक व्यक्ति अपने सब कर्मों को ब्रह्मार्पण करके, आसक्तिरहित होकर कर्म करता है तो उसको कर्म बंधन का दोष नहीं लगता, जिस प्रकार कमल जल के अन्दर रहता हुआ भी उससे अछूता रहता है।[1] एक ओर गीता, वर्ण एवं साधारण धर्म के पालन की आवश्यकता बताकर तथा संन्यास, पवित्रता, निष्कपटता, अहिंसा, आत्म-निग्रह, इन्द्रिय निग्रह एवं अनासक्ति आदि गुणों की वृद्धि पर बल देकर एकेश्वरवाद एवं सात्विक दर्शनों से दूर हटती है तो दूसरी ओर वह योग की तरह उग्र यम, नियमों के आत्मानुशासन का अथवा बौद्धों की तरह असीम एवं सार्वजनिक रूप से गुणों के अभ्यास का उपयोग नहीं करती। आत्मनिग्रह, इन्द्रिय निग्रह एवं सामान्य कर्त्तव्यों का पालन करते हुए वासनाओं तथा स्वार्थपरता में अनासक्ति की आवश्यकता पर अत्यधिक बल देते हुए वह मध्यम मार्ग का अनुसरण करती है। इन्द्रिय-सुखों में ऐसी अनासक्ति ज्ञान द्वारा अथवा अधिक आदर से ईश भक्ति द्वारा अधिक सरलता से प्राप्त की जाती है।

कर्म-विश्लेषण

गीता के आचार शास्त्र पर विचार करने के बाद स्वाभाविक रूप से कर्म, संकल्प एवं कर्ता के स्वरूप के विश्लेषण की समस्या पर विचार किया जाता है। हिन्दू-दर्शन में संकल्प का प्रधान विश्लेषण न्याय वैशेषिक ग्रन्थों में पाया जाता है। प्रशस्तपाद ने दैहिक क्रिया को दो वर्गों में विभाजित किया है—प्रथमतः वे सहज क्रियाएं जो जीवन पूर्वक द्वारा स्वतः उत्पन्न होती हैं एवं शरीरधारी के लिए उपकारी होती हैं। द्वितीय, वे चेतन एवं ऐच्छिक क्रियाएँ जो राग द्वेष से अभीष्ट लभ्य अर्थात् सुख की प्राप्ति के लिए तथा दुःख को दूर करने के लिए उत्पन्न होती हैं। प्रभाकर के मत में संकल्पात्मक क्रियाएँ कई तत्वों पर आधारित हैं। प्रथमतः कार्यता ज्ञान जिसका अर्थ भाट्ट चिंतामणि ग्रन्थ में गगभट्ट ने निम्न प्रकार से किया है कि कार्यता ज्ञान केवल सामान्य ज्ञान ही नहीं है जो अमुक कार्य कर्ता द्वारा सम्पन्न हो सकता है परन्तु वह एक विशिष्ट विचार है कि अमुक कार्य उसे करना चाहिए। यह विचार इस

[1] गीता, ५.१०।

भावना से ही उत्पन्न होता है कि अमुक कार्य उसके लिए हितकर है एवं उससे उसे इतनी हानि नहीं है कि वह उस कार्य को टाल दे। द्वितीयतः यह विश्वास भी होना चाहिए कि कर्ता में कृति साध्यता ज्ञान है। इस कृति-साध्यता ज्ञान में विश्वास का परिणाम चिकीर्षा है। प्रभाकर मतावलंबी यहाँ इस महत्वपूर्ण तत्व का कथन नहीं करते कि कर्ता के लिए हितकारक कार्य ही उसका इच्छित कर्म होता है। प्रत्युत वे यह कहते हैं कि कर्म करने की इच्छा तब होती है जब कर्ता कर्म के साथ अपना एकत्व स्थापित कर दे तथा आत्म साक्षात्कार हेतु कर्म करने की इच्छा हो। न्याय के मतानुसार कर्म करने की आवश्यक अवस्था हित साधन का एवं अहित प्रतिकार का विचार है।

गीता के मत में अव्यक्त प्रकृति एवं उससे उत्पन्न गुणों से ही कर्म सम्भव होते हैं। अज्ञान एवं मिथ्याभिमान से ही मनुष्य अपने आपको कर्ता मानता है।[1] एक अन्य स्थल पर यह कहा गया है कि कर्म के पाँच कारण होते हैं—अधिष्ठान कर्ता, करण अर्थात् इन्द्रियाँ पृथक चेष्टाएँ तथा दैव अर्थात् ईश्वर की सर्वोपरि शक्ति।[2] सब कर्म उपरोक्त पाँच तत्वों के समूहीकरण के द्वारा उत्पन्न होते हैं अतः यह सोचना अनुचित होगा कि केवल आत्मा अथवा कर्ता ही कर्म करने वाला है। ऐसा कहा जाता है कि वास्तविक स्थिति ऐसी होने पर भी जो सस्कृत बुद्धि न होने के कारण यह समझे कि मैं ही अकेला कर्ता हूँ (समझना चाहिए कि) वह दुर्गति कुछ भी नहीं जानता।[3] शरीर से, वाणी से अथवा मन से मनुष्य जो जो कर्म करता है—फिर चाहे वह न्याय हो या विपरीत अर्थात् अन्याय उसके उक्त पाँच कारण हैं।[4] गीता के नैतिक शास्त्र का आधारभूत सिद्धान्त वस्तुतः यह है कि मुख्यतया कर्म प्रकृति के विशिष्ट गुणों की क्रियाओं द्वारा सम्भव होते हैं एवं गौण रूप से उक्त पाँच तत्वों के समूहीकरण द्वारा (जिनमें से कर्ता एक कारण है) कर्म सम्भव होते हैं। अतः केवल अहंकार के कारण ही मनुष्य यह सोचता है कि वह अपनी इच्छा द्वारा कर्म में प्रवृत्त होता है अथवा कर्म त्याग करता है। क्योंकि प्रकृति अपने बाद के विकारों द्वारा तथा समूहीकृत कारणों द्वारा स्वतः हमें कर्म में प्रवृत्त करेगी एवं हमारी अनिच्छा होते हुए भी जो कर्म हम नहीं करना चाहते वही कार्य हमें करना पड़ता है। अतः कृष्ण अर्जुन को कहते हैं कि तू अहंकार से जो यह मानता (कहता) है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा

[1] गीता, III ३–२७, XIII १३–२९।

[2] अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्। विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम्॥ —गीता, १८अ १४।

[3] गीता, १८ १६।

[4] गीता, १८ १५।

(सा) तेरा यह निश्चय व्यर्थ है। प्रकृति अर्थात् स्वभाव तुझ से वह युद्ध कराएगा।[1] मनुष्य अपने स्वभावजन्य कर्म से बंधा हुआ होने के कारण वह पराधीन है। अपने संकल्प से विपरीत होने पर भी उससे कर्म करना पड़ता है। प्रकृति अथवा पाँच तत्वों का समूहीकरण हमें कर्म में प्रवृत्त करता है। इस कारण से कोई भी कर्म त्याग नहीं कर सकता। यदि कर्म त्याग असम्भव है एवं मनुष्य को कर्म करना ही पड़ता है तो उचित यही है कि मनुष्य अपने स्वधर्म अर्थात् सहज कर्म का पालन करे। कोई धर्म एवं कर्म पूर्णतया निर्दोष आलोचना से परे नहीं है। अतः कर्म शुद्धि का साधन यही है कि मनुष्य वासनाओं एवं आसक्ति की अशुद्धताओं तथा अपूर्णताओं का मन से मूलोच्छेदन कर दे। यदि समस्त कर्म आवश्यक रूप से पंच समूहीकरण के ही परिणाम हैं तो इस प्रसंग में प्रश्न यह उठता है कि मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र कैसे है? गीता का इस सम्बन्ध में सामान्य मत यह है कि यद्यपि कर्म पंच तत्वों के समावेश से उत्पन्न होता है फिर भी आत्मा उन कर्मों का संचालन कर सकती है। यदि मनुष्य अनन्य भाव से सर्वकर्मफल को ईश्वरार्पण करके अनासक्त होना चाहे तो परम लक्ष्य को प्राप्त करने में ईश्वर उसका सहायक होता है।

मरणोपरान्त जीवन

गीता सम्भवतः प्राचीनतम ग्रन्थ है जिसमें सांसारिक वस्तुओं की नश्वरता एवं असत् के अस्तित्व का असम्भाव्य वर्णित है। गीता के मत में असत् का अस्तित्व नहीं हो सकता एवं सत् का अभाव नहीं हो सकता। आधुनिक समय में हम शक्ति एवं संचय के सिद्धान्त की बात सुनते हैं। शक्ति संचय का सिद्धान्त का स्पष्ट प्रसंग पतंजलि सूत्र ४ ३ पर व्यास भाष्य में मिलता है परन्तु पुंज संचय का सिद्धान्त निश्चित रूप से कहीं भी प्रतिपादित नहीं है। वेदान्त एवं सांख्य दर्शन सत्कार्यवाद के सत्ता मूलक सिद्धान्त पर आधारित है जिसके अनुसार कार्य (उत्पत्ति के पूर्व) कारण में विद्यमान रहता है। वेदान्त के मत में कार्य की स्वतन्त्र अथवा वास्तविक सत्ता नहीं है वह तो केवल प्रतीति मात्र है वास्तविक सत्ता तो केवल कारण की ही है। दूसरी ओर सांख्य के मत में कार्य कारण सत्ता का विकार मात्र है और इस प्रकार असत् नहीं होकर कारण से पृथक् उसकी कोई सत्ता नहीं है। अतः यह कहा जा सकता है कि कारण व्यापार के पूर्व कार्य कारण में निहित रहता है। यह दोनों दर्शन बौद्ध एवं न्याय के असत् कार्यवाद के सिद्धान्त की (अर्थात् कार्य (सत्), असत् से निकलता है) कटु आलोचना करते हैं। सांख्य एवम् वेदान्त दोनों ने अपने सिद्धान्तों को सिद्ध करने का प्रयत्न किया परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों में से किसी एक ने भी यह नहीं

[1] गीता, १८ ५९।

अनुभव किया कि उनके सिद्धान्त शक्ति सचय के आधार भूत सिद्धान्त कारण से परिणाम की ओर जाने वाले वाक्या (a priori) पर आधारित है, तथा जिसके परिणाम से कारण वाले (a posterior) उदाहरण के प्रसग म सिद्ध करना कठिन है। उदाहरणार्थ, साख्य का कहना है कि कार्य कारण मे विद्यमान रहता है, यदि ऐसा नही होता तो विशिष्ट प्रकार के कारणो से (जैसे तिल) ही विशिष्ट काय (जैसे तैल) उत्पन्न होते। विशिष्ट प्रकार के कारणो से ही विशिष्ट प्रकार के कार्य उत्पन्न होते हैं–इस सिद्धान्त से वस्तुत सत्कार्यवाद के सिद्धान्त की सिद्धि नही होती परन्तु उसका पथ यही निकलता है। क्योकि सत्कार्यवाद का सिद्धा त गीता म प्रतिपादित इस कारण से परिणाम की ओर जाने वाले सिद्धा त पर आधारित है कि सद् का अभाव नहीं है एव असत् का अस्तित्व नही है।[1] गीता इस सिद्धान्त को सिद्ध करने का प्रयत्न नही करती परन्तु इसे स्वय सिद्ध सिद्धान्त समझती है जिसका कोई भी निषेध नही कर सकता। साख्य एव वेदान्त की सत्तामूलक स्थिति की तरह गीता इस सिद्धान्त को सामान्य ढग से नियुक्त नही करती। केवल आत्मा के स्वरूप के बारे मे ही इस सिद्धा त की नियुक्ति गीता करती है। गीता के शब्दो मे 'हे अर्जुन, यह (जगत्) जिसने फैलाया अथवा व्याप्त किया है वह (मूल आत्मा स्वरूप ब्रह्म) अविनाशी है। इस अव्यय तत्व का विनाश करने के लिए कोई भी समर्थ नही है। जो शरीर का स्वामी (आत्मा) नित्य अविनाशी और अचिन्त्य है उसे प्राप्त होने वाले ये शरीर नाशवान अर्थात् अनित्य है। अतएव युद्ध कर। शरीर के स्वामी या आत्मा) को जो मारने वाला मानता है या ऐसा समझता है कि वह मारा जाता है, उन दोनो का ही सच्चा ज्ञान नही है (क्योकि) वह (आत्मा) न तो मरता है और न मारा ही जाता है। वह (आत्मा) न तो कभी जन्मता है और न मरता ही है। ऐसा भी नही है कि यह (एक बार) होकर फिर होने का नही। इसे शस्त्र काट नही सकते, इसे आग जला नही सकती, वसे ही इसे पानी गला नहीं सकता और वायु सुखा नहीं सकता। गीता में उपदिष्ट आत्मा का अमरत्व उपनिषदो म से अपरोक्ष रूप से उद्धृत प्रतीत होता है तथा आत्मा का वर्णन करने वाले अशो के पर्याय, व्याख्या प्रत्यय भी उपनिषद् के ही प्रतीत होते हैं। यह सत्तामूलक सिद्धान्त कि सत् की मृत्यु नही हो सकती एव असत्का भाव नही हो सकता उपनिषदो का प्रतिपाद्य विषय नही है। अमरत्व के सिद्धान्त के (पक्ष) मे गीता म इसका प्रतिपादन निश्चित रूप से औपनिषद् दर्शन के आग है।

अर्जुन को युद्ध के लिए तत्पर करने के लिए प्रथम युक्ति कृष्ण ने यह दी की केवल शरीर ही पीडित अथवा नष्ट होता है, अत अर्जुन को कुरुक्षेत्र के युद्ध मे अपने

---

[1] गीता, २ १६ नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत ।

स्वजनो की हत्या का शोक करना उचित नही है। जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रा को छोडकर नए ग्रहण करता है उसी प्रकार देही अर्थात् शरीर का स्वामी पुराने शरीर त्याग कर दूसरे नए शरीर धारण करता है। शरीर हमेशा मरणशील है, एव कौमार, यौवन तथा जरा म भी यह एकसा नहीं रहता। मृत्यु के समय जो परिवतन होता है वह भी एक शरीर की अवस्था है अत जीवन की (उपरोक्त) भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के शरीर परिवतन मे एव मृत्यु के समय म अर्थात् एक शरीर छोडकर दूसरा शरीर ग्रहण करने रूपी अंतिम परिवतन म कोई मौलिक अंतर नही है। हमारे शरीर म नित्य प्रलय होता है अर्थात् वह परिवतनशील है। यद्यपि बाल्यावस्था, कौमारावस्था एव जरावस्था के विभिन्न परिवतन तुलनात्मक दृष्टि से कम मात्रा म परिवर्तित होते हुए प्रतीत होते हैं फिर भी इन परिवतनो से हमे इस तथ्य को मन मे समझ लेना चाहिए कि मृत्यु भी एक वैसा ही शरीर का परिवतन है, अत यह आत्मा को अधीर नही बना सकता जो आवागमन के अवसर पर शरीर के परिवतनो मे स्वय अविकृत रहता है। जो जन्म लेता है उसकी मृत्यु निश्चित है एव जो मरता है उसका जन्म निश्चित है। जन्म म आवश्यक रूप से मृत्यु निहित है एव जो मृत्यु मे आवश्यक रूप से जन्म निहित है (अर्थात् जन्म मृत्यु अपरिहार्य है)। ब्रह्मा से प्राणी मात्र पर्यन्त जन्म मृत्यु एव पुनर्जन्म का चक्कर निरतर चलता ही रहता है। अर्जुन की इस शका का कि पूरा प्रयत्न अथवा सयम न होने के कारण जिसका मन योग से विचल हो जावे वह योगी सिद्धि न पाकर किस गति को पहुँचता है–कृष्ण समाधान करते हैं कि किसी भी शुभ काय का नाश नहीं होता। कल्याणकारक कम करने वाले किसी भी पुरुष की दुर्गति नही होती। योगारूढ पुरुष जब मृत्यु को प्राप्त होता है तब वह (योग भ्रष्ट पुरुष) पवित्र श्रीमान् लोगो के घर म अथवा योगियो के ही कुल मे जन्म पाता है। इस प्रकार प्राप्त हुए जन्म मे वह पूवजन्म के बुद्धि सस्कार पाता है, वह उससे भूय अर्थात् अधिक (योग) सिद्धि पाने का प्रयत्न करता है। अपने पूवज म के इस अभ्यास से ही अपनी इच्छा न रहने पर भी वह (पूर्ण सिद्धि की ओर) खींचा जाता है। प्रयत्न पूवक उद्योग करते करते पापो से शुद्ध होता हुआ योगी अनेक जन्मो के पश्चात् सिद्धि पाकर अत मे उत्तम गति पा लेता है। साधारण तथा प्रत्यक नए जीवन मे मनुष्य का जीवन उसकी मृत्यु के समय की वासनाओं एव भावो पर आधारित रहता है। जो (मनुष्य) अतकाल म (इन्द्रिय निग्रह रूप योग के सामथ्य से) भक्तियुक्त होकर मन को स्थिर करके दोनो भौंहो के बीच मे प्राण को भलीभांति रखकर, कवि अर्थात् सवज्ञ, पुरातन, शास्ता अण्ड से भी छोटे, सबके धाता अर्थात् आधार या कर्ता, अचिंत्यस्वरूप और अधकार से परे सूर्य के समान देदीप्यमान पुरुष का स्मरण करता है वह (मनुष्य) उसी दिव्य परम पुरुष मे जा मिलता है। अव्यक्त से सब व्यक्त निर्मित होते हैं और उसी पूर्वोक्त अव्यक्त में लीन हो जाते हैं एव पुन उसम उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार अव्यक्त के दो प्रकार हैं–वह

अव्यक्त जिससे सब व्यक्त पदार्थ निकलते हैं एवं दूसरा वह 'अपर सनातन अव्यक्त है जो परतत्व है तथा जिससे सब पदार्थ निकलते हैं।'[1] उपनिषदों में वर्णित देवयान, पितृयान, दक्षिणायान और उत्तरायण प्रकाश एवं तम के पथ गीता में भी उपलब्ध है। अग्नि (धुआ) रात्रि, कृष्ण पक्ष, दक्षिणायन के छ महीनों में (जब सूर्य विषुवत् रेखा के दक्षिण में होता है) मरे हुए कर्मयोगी चन्द्र के तेज में अर्थात् लोक में जाकर (पुण्यात्मा) घटने पर लौट आते हैं। परन्तु जगत् की शुक्ल और कृष्ण अर्थात् प्रकाशमय एवं अन्धकारमय दो शाश्वत गतियाँ यानि स्थिर मार्ग हैं। शुक्लपक्ष और उत्तरायण के छ महीनों में (जब सूर्य विषुवत् रेखा के उत्तर में होता है) मरे हुए ब्रह्मवेत्ता लोग ब्रह्म को पाते हैं।[2] इन सिद्धान्तों से कोई महत्वपूर्ण अर्थ नहीं निकाला जा जा सकता। छान्दोग्योपनिषद् में मृतात्माओं के भविष्य पथ के बारे में जो कुछ वर्णित है यह उसी परम्परागत विश्वास का चलन प्रतीत होता है। आगे चलकर गीता में कहा गया है कि जो लोग वेदों के यज्ञ यागादि कर्मों का अनुसरण करते हैं व स्वर्ग में स्वर्गिक आनन्द का उपभोग करते हैं तथा अपने कर्मों के शुभ फलों के उपभोग द्वारा पुण्यक्षीण होने पर पुनः मृत्युलोक में आते हैं। जो सुखोपलब्धि हेतु यज्ञ यागादि करके कामना के पथ को अपनाते हैं उन्हें अवश्य ही स्वर्ग प्राप्ति होगी तथा पुनः इस संसार में लौट आएंगे। वे इस आवागमन के चक्कर से बच नहीं सकते। गीता में (१६-१९) श्रीकृष्ण ने कहा है अशुभ कर्म करने वाले (इन) द्वेषी और क्रूर अधम नरों को मैं (इस) संसार की आसुरी अर्थात् पापयोनियों में ही सदैव पटकता रहता हूँ।'

गीता के उपरोक्त मरणोत्तर जीवन के दृष्टिकोण से यह स्पष्ट है कि यह (गीता) मरणोपरान्त जीवन के बारे में कई परम्परागत स्वीकृत विचारों को सही ढंग से समन्वित किए बिना ही इकट्ठा करती है। प्रथमतः यह ध्यान में रखना होगा कि गीता का कर्म के सिद्धान्त में विश्वास है। गीता के १५.२ एवं ४.६ श्लोकों में कहा गया है कि कर्म के आधार पर ही जगत् का विकास हुआ है। आसक्ति वासना एवं कामना के अस्तित्व के कारण कर्म बंधन होता है। परन्तु कर्म बंधन मनुष्य को कहाँ ले जाता है? ऐसे प्रश्न के उत्तर में गीता का कहना है कि वह (कर्म बंधन) मनुष्य को आवागमन अर्थात् पुनर्जन्म के चक्कर में डालता है। जब मनुष्य वैदिक विधि के अनुसार शुभ फलों की प्राप्ति हेतु कर्म करता है तब वह फल कामना एवं अभीष्ट फलों की प्राप्ति ही कर्म बंधन बन जाती है जो स्वभावतः आगमन का कारण होती है। गीता में निश्चित रूप से उद्घोषित वाक्य कि जो जन्म लेता है उसकी मृत्यु अवश्य है एवं मरे हुए का जन्म अवश्य है—बुद्ध के द्वादश निदान (भव चक्र) के

---

[1] गीता, अ ८-१६,२३।

[2] वही, अ ८-२४,२६।

प्रथम भाग का स्मरण कराता है। 'किसके होने से मृत्यु है? जिसका जन्म है उसकी मृत्यु है। स्मरण रहे कि वैदिक कर्मों के बारे में गीता का दृष्टिकोण केवल सहनशीलता का ही है न कि प्रात्साहन का। वे कामनायुक्त कर्म है अत अन्य वैसे ही कर्मों की तरह उनके साथ कर्म बंधन लगा रहता है एवं ज्योंही इन कर्मों के शुभ फलों का उपभोग किया जाता है, उन कर्त्ताओं का पुनर्जन्म लेकर स्वर्ग से मृत्यु लोक में आना पड़ता है और पुनर्जन्म के लिए किए गए कर्मों का फल भोगना पड़ता है जन्मोपरान्त मृत्यु एवं मृत्यु के अनन्तर आवागमन का सिद्धान्त बौद्ध दर्शन की तरह गीता में भी वर्णित है। परन्तु गीता में वर्णित उक्ति बौद्ध में वर्णित उक्ति से बहुत पहले की जान पड़ती है। क्योंकि बौद्ध दर्शन में वर्णित उक्ति अन्योन्याश्रित चक्र में आपस में गहरे जुड़े हुए कई अन्य निदान चक्रों द्वारा जन्म मृत्यु का वर्णन करती है जिससे गीता पूर्णतया अनभिज्ञ जान पड़ती है। गीता में इस प्रकार के कोई निदान चक्र का प्रसंग नहीं है जो बौद्ध दर्शन में से लिया गया हो। हाँ इसमें यह तो कहा गया है कि आसक्ति पाप का मूल कारण है। परन्तु केवल उपलक्षित अर्थ के द्वारा ही हम जान सकते हैं कि आसक्ति के कारण कर्म बंधन होता है, जिसके फलस्वरूप आवागमन होता है। गीता का मुख्य उद्देश्य कर्म बंधन को तोड़कर आवागमन के चक्कर को रोकना नहीं है अपितु कर्त्तव्य करने के सही नियम का निर्देश करना है। निस्सन्देह यह कभी-कभी कर्म बंधन को तोड़कर परमतत्व की प्राप्ति के बारे में कुछ कहती है। मोक्ष प्राप्ति के बारे में उपदेश करना अथवा इस सांसारिक जीवन के पापों का वर्णन करना गीता का प्रतिपाद्य विषय नहीं है। गीता में नैराश्यवाद को कोई स्थान नहीं है। जन्म मृत्यु के आवश्यक सम्बन्ध को बताने में गीता का हेतु जीवन को विषादमय एवं जीवनोनुपयोगी बताना नहीं है प्रत्युत यह बताना है जन्म मृत्यु की इन सार्वलौकिक घटनाओं में मनुष्य को दुखी होने का एवं निराश होने का कोई कारण नहीं है। निःसंदेह प्रधान सिद्धान्त आसक्ति कर्म, जन्म मृत्यु एवं पुनर्जन्म के हैं। परन्तु बौद्ध सिद्धान्त अधिक जटिल एवं अधिक व्यवस्थित है सम्भवत वह उस समय के बाद का विकास है जब इस विषय पर गीता के विचार ज्ञात थे। बौद्ध दर्शन के अनात्मवाद एवम् शून्यवाद के सिद्धान्त गीता के आत्मा के अमरत्व के सिद्धान्त के ठीक विपरीत है।

परन्तु गीता केवल आवागमन के बारे में ही नहीं अपितु दो पथ अर्थात् छांदोग्य उपनिषद में निर्दिष्ट धूम पथ एवम् ज्योतिपथ के बारे में भी कुछ कहता है।[1] गीता एवं उपनिषद् में वर्णित प्रसंग में केवल यही अन्तर है कि गीता के बजाय उपनिषद् में इसका विस्तृत विवरण मिलता है। परन्तु देवयान एवं पितृयान का सिद्धान्त

[1] छांदोग्य उपनिषद्, ५.१०।

ससार मे आवागमन के सिद्धा त से सगत रूप से मेल नहीं खाता। गीता आवागमन के सिद्धा त को देवयान पितृयान के सिद्धान्त के साथ एव यज्ञ यागादि के धम फल के कारण होने वाले स्वर्गारोहण के सिद्धा त के साथ मिला देती है। इस प्रकार गीता परम्परागत मा य विभिन्न प्रकार के मतो को उन्ह सही तौर से व्यवस्थित किए बिना मिला देती है। कुछ स्थलो से (४ ६ अथवा ६ ४० ४५) मे ऐसा प्रतीत हो सकता है कि कम बधन अपनी क्रिया से स्वतन्त्र रूप मे अपने फल उत्पन्न करते हैं एव कमफल के कारण ही जगत् की व्यवस्था है। परन्तु कुछ अ य भी ऐसे स्थल है (१६ १६) जहाँ यह पता चलता है कि कम स्वत अपना फल उत्पन्न नही करते परन्तु ईश्वर शुभाशुभ जन्म की व्यवस्था करके शुभाशुभ कर्मों का क्रमश पारितोषिक एव दण्ड देने की व्यवस्था करते हैं। गीता मे (५ १५) कहा गया है कि अज्ञान के कारण ही पाप एव पुण्य का विचार होता है। यदि हम सही ढग से विचार करें तो ईश्वर पाप अथवा पुण्य नही करता। यहाँ पुन कर्म के दो विपरीत सिद्धा त मिलते हैं, एक तो वह जिसम कर्म को जीवन की सम्पूर्ण विषमताओ का कारण माना गया है एव दूसरा वह जो शुभ अथवा अशुभ को कोई मूल्य नही देता। दोनो दृष्टिकाणो मे गीता की यथार्थ शिक्षा के अनुरूप सम वय स्थापित करने का तरीका यह है कि पुण्य एव पाप की वस्तुगत सत्यता म गीता का विश्वास नही है। कम स्वय शुभ अथवा अशुभ नही होते। केवल अज्ञान एव मूर्खता के कारण ही कुछ कम शुभ एव अ य अशुभ माने जाते हैं। सिर्फ कामनाओ एव आसक्तियो के कारण ही हमे कर्म अशुभ फल देते है तथा जो हमारे लिए पाप समझे जाते हैं। चूकि कम स्वत भले अथवा बुरे नही हाते, भासित पाप कर्मों का पालन जसे युद्ध क्षेत्र मे अपने स्वजनो की हत्या उस समय पाप नही समझा जाता जब वे कर्तव्य की भावना से किए गए हो। परन्तु वे ही कम पाप समझे जायेंगे यदि वे आसक्ति अथवा कामना-वश किए गए हो। इस दृष्टिकाण से देखने पर गीता का नैतिकता का सिद्धान्त आवश्यक रूप से आत्मगत (Subjective) है। पर तु इस दृष्टि स नैतिक नियम, पाप एव पुण्य आत्मगत समझे जा सकते हैं जो पूर्णतया आत्मगत नही है। क्योकि नैतिकता केवल आत्मगत अ तरात्मा अथवा शुभ एव अशुभ के आत्मगत विचारों पर ही आधारित नही है। वर्ण धम एव परम्परागत नैतिकता के साधारण धम निश्चित रूप से स्थिर है एव उनका उल्लघन किसी को भी नही करना चाहिए। पाप और पुण्य की आत्मगतता पूर्णतया हमारे शुभ एव अशुभ कर्मों पर आधारित है। यदि शास्त्राज्ञा, वर्ण धम एव साधारण धम का पालन करते हुए कम किए जाय तो ऐसे कम परिणाम मे अशुभ होने पर भी अशुभ नही कहलायेंगे।

आवागमन एव स्वर्गारोहण के पथो के अलावा अन्तिम, श्रेष्ठतम एव परम् पथ मोक्ष को बताया गया है जो यज्ञ, दान अथवा तप से प्राप्त सब प्रकार के फलो से परे

है। जो इस परमतत्व का प्राप्त कर लेता है उस ब्रह्मसस्थ का पुनर्जन्म नहीं होता।[1] जीवन की उच्चतम अनुभूति ब्रह्मैक्य है जिससे मनुष्य सब दु खा के परे चला जाता है। गीता मे मोक्ष का अर्थ जरा एव मरण से मुक्ति है। यह मोक्ष ज्ञान चक्षु द्वारा अर्थात् ज्ञान रूप नेत्र द्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के एव आत्मा तथा अनात्मा के भेद को जानकर तथा अपने निकटतम एव प्रियतम ईश्वर का आश्रय लेकर प्राप्त किया जा सकता है।[2] जरा एव मरण से मोक्ष का तात्पर्य आसक्ति एव कामनाओं इत्यादि से प्राप्त कर्म बधन से छुटकारा पाना है। यह स्थिति अध्यात्मज्ञान द्वारा अथवा ईश्वर भक्ति द्वारा स्वत ही नही प्राप्त होती परन्तु मोक्ष दाता ईश्वर उन्हे मोक्ष देता है जो बुद्धिमान सब धर्मों को छोडकर केवल उसी की शरण जाते हैं।[3] परन्तु यह स्थिति चाहे अध्यात्म ज्ञान द्वारा अथवा ईश्वरभक्ति के फलस्वरूप प्राप्त हो, राग से वियुक्त होकर अनासक्तिपूर्वक कर्त्तव्य करने वाले का नैतिक उत्थान अत्यावश्यक है।

ईश्वर एव मनुष्य

ईश्वर के अस्तित्व एव स्वरूप तथा उसका मनुष्य के साथ सम्बन्ध का प्राचीनतम एव अत्यन्त विद्वतापूर्ण निरूपण गीता में पाया जाता है। गीता के ईश्वरवाद का प्रारम्भिक स्रोत पुरुष सूक्त है जिसमे यह कहा गया है कि पुरुष के चतुर्थांश म विश्व भूत ओत प्रोत है तथा इसके त्रिपाद स्वर्गादि लोको मे स्थित है। यह गद्यांश छादोग्य उपनिषद ३ १२ ६ एव मैत्रायणि उपनिषद ६ ४ मे दोहराया गया है जिसमे कहा गया है कि त्रिपाद ब्रह्म ऊर्ध्व मूल स्थित है (ऊर्ध्व मूल त्रिपाद ब्रह्म) इसी बात का वर्णन कुछ सशोधित रूप म कठ उपनिषद ६ १ म भी है जहा पर यह उल्लेख है कि यह जगत् सनातन अश्वत्थ वृक्ष है जिसकी जडें ऊपर है एव शाखाएँ नीचे की ओर हैं (ऊर्ध्व मूलोऽवाक् शाख)। गीता ने इस विषय को उपनिषदो मे से लिया है एव कहा है—'जिस अश्वत्थ वृक्ष का ऐसा वर्णन करते हैं कि जड ऊपर है और शाखाएँ (अनेक) नीचे हैं (जो) अव्यय अर्थात् कभी नाश नही पाता (एव) वेद जिसके पत्ते हैं उसे जिसने जान लिया है वह पुरुष सच्चा (वेदवेत्ता) है।' पुन कहा गया है—नीचे और ऊपर भी उसकी शाखाएँ फली हुई हैं जो (सत्व आदि तीना) गुणो से पली हुई है और जिनसे (शब्द स्पर्श रूप, रस, गन्ध आदि) विषयो के अकुर फूटे हुए हैं एव अन्त मे कर्म का रूप पाने वाली उसकी जडें नीचे मनुष्य लोक मे भी बढती बढती गहरी चली गई है (१५ १) और उसके आगे के ही श्लोक

---

[1] गीता ८ २८। ६ ४१।

[2] गीता, अ ७ २६,१३ ३४।

[3] गीता, १८ ६६।

(१५.२) में कहा गया है—परन्तु इस लोक मे वैसा उसका स्वरूप उपलब्ध नही होता, अथवा अन्त आदि और आधार स्थान भी नही मिलता। अत्यंत गहरी जड़ो वाले इस अश्वत्थ (वृक्ष) को अनासक्ति रूप सुदृढ तलवार से मूलोच्छेद कर फिर उस स्थान को ढूढ निकालना चाहिए जहाँ जाने पर फिर लौटना नही पडता। उपरोक्त तीन श्लोको से यह स्पष्ट है कि गीता ने कठोपनिषद् के अश्वत्थ वृक्ष की उपमा का विस्तृत विवेचन किया है। गीता ईश्वर की इस उपमा को स्वीकार करती है परन्तु यह मानकर कि इन शाखाओ की आगे पत्तियाँ और जडें हैं जो मानव स्वभाव के अकुर है और जो कर्म रूपी ग्रन्थियो से बधे हुए हैं—उसका और अधिक विवेचन करती है। इसका तात्पर्य अश्वत्थ वृक्ष को प्रधान एव गौण दो रूपो मे विभक्त करना हुआ। अश्वत्थ का गौण रूप जो मुख्य अश्वत्थ का परिणाम होते हुए उसी का व्यय फलाय है अर्थात् आवरण है जिसको निर्मूल किए बिना मूल कारण अर्थात् परम् पद को प्राप्त नही कर सकते। इस उपमा मे निहित मुख्य विचार से गीता के ईश्वर का सिद्धान्त अत्यंत स्पष्ट हो जाता है। जो पुरुष सूक्त मे वर्णित मत का विस्तृत विवेचन है। ईश्वर अन्तर्यामी ही नहीं है बल्कि जगत से परे अर्थात बहिर्यामी भी है। ईश्वर का यह अन्तर्यामी स्वरूप जिससे यह जीव भूत बना है माया नही है क्योकि वह (जीव भूत) उसका सनातन अंश है और उसीसे वह उत्पन्न हुआ है। जगत के शुभाशुभ एव नैतिक और अनैतिक भाव ईश्वर से निकले हैं और ईश्वर मे ही हैं। इस चराचर जगत का आधार एव सार ईश्वर ही है एव वे सब उसी के द्वारा धारण किए जाते हैं। ईश्वर का परा रूप जिसकी जडें ऊर्ध्व हैं एव जो इस अपरा प्रकृति का आधार है, वही भेद रहित पर तत्व निर्गुण ब्रह्म है। यद्यपि ब्रह्म को बार-बार परम् धाम परम्निधान, एव परम् तत्व कहा गया है परन्तु फिर भी ईश्वर अपने पुरुषोत्तम रूप मे उससे (ब्रह्म से भिन्न न होते हुए भी) इस अर्थ मे उत्तम है कि वह महत्तत्व होते हुए भी पुरुषोत्तम केवल अंश ही है। विश्व, त्रिगुण पुरुष (जीवभूत), बुद्धि, अहकार इत्यादि का समूह एव ब्रह्म—यह सब ईश्वर के अंश अथवा आभास हैं जिनके काय एव मानसिक सम्बन्ध भिन्न भिन्न हैं। परन्तु ईश्वर अपने पुरुषोत्तम रूप मे उनसे परे है एव उनको धारण करता है। गीता का उपनिषदो से एक बात मे मतभेद है और वह है अवतारवाद अर्थात ईश्वर का मनुष्य के रूप मे जगत मे अवतीर्ण होना। गीता मे (४६, ४७) कहा गया है कि 'जब जब धर्म की ग्लानि एव अधर्म का उत्थान होता है तब मैं स्वय अपना सृजन करता हूँ, मैं अजन्मा अविनाशी एव भूतो का ईश्वर होते हुए भी अपनी ही प्रकृति मे अधिष्ठित होकर मैं अपनी माया से जन्म लिया करता हू। अवतारवाद का यद्यपि दर्शन शास्त्रो मे

[1] पादोऽस्य विश्वा भूतानि
त्रिपाद अस्यामृत दिवि—पुरुष सूक्त।

वर्णन नही है फिर भी यह प्राय सभी धार्मिक दर्शनो एव धर्म की आधार शिला है तथा सम्भवत गीता ही इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाला प्राचीनतम ग्रन्थ है। मनुष्य के रूप मे ईश्वर अर्थात कृष्ण का अर्जुन को जीवन एव आचार दर्शन के उपदेशात्मक सवाद एव अवतारवाद का प्रभाव यह है कि ईश्वर के व्यक्तित्व के बारे म उपदेश मूर्त एव अमूर्त हो जाता है। जैसाकि इस प्रकरण मे दिए हुए विवरण से स्पष्ट होगा कि गीता कोई दर्शनशास्त्र का ग्रन्थ नही है अपितु कृष्ण के रूप मे स्वय ईश्वर द्वारा अपने भक्त अर्जुन को दी गई जीवन एव आचार शास्त्र की व्यावहारिक भूमिका है। गीता म अमूर्त दर्शनशास्त्र मनुष्य के जीवन एव आचार के स्वरूप म अन्तर्दृष्टि का रूप बन जाता है जैसाकि कृष्ण एव अर्जुन के प्रिय सखा भाव के विवरण से स्पष्ट है कि मनुष्य एव ईश्वर के इसी प्रकार के घनिष्ट सम्बन्ध सम्भव हैं। क्योकि गीता का ईश्वर कोई दर्शन शास्त्र का अव्यक्त परम् ब्रह्म नही है परन्तु वह मनुष्य जो ईश्वर बन सकता है तथा उसके हर प्रकार के सम्बन्ध मनुष्य से हो सकते हैं।

ईश्वर के व्यापक रूप जगत के परमतत्त्व रूप एव आधार रूप पर गीता मे बार बार जोर दिया गया है। जैसाकि कृष्ण कहते हैं–'मुझ से परे और कुछ नही है। धागे म पिराये हुए मणियो के समान मुझ म यह सब गुथा हुआ है। जल म रस मैं हू चन्द्र सूर्य की प्रभा मैं हूँ सब पुरुषो का पौरूप मैं हूँ, पृथ्वी मे पुण्य गन्ध अर्थात सुगन्ध एव अग्नि का तेज मैं हूँ बुद्धिमानो की बुद्धि, तेजस्वियो का तेज बलवान लोगो का बल मैं हूँ। (भूतो मे) धर्म के अविरुद्ध अर्थात धर्मानुकूल कामवासना मैं हूँ।[1] आगे चलकर कहा गया है– मैंने अपने अव्यक्त स्वरूप से इस जगत् को फैलाया है अथवा व्याप्त किया है, मुझमे सब भूत है (परन्तु) मैं उनमे नही हूँ। और मुझ में सब भूत नहीं हैं अर्थात् मैं उनसे परे (निर्लेप) हूँ। भूतो को उत्पन्न करने वाला मेरा आत्मा उनका पालन करके भी उनमे नही है।[2] उपरोक्त दोनो श्लोको से ईश्वर एव मनुष्य के इस सम्बन्ध की समस्या–ईश्वर हमारे अन्दर होते हुए भी हमसे परे एव निर्लेप है–का समाधान ईश्वर के तीन स्वरूपो मे हो जाता है, चराचर जगत् के रूप मे (ईश्वर की) व्यक्त अर्थात् अपरा प्रकृति है। ईश्वर के इस व्यापक स्वरूप के प्रसग म यह कहा गया है कि जसे सवगत वायु आकाश मे स्थित है वसे ही सब भूतो का स्थान मेरे (ईश्वर) अन्दर है। प्रत्येक कल्प के अन्त म सारे प्राणी मेरी प्रकृति में लीन हो जाते हैं एव पुन कल्प के आदि म मैं उनका सृजन करता हूँ। मैं अपनी प्रकृति का आश्रय लेकर प्राणियो को उत्पन्न करता हूँ। भूतो का यह समूचा समुदाय प्रकृति के

---

[1] गीता, ■ ७ ७,११।

[2] गीता ६ ३ ५।

श्राधीन रहने से परतन्त्र है।[1] पूर्व भागों में तीन प्रकृतियों का प्रसंग आ चुका है — जीव भूत के रूप में ईश्वर की प्रकृति, ईश्वर का स्वरूप प्रकृति जिससे सम्पूर्ण जीवन प्रकट हुआ है तथा ईश्वर की शक्ति अर्थात् माया के रूप में प्रकृति अर्थात् तीन गुण उत्पन्न हुए हैं। इन प्रकृतियों की क्रिया के सन्दर्भ में सूत्रात्मा एवं जीव भूत ईश्वर में स्थित कहे गए हैं। सर्वातिरिक्त ब्रह्म के रूप में ईश्वर का एक अन्य रूप भी है एवं जहाँ तक इस स्वरूप का सम्बन्ध है, ईश्वर जड़ एवं चेतन जगत् से परे हैं। यद्यपि ईश्वर के एक अंश से ही इस जगत् की उत्पत्ति हुई है फिर भी जगत् का उत्पत्ति कर्ता एवं स्थिति कर्ता होते हुए वह सम्पूर्ण जगत् में अक्षय होकर रहता है। उपरोक्त ईश्वर का अन्य स्वरूप है जो परिपूर्ण एवं पुरुषोत्तम स्वरूप है। विश्व के पिता, माता एवं धाता के रूप में ईश्वर की एकात्मकता तथा उसके विश्वातीत स्वरूप को गीता में पृथक नहीं किया गया है। दोनों स्वरूपों का वर्णन एक ही श्लोक में किया गया है। श्रीकृष्ण कहते हैं— इस जगत का पिता, माता धाता (आधार), पितामह मैं हूँ मैं ही पवित्र ओंकार हूँ ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद भी मैं हूँ। श्रौत यज्ञ मैं हूँ, घृत अग्नि और (अग्नि में छोड़ी हुई) आहुति मैं ही हूँ। सबकी (गति) पोषक, प्रभु, साक्षी निवास शरण, सखा उत्पत्ति प्रलय स्थिति, निधान और अव्यय बीज मैं हूँ। मैं उष्णता देता हूँ मैं पानी को रोकता हूँ और बरसाता हूँ, मैं नाश करता हूँ और उत्पन्न करता हूँ अमृत और मृत्यु तथा सत् और असत भी मैं हूँ।[2] ईश्वर के विश्वातीत स्वरूप के सम्बन्ध में कहा गया है— उसे न तो सूर्य न चन्द्रमा (और) न अग्नि ही प्रकाशित करते हैं। वह मेरा परम् स्थान है जहाँ आकर फिर लौटना नहीं पड़ता।[3] पुनः इसके आगे ही कहा गया है—जीव लोक में मेरा ही सनातन अंश जीव भूत होकर प्रकृति में रहने वाली मन सहित छः अर्थात मन और पाँच (सूक्ष्म) इन्द्रियों को (अपनी ओर) खींच लेता है। ईश्वर अर्थात जीव जब (स्थूल) शरीर पाता है और जब वह (स्थूल) शरीर से निकल जाता है तब यह जीव इन्हें (मन और पाँच इन्द्रियों को) वैसे ही साथ ले जाता है जैसेकि (पुष्प आदि) आश्रय से गन्ध को वायु ले जाती है।[4] तदनन्तर ईश्वर को जगत की सब क्रियाओं का अधिष्ठाता कहा गया है। उदाहरणार्थ मैं अपने तेज से सम्पूर्ण जगत एवं भूतों को धारण करता हूँ और रसात्मक सोम (चन्द्रमा) होकर सब औषधियों का अर्थात वनस्पतियों का पोषण करता हूँ। मैं वैश्वानर रूप अग्नि होकर प्राणियों की देहों

---

[1] गीता, ६ ६ ८।

[2] गीता ९ १६ १९ २४।

[3] गीता, १५ ६।

[4] गीता, १५, ७ ८ यह अनोखी बात है कि यहाँ जीव के रूप में 'ईश्वर' का प्रयोग किया है।

मे रहता हूँ तथा प्राण एव अपान से युक्त होकर (भक्ष्य, चोष्य, लेह्य एव पेय) चार प्रकार के अन्न को पचाता हू। जो तेज सूर्य, च द्र एव अग्नि मे है वह मेरा ही है।' 'पुन कहा गया है'—मैं सबके हृदय म अधीष्ठित हू। ज्ञान विस्मृति एव स्मृति मेरे अन्दर ही समाए हुए हैं। वेदो के द्वारा जानने योग्य म ही हू। वेदात का कर्ता और वेद जानने वाला भी मैं ही हूँ।'[1] उपरोक्त उदाहरणो से यह स्पष्ट है कि गीता के मत म सर्वेश्वरवाद, ईश्वरवाद एव देवत्ववाद एक ही युक्ति-सगत दार्शनिक सिद्धान्त मे सयुक्त किए जा सकते हैं। ऐसे विरोधी मतो के समूहीकरण के विषय मे आपत्ति करने वालो को गीता कोई उत्तर देन का प्रयत्न नही करती। गीता केवल इसी बात पर जोर नही देती कि सम्पूर्ण जगत् ईश्वर ही है अपितु यह बार-बार दोहराती है कि ईश्वर जगत् से परे है और साथ ही साथ जगत म व्याप्त भी है। ईश्वर के स्वरूप के बारे म प्रचलित विभिन्न मतो का उत्तर जो गीता में निहित है वह यह है कि ईश्वर के पुरुषोत्तम स्वरूप का विवेचक (पूर्णता में विश्वातीतवाद, सर्वेश्वरवाद) अपने पृथक और विरोधी लक्षणो का खो देते हैं। कभी कभी एक ही श्लोक मे, और कभी कभी उसी प्रसग के दूसरे श्लोको म गीता सर्वेश्वरवादी एव ईश्वरवादी विचार प्रस्तुत करती है परतु यह इसी बात का सूचक है कि ईश्वर के जगत् के स्थिति कर्ता एव अधिष्ठाता के रूप मे, जगत के परमतत्व तथा जीव भूत के रूप मे एव जगत् क आधार स्वरूप अधिष्ठान के रूप मे परस्पर विरोध नहीं है। इस बात की पुष्टि करने हेतु कि जितने भाव हैं अथवा जितन भाव सम्भव हैं एव जो भी शुभ और अशुभ वस्तुओं म विभूतियें हैं वे सब ईश्वर की ही विभूतियें हैं, गीता निरतर इसी बात का उल्लेख करती रही है कि वस्तुओ के उच्चतम श्रेष्ठतम अथवा कनिष्ठतम भाव भी ईश्वर स ही हैं अथवा ईश्वर की ही विभूतियें हैं। उदाहरणार्थ यह कहा गया है—मैं छलिया मे द्यूत हूँ (विजयशाली पुरुषो का) विजय, तेजस्विया का तेज, एव सत्व शीलो का सत्व मैं हूँ।' तथा इस प्रकार की कई विभूतियें बताने के पश्चात कृष्ण कहते हैं कि कहीं भी जो वस्तु वैभव लक्ष्मी या प्रभाव से युक्त है उनको ईश्वर के तेज के अश से ही उपजी हुई समझी जानी चाहिए।[2] ईश्वर के अन्दर ही नानारूपात्मक जगत के समाए जाने के सिद्धात का (अर्थात यथा पिंडे तथा ब्रह्माडे के सिद्धात को) कृष्ण ने अर्जुन को दिव्य चक्षु देकर तथा अपने विराट स्वरूप को प्रत्यक्ष दिखाकर समझाया है। अर्जुन कृष्ण को उनके कातिमय स्वरूप म देखता है। वह स्वरूप हजार सूर्यों की प्रभा एक साथ हो, ऐसी कान्ति के समान अनेक मुख, नेत्र एव अलकार युक्त आकाश एव पृथ्वी को व्याप्त किए हुए है। उस अनादि एव अनत विराट पुरुष के मुख म कुरुक्षेत्र के सब महान योद्धा

---

[1] गीता अ १५ ८,१२ १३ १४,१५।

[2] गीता—१०, ३६ ४१।

इस प्रकार घुस रहे है जैसे नदियो के बडे बडे प्रवाह समुद्र की ओर चल जाते हैं। कृष्ण अर्जुन]को अपना विश्वरूप दिखाने के पश्चात् कहते है– मैं लोको का क्षय करने वाला और बढा हुआ काल हूँ। यहाँ लोको का सहार करने म व्यस्त हूँ। कुरुक्षेत्र के इस महान् युद्ध मे मरने वालो को मैंने पहले से ही मार डाला है। इस कुरुक्षेत्र के इस महाभारत के विनाश मे तू निमित्र मात्र होजा। अत तू युद्ध कर, अपने शत्रुओ का नाश कर, यश प्राप्त कर, तथा बिना इस यश के कि तुमने अपने स्वजनो की हत्या कर डाली है–पृथ्वी का सार्वभौम राज्य कर।

गीता का ईश्वर के बारे मे यह दृष्टिकोण प्रतीत होता है कि अन्ततोगत्वा शुभा शुभ के लिए किसी का उत्तरदायित्व नही है अपितु शुभ एव अशुभ, ऊँच एव नीच बडे और छोटे सब ईश्वर से ही उत्पन्न हुए हैं तथा वही उनका धाता है। जब मनुष्य अपनी आत्मा के स्वरूप, यथार्थता तथा कर्तृत्व को एव ईश्वर को विश्वातीत एव विश्वजनीन प्रकृति तथा सासारिक वासनाओ म बन्धन के हेतु आसक्ति के तीन गुणो का ज्ञान लेता है तब वह तत्त्वदर्शी कहलाता है। ज्ञानयोग एव कर्मयोग पृथक नही है क्योकि यथार्थ ज्ञान कर्म योग की पुष्टि करता है तथा उससे पुष्ट होता है। अर्थात् दोनो सम अन्यो याश्रित है। ज्ञानयोग की प्रशसा गीता के कई श्लोको मे की गई है। उदाहरणार्थ कहा गया है कि जैसे अग्नि समिधा को जला देती है ठीक उसी प्रकार ज्ञानाग्नि कर्मों को भस्म कर देती है। ज्ञान के सदृश कोई पवित्र वस्तु नही है। ईश्वर म श्रद्धा रखने वाले एव सयतेन्द्रिय को ज्ञान की उपलब्धि होती है एव उसे प्राप्त करने के पश्चात् वह परम् शान्ति प्राप्त करता है। अज्ञ, अश्रद्धावान् एव सशयात्मा का नाश हो जाता है। सशयग्रस्त को न यह लोक है न परलोक एव सुख भी नही है। सब पापियो से यदि अधिक पाप करने वाला हो तो भी (उस) ज्ञान नौका से सब पापो के समुद्र का पार कर सकता है।[1] गीता मे (४–४२) कृष्ण अर्जुन को कहते है इसलिए अपने हृदय मे अज्ञान से उत्पन्न हुई सशय को ज्ञानरूपी तलवार से काटकर योग को आश्रय कर। (और) हे भारत! (युद्ध के लिए) खडा हो।' परन्तु यह ज्ञान क्या है? गीता म (४ ३५) उसी प्रसग मे ज्ञान का स्वरूप वर्णन करते हुए कहा गया है कि उस ज्ञान योग से (मनुष्य) समस्त प्राणियो को अपने मे अथवा ईश्वर मे देखता है। ईश्वर का यथार्थ ज्ञान सब कर्मों को इस अर्थ मे भस्म कर देता है कि जिसने ईश्वरानुभूति सब प्राणियो म कर ली है वह निर्बुद्धि की तरह आसक्ति एव वासनाओ के वशीभूत नही होता। एक अन्य श्लोक कहा जा चुका है कि सासारिक अश्वत्थ वृक्ष को अधोमूल (वासनाओ के रूप मे) असग शस्त्र से काटी जानी चाहिए। गीता मे (३ १ एव २) कर्म एव ज्ञान की श्रेष्ठता के बारे म अर्जुन

---

[1] गीता ४–३७–४१।

की शका पूर्णतया निराधार है। गीता म (३-३) कृष्ण ने ज्ञानयोग और कर्मयोग इन दो निष्ठाओं का उल्लेख किया है। इस शका का मूल यह था कि कृष्ण ने आत्मा के अमरत्व तथा सकाम वर्णिक कर्मों की अवाछनीयता के बारे म एव अर्जुन को अनासक्त रहकर युद्ध करने के लिए तथा क्षत्रि धर्म का पालन करने का कहा था। गीता का उद्देश्य ज्ञानयोग एव कर्मयोग म समन्वय लाकर यह बताने का था कि ज्ञान योग के द्वारा आसक्ति बन्धन की मुक्ति प्राप्ति तथा उससे कर्मयोग की उपलब्धि होती है। क्योंकि अज्ञान ही सब प्रकार की आसक्ति का मूल कारण है। अज्ञान यथार्थ ज्ञान द्वारा दूर होता है। परन्तु ईश्वर के बारे म यथार्थ ज्ञान के दो स्वरूप हैं-विभु एव प्रभु अर्थात् ब्रह्म एव ईश्वर। एक तो ईश्वर का ज्ञान समस्त प्रतीति एव दृश्य जगत् के अन्त एव चरम सत्ता के रूप म निर्गुण ब्रह्म के रूप मे किया जाता है। ईश्वर की पुरुषोत्तम स्वरूप म घनिष्ठता सखाभाव, एव दास्य भाव से आराधना करने का एक अन्य मार्ग अर्थात् भक्ति मार्ग भी है। गीता के विचार म उपरोक्त दोनो मार्गों का अनुसरण करने मे हम परम् तत्व की उपलब्धि हो सकती है। परन्तु गीता ने सगुण ईश्वर की उपासना का सहज तथा श्रेष्ठतर माना है। गीता म (१२-३-४) कहा गया है कि जो अनिर्देश्य अर्थात् प्रत्यक्ष न दिखलाये जाने वाले अव्यक्त सर्वव्यापी, अचिन्त्य और कूटस्थ अर्थात् सबके मूल मे रहने वाले अचल और नित्य अक्षर अर्थात् ब्रह्म की उपासना सब इन्द्रियों को रोककर सर्वत्र सम बुद्धि रखते हुए करते है वे सब भूतो के हित मे निमग्न (लोग भी) ईश्वर को ही पाते हैं। उनका चित्त अव्यक्त म आसक्त रहने के कारण उपासना का मार्ग कष्ट से सिद्ध होता है। परन्तु जो सब कर्मों को ईश्वरार्पण करके उसके परायण होकर अनन्य योग से उसका ध्यान कर उसे भजते हैं उनका इस मृत्युमय ससार सागर मे बिना विलम्ब के उद्धार कर देता है।[1]

गीता और उपनिषदो म सबसे महत्वपूर्ण अतर यह है कि गीता के अनुसार पर तत्व की प्राप्ति का उत्कृष्ट साधन सर्वकर्मसमर्पण प्रियतम एव निकटतम भाव से उसकी अनन्य भक्ति तथा योगारूढ होना है। गीता ने उपनिषदो म से कई सिद्धान्त आदरपूर्वक लिए है। इसने अव्यक्त ब्रह्म को ईश्वर का तत्व माना है और यह भी स्वीकार किया है कि अव्यक्त ब्रह्म का आदर्श मानकर उसकी उपासना करने वाले भी परम् गति को प्राप्त करते हैं। परन्तु यह तो केवल समझौता मात्र है क्योंकि गीता का विशेष बल इस बात पर है कि हम ईश्वर को सगुण समझकर उसके साथ व्यक्तिगत सबध स्थापित करने चाहिए। ईश्वर साहचर्य अर्थात् भक्ति योग का प्रारम्भ सब कर्मफल ईश्वरार्पण, सर्वभूतमैत्री एव करुणा, यतात्मा सुख दुख म सम सतुष्ट एव पूर्ण समत्व योग एव स्थितप्रज्ञ की अवस्था द्वारा होता है। उपरोक्त

[1] गीता, १२-६-७।

साधना के फलस्वरूप नैतिक उत्थान द्वारा मनुष्य अपना चित्त ईश्वर मे स्थिर करने एव समाधिस्थ करने मे समथ होता है। गीता में ईश्वर रूप म कृष्ण अर्जुन को सब धर्मों को (अर्थात् सब कम काड विधिनिषेध यज्ञयागादि) त्याग कर ईश्वर के ही शरण मे जाने का आदेश दत हैं। साथ ही साथ वह यह भी घोषणा करते हैं कि उनकी शरण मे जाने से वह मुक्ति प्राप्त कर लेगा।[1] आगे चलकर यह कहा गया है कि भक्ति के द्वारा ही मनुष्य जान सकता है कि 'ईश्वर क्या है और कितना है' अर्थात् उसकी प्रभुता एव विभुता क्या है? तदन तर वह उसी मे प्रवेश करता है। ईश्वर की ही सब भाव से शरण मे जाने स मनुष्य को शाश्वत स्थान की प्राप्ति हो जाती है।[2]

परन्तु यद्यपि ईश्वर म चित्त का स्थिर करने की उच्च स्थिति का प्राप्त करने के लिए मनुष्य को प्रथमत विषय वासनाओं के बन्धन से मुक्त होने की क्षमता प्राप्त करनी चाहिए तो भी कभी कभी स्थिति उलटी भी की जा सकती है। गीता की मान्यता है कि जो ईश्वर म मन जमा कर तथा प्राणो को लगाकर परस्पर बोध करते हुए ईश्वर की कथा कहते हुए (उसी म) सदा सन्तुष्ट और रममाण रहते हुए सदव युक्त होकर उसे प्रीतिपूवक भजते हैं, उनका वह बुद्धियोग देते हैं जिसके द्वारा वे उसे पा लें तथा उन पर अनुग्रह करने के लिए ही वह उनके आत्मभाव अर्थात् अन्त करण म पैठकर तेजस्वी ज्ञान दीप से (उनके) अज्ञान मूलक अन्धकार का नाश करता है।[3] गीता म (१८-५७-५८) कृष्ण ने ईश्वर के रूप म अर्जुन को मन से सब कर्मों को ईश्वर मे 'सन्यस्त' अर्थात् समर्पित करके उसके परायण होता हुआ बुद्धियोग के आश्रय से हमेशा उसी मे चित्त रखने को कहते है। उसम चित्त रखने पर वह ईश्वर के अनुग्रह स सार सकटो को अर्थात् शुभाशुभ फलो को पार कर जावेगा। आग चलकर कहा गया है कि मनुष्य चाहे बडा दुराचारी ही क्यो न हो यदि वह ईश्वर को अनन्य भाव से भजता है तो उसे बडा साधु ही समझना चाहिए क्याकि उसकी बुद्धि का निश्चय अच्छा रहता है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और नित्य शांति पाता है। ईश्वर का आश्रय करके स्त्रियाँ, वैश्य और शुद्र अथवा अन्त्यज आदि पापयोनि के लोग भी परम गति पाते हैं। भगवान् श्री कृष्ण अर्जुन को यह विश्वास दिलाते हैं कि ईश्वर के भक्त का कभी भी नाश नही होता।[4] यदि मनुष्य का ईश्वर म लगाव हो तो चाहे वह उसे सही प्रकार से समझा भी क्या न हो, चाहे उसने उसे प्राप्त करने हतु सही रास्ते को भी क्या न अपनाया हो फिर भी ईश्वर अपनी ओर

[1] गीता, १८-६६।
[2] गीता, १८-५५-६२।
[3] गीता, १० ९-११।
[4] गीता ९, ३०-३२।

आने के किसी भी पथ को स्वीकार करता है। कोई भी पथ व्यर्थ नहीं जाता। चाहे किसी भी ओर से हो, मनुष्य ईश्वर के ही मार्ग में आ मिलते हैं।[1] यदि मनुष्य अपनी अपनी प्रकृति के नियमानुसार, भिन्न भिन्न वासनाओं से प्रेरित होकर दूसरे देवताओं को भजता रहता है, वह जिस रूप को अर्थात् देवता की श्रद्धा से उपासना करना चाहता है उसकी उसी श्रद्धा को ईश्वर स्थिर कर देता है। फिर उस श्रद्धा से युक्त होकर वह उस देवता की आराधना करने लगता है एवं उसको ईश्वर द्वारा निर्मित फल मिलते हैं।[1] ईश्वर सबका स्वामी एवं मित्र है। महान् आत्मा वाला व्यक्ति ही चित्त को पूर्णतया स्थिर करके ईश्वर की पूजा करता है एवं अटल भक्ति के साथ ईश्वर का नाम संकीर्तन करता है तथा सर्वत्र ईश्वरस्थ रहता हुआ उसकी भक्ति के साथ पूजा करता है। जो अविच्छेद्य आसक्ति द्वारा सदैव ईश्वर का चिन्तन करते हैं, वह उन्हें सुलभ है।[2] आगे चलकर (७–१६,१७) कहा गया है कि चार प्रकार के लोग ईश्वर को भजते हैं–जिज्ञासु, आर्त, अर्थार्थी एवं ज्ञानी। इनमें एक भक्ति अर्थात् अनन्य भाव से ईश्वर की भक्ति करने वाले और सदैव युक्त यानि निष्काम बुद्धि से वर्तन वाले ज्ञानी की योग्यता विशेष है। ज्ञानी को ईश्वर अत्यन्त प्रिय है और ईश्वर को ज्ञानी अत्यन्त प्रिय है। इस श्लोक में यह कहा गया है कि नित्य युक्त एवं एक भक्ति में रहने का अभ्यास ही यथार्थ ज्ञान है। गीता में भक्ति मार्ग को श्रेष्ठतम बताया गया है। क्योंकि गीता के मत में चाहे कोई मनुष्य आत्मोत्सर्ग के पथ में अग्रसर एवं राग द्वेष से वियुक्त होकर स्थित प्रज्ञ होने में असमर्थ ही क्यों न हो फिर भी वह शरणागति एवं निश्चल भक्ति द्वारा उनके अनुग्रह को प्राप्त कर सकता है एवं उसकी कृपा से ही यथार्थ ज्ञान एवं नैतिक उत्थान को आसानी से प्राप्त कर लेता है जो अन्य लोग अत्यन्त कठिनाई से प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार गीता में पहली बार ज्ञान मार्ग एवं उपनिषद् ज्ञान तथा योग (कर्मयोग) के साथ साथ स्वतन्त्र रूप से भक्ति-मार्ग का प्रतिपादन किया गया है। वस्तुतः किसी भी प्रकार की यथार्थ स्वानुभूति के पहले नैतिक उत्थान, आत्मनिग्रह आदि अत्यन्त आवश्यक हैं परन्तु भक्ति-मार्ग की श्रेष्ठता इसी में है कि साधक को आत्मनिग्रह एवं त्यागपूर्वक स्वानुशासन के पक्ष में

उत्तरोत्तर उच्च स्थिति की ओर अग्रसर होते हैं। पृथ्वी पर ईश्वर के अवतार कृष्ण के साथ अर्जुन ने अपने मित्र का सा बर्ताव किया एवं भगवान् कृष्ण ने केवल उसकी (कृष्ण की) ही शरण में जाने को कहा तथा यह विश्वास भी दिलाया कि वह उसे मुक्ति प्रदान करेंगे। सब कुछ छोड़कर केवल उन्हें ही एकमात्र आश्रय समझने तथा उनकी ही शरण में जाने का आह्वान कहा। भक्ति के सिद्धान्त की विशद व्याख्या करने वाले तथा भक्ति का आत्मोत्थान एवं स्वानुभूति का प्रधान मार्ग बताने वाले भागवत् पुराण तथा वैष्णव विचारधारा के अर्वाचीन सिद्धान्तों में वर्णित मुख्य सिद्धान्त को गीता प्रस्तुत करती है।

गीता के भक्ति मार्ग के सिद्धान्त का एक अन्य महत्त्वपूर्ण लक्ष्य यह है कि एक ओर तो भक्त ईश्वर के स्वरूप को इस सम्पूर्ण चराचर जगत् का धाता एवं अधिष्ठान के रूप में देखता है दूसरी ओर ईश्वर के विश्वातीत व्यक्तित्व में आध्यात्मिक महत्ता की चरमावस्था एवं सम्पूर्ण आपेक्षिक भेदों के, ऊंच नीच के तथा शुभाशुभ के समन्वय के रूप में ही नहीं अपितु आराध्य सगुण महान् देव के रूप में देखा जाता है जिसकी पूजा मानसिक एवं आध्यात्मिक रीति से ही नहीं बल्कि बाह्य रीति से भी भक्त पत्रों एवं पुष्पों के पवित्र समर्पण अथवा भेंट द्वारा करते हैं। विश्वातीत ईश्वर विश्व के अन्दर ही व्याप्त नहीं अपितु आभा से देदीप्यमान महान् देव के रूप में अथवा ईश्वर के अवतार कृष्ण के सगुण रूप में भक्त के समक्ष उपस्थित है। गीता ईश्वर के विभिन्न सिद्धान्तों को उनमें निहित विरोधी अथवा पारस्परिक विरोधों में समन्वय की आवश्यकता का अनुभव किए बिना ही आपस में मिला देती है। ईश्वर के अव्यक्त एवं भेद रहित स्वरूप को उसके मानव रूप में पृथ्वी पर अवतरित होने वाले तथा उसी प्रकार से व्यवहार करने वाले उसके पुरुषोत्तम स्वरूप से मिलाने की कठिनाई से गीता अनभिज्ञ प्रतीत होती है। गीता को इस कठिनाई का पता नहीं है कि यदि ईश्वर से ही सब शुभाशुभ उत्पन्न हुए हैं एवं किसी का नैतिक उत्तरदायित्व नहीं है, तथा जगत् में प्रत्येक वस्तु का समान रूप से ईश्वर में स्थान है तो वैदिक धर्म की ग्लानि होने पर ईश्वर का मानव रूप में पृथ्वी पर अवतरित होने का कोई कारण नहीं है। यदि ईश्वर सबके प्रति निष्पक्ष एवं पूर्णतया अक्षोभ्य है तो किस कारण से वह अपने शरणागत का पक्ष करता है एवं क्यों उसके लिए कर्मवाद को तोड़कर जगत के घटना क्रम का अतिक्रमण करता है। केवल निरन्तर प्रयत्न एवं अभ्यास से कर्म बन्धन कट सकते हैं। बिना किसी प्रकार के प्रयत्न करने पर भी उस दुष्ट मनुष्य के लिए ईश्वर की शरण में जाकर अपने कर्म एवं आसक्ति के बन्धन तोड़ने में इतनी आसानी क्यों होनी चाहिए? गीता में ईश्वर के जटिल पुरुषोत्तम स्वरूप के विषम भागों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया गया है। किस प्रकार जगत का अधिष्ठान, अव्यक्त ब्रह्म प्रकृति गुणों के उत्पादक एवं जीवों के रूप में संयुक्त व्यक्तित्व बनने हेतु एक साथ युक्त एवं विलीन किए जा सकते है। यदि अव्यक्त प्रकृति ईश्वर

का परम धाम है तो इस परमतत्व का स्वरूप नहीं माने जाने वाले सगुण ईश्वर का किस प्रकार विश्वतीत कहा जा सकता है। सगुण ईश्वर एवं जीव तथा गुणों की उसकी भिन्न प्रकृति में किस प्रकार से सम्बन्ध स्थापित हो सकता है। शांकर दर्शन में ब्रह्मन् को सत्य तथा ईश्वर एवं नानात्व को भ्रम के सिद्धान्त माया में प्रतिबिम्बित ब्रह्मन् के विचार से उत्पन्न असत्य और भ्रमात्मक मानकर ब्रह्म एवं ईश्वर एक और अनेक को एक ही योजना में आपस में मिला दिया गया है। परन्तु चाहे शंकराचार्य गीता पर भाष्य कैसा ही क्या न लिखें यह नहीं कहा जा सकता कि गीता में किंचित मात्र भी ईश्वर अथवा जगत को भ्रमात्मक माना गया है अथवा नहीं। उपनिषदों में भी कभी-कभी ब्रह्म अथवा ईश्वर विचार के साथ साथ मिलते हैं। गीता में ईश्वर को भ्रमात्मक नहीं समझकर उसे परमतत्व समझा गया है। इस प्रकार पर तत्व के विभाग-द्वा अव्यक्त प्रकृति जीव एवं उनमें व्याप्त तथा अतीत ईश्वर के पुरुषोत्तम स्वरूप से बच निकलने का मार्ग नहीं है। ब्रह्म जीव जगत का उत्पादक अव्यक्त तत्व एवं त्रिगुण उपनिषदों के असबंधित स्थलों में पाए जाते हैं। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि गीता में उपरोक्त सब तत्व एक साथ ईश्वर के तत्व माने गए हैं एवं जो उसके पुरुषोत्तम स्वरूप में धारण भी किए जाते हैं जिसमें वह उन्हें नियन्त्रित करता है तथा उनसे पर चला जाता है। उपनिषदों में भक्ति का सिद्धान्त नहीं मिलता यद्यपि यत्र तत्र कुछ अस्पष्ट संकेत अवश्य दिखाई देते हैं। उपनिषदों में ईश्वर का प्रसंग उसे अन्तर्यामी एवं संसार के धाता के रूप में उसकी महान् विभूति, शक्ति एवं दिव्यत्व बताने के लिए है। परन्तु गीता में गहरे व्यक्तिगत सम्बन्ध की अध्यात्म चेतना वाले जिस ईश्वर का वर्णन है वह ईश्वर केवल विभूतिमान पुरुषोत्तम ही नहीं बल्कि मित्र के रूप में जो मानव हित हेतु अवतरित होता है, उसके सुख दुःख का साथी है एवं जिसका आश्रय संकट के समय मनुष्य ले सकता है और लौकिक वस्तुओं की प्राप्ति के लिए भी जिसकी प्रार्थना की जा सकती है। वह महान् गुरु है जिसके साथ ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करने के लिए सम्बन्ध स्थापित किए जा सकते हैं। परन्तु वह इससे भी अधिक है। वह प्रिया में प्रियतम एवं निकटस्थों में निकटतम है तथा उसका अनुभव इतना घनिष्ट है कि मानव केवल उसके प्रति प्रेमोल्लास मात्र के कारण जीवित रह सके। उसे प्रिय सखा एवं परमतत्व समझकर वह उसकी शरण में जाकर सब कुछ उस पर छोड़ सकता है। ईश्वर में अगाध प्रेम के कारण वह अपने अन्य यज्ञ यागादि कर्मों को आपेक्षिक रूप से कम महत्वपूर्ण समझता है। इस प्रकार वह सतत रूप से ईश्वर की कथा उसके विचार एवं उसमें ही संलग्न रहता है। यह भक्ति मार्ग है तथा गीता यह आश्वासन देती है कि कितनी ही बाधाओं एवं कठिनाइयों के होने पर भी ईश्वर के भक्त का कभी नाश नहीं होता। इसी आध्यात्म चेतना के दृष्टिकोण से गीता तात्विक दृष्टि से विषम प्रतीत होने वाले तत्वों में समन्वय स्थापित करती है। सम्भवतः गीता उस वक्त लिखी गई थी जब दार्शनिक

दृष्टिकोण निश्चित रूप से सुस्पष्ट दर्शनों के सिद्धान्तों में विभाजित नहीं हुए थे तथा जब विभिन्न दार्शनिक बारीकियाँ, पाण्डित्यपूर्ण विवेचनाएँ एवं तार्किक प्रादेशों का व्यवहार में चलन नहीं था। अतः गीता को उचित योजनाबद्ध दर्शन के रूप में नहीं अपितु आत्म समर्पण भक्ति, सख्यभाव, दास्यभाव में ईश्वर के साक्षात्कार करने के बारे में वस्तुओं के सम्यक् स्वरूप एवं सदाचरण प्रबन्ध के रूप में देखना चाहिए।

विष्णु, वासुदेव एवं कृष्ण

भारतीय धार्मिक साहित्य में विष्णु, भगवत्, नारायण, हरि एवं कृष्ण प्राय महेश्वर के पर्यायवाची नाम समझे जाते हैं। इनमें विष्णु ऋग्वेद का मुख्य देवता है और वही (बारह) आदित्यों में एक आदित्य है जो आकाश में तीन डग पूर्वीय क्षितिज में उदय होने के मध्याह्न के तथा पश्चिम में अस्त होने के भरता है। उसको ऋग्वेद में महान् योद्धा एवं इन्द्र के मित्र के रूप में उल्लेख है। आगे चलकर (उसी प्रसंग में) यह भी कहा गया है कि उसके दो चरणों में तो पृथ्वी समाई हुई है और एक उसका उच्च पद है जिसका ज्ञाता केवल वही है। परन्तु ऋग्वेद में विष्णु का पद इन्द्र से नीचा है जिसके साथ प्राय उसका साहचर्य है जैसाकि इन्द्र, विष्णु आदि नाम से स्पष्ट है (ऋग्वेद ४ ५१ ७,६६ ५,८ १ ३ आदि)। अर्वाचीन परम्परा के अनुसार बारहवां आदित्य विष्णु कनिष्ठतम था यद्यपि वह शुभ गुणों में श्रेष्ठतम था।[1] ऋग्वेदीय प्रसंग में उसके तीन पद निरुक्त में वर्णित है जिसका प्रसंग प्रातः मध्याह्न एवं सायं के सूर्य की उन्नति के तीन स्तरों से सम्बन्धित है। ऋग्वेद में विष्णु का एक नाम शिपिविष्ट है जिसकी व्याख्या दुर्गाचार्य ने उषाकाल की किरणों से आविष्ट कहकर की है (शिपि सञ्ज्ञकैः रश्मिभिराविष्ट)।[2] आगे चलकर ऋषि ऋग्वेद में विष्णु की इस प्रकार प्रशंसा करते हैं–मन्त्रों का द्रष्टा एवं पवित्र परम्परा का ज्ञाता मैं आज आपके शुभ नाम शिपिविष्ट की प्रशंसा करता हूँ। मैं निबल हूँ तथा आपका यशोगान करता हूँ आप सबल हैं एवं विश्वोतीत है।[3] उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि विष्णु को आदित्य अथवा आदित्य के गुणों से युक्त माना गया था। विष्णु को जगदातीत समझने से इस बात का संकेत मिलता है कि उनकी श्रेष्ठता में क्रमश वृद्धि होती गई। बाद की अवस्था को जानने के लिए शतपथ ब्राह्मण की

---

[1] एकादशस्तथा त्वष्टा द्वादशो विष्णुरुच्यते।
जघन्यजस्तु सर्वेषाम् आदित्यानां गुणाधिकः॥
–महाभारत १ ६५ १६ कलकत्ता बंगवासी प्रेस द्वितीय संस्करण, १६०८।

[2] निरुक्त ५ ६ बम्बई संस्करण १६१८।

[3] ऋग्वेद ७ १०० डा० डा० ला० सरूप द्वारा अनूदित–निरुक्त में वर्णित ५–८।

ओर दृष्टिपात करना चाहिए। उस ग्रंथ के १ २ ४ में कहा गया है कि असुर एवं देव प्रतिस्पर्धा कर रहे थे, देव हार रहे थे एवं दैत्य आपस में भूमि का बँटवारा करने में लगे हुए थे। देवों ने यज्ञ स्वरूप विष्णु को अपना नेता बनाकर उनका पीछा किया, (ते यज्ञा एव विष्णु पुरस्कृत्ययु) एवं अपने हिस्से प्राप्त करने की इच्छा प्रकट की। दैत्यों को ईर्ष्या हुई और उन्होंने कहा कि वे इतनी ही भूमि दे सकते हैं जितनी कि वामन रूप विष्णु द्वारा शयन करते समय हस्तगत की गई हो (वामनोह विष्णु रास)। इस पर देवता संतुष्ट नहीं हुए एवं वे कई मन्त्रों के साथ उपस्थित हुए जिसके परिणामस्वरूप उन्होंने सम्पूर्ण विश्व को प्राप्त कर लिया। फिर उसी ग्रंथ के ४ १ में कुरुक्षेत्र को देवताओं की यज्ञ भूमि कहा गया है और वहाँ कहा गया है कि उद्योग तप, श्रद्धा आदि में विष्णु को सब देवताओं से श्रेष्ठ एवं सबसे श्रेष्ठतम (तस्माद आहु विष्णु देवाना श्रेष्ठ) कहा गया है और वह स्वयं ही यज्ञ स्वरूप थे। आगे चलकर तैत्तिरीय संहिता १ ७ ५ ४ में वाजसनेयी संहिता १ ३०,२ ६ ८,५ २१ में अथर्ववेद ५ २६ ७ ८ ५ १० आदि में विष्णु को देवताओं का मुखिया कहा गया है (विष्णु मुखा देवा)। पुनः यज्ञ स्वरूप विष्णु ने अपरिमित यश प्राप्त किया। एक बार विष्णु धनुष के छोर को अपने सिर के नीचे रखकर सो रहे थे। उसे देखकर कुछ चींटियों ने कहा— यदि हम धनुष की प्रत्यञ्चा काट दें तो हम क्या इनाम मिलेगा ?' देवताओं ने कहा कि उन्हें भोजन मिलेगा अत चींटियों ने प्रत्यञ्चा काट दी और ज्योंही धनुष के दोनों छोर टूटकर अलग हुए त्योंही विष्णु का सिर अपने शरीर से कटकर अलग हो गया एवं आदित्य हो गया।[1] यह कथा सूर्य के साथ विष्णु का सम्बन्ध ही नहीं बताती अपितु यह भी स्थापित करती है कि धनुर्धारी के तीर द्वारा कृष्ण के मारे जाने के उपाख्यान का उद्गम स्थान उसके धनुष के उछलते हुए छोरों से विष्णु का मारा जाना है। जिस प्रकार सूर्य का स्थान सर्वोच्च माना जाता है उसी प्रकार विष्णु पद भी सर्वोच्च समझा जाता है। सम्भवत सर्वोच्च स्थान को विष्णुपद समझने के फलस्वरूप बुद्धिमान् लोगों ने यह स्पष्ट रूप से समझ लिया कि सर्वातीत विष्णु का पद सर्वोच्च है। उदाहरणार्थ ब्राह्मणों के दैनिक प्रार्थना मंत्रों अर्थात् संध्या' के प्रारम्भ में कहा गया है कि बुद्धिमान् मनुष्य विष्णु के परम पद को आकाश में खुले हुए चक्षु की तरह देखते हैं।[2] वैष्णव शब्द का प्रयोग वाजसनेयी संहिता ५ २१,२३,२५ तैत्तिरीय संहिता ५ ६ ६ २ ३, एतरेय ब्राह्मण ३ ३८ शतपथ ब्राह्मण ३ १ १ ४ ६ ३ ५ ५ ३ २ इत्यादि में 'विष्णु का' के धार्मिक अर्थ में प्रयोग हुआ है। परन्तु उपरोक्त शब्द का प्रयोग धर्म के सम्प्रदाय के अर्थ में पूर्वतर साहित्य में

---

[1] शतपथ ब्राह्मण १४ १।

[2] तद् विष्णो परम पद सदा पश्यन्ति सूरय दिवीव चक्षु आततम्। दैनिक संध्या के प्रार्थना मंत्र का आचमन मंत्र।

कहीं नहीं पाया जाता। गीता एवं पूर्वतर उपनिषदों में भी उपरोक्त शब्द का प्रयोग नहीं मिलता, यह तो केवल महाभारत के उत्तरवर्ती भागों में प्राप्य है।

आगे चलकर यह सर्वविदित है कि ऋग्वेद १० ९ के पुरुष सूक्त में 'पुरुष' की बहुत प्रशंसा की गई है जिसमें कहा गया है कि भूत एवं भविष्य, जो हम देखते हैं वह पुरुष है एवं सब कुछ उससे ही उत्पन्न हुआ है, देवताओं ने ऋतुओं की आहुतियों से यज्ञ किया तथा उस यज्ञ से प्रथमतः पुरुष का जन्म हुआ तदनन्तर देवताओं एवं चराचर प्राणियों का जन्म हुआ, विभिन्न जातियों की उत्पत्ति उससे हुई आकाश, स्वर्ग एवं पृथ्वी उससे ही उत्पन्न हुए, वह सबका भर्ता एवं धाता है, उसके ज्ञान से अमरत्व की प्राप्ति होती है, मुक्ति का कोई अन्य मार्ग नहीं है। यह आश्चर्यजनक है कि पुरुष के समानार्थक नारायण (व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ नर-कक् मानव जाति में पैदा हुआ) शब्द का प्रयोग परम पुरुष के अर्थ में भी हुआ है जिसको पुरुष एवं विष्णु के समानार्थ लिया गया है। शतपथ ब्राह्मण १४ ३ ४ में पुरुष एवं नारायण को एक ही माना गया है (पुरुष हि नारायण प्रजापति उवाच)। आगे चलकर शतपथ ब्राह्मण १३ ६ १ में पुरुष सूक्त के सिद्धान्त का और विस्तार हुआ है और यह बताया गया है कि पुरुष नारायण ने पंचरात्र यज्ञ किया (पंचरात्र यज्ञ क्रतुम्) एवं उसके द्वारा विश्वातीत होकर 'सर्वमेव' हो गया। इस पंचरात्र यज्ञ में पुरुष का (आध्यात्मिक) यज्ञ निहित है (पुरुष मेधो यज्ञ क्रतुभवति १३ ६ ७)। पंचविध यज्ञ पंचविध पशु पंचविध ऋतुयें एवं पंचविध अध्यात्म पंचरात्र यज्ञ द्वारा प्राप्त किए जा सकते हैं। यज्ञ को पांच दिन तक चालू रखा जाता एवं अलङ्कारमय चिन्तन के वैदिक अभ्यास द्वारा यज्ञ के प्रत्येक दिवस को विभिन्न प्रकार के अभीष्ट पदार्थों से सम्बद्ध कर दिया जाता ताकि पंच दिवस यज्ञ से कई पंचविध वस्तुओं की उपलब्धि मान्य हो जाती। पंचविध अध्यात्म के प्रसंग ने शीघ्र ही अर्चा अन्तर्यामिन् विभाव व्यूह एवं पर ईश्वर के विभिन्न प्रकार के स्वरूप की पंचरात्र नीति को जन्म दिया। यह सिद्धान्त उत्तरवर्ती पंचरात्र शास्त्रों में जैसे अहिर्बुध्न्य संहिता (१ १) इत्यादि में पाया जाता है जहाँ ईश्वर का वर्णन अपने व्यूह स्वरूपों के साथ साथ परम स्वरूप में भी किया गया है। इस प्रकार पुरुष एवं नारायण को एक ही बनाया गया है जो पुरुष-मेध द्वारा जगद्रूप हो गया। पाणिनी (४ १ ९९) के अनुसार यहाँ नारायण की शाब्दिक परिभाषा 'जो नर में अवतरित हुआ है' प्रत्येक स्थल पर मान्य नहीं है। उदाहरणार्थ मनु १ १० के अनुसार 'नारायण की उत्पत्ति नर अर्थात् जल से हुई' एवं अयन का अर्थ घर है तथा 'नार (जल) वह है जो नर अथवा परम पुरुष से अवतरित हुआ है।'[1] महाभारत ३ १२ ९९२ एव १२ ८१६ तथा १२ १३ १६८ का मनु का अर्थ

---

[1] आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नर सूनवः।
ता यदस्यायन पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः। —मनु० १ १०।

मान्य है परन्तु ५ २५६८ में कहा गया है कि परमेश्वर को नारायण इसलिए कहा गया है कि वह मनुष्यों का शरण्य भी है।[1] तैत्तिरीय आरण्यक १० १ ६ में नारायण वासुदेव एवं विष्णु को एक ही समझा गया है।[2] इस प्रसंग में यह कहना अनुचित नहीं होगा कि आत्मा को पर तत्व मानने का औपनिषदिक सिद्धान्त भी सम्भवत नर को नारायण मानने के सिद्धान्तों का ही विकास है। महाभारत में नर एवं नारायण परमेश्वर के स्वरूप बताये गये हैं। उदाहरणार्थ कहा गया है कि केवल निरुक्तों की ही सहायता से चतुर्मुख ब्रह्मा ने करबद्ध होकर रुद्र को कहा 'त्रिलोकों का शुभ हो। हे जगत्पिता! आप अपने शस्त्रों को जगत् को लाभ पहुँचाने की इच्छा से फेंक दें। जो अविनाशी, अविकारी परम जगत् का सनातन बीज एक रस, परमकर्त्ता द्वन्द्वातीत एवं निष्क्रिय में व्यक्त होने की इच्छा से अनुग्रह हेतु इस आनन्द-स्वरूप को धारण किया है। क्योंकि यद्यपि नर एवं नारायण दो स्वरूप प्रतीत होते हुए भी एक ही है। नर एवं नारायण (परम ब्रह्म के व्यक्त स्वरूप) धर्म के वश में अवतरित हुए हैं। सब देवताओं में अग्रगण्य यह दोनों उच्चतम व्रतों के पालन कर्त्ता एवं कठिनतम तपों से संलग्न है। हम दोनों अज्ञात कारणों से एवं उसके (ईश्वर के) सनातन अनुग्रह के गुण से उत्पन्न हुए हैं। क्योंकि यद्यपि आपका अस्तित्व अनादि काल से है तथापि आप भी उनके तामसिक अहंकार से उत्पन्न हुए हैं। अतएव आप मेरे एवं सब देवताओं तथा महान् ऋषियों के साथ इस ब्रह्म के व्यक्त स्वरूप की पूजा करें ताकि अखिल तीनों लोकों में शान्ति का साम्राज्य हो।[3] अनुवर्ती अध्याय में (अर्थात् महाभारत शान्ति पर्व, ३४३) नर एवं नारायण उच्च व्रतों का पालन करते हुए आत्म निर्भर तथा सूर्य से भी अधिक शक्तिमान् तपोभ्यास में मग्न दो अग्रगण्य ऋषि एवं दो प्राचीन देवता बताए गए हैं।

भगवत् शब्द का परम सुख के अर्थ में प्रयोग अत्यन्त प्राचीन है तथा उसका प्रयोग ऋग्वेद १ १६४ ४०, ७ ४१ ४ १० ६० १२ में तथा अथर्ववेद २ १० २ और ८ ३१ २ आदि में हुआ है। परन्तु महाभारत एवं अन्य इसी प्रकार के साहित्य में इसका अर्थ विष्णु अथवा वासुदेव समझा जाने लगा एवं भागवत् शब्द का तात्पर्य उस धार्मिक

जल को नार कहा जाता है। जल को मनुष्य ने उत्पन्न किया एवं चूंकि उसने प्रारम्भ में जल में ही आराम किया वह नारायण कहलाया। कुल्लूक के मत में यहाँ नर का अर्थ ब्रह्मन् से है।

[1] नराणामयनाच्चापि ततो नारायण स्मृत। —महाभारत ५ २५६८।

[2] नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि तन्नो विष्णु प्रचोदयात्।
—तैत्तिरीय आरण्यक पृ० ७७ आनन्दाश्रम प्रेस, पूना १८९८।

[3] महाभारत शान्ति पर्व ३४२ १२४–१२९ पी० सी० राय का अनुवाद, मोक्ष धर्म पर्व। पृ० ८१७ कलकत्ता।

सम्प्रदाय से था जिसमे विष्णु का नारायण एव वासुदेव का परम देवता सम
है। पाली विधि ग्रन्थ निद्देश में विभिन्न अन्ध विश्वासी धार्मिक सम्प्रद
प्रसग है जिनम वासुदेव का अनुसरण करने वाले बलदेव, पुण्यभद्र, मणिभद्र, अग
सुपर्णा यक्ष, असुर गन्धर्व, महाराज, चद सुरीय इन्द्र ब्रह्मा, देवान, अ
इत्यादि का उल्लेख है। बौद्ध ग्रन्थ के वासुदेव पूजा को अत्यत निकृष्ट म
कारण समझना सुलभ है। परन्तु हर हालत म इससे यह सिद्ध हाता है कि
नियमबद्ध किए जाने के समय वासुदेव पूजा प्रचलित थी। आगे चलकर
४ ३ ९८ (वासुदेवार्जुनाभ्यावुन्) पर टीका करते हुए पतजलि ने कहा है
वासुदेव शब्द का तात्पय वृष्णियो की क्षत्रिय जाति के वसुदेव के पुत्र वासुदेव से
क्योकि यदि ऐसा हाता तो पाणिनी' ४ १ ९९ (गोत्र क्षत्रियाख्येभ्यो यद्
के अनुसार प्रत्यय वुञ हाता जोकि वुन् प्रत्यय का समानार्थक है।
पतजलि के अनुसार नियम के प्रयुक्त वासुदेव' का अथ किसी क्षत्रिय जाति
परन्तु यह ईश्वर का नाम है (सन्या तत्र भगवत)। यदि पतजलि की व्य
विश्वास कर लिया जाय (जिसके लिए काफी आधार है) तो वृष्णि जाति के वासु
क्षत्रिय वासुदेव से ईश्वर वासुदेव भिन्न है। पाणिनी के समय म ही यह सिद्ध हा
कि वासुदेव ईश्वर था एव उसका समथन करने वाले वासुदेवक कहलाते थे जिस
प्रत्यय से शब्द रचना हेतु पाणिनी का नियम बनाना पडा (४ ३ ९८)
राजपूताना मे २००–१५० ई०पू० मे प्रचलित ब्राह्मी भाषा म उत्कीर्ण घासु
लेख म वासुदेव एव सकर्षण के मन्दिर के चारो ओर एक दीवार बनाने क
है। लगभग १०० ई० पू० के बेसनगर शिलालेख म दिय का पुत्र है
अपने आपको परम भागवत कहता है जिसने एक स्तम्भ बनवाया जिस पर
चित्र अकित था। १०० ई० पू० के नानाघाट शिलालेख म वासुदेव एव
देवता के रूप मे प्रकट होते है जिनकी अन्य देवताओ के साथ पूजा की
पतजलि के आप्तवचन के अनुसार वासुदेवा के धार्मिक सम्प्रदाय का अस्तित्व
के पहले था। सामान्य विश्वास के अनुसार पतजलि १५० ई० पू० मे
वक्ता द्वारा अदृष्ट विख्यात समकालीन घटनाओ के प्रसग मे भूतकाल का
वाले व्याकरण के नियम का व्याख्या करते साकेत (अरुणद् यवन साकेतम्)
यूनानी आक्रमण के प्रसग म भूतकाल का प्रयोग के रूप मे वह उदाहरण
चूकि यह घटना १५० ई० पू० म हुई, अत इसे विख्यात समकालीन घटन
जाता है जिसे पतजलि नही देख सके। पाणिनी का प्रथम टीकाकार कात्य
द्वितीय भाष्यकार पतजलि था। श्री र० ग० भडारकर ने कहा है कि
सौनाग एव अन्य मतो द्वारा प्रयुक्त प्रकरणो मे प्राप्त कात्यायन वार्तिक के कइ
पतजलि के ध्यान म आए है जो वार्तिको के सशोधित रूप समझे जा
यद्यपि पतजलि द्वारा पठित क्रिया का प्रयोग यह बताया है कि उन्होने उ

किया।[1] उपरोक्त तथ्य से र० ग० भंडारकर यह सिद्ध करते हैं कि कात्यायन एवं पतंजलि के बीच अधिक समय बीत चुका होगा जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि पतंजलि के समय में कात्यायन के प्रकरणों के विविध पाठ का अस्तित्व था। अतः यह पाणिनि का मौर्यों के पूर्वानुगामी नंदों के समकालीन समझने की लौकिक परम्परा में विश्वास करते हैं। कात्यायन का काल पाँचवीं शताब्दी ई० पू० का पूर्वार्द्ध समझा जाता है। परन्तु गोल्डस्टुकर एवं सर र० ग० भंडारकर के अनुसार कात्यायन की वार्तिका का कई ऐसी व्याकरण सम्बन्धी रचनाओं की जानकारी है जिनकी जानकारी पाणिनि का नहीं है तथा वैयाकरण पाणिनि की महान् यथार्थता का ध्यान में रखते हुए स्वाभाविक रूप से यही समझा जाता है कि उन रचनाओं का अस्तित्व उनके काल में नहीं था। गोल्डस्टुकर पाणिनि के सूत्रों में प्रयोग उन शब्दों की सूची बताते हैं जिनका कात्यायन के समय व्यवहार में चलन बन्द हो गया था। यह कात्यायन द्वारा निरूपित उत्तरकाल में प्रयुक्त कई ऐसे शब्दों का बताते हैं जिनका पाणिनि के समय कोई अस्तित्व नहीं था। उपरोक्त सब बातों से सिद्ध है कि पाणिनि का काल कात्यायन से दो सौ अथवा तीन सौ वर्ष पूर्व रहा होगा। पाणिनि के सूत्रों में वासुदेव सम्प्रदाय के प्रसंग उपलब्ध हैं जिससे उनका अस्तित्व स्वभावतः उसके काल के पूर्व ही सिद्ध है। उपरोक्त प्रसंग के बारे में शिलालेखों में वासुदेव के चिह्न गरुड़ध्वज वासुदेव अथवा भगवत् के उपासक वासुदेव सम्प्रदाय के प्राक् अस्तित्व को प्रमाणित करने वाले साक्षी हैं।

वासुदेव एवं कृष्ण के साहित्यिक प्रसंगों में हम वासुदेव की कथा उपलब्ध है जो घट जातक में अपने कौटुम्बिक नाम कान्हा एवं केशव (संभवतः अपने केशों के गुच्छे के कारण) के नाम से भी पहचाना जाता है। नाम भिन्नताओं के होते हुए भी उपरोक्त कथा कृष्ण के कुछ महत्त्वपूर्ण सामान्य वर्णन के साथ मेल खाती है। पाणिनि ४ १ ११४ (ऋष्यन्धक वृष्णि कुरुभ्यश्च) में क्षत्रियों की वृष्णि जाति का प्रसंग पाया जाता है। उणादि प्रत्यय द्वारा शब्द (वृष्णि) की उत्पत्ति हुई है जिसका शाब्दिक अर्थ 'शक्तिशाली अथवा महान नेता' है। इसका अर्थ 'पाखंड' एवं 'मेंढ़' भी होता है। यह शब्द यादव जाति का भी सूचक है, कृष्ण को प्रायः वार्ष्णेय कहकर संबोधित किया गया है तथा गीता १० ३७ में कृष्ण कहते हैं 'वृष्णियों में मैं वासुदेव हूँ।'[2] कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी वृष्णियों का प्रसंग मिलता है जहाँ वृष्णि संघ द्वारा द्वैपायन पर आक्रमण करना बतलाया गया है। घट जातक में भी वृष्णियों के नाश का कारण कान्ह द्वैपायन के शाप की कथा मिलती है। परन्तु महाभारत (१६ १) के अनुसार कृष्ण के पुत्र सांब पर विश्वामित्र कण्व एवं नारद द्वारा शाप का निर्णय दिया गया है।

---

[1] श्री र० ग० भंडारकर द्वारा लिखित 'अर्ली हिस्ट्री ऑव डकन' पृ० ७।

[2] यूथेन वृष्णिरेजति, ऋग्वेद १ १० २।

महाभारत म दो वासुदेवो की चर्चा की गई है। पौण्ड्र राज वासुदेव एव सकर्षण के भ्राता वासुदेव अथवा कृष्ण का वर्णन महाभारत म भी है तथा दोनो की द्रुपद राज के भवन म द्रौपदी के पाणिग्रहण हेतु राजाओ की महान् सभा में उपस्थित होने की चर्चा की गई है। उत्तरोक्त वासुदेव अथवा कृष्ण ईश्वर माने जाते हैं। सभव है कि प्रारम्भ में वासुदेव सूर्य का नाम था और इस प्रकार इनका सम्ब ध विष्णु से हो गया जिसने अपने तीन पदो से स्वर्गो का पार कर लिया, कृष्ण एव वासुदेव का सूर्य के साथ सादृश्य वस्तुत महाभारत १२ ३४१ ४१ म किया गया है जहाँ नारायण कहते हैं सूर्य की तरह सम्पूर्ण ब्रह्माड का मैं अपनी रश्मियो से ढक लेता हूँ तथा मैं सब प्राणियो का धाता भी हूँ अत मुझे लोग वासुदेव कहते हैं।

पुन सात्वत शब्द का प्रयोग भी वासुदेव अथवा भागवत् के पर्यायवाची के रूप म हुआ है। बहुवचन सात्वता शब्द यादव समुदाय का नाम है एव महाभारत मे (७ ७६६२) सात्वताबर का प्रयोग यादव जाति के सदस्य सात्यकि के लिए किया गया है यद्यपि यह विशिष्ट नाम महाभारत म कई स्थलो पर कृष्ण के सम्बन्ध म प्रयुक्त हुआ है।[1] उत्तर भागवत पुराण म (९ ९ ५०) कहा गया है कि सात्वत लोग भगवान एव वासुदेव के रूप मे ब्रह्म की उपासना करते हैं। महाभारत म (६ ६६ ४१) वासुदेव की उपासना के सकर्षण द्वारा सात्वत कर्म की विधि का प्रारम्भ किया गया। ✓यदि सात्वत का अर्थ जाति विशेष के नाम से लिया जाए तो सहज ही यह कल्पना की जा सकती है कि वासुदेव की उपासना करने की उन लोगो की विशेष विधि होगी। ✓दसवी शताब्दी ई० पू० के रामानुज के महान् गुरु यामुनाचार्य कहते हैं कि जो परम पुरुष भगवत् की सत्त्व से पूजा करते हैं व भागवत एव सात्वत कहलाते हैं।[2] यामुन इस बात पर बल देते हैं कि सात्वत लोग जाति के ब्राह्मण हैं परन्तु महेश्वर भगवत् मे आसक्त हैं। यामुन की उपरोक्त धारणा इस आधुनिक विचारधारा के पूर्णतया विपरीत है कि सात्वत शूद्र वर्ण के लोग थे जिनका यज्ञोपवीत सस्कार नही हुआ एव जो वैश्यो से उद्भूत बहिष्कृत लोग थे।[3] सात्वत लोग पचम निम्न श्रेणि

---

[1] महाभारत ५ २५८१ ३०४१ ३३३४,३३६०,४३७०, ६,२५३२,३५०२ १० ७२६, १२ १५०२ १६१४ ७५३३।

[2] ततश्च सत्वाद् भगवान् भज्यते य पर पुमान्।
ते सात्वता भागवता इत्युच्यन्ते द्विजात्तमै ॥
—यामुन का आगम प्रामाण्य, पृ० ७ ६।

[3] मनु (१० २३) ने कहा है
वैश्यात्तु जायते व्रात्यात् सुधन्वाचार्य एव च।
कारूषश्च विजन्मा च मैत्रस्सात्वत एव च ॥

के लोग कह जाते हैं जो राजाज्ञा से विष्णु मन्दिर में पूजा करते हैं एवं जो भागवत भी कहलाते हैं।[1] सात्वत एवं भागवत वे लोग हैं जो मूर्त्ति पूजा द्वारा अपना पेट पालते हैं अतः निम्न एवं तिरस्कृत हैं। यामुन कहते हैं कि भागवतों एवं सात्वतों के बारे में जन साधारण की उपरोक्त धारणा सही नहीं है क्योंकि भागवतों एवं सात्वतों में से कुछ लोग ही मूर्त्ति पूजा द्वारा अपना जीवन चलाते हैं, सब नहीं। उनमें से कई एक परम पुरुष भगवत की पूजा व्यक्तिगत भक्ति एवं आसक्ति द्वारा करते हैं।

पाणिनि ४ ३ ९८ पर टीका करते हुए पतंजलि के निरूपण द्वारा पता चलता है कि वह वृष्णि जाति के नेता वासुदेव तथा दूसरे भगवत् ईश्वर के रूप में वासुदेव में विश्वास करते थे। यह तो कहा ही जा चुका है कि वासुदेव नाम घटक जातक मे भी मिलता है। अतः यह तर्क किया जा सकता है कि वासुदेव प्राचीन नाम है तथा निर्देश एवं पतंजलि के लेखों से यह सिद्ध है कि वह ईश्वर अथवा भगवत् का नाम है। अतः वासुदेव शब्द की वासुदेव के पुत्र के रूप में उत्तरकाल की व्याख्या एक अनधिकृत कल्पना है। सम्भवतः यादव जाति द्वारा अपने जाति सम्बन्धी विधि के अनुसार जाति नायक के रूप में वासुदेव की पूजा की जाती थी एवं उसे सूर्य से सम्बन्धित विष्णु का अवतार समझा जाता था। मगस्थनीज ने भारतवर्ष का प्रत्यक्ष विवरण देते हुए सौरसनाई (Sourasenor) अर्थात् भारतीय राष्ट्र में दो महान् शहर (Methora) 'मैथोरा' एवं (Kleisobora) 'क्लीसोबोरा' के बारे में लिखा है जिसके पार जहाज ले जाने योग्य नदी (Jobares) जोबारीज, (Haracles) हेराक्लीज की पूजा करती हुई बहती है। 'मथोरा' एवं जोबारिज से उनका तात्पर्य अवश्य ही क्रमशः मथुरा तथा जमुना से है। सम्भवतः हेराक्लीज वासुदेव के ही नाम हरि से है। पुनः महाभारत ६ ६५ में भीष्म कहते हैं कि प्राचीन मुनियों ने उन्हें कहा था कि पहले देवों तथा ऋषियों की सभा के समक्ष परपुरुष उपस्थित हुए एवं ब्रह्मा ने करबद्ध होकर उसकी पूजा की। *वासुदेव के रूप में पूजित इस महान् सत् ने प्रथमतः अपने अन्दर से ही संकर्षण को उत्पन्न किया।* तदनन्तर प्रद्युम्न एवं प्रद्युम्न से अनिरुद्ध तथा अनिरुद्ध से ब्रह्मा उत्पन्न हुए। इसी महान् सत् वासुदेव ने नर एवं नारायण दो ऋषियों के रूप में अवतार लिया। महाभारत ६ ६६ में वह स्वयं कहते हैं कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को मुझे वासुदेव के रूप में पूजना चाहिए एवं मानव शरीर में मेरी अवहेलना कोई भी नहीं करे। उपरोक्त दोनों अध्यायों में कृष्ण एवं वासुदेव एक ही हैं। गीता में कृष्ण ने कहा है कि 'वृष्णियों में मैं वासुदेव हूँ। यह भी बतलाया गया है कि वासुदेव का

---

[1] पञ्चमः सात्वतो नाम विष्णोरायतनं हि सः।
पूजयेदाज्ञया राज्ञां स तु भागवतः स्मृतः॥

—वही, पृ० ८।

कान्हायन गोत्र था। श्री र० ग० भंडारकर कहते हैं 'संभवतः गोत्र नाम की कृष्ण नाम के साथ सादृश्यता के कारण ही कृष्ण एवं वासुदेव को एक ही समझ लिया गया होगा।'[1] पातंजल भाष्य एवं महाभारत में वासुदेव को परम् पुरुष कहकर संबोधित करने वाले अनेक संकेतों के आधार पर यह मानना युक्ति संगत है कि व्यवहृत शब्द पिता वसुदेव की उत्पत्ति स्थान बताने वाला पितृवाची नाम नहीं अपितु ईश्वर रूप में पूजित व्यक्ति के रूप व्यक्तिवाचक संज्ञा है। कृष्ण, जनार्दन केशव, हरि इत्यादि वृष्णि नाम नहीं हैं, यह सब वासुदेव के व्यक्तिगत विशिष्ट नाम हैं। पतंजलि ने पाणिनि पर अपनी टीका (४ ३ ९८) में कहा है कि वृष्णि जाति के क्षत्रिय राजा का नाम भी वासुदेव था परन्तु वह ईश्वर के वासुदेव नाम से भिन्न है। सात्वतों द्वारा अपनी कौटुम्बिक विधि के अनुसार पूजित ईश्वर का एवं संभवतः वृष्णिराज वासुदेव को एक ही समझा गया तथा राजा के कुछेक व्यक्तिगत लक्षण ईश्वर रूपी वासुदेव के ही लक्षण समझे जाने लगे। प्राचीन साहित्य में कृष्ण शब्द कई बार आता है। इस प्रकार कृष्ण ऋग्वेद (८ ७४) के रचयिता वैदिक ऋषि की तरह प्रतीत होते हैं। महाभारत की अनुक्रमणी में कृष्ण को अंगिरस से उत्पन्न बताया गया है। घट जातक की तरह छांदोग्य उपनिषद् (३ १७) में भी कृष्ण का देवकी के पुत्र के रूप में प्रकट होते हैं। अतएव संभवतः वासुदेव एवं देवकी के पुत्र कृष्ण को एक ही समझा गया है। कृष्ण के ऋत्विज होने का विचार महाभारत में मिलता है तथा सभा पर्व में भीष्म उन्हें ऋत्विज एवं वेदांग [redacted] प्रवीण मानते हैं। जैसाकि डा० राय चौधरी ने कहा है कि देवकी के पुत्र कृष्ण भागवत् दर्शन के जन्मदाता वासुदेव ही थे क्योंकि घट जातक में जिस कान्हायन अथवा कान्हा कहा गया है वही देवकी पुत्र एवं कृष्ण भी है तथा छांदोग्य उपनिषद् (३ १७ ६) में भी उसे देवकी पुत्र कहा गया है। घट जातक में कृष्ण को योद्धा कहा गया है जबकि छांदोग्य उपनिषद् में उसे घोरअंगिरस का शिष्य बताया गया है जिसने उन्हें प्रतीकात्मक यज्ञ यागादि की शिक्षा दी जिनके अन्तर्गत तप, दान आर्जव, अहिंसा एवं सत्य वचन याज्ञिक दक्षिणा कहा जा सकता है। महाभारत २ ३१७ में कृष्ण का गंधमादन पुष्कर तथा बदरी में संन्यास की लम्बी क्रिया को करने वाले मुनि एवं महान् योद्धा के रूप में वर्णन किया गया है। महाभारत में उसका वर्णन वासुदेव देवकी पुत्र, सात्वतपति के रूप में किया गया है। एवं सर्वत्र उसकी दिव्यता को माना गया है। परन्तु निश्चित तौर पर यह नहीं कहा जा सकता कि वासुदेव योद्धा कृष्ण एवं कृष्ण मुनि विभिन्न तीन व्यक्ति नहीं थे जो महाभारत में एक ही माने गए यद्यपि यह सत्य है कि विभिन्न पौराणिक कथाओं में एक ही अभिन्न व्यक्ति का प्रसंग है।

---

[1] श्री र० ग० भंडारकर द्वारा लिखित 'वैष्णवइज्म एण्ड शैविइज्म पृ० ११–२२।

यदि तीनों कृष्ण का तात्पर्य एक ही कृष्ण से है तो वह बुद्ध के बहुत समय पहले रहे होंगे जैसाकि छांदोग्य उपनिषद् में संकेत मिलता है। उनके गुरु घोर आंगिरस का भी संकेत कौषीत की ब्राह्मण (३० ६) एवं काठक संहिता ११ में मिलता है जो प्राग बौद्ध ग्रन्थ हैं। जैन परम्परा के अनुसार कृष्ण को पार्श्वनाथ (८१७ ई० पू०) के पूर्व माना गया है और इसी आधार पर डॉ० राय चौधरी के विचार में वह नवमी शताब्दी ई० पू० के अन्त के पूर्व रहे होंगे।[1]

भागवत् एवं भगवद्गीता

महाभारत (१२ ३४८) में भगवद्गीता का एकान्ति वैष्णव मत के साथ सम्बन्ध स्थापित किया गया है। वहाँ कहा गया है कि भगवान् हरि एकान्ति ईश्वर भक्तों को आशीर्वाद देते हैं एवं उनकी विधि प्रयुक्त पूजा स्वीकार करते हैं।[2] यह एकान्त धर्म नारायण को प्रिय है तथा महाभारत टीकाकार के अनुसार जो लोग उसका पालन करते हैं व अनिरुद्ध, प्रद्युम्न एवं संकर्षण की तीनों स्थितियों का पार किए बिना ही नीलकंठ हरि को प्राप्त कर लेते हैं। एकान्तिन् श्रद्धा द्वारा उच्चतर लक्ष्य प्राप्त कर लेते हैं। एकान्तिन् श्रद्धा द्वारा उच्चतर लक्ष्य प्राप्त किए जा सकते हैं जो संन्यासी जीवन एवं वेदशो के पथ में सम्भव नहीं है। एकान्ति भक्ति के सिद्धान्तों का निरूपण स्वयं भगवत् ने उस समय किया जब कौरव एवं पाण्डवों के युद्ध में अर्जुन को युद्ध करने में संकोच हो रहा था। इस सिद्धान्त का प्रारम्भिक श्रोत साम वेद है। यह कहा जाता है कि जब नारायण ने ब्रह्मा को उत्पन्न किया तब उन्होंने उन्हें सात्वत श्रद्धा दी एवं जैसाकि महाभारत में कहा गया है कि उस समय से कई लोगों का इसका उपदेश दिया गया तथा उन्होंने उसका पालन भी किया। हरिगीता में संक्षेप में वर्णित यह स्थिति उत्तरकाल की है।[3] यह श्रद्धा अत्यन्त अस्पष्ट है तथा इसे क्रियात्मक रूप देना

---

[1] वैष्णव सम्प्रदाय का प्रारंभिक इतिहास, पृ० ३६।

[2] एकान्तिना निष्कामभक्ता। महाभारत पर नीलकंठ भाष्य, १२ ३४८ ३।

[3] कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पित, हरि गीता ५३ गीता के सिद्धान्त की परम्परा से प्राप्त शिक्षा गीता में भी प्राचीन बताई गई है (४–१–३) जहाँ कहा गया है कि भगवान ने यह ज्ञान विवस्वान् को कहा, जिसने मनु को कहा, मनु ने इक्ष्वाकु को कहा इत्यादि। दीर्घकाल के अनन्तर वही योग इस लोक में नष्ट हो गया। कृष्ण ने भगवद्गीता के रूप में उसी पुरातन योग की पुन शिक्षा दी। महाभारत के १२ ३४८ में कहा गया है कि सनत्कुमार ने इस सिद्धान्त की शिक्षा नारायण से प्राप्त की नारायण ने प्रजापति को, प्रजापति ने रैभ्य को एवं रम्य ने

अत्यन्त कठिन है। इसका मुख्य रूप सब प्रकार के कष्टों का निरोध है। विभिन्न स्थलों पर एक, दो अथवा तीन व्यूह में विश्वास व्यक्त किया गया है। हरि को चरम एवं निरपेक्ष सत्ता माना गया है। वह कर्त्ता, कर्म एवं कारण होने के साथ साथ निरपेक्ष, अकर्त्ता भी है। संसार में एकान्तिन् भक्तों की बहुत ही ज्यादा कमी है। किसी को कष्ट नहीं देने वाले, सर्वदा परोपकारी आत्मन एकान्तिन् भक्तों से यदि संसार में पूरित हो जाय तो स्वर्णयुग अर्थात् कृत युग पुनः आ जाय। यह एकान्त योग का सिद्धान्त सांख्य योग के सादृश्य है एवं इसका अनुसरण करने वाले अपने चरम लक्ष्य मोक्ष की स्थिति नारायण को प्राप्त कर लेते हैं। महाभारत में उक्त वर्णन से प्रतीत होता है कि गीता का सिद्धान्त नारायण द्वारा ब्रह्मा नारद एवं अन्य लोगों को कृष्ण द्वारा महाभारत युद्ध में गीता पाठ के पूर्व उपदिष्ट एकान्तिन् सिद्धान्त था। ऐसा भी ज्ञात होता है कि इसके अन्तर्गत एक व्यूह द्विव्यूह त्रिव्यूह चतुर्व्यूह एवं एकान्त इत्यादि चार अथवा पाँच विभिन्न मत थे तथा इसे सात्वत धर्म कहा जाता था।

यामुनाचार्य ने अपने आगम प्रामाण्य में कई मतों का विरोध करने का प्रयास किया है जिसमें भागवतों को पंक्ति में बैठाकर सहभोज की आशा नहीं होने के कारण ब्राह्मणों से नीचा समझा गया है। मनु ने सात्वतों को यज्ञोपवीत धारण करने में अन्त्य वर्ण बहिष्कृत वैश्यज निम्नजाति के लोग माना है।[1] सात्वत एवं भागवत में कोई अन्तर नहीं था तथा उन दोनों का मुख्य कर्त्तव्य राजाओं द्वारा विष्णु मंदिर में अपनी जीविका हेतु पूजा करना था।[2] अपनी जीविका हेतु वे मंदिर एवं मूर्तिएँ बनाते एवं मरम्मत करते थे अतः उन्हें जाति से बहिष्कृत समझा जाता था। कई उपलब्ध पंचरात्र ग्रंथों के मूर्ति पूजा एवं मूर्ति निर्माण के विस्तृत विवरणों से स्पष्ट

कुक्षी को यह शिक्षा दी। बाद में वह योग नष्ट हो गया। बाद में पुनः ब्रह्मा ने नारायण से बर्हिषद् मुनियों ने एवं मुनियों द्वारा ज्येष्ठ ने शिक्षा ग्रहण की। पुनः इसका लोप हो गया। ब्रह्मा ने नारायण से, नारायण से दक्ष ने, दक्ष से विवस्वान ने विवस्वान से मनु ने तथा मनु से इक्ष्वाकु ने शिक्षा ग्रहण की। इस प्रकार भगवद्गीता में वर्णित परम्परा महाभारत के विवरण से मेल खाती है।

[1] वैश्यात्तु जायते व्रात्यात् सुधन्वाचार्य एव च।
कारुषश्च विजन्मा च मैत्रः सात्वत एव च।

—आगम प्रामाण्य, पृ० ८।

[2] पंचमः सात्वतो नाम विष्णोरायतनं हि सः।
पूजयेत् आज्ञया राज्ञां सत्तु भागवत स्मृत॥

—आगम प्रामाण्य, पृ० ८।

है कि भागवत लोग मूर्त्ति पूजा करते थे तथा मूर्त्ति और मन्दिर निर्माण करते थे। गीता में (९-२६) भी पत्ते जल तथा पुष्प से पूजा करने का अर्थ निःसंदेह मूर्त्ति पूजा ही है। पतंजलि के महाभाष्य (२.२.२४) में एक श्लोक लिखा गया है जिसमें संकर्षण का कृष्ण के साथी अथवा भाई के रूप में प्रसंग है एवं उसी भाष्य के २.२.३४ में उन्होंने एक अन्य प्रसंग में कहा है कि धनपति, राम एवं केशव अर्थात् बलराम संकर्षण एवं कृष्ण के मन्दिर के विभिन्न प्रकार के संगीत के वाद्य बजाए जाते थे।[1]

यामुन के मतानुसार भागवत् सम्प्रदाय के विरोधियों का कहना है कि चूंकि विष्णु पूजा प्रारम्भ करने के लिए साधारण ब्राह्मणत्व दीक्षा पर्याप्त योग्यता नहीं है एवं विशिष्ट विधिपूर्वक क्रियाओं का सम्पादन आवश्यक है अतः यह स्पष्ट है कि भागवत पूजा के प्रकार मूल रूप से वैदिक नहीं है। चौदह हिन्दू विधान जैसे छः वेदांग अर्थात् वैदिक शिक्षा [redacted] कल्प व्याकरण छंद ज्योतिष निरुक्त चार वेद मीमांसा न्याय विस्तार सहित पुराण एवं धर्मशास्त्र आदि में पंचरात्र शास्त्रों उल्लेख नहीं मिलता। अतः भागवत् अथवा पंचरात्र शास्त्र मूल रूप से अवैदिक है। परन्तु यामुन का कहना है कि नारायण महेश्वर है अतः उनकी पूजा का वर्णन करने वाले भागवत साहित्य को भी वेदों की तरह एक ही स्रोत समझना चाहिए। भागवत लोगों की ब्राह्मणों की तरह वही वाह्य वेष भूषा एवं वही वंश परम्परा है। आगे चलकर वे कहते हैं कि यद्यपि सात्वत का अर्थ जाति बहिष्कृत है तथापि विष्णु के भक्त के अर्थ में प्रयुक्त सात्वत शब्द उससे भिन्न है। इसके अतिरिक्त समस्त भागवत लोग अपनी जीविका चलाने के लिए ही मूर्त्ति पूजा एवं पुजारियों का धंधा नहीं करते बल्कि कई शुद्ध भक्ति द्वारा प्रेरित होकर ही मूर्त्ति पूजा किया करते हैं। भागवत लोगों के श्रेष्ठतम समर्थक यामुनाचार्य द्वारा प्रतिपादित उपरोक्त पक्ष अत्यन्त निर्बल है जिससे स्पष्ट है कि भागवत सम्प्रदाय का मूल अवैदिक है एवं मूर्त्ति पूजा, मूर्त्ति निर्माण, मूर्त्ति पुनरुद्धार तथा मन्दिर निर्माण का स्रोत यही विशिष्ट सम्प्रदाय था। फिर भी पंचरात्र मत के सम्पूर्ण शास्त्रों में यह सर्वमान्य एवं निर्विवाद परम्परा है कि यह वेदों पर आधारित है। परन्तु वैदिक मत से इनका भेद भी सर्वविदित है। स्वयं यामुन ने प्रसंग (आगम प्रामाण्य पृ० ५१) में कहा है कि चारों वेदों में अपने पुरुषार्थ को प्राप्त नहीं कर सकने के कारण शाण्डिल्य ने इस शास्त्र की रचना की। यज्ञ यागादि के स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों का वर्णन करते हुए गीता में कृष्ण ने अर्जुन को वेदों के परे जाने को कहा है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि पंचरात्र साहित्य का वास्तविक सम्बन्ध इस तथ्य से है कि

---

[1] मृदंग शङ्ख पणवाह पृथङ्नदन्ति संसदि।
प्रसाद धनपतिरामकेशवानाम्।

—महाभाष्य, २.२.३४।

उसका उद्‌गम स्थान महेश्वर वासुदेव अथवा विष्णु है जिसने स्वय वेदो को उत्पन्न किया। इस प्रकार ईश्वर संहिता म (१–२४–२६) इस विषय की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि भागवत साहित्य वेद वृक्ष की महान् शाखा है एव वेद स्वय उसके तने हैं तथा योगी उसकी शाखाएँ है। इसका मुख्य उद्देश्य जगत् के मूल एव वेदो के एक रूप वासुदेव की महानता को प्रतिपादित करना है।[1]

इस मत का उपनिषदो के साथ सम्बन्ध उस वक्त स्पष्ट होता है जब इसमे वासुदेव को परम ब्रह्म माना जाता है।[2] अद्वैत वेदान्त मे प्रज्ञा, विराट, विश्व एव तैजस के सादृश्यान्तर तीन अन्य व्यूह उसके प्रमुख्य स्वरूप थे। पतजलि महाभाष्य में केवल वासुदेव एव सकर्षण की ही चर्चा होने के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि उसमे चार व्यूह का ज्ञान नही था। गीता को केवल वासुदेव का ही ज्ञान है। अत व्यूह के सिद्धान्त का अस्तित्व गीता के समय नही हुआ एव इसका विकास धीरे धीरे उत्तरकाल मे हुआ। महाभारत प्रसग से पता चलता है कि इस सिद्धान्त के कई विभिन्न रूपान्तर थे एव कुछ एक व्यूह म कुछ दो मे कुछ तीन व्यूह मे तथा अन्य चार व्यूह म विश्वास करते थ। यदि गीता को व्यूह की समस्या का ज्ञान होता तो

---

[1] महतो वेदवृक्षस्य मूलभूतो महानयम्।
स्कन्धभूता ऋगाद्यास्ते शाखाभूताश्च योगिन।
जगन् मूलस्य वेदस्य वासुदेवस्य मुख्यत।
प्रतिपादकता सिद्धामूल वेदाख्यता द्विज।

—ईश्वर संहिता १ २४–२६।

[2] यस्मात् सम्यक पर ब्रह्म वासुदेवाख्यमव्यय।
अस्मादवाप्य ते शास्त्राज्ज्ञान पूर्वेण कमणा।

—रामानुज भाष्य म उद्धृत पुष्करागम, २ ३ ४२।

छो० उप० (७ १ २) भी एकायन के अध्ययन की ओर सकेत करता है–उदाहरणार्थ 'वाको वाक्यम्' एकायनम् अश मे स्वय एकायन को श्रीप्रश्न संहिता (२ ३ ८९) में वेद के रूप म वर्णित किया गया है।
वेदमेकायन नाम वेदाना शिरसि स्थितम्।
तदर्थक पचरात्र, मोक्षद तत्क्रियावताम्॥
यस्मिन्नेको मोक्ष मार्गो वेद प्रोक्त सनातन।
मदाराधन रूपेण तस्मादेकायन भवेत्॥
गोपिकाचार्य स्वामी द्वारा लिखित 'The Panchratras or Bhagwat Sastra' (J R A S १९१२) लेख देखिए।

अवश्य ही उसका वर्णन उसमें होता क्योंकि भागवतों में एकान्तिन् मत का गीता प्रारम्भिक ग्रंथ है।[1] इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखने योग्य है कि नारायण नाम की चर्चा गीता में कहीं भी नहीं हुई है एवं वासुदेव को तथा आदित्यपति विष्णु को एक ही माना गया है। इस प्रकार र० ग० भंडारकर के शब्दों में 'यह द्रष्टव्य है कि व्यूह का कथन नहीं करने वाली गीता की तिथि, शिलालेख, निर्देश एवं पतंजलि के पूर्व की तिथि है अर्थात चौथी शताब्दी ई० पू० के प्रारम्भ में ही इसकी रचना हुई। यह कहना कठिन है कि यह कब प्रारम्भ हुआ। जब गीता की रचना हुई तबतक न तो वासुदेव एवं नारायण की एकरूपता स्थापित हुई थी (जैसाकि ग्रंथ से स्पष्ट है) और न विष्णु को उसका अवतार माना गया। विष्णु को परम नहीं मानकर आदित्यपति माना गया तथा दसवें अध्याय के अनुसार इसी अर्थ में वासुदेव को विष्णु माना गया क्योंकि किसी समुदाय की सर्वश्रेष्ठ वस्तु को उसकी विभूति माना जाता है।'[2]

गीता की तिथि के बारे में विद्वानों के बीच एक लम्बा विवाद चला आ रहा है एवं हमारे वर्तमान हेतु के लिए इस विस्तृत मतभेद में पड़ना उचित नहीं। इस विषय में जितने मत हैं उनमें सर्वाधिक मत डा० लौरिंसर का है जिसके अनुसार इसकी रचना बुद्ध के बाद तथा न्यू टस्टामेंट के प्रभाव में इसवी काल के कई शताब्दियों बाद हुई। भगवद्गीता के अनुवाद की भूमिका में श्री तेलंग ने कहा है कि पूर्वोक्त मतानुसार भगवद्गीता में बौद्ध दर्शन की विशिष्ट बातें नहीं पाई जाती। इसके अतिरिक्त इस बात का भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि गीता में बौद्ध दर्शन के साथ साथ कपिल का सांख्य दर्शन एवं पतंजलि योग सूत्रों का योग भी वर्णित नहीं है। बौद्ध दर्शन के पूर्व गीता के अस्तित्व का प्रमाण उपरोक्त प्रमाण के साथ साथ वासुदेव का नारायण के साथ ऐक्य नहीं होना तथा व्यूह सिद्धांत का अप्रकट होना है। यत्र तत्र प्रक्षिप्त श्लोकों का समावेश सुलभ है। गीता लेखन काल ब्रह्म सूत्रोपरान्त होने का अन्य कोई प्रमाण नहीं होने के कारण श्लोक 'ब्रह्म सूत्र पदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः'

---

[1] पंचतंत्र के निम्नलिखित उद्धरण से यह स्पष्ट है कि एकान्तिन योग का साम्य सात्वत अथवा पंचरात्र से है।

सुहृत्सुहृत् भागवतस्सात्वत पंचकालवित।
एकांतिकस्त मयश्च पंचरात्रिक इत्यापि।

इसी योग का एकायन अथवा एक का पथ भी कहते हैं जैसाकि ईश्वर संहिता १ १८ के निम्नलिखित श्लोक से स्पष्ट है

मोक्षायनाम व पन्था एतदन्यो न विद्यते।
तस्मादेकायनं नाम प्रवदन्ति मनीषिणः॥

[2] वैष्णवइज्म एण्ड शैविज्म, पृ० १३।

तो प्रक्षिप्त समझना चाहिए या इसकी विभिन्न रूप से व्याख्या करनी चाहिए। के विचार में भी ब्रह्मसूत्र का गीता में स्मृति के रूप में प्रसंग है तथा गीता की नता के बारे में उपरोक्त विचार हमारी अन्य मान्यताओं से मेल खाता है। लौरिंसर का मत है कि भगवद्गीता में कम से कम कुछ तत्व तो ईसाई धर्म से गए हैं। लौरिंसर के उपरोक्त मत का खंडन श्री तिलक ने अपने अनुवाद भूमिका में किया है अतः यहाँ इसका पुनः प्रतिरोध करने की आवश्यकता नहीं है। राय चौधरी ने भी भागवत् धर्म के ईसाई धर्म के साथ सम्बन्ध की समस्या पर र किया है। उस विचार विमर्श के आधार पर निश्चित रूप से यह नहीं कहा कता कि भागवत् सम्प्रदाय अपने विकास की किसी भी अवस्था में ईसाई धर्म का है या नहीं। गीता को ईसाई धर्म का ऋणी मानना केवल कल्पना मात्र है। गार्बे के उस मत का खंडन करने तथा लम्बे विवाद में पड़ने की कोई आवश्यकता है कि मौलिक रूप में गीता एक सांख्यावलम्बी ग्रन्थ था (द्वितीय शताब्दी ई० पू० र्वार्द्ध में लिखित जो वेदान्ती विचारधारा के आधार पर संशोधित किया गया एवं य शताब्दी ई० पू० में अपनी वर्तमान अवस्था में लाया गया) क्योंकि मेरे विचार ह सिद्ध हो चुका है कि महाभारत एवं पंचरात्र साहित्य की निर्विवाद परम्परा को हुए गीता को भागवत् सम्प्रदाय का ग्रन्थ मानना उचित है। ग्रन्थ के आंतरिक निरण के आधार पर भी यह कहा जा सकता है कि गीता न तो साधारण सांख्य है और न वेदान्त ग्रन्थ है अपितु यह शंकर द्वारा प्रतिपादित वेदान्त से भिन्न प वेदान्ती के विचारों में मिश्रित है। गार्बे की उस स्वच्छन्द स्वमताभिमानी चत घोषणा पर गंभीरतापूर्वक विचार नहीं करना चाहिए जिसमें उन्होंने कहा कि के मौलिक भाग को उत्तर संस्करण से अलग किया जा सकता है। तिलक के नानुसार भागवत् धर्म के प्राचीन समय का सेनाट (इंडियन इंटरप्रेटर, अक्टूबर ०६ एवं जनवरी १९१०) एवं ब्यूह्लर (इंडियन एंटीक्विटी १८९४) ने स्वीकार ा है। ब्यूह्लर कहते हैं—नारायण एवं अपने देवता तुल्य गुरु देवकी पुत्र कृष्ण में रक्त प्राचीन भागवत सात्वत अथवा पंचरात्र सम्प्रदाय की तिथि-आठवीं ब्दी ई० पू० में जैनों के उत्थान के बहुत पूर्व है। निश्चित रूप से गीता इस मत का ीनतम उपलब्ध साहित्य है। यह कहा जा सकता है कि जहाँ तक बाह्य साक्षी प्रश्न है गीता का संकेत कालिदास एवं बाण के साथ साथ भास द्वारा लिखित ने कर्ण भार नामक नाटक में मिलता है।[1] ट० ग० काल द्वारा अपनी वैदिक

---

[1] तिलक ने अपने भगवद्गीता रहस्य (अपने मराठी ग्रन्थ के बंगला अनुवाद) के ५७४ पेज पर इस अंश का उद्धृत निम्न प्रकार से किया है।

हतोऽपि लभते स्वर्गं जित्वा तु लभते यशः। उभे बहुमते लोके नास्ति निष्फलता रणे। जो गीता २-३७ प्रथम दो पंक्तियों की पुनरुक्ति करता है।

पत्रिका, ७ पज ५२८-५३२ पर लिखित लख के प्रसग म तिलक ने लिखा है कि बोधायन ग्रह्य शेष सूत्र २ २२ ६ गीता ६ २६ का सकेत करता है एव बौधायन पितृमेध सूत्र तृतीय प्रश्न के प्रारम्भ म गीता के अय अश का उद्धरण करता है।[1] प्रसगवश यह भी कहा जा सकता है कि गीता की लेखन पद्धति अत्यत प्राचीन है इसे उपनिषद् कहा गया है एव इसम कई अश ऐसे उपलब्ध हैं जो इश (इश ८ देखिए भगवद्गीता १३ १५ एव ६ २६) मुण्डक (मुण्ड २ १ २ गीता १३ १५) काठक (२ १५ २ १८ एव १६ तथा २ ७ गीता ८ २, २ २० २८) तथा अय उपनिषदो म प्राप्त है। इस प्रकार गीता को बौद्ध दशन का 'परवर्ती मानन का कोई निश्चित प्रमाण अप्राप्य हाने के कारण तथा बौद्ध दशन का किंचित मात्र भी उसमें उल्लेख नही मिलन के कारण गीता को अत्यत प्राचीन प्राक् बौद्ध दशन मानना पडता है चाहे यह मत कितना ही अप्रचलित क्या न हो। भाषा की दृष्टि स भी गीता की परीक्षा की जाय ता यह प्राचीन एव अपाणिनीय लगता है। इस प्रकार युध धातु म ने युद्धस्व क स्थान पर हमे युद्धय (८ ७), पाणिनी सस्कृत म आत्मनपद यत' को ६ ३६, १३ ६ १४ और १५ ११ मे परस्मपद म भी प्रयुक्त किया गया है 'रम् को भी १० ६ र परस्मपद म प्रयुक्त किया गया है। 'काम व्रज विप एव इश धातुओ को पाणिनि की सस्कृत म परस्मपद माना है परन्तु गीता म (काक्ष १ ३१ में व्रज २ ५४ मे विप् १३ ५५ में एव इश ६ १६ एव १४ २३) उनको आत्म न पद भी मानकर प्रयोग किया गया है। पुन साधारणतया आत्मनेपद म प्रयुक्त 'उद्विज क्रिया ५ २० म परस्मैपद म प्रयुक्त हुइ है निवत्स्यति के स्थान पर 'निवसिस्यसि १२ ८ म मा शोची के स्थान पर मा शुच १६ ५ म, एव ३ १० म प्रसविष्यध्वम का प्रयाग व्याकरण के नियमा के बलकुल विरुद्ध है। अत १० २६ म प्रयुक्त 'यम सयमताम् 'यम सयच्छताम् होना चाहिए ११ ४१ म प्रयुक्त 'हे सखेति दोषयुक्त सधि का उदाहरण है, ११ ४४ म प्रयुक्त 'प्रियायाहसि' प्रियाया अहसि के स्थान पर तथा १० २४ 'सना याम् के स्थान सेनानिनाम् का प्रयोग हुआ है।[2] उपरोक्त भाषा सम्ब धी अनियमितताए यद्यपि

---

[1] बोधायन गृह्य शेष सूत्र तदाह भगवान् पत्र पुष्प फल तोय, यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदह भक्त्या उपहृतमश्नामि प्रयतात्मन।

बाधायन पितृ मध सूत्र—ज्ञातस्यव मनुष्यस्य ध्रुव मरणमिति विजानीया तस्माज्जाते न प्रहृष्यन मृते च न विषीदेत। गीता के जातस्य हि ध्रुवा मत्यु आदि से तुलना कीजिए।

नोट उपरोक्त सब प्रसग तिलक के भगवद्गीता रहस्य पृ० ५७४ आदि से लिए गए हैं।

[2] इसी प्रकार के अधिक दोषो को जानने के लिए भडारकर स्मृति ग्रन्थ म श्री व क रजवाडे द्वारा लिखित लेख को देखिए जिसम से उपरोक्त दोष सग्रहीत है।

स्वयं निश्चित रूप से कुछ निर्णय नहीं देती फिर भी यह गीता की प्राचीनता के संबंध में सहायक होती है। गीता का महाभारत की रचनाकाल के पूर्व भागवत सम्प्रदाय का ग्रन्थ तथा महाभारत के मूल भारताख्यान के आधार पर लिखा गया ग्रन्थ माना जा सकता है। सम्भवतः भागवत सम्प्रदाय की प्राचीनतर स्थितियों को सार रूप में प्रस्तुत करने वाली गीता अपने सम्पादन के समय अपनी उस पवित्रता के कारण महाभारत में सम्मिलित की गई होगी जो उसे उस समय तक प्राप्त करती थी।